प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली।

पहली बार
१९६७
मूल्य
बीस रुपये

उद्योगशाला प्रेस
दिल्ली ६

हेतु

इस पुस्तक के निर्माण का एक विशेष हेतु है।

भारतवर्ष के इतिहास, इसकी सभ्यता, इसकी संस्कृति और धर्म-सम्बन्धी विस्तृत साहित्य की हमारे यहाँ कोई कमी नहीं है। पर आज के इस युग में, जबकि लोगों को समय का इतना अभाव है और विशेष करके विद्यार्थी-समाज के पास—जिसे ज्ञान-संचय के लिए तरह-तरह के शास्त्र, प्राचीन और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, देशी और विदेशी भाषाएँ, इतिहास, भूगोल, गणित, समाज-शास्त्र इत्यादि पढ़ने में अनन्त परिश्रम और समय देना पड़ता है—वृहत् अध्ययन के लिए समय कहाँ? समय स्वल्प और बोझ भारी। ऐसे लोगों के लिए कुछ ऐसे साहित्य की आवश्यकता पड़ जाती है, जो 'गागर में सागर' भरकर उनको कुछ मसाला दे सके। पर यह साहस भी दुःसाहस है।

भारतवर्ष का सार्वभौमिक चित्र संक्षेप में खींचकर पाठकों के सामने रखना यह दुस्तर प्रयास है। यही एक ऐसा देश है, जिसकी परम्परा का अविच्छिन्न प्रवाह जारी है, जिसकी प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृति की शृङ्खला अटूट है।

मिस्र की जो सभ्यता और संस्कृति दो या डेढ़ हजार वर्ष पूर्व थी, वह आज नेस्तनाबूद हो गई। अरब मुल्कों की भी यही हालत है। योरप भी इस सम्पूर्ण परिवर्तन से नहीं बचा। निकट-पूर्व के मुल्कों का—जावा, सुमात्रा, बर्मा, कंबोडिया, स्याम इत्यादि का भी—यही हाल है। चीन, जापान भी इस परिवर्तन से नहीं बचे।

इसलिए इक़बाल ने कहा :

यूनानो मिस्रो रोमा
सब मिट गये जहां से,
अबतक मगर है बाक़ी
नामोनिशां हमारा।

इस देश के प्राचीन संस्कृत-साहित्य—स्वप्नवासवदत्ता, मृच्छकटिक, मुद्राराक्षस, वृहत् कथासरित्सागर इत्यादि पढ़ने से हमें यह नहीं लगता कि हमारा देश कोई ऐसा परिवर्तित हो गया है कि जिससे हम पहचाने नहीं जा सकें।

हम बदले हैं, नई चीज़ों को हमने अपनाया है, पर जो रस तीन या चार हज़ार वर्ष पहले प्रवाहित था वही आज भी हमारे वातावरण में ज्यों-का-त्यों है। हमारी एक परम्परा है, जो इस ज़मीन की मिट्टी के कण-कण में ऐसी बिखर गई है कि वह लगातार जीवित रही है।

इस देश का धर्म क्या है, सभ्यता क्या है, संस्कृति क्या है, इसे संक्षेप में कोई नहीं बता सकता, क्योंकि संक्षेप से यह बाहर है। इसका चित्र जब हम इस परम्परा के साथ-साथ हज़ारों सालतक यात्रा करते हैं, तभी हमारे दिमाग़ पर छाप छोड़ सकता है।

'हमारी परम्परा' के निर्माण का यही हेतु है। हमारी हज़ारों साल की यात्रा का यह चल-चित्र है।

हम इतिहास के आरम्भ में अपने आपको स्थित पाते हैं। एक नया युग आता है। एक नई शताब्दी आती है। हम उसका अनुगमन करते हैं। पट बदलता जाता है, और अपने आपको हम एक नये समूह में स्थित पाते हैं। समय की यह मूँद-खोल जारी है, और इस परम्परा में हमारी अनुगति भी जारी है। क्षण-क्षण नये युग का सम्पर्क होता है, पर हम पाते हैं कि रस इसका वही पुराना है।

हमारी संस्कृति की जो यह अविच्छिन्न शृंखला है, वह हमारी परम्परा है। परम्परा का अर्थ है 'अटूट प्रवाह'। वही इन पन्नों में लेखबद्ध हुआ है।

हरिजी ने काफी लगन और परिश्रम से काम किया है। इसके लिए उनको धन्यवाद। विज्ञ लेखकों को भी। सफलता मिली या नहीं यह तो पढ़नेवाले बतायेंगे।

परिश्रम हुआ है, इसका हरिजी और मुझको संतोष है।

—घनश्यामदास बिड़ला

आज पाये जाते हैं उनका बीज वैदिक काल में भी मौजूद था। पुराण की परम्परा तबभी थी—"ऋचः सामानि छंदांसि पुराणं यजुषा सह" (अथर्व–७।१।७।२४) अर्थात्, वेद-मंत्रों की रचना के पूर्व पुरानी कथाओं के कहने का चलन था। उन्हीं कथाओं की बुनियाद पर बाद के पुराण-ग्रन्थों की रचना हुई।

ऐसे भी देश हैं, जिनकी सभ्यता बहुत प्राचीन थी, पर जो किसी अन्य देश का कोई-न-कोई धर्म ग्रहण कर लेने के परिणामस्वरूप अपनी परम्परा को बहुत-कुछ नष्ट कर चुके हैं। पर सभी देश नहीं। कुछ अपवाद भी हैं। बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने पर भी, राजनीतिक उथल-पुथल के कारण भी, तथा पाश्चात्य रंग-ढंग अपना लेने पर भी जापान, चीन-जैसे देशों की साधारण जनता ने अपनी परम्परा को किसी प्रकार कुछ-न-कुछ तो बचा ही रखा है।[1]

आज का इतिहास-लेखक रामायण, महाभारत और पुराणों में ऐतिहासिकता न पाकर अक्सर उनका तिरस्कार तक कर बैठता है। किन्तु उस सांस्कृतिक परम्परा से कैसे इन्कार किया जा सकता है, जिससे कि इतिहास की घटनाएँ घटित होती हैं? फिर इतिहास लिखा ही कितना गया? कुछ शताब्दियों का ही तो, और वह भी अनुमानों से सर्वथा अछूता नहीं है।

भारत की परम्परा में हम धर्म और संस्कृति को संयुक्त रूप में पाते हैं। किन्तु धर्म का अर्थ यहाँ वह न लिया जाय, जो 'मज़हब' या 'रिलिजन' का है। धर्म उसे कहा गया है, जो व्यक्ति और समाज को धारण करता है, जो उनका आधार है। उसमें कर्त्तव्य का पूरा दायित्व समाया हुआ है। ज़रूरी नहीं कि किसी अमुक ग्रंथ को या अमुक व्यक्ति को धर्म का एकमात्र प्रमाण और प्रवर्त्तक माना जाय। हिन्दू-धर्म आवश्यक नहीं मानता कि वेद के प्रमाण को स्वीकार ही किया जाय। धर्म का लक्षण केवल इतना ही नहीं है कि वेद और स्मृति को प्रमाण-रूप माना जाय। वह शील-सदाचार और आत्म-संतोष की कसौटी पर भी कसा जा सकता है। भारतीय परम्परा में इस कसौटी को प्रमुख स्थान दिया गया है। विवेक-बुद्धि की कसौटी पर कसने से जबतक अपने आपको पूरा संतोष न हो, तबतक धर्म को पहचाना ही नहीं। जिस बात से समाज का विघटन और अहित होता हो, वह धर्म ही नहीं है। फिर उसे संस्कृति भी कैसे कहा जा सकता है? संस्कृति तो ऐसी सही और सच्ची कृति है, जिससे व्यक्ति और समाज का सदा हित-संपादन ही होता है। धर्म के विपरीत वह जा नहीं सकती। हमारी संयमप्रधान संस्कृति धर्म का ही रूप है। सदाचार को वह पोषण और विकास देती है। धर्म और संस्कृति का यह मिला-जुला रूप हमारी परम्परा में कभी तो बहुत साफ़ और कभी धुँधला देखने में आया है।

पहले से बसी हुई किन्हीं जातियों के साथ, और आपस में एक-दूसरे के साथ भी, तथा बाद में आनेवाले हमलावर कबीलों के साथ यहाँ कई प्रकार संघर्ष हुए। एक-दूसरे के विचारों व रहन-सहन में तब काफ़ी बड़ा अन्तर रहा होगा। लेकिन यहाँ के जलवायु में अवश्य कोई ऐसी बात रही, कि कालान्तर में सहिष्णुता और समन्वय की नीति को अपना लिया गया। कितने ही यवन (ग्रीसवासी) स्वेच्छा से बौद्ध बन गये, और कइयों ने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया। शक बन गये शाकद्वीपी ब्राह्मण। सीमान्त पर बसी हुई कितनी ही जातियाँ यहाँ दूध और पानी की तरह घुल-मिल गईं। द्राविड़ों और आर्यों में धार्मिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान इतना अधिक हुआ कि जिसका हिसाब नहीं। उत्तर भारत ने दक्षिण के देवी-देवताओं, पूजा-विधियों तथा धर्माचार्यों को स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार दक्षिण भारत ने उत्तर के अवतारों और तीर्थों पर अपनी पूरी श्रद्धा-भक्ति प्रकट की। इस धार्मिक और सांस्कृतिक एकता को कौन भंग कर सकता था?

स्पष्ट है कि हमारी परम्परा ने 'समन्वय' की दृष्टि का सदा आदर किया है। अनेकता में एकता देखने का उसका स्वभाव रहा है। **'अविभक्तं विभक्तेषु'** को ही उसने सच्चा ज्ञान माना। फूल रंग-रंग के, मगर गुलदस्ता एक। मत अनेक, पर लक्ष्य सबका एक ही कि सत्य को खोजा जाय।

यह सही है कि विभिन्न मतों का जो अतिविचार-मन्थन हुआ, उसमें से शायद कुछ विष भी निकला। पक्षापक्ष से सहिष्णुता को कुछ-कुछ धक्का भी लगा। इसका किसी हद तक अवांछनीय प्रभाव भी पड़ा। पर वह चन्द शब्द-शास्त्रियों तक ही सीमित रहा। सामान्य जनों को उससे कुछ लेना-देना नहीं था। साथ ही, धार्मिक असहिष्णुता को लेकर जो लोक-कथाएँ प्रचलित हुईं, वे अतिशयोक्तियों से भरी हुई मालूम देती हैं। उदाहरणार्थ, किसी शूद्र के वेद-मंत्र सुन लेने का दण्ड उसके कान में गरम-गरम सीसा डाल देना, सनातनियों द्वारा जैन श्रमणों को घानी में पेलना, या किसी बौद्ध भिक्षु का सिर काटकर लाने का पुरस्कार स्वर्ण-मुद्रा! किन्तु बाद में जो समन्वय का अमृत निकला, वही असली रत्न था। इसे इतना अधिक महत्व दिया गया कि ब्रह्म-सूत्र का एक सूत्र ही 'तत्तु समन्वयात्' बन गया, अर्थात् परमसत्य तक समन्वय के मार्ग से ही पहुँचा जा सकता है।

तर्क और बुद्धि का यही सच्चा सदुपयोग था, और यही सही परिणाम भी। वह धर्म ही क्या, जो बुद्धि के संतुलन को गड़बड़ा दे। धर्म प्रेरणा देता है कि देश, काल और परिस्थिति के अनुकूल विवेक-बुद्धि को जो संतुलित रखता है, केवल उतना ही अंश अमुक ग्रन्थ का प्रामाणिक माना जाय। उसके अनुसार यदि आचरण न किया गया, तो वह प्रमाणभूत ग्रन्थ भी व्यर्थ भार के समान है। आचरणहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते—**'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।'** वह संस्कृति कैसी, जो मनुष्य के स्वाभाविक विकास में योग न दे! उसे धर्म से अलग नहीं

किया जा सकता। गीता में इसीलिए काम को अर्थात् जीवन की आनन्दप्रद कलाओं को 'धर्माविरुद्ध' कहा गया है।

यह सही है कि हिन्दू-विचारधारा में प्राचीनता का आग्रह परम्परा से रहा है, पर उसके साथ ही विचार-स्वातन्त्र्य के प्रति बहुत आदर-भाव देखने को मिलता है। इसलिए परम्परा का यह अर्थ कदापि न लगाया जाय कि जो कुछ भी प्राचीन काल से चला आ रहा है, वह सारा ही समीचीन है और ग्रहण करनेयोग्य है। सब कुछ वैसे-का-वैसा असल में कभी किसी काल में ग्रहण किया भी नहीं गया। पर इस बात को बार-बार दोहराया जरूर गया कि अपनी पुरानी बातों को छोड़ना नहीं चाहिए। इस सचाई को प्राय: भुला दिया जाता है कि सनातन का अर्थ 'नित्य नूतन' है। उसमें कहीं भी जड़ता के लिए स्थान नहीं। स्मृतियों को ही देखा जाय, तो उनमें एकरूपता या संगति कहाँ मिलती है ? समय-समय पर विधि-विधान बराबर बदलते गये। और, यही उनके जीवन का लक्षण था। परन्तु आचार-पालन के लिए जो सामान्य नियम हो सकते थे, उनमें परिवर्तन नहीं हुआ। उनको धर्म का सामान्य लक्षण मान लिया गया। वेदों ने भी जो सामान्य नियम नियत किये थे, उनको हम अपने विवेक और विचार के अनुसार नये मामलों पर भी लागू कर सकते हैं।

पुराने पत्ते झड़ते गये, डालें भी कटती-छँटती गईं। लेकिन वृक्ष अपनी जड़ों से प्राण-रस बराबर खींचता रहा, जिससे फिर-फिर नये-नये पत्ते आते रहे। झड़े हुए पत्तों पर, और कटी-छँटी डालों पर कौन बुद्धिमान् मोह करेगा ? इसी तरह निष्प्राण रूढ़ियों को भी बुद्धि का उचित प्रयोग किये बिना परम्परा में शामिल कर लिया जाता है। कभी-कभी ग़लत-सलत बातों को भी 'सनातन' मान लिया जाता है। मूल परम्परा तो उसीको कहा जा सकता है, जिसका जीवन-रस समय-समय पर होनेवाले परिवर्तनों के बावजूद सूखता नहीं है। डाक्टर राधाकृष्णन् के शब्दों में,

> "नियम युग-युग में बदलते रहते हैं। हमारी लालित संस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं। वे काल की उपज होती हैं, और काल का ही ग्रास बन जाती हैं। परन्तु धर्म को इन संस्थाओं के किसीभी समूह के साथ एक या अभिन्न नहीं समझा जा सकता। यह अपने किसीभी ऐतिहासिक मूर्तरूप के समाप्त हो जाने के बाद भी बचा रहता है।"

यही प्रक्रिया परम्परा के साथ चलती है। रीति-रिवाज बदल जाते हैं। रहन-सहन कुछ-का-कुछ हो जाता है, और विचारों में भी फर्क पड़ जाता है। फिरभी कोई चीज ऐसी बच जाती है, जिससे मूल प्रकृति को आसानी से पहचाना जा सकता है। वैचारिक उलट-फेर के कारण यद्यपि हमारी परम्परा के ऊपर धूल के परत-पर-परत चढ़ गये हैं, फिरभी उसका मूल रूप पहचानने में भूल नहीं हो सकती।

वेदों से लेकर रामायण, महाभारत और पुराणों तक, [illegible] प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में भी, लोक-व्यवहार एवं परमार्थ के बारे में जो कुछ कहा गया है, उसे उस काल के समाज का सच्चा दर्शन या दर्पण कहा जा सकता है। तत्कालीन समाज में व्यापक सत्यों के आधार पर उस सारे साहित्य की रचना हुई थी। आदर्शों की बुनियाद कोरी कल्पना नहीं थी, किन्तु ठोस वास्तविकता थी। आदर्श का निर्माण करनेवाली बिखरी हुई सामग्री को साहित्य में एकत्र किया गया है। उसे 'निर्माण' न कहकर 'संकलन' कहना अधिक सही होगा। भारतीय परम्परा का जन्म कदाचित् उसी सुसंकलित सामग्री से हुआ है। बुनियाद उसकी इतनी दृढ़ थी कि काल के बार-बार के प्रहार भी उसे उखाड़ नहीं सके, हालाँकि उन चोटों के निशान उसके तन पर साफ़ दीखते हैं। जबकि कई प्राचीन राष्ट्रों की सभ्यताओं और संस्कृतियों के केवल नाम शेष रह गये हैं, हमारी धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा आजभी किसी-न-किसी रूप में खड़ी हुई है। यह गर्व करने की नहीं, किन्तु नम्रतापूर्वक स्वीकारने की बात है।

ज्ञान को भारतीय परम्परा ने सबसे ऊँचा स्थान दिया है। उसे परमपवित्र माना गया है। ज्ञान का अर्थ किसी बात की सिर्फ़ बाहरी जानकारी नहीं है। निरन्तर चिन्तन के द्वारा तत्व की गहराई में उतरकर प्रत्यक्ष अनुभूति को ज्ञान कहा गया है। यह त्याग, संयम और तप से प्राप्त किया जाता है। कठोपनिषद् में नचिकेता की कथा प्रसिद्ध है। यम से, साक्षात् मृत्यु से, उसने ज्ञान की ही याचना की थी।

महान् वैयाकरण पाणिनि के संबंध में एक किंवदन्ती लोक-प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि पाणिनि मुनि को सिवा व्याकरण के कोई दूसरी बात सूझती ही नहीं थी। जो भी उनके पास आता, उसे वे व्याकरण ही सिखाते। एक दिन पाणिनि मुनि तपोवन में व्याकरण सिखा रहे थे, कि एकाएक बाघ आ गया। उसे देखकर वे भागे नहीं। व्याघ्र की व्युत्पत्ति बताने लगे। बाघ सूँघता-सूँघता आ रहा था। उन्होंने कहा, 'इस सूँघते-सूँघते आनेवाले को देखो—'व्याजिघ्रति स व्याघ्रः'। पाणिनि व्युत्पत्ति समझाने के आनन्द में मग्न थे। लेकिन शिष्य कब के ही भाग गये थे। बाघ झपटकर पाणिनि को खा गया। ज्ञान की कितनी बड़ी उपासना है यह! ज्ञान का उपासक सब-कुछ भूल जाता है। वह अपने उन विचारों में तन्मय हो जाता है।'[1]

ज्ञान-लाभ कर लेने पर उसे अपने पास कभी सेंतकर नहीं रखा जाता था। ज्ञान संग्रह या संचय के लिए नहीं है। तत्वदर्शी उस ज्ञान का वितरण करते थे। वे नहीं चाहते थे कि मानव-समाज अज्ञान में सदा डूबा रहे।

---

१. साने गुरु—"भारतीय संस्कृति"

आवश्यक नहीं माना गया है कि शास्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन करनेवाले ही तत्वज्ञान का अनुभव कर सकते हैं। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में रैक्व ऋषि की कथा आती है। वह एक बूढ़ा गाड़ीवान था। राजा जानश्रुति को उसने आत्मतत्व का अधिकारी जानकर ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया था। जानश्रुति को उसने जो ब्रह्म-विद्या सिखाई, उसका नाम 'संवर्ग विद्या' है। उसका अर्थ है कि मनुष्य को भोक्ता बनकर रहना चाहिए, भोग्य बनकर नहीं। ब्रह्माण्ड को अपने भीतर वह समेट ले, न कि दूसरों में स्वयं समिट जाय। तुलाधर वैश्य का आख्यान भी प्रसिद्ध है। वह मांस बेचा करता था। किन्तु धर्म के सार-तत्व को वह भली भाँति जानता था। उसने जाजलि ऋषि को भी धर्म का रहस्य बतलाया था।

भारतीय परम्परा में ज्ञान किसीभी मूल्य पर बेचा-खरीदा नहीं जा सकता। जिज्ञासा अर्थात् सच्चे तत्व को जानने की उत्कट इच्छा से तथा सतत सेवा-भावना से जो ज्ञान प्राप्त होता हो, उसे कौन बेचना चाहेगा? विद्या बेचकर जीविका चलानेवाले को धर्मशास्त्र में 'मृतजीवी' तक कहा गया है। परम्परा का यह उत्तम भाग काल के चक्र में पड़कर अब लुप्तप्राय हो गया है।

जो-जो विद्याएँ सीखनी थीं उनको सीखकर, स्नातक होकर सेवापरायण विनयशील छात्र जब गुरुकुल से विदा लेता है, तब आचार्य उसे जो दीक्षा देता है वह बेजोड़ है। उसमें गुरु-शिष्य-परम्परा का हम एक अत्यन्त निखरा हुआ रूप पाते हैं। आचार्य अपने प्रिय शिष्य को एक ऐसा प्रशस्त मार्ग दिखा रहा है, जिस पर चलकर वह अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों को ही साध सकता है। आचार्य दीक्षा देता है—"सदा सत्य बोलना। धर्म पर चलना। प्रमाद न करना। जो देना वह श्रद्धा से देना। अश्रद्धा से न देना। नम्रता से देना। उन्नति करना। समृद्धि प्राप्त करना। हमारी अच्छीही बातों का अनुसरण करना, दूसरी बातों का नहीं," इत्यादि।

तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में आचार्य द्वारा दिया गया यह दीक्षान्त उपदेश आया है। बुद्धि के विशुद्ध होने पर ही ऐसे 'शिवमार्ग' पर चला जा सकता है। ऋषि विश्वामित्र स्वरचित 'गायत्री-मंत्र' में बुद्धि को विशुद्ध और तेजस्वी बना देने के लिए प्रार्थना करते हैं। ऋषि ने सबसे अनमोल वरदान माँगा है, कि बुद्धि प्रतिक्षण कर्त्तव्य कर्मों की ओर प्रेरित होती रहे। गायत्री ने भारतीय परम्परा का एक बड़ा तेजस्वी रूप प्रकट किया है। किन्तु गायत्री केवल लाख-करोड़ बार जपने का मंत्र नहीं है। उसके अर्थ के अन्दर पैठना मुख्य है। निरुक्तकार यास्क मुनि ने यह बिल्कुल सही कहा है, कि—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद—
धीत्यं वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
यद्गृहीतम् विज्ञातंनिगदेनैव शब्दयतो—

अनग्नाविव शुष्कैंधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् । (निरुक्त १।१८)

अर्थात्, वेद को पढ़कर उसके अर्थ को न जाननेवाला भार से लदे-हुए केवल एक ठूंठ के समान है। जिस मंत्र को, बिना अर्थ समझे, केवल पाठ-मात्र से पढ़ा जाता है, उसका कोई फल नहीं होता उसी तरह, जैसे ईंधन भी बिना आग के कभी नहीं जलता।

एक बात और। किसी महान् ज्ञानी को भी जब अपनी बुद्धि पर शंका होती और उसे लगता कि वह भूल कर रहा है, तब स्वयंही किसी अनुभवी आलोचक के पास चला जाता था। अपनी भूल सुधारने में उसे आनन्द होता था।[1] तत्त्व की गहराई तक पहुँचने के लिए जिज्ञासा उसे प्रेरित करती थी। संशय को अपने मन में वह तनिक भी स्थान नहीं देना चाहता था। ब्रह्मसूत्रों का आरंभ इसीलिए 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' से होता है, तथा पूर्वमीमांसा का पहला सूत्र 'अथातो धर्म-जिज्ञासा' है।

भारतीय परम्परा ने बार-बार इस भ्रान्ति का निवारण किया है कि आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी केवल गृहत्यागी है। गृहस्थधर्मी तत्वज्ञान प्राप्त करने का किसीभी अंश में कम अधिकारी नहीं है। गृहस्थाश्रम को तीनों आश्रमों का 'आश्रय-स्थान' कहा गया है। स्वधर्म का यथोचित पालन करता हुआ गृहस्थधर्मी, बगैर संन्यास लिये, परमपद प्राप्त कर सकता है। भगवद्गीता ने इस परमसत्य की अनूठी व्याख्या की है।

गृहस्थ-धर्म का पालन करनेवाला व्यक्ति अपने अतिथि को देवता मानता है। 'अतिथि देव' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है। यह सही है कि अतिथि-सेवा की परम्परा इधर कुछ धुंधली-सी हो गई है, पर उसका नितांत लोप नहीं हुआ है। पुराने स्वाभाविक रूप में आजभी अनेक ग्रामों में पवित्र आतिथ्य देखा जा सकता है। किसी ग़रीब आदमी के घर पर कोई अतिथि पहुँच जाता है, तो उसका सत्कार वह चुपके से पड़ौसी से भोजन-सामग्री उधार लेकर भी बड़े प्रेम से करता है। उसमें कोई बनावटीपन या दिखावा नहीं होता। फलों के बाग़ गाँवों में बेचते नहीं थे। गोरस भी बेचा नहीं जाता था। आजभी इस कुल-रीति का सर्वथा लोप नहीं हुआ है।

भारतीय परम्परा ने यह सिखाया ही नहीं कि अकेले बैठकर भोजन किया जाय। वैदिक ऋषि कहता है, "केवलाघो भवति केवलादी" अर्थात् जो केवल स्वयं खाता है वह अन्न को नहीं, परन्तु पाप को खाता है।

मतलब यह कि विरासत में हमें जो विचार-दृष्टि मिली, वह संकुचित नहीं थी। इसी दृष्टि को लेकर संयुक्त परिवार-प्रणाली का बहुत कालतक यहाँ

---

१. साने गुरु—"भारतीय संस्कृति"

प्रयोग हुआ, और वह प्राय: सफल भी रहा। हमारे यहाँ 'भूमा' अर्थात् विशाल को 'अमृत' माना गया है, और अल्प को 'मृत्यु' । या तो युग के प्रभाव से या अमुक परिस्थितियों के कारण उस उदार दृष्टि में इधर कुछ-कुछ संकीर्णता आ जाने से उसकी वह पवित्रता धीरे-धीरे जैसे लुप्त होती जा रही है। पर उदार दृष्टि का सर्वथा परित्याग नहीं हुआ है। किन्तु उस स्वस्थ परम्परा का इसे एक अवशेष ही कहा जा सकता है, और दुर्भाग्य से वह भी जैसे हिल-डुल रहा है। हमें सिखाया गया है :

> **अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।**
> **उदारचरितानान्तु वसुधैवकुटुम्बकम् ।।**

सही दिशा दिखानेवाले इस दीप-स्तम्भ की यदि अवहेलना की गई, तो वह भारी भूल होगी।

भारतीय परम्परा में एक विशेषता यह भी रही है कि दिये हुए वचन से किसीभी हालत में मुकरना नहीं। वचन दिया सो दिया। सबसे बड़ा परिचय यह होता था कि अमुक आदमी 'बात का धनी' है। कुल की इस रीति पर गर्व किया जाता था कि प्राण भले ही चले जायें, पर वचन नहीं तोड़ा जायगा। हज़ारों लाखों का लेन-देन वचन पर चलता था। लिखत-पढ़त जरूरी नहीं थी। आजभी कहीं-कहीं इस प्रकार का व्यवहार देखने में आता है, पर बहुत कम। विश्वास की जगह यदि अविश्वास लेले तो ऐसा हमारी मूल प्रकृति के विपरीत होगा।

ऐसे भी छुटपुट उदाहरण कुछ पोथियों और कथाओं में मिलते हैं, जब छल-कपट से काम निकाला गया। शुक्र-नीति तथा कौटल्य के अर्थशास्त्र में राजनीति के अन्दर छल को स्थान दिया गया है। समर्थन भी उसका किया गया है। लेकिन हमारी मूल परम्परा ने छल के प्रयोग की प्रशंसा नहीं की। विश्वासघात 'आर्योचित' नहीं माना गया। मर्यादापुरुषोत्तम राम की भी आलोचना की गई, जबकि उन्होंने छिपकर वाली का वध किया। 'अश्वत्थामा हतः नरो वा कुंजरो वा' युधिष्ठिर का यह अर्ध-सत्य में लिपटा हुआ वाक्य धर्म का समर्थन नहीं पा सका, यद्यपि उससे एक राजनैतिक उद्देश्य सफल हुआ। मतलब यह कि कोई कितना ही महान् क्यों न हो, सत्यमूलक धर्म से डिगने पर उसकी सदा आलोचना ही हुई है। ऐसे उदाहरणों के समर्थन में दलील दी गई कि अगर कोई बड़ा उद्देश्य सिद्ध होता हो तो असत्य से, छल से या विश्वासघात से भी काम लिया जा सकता है। पर हमारे धर्म और संस्कृति ने ऐसी दलीलों की उपेक्षा ही की है। हमारे स्वभाव ने इस प्रकार के समर्थन को स्वीकार नहीं किया।

एक विशेषता और, जो बड़े महत्व की रही है। जब देखा गया कि अमुक पुरानी व्यवस्था समाज का हित करने के बदले अहित कर रही है, तब उसे तुरंत

रद्द कर दिया गया। उसे क्योंकि समाज के शरीर का सड़ा हुआ अंग समझा गया।
समय के विपरीत जानेवाली स्मृतियों का समर्थन भी उसे बचा नहीं सका। सड़े
गले अंग के प्रति मोह कैसा? उसे तो काटकर फेंक देना ही समाज के हित में
है। समाज का शरीर स्वस्थ और पुष्ट रहे इसपर हमेशा ध्यान रखा गया है।
सुधार और संशोधन के प्रयत्न प्राचीन काल से ही होते आये हैं। फूलों और फलों
के आस-पास उग आये झाड़-झंखाड़ को काट डालना ही उचित समझा गया।
परम्परा किसे मानना चाहिए और किसे नहीं, अक्सर यहीं हम भूल कर बैठते हैं।
सैकड़ों ही वहमों, अन्धविश्वासों, सड़ी-गली रूढ़ियों और मूर्खताओं का भी
समर्थन किया जाता है यह कहकर कि 'यह सब युगों से ऐसा ही चला आ रहा है।'
किसी मकान पर बरसों से अँधेरा कब्ज़ा किये बैठा है, तो उसके अन्दर दीया
जलाकर ले जाना क्या वहाँ की परम्परा का भंग करना माना जायगा? सोचने
की बात है कि क्या अन्धकार की भी कोई परम्परा हुआ करती है? प्राची-
नता के नाम पर, जो असल में प्राचीन नहीं है, अविद्या या अज्ञान का बचाव कौन
मूर्ख करना चाहेगा? आलस्य और प्रमाद को अक्षमता या अकुशलता को कौन
बुद्धिमान् सनातनी परम्परा कहेगा, जबकि **'कर्मों में कौशल'** को योग माना गया है।

यह किसी हद तक सही हो सकता है कि पुराकाल में भी तो वहम या
अन्धविश्वास पाये जाते थे। पर उनको अनिष्टकारी ही समझा गया। तरह-तरह
के वहमों ने सत्य की खोज करने में बार-बार बाधा पहुँचाई, और राष्ट्र की
शक्ति और पुरुषार्थ को ऊपर उठने नहीं दिया। 'ऐसा होता आया है' इस प्रकार
के किसी जड़तापूर्ण विचार को परम्परा का नाम दे बैठना भयावह है। वह और भी
भयावह हो जाता है, जब पढ़े-लिखे कहलानेवाले लोग ग़लत-सलत युक्तियों द्वारा
उसका समर्थन करने लगते हैं। वहमों के समर्थक दलील देते हैं कि यूरोप और
अमेरिका जैसे देश भी तो इन बातों को मानते हैं, जहाँ साइन्स ने काफ़ी
तरक्की की है। वे भूल जाते हैं कि वहम कमोबेश सभी देशों में पहुँच जाते हैं।
यह उनका दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि साइन्स का ज्ञान होने पर भी उनको
अपने आपका सही ज्ञान नहीं हुआ है। दूसरों को प्रकाश दिखानेवाले भी कभी-
कभी खुद अँधेरे में पड़े रहते हैं। मतलब यह कि वहम, जो असत्य का बड़ा भद्दा
रूप है, भारत-जैसे प्राचीन देश की परम्परा का अंग कभी नहीं बन सकता।
हमारी धारणा है कि जिसने वहम को काट दिया, अन्धकार को हटा दिया और
अज्ञान को मिटा दिया वही राष्ट्र का सच्चा हित साध सकता है। ऐसे सत्यशोधक
पुरुषार्थियों की बदौलत ही भारत की मूल परम्परा आजतक बहुत-कुछ टिकी हुई है।

ऊपर हमने कहा है कि परम्परा के किसी एक या एक से अधिक अंगों
का लोप हो जाता है, और कालान्तर में वे नष्ट भी हो जा सकते हैं। रूपान्तर
तो होता ही रहता है। यह प्रक्रिया प्राकृतिक है। परन्तु परम्परा के किसी स्वस्थ

अंग का समूल नष्ट हो जाना इसे दुर्भाग्य ही कहा जायगा। ऐसी स्थिति में उस के लुप्त और नष्ट हो जाने के आसार साफ़ दीखने लग जाते हैं, जैसे,

अपने स्वस्थ संस्कारों के प्रति उपेक्षा की, और कभी-कभी तिरस्कार तक की दुर्भावना मन में पैठ जाती है;

अपने धर्म के मूल तत्वों के प्रति अरुचि पैदा होने लगती है;

हीन भावना के आ जाने से अपना सब-कुछ भद्दा या खाली-खाली-सा मालूम देता है, और दूसरे देशों की हर किसी बात का आँख मूँदकर अनुकरण करने में गौरव अनुभव होता है;

जीवन को टिका रखनेवाली आस्था डगमगा जाती है, और संतुलन गड़-बड़ा जाता है;

कभी-कभी अपने इर्द-गिर्द का साराही वातावरण असुन्दर, लज्जाजनक और दम घोंटनेवाला प्रतीत होने लगता है;

दुर्भाग्य से, धार्मिक तथा सांस्कृतिक शिक्षा-पद्धति को अनावश्यक मान लिया जाता है। तब बालक-बालिकाएँ अजीब-अजीब साँचों में ढलने लग जाते हैं। वे संयम के स्थान पर स्वेच्छाचार को अपनाने लगते हैं।

स्वभावत: स्वस्थ परम्परा के भंग हो जाने से तब देश के विचारशील व्यक्ति सोच-विचार में पड़ जाते हैं। सोचते हैं कि कैसे फिर से उन स्वस्थ संस्कारों को जगाया जाय, जिससे हीनभावना का घातक असर न रहे और अपना भूला हुआ या जान-मान कर भुलाया गया गौरव फिर से याद आ जाय।

लगता है कि भारत की गौरवशालिनी परम्परा को कुछ इसी प्रकार की अवहेलना और हीन भावना ने आतंकित करना शुरू कर दिया है। इस आतंक से छुड़ाने का, या अधिक सही यह है कि लुप्त होती जा रही हमारी स्वस्थ परम्परा के उद्धार का प्रयत्न राममोहन राय, दयानन्द, विवेकानन्द, अरविन्द और गांधी ने किया था, और कुछ-कुछ वैसाही प्रयत्न आज विनोबा कर रहा है। इससे आशा बँधती है कि परम्परा समूल नष्ट नहीं हो पायगी। उद्योग हर दिशा में करना आवश्यक है कि जिससे उसके समूल नष्ट हो जाने का दुर्दिन न आने पाये।

इसके लिए आवश्यक है अपने धर्म और अपनी संस्कृति के मूल तत्वों का सामान्य किन्तु सही ज्ञान होना। पूछा जा सकता है कि विज्ञान के युग में इन बातों की क्या ज़रूरत है? विज्ञान के दिनोंदिन बढ़ते हुए क़दमों का स्वागत अवश्य होना चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अध्यात्म पर टिकी हुई संस्कृति से हम अपना नाता तोड़लें। यह तो आत्मघात होगा। अत: वेदों, ब्राह्मण-ग्रंथों, आरण्यकों और उपनिषदों का सामान्य परिचय बहुत आवश्यक है। वैदिक एवं अवैदिक दर्शनों का भी साधारण ज्ञान उपयोगी है। यह न समझा जाय कि दर्शनों की

शैली जटिल होने के कारण वे सर्वसाधारण की पहुँच के बाहर हैं। सरल भाषा और सीधी-सादी शैली में दर्शनों का प्रयोजन समझाया जा सकता है। रामायण और महाभारत तो हमारी संस्कृति के अखूट भाण्डार हैं। पुराणों को भी कैसे छोड़ा जा सकता है। स्मृतियाँ भी उपेक्षा का विषय नहीं हैं। शुक्र-नीति, कौटल्य का अर्थ-शास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार और पंचतंत्र का भी सामान्य ज्ञान आवश्यक है।

प्राग्वैदिक काल के सामान्य परिचय के बिना भारत की परम्परा का ज्ञान अधूरा ही रहेगा। सिन्धु-सभ्यता में हमारी परम्परा का सूत्र मिलता है। द्राविड़ संस्कृति तो समन्वय की ऐसी अभिन्न कड़ी है, जिसे कभी अलग नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत पुस्तक इसी हेतु को सामने रखकर तैयार की गई है। ऊपर जिन विषयों का उल्लेख हुआ है, उनपर इतना अधिक साहित्य मिलता है कि यदि उस सबका मामूली-सा भी अध्ययन किया जाय, तो उसके लिए सौ वर्ष की आयु भी कम ही होगी। वेदों का अध्ययन आज कितने लोग करते हैं? अर्थ लगाना तो दूर रहा, स्वर के साथ शुद्ध पाठ करना भी उँगलियों पर गिने जानेवाले पण्डितोंतक ही सीमित रह गया है। वेदों और दर्शनों पर पाश्चात्य विद्वानों ने जितनी अधिक शोध और सम्पादन का कार्य किया है, उसकी तुलना में हमने किया ही कितना है? संस्कृत भाषा बहुत कठिन है, बल्कि वह एक 'मृतभाषा' है ऐसी धारणा प्रायः बन गई है। इसे दूर होना चाहिए। अतः संस्कृत के विशाल साहित्य में से सार-तत्व को सरल भाषा और सीधी-सादी शैली में निकालकर जनसाधारण के हितार्थ प्रस्तुत किया जाय, यह पुस्तक इसी उद्देश तक पहुँचने का एक साधारण विनम्र प्रयास है।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रत्येक विषय के विद्वान् लेखकों के लेखों का संकलन किया गया है। कई लेख नये लिखाये गये हैं, और कुछ लेखों को, थोड़ा-सा संक्षिप्त करके, इसमें संकलित किया गया है।

पुस्तक को इन १३ अध्यायों में विभक्त किया गया है:

१. भारतीय संस्कृति : प्राग्वैदिक तथा वैदिक
२. द्रविड़ जाति और द्राविड़ भाषाएँ
३. वेद और वैदिक वाङ्मय
४. उपनिषद्
५. रामायण
६. महाभारत
७. पुराण
८. स्मृतियाँ : धर्मशास्त्र
९. दर्शन-शास्त्र
१०. दक्षिण भारत में भक्ति-मार्ग

११. ब्राह्मसमाज
१२. आर्यसमाज
१३. नीति-शास्त्र

पहले अध्याय में भारतीय संस्कृति की चर्चा की गई है। संस्कृति एवं दर्शन-शास्त्र के ऊँचे विद्वान् डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री ने इसे लिखा है। इसमें संक्षेप में संस्कृति पर अच्छा खासा प्रकाश डाला गया है। संस्कृति का प्राचीन नाम लेखक ने 'पुरुपार्थ' बताया है, और अर्थ और काम के लिए भी धर्म की मर्यादा को आवश्यक माना है। वैदिक शब्द 'ऋत' का अर्थ किया गया है 'संचालक तत्व'। जीवन का यह मुख्य तत्व है। प्रगति में बाधा डालनेवाला 'अनृत' है। धर्म और दर्शन की परम्पराओं का भी विश्लेपण किया गया है। पूर्व और पश्चिम के विद्वानों की दृष्टि धर्म और दर्शन के संबंध में क्या रही है, इसका भी विवेचन है।

इस अध्याय में प्राग्वैदिक काल के अन्तर्गत सिन्धुघाटी की सभ्यता का भी विस्तृत वर्णन किया गया है।

वैदिक वाङ्मय के सामान्य परिचय के साथ-साथ वेद का प्रामाण्य, देवतावाद, वर्ण-भेद आदि पर भी थोड़ा-सा प्रकाश लेखक ने डाला है। यह अध्याय प्राग्वैदिक काल तथा वैदिक काल में प्रचलित धर्म और संस्कृति का संक्षिप्त परिचय तो करा ही सकता है।

दूसरे अध्याय में द्रविड़ जाति एवं उसकी संस्कृति व साहित्य की विस्तृत चर्चा की गई है। इस लेख के लेखक हैं श्री र० शौरिराजन। यह सुंदर शोधपूर्ण लेख उन्होंने मूल हिंदी में लिखा है। 'द्रविड़' शब्द की व्युत्पत्ति, द्रविड़ जाति का परिचय, संघर्प और समन्वय तथा तमिल साहित्य पर विद्वान् लेखक ने अच्छा गवेपणापूर्ण प्रकाश डाला है। तमिल भाषा तथा साहित्य का प्रामाणिक आधार तमिल के प्राचीनतम ग्रन्थ तोलकाप्पियम को श्री शौरिराजन ने माना है, जो ईस्वीपूर्व पाँचवीं शताब्दी में रचित कहा जाता है। भारत की परम्परा में 'समन्वय' का स्थान कितना ऊँचा रहा है यह इस अध्ययनपूर्ण लेख से सुस्पष्ट हो जाता है।

तीसरे अध्याय में वैदिक वाङ्मय का परिचय दिया गया है। इसके लेखक हैं डॉ० मंगलदेव शास्त्री। वैदिक तथा परवर्ती साहित्य के अध्ययन की पुरानी पद्धति को विद्वान् लेखक ने एक नई दृष्टि दी है। वेद की चारों संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों और छह अंगों का विवेचनात्मक विवरण देने के पश्चात् लेखक ने वैदिक देवतावाद और वैदिक स्तोता के स्वरूप के बारे में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं।

आगे दिखाया गया है कि वैदिक संहिताओं में 'मुक्ति' या 'मोक्ष' शब्द के साथ-साथ 'दुःख' शब्द का प्रयोग कहीं एक बार भी नहीं मिलता है। उत्साह, उद्योग और केवल आनन्द ही सदा वैदिक ऋपि सर्वत्र देखता है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि मानव-जीवन के कर्त्तव्यों के बारे में वैदिक संस्कृति की दृष्टि एकांगी न

होकर सर्वत्र व्यापक रही है, और यही कारण है कि अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वह नष्ट न होकर अपनेको अबतक जीवित रख सकी है। लेखक का अभिमत है कि वैदिक धारा की सुन्दर उदात्त भावनाएँ वस्तुतः महान् आश्चर्य और विस्मय की वस्तु हैं। धार्मिक चिन्तन पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। बताया गया है कि वैदिक प्रार्थनाओं का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। जैसे, ऋग्वेद के एक मंत्र में द्युलोक को पिता और पृथ्वी को माता कहा गया है। मनुष्यमात्र के प्रति मित्रता और सद्भावना रखने की कामना अनेक मन्त्रों में मिलती है। सांमनस्य सूक्त मैत्री-भावना का बड़ा सुन्दर उदाहरण है।

विद्वान् लेखक ने आदर्श-रक्षा एवं आत्मरक्षा, राजनैतिक आदर्श तथा व्यक्तिगत जीवन से संबंध रखनेवाले अनेक मन्त्रों को भी, सरल अर्थ के साथ, वेदों से उद्धृत किया है।

इस अध्याय के अन्त में वैदिक धारा के ह्रास का भी उल्लेख है, कि किन कारणों से आज वह विलुप्त-सी हो गई है। सिद्ध किया गया है कि ह्रास का मुख्य कारण आदर्शहीन शुष्क कर्मकाण्ड था, जिसने रूढ़िमूलक पुरोहित-वर्ग को जन्म दिया, और जिससे वैदिक धारा का प्रवाह अत्यन्त मन्द पड़ गया। पर इसका यह आशय नहीं कि वैदिक वाङ्मय का महत्व वर्तमान भारत के लिए नहीं है। लेखक का विश्वास है कि वेदों का सच्चा अनुशीलन और स्वाध्याय आवश्यक है, किन्तु अत्यन्त उदार भावना से।

अन्त में ये तीन वैदिक सूक्त भावार्थ सहित हमने संकलित कर दिये हैं—नासदीय सूक्त, पृथ्वी सूक्त और सांमनस्य सूक्त।

ऐतरेय ब्राह्मण से लेकर 'चरैवेति, चरैवेति' भी उद्धृत कर दिया है, जिसे डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने 'श्रमगान' कहा है।

इसी प्रकार कतिपय वैदिक सूक्तियाँ भी संकलित कर दी गई है।

चौथे अध्याय में उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय है। उपनिषदों पर लिखना आसान नहीं। विनोबाजी के विचार में "उपनिषद् पुस्तक है ही नहीं। वह तो प्रातिभ-दर्शन हैं। उस दर्शन को यद्यपि शब्दों में प्रकट करने का प्रयोग किया गया है, फिरभी शब्दों के पैर लड़खड़ा गये है!"

ग्यारह मुख्य उपनिषदों का संक्षिप्त सरल विवरण इस अध्याय में दिया गया है।

आचार्य विनोबा ने ईशोपनिषद् के मंत्रों की जो **ईशावास्य बोध** नाम से तात्विक व्याख्या की है उसे हमने अविकल रूप में इस अध्याय में उद्धृत किया है।

उपनिषदों में से कुछ कथाएँ भी हमने उद्धृत की हैं, जैसे नचिकेता, जाबाल-सत्यकाम, ब्रह्मज्ञानी रैक्व, अश्वपति का ब्रह्मोपदेश आदि। इन कथाओं के बहाने ब्रह्मविद्या का विवेचन और निरूपण अलग-अलग प्रकार से बड़ी सुन्दर शैली में

किया गया है।

अध्याय के अन्त में हमने उपनिषदों में से चुनकर कुछ सूक्तियाँ भी अर्थ के साथ संकलित कर दी हैं।

पाँचवें अध्याय में वाल्मीकि रामायण का विवेचनात्मक सारांश 'रामायणी-कथा' के नाम से विद्वद्वर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने बड़ी सुंदर शैली में दिया है। कहा जाता है कि रामायण और महाभारत को यदि हमने नहीं जाना, तो भारत के आदर्शों एवं उसकी सांस्कृतिक परम्परा से हम अनभिज्ञ ही रहे। रामायण को इतिहास भी माना गया है। महाभारत के वन-पर्व (अध्याय २७३, श्लोक ६) में रामकथा सुनाने से पहले कहा गया है, 'प्राचीन इतिहास में जो कुछ घटित हुआ है, उसे सुनो।' इससे स्पष्ट है कि राम का उपाख्यान महाभारत के समय में पुराना हो चुका था। रामकथा भारत से बाहर जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में भी पहुँच गई थी।

स्व० श्रीनिवास शास्त्री ने कई वर्ष पहले मद्रास में रामायण पर तीस व्याख्यान दिये थे। इनमें विद्वान् व्याख्याता की प्रतिभा का अद्भुत दर्शन होता है। उन संतुलित आलोचनात्मक व्याख्यानों में से एक व्याख्यान हमने इस अध्याय में लिया है, जो राम के चरित्र पर प्रकाश डालता है। इसमें सिद्ध किया गया है कि किस प्रकार उतार-चढ़ाव का मार्ग तय करके राम का चरित्र विकास की पूर्णता तक पहुँचा है।

च० राजगोपालाचारी लिखित संक्षिप्त 'रामकथा' में से भी हमने एक सुन्दर अंश इस अध्याय में लिया है। विषय है विभीषण का राम की शरण में आना। सुग्रीव अपना अभिप्राय देता है कि शत्रु-पक्ष के किसी मनुष्य पर सहसा विश्वास नहीं करना चाहिए। परन्तु राम इस बात पर दृढ़ हैं कि शरणागत को अभयदान देना उनका धर्म है। और, राजनीति पर धर्म-नीति की विजय होती है। राजाजी ने राम के इस वचन की उपमा सत्य ही अमृत से दी है कि, 'यदि रावण भी मेरे पास चला आये, तो मैं उसका तिरस्कार नहीं करूँगा।' कहने की आवश्यकता नहीं कि राजाजी की वर्णन-शैली कितनी सुन्दर, सरल और सुबोध होती है। रामचरित्र को किसी आलोचक की दृष्टि से नहीं, किन्तु एक भक्त के रूप में उन्होंने लिखा है। उनका भक्तहृदय बोल उठा है—

> "सीता, राम, हनुमान् और भरत को छोड़कर हमारी और कोई गति नहीं। हमारे मन की शान्ति, हमारा सब कुछ उन्हींके ध्यान में समाया हुआ है। उनकी पुण्यकथा हमारे पुरखों की धरोहर है। उसीके आधार पर हम आज जीवित हैं। सीता-राम की कथा माता की तरह हमारी जनता की सदा रक्षा करती रहेगी यह मेरा विश्वास है।"

छठा अध्याय महाभारत से संबन्ध रखता है। यह भी डॉ० वासुदेवशरण

अग्रवाल का लिखा हुआ है। महाभारत तो महाभारत है। यह सचही कहा गया है कि जो कुछ महाभारत में है, वही अन्यत्र मिलेगा; जो इसमें नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है :

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ।

(आदिपर्व, ५६।३३)

इसमें संदेह नहीं कि महाभारत ने मानवमात्र को धर्म का अमर संदेश दिया है। उसका मत है कि इस लोक में मनुष्य से बढ़कर श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।

स्व० डॉ० अग्रवाल का महाभारत का अध्ययन और अनुशीलन विशाल और गहरा था। इस सुंदर लेख को महाभारत में से निकाला हुआ नवनीत कहा जा सकता है।

इस अध्याय में डॉ० अग्रवाल-लिखित विदुर-नीति को भी हमने उद्धृत किया है। सचमुच यह दुर्भाग्य का विषय होगा यदि महाभारत के रूप में हमें जो अनमोल विरासत मिली है, उसकी यदि रक्षा न की गई।

महाभारत में से दो प्रसंगों को हमने अलग से दिया है :

एक प्रसंग है द्वैतवन का। इसमें एक यक्ष द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर युधिष्ठिर ने दिये हैं। यह प्रश्नोत्तरी कंठस्थ करनेयोग्य है।

दूसरा प्रसंग है शर-शय्या पर से भीष्म पितामह द्वारा युधिष्ठिर को दिया गया राजनीति एवं धर्मनीति का महान् उपदेश। सरल अर्थ के साथ इसके कुछ मूल श्लोकों को हमने उद्धृत किया है, जो कंठस्थ करने-जैसे हैं।

अंत में भगवद्गीता के अठारहों अध्यायों में से चुने हुए ११४ श्लोक भी 'गीता-नवनीत' के नाम से, सरल अर्थ के साथ, संकलित कर दिये हैं।

सातवें अध्याय में पुराणों की व्याख्या और इतिहास के साथ उनका सामान्य विवरण दिया गया है। इसे शास्त्री रामप्रताप त्रिपाठी ने लिखा है। पुराण-साहित्य का त्रिपाठीजी का खासा अच्छा अध्ययन है। वे मानते हैं कि, "पौराणिक कथाएँ और आख्यायिकाएँ बहुत करके धार्मिक और सामाजिक भूमिका पर आधार रखती हैं, और बहुत प्राचीन काल से परम्परागत सम्पदा के रूप में ये कथाएँ सुरक्षित रही हैं।" उनका मत है कि इतिहास न होते हुए भी पुराणों में इतिहास की ऐसी सामग्री भरी पड़ी है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पुराणों के माहात्म्य को स्वीकार करने के साथही वे मानते हैं कि सामाजिक विषमताओं के कारण पुराणों में अनेक विकृतियों को भी स्थान मिल गया है, अतः आँख मूंदकर उनका समर्थन या उपयोग नहीं करना चाहिए।

अठारह पुराणों का संक्षिप्त विवरण इस अध्याय में दिया गया है। पुराणों के रचना-काल पर भी भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार प्रकाश डाला गया है।

अठारह उपपुराणों तथा अठारह ही औपपुराणों या अतिपुराणों का भी नामोल्लेख किया गया है। ये सभी पुराण बहुत बाद की रचनाएँ हैं।

चौवीस तीर्थकरों के नाम पर जैनों के भी चौबीस पुराण हैं। ये सभी संस्कृत में हैं। नौ पुराण नेपाली बौद्धों के भी प्रचलित हैं। इन पुराणों में भी पुरानी आख्यायिकाओं और व्रतों का वर्णन किया गया है।

आठवें अध्याय में स्मृतियों या धर्म-शास्त्र का मात्र सामान्य परिचय हमने दिया है। स्मृतियों में मनुस्मृति का स्थान सबसे प्रमुख माना गया है। प्रसिद्ध है कि मानव-धर्मशास्त्र सूत्रों के रूप में था। वहुत-कुछ उन सूत्रों के आधार पर ही वर्तमान मनुस्मृति रची गई है ऐसा कतिपय विद्वानों का अभिमत है। मनुस्मृति के अलावा अन्य स्मृतियाँ बाद की रचनाएँ हैं। मनुस्मृति के बाद याज्ञवल्क्य स्मृति को अधिक प्रामाणिक माना जाता है।

हिन्दूधर्म तथा धर्मशास्त्र पर विद्वद्वर डॉ० स० राधाकृष्णन् ने जो गवेषणा, वैज्ञानिक पद्धति से, अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'धर्म और समाज' में की है, उसको कुछ संक्षिप्त करके हमने इस अध्याय में ले लिया है। धर्मानुसार आचार और व्यवहार पर काफ़ी गहराई और विस्तार से, अनेक स्मृतियों के प्रमाण देकर, डॉ० स० राधाकृष्णन् ने अपने प्रौढ़ विचार प्रस्तुत किये हैं। परिवर्तन के सिद्धान्त पर वे लिखते हैं, 'हिन्दू-विचारधारा में अत्यावश्यक परिवर्तनों के लिए स्थान रखा गया है। एक युग के विश्वासों और प्रथाओं को हम दूसरे युगों में स्थानान्तरित नहीं कर सकते। समय की आवश्यकताओं को देखकर क़ानून बनाये जाते हैं, और खत्म भी कर दिये जाते हैं।'

धार्मिक संस्थाओं पर भी वैज्ञानिक दृष्टि से डॉ० राधाकृष्णन् ने बड़ा अच्छा प्रकाश डाला है।

नवें अध्याय में भारत के विविध दर्शन-शास्त्रों की चर्चा की गई है। इसे दर्शन के ऊँचे विद्वान् डॉ इन्द्रचन्द्र शास्त्री ने लिखा है। लेखक का दर्शनविषयक अध्ययन गहरा और व्यापक है। दर्शन का आरंभ कैसे हुआ, दर्शन और विज्ञान का साध्य एकही है, 'दर्शन' शब्द का अर्थ और दर्शन का क्षेत्र आदि विषयों का विवेचन करने के पश्चात् भारतीय दर्शन की वैदिक तथा अवैदिक दोनों ही शाखाओं का निरूपण इस अध्याय में किया गया है। पारिभाषिक शब्दों को छोड़कर यथा-संभव प्रत्येक दर्शन के निरूपण में सुबोध शैली और सरल भाषा से काम लिया गया है। दर्शनों की निरूपण-शैली बड़ी दुरूह है और भाषा क्लिष्ट है, यह धारणा शास्त्रीजी के दर्शनविषयक इस लेख से बहुत कुछ दूर हो सकती है।

प्रत्येक दर्शन के मुख्य ग्रन्थों की सूची पुस्तक के परिशिष्ट (ख) में दी गई है। दर्शनशास्त्रों का अधिक गहरा अध्ययन करने में इन ग्रन्थों से सहायता ली जा सकती है।

दसवें अध्याय में 'दक्षिण भारत में भक्ति-मार्ग' की चर्चा की गई है। इसे-श्री श्री र० शौरिराजन ने हिन्दी में लिखा है, जो उनके एतद्विषयक गहरे अध्ययन पर प्रकाश डालता है।

ग्यारहवाँ अध्याय 'ब्राह्मसमाज' पर है। इसे हिन्दी के सुलेखक श्री शरदेन्दु ने श्री डी० एस० शर्मा द्वारा लिखित 'हिन्दूइज़्म' पुस्तक का आधार लेकर लिखा है। ब्राह्मसमाज का उदय, उसके विकास, उसकी उपयोगिता तथा उसके ह्रास की भी इस लेख में चर्चा की गई है। अन्त में, प्रार्थना-समाज का भी संक्षिप्त परिचय दे दिया है।

बारहवें अध्याय में 'आर्यसमाज' का सामान्य परिचय दिया गया है, जो संक्षिप्त होते हुए भी संतुलित एवं विवेचनात्मक है। इसे लिखा है हिन्दी के सुपरिचित प्रख्यात लेखक श्री विष्णु प्रभाकर ने। भारत के सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय पुनर्जागरण में आर्यसमाज ने जो उल्लेखनीय योग दिया है, उसका खासा परिचय इस लेख से हो सकता है।

तेरहवें अध्याय में नीति-शास्त्र पर चर्चा की गई है। इसे संस्कृत के ऊँचे विद्वान् डॉ० रामकरण शर्मा ने लिखा है। इस लेख में भारतीय नीतिशास्त्र की परिभाषा, राजा और राजधर्म का उद्भव, अमात्य, पुरोहित, गुप्तचरों की नियुक्ति, उच्च कर्मचारियों पर निगरानी, शासन-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था और परराष्ट्र-नीति का संक्षिप्त वर्णन है। आधार लिया गया है महाभारत के शान्तिपर्व का, मनुस्मृति का तथा आचार्य कौटल्य के अर्थशास्त्र का।

छठे अध्याय के अन्तर्गत 'विदुर-नीति' में नीतिशास्त्र का विशद वर्णन किया गया है, जो असल में इस अध्याय के उपयुक्त है। अतः अगले संस्करण में 'विदुर-नीति' को तेरहवें अध्याय में समाविष्ट कर दिया जायगा।

जैन-दर्शन तथा बौद्ध-दर्शन के अन्त में क्रमशः 'महावीर-वाणी' तथा 'बुद्ध-वाणी' शीर्षक से भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध की चुनी हुई सूक्तियाँ, अर्थ के साथ, हमने संकलित की हैं।

पुस्तक के अन्त में दो परिशिष्ट जोड़ दिये गये हैं—'क' तथा 'ख'।

परिशिष्ट 'क' में भारत के धार्मिक तथा सांस्कृतिक इतिहास का संक्षिप्त विवरण दिया गया है, जिसे पुराकाल, माध्यमिक काल तथा वर्तमान काल में विभक्त किया गया है।

परिशिष्ट 'ख' में विविध दर्शनों के मुख्य ग्रन्थों की सूचियाँ दी गई हैं।

'हमारी परम्परा' पुस्तक का यही संक्षेप में सामान्य पूर्व-परिचय है।

ज्ञानप्रिय श्रीघनश्यामदास बिड़ला का मैं बड़ा आभारी हूँ, जिन्होंने **'हमारी परम्परा'** पुस्तक तैयार करने के लिए प्रेरित और उत्साहित किया।

भारतीय परम्परा का सामान्य परिचय कराने में यदि यह पुस्तक कुछ भी उपयोगी सिद्ध होगी, तो मैं मानूंगा कि प्रयास यह विफल नहीं गया।

—वियोगी हरि

दिल्ली,
श्रीराम-नवमी,
सं० २०२४

विषय-सूची

हमारी
परम्परा

•

अध्याय–१

भारतीय संस्कृति : प्राग्वैदिक तथा वैदिक

[डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम०ए०, पी-एच० डी०]

भारतीय ऋषियों ने मानव-जीवन को चार पुरुषार्थों में विभक्त किया है— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। आज 'संस्कृति' शब्द से जिन बातों को लिया जाता है, वे सब इनमें आती हैं। तब कहा जा सकता है कि संस्कृति का प्राचीन नाम 'पुरुषार्थ' है। इन चारों में मोक्ष का धर्म के साथ सीधा संबंध है। किन्तु अर्थ और काम के लाभ के लिए भी धर्म की मर्यादा को आवश्यक माना गया है। भारत की संस्कृति का सदा से यह स्वर रहा है कि जो व्यक्ति या समाज धर्म को छोड़ देता है, उसके अर्थ और काम भी नष्ट हो जाते हैं। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अपनेको 'धर्माविरुद्ध काम'[1] बताया है। भारतीय संस्कृति अर्थ और काम को हेय नहीं समझती। उनपर वह धर्म का नियंत्रण आवश्यक मानती है। महाभारत में महर्षि व्यास ने कहा है, 'मैं बाहें उठाकर चिल्ला रहा हूँ, पर कोई मेरी सुन नहीं रहा। यह कि धर्म से ही अर्थ और काम दोनों प्राप्त होते हैं। तब उसका पालन क्यों नहीं किया जाता ?'[2] इससे मालूम होता है कि धर्म ही संस्कृति का मूलस्रोत है। जिस अर्थ और काम का धर्म से विरोध नहीं है, वे संस्कृति में आ जाते हैं; जो उसके विरुद्ध हैं, वे या तो विकृति हैं या फिर पतन।

मानव-जाति के इतिहास के दो युग माने जाते हैं। पहला चंक्रमण या गति का युग है। उस काल में मानव एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता रहा। उसने एक ही जगह पर स्थायी रूप से बसना पसन्द नहीं किया। दूसरे युग में वह खेती करने लगा, और स्थायी रूप से बस गया। पहले युग में जीवन के संचालक तत्त्व को 'ऋत' कहा गया है। इसका अर्थ है वे सभी बातें, जो गति में सहायक हैं। इसके विरुद्ध, जो बातें बाधक जान पड़ीं, उन्हें 'अनृत' कहा गया। दूसरे युग में गति के स्थान पर सुरक्षा को महत्त्व दिया जाने लगा। उस समय जीवन का मुख्य तत्त्व धर्म हो गया। अर्थात् वे बातें आ गई, जो व्यक्ति और समाज को धारण करती हैं।

---

१. धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि।

२. ऊर्ध्ववाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्चकामश्च, स धर्मः किं न सेव्यते ।।

'समाज' शब्द भी पहले युग को प्रकट करता है। इसका अर्थ है, एकसाथ मिलकर चलनेवाला मानव-दल।

उत्तरकाल में धर्म के नाम पर अनेक संप्रदाय खड़े हो गये। उनमें से कुछ तो किसी प्राचीन परम्परा की प्रतिक्रिया को लिये हुए थे, और कुछ किसी विशेष दृष्टि को लेकर। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने धर्म की व्याख्या भी अपनी-अपनी प्रतिक्रिया या संस्कारों के अनुसार की। परन्तु प्राचीन व्याख्या अत्यन्त व्यापक थी। ऋषि कणाद ने धर्म की व्याख्या यह की है :

यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः

[वैशेषिक सूत्र १-१

'अभ्युदय' का अर्थ है सांसारिक या भौतिक विकास, और 'निःश्रेयस्' का अर्थ है मोक्ष। कणाद ने धर्म को दोनों का ही साधक माना है। मनु ने धर्म के ये चार स्रोत बताये हैं :

१. श्रुति अर्थात् वेद
२. स्मृति—अनुभवी ऋषि-मुनियों की रचनाएँ
३. सदाचार—भले आदमियों का रहन-सहन
४. जो आत्मा के लिए प्रिय याने हितकारी हो

इस प्रकार धर्म के अन्दर संस्कृति की सभी बातें आ जाती हैं।

धर्म और दर्शन

भारत में धर्म और दर्शन ये एक-दूसरे से अलग नहीं हैं। धर्म ने जिस तथ्य का प्रतिपादन अनुभव या प्रातिभ ज्ञान के आधार पर किया, दर्शन ने उसीका समर्थन युक्ति के बल पर किया। दर्शन जीवन का विचार-पक्ष है, तो धर्म क्रिया-पक्ष। तब यों भी कहा जा सकता है कि धर्म दर्शन का प्रयोगात्मक विज्ञान है। भारत के अधिकतर दर्शनों ने आगम या महापुरुषों के वचन को भी स्वतन्त्र प्रमाण माना है। अनेक आचार्यों ने तो यहाँतक स्वीकार किया है कि तर्क का उपयोग केवल आगम में कही बातों के समर्थन में करना चाहिए। जहाँ आगम और तर्क में परस्पर विरोध हो, वहाँ तर्क को छोड़ देना चाहिए।

इसी आधार पर कई पाश्चात्य विद्वानों का यह आक्षेप रहा कि भारत में शुद्ध दार्शनिक पद्धति का विकास नहीं हुआ, क्योंकि वहाँ बुद्धि पर शास्त्र का आधिपत्य रहा है। इस आक्षेप के उत्तर में इतनाही कहना काफ़ी है कि जैसे शास्त्र को अन्तिम सत्य मानकर चलना बुद्धि को पंगु बनाना है, उसी तरह बुद्धि को अंतिम सत्य मानकर चलना मानो जीवन को अनुभवहीन बालक के हाथों में सौंप देना है। अंतिम सत्य बुद्धि की पहुँच से परे है। शास्त्र उन अनुभवियों के मार्गदर्शन हैं; जिन्होंने उस ओर क़दम बढ़ाया था। अन्तिम निर्णय तो व्यक्ति के अपने हाथ में है।

परन्तु उसके लिए जो योग्यता आवश्यक है, वह तभी प्राप्त होती है, जब हम उस ओर बढ़ते हैं। ज्यों-ज्यों हम लक्ष्य के समीप पहुँचते हैं, वह और-और अधिक स्पष्ट होती चली जाती है। अपने स्थान पर खड़ा रहकर मंज़िल की बौद्धिक चर्चा करने-वाला उसे पा नहीं सकता। ज्ञान और क्रिया दोनों मिलकर ही उस लक्ष्य पर पहुँचते हैं।

धार्मिक परम्पराओं के इतिहास को लेकर हमारे सामने दो दृष्टियाँ आती हैं। पहली दृष्टि अनुयायियों की है। हरेक अनुयायी अपनी परम्परा को अनादि कहता है। अथवा, किसी ऐसे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध जोड़ता है, जो इतिहास की सीमा में नहीं आता। जिन धर्मों के नाम के साथ प्रवर्त्तक का नाम जुड़ा हुआ है, वे भी उसे परमात्मा या किसी अतींद्रिय सत्ता के साथ जोड़ते हैं। श्रद्धालु वर्ग इस बात को सहन नहीं करता कि उनके प्रवर्त्तक को साधारण मनुष्य माना जाय। एक बात और है। प्राचीनता के मोह ने हमारी बुद्धि को इस तरह घेर रखा है कि वह सत्य की ओर नहीं झुकने देता। ऐसा लगता है कि अपेक्षा कृत 'अर्वाचीन' सिद्ध होने पर हमारी परम्परा कहीं हीन कोटि की न हो जाय; इस प्रकार के मोह धर्म-संस्था का सच्चा इतिहास नहीं लिखने देते।

दूसरी दृष्टि पाश्चात्य तथा उस शैली पर शिक्षित भारतीय विद्वानों की है। वे उन सब तत्त्वों को बहुत-कुछ मिथ्या मानकर चलते हैं, जो उनकी समझ में नहीं आते। किन्तु विश्व के रहस्यों को अपनी सीमित बुद्धि के घेरे में बाँधना समझदारी नहीं है। आज जो वैज्ञानिक सत्य सामने आ रहे हैं, उनको बीस वर्ष पहले का वैज्ञानिक कभी न मानता। इसी प्रकार योग और दूसरी विद्याएँ लुप्त हो चुकी हैं। वर्तमान उनकी शक्ति से अपरिचित है। पर इतनेभर से उनका अपलाप नहीं किया जा सकता। साथ ही, यह भी ठीक है कि इन विद्याओं का नाम लेकर बहुत अतिशयोक्ति भी हुई है। साधारण मानव को ठगा भी गया है। पर इसका इतनाही अर्थ है कि दुरुपयोग और वंचना से सावधान रहा जाय।

प्राग्वैदिक काल

साधारणतौर से भारतीय संस्कृति वेदों से प्रारम्भ की जाती है। किन्तु सिंधु-घाटी की खुदाई में जो खण्डावशेष मिले हैं, उन्होंने इसे दो हज़ार बरस पीछे खिसका दिया है।

सिंध के लरकाना ज़िले में मोहेनजो-दारो, मुर्दों का टीला, नामक एक स्थान है। उसके एक ओर सिंधु नदी है, और दूसरी ओर नारा नाम की नहर। यहाँ पाँच हज़ार साल पहले एक नगर था। यह कम-से-कम सात बार उजड़ा और फिर-फिर बसा। इस तरह एक के बाद दूसरे जो नगर बसे, उनके खंडहर एक ऐसी सभ्यता को प्रकट करते हैं, जो आध्यात्मिक नहीं तो भौतिक दृष्टि से तो बहुत

ही समुन्नत थी। वहाँ रहनेवाले किस जाति के थे, इस विषय में कुछ बहुत स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। पर यह स्पष्ट है कि वे लोग असभ्यता के युग को बहुत पीछे छोड़ चुके थे।

वहाँ की खुदाई में कुछ मूर्तियाँ मिली हैं। वे उनके धार्मिक विश्वासों पर कुछ प्रकाश डालती हैं। उनमें से एक मूर्ति किसी देवी की जान पड़ती है, दूसरी लिंग की, तीसरी योगमुद्रा में बैठे हुए किसी देवता की। लिखित सामग्री न होने के कारण इस बारे में विस्तार से कुछ कहा नहीं जा सकता। फिरभी इतना तो साफ़ है कि उन दिनों लिंग तथा मूर्ति दोनों रूपों में शिव की पूजा प्रचलित थी, जिसका वैदिक आर्यों ने पहले विरोध किया।

वर्तमान हिंदू-धर्म में बहुत-से तत्त्व ऐसे पाये जाते हैं, जिनका मूलस्रोत वेदों में नहीं मिलता। ऐसा दीखता है, वे किसी ऐसीही 'प्राग्वैदिक परम्परा' की देन हैं। हो सकता है कि शक्ति-पूजा का जो रूप तंत्र-साहित्य में मिलता है, वह उस समय न रहा हो। पर इतना स्पष्ट है कि विश्वजननी के रूप में देवी की पूजा उस समय भी प्रचलित थी। वृक्ष, अग्नि, और जल की पूजा भी होती थी। कुछ मुद्राएँ भी मिली हैं, जिनपर पशुओं के आकार हैं। उनसे जान पड़ता है कि उस समय उनकी पूजा होती होगी। यह भी संभव है कि वे भिन्न-भिन्न देवताओं के वाहन या प्रतीक रहे हों। ये प्रश्न विवादग्रस्त हैं। फिरभी मोहेनजो-दारो और दूसरे स्थानों पर जो अवशेष मिले हैं, उनसे नीचे के निष्कर्षों पर पहुँचा जा सकता है :

१. हिंदूधर्म में अबभी बहुत-से ऐसे विश्वास और अनुष्ठान पाये जाते हैं, जो ईसा से तीन हज़ार वर्ष पहले प्रचलित थे।

२. शिव और शक्ति की पूजा भारतीय देवतावाद का अत्यन्त प्राचीन रूप है।

धर्म का यह रूप सिंध, बलूचिस्तान और पंजाब के कुछ भागों में प्रचलित था। उस धर्म का ह्रास किन कारणों से हुआ, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

सिन्धु-घाटी की सभ्यता

१९२२ ई० से पहले भारतीय सभ्यता का इतिहास वेदों से प्रारंभ किया जाता था। यह मान लिया गया था कि उससे पहले यहाँ 'पाषाण-युग' था, जिसके अवशेष पिपरावा में मिले हैं। वेदों में जिस सभ्यता और संस्कृति का चित्रण पाया जाता है, उसका समय ई० पू० २००० माना जाता है। इस आधार पर पाश्चात्य तथा कई भारतीय विद्वान भी यह मानने लगे थे कि भारत की सभ्यता का जीवन-काल ४००० वर्ष से अधिक नहीं है। किन्तु हड़प्पा व मोहेनजो-दारो आदि स्थानों में जो अवशेष खुदाई से मिले हैं, उनसे पता चलता है कि भारत वेदों

से बहुत पहले सभ्यता के क्षेत्र में काफ़ी विकास कर चुका था। सिन्धु-सभ्यता के बारे में पुरातत्त्व के विद्वानों का मत है कि वह आज से ५००० वर्ष पहले अवश्य मौजूद थी। पर उसका प्रारम्भ-काल अभीतक निश्चित नहीं हो सका है। इस खोज से पहले भारत का स्थान संसार की प्राचीनतम सभ्यताओं में नहीं था। तब केवल सुमेर,अक्काद, बेबीलोन, मिश्र व असीरिया का नाम लिया जाता था।

नगर

मोहेनजो-दारो के अवशेषों से यह मालूम होता है कि उस समय नगर-विज्ञान का काफी विकास हो चुका था। सीधी व चौड़ी सड़कें, व्यवस्थित नालियाँ, सुन्दर स्नानागार, भिन्न-भिन्न वर्गों के लिए अलग-अलग तरह के मकान, हवादार खिड़कियाँ, मनोरंजनगृह आदि देखकर आश्चर्य होता है। मालूम होता है, जैसे वह किसी समुन्नत देश का आधुनिक नगर रहा होगा। एक अंग्रेज विद्वान् ने उन्हें देखकर कहा था, 'ऐसा लगता है, जैसे मैं लंकाशायर के अवशेषों पर खड़ा हूँ।'

नगर के दो द्वार हैं। एक उत्तर में, और दूसरा दक्षिण में। बीच में चौड़ी सड़क है, जिसपर सवारियाँ व पैदल बिना किसी रुकावट के आ-जा सकते हैं। पूर्वी मार्ग, दूसरे मार्ग से चौड़ा है। नगर की रचना दूरदर्शिता, अनुभव तथा नगरशास्त्र के पर्याप्त ज्ञान को प्रकट करती है। रास्ते सीधे व एक-दूसरे से मिले हुए हैं। बस्तियाँ और सार्वजनिक स्थान मुख्य सड़कों से जुड़े हैं। रास्तों की चौड़ाई ९ फ़ुट से लेकर ३४ फ़ुट तक है और लम्बाई आधे मील तक। आरपार सड़कों के कारण नगर कुछ वस्तियों में विभक्त हो गया है। कोई चौरस, कोई लम्बी। हरेक बस्ती में आस-पास गलियाँ हैं, और दोनों ओर मकान। हरेक गली में सार्वजनिक कुआँ है। अधिकतर घरों में भी कुएँ और स्नानागार हैं। सार्वजनिक मार्ग सीधे और आरपार हैं। बीच में किसी प्रकार की अड़चन या रुकावट नहीं है। मोड़ पर मकान हैं। उनके किनारे पालतू पशुओं की रगड़ से घिस गए हैं। कुछ मकान ऐसे भी हैं, जिनके कोने गोलाई लिये हुए हैं। सम्भव है, उस रगड़ से बचने के लिए ऐसा किया गया हो। गंदा पानी निकालने के लिए नालियों की सुन्दर व्यवस्था है। घर की सीधी व तिरछी नालियाँ एक हौदी में गिरती हैं। उनका सम्बन्ध गटर के साथ है।

भग्नावशेष दो टीलों में बँटा हुआ है। एक ऊँचा है, दूसरा नीचा। पहले में विशाल प्रासाद हैं, जिनमें राजकीय व धनिक वर्ग रहते होंगे। दूसरे में छोटे-छोटे एकमंज़िले मकान हैं। इनमें कारीगर, दूकानदार आदि साधारण लोग रहते होंगे। यहीं बाज़ार होगा। लोहार, कुम्हार, ठठेरा आदि भी इसी भाग में रहते होंगे। यह चित्र ऐसी अर्थ-व्यवस्था को प्रकट करता है, जहाँ स्वतंत्र उद्योग और

ंजी पर प्रतिबन्ध नहीं था। इंग्लैण्ड, अमरीका आदि देश लोकतंत्र के इसी रूप
र चल रहे हैं, जहाँ समता की अपेक्षा स्वतंत्रता को अधिक महत्व है। मोहेनजो-
ारों का स्थापत्य सादगी और उपयोगिता को लिये हुए है। बाहरी शोभा तथा
ढ़ता के स्थान पर वहाँ इस बात का अधिक ध्यान रखा गया है कि मकान में
ावश्यक सुविधाएँ हों। सुमेर के समान वहाँ ऊँचे मंदिर नहीं हैं। मिश्र के
मान विशाल समाधियाँ भी नहीं हैं। दरवाज़ों पर गोल महराब के स्थान पर
तिकोन या सीधी चौखट है। सिंधु घाटी में सभ्यता का लक्ष्य जीवन को सुखी
और संपन्न बनाना था, प्रभावशाली और कलात्मक नहीं। उसका मुख्य लक्ष्य
उपयोगिता था, सौन्दर्य नहीं।

हड़प्पा मोहेनजो-दारो से बड़ा है। उसका जीवन-काल भी लम्बा है। पर
बातें लगभग वही हैं। हड़प्पा में कुओं की संख्या मोहेनजो-दारो से कम है। उसका
धान्यागार विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसकी लम्बाई १६९ फ़ुट और चौड़ाई
१३५ फ़ुट है। एक-से आकारवाले दो भाग हैं। उनके बीच २३ फ़ुट का चौड़ा रास्ता
है। हरेक भाग में ६ बड़े-बड़े कमरे हैं। बीच में ५ गलियाँ हैं, जो एक कमरे से
दूसरे कमरे को अलग करती हैं। हर बड़े कमरे में चार कोठे हैं। हड़प्पा की दूसरी
विशेषता कारीगरों के मकान हैं। उनकी संख्या १४ है। ये दो पंक्तियों में विभक्त
हैं। बीच में संकड़ी गली है। हरेक घर चारों ओर से खुला और चौरस है। हरेक
में एक आँगन है, और दो कमरे।

हड़प्पा तथा मोहेनजो-दारो में मकान बनाने के लिए कच्ची और पक्की
दोनों किस्म की ईंटें काम में लाई जाती थीं। किन्तु किर्थार की पहाड़ी और सिंध
नदी के बीच जो अवशेष मिले हैं, इनमें ईंटें नहीं हैं। यहाँ मकान पत्थरों के बने
हुए हैं, जिनका धरातल ३ या ४ फ़ुट ऊँचा है। ऊपर का भाग बाँस, लकड़ी और
गारे का बना हुआ है। मोहेनजो-दारो और हड़प्पा दोनों में नगर-प्राकार नहीं
है। इसके विपरीत, अली मुराद और कोहत्रा के बाहर जो प्रासाद मिले हैं, उनके
चारों ओर प्राकार हैं। वे पत्थर के हैं। मैदानों में शायद दुर्लभ होने के कारण
पत्थर का उपयोग नहीं हुआ। मंछर झील पर जो स्थान मिले हैं, वहाँ थंबों पर
मकान बने हुए हैं।

दीवारों, फर्शों, स्नानागारों, नालियों, कुओं आदि में पक्की ईंटों का
उपयोग किया जाता था। नींव और छत में कच्ची ईंटों का। ईंटें चौकोर व सफ़ाई
के साथ बनाई और पकाई गई हैं। मकानों के निम्नतम स्तर में भी बहुत अच्छी
ईंटें लगी हैं। तिकोनी या अर्धवर्तुल ईंटें कुआँ आदि बनाने के काम आती थीं।
उन्हें साँचों में बनाया जाता था। फर्श को समतल बनाने के लिए रोड़ियाँ काम
में लाई जाती थीं, और अनाज आदि रखने के कोठारों और कुएँ के घेरों में मुड़ी
हुई ईंटें। ये केवल चन्हु-दारों में मिली हैं। मोहेनजो-दारो में भट्ठे भी मिले हैं।

ईंटों का रंग पीला या लाल होता था।

मोहेनजो-दारो की खुदाई में सात स्तर मिले हैं। ये सभी प्राचीनता की दृष्टि से एक ही युग को प्रकट करते हैं। अन्तर इतना ही है कि ऊपर के स्तरों में पत्थर का काम घटता चला गया है। चिनाई में आमतौर पर गारा काम में लाया जाता था। नालियाँ और ऐसे ही दूसरे स्थानों में चूने व खड्‌डी का। ईंटों का जोड़ इतना अच्छा है कि तेज चाकू भी नहीं घुस सकता। पानी की सील को रोकने के लिए राल का उपयोग होता था।

नींवें काफ़ी गहरी हैं। उन्हें रोड़ों से भरा गया है। बाढ़ से बचने के लिए मकान के नीचे कच्चा चबूतरा बनाया जाता था।

चिनाई में ईंटें आधुनिक ढंग से लगाई गई हैं। एक सीधी और दूसरी तिरछी। इस बात का ध्यान रखा गया है कि कोई जोड़ लम्बा न हो। यथासंभव उसे तोड़ दिया गया है। चौड़ी दीवारों का मध्यभाग मिट्टी या रोड़ियों से बना है। शिखरों का निर्माण आश्चर्यकारक है। वह यह बताता है कि लटकन या ऐसे किसी दूसरे यंत्र का उपयोग किया गया है। इसे बनाने के लिए हरेक चिनाई में ऊपरवाली ईंट को नीचेवाली ईंट से कुछ हटाकर रखा गया है। इसके लिए ढलुवे किनारे की ईंटें भी बनती थीं। पटरी पर की दीवारें छज्जोंवाली हैं, जिन्हें ईंटों व लकड़ी के पाटियों से बनाया गया है। इनकी ऊँचाई ३ फ़ुट है।

सिंधु-घाटी में अबतक जो मकान मिले हैं उन्हें तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :

(१) निवासगृह (२) विशाल भवन, और (३) सार्वजनिक स्नानागार।

निवासगृह अनेक प्रकार के हैं। सबसे छोटे दो कमरों के हैं। बड़े राजभवन के समान दिखाई देते हैं। बाहर की दीवार साफ़ और सादा है।

साधारणतया घरों का दरवाज़ा गली में है। सभी मकान खुले हैं। कमरे मध्यम आकार के हैं, न बहुत छोटे, न बहुत बड़े। प्रत्येक घर में कुआँ और स्नानागार है। नालियाँ ढकी हुईं और गटर के साथ जुड़ी हुईं। हरेक मकान में समान आँगन है। यह बेबीलोन के समान सिन्धु-घाटी की विशेषता है। चौक समतल और ईंटों का है। चारों ओर कमरे हैं। दरवाज़े व खिड़कियाँ चौक में खुलती हैं। एक कोने में रसोई-घर। नीचे की मंज़िल में अधिकतर स्नानागार व वापीगृह हैं। स्नानागार सड़कवाले कोने में है, उसका फ़र्श समतल और पक्की ईंटों का बना है। ढलान गंदे पानी की ओर है। सीधे खड़े नलों से पता चलता है कि ऊपर की मंज़िल में भी स्नानागार बनाये जाते थे। दरवाज़े आमतौर पर लकड़ी के बनाये जाते थे। वे दीवार के एक कोने पर होते थे, बीच में नहीं।

साधारण घरों की बाहरी दीवार में बहुत करके खिड़कियाँ नहीं हैं। दीवार के ऊपरी भाग में पत्थर की जालियाँ हैं। सीढ़ियाँ पत्थर की हैं—सीधी और खड़ी,

ड़ियाँ संकड़ी और ऊँची। कहीं-कहीं सीढ़ियों का संबंध ऊपर की मंज़िल में बनी ठक या स्नानागार के साथ भी है। छतें सपाट और लकड़ी की बनी हैं। घरों में ौचालय प्राय: नहीं होते थे। कहीं-कहीं वे छतों पर मिले हैं। घरों में कुछ ऐसे मरे भी मिले हैं, जिनमें दरवाज़ा नहीं है। उन्हें तहखाना, बाढ़ से बचाने के लिए क्की नींव, या कोषगृह बताया जाता है। लगभग प्रत्येक घर में कुआँ है। सार्व-निक कुएँ घरों के बीच में हैं। चारों ओर पक्की ईंटों के चबूतरें हैं। इनकी ढलान ालियों की ओर है। दो कुएँ ऐसे भी मिले हैं, जिनका ऊपरी भाग चौरस है। पानी नेकालने के लिए अरहट भी काम में आते थे।

नालियों की व्यवस्था सिन्धु-घाटी की विशेषता है। प्राचीन सभ्यताओं के दूसरे किसी अवशेष में उनकी इतनी सुन्दर प्रणाली नहीं मिली। हरेक सड़क व बहुत-सी गलियों के नीचे गटर है। इसकी गहराई १ फ़ुट से २ फ़ुटतक है। वह पत्थर या ईंटों से ढका है। निश्चित सीमाओं पर पानी जमा होने के गड्ढे व जाँच के लिए जालियाँ हैं। हरेक घर की नाली सड़क के गड्ढे में गिरती है। गटर उस पानी को नदी में पहुँचाता है। सभी गड्ढे और गटर समय-समय पर साफ़ होते रहते थे। इसके लिए स्थान-स्थान पर 'मेनहोल' बने हुए हैं।

विशाल भवनों को प्रारंभ में मंदिर समझा गया। पर बाद में पता चला कि वे सराय या धर्मशाला थे। विशाल स्नानागार के सिवाय ऐसा कोई भवन नहीं मिला, जिसे धर्मस्थान कहा जा सके। स्तूप के समीप एक खंडहर है, जिसकी दीवारें बहुत चौड़ी हैं। वह शिक्षा-संस्थान-सा मालूम होता है। कदाचित् उसमें उच्च अधिकारी, मुख्य धर्माचारी या साधुओं का शिक्षालय रहा होगा। एक थंभों-वाला विशाल भवन भी मिला है, जो ८० फ़ुट लंबा और उतनाही चौड़ा है। उसमें अनेक पंक्तियां बनी हैं। बैठने के लिए छोटी-छोटी बैंचें हैं। दक्षिण में सिंहा-सन है। संभवत: उसका उपयोग सार्वजनिक सभा-भवन के रूप में होता होगा।

मोहेनजो-दारो का सार्वजनिक स्नानागार अपनी विशेषता रखता है। यह १८० फ़ुट लम्बा और १०८ फ़ुट चौड़ा है। दीवारों का निचला भाग ७ से ८ फ़ुट-तक चौड़ा है। बाहरी भाग में पक्की दीवार है। अन्दर की दीवारें ३ या ४ फ़ुट चौड़ी हैं। स्नानागार का नक्शा अटपटा नहीं है। मध्य में पक्का चौरस आँगन है। चारों ओर बरामदे। उनके पीछे, पश्चिम को छोड़कर, सभी दिशाओं में कमरे और छज्जे। दक्षिण में विशाल सभा-भवन, जिसके चारों कोनों पर छोटे-छोटे कमरे हैं। पूर्व की ओर छोटे कमरों की एक पंक्ति है। इनमें एक के साथ कुआँ भी है। उत्तर में बहुत-से मझोले और बड़े आकार के कमरे हैं। आँगन के मध्य में सरोवर है। यह ३९ फ़ुट लम्बा और २३ फ़ुट गहरा है। स्नान करनेवालों की सुविधा के लिए चारों ओर सीढ़ियाँ हैं। पूर्व में एक सीढ़ी ऊपर की मंज़िल पर जाती है। मालूम पड़ता है कि पूर्व की ओर जो कुआँ है, उसका उपयोग सरोवर के भरने में किया जाता

था। सरोवर के पश्चिम की ओर ६।। फ़ुट ऊँची नाली है, जिससे उसका गंदा पानी बाहर निकलता होगा। क्रीड़ा-सरोवर के निर्माण में इस बात का ध्यान रखा गया है कि पानी कहीं से रिसने न पाये। उसके चारों ओर चूने में जड़ी हुई ईंटों की सुन्दर पंक्ति है। उसके पीछे एक इंच मोटी राल की पट्टी है।

सामाजिक और आर्थिक जीवन

मोहेनजो-दारो की खुदाई में जो अस्थि-पंजर मिले हैं, वे 'ताम्रयुग' को प्रकट करते हैं। वे नागरिक सभ्यता को लिये हुए हैं। अस्थियों की जाँच से पता चलता है कि यहाँ ये चार प्रकार की जातियाँ रहती थीं :

(१) पूर्व आस्ट्रिक (२) भूमध्यसागरिक (३) मंगोल, तथा (४) अल्पाइनी। जल और स्थल का यातायात सुगम होने के कारण मोहेनजो-दारो-सरीखे स्थान का सार्वदेशीय रूप लेना स्वाभाविक है। मालूम होता है कि एशिया के विभिन्न देशों में रहनेवाले नागरिकों के लिए यह मिलन-स्थान था। मूर्तियों के अवशेषभी भिन्न जातियों के मिश्रण को प्रकट करते हैं।

इतना बड़ा नगर ऐसे स्थान पर ही बस सकता है, जहाँ अन्न की बहुतायत हो। साथ ही कोई बड़ी नदी हो, जो यातायात, सिंचाई और परिवहन की सुविधाएं दे सके। बहुसंख्यक प्राप्त खेती के औज़ारों से पता चलता है कि खेत बड़े-बड़े होते थे। खेती के लिए कौन-सी पद्धति अपनाई जाती थी यह अभीतक निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हुआ। पर गेहूं और जौ के जो दाने मिलते हैं, वे जंगली क़िस्म के नहीं हैं। पंजाब में अबभी उसी क़िस्म के गेहूँ पैदा किये जाते हैं। पुआल से पता चलता है कि चावलों की खेतीभी होती थी। गुठलियों से मालूम होता है कि खजूरभी मुख्य खाद्य रहा होगा।

गेहूं, जौ और चावलों के सिवाय दूध का भी भोजन में मुख्य स्थान था। फल व सब्जियाँ भी पैदा की जाती थीं। हड़प्पा में मटर और मूंग भी होते थे। घरों और सड़कों में मछलियों, कछुओं और जंगली पशुओं की हड्डियाँ मिली हैं, जो इस बात को प्रकट करती हैं कि मांसाहार का प्रचलन था। जंगली और पालतू दोनों प्रकार के पशुओं के चिह्न मिले हैं। साँड़, भैंसा, भेड़, हाथी, सूअर और ऊँट के भी अस्थि-पंजर प्राप्त हुए हैं। मुद्राओं पर अधिकतर वृषभ का चिह्न है। मालूम होता है कि आज के समान उस समय भी इसका महत्त्व माना जाता होगा। घोड़े की अस्थियाँ भी मिली हैं, पर वे नीचे के स्तरों में नहीं हैं। घोड़े के अस्तित्व के सम्बन्ध में विवाद होनेपरभी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सिन्धु-घाटी के निवासी उससे परिचित थे। गाय और संभवतया सिंहभी थे। खिलौने पर बनी मिट्टी की आकृतियों से पता चलता है कि साँड़, गैंडा, व्याघ्र, बंदर, कुत्ता, रीछ और खरगोशभी होते थे। गधे के चिह्न भी मिले हैं। छोटे प्राणियों में नेवला, गिलहरी, तोता,

मोर, कुक्कुट और बिल्ली के चिह्न मिले हैं।

वेश-भूषा

वस्त्रों का कोई भी अवशेष नहीं मिला। इसके लिए मूर्तियाँ ही एकमात्र आधार हैं। एक मूर्ति से पता चलता है कि दो कपड़े पहने जाते थे। बायें कंधे पर शाल की तरह कोई कपड़ा होता था, जो दायें कंधे के नीचे से होकर शरीर पर लिपटा रहता था, ताकि दायाँ कंधा खुला रहे, और हाथ स्वतन्त्र होकर काम कर सकें। नीचे का कपड़ा आधुनिक धोती के समान होता था, जो शरीर से चिपका रहता था। स्त्रियों की वेश-भूषा अक्सर पुरुषों के समान ही होती थी। कपड़े सूती और ऊनी दोनों प्रकार के होते थे। प्राप्त सुइयों से पता चलता है कि कपड़े सीये जाते थे।

केश-विन्यास

पुरुषों के सम्बन्ध में कुछ अधिक जानकारी मिली है। स्त्रियों का सिर ढका रहता था, इससे केश-रचना स्पष्ट नहीं दिखाई देती।

मालूम होता है कि स्त्रियाँ चोटी रखती थीं, जैसाकि आजभी प्रचलित है। पुरुष लम्बे बाल रखते थे। उनका विन्यास अनेक प्रकार का होता था। कोई उन्हें दो हिस्सों में बाँटता था, जैसाकि **'नैषधीय चरित'** में नल के लिए आया है। (द्विफाल बद्धाश्चिकुरा चकासति) कोई सिर पर जूड़ा रखता था। कोई उन्हें घुंघराले बनाकर कान ढक लेता था। कोई पीछे की ओर लटकाये रखता था। कोई ललाट पर लाकर पीछे की ओर मोड़ता था, और फीते से बाँध लेता था। छोटे बाल फीते में बाँधकर या सुइयों द्वारा स्थिर किये जाते थे। फीते अधिकतर सोने, चाँदी या ताँबे के बनते थे। पुरुष दाढ़ी और मूँछ रखते थे, या फिर दोनों का मुंडन कराते थे।

आभूषण

पुरुष और स्त्रियाँ सभी आभूषण पहनते थे। स्त्रियाँ पंखे के आकार की ओढ़नी रखती थीं। सिर के दोनों ओर झालर पहनी जाती थी, जो सोने, चाँदी, ताँबे या मनकों की होती थी। ललाट पर पट्टी या झलार होती थी। कुंडल सोने, चाँदी, ताँबे आदि के बनाये जाते थे। नथ के बारे में निश्चित रूप से कहना कठिन है। हार के विविध रूप मिले हैं। अंगूठी, चूड़ियाँ और बाजूबंद पहनने का बहुत रिवाज था। चूड़ियाँ व बाजूबंद सोने, चाँदी, ताँबे, पीतल, सीप तथा खड़िया के बनाये जाते थे। ये अनेक आकार के होते थे। ऐसे बाजूबंद भी मिले हैं, जहाँ गोल पत्ते के साथ छह लड़ियाँ जुड़ी हुई हैं। वे कारीगरी के सुन्दर नमूने हैं। कंदोले भी पहने

जाते थे। उनके दो नमूने मिले हैं। पायजेवों का भी रिवाज था। वे उसी प्रकार की हैं, जैसे पहाड़ी स्त्रियाँ अबभी पहनती हैं। अनेक प्रकार के रत्न भी मिले हैं, जिससे पता चलता है कि उन्हें आभूषणों के रूप में पहनने का चलन था। यहभी प्रकट होता है कि उन्हें घिसकर सुन्दर बनाने की कला काफ़ी विकास कर चुकी थी। पुरुष पट्टी, हार, अंगूठी और बाजूबंद पहनते थे।

प्रसाधन व अंगराग की भी कुछ सामग्री मिली है। शृंगारदान के साथ सूई, छोटी चिमटी और कान से मैल निकालने के औज़ार भी मिले हैं। उर, किश तथा खाफेजी में भी इसी प्रकार की सामग्री उपलब्ध हुई है। शृंगारदान हाथी-दाँत, धातु, मिट्टी और पत्थर के बनते थे। बहुमूल्य अंगराग और सुगंधित वस्तुओं को रखने के लिए चीनी की प्यालियाँ काम में लाई जाती थीं। मालूम होता है कि मोहेनजो-दारो की स्त्रियाँ काजल, मुखराग और दूसरे अंगरागों का उपयोग करती थीं। चन्हु-दारो के अवशेषों में अधर-राग के चिह्न भी पाये गए हैं। शीशे की भस्म मुखराग, आँख धोने तथा बाल रंगने के काम आती थी। अंगराग के लिए ताँबे और पीतल की बनी सलाइयाँ काम में लाई जाती थीं। स्त्रियों के शृंगार के लिए विशेष प्रकार की चौकियाँ होती थीं। दर्पणों के पीछे पीतल लगा रहता था। वे आयताकार होते थे। कंघे हाथी-दाँत के होते थे। पुरुष पीतल के उस्तरे काम में लाते थे।

घरेलू सामान

मोहेनजो-दारो में कई प्रकार का घरेलू सामान मिला है। यह चिकनी मिट्टी, पत्थर, सीप, चीनी मिट्टी, हाथी-दाँत और धातु का बना है। चम्मच, कलछी आदि पीतल या ताँबे के हैं। रसोई में मिट्टी के बर्तन भी होते थे। पीने के लिए नोकदार सिकोरे काम में लाये जाते थे।

बैठक में कुर्सियाँ, पलंग और मूढ़े मिले हैं। मूढ़े सरकंडों के बने हैं। चटाइयाँ बेंत की। दीपक तांबे, सीप और मिट्टी के हैं। मोहेनजो-दारो में मिट्टी के दीवट भी मिले हैं, जो यह प्रकट करते हैं कि मोम या चर्बी में रूई की बत्ती रखकर दीपक जलाये जाते थे।

क्रीड़ा-सामग्री

क्रीड़ा के लिए गोलियाँ, गेंद और पासे काम में लाये जाते थे। गोलियाँ सुमेर और मिश्र में भी मिली हैं। ज्ञात होता है कि वैदिकयुग के समान उस समय भी पासों का बहुत प्रचार था। वे तिकोने और चौकोन दोनों प्रकार के हैं। मोहेन-जो-दारो के पासे योरोप के जैसे चौकोन हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि पासे डालना अपने-आप में क्रीड़ा का कोई प्रकार था। सम्भवतः वे चौपड़ खेलने के साधन रहे होंगे। क्योंकि ईंटों की बनी चौपड़ भी अच्छी संख्या में प्राप्त हुई है। कुछ

हाथी-दाँत की बनी चौड़ी मछलियाँ भी मिली हैं, उनका उपयोग भी किसी क्रीड़ा में होता होगा।

मनोरंजन

कुछ चित्रोंवाले ताबीज पाये गए हैं। इनमें शिकारी धनुष-बाण से जंगली बकरे या हरिण पर प्रहार कर रहा है। साथही, हरिणों और बारहसिंघों के सींगों की भारी संख्या यह बताती है कि मृगया का बहुत प्रचार था। साँडों की लड़ाई भी मनोरंजन का एक प्रकार थी। पक्षी भी पाले जाते थे। जाल लगाना व मछलियाँ पकड़ना साधारण व्यवसाय था। टूटे-फूटे टेढ़े-मेढ़े मिट्टी के खिलौने काफ़ी संख्या में मिले हैं। खिलौनों के नमूने विविधता लिये हुए हैं। मिट्टी की गाड़ी बच्चों का प्रिय खेल था। मिट्टी का मेढ़ा भी बच्चों का प्यारा खिलौना था। उसकी पीठ पर लाल रेखाएँ हैं, जो ऊन को प्रकट करती हैं। नीचे दो पहिये हैं। गले में एक छेद है। इसमें डोरी डालकर उसे खींचा जाता होगा। खिलौना-गाड़ी पहियोंवाली गाड़ी के प्राचीन रूप को प्रकट करती है।

साधारण मिट्टी के खिलौनों में पुरुष, स्त्री, पशु, बाजे, छकड़े आदि की आकृतियाँ हैं। पक्षियों की भी हैं। इसी प्रकार थंभे पर चढ़ते हुए चूहे, गिलहरी आदि छोटे प्राणी तथा हिलती हुई बाहोंवाले खिलौने भी बनाये जाते थे। हिलती हुई गर्दनवाला बैल और चंचल बाहोंवाला बंदर ये खिलौनों के अद्‌भुत नमूने हैं। वे किसी लचीली वस्तु को लगाकर बनाये जाते थे। इस प्रकार के खिलौने यह बताते हैं कि उस समय इस क्षेत्र में काफ़ी विकास हो चुका था। यंत्र-संचालित खिलौने भी बनाये जाते थे। एक खिलौना ऐसा मिला है, जहाँ मनुष्य या बंदर कभी ऊपर जाता है, और कभी नीचे आता है। इसके लिए डोरे लगाये गए हैं।

यातायात

बैलगाड़ी यातायात का मुख्य साधन थी। सिंध और पंजाब में जैसी बैलगाड़ियाँ आज काम में लाई जाती हैं, ठीक वैसाही नमूना इन अवशेषों में मिला है। उनके अतिरिक्त, हड़प्पा में ताँबे की एक गाड़ी भी मिली है, जो वर्तमान इक्के के समान है। उसपर वर्षा व धूप से बचने के लिए छतरी है। रथ के ढंग की बैलगाड़ियाँ भी मिली हैं।

कला और कारीगरी

मूर्तियाँ, मुद्राएँ तथा आभूषण उस काल की कला को प्रकट करते हैं। मुद्राएं या ठप्पे तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं :

१. जस्ता और मिट्टी के खोदकर बनाये गए बड़े ठप्पे;

२. जस्ते की छोटी मोहरें और तावीज, जो छापने के काम नहीं आतीं;

३. खड़िया और दूसरी मिट्टी के बने ठप्पे या मोहरें, जिनपर अक्षर या प्रतिकृतियाँ उभरी हुई हैं।

दूसरे प्रकार की तथा खड़िया की बनी हुई तीसरे प्रकार की मुद्राएँ हड़प्पा के प्राचीन स्तरों में विशेषरूप से प्राप्त हुई हैं। उनका उपयोग तावीज़ के रूप में होता होगा। उनमें गाँठ या छेद नहीं है। पहले प्रकार की मुद्राओं में जो अक्षर या प्रतिकृतियाँ बनी हुई हैं, प्रायः उन्हींको यहाँ मुद्रित किया गया है। ये मुद्राएँ और ठप्पे अनेक आकार और रंगों के हैं। कारीगरी के ये सुन्दर नमूने हैं। इनपर पशुओं के सींग व टेढ़े-मेढ़े अक्षर भी स्पष्ट प्रतीत होते हैं। उन्हें इतने सुंदर ढंग से रँगा गया है कि मिट्टी का अपना रंग पूरी तरह छिप गया है। पकाने व कुरेदने में पूरी सफ़ाई बरती गई है।

सिंधु-घाटी में जो लिपि प्राप्त हुई है वह उसी प्रकार की है, जैसी सुमेर, वेबीलोन आदि प्राचीन सभ्यता के अन्य केन्द्रों में मिली है। उसे चित्र-लिपि कहा जा सकता है। उसमें जो चिह्न हैं, उनका प्रारम्भ चित्रों से हुआ है। धीरे-धीरे उन्होंने सर्वमान्य रूप ले लिया और मूल प्रतिकृति का पता लगाना कठिन हो गया। दूसरी ओर वह उस लिपि से भी भिन्न है, जो विभिन्न कोणों द्वारा बनी है, और मेसोपोटामिया में प्राप्त हुई है। साधारण तौर पर ये लिपियाँ दायें से वायें की ओर लिखी जाती हैं। किन्तु जब एक से अधिक पंक्तियाँ लिखी गई हैं, तो उन्हें धनुषाकार बना दिया गया है, अर्थात् एक पंक्ति दायें से वायीं ओर है, और दूसरी वायें से दायें ओर। कुछ विद्वानों का यह मत है कि 'ब्राह्मी' का विकास कदाचित् इसी लिपि से हुआ है।

धातु, खड़िया व मिट्टी की बनी प्रतिकृतियाँ, मूर्त्तिकला का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। इसकी तुलना में, प्रतीत होता है, मोहेनजो-दारो में कला का उतना विकास नहीं हुआ। वहाँ कुछ पत्थर की बनी मानव-प्रतिकृतियाँ मिली हैं। किन्तु वे कलापूर्ण नहीं हैं। मोहेनजो-दारो में एक मूर्ति ऐसी मिली है, जिसमें धर्मगुरु या देवता ध्यानमुद्रा में बैठे हैं। आँखें आधी खुली हैं। वहाँ प्राप्त प्रतिकृतियों में कला की दृष्टि से वह सर्वोत्तम है। उसपर मोटी सफ़ेद पॉलिश है। वायें कंधे पर शाल है, और दाहिने के नीचे फूल-पत्तियाँ। सिर पर पगड़ी है। छोटी दाढ़ी, तथा मूँछे हैं। ओठ मोटे हैं। नाक चपटी। ललाट छोटा और गर्दन खड़ी। नृत्य करती हुई स्त्री की ताम्रमूर्ति भी मिली है। उसमें इतनी सफ़ाई नहीं है। हड़प्पा में प्राप्त अत्यंत महत्त्वपूर्ण वस्तुओं में एक नंगे पुरुष का धड़ है। वह लाल पत्थर का है। दूसरी प्रतिकृति एक नर्तक की है, जो भूरे पत्थर की है। दोनों में कंधों व गर्दन के स्थान पर गड्ढे हैं। इसका अर्थ है बाहें और सिर अलग से बनाकर जोड़े जाते थे। ये प्रतिकृतियाँ मोहेनजो-दारो में अवतक प्राप्त अन्य प्रतिकृतियों से

श्रेष्ठ हैं। पुरुष की प्रतिकृति ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के यूनानी कलाकार के लिए भी अभिमान का विषय हो सकती है। किन्तु मूर्ति का बढ़ा हुआ पेट और आकृति भारतीयता को प्रकट करते हैं। नर्तक दायें पैर पर खड़ा है। कमर से ऊपर के अंग बायीं ओर झुके हुए हैं, जो थिरकन और वेग को प्रकट करते हैं।

हड़प्पा में उत्कीर्ण चित्रों और प्रतिकृतियों में अंगों के चढ़ाव-उतार और रेखाओं का जो सुन्दर चित्रण है, वह वर्तमान कलाकार के लिए भी गर्व का विषय हो सकता है। मालूम होता है कि पाँच हज़ार साल पहले यह कला अपने उच्च-शिखर पर पहुँच चुकी थी।

धर्म

अबतक जो अवशेष मिले हैं, केवल उन्हींके आधार पर यह निश्चय करना कठिन है कि हड़प्पा में धर्म का क्या रूप था। दूसरी बात यह है कि उस काल में धार्मिक और लौकिक जीवन दोनों मिले हुए थे। उनमें स्पष्ट भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती।

हड़प्पा और मोहेनजो-दारो में ऐसा कोई भवन नहीं मिला, जिसे मंदिर कहा जा सके। उस समय के धर्म का रूप जानने के लिए भी मुख्य आधार मुद्राएँ हैं। कुछ मिट्टी की मोहरें, ताँबे की बट्टियाँ, पकी मिट्टी, खड़िया और धातु की बनी छोटी-बड़ी आकृतियाँ व पत्थर की जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनके आधार पर धार्मिक विश्वासों के बारे में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। पकी मिट्टी की स्त्री-मूर्तियाँ अच्छी संख्या में मिली हैं। बलूचिस्तान में भी इसी प्रकार की मूर्तियाँ पाई गई हैं। ईरान से लेकर ईजियन तक, खास करके एलाम, मेसोपोटामिया, ट्रांसकेस्पिया, एशिया माइनर, सीरिया और फिलस्तीन, साइप्रस, क्रीट, साइक्लेड्स, बाल्कन तथा मिश्र में भी उनसे मिलती-जुलती मूर्तियाँ मिली हैं। संभव है, उनका मूल कोई ऐसा धर्म हो, जिसे उपर्युक्त सभी प्रदेश मानते हों। साधारण तौर पर वे अवशेष देवी-पूजा को प्रकट करते हैं। भारत में आजभी यह अनेक रूपों में प्रचलित है। इन देशों में गर्भवती एवं बच्चोंवाली स्त्री की प्रतिकृतियाँ भी मिली हैं, जिनसे संतानोत्पादन का धार्मिक रूप प्रकट होता है। कुछ प्रतिकृतियाँ देवदासियों की हैं, या वे खिलौने भी हो सकते हैं। आकृतियों में सबसे अधिक संख्या ऐसी स्त्रियों की है, जो लुंगी पहने हुए हैं। कमर में किसीके कंदोला है, और किसीके नहीं। सिर पर पंखे के आकार की टोपी है। कानों के पास दोनोंओर प्याले की आकृतियाँ हैं। जो प्रतिकृतियाँ तिपाई पर बैठी या सिर पर पुष्प धारण किये हुए हैं, वे माता के रूप में देवी की हो सकती हैं। पुरुष-आकृतियों की संख्या स्त्री-आकृतियों से आधी है। उन्हेंभी तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है। कुछ देवताओं की हैं, कुछ भक्तों की और कुछ खिलौने। कुछ को छोड़कर सभी दिगंबर हैं। स्त्री-आकृतियाँ अधिक-

तर खड़ी मुद्रा में हैं, और पुरुष-आकृतियाँ बैठी हुई। कहीं वे घुटनों पर भुजाएँ, लगाकर बैठे हैं, और कहीं हाथ जोड़े हुए। ये प्रतिकृतियाँ किसी अवैदिक परम्परा से संबंध रखती हैं।

पुरुषाकृति देवताओं के सिर पर सींग हैं, जो अतींद्रिय शक्तियों के संकेत हैं। मोहेनजो-दारो में एक ऐसी मोहर मिली है, जहाँ देवता ऊँची वेदी पर योग-मुद्रा में बैठे हैं। उनके तीन मुख हैं। सिर पर दो सींग हैं, जो त्रिशूल के रूप में ऊँची और पंखे के आकारवाली टोपी में जा मिलते हैं। मूर्ति आभूषणों से लदी है। दोनों ओर चार पशु हैं। बायीं ओर गैंडा और भैंसा, दाहिनी ओर हाथी और व्याघ्र। सिंहासन के नीचे दो हरिण हैं, जिनके सींगवाले मस्तक मध्य में झुके हुए हैं। इन सब चिह्नों के आधार पर पुरातत्त्ववेत्ता सर जॉन मार्शल इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि वह पशुपति के रूप में भगवान् शिव का पुरातन रूप है।

वृक्षों और पशुओं की पूजा भी प्रचलित थी। पीपल का एक पत्ता मिला है, जो वृक्ष-पूजा का प्राचीनतम प्रतिनिधित्व करता है। कुछ समय पश्चात् हड़प्पा में पीपल की शाखाओं और पत्तों के वंदनवार बनने लगे थे, जो वृक्षपूजा के पूर्वरूप को प्रकट करते हैं। मोहेनजो-दारो में एक ऐसी भी मुद्रा मिली है, जहाँ देवता पीपल के नीचे खड़े हैं। दूसरी मुद्रा में उनका सिर पीपल के तने से बाहर निकला हुआ है। हड़प्पा की कुछ मुद्राओं में बबूल का पेड़ भी मिला है। उसके नीचे या तो चबूतरा है, या बाड़। सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु धूपबत्ती है। कहीं वह विशेष स्थान पर स्थिर होकर जल रही है, तो कहीं किसीके हाथ में है। सभी मुद्राओं में उसे पशु की गर्दन के नीचे रखा गया है। साँड़, गैंडा और व्याघ्र को नाँद में कुछ खाते हुए बताया गया है। हाथी और भैंसे को दोनों रूपों में दिखाया गया है—कभी नाँद के साथ, कभी उसके बिना। नाँद का यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि उन पशुओं को पाला जाता था, क्योंकि साँड़ व बैल के पालतू होनेपर भी वह उनके साथ नहीं है। संभवतः नाँद पूजा के रूप में अर्पित वन्यपशुओं के भोजन को सूचित करती है। पशु-राक्षसों की प्रतिकृतियाँ भी मिली हैं, जिनमें कहीं दो, कहीं पाँच और कहीं छह सिर जुड़े हुए हैं। कुछ ऐसी हैं, जिनमें आधा शरीर मनुष्य का है, और आधा पशु का। पशु के स्थान पर अधिकतर सिंह या व्याघ्र आदि भयंकर प्राणी को रखा गया है। आकृतियों के सिर पर सींग हैं, जो उनके देवत्व को प्रकट करते हैं। कुछ का आधा भाग मनुष्य का है और आधा बैल का। सुमेर में भी इसी प्रकार की आकृतियाँ मिली हैं, जहाँ वे सींगोंवाले व्याघ्र पर आक्रमण कर रही हैं। कुछ मुद्राओं पर व्याघ्र से युद्ध करते हुए पशु की आकृति मिली है, जो मेसोपोटामिया के गिलगिमेश का प्रतिरूप जान पड़ती है। एक मुद्रा में देवता नीचे आसन पर योगमुद्रा में बैठा है। दोनों ओर भूमि पर झुके हुए भक्तों की मूर्तियाँ हैं। ऊपर साँप के फण फैले हुए हैं। प्रतीत होता है कि पौराणिक साहित्य में नागलोक का जो वर्णन

श्रेष्ठ है
भी ‹स्तुत आकृतियाँ शायद उसीके निवासियों की ओर संकेत करती हैं ।

मूर्तियों के अतिरिक्त लिंग और योनि की पूजा का भी प्रचलन था। स्वस्तिक का चिह्न भी मिला है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसकी पूजा भी होती थी या वह केवल मंगल के रूप में बनाया जाता था।

सिंधु-घाटी में प्रचलित धर्म के रूप को संक्षेप में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है :

वे लोग माता के रूप में देवी की पूजा करते थे। इसी तरह वृक्षों, उनमें रहनेवाले देवी-देवताओं, पशुओं, व पशु-राक्षसों को भी पूजते थे।

शिव की पूजा मूर्ति और प्रतीक दोनों रूपों में होती थी। लिंग और स्वस्तिक उनके प्रतीक थे। इसी प्रकार योनि देवी का प्रतीक थी। देवी तथा स्वस्तिक की पूजा सारे विश्व में प्रचलित थी।

शव-संस्कार

ऐसा कोई श्मशान नहीं मिला, जिसे नगर के अवशेषों के साथ रखा जा सके। हड़प्पा में दो श्मशान मिले हैं। उनमें से एक हड़प्पा-युग का है, दूसरा बाद का। पहला किले के खण्डहरों के दक्षिण में है। १९३७ से १९४६ तक वहाँ ५७ क़ब्रें मिली हैं। उनसे पता चलता है कि शव को ज़मीन में लेटा दिया जाता था, और उसका सिर उत्तर की ओर रखा जाता था। हरेक क़ब्र में मिट्टी के बहुत-से वर्तन पाये गये हैं। ये हड़प्पा के उत्तरकाल की विशेषता को प्रकट करते हैं। ये वर्तन दूसरे श्मशान के वर्तनों से शैली और सजावट दोनों बातों में भिन्न हैं। वर्तनों के सिवाय आभूषण और निजी उपयोग की वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं। १९४६ में एक नई क़ब्र मिली, जहाँ शव मांस और लकड़ी के पाटिये से ढका हुआ है। सुमेर में ईसा से ३००० वर्ष पहले के जो श्मशान मिले हैं, वहाँभी यही चीजें प्राप्त हुई हैं।

दूसरा श्मशान किले और पहले श्मशान के बीच में है। यह उस समय का हो सकता है, जब नगर नष्ट हो चुका था। उसमें शवस्थापन के दो रूप मिले हैं।

दूसरे श्मशान में जो मिट्टी के वर्तन मिले हैं, उनके आकार और चित्रण दोनों ही पहले श्मशान से भिन्न हैं। इन चित्रणों में पशुओं की प्रतिकृतियाँ अधिक हैं। पौधे, वृक्ष, नक्षत्र और पत्ते भी चित्रित हैं। कुछ पौराणिक कथाओं से भी संबंध रखते हैं। एक मटके पर गले के पास तीन उड़ते हुए मोर चित्रित हैं। तारे भी हैं। मयूर के शरीर में कोई आकृति प्रवेश कर रही है। संभवत: वह मृतव्यक्ति का सूक्ष्म शरीर हो सकता है, जिसे स्वर्ग में ले जाया जा रहा है। मयूर का यह चित्र क़ब्रों से प्राप्त सभी मटकों पर है। शायद इसका मृतकों के वारे में प्रचलित विश्वासों के साथ कुछ संबंध रहा होगा।

दूसरे मटके पर दो चित्र हैं। प्रत्येक में कई आकृतियाँ हैं, जिनमें कोई पशु, संभवतया वृषभ (या गाय), सिर झुकाये हुए हैं। बीच में चोंचवाली मानवाकृति है। उसके हाथ तथा पैरों के नीचे रस्सी है, जो बैलों के गले में बँधी है। बायें हाथ में धनुष-बाण हैं। दायीं ओर के बैल पर शिकारी कुत्ता आक्रमण कर रहा है, और उसकी पूँछ को अपने मुँह में पकड़े हुए है। इस बैल का पिछला भाग केवल रेखाओं के रूप में बताया गया है। कुत्ते के पीछे दो मोर लड़ रहे हैं। दोनों चित्रों के बीच एक बड़ा बकरा है। उसके सींग त्रिशूल के समान आठ फलोंवाले हैं। दाहिनी ओर के बैल के सींग भी इसी प्रकार के हैं। बायीं ओर के कुत्ते यमराज के कुत्तों की याद दिलाते हैं। बिना आँतोंवाला वृषभ ऋग्वेद की अनुस्तरणी गाय का स्मरण दिलाता है, और दूसरा भाग वैतरणी गाय का। ऋग्वेद में मृत्यु-संस्कार से सम्बन्ध एक सूक्त है, जहाँ चिता की अग्नि को संबोधित करके कहा गया है, 'हे अग्नि ! तू इस बकरे को अपना भक्ष्य बना लेना, जिसे काटकर शव के अंगों पर रखा जा रहा है। मृत व्यक्ति को मत जलाना। इसे पितृलोक में पहुँचा देना।' दूसरे श्मशान के बर्तनों पर बने बहुसंख्यक चित्र अजमेध या बकरे की बलि को प्रकट करते हैं। एक क़ब्र में यह बर्तन शव के एक तरफ़ मिला है। अन्यत्र शव और अन्य सामान के बीच ये बिखरे हुए मिले हैं।

बायें हाथ में धनुष और बाण का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है। यहाँ भी इन्हें शव के साथ रखने का निर्देश है। ऋग्वेद के दशम मंडल के १४वें, १६वें और १८वें सूक्त में कुछ विधि-विधान और विश्वासों का वर्णन है। दूसरी ओर प्रस्तुत चित्रों के अध्ययन से जिन संस्कारों का पता चलता है, दोनों में आश्चर्य-जनक समानता है। ऋग्वेद में दोनों परम्पराएँ मिलती हैं। आर्य लोग मृत का दाह-संस्कार करते थे, और उसे गाड़ते भी थे।

नीचे के स्तरों में जो शवों के अवशेष मिले हैं, वे कहीं पूरे हैं, और कहीं छिन्न-भिन्न। साधारणतया मृत-शरीर को पूरी तरह लेटा दिया जाता था, टाँगें सीधी रहती थीं। कुछ अपवादों को छोड़कर मिट्टी के बर्तन हरेक क़ब्र में मिले हैं। किसी-किसी में आभूषण भी प्राप्त हुए हैं। जहाँ बर्तनों की संख्या कम है, वहाँ उन्हें सिर के पास रखा गया है। इनका हड़प्पा में प्राप्त बर्तनों के साथ विशेष संबंध नहीं है। पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत है कि जिन लोगों का संबंध द्वितीय श्मशान के साथ है, उन्होंने ही कदाचित् हड़प्पा की संस्कृति का ध्वंस किया होगा।

सिन्धु-सभ्यता का काल और उसके निर्माता

पश्चिमी एशिया में सभ्यता के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनसे सिंधु-सभ्यता बहुत अधिक मिलती है। एलम और मेसोपोटामिया की, द्वितीय जल-प्लावन के पहले की, सभ्यता के साथ उसका घनिष्ठ साम्य है। १९३१ में लंदन

की पुरातत्त्व-परिषद् ने यह समानता उरक, जेमडेट, नसार आदि के साथ भी बताई थी। इससे पता चलता है कि ईसा से ३००० वर्ष पहले भारत का आल्पा और मेसोपोटामिया के साथ घनिष्ठ संबंध रहा होगा।

सिन्धु-घाटी के अवशेषों का काल-निर्णय इसी आधार पर किया गया है। एलम और मेसोपोटामिया में भी उसी काल के अवशेष मिले हैं, विशेष रूप से उर, किश, जेमडेट, नसार तथा तेल अस्मार में। उर और किश में बहुत-सी ऐसी मुद्राएँ मिली हैं, जो सिन्धु-घाटी की मुद्राओं से मिलती हैं। उनका संबंध सारगन-राजवंश के साथ लगाया गया है, जिसका समय ईसा से २३५० वर्ष पूर्व है। इसी प्रकार तेल अस्मार में अक्काद-वंश की कुछ मुद्राएँ मिली हैं, जिसका समय ई० पू० २५०० वर्ष माना जाता है। इन्हीं आधारों पर सिन्धु-सभ्यता के विभिन्न स्तरों का काल-निर्णय किया जाता है। तेल अस्मार की मुद्राओं पर जो पशु अंकित हैं, वे भारत में ही पाये जाते थे, मेसोपोटामिया में नहीं। कुछ मुद्राएँ हड़प्पा के उत्तर-वर्ती स्तरों में प्राप्त हुई हैं। वे लगभग १५०० ई० पू० की हैं। ये सिन्धु-सभ्यता के अंतिम युग को प्रकट करती हैं। उन मुद्राओं पर जो चित्र हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वे बाहर से आई होंगी।

अवशेषों में पशुओं की प्रतिकृतियाँ, फूल-पत्ते, नक़्क़ाशी का काम, प्रसाधन-सामग्री, खिलौने आदि वस्तुएँ हैं। कुछ वस्तुएँ यहाँसे वहाँ गई, और कुछ वहाँसे यहाँ आई। अबतक जिन स्थानों की खुदाई हो चुकी है, वे मोटे तौर से ई० पू० ढाई हजार से लेकर डेढ़ हजार वर्ष तक की सभ्यता को प्रकट करते हैं। नीचे के स्तरों की खुदाई होने पर, संभव है, इस सभ्यता का आदिकाल और पीछे सरक जाय।

सिन्धु-घाटी में 'किश' वंश के लोग रहते थे। वे मूलतः भारतीय थे या बाहर से आये थे, इन प्रश्नों का अंतिम निर्णय अभीतक नहीं हुआ है। इसके लिए बहुत ही कम सामग्री उपलब्ध हुई है। मोहेनजो-दारो के ऊपरी स्तर में कुछ अस्थि-पंजर मिले हैं। वे ही इस प्रश्न के निर्णय का एकमात्र आधार हैं। उनके अध्ययन से पता चलता है कि मोहेनजो-दारो में कई जातियाँ रहती होंगी। आस्ट्रिक, अरब, मंगोल और अल्पाद्वीपीय। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय पंजाब तथा सिंध अनेक जातियों के मिलन-क्षेत्र थे।

सिन्धु-घाटी की विकसित सभ्यता तथा उसके उत्थान और पतन से संबंध रखनेवाले विभिन्न स्तरों के आधार पर यह भी कहा जाता है कि वहाँके निवासी आर्य जाति के थे। किन्तु सिन्धु-घाटी में जो मुखाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं, वे आर्य जाति की मुखाकृति से नहीं मिलतीं। ऊँचा क़द, गोरा रंग, काली आँखें, मुहँ पर घने बाल, लंबा, संकड़ा और उभरा हुआ सिर, नाक न चपटी, न बहुत लम्बी—आर्य जाति की यह विशेषताएँ हैं। किन्तु मोहेनजो-दारो में जो चार प्रकार की

आकृतियाँ मिली हैं, वे अलग प्रकार की हैं। आर्य और सिन्धु-घाटी के निवासियों की जीवन-पद्धति में भी स्पष्ट अन्तर पाया जाता है। वैदिक आर्यो की मुख्य आजीविका पशुपालन और कृषि थी। वे छोटी-छोटी बस्तियों में बिखरे हुए थे। इसके विपरीत, सिन्धु-सभ्यता नागरिक जीवन को प्रकट करती है। वहाँ बड़ी-बड़ी घनी बस्तियाँ, ऊँचे पक्के मकान, औद्योगिक संस्थान और सामूहिक आमोद-प्रमोद के चिह्न मिलते हैं। आर्य और सिन्धु-निवासी दोनों धनुष, बाण, भाले, छुरी और परशु रखते थे। आर्यो के पास कवच भी होता था, जबकि सिन्धु-निवासी अपने बचाव के लिए केवल ढाल रखते थे। सिन्धु-निवासी पत्थर और धातु की बनी गदा का उपयोग करते थे। हड़प्पा में देवी, लिंग और मूर्ति के रूप में शिव तथा पौराणिक मूर्तियों की पूजा प्रचलित थी। किन्तु ऋग्वेद में मूर्तिपूजा का प्रत्यक्ष निर्देश नहीं मिलता। आर्यो का समुद्र के साथ विशेष संबंध नहीं था। किन्तु सिंधु-घाटी के लोग समुद्र-मार्ग से व्यापार करते थे। हिंदमहासागर, फ़ारस की खाड़ी और उसके पार वे दूर-दूरतक जाते थे। उनकी मुद्राओं पर नाव की आकृतियाँ भी चित्रित हैं।

आर्य गाय को संपत्ति मानते थे। उसे 'अघ्न्या' (जिसकी हत्या वर्जित है) कहते थे। घोड़ा भी उनके जीवन में प्रमुख स्थान रखता है। किन्तु सिन्धु-घाटी के चित्रों में उनका स्थान नहीं है। वहाँ गाय के स्थान पर बैल है, और घोड़े के चिह्न नहीं मिलते। सिन्धु-घाटी-सभ्यता में हाथी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्याघ्र, गैंडे और वृषभ के साथ उसे भी पिंड दिया गया है। उनके समान विशालकाय और शक्तिशाली होने के कारण उसे भी अन्य प्राणियों के साथ दैवी रूप दे दिया गया। ऋग्वेद में उसका निर्देश 'मृग-हस्तिन्' के रूप में मिलता है, जिसका अर्थ है, सूँडवाला प्राणी। यह नाम इस बात को सूचित करता है कि आर्यो ने उसे पहले-पहल देखा होगा।

इन कई प्रमाणों से पता चलता है कि सिन्धु-घाटी के निवासी आर्यो से भिन्न थे।

वैदिक काल

धर्म-संस्था के इतिहास में दूसरा काल वैदिक सभ्यता का है। इसका मुख्य आधार वेद है। यह कोई विशेष ग्रंथ न होकर उस समस्त साहित्य का नाम है, जो कई विद्वानों के मतानुसार तीन-चार हज़ार वर्षों में रचा गया। इसमें आर्यो के धार्मिक विश्वासों, रीति-रिवाजों, अनुष्ठानों और दार्शनिक सिद्धान्तों का भी वर्णन है। वेदों के रचना-काल को लेकर विद्वानों में काफ़ी मतभेद है। इस विषय में किसी निश्चित मत पर पहुँचना संभव भी नहीं। एक ओर, उन्हें अनादि बतानेवाली भारतीय परम्परा है, तो दूसरी ओर, पाश्चात्य विद्वान् उसका समय ई० पू० चार हज़ार से लेकर एक हज़ार वर्ष तक मानते हैं। यहाँ तो उस विवाद में न पड़कर

केवल उस साहित्य के रचनाक्रम को उपस्थित करना है, जिससे धार्मिक परिस्थिति के पूर्वापर का पता चल सके।

वैदिक साहित्य को चार कालों में विभक्त किया जाता है—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिताओं का रचना-काल साधारणतया ई० पू० २००० से लेकर १५०० तक माना जाता है, और मुख्य उपनिषदों का काल ई० पू० ६०० । मध्यवर्ती एक या डेढ़ हज़ार वर्ष को वैदिक काल कहा जाता है। ये चार काल धर्म-संस्था के उत्तरोत्तर विकास को प्रकट करते हैं।

सबसे प्राचीन ऋग्वेद संहिता है। उसमें धर्म का जो रूप मिलता है, उसे प्राय: 'प्रकृति-पूजा' कहा जा सकता है। मानव ने आश्चर्यभरी दृष्टि से प्राकृतिक परिवर्तनों को देखा। कभी उसका ध्यान गरज-गरजकर बरसते बादलों की ओर गया, कभी कलकल करती नदियों की ओर, कभी आँधी और तूफ़ानों की ओर, और कभी बाँसों के परस्पर टकराने से प्रस्फुटित होनेवाले भयंकर दावानल की ओर। कभी उसने सुनहली उषा को देखा, तो कभी काले बादलों में चमकती हुई बिजली को। कभी अंधेरे से लड़ते हुए सूर्य को, और कभी अमृत बरसानेवाले चन्द्र को। इन सब प्राकृतिक तत्त्वों को देखकर उसका हृदय कभी कृतज्ञता से गद्‌गद हो उठा, कभी भय से काँपने लगा और कभी सौन्दर्य को निहारकर उल्लास से भर गया। साथ ही, वह इन परिवर्तनों के पीछे अतींद्रिय शक्तियों की भी कल्पना करने लगा। यहीं से 'देवतावाद' का जन्म हुआ।

देवताओं में विश्वास की दो प्रतिक्रियाएँ हुईं। एक ओर उनके प्रकोप को शान्त करने या उन्हें अपने कार्य में सहायक बनाने के लिए विविध प्रकार के अनुष्ठान होने लगे। उन्होंने आगे चलकर यज्ञों का रूप ले लिया। दूसरी ओर, उन देवताओं के स्वरूप और शक्ति के बारे में चिंतन शुरू हुआ। उसने दार्शनिक विचारों को जन्म दिया। ऋग्वेद के प्राचीन भाग में देवताओं का पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व मिलता है। परन्तु उसके दशम मंडल में उन सबको एक ही सार्वभौम सत्ता के रूप में मान्य कर लिया गया। उपनिषदों में सारे ही विश्व को 'तद्रूप' मान लिया गया। इस प्रकार उत्तरोत्तर दार्शनिक विचारों का विकास हुआ। मैक्समूलर ने 'देवतावाद' की चार अवस्थाएँ बताई हैं। पहली दो अवस्थाओं को 'बहुदेवतावाद' कहा जाता है। उनमें देवी-देवताओं की विशाल संख्या मानी जाती थी। उस अवस्था में उनका स्वरूप और कार्य दोनों भिन्न-भिन्न थे। उसने इसका नाम 'पोलीथिज़्म' (बहुदेववाद) रखा है। दूसरी अवस्था में व्यक्तित्व तो उनका पृथक्-पृथक् रहा, किन्तु कार्य की दृष्टि से वे एक हो गए। प्रत्येक देवता को सर्व-शक्तिमान् मान लिया गया। इस अवस्था का नाम है 'हेनोथिज़्म' (एकसत्तावाद)। तीसरी अवस्था में व्यक्तित्व भी एक हो गया, और किसी एक सत्ता को समस्त विश्व-का संचालक मान लिया गया। इसका नाम है 'मोनोथिज़्म' अर्थात् एकेश्वरवाद।

चौथी अवस्था उपनिषदों में मिलती है, जहाँ सारे ही विश्व को उसी एक का बाह्य रूप माना गया। वहाँ यह स्वीकार कर लिया गया कि ईश्वर से पृथक् कोई सत्ता ही नहीं है। इसका नामहै 'पैंथिज़्म' अर्थात् सर्वेश्वरवाद।

दूसरी ओर अनुष्ठान या क्रियापक्ष में भी उत्तरोत्तर विकास होता गया। ऋग्वेद के भावप्रधान अनुष्ठानों ने विशाल यज्ञों का रूप ले लिया, और भावना के स्थान पर क्रिया को महत्त्व दिया जाने लगा। फल-प्राप्ति के लिए चरित्र या श्रद्धा का विशेष महत्त्व नहीं रहा। उसका स्थान 'विधि' ने ले लिया। यह माना जाने लगा कि विधिपूर्वक किया गया यज्ञ अवश्य फलदायी होता है। यजमान के मन में उसके प्रति श्रद्धा हो या न भी हो, उससे कोई अंतर नहीं पड़ता। एक बात और। देवताओं के व्यक्तित्व में भी परिवर्तन होता चला गया। ऋग्वेद के काल में वे स्वतंत्र थे। प्रार्थना करनेवाले पर प्रसन्न होना या न होना उनकी इच्छा पर निर्भर था। किन्तु 'ब्राह्मण-काल' में वे यज्ञ या कर्म के अधीन हो गए। ऐसा माना जाने लगा कि विधिपूर्वक कर्म करने पर देवताओं को फल अवश्य देना पड़ेगा। धीरे-धीरे उनका व्यक्तित्व भी समाप्त कर दिया गया। यह माना जाने लगा कि विधिपूर्वक कर्म करने पर 'अपूर्व' नाम की एक शक्ति प्राप्त होती है, जो अपने-आप फल देती है। यह 'अपूर्व' अदृष्ट या भाग्य का ही एक पूर्वरूप है। यह रूप ब्राह्मण-ग्रंथों में मिलता है।

ब्राह्मणकालीन धर्म की दूसरी विशेषताएँ नीचे दी जाती हैं :

१—वेद का प्रामाण्य

वेद में जो बातें पाई जाती हैं, उन्हें सर्वोच्च परमसत्ता के रूप में प्रमाण मान लिया गया। वेद और युक्ति में परस्पर विरोध होने पर यही कहा गया कि वेद अनादि या ईश्वर की कृति है। उसके सामने मानव की बुद्धि का कोई मूल्य नहीं। इसलिए ऐसे स्थलों में वेद की आज्ञा ही प्रमाण है। इस धारणा के समाज पर दो प्रभाव हुए :

(क) उसने स्वतंत्र चेतना को दबा दिया। मानव अपनी बुद्धि को सीमित समझने लगा। इससे वह विश्व के रहस्यों पर स्वतंत्र विचार करने के बजाय हरेक बात के लिए वेद के वाक्यों को ढूँढ़ने लगा। बुद्धि उन वाक्यों की व्याख्या तक सीमित हो गई। इस क्षेत्र में भी धीरे-धीरे वर्गविशेष का अधिकार होना गया। भारतीय दर्शन पर 'आगम प्रामाण्य' का यह प्रभाव अबतक बना हुआ है। चार्वाक, बौद्ध तथा वैशेषिक को छोड़कर सभी दर्शनों ने ईश्वर या महापुरुषों के वचनों को प्रमाण माना है। इन तीन परम्पराओं में भी चार्वाक दर्शन लुप्त हो चुका है। अन्य दो परम्पराएँ 'आगम-प्रामाण्य' की ओर झुक गई। बताने की आवश्यकता नहीं कि इस धारणा का परिणाम यह हुआ कि भारतीय दर्शन श्रद्धा के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हो सका।

(ख) दूसरा प्रभाव समाज-रचना पर हुआ। संगठन की मुख्य शक्ति

श्रद्धा होती है। जहाँ बुद्धि को असीम स्वतंत्रता मिलती है, वहाँ मतभेद होना स्वाभाविक है। संगठन को वह दृढ़ नहीं होने देता। आर्यों ने वेदों के प्रति निष्ठा रखने पर ज़ोर दिया और उनका संगठन शक्तिशाली बना रहा। इस प्रकार दार्शनिक या बौद्धिक क्षेत्र में जो बात हेय है, वही सामाजिक क्षेत्र में बहुत-कुछ उपयोगी सिद्ध हुई।

ऋग्वेद में 'देवतावाद' की तीन अवस्थाएँ मिलती हैं—पहली अवस्था में भिन्न-भिन्न शक्तिवाले अनेक देवताओं की कल्पना की गई। दूसरी अवस्था में व्यक्तित्व भिन्न होने पर भी प्रत्येक देवता को सर्वशक्तिमान् मान लिया गया। तीसरी अवस्था में व्यक्तित्व भी एक हो गया, जिसका वर्णन दशम मंडल में मिलता है। ब्राह्मण-काल में यह व्यक्तित्व अतींद्रिय शक्तियों के रूप में परिणत हो गया। वहाँ यह मान लिया गया कि विधिपूर्वक कर्म करने पर फल अवश्य प्राप्त होगा। कर्म देवता के अधीन नहीं है, किन्तु देवता कर्म के अधीन है। इसीका विकास मीमांसा-दर्शन में हुआ। उसने फल पर किसी अन्य शक्ति के नियंत्रण को सर्वथा समाप्त कर दिया। उसने बताया कि विधिपूर्वक कर्म करने पर 'अपूर्व' नाम की शक्ति उत्पन्न होती है, और वह यथासमय फल प्रदान करती है। जैन और बौद्ध धर्मों ने भी कर्म की इस महत्ता को स्वीकार किया। परन्तु उसका आधार ग्रन्थविशेष की आज्ञा के स्थान पर नैतिकता को माना गया।

२—देवतावाद

मीमांसा-दर्शन में कर्म की जो महत्ता बताई गई, वह साधारण जीवन का अंग न बन सकी। वहाँ देवता के रूप में किसी नियामक शक्ति में विश्वास बना रहा। इसका कारण और था। वैदिक परम्परा का संबंध विजेतावर्ग के साथ था। शास्त्रों का धर्म होने के कारण उसे प्रश्रय और प्रोत्साहन मिला। लेकिन सर्वसाधारण में पुराने विश्वास बने रहे। प्रतीत होता है कि भक्तिवाद आर्यों के आने से पहले द्रविड़ों में प्रचलित था। सिंधु-घाटी के अवशेषों ने इस धारणा को और भी पुष्ट कर दिया है। भक्तिवाद किसी अतींद्रिय सत्ता को जगन्नियंता के रूप में स्वीकार करता है। ऋग्वेद के दशम मंडल की रचना भी कदाचित् उसीका प्रभाव हो, क्योंकि ब्राह्मण-काल तथा उत्तरकाल में कर्म को जो महत्त्व मिला, उसका इसके साथ मेल नहीं बैठता। द्रविड़ों के भक्तिवाद तथा ऋग्वेद के उत्तरकालिक विकास ने मिलकर इस विश्वास को जन्म दिया कि मानव के भविष्य पर नियंत्रण करनेवाली कोई सार्वभौम सत्ता है। राजनीति एवं सामाजिक क्षेत्र में जो धारणाएँ अधिराज्यवाद को लेकर चलीं, वेही ईश्वर को लेकर धार्मिक क्षेत्र में उतर आई। जैन तथा बौद्ध धर्मों ने ईश्वर-कर्तृत्व का विरोध किया। मीमांसा-दर्शन भी इस विषय में उनका साथी था। किन्तु वे भी सर्वसाधारण में प्रचलित भक्तिवाद के प्रभाव को न रोक सके। इन परम्पराओं में भी मंगल तथा भौतिक सुखों के लिए अपने-अपने महापुरुषों की स्तुतियाँ होने लगीं।

आर्यो ने अपने समाज का विभाजन तीन वर्णों के रूप में किया—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। ब्राह्मणों का कार्य था विद्याध्ययन। यज्ञ और अन्य धार्मिक अनुष्ठानों पर भी उन्हींका नियंत्रण था। क्षत्रियों का कार्य शासन और देश की रक्षा था। प्रजापालन और न्याय भी इन्हींका उत्तरदायित्व था। वैश्यों का कार्य जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति था। इसके मुख्य तीन प्रकार थे—कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य। जहाँतक समाज के संचालन का प्रश्न था, ब्राह्मणों और क्षत्रियों की प्रधानता थी। एक के पास बौद्धिक बल था, दूसरे के पास शारीरिक बल। वैश्य का आर्थिक बल उन दिनों विशेष महत्त्व नहीं रखता था। राजकीय सत्ता उसे चाहे जब छीन सकती थी। बाद में एक वर्ण और मान लिया गया—शूद्र वर्ण। उसे कोई सामाजिक अधिकार नहीं दिया गया। शूद्र का कार्य था तीनों वर्णों की सेवा। उसे न तो विद्याध्ययन का अधिकार था, न संपत्ति रखने का। यह वर्ण-विशेष सदा के लिए भारत का अभिशाप बन गया। उत्तरकाल में इस विभाजन की वैज्ञानिक व्याख्या की गई। समाजशास्त्र की दृष्टि से इसका समर्थन किया गया। विभिन्न वर्णों को एक दूसरे का पूरक बताया गया। यह भी कहा गया कि इस विभाजन का आधार गुण है, जन्म नहीं। किन्तु सारी व्याख्याएँ बौद्धिक विकास की ही वस्तु बनी रहीं।

३–वर्ण-भेद

आयुधजीवी क्षत्रियवर्ग में भी एक प्रतिक्रिया हुई। उसने धर्म और विद्या के क्षेत्र में ब्राह्मणों के एकाधिपत्य को चुनौती दी, जो उपनिषदों और जैन तथा बौद्ध परम्पराओं में प्रकट होती है।

४–लिंगभेद

स्वभावत: माना जाता है कि आक्रमणकारी जब किसी दूसरे देश में जाते हैं, तो उनमें स्त्रियों की संख्या कम होती है। फलस्वरूप उनका संबंध स्थानीय स्त्रियों के साथ हो जाता है। वैसेभी स्त्री-पुरुष का आकर्षण एक ऐसा तत्त्व है, जो अन्य किसी मर्यादा को स्वीकार नहीं करता। आर्यो का जब स्थानीय स्त्रियों के साथ संपर्क होने लगा तो यह उनकी चिंता का विषय बन गया। उन्हें भय हुआ कि कहीं उनकी अल्प-संख्या बहुसंख्यक मूल निवासियों में विलीन न हो जाय। कदाचित् इसीलिए उन्होंने स्त्री को सामाजिक अधिकारों से प्राय: वंचित रखा। कुछ ही अपवाद इसके मिलते हैं। न तो उसे वेद पढ़ने का अधिकार दिया, और न स्वतंत्र होकर धर्मानुष्ठान करने का। परिणाम यह हुआ कि वैदिक परम्परा सामान्य जनता का धर्म न बन सकी। हिन्दू-समाज पर अवैदिक तत्त्वों के प्रभुत्व का एक बड़ा कारण स्त्रीवर्ग है। जो रहन-सहन या विचारधारा स्त्री को पसन्द नहीं होती, वह परिवार में नहीं उतर पाती। फलत: वह समाज का संस्कार या स्वभाव नहीं बनती। इने-गिने बुद्धिजीवियों की चर्चातक वह सीमित रहती है। यही वैदिक परम्परा के साथ भी हुआ। दूसरी प्रतिक्रिया उस प्रतिभाशाली वर्ग में हुई, जिसने इस मिथ्या अहंकार

का भी विरोध किया। उसने उसे बुद्धि का आवरण समझा। वर्णभेद तथा लिंगभेद का खुल्लमखुल्ला विरोध किया। उसने स्त्री और शूद्रों को समान अधिकार दिया, और जनमानस को अपनी ओर खींच लिया। ये क्रांतियाँ जैन, बौद्ध, भागवत, वीरशैव आदि परम्पराओं के रूप में विकसित हुईं।

अध्याय–२

द्रविड़ जाति और द्राविड़ भाषाएँ

[श्री र० शौरिराजन]

भाषाशास्त्रियों ने संसार की मूल भाषाओं के तीन प्रमुख कुल बताये हैं—तुरानियन, आर्य और सेमिटिक। इनमें तुरानियन की दो शाखाएँ हैं—उत्तरी और दक्षिणी। उत्तरी शाखा में तुंगुस, मंगोल, तुर्क, फ़िनि आदि भाषाएँ गिनी जाती हैं। दक्षिणी शाखा में थाई, मलाया, गंग, लोहित, मुंडा, द्राविड़, आदि भाषाएँ हैं। द्रविड़ वर्ग की दो शाखाएँ हैं—सम्पन्न और असम्पन्न। सम्पन्न शाखा में तमिऴ्,[1] तेलुगु, कन्नड, तुळु, कुडगु (कुर्ग), मलयालम भाषाएँ आती हैं। असम्पन्न शाखा में, तुड, कोटा, कोंड, कुई, ओरोवोन (ओराँव), ब्राहुई, राजमहल आदि बोलियाँ हैं। ये प्राय: आदिवासी वन्य जातियों की बोलियाँ हैं।[2]

द्रविड-कुल की भाषाएँ—तमिल, तेलुगु (आन्ध्र), कन्नड, (करुनाडम्, कर्नाट या कर्नाटक) आर्य-भाषा-परिवार की प्राकृत एवं संस्कृत के समान अति प्राचीन हैं; सम्पन्न भी हैं। कई प्रमाणों से पाश्चात्य एवं भारतीय पंडितों ने यह सिद्ध किया है कि आर्य जाति के समान ही द्रविड़ जाति भी पुरानी है; संस्कृति और साहित्य में सुसम्पन्न है।

प्राचीन आर्य और द्रविड़, इन दोनों जातियों में कौन अधिक शक्तिशाली, सभ्य, सम्पन्न और सुशिक्षित थी—इस संकीर्ण विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। इतना मानना उचित होगा कि 'दोनों स्वतंत्र, सम्पन्न और सभ्य जातियाँ थीं; एक दूसरी के साथ मिली थीं; लड़ी थीं, जुड़ी थीं और बिछुड़ी भी थीं; फिर एक दूसरे को आत्मसात् करके आगे बढ़ीं, और पनपीं।'

इन दोनों जातियों में, जो अपनी मूल सत्ता के कारण स्वतंत्र बताई जा रही हैं, कौन पहले भारत में आई और कौन विजयी रही—ऐसी बातों का अनुमान लगाना आज कोई महत्त्व नहीं रखता है। दोनों ही भारत को अपना

---

१. आगे से उच्चारण की सरलता के लिए 'तमिऴ्' के स्थान पर 'तमिल' का प्रयोग किया जायगा।

२. आधार : मेक्समुल्लर के 'लेक्चर ऑन द साइन्स आफ लैंग्वेज' (अंग्रेज़ी) भाग १

देश मानती हैं। दोनों को ही भारतीय कहते हैं।

'द्रविड़' शब्द

जैसे 'प्राकृत' और 'संस्कृत' सार्थक शब्द हैं, वैसे ही 'तमिल' और 'चेन्तमिल', 'तेलुगु', 'कन्नड' आदि शब्द भी हैं। 'तमिल' का अर्थ है, माधुर्य। इसी अर्थ में 'तेलुगु (तेनुगु)' का भी व्यवहार होता है। 'चेन्तमिल' का अर्थ होता है, 'शुद्ध या शुद्धीकृत (संस्कृत) तमिल भाषा।' भाषा या बोली जनजीवन में धीरे-धीरे प्रचलित हो जाती है। बाद को नाम-निर्देश, साहित्य, लक्षण, व्याकरण आदि बन जाते हैं।

यह निर्विवाद है कि द्राविड़ भाषाओं में, अपनी विशिष्ट साहित्य-परम्परा, मौलिक स्वरूप, स्वतंत्र सत्ता, अधिक प्राचीनतम आदि की दृष्टि से एकमात्र तमिल भाषा ही द्रविड़ कुल का प्रतिनिधित्व करती है। तमिल भाषा तीन हज़ार वर्षों से अपने स्वतंत्र स्वरूप और प्राँजल शैली को बनाये हुए है। अन्य दोनों द्राविड़ भाषाओं पर--तेलुगु और कन्नड़ पर—आर्य भाषाओं का प्रभाव अधिक पड़ा। इसलिए वे चाहे-अनचाहे अपना मूल स्वरूप ईसवी पूर्व की प्रारंभिक शतियों में ही खो चुकी हैं।

यह 'द्रविड़' शब्द कैसे बना ? इसकी निष्पत्ति कैसे हुई ? इसका रोचक इतिहास है।

'द्रविड़' शब्द संस्कृत का है; किन्तु वह उसका मौलिक शब्द नहीं है। 'तमिल' का विकृत रूप ही है। 'द्रविड़' शब्द के रूप-परिवर्तन का विकास क्रम है : **तमिळ् > दमिळ > द्रमिळ > द्रमिड > द्रविड़।**

द्रविड़ भाषा का परिचय

'तमिळ' शब्द भाषा-परक है; 'तमिळर' जातिवाचक है; 'तमिळम्' या 'तमिळकम्' प्रदेशवाचक है। 'द्रविड़' शब्द 'तमिळ' की अनुकृति में पहले भाषा-परक रहा। बाद को अर्थविकास से देश तथा जाति का भी बोधक बन गया।[1]

द्रविड़, द्रमिड और दमिल—ये शब्द पिछली सदी तक केवल तमिळ-भाषी तथा तमिल प्रदेश के लिए प्रयुक्त होते थे। लगभग सौ वर्ष पूर्व डॉ० काल्डवैल ने (Dr. Caldwell) 'द्रविड' शब्द को पूरे दक्षिणापथ के लिए और दक्षिणी भाषाओं के लिए प्रयुक्त किया। तभी से उस अर्थ-विकास का प्रसार बढ़ गया है। उनके पहले केवल दक्षिणी भाषा-कुल को छोड़कर प्रदेश और प्रदेश-वासियों के

---

१. देखें—श्री वामन शिवराम आपटे कृत 'द प्रैक्टिकल संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी' (अंग्रेजी) में 'द्रविड' शब्द की व्याख्या

लिए 'द्रविड' या 'द्राविड' शब्द का प्रयोग नहीं होता था। डा० काल्डवैल तमिल के अच्छे विद्वान् थे। अन्य दक्षिणी भाषाओं के भी ज्ञाता थे। वह प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री थे। उन्होंने दक्षिणी भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण लिखा है।[1]

'तमिळ' का प्रयोग तमिल के प्राचीनतम लक्षण ग्रंथ 'तोल्काप्पियम्' में मिलता है। ग्रन्थकार ने लिखा है, "तमिळ एॅन् किळवियुम् अतनोडट्रे।" इसका अर्थ है, 'तमिल शब्द के साथ कोई सार्थक शब्द जुड़ता है, तब 'अक्' (अ) प्रत्यय दोनों के बीच में आता है।' उदाहरणार्थ, तमिळ्+पळ्ळि+तमिळप्पळ्ळि (तमिळ शाला)।[2] संधि-नियम के अनुसार तमिळ+अ+पळ्ळि में 'प्' का समावेश होने से पूर्वोक्त रूप बनता है।

इस प्रसंग का यहाँ महत्त्व इसलिए है कि तमिळ का उक्त लक्षण-ग्रंथ ही आज उपलब्ध पुराने तमिळ-साहित्यों में प्राचीनतम रचना है। उसके रचयिता का नाम 'तोल्काप्पियर' है। इसका अर्थ है, 'पुराने काप्पियवंश का प्रतिष्ठित व्यक्ति।'

तोल्काप्पियर महर्षि अगस्त्य के शिष्य माने जाते हैं। यह अगस्त्य रामायण-कालीन अगस्त्य महर्षि माने जा सकते हैं। अतः इनकी रचना पाणिनि-काल से भी (ई० पूर्व पाँचवीं शती से) पचास-सौ वर्ष पुरानी अवश्य होनी चाहिए। तोल्काप्पियर कालीन (ई० पूर्व छठी शती) संस्कृत ग्रन्थों में 'द्रविड' शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता है। ऋग्वेद-काल में पूरे दक्षिण के लिए 'दक्षिणापथ' का प्रयोग किया जाता था।[3] ऐतरेय ब्राह्मण (७-३-१८) में अंध्र (आन्ध्र), शवर, पुलिन्द्र आदि दक्षिणी आदिवासी या वन्य जातियों का उल्लेख है। यहाँ भी 'द्रविड' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। 'सुराष्ट्र' (सौराष्ट्र) के साथ संयुक्त रूप से दक्षिणी देशों के लिए 'दक्षिणापथ' का उल्लेख बौधायन धर्मसूत्र में (५-२३) हुआ है। वाल्मीकि रामायण में (किष्किन्धाकांड, सर्ग ४१, श्लोक १२) आन्ध्र, पुण्ड्र, चोल, पाण्ड्य, केरल (चेरल) आदि दक्षिणी देशों के नाम दिये गए हैं। अतः यह स्पष्ट है कि दक्षिण के लिए या तमिल प्रदेश के लिए 'द्राविड' शब्द का प्रयोग ई० पूर्व प्रारंभिक शतियों में प्रचलित होने लगा। इस समय के आर्य, बौद्ध, और जैन पंडितों ने 'तमिळ' को 'द्रमिड' या 'द्रविड' शब्द में बदलकर उत्तर में फैलाया। आन्ध्र और कर्नाटक से यह शब्द भी अन्य कई दक्षिणी भाषाओं के मूल शब्दों के साथ प्राकृत और संस्कृत में मिल गया। लगभग ई० तीसरी-चौथी शती तक

१. 'कम्पेरेटिव ग्रामर आफ़ द्रविडियन लैंग्वेजिज्' (अंग्रेजी)
२. तोल्काप्पियम् (तमिल), सूत्र : ३८६
३. 'वैदिक इण्डेक्स' (सम्पादक—मैक्डोनॅल और कीथ) में 'दक्षिणापथ' शब्द देखें।

'द्रविड' शब्द केवल तमिल, उसकी शाखा या परिवार की भाषाओं (मलयालम और कन्नड) के लिए प्रचलित था। बाद को ही पूरे दक्षिण के लिए 'द्रविड', दक्षिणी बोलियों और भाषाओं के लिए 'द्राविडी' और दक्षिणापथियों के लिए 'द्राविड' शब्द प्रयुक्त होने लगे। इस बात की साक्षी देता है—'पंच द्रविड', जो दक्षिणी जातियों और उन जातीय ब्राह्मणों के लिए बना हुआ शब्द है।[१]

द्रविड शब्द का स्पष्ट प्रयोग सबसे पहले मनुस्मृति में हुआ है। यह ई० दूसरी शती की रचना है। उसमें बताया गया है, 'व्रात्य क्षत्रिय से सजातीया स्त्री में उत्पन्न हुए पुत्रों को देश-भेद से झल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस और द्रविड कहते हैं।[२] व्रात्य (व्रतभ्रष्ट) का आशय है, गायत्री का जप न करनेवाले, संस्कार-हीन, आचारभ्रष्ट सवर्ण जातीय लोग।[३] मनुस्मृतिकार द्रविड (तमिळ) जाति के श्रेष्ठ आचार-विचार, विशुद्ध संस्कार और स्वतंत्र कुलीनता के बारे में, मालूम होता है, सर्वथा अनभिज्ञ था। आर्यावर्त और मध्यदेश की सीमाओं में बसी आदिवासी वन्य जातियों को वह 'द्रविड' समझ बैठा। दक्षिण के मध्य तथा अन्तिम भाग में बसी सभ्य और सम्पन्न तमिळ जाति के बारे में शायद उसको ठीक पता न होगा। मनुस्मृतिकार ने आन्ध्र जाति को, जो द्राविड-परिवार की सभ्य और शक्तिशाली शाखा है, भ्रष्ट और निकृष्ट जाति बताया है![४]

भरतमुनि के 'नाटचशास्त्र' में (ई० दूसरी शती) 'द्रविड' शब्द तमिळ भाषी जनता का निर्देश करने के लिए प्रयुक्त हुआ है।[५] ई० ६२०-६८० के कुमारिल भट्ट ने अपने 'तंत्रवार्तिक' में, जो मीमांसा सूत्र की व्याख्या है, 'द्राविड' शब्द का निर्देश किया है।[६] इसी प्रकार राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में (ई० ८८०-९२०),[७] वरगुण के पालियम् शासन (शिलालेख) में[८] 'तमिळ' शब्द के

---

१ 'पंच द्रविड'—द्राविड (तमिलभाषी), कर्णाट, गुर्जर, महाराष्ट्र, और तैलंग ('तेळुंगु' का संस्कृतीकरण)।

२. झल्लो मल्लश्च राजन्यात् व्रात्यात् निच्छिविरेव च।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥—मनुस्मृति (१०।२२)

३. द्विजातयः सवर्णासु जनयन्ति अव्रतांस्तु यान्।
तान् सावित्री परिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥—वही, (१०।२०)

४. मनुस्मृति (अध्याय १०, श्लोक ३६)

५. द्रविडान्ध्र महाराष्ट्र वैण्या वै वानवासजाः।
दक्षिणस्य समुद्रस्य तथा विन्ध्या चलान्तरे ॥ – नाट्यशास्त्रम्

६. 'आन्ध्र द्राविडादि भाषायाम् ....'

७. '... सर्वोऽपि द्रविडः कविः।'

८. 'द्रमिड वचनमेवालोक्यतामत्र पत्रे '

विकृत रूपों को पाते हैं। बाणभट्ट, चीनी यात्री इयूवान च्चुआङ्, (ई० ६२९-६४५), शंकराचार्य आदि ने 'द्रविड' शब्द का प्रयोग किया है।

केरल के प्रसिद्ध महाकवि और प्रकाण्ड भाषा-पंडित श्री उळ्ळूर परमेश्वर ऐयर ने अपने 'केरल साहित्य चारित्रम्' ग्रन्थ में 'द्राविड' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है :

> "द्राविड़ों में पुराने समय से प्रचलित भाषा तमिल है। उस शब्द के अर्थ मधुरता, विशिष्टता और विशुद्धता होते हैं। ये अर्थ तमिल के प्राचीन कोश 'पिंगलम् निघंटु' में भी दिये गए हैं। इनमें से किसी एक अर्थ के अभिधान में तमिल शब्द भाषापरक बना है। यही 'तमिळ्' शब्द कालान्तर में उत्तरापथियों के प्रयोग से 'द्रविड' बन गया। उस शब्द की विकृति का क्रम है > तमिळ् > तमिळ > दमिळ > द्रमिळ > द्रमिड > द्रविड और द्रविड से द्राविड। देशी भाषाओं के मूल शब्दों के संस्कृतीकरण की यही विधा है। पूर्वोक्त सभी विकृत रूपों को (दमिळ्, द्रमिड आदि) हम प्राचीन प्राकृत और संस्कृत ग्रन्थों में पाते हैं।
>
> "तमिळ् का विशिष्ट अक्षर 'ळ्' (ळ का मूर्धन्य मृदु रूप) प्राकृत या संस्कृत में नहीं होता है। इसलिए आर्यभाषाओं में नियमानुसार 'ळ' 'ड' बन जाता है और खर (कड़ा) अक्षर मृदु बन जाता है। इस प्रकार 'त' 'द' और 'द्र' बन गया।
>
> "आन्ध्र के कृष्णा ज़िले में ई० पहली सदी का एक बौद्ध स्तूप मिला है। उसमें प्राकृत भाषा में लिखी हुई प्रशस्ति है। उस प्रशस्ति में, कन्हन् (कण्णन्) नामक बुद्ध भक्त ने अपने को 'दमिळन्' (तमिळन्—तमिळ-वाला) बताया है। प्राकृत में 'दमिल' शब्द ही प्रचलित है। इसीने संस्कृत में द्रमिल, द्रमिड, और द्रविड रूप ले लिये। वैदिक शब्द का 'ळ'कार अर्वाचीन ग्रन्थ-भाषा में 'ड' बन जाता है। महाभारत में 'द्रमिड' शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] दशकुमार चरितम्, कादम्बरी आदि अर्वाचीन ग्रन्थों में 'द्रविड' शब्द का प्रयोग हुआ है। ईस्वी सातवां शती के कुमारिल भट्ट ने 'आन्ध्र द्राविड भाषा' का प्रयोग किया है। आठवीं शती के शंकराचार्य ने 'द्रविड शिशुः' का प्रयोग किया है। मलयालम के पुराने ग्रन्थों में 'द्रमिळ' और 'द्रमिड' शब्दों का प्रयोग ही अधिकतर हुआ है। डॉ० काल्डवैल ने सौ वर्ष पूर्व ही, तमिल परिवार की होने के कारण, सभी दक्षिणी भाषाओं और बोलियों को 'द्राविड़ भाषा' का नाम दिया

---

१. 'द्रमिडाः पुरुषाः राजन्', 'द्रमिडी योषितां वरा', 'द्रमिडैरावृत्तो ययौ' इत्यादि प्रयोग देखें।—(महाभारत)

था। तभी से द्रविड और द्राविड़ पूरे दक्षिणापथ और उसके निवासियों के लिए एकमात्र प्रतिनिधि शब्द बन गया।"[1]

सिंहल के प्राचीन इतिहासग्रन्थ 'महावंश' में तमिळ भाषियों के लिए 'दमिल या दमिल' शब्द का प्रयोग प्रायः हुआ है।[2] यह ई० छठी सदी का प्राकृत ग्रन्थ है। इसके रचयिता महानाम नामक बौद्ध पंडित थे।

चौदहवीं शती के मलयालम व्याकरणग्रन्थ 'लीलातिलकम्' में 'द्रमिड' शब्द का प्रयोग किया गया है। (उदा० द्रमिडवेदम्, द्रमिड संघातम् आदि।)

कन्नड़ भाषा के प्राचीन ग्रन्थों में भी 'द्रविळ' (द्रविड) शब्द का प्रयोग पाया जाता है। तोटडार्य की 'शब्दमंजरी' में (पृष्ठ ६४); नागवर्म के 'छंदस' ग्रन्थ में (पृष्ठ २२); जैनपंडित देवचंद्र (ई० १८३८ में) रचित 'राजावळि कथे' में; बसवपुराण में (६।१६; २२।१), और बिब्लियोत्तका कर्नाटका[3] में भी 'तमिळ' के लिए द्रविल और तिगुळ शब्दों का प्रयोग किया गया है।

रामायण और महाभारत के काल (ई० पूर्व १४०० से ७५० तक) से ही उत्तर और दक्षिण का निकट सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। आर्यों का अधिक प्रभाव प्रायः ई० पूर्व पाँचवीं या छठी शती से आन्ध्र और कन्नड (कर्णाटक) प्रदेशों में पड़ने लगा था। उन दिनों तमिल नाडु के साथ आर्यों का उतना अधिक सम्पर्क नहीं रहा। जो कुछ सम्पर्क उस समय में और बाद को भी बढ़ा, वह कर्णाटक और आन्ध्र से ही फैलने लगा। ई० पूर्व तीसरी शती में बौद्ध और जैन आन्ध्र एवं कर्णाटक में अपना अड्डा जमा चुके थे। बाद को वहीं से तमिल नाडु में उन सम्प्रदायों का प्रवेश और प्रसार होने लगा। ये बौद्ध और जैन ही 'द्रमिल' का प्रयोग अपने ग्रन्थों में करने लगे। उन्हींके द्वारा वह शब्द उत्तरापथ में फैलने लगा। रामायण में तमिल देश का निर्देश द्रविड या द्रमिल शब्दों से नहीं, चोळ, पांड्य और चेर इन देशों के नाम से ही हुआ है। अतः यह स्पष्ट हैं कि 'द्रविड' शब्द ई० पूर्व द्वितीय शती से ही संस्कृत विद्वानों के द्वारा प्रचलित किया गया।

कुछ संस्कृत-प्रेमी 'द्रविड' या 'द्रमिळ' शब्द से 'तमिल' की निष्पत्ति बताते हैं। उनका यह भी कहना है कि 'द्रविड' शब्द संस्कृत की 'द्रु' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'द्रविड' का शाब्दिक अर्थ 'लड़ाई में हारकर भागनेवाले भीरु' बताते हैं। यह तो कल्पित अनुमान है। सभी देशी भाषाओं के ठेठ शब्दों को भी संस्कृत-जन्य बताने की आदत उन विद्वानों में पड़ गई थी। उनकी देखा-देखी कुछ पाश्चात्य

---

१. केरल साहित्य चरित्रम् (मलयालम) भाग १, पृष्ठ ८-९
२. महावंश (अंग्रेजी अनुवाद) अनुवादक विलहेलम गेयगर (Wilhelm Geiger) : १-४१, २२-८२, ८५, २३-६, ११, १४, १६ आदि
3. Bibliotheca Carnataka, Mangalore (1850)

विद्वानोंने भी ऐसा ही मत बना लिया। अधिकांश पाश्चात्य विद्वान पहले संस्कृत, प्राकृत ग्रन्थों को ही अधिकतर पढ़ते थे। उनपर शोध करते थे। उस कार्य के लिए आवश्यक सहायक ग्रन्थ तथा भारतीय विद्वानों की सहायता विदेशी पंडितों को पर्याप्त मिलती थी। वे संस्कृत-प्राकृत के साहित्य से विशेष आकृष्ट थे। कई देशी भाषाओं तथा बोलियों को उन्होंने संस्कृतजन्य पाया। द्रविड कुल की तमिलेतर अन्य सभी भाषाओं में संस्कृत और प्राकृत शब्दों की भरमार देखी। अत: स्वभावत: यह धारणा उन लोगों ने बना ली कि सभी द्राविड़ भाषाएँ संस्कृत से ही समृद्ध हुई हैं। किन्तु तमिल की विलक्षण स्वच्छता और समृद्धि की ओर उनका ध्यान पहले नहीं गया। तमिल के अभिज्ञ काल्डवेल तक ने यह ग़लती की। उन्होंने भी यही मान लिया कि 'द्रविड' शब्द से 'तमिल' की उत्पत्ति हुई। मानी हुई बात है कि काल्डवेल को 'तोलकाप्पियम्' का अध्ययन करने का मौक़ा नहीं मिला। यदि उस प्राचीनतम ग्रन्थ को उन्होंने पढ़ा होता तो वे यह ग़लती न कर बैठते। उनके परवर्ती प्रख्यात भाषाशास्त्री डॉ० ग्रियर्सन[1] ने अपने पूर्ववर्ती विद्वानों की ऐसी ग़लत धारणाओं का खण्डन किया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि 'तमिल' शब्द से ही 'द्रविड' शब्द निकला है; 'तमिल' से 'दमिल', 'द्रविड' रूप के प्राकृत शब्द हुए; इनसे दमिल. द्रमिल और द्रविड रूप के संस्कृत शब्द हुए हैं। द्रमिल, द्रमिड, द्रविड आदि शब्दों के प्रचलन के कई शतियों के पूर्ववर्ती 'तोलकाप्पियम्' में (ईस्वी पूर्व छठी शती) 'तमिळ्' 'चेन्तमिळ्' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अत: उस काल के पूर्व ही 'तमिल' शब्द भाषा तथा प्रदेशवाचक के रूप में प्रचलित था, जब कि 'द्रविड' या उसके सजातीय शब्द निकले ही नहीं थे।[2]

किन्तु आज 'द्रविड' शब्द का अर्थ-विकास हो चुका है। दक्षिणापथी प्राचीन जातिसमूह का अभिधान 'द्रविड' या 'द्राविड' शब्द से किया जा रहा है।

२. द्रविड़ जाति का परिचय

द्रविड जाति से आशय द्राविड परिवार की सभी आर्येतर जातियों का लिया जाता है। पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने इसी मान्यता के आधार पर अनुसंधान किया और कई तथ्य, मंतव्य और अनुमान प्रकट किये हैं। पंच द्राविडों में गुजरात और महाराष्ट्र तो बहुत पहले ही द्रविडत्व खोकर आर्यत्व स्वीकार चुके हैं। दक्षिण के तमिलेतर प्रदेशों में आर्यत्व का प्रभाव, भाषा, साहित्य और संस्कृति में, अत्यधिक आविष्ट होने पर भी, वे 'द्रविड जातीय' ही कहलाते हैं। आचार, प्रथा, भाषा आदि की समानताओं पर ही जाति-वर्ग का विभाजन या निर्धारण

---

१. Dr. Greierson

२. 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इण्डिया, भाग ४, पृष्ठ २९८

होता है। द्रविड वर्ग की जातियों में ब्राहुई सिंध-पंजाब प्रदेशों में, ओरांव बिहार प्रदेश में राजमहल बंगाल में, गोंड मध्यप्रदेश में, कुई उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश में, आन्ध्र विन्ध्यारण्य प्रदेश में, कन्नड पश्चिम घाट के प्रदेश में, तुलु और कुर्ग कन्नड प्रदेश के दक्षिणी भाग में, तोडा, कोटा, तोतव आदि वन्य जातियाँ दक्षिणी पश्चिमी पहाड़ी प्रदेशों में और तमिल जाति तिरुपति से कन्याकुमारी तक के निवास करती थीं।

पाश्चात्य विद्वानों ने कई भौगोलिक तथा ऐतिहासिक तथ्यों से यह निर्णय किया है कि बहुत पुराने ज़माने में द्रविड जातियाँ पूरे भारत-भर में फैली हुई थीं।

ज़ेनाइड ए० रगोज़िन (Zenaid A. Ragozin) ने लिखा है, "द्रविड़ जातियों में, घने जंगलों को साफ़ कर नगर (ऊर्) बसाने की प्रकृति थी। वे उत्तर से दक्षिण की ओर आईं। विन्ध्याचल पार कर अलग-अलग स्थानों पर आबाद हुई। ये ही बाद को द्रविड़ जातियों की श्रेष्ठ शाखाएँ बनी हैं।[१]

सुप्रसिद्ध हिन्दी विद्वान् स्व० डॉ० रांगेय राघव के अनुसंधानपूर्ण ग्रन्थ **प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास**[२] के तीसरे अध्याय 'पूर्व प्राचीनकाल—द्रविड़ युग' में से कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं :

> "प्राचीन द्रविड़ से तमिल जाति का तात्पर्य लिया जाता है। श्री सूर्यनारायण शास्त्री ने तमिल भाषा के इतिहास में आज से लगभग १०,००० वर्ष पहले की पुरानी तमिल लिपि के साधन मिलने का उल्लेख किया है। निस्संदेह, तमिल जनता में ईसा से ८,००० वर्ष पूर्व ही सभ्यता फैल चुकी थी। आधुनिक समय में हमारे पास इतने साधन नहीं हैं कि हम उस काल पर पूर्ण रूप से प्रकाश डाल सकें। किन्तु कुछ तथ्य अवश्य हैं, जो यह प्रकट करते हैं कि द्रविड़ जाति अवश्य बहुत प्राचीन थी।
>
> "द्रविड़ का अर्थ तमिल ही नहीं समझना चाहिए। जिस तरह आग्नेय (आस्ट्रिक) तथा आर्य किसी विशेष जाति का नाम नहीं, वरन् एक जाति-समूह का नाम है, वैसे ही द्रविड़ को भी समझना चाहिए। द्रविड़ों में भी अनेक शाखाएँ, उपशाखाएँ थीं, जिनमें परस्पर काफ़ी असमानता और भेद भी थे।...द्रविड़ संस्कृति का गढ़ दक्षिण में था, संभवतः कावेरी के पास। द्रविड़ परिवार में अनेक जातियाँ थीं। वे सब सभ्यता के एक ही स्तर पर नहीं थीं। (सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार) यह एक निश्चित धारणा हो गई है कि एक समय द्रविड़-भाषा-भाषी सारे उत्तरी भारत में फैले हुए थे—बलोचिस्तान से बंगाल तक'।[३]

---

१. वैदिक इंडिया (अंग्रेज़ी) २. प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।
३. ओरिजन एन्ड डेवलमेंट आफ लैंग्वेच (अंग्रेज़ी), पृष्ठ २८।

"... दक्षिण भारत की अनेक विशेषताएँ सिन्धु प्रदेश, सुमेर, मिश्र और क्रीट में मिलती हैं। मछली मारने की कला में साम्य है। दो-तीन लकड़ी के गट्ठे रस्सियों से बाँधते थे। बाँस बीच में खेने के लिए काम में लाते थे। मलबारी नाव, सर्प-नौका, कोडिक्करै (तमिलनाडु का एक समुद्र-तट) की कलत्तोणि (पत्थर की नाव) इत्यादि प्राचीन नौका-निर्माण के उदाहरण हैं। हाथी, घोड़े और शेर-जैसी आकृति का उल्लेख तमिल-साहित्य में मिलता है। कलत्तोणि पर आँख बनी रहती है। देवी तथा तमिल 'ऊ' (ஊ) या अश्व का चिह्न रहता था। यह बुरी नज़र से बचाव था। प्राचीन मिश्रियों, यूनानियों और रोमनों ने इसकी नकल की। चीन और इण्डोचीन के छोटे जहाज़ों पर अबभी इसके अवशेष मिलते हैं। कावेरी पर चलनेवाली चमड़े-चढ़ी नावों-जैसी नावें (तोणि और परिशल) दजला और फरात नदियों पर चलती थीं।

"... मातृपूजा, देवदासी, सिर के बाल देवता को चढ़ाना, मत्स्यावतार की कथा का प्रचार, नागपूजा, अग्नि के फेरे, पीपल-नीमपूजा, चन्द्रपूजा, वृषभपूजा, स्तंभपूजा, स्तूपनिर्माण, मातृसत्तात्मक व्यवस्था, वेशभूषा, केश-सज्जा, मुर्गों की लड़ाई—यह सब मोहेनजो-दारो, सुमेरु, वैबिलोनिया एलाम, मिश्र, दक्षिण भारत, दक्षिण यूरोप, क्रीट में इतने समान दिखाई देते हैं कि एक-दूसरे का परस्पर गहरा सम्बन्ध प्रकट होता है।"

रांगेय राघव का यह वक्तव्य कई प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों के अभिमतों पर आधारित है। संक्षेप में उनके अभिमत भी यहाँ उद्घृत करना समीचीन होगा :

प्रसिद्ध इतिहासकार रामचन्द्र दीक्षितर का यह मत है, "द्रविड़ों का प्रागैतिहासिक काल में ही मध्यभारतीय जातियों से सम्बन्ध हुआ होगा। खरियाँ और हुरियाँ भाषाओं का, जो फ़रात के मोड़ पर मितन्नी में बोली जाती थीं, द्राविड़ भाषाओं से साम्य था। तमिल द्राविड़ भाषाओं में सबसे प्राचीन भाषा है। मेसोपोटॉमिया की प्रलय-कथा में तमिल के मीन् (मछली) तथा नीर (पानी) शब्द मिलते हैं। दक्षिण भारत और मेसोपोटॉमिया का समुद्र और पृथ्वी दोनों ही मार्गों से सम्बन्ध था। उस काल की सब यात्राएँ तीरवर्त्ती प्रदेश या समुद्र से की जाती थीं। एक पथ था अरब सागर से मिश्र, भूमध्य सागर और एशिया माइनर पहुँचने का। दूसरा था फ़ारस की खाड़ी से प्राचीन सुमेरु। ओनीज़ की कथा इस तथ्य को सहायता देती है। पश्चिम के अतिरिक्त, अन्यों में परस्पर दक्षिण भारत तथा मलेशिया में भी आवागमन का सम्बन्ध था।[१]

---

१. ऑरिजिन एण्ड स्प्रैड आफ़ द तमिल्स (अंग्रेज़ी) : पृष्ठ ११-३४

श्री ए० सी० दास का निर्णय है : "दक्षिणी और पश्चिमी आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों में 'मैं वह, तू, हम, तुम' इत्यादि के लिए प्रायः वे ही शब्द प्रयुक्त होते हैं, जो मद्रास (तमिल देश) के समुद्र-तट पर रहनेवाले मछुए प्रयोग करते हैं। उन मछुए लोगों में और दक्षिण की पहाड़ी जातियों में अनेक समानताएँ हैं। उन आदिम जातियों के पास 'बूमेरंग' नामक हथियार था, जो फेंकने पर लौटकर फेंकनेवाले के पास चला आता था।"[१]

डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का मत यह है : "द्राविड़ भाषाएँ—तमिल, मलयालम, कन्नड, तेलुगु, तोड, कोड्गु, तुलु, कुई, गोण्ड, कुरुख, मालटो, ब्राहुई इत्यादि हैं। भारत में द्रविड़ बाद में आये या आस्ट्रिकों (आग्नेयों) के साथ—यह विचारणीय नहीं है। किन्तु दोनों जातियों में सम्मिश्रण हुआ है।··· द्रविड़ मोहेन-जो-दारो के वासी हो सकते हैं। निकट ही ब्राहुई प्रदेश हैं। भूमध्य सागर की सभ्यता से द्रविड़-सभ्यता मिलती-जुलती है। सिंध-पंजाब-नाल (बिलोचिस्तान), उत्तर-पूर्वी ईरान (अनाऊ) तथा पश्चिम ईरान (एलाम), सुमेरिया—चैल्डिया में एक ही-सी संस्कृति थी।"[२]

इसी प्रकार द्रविड़ जाति की अति प्राचीनता और विश्वव्यापकता, मुख्यतया उत्तर भारत में बसी और फैली पूर्व जाति की हैसियत इत्यादि बातों को विक्टर क्रिश्चियन, फेडरिक राइट, एच० जी० वेल्स, ई० एफ० ओर्लन, जी० एस० होमलैंड आदि पाश्चात्य विद्वानों ने कई प्रमाणों से सिद्ध करने की कोशिश की है। किन्तु शायद ही किसी विद्वान् ने असली द्रविड़ (तमिल) जाति की विशिष्टता और प्राचीनता के बारे में सही स्रोतों से अनुसंधान किया हो। इस ज़माने में जर्मन आर्यो और भारत के आर्यों की सजातीयता या समानता पर कौन विश्वास कर सकता है ? न जर्मन लोग मानने को तैयार होंगे और न भारतीय तथाकथित आर्य भी। ऐसीही स्थिति है द्रविड़ जाति की भी। दक्षिण के आन्ध्र और कर्णाटक प्रदेशवासी तक अपनेको तमिल (द्रविड़) जातीय मानने को तैयार नहीं होते हैं। पाश्चात्य विद्वानों की स्थापनाएँ एकता की नहीं, किन्तु विभिन्नता की प्रेरणा देती हैं। इन स्थापनाओं से यही दुष्परिणाम निकला है कि द्रविड़ जाति की प्रत्येक शाखा अपनेको ही विश्वव्यापी, अतिप्राचीन और वर्ग-प्रवर्तक समझती है। ऐतिहासिक अनुसंधान का यह अवांछनीय परिणाम है।

द्रविड़ (तमिल) जाति की प्राचीनता का तोलकाप्पियम् को ही हमें मानदण्ड मानना होगा। यह ईस्वी पूर्व छठी शती का परिष्कृत लक्षण-ग्रन्थ है। इसमें भाषा के स्वरूप, व्याकरण नियम, दाम्पत्य जीवन की मर्यादाएँ, अर्थालंकार, छंदःस्वरूप, निवास-

---

१. ऋग्वेदिक इंडिया—भाग १, पृष्ठ १०३

२. इंडो आर्यन एण्ड हिन्दी (अंग्रेजी) पृष्ठ ४२-४३

योग्य प्रदेशों का विभाजन इत्यादि कई बातें बताई गई हैं। इस ग्रन्थ के आधुनिक व्याख्याकारों और साहित्यकारों का मत है कि 'तोलकाप्पियम्' के रचयिता तोलकाप्पियर महर्षि अगस्त्य के बारह शिष्यों में से एक थे। तोलकाप्पियम् के समय में आर्य-ब्राह्मण तमिलनाडु में सम्मान्य स्थिति में रहते थे। द्रविड़ों की संस्कृति, परम्परा, भाषा, साहित्य की विशुद्धता आदि पर आर्यप्रभाव अति स्वल्प मात्रा में पड़ने का यह प्रारंभिक समय था।

अनुमान कीजिए, तमिल भाषा इस समय (ई० पूर्व छठी शती में) एक उत्तम लक्षण एवं व्याकरण-ग्रंथ बनने योग्य समृद्ध दशा में थी। तोलकाप्पियम् के अनुशीलन से यह कल्पना की जा सकती है कि तमिल जाति कितनी प्राचीन हो सकती है, और वह अपनी विशिष्ट और विशुद्ध परम्परा का पालन कितने लंबे काल से करती आई है।

शूरादित्य, शिबि, मुचुकुन्द आदि प्राचीन चोल-राजाओं का वर्णन संस्कृत पुराणों में, तमिल के संघकालीन (ईस्वी पूर्व पाँचवीं शती से ईस्वी दूसरी शती तक) ग्रन्थों में भी आया है। ई० पूर्व चौथी-पाँचवीं शतियों में गाये गए चार सौ मुक्तक पद्यों का संग्रह है 'पुरनानूरु'। उसमें पूर्वोक्त काल के बाद—कुछ शतियों के बाद—गाये गए पद्य भी संकलित हैं। ऐसाही एक दूसरा संघकालीन पद्यसंग्रह है 'अकनानूरु'। यह भी चार सौ मुक्तक गीतों का संकलन है। इस प्रकार लगभग इसी अवधि के आठ प्राचीन पद्य-संग्रह हैं। इन्हें एट्टुत्तोकै (आठ पद्यसंग्रह) कहते हैं। यह सब संघकालीन साहित्य है। इसमें तमिल जाति की प्राचीनता, आचार-विचार, वीरता, प्रेम-जीवन, भौतिक मान्यताओं आदि का विशद वर्णन मिलता है।

'पुरनानूरु' के दूसरे पद्य में एक चेर राजा की प्रशस्ति गाई गई है। उसके कवि का नाम है मुरंजियूर मुडिनाग रायर। उसने चेर राजा द्वारा महाभारत के युद्ध में पांडव और कौरव-सेनाओं को भर-पेट खाना खिलाने की बात कही है। उस राजा का नाम है उदियन चेर लातन्।

संघकालीन दूसरे ग्रन्थ 'मतुरैक्कांचि' में तमिल जाति के सृष्टि-काल से रहने की बात कही गई है। संघकाल के अंतिम चरणों में या उसके बाद रचित एक लक्षण-ग्रन्थ है 'पुरप्पोरुळ् वेण्पामालै'। इसके रचयिता ऐयनारिदनार चेर राजकुल के कविवर थे। इसमें चेर, चोल, पाण्डिय राजाओं के प्रशासनिक नियमों, रीतियों और आचरणों का वर्णन है। इस ग्रन्थ में बताया गया है, "इस जगत् में जब पाषाण (पहाड़) का युग था, और अधिकांश भूप्रदेश जलमग्न था, उस समय से लेकर तलवार के बल पर जीनेवाली यह पुरानी वीर तमिल जाति है।"[1]

---

१. पुरप्पोरुळ्वेण्पामालै (तमिल), पटल २, पद्य ३६

इसी बात की पुष्टि तमिल वेद 'तिरुक्कुरळ्' के व्याख्याकार परिमेलळकर ने भी की है—"पळंकुटि (प्राचीन जाति) का अर्थ है, चोल, चेर, पाण्डिय की जातियों की तरह सृष्टि-काल से ही गरिमा के साथ जीनेवाली सभ्य और सम्पन्न जाति।"

संस्कृत के ग्रन्थों में तमिल जाति का उल्लेख पहले चेर, चोल, पाण्डिय के नाम से ही हुआ है। वाल्मीकि रामायण में इसका प्रमाण है। प्रसंग है, वानरराज सुग्रीव सीताजी की खोज में वानरों को दक्षिण की ओर भेजते हुए मार्ग का विवरण बताता है, "पहाड़ों और गुफाओं से भरपूर घने दण्डक-वन में खोजने के बाद, गोदावरी के तटवर्ती प्रदेशों में जाकर देखें। फिर आन्ध्र, पुण्ड्र, चोल, पाण्ड्य, चेरल (केरळ) के प्रदेशों में जाकर तलाश करें।"[1]

महाभारत में बताया गया है, "अर्जुन तीर्थयात्रा में दक्षिण की ओर आया। उसने पाण्ड्य राजकुमारी से विवाह किया।" ऐतरेय ब्राह्मण में विश्वामित्र के शाप से उनके सौ पुत्र (वैश्वामित्र) अंध्र (आंध्र), पुंड्र, शबर, पुलिन्द्र, मूतिब आदि दस्यु जातियों में मिल गए।[2]

रामायण और महाभारत-काल से ही (ईस्वी पूर्व १४००-७५०) उत्तर-दक्षिण का सम्पर्क स्थापित हो चुका था। किन्तु आवागमन कम था। प्रायः उस समय के तापस, वनवासी, कबीले और शिकारी लोग विन्ध्याटवी पारकर दक्षिण की ओर बढ़ने का साहस करते थे। उत्तरापथ के आर्य लोगों का सम्पर्क विन्ध्यारण्य के प्रदेशों में अधिक रहा। इसलिए आर्य-प्रभाव वहाँ के लोगों की भाषा और संस्कृति पर अधिक मात्रा में पड़ा। इसका परिणाम यही हुआ कि उन प्रदेशों की मौलिक भाषा का आज पता नहीं चलता। ऐसे ही प्रदेश थे आन्ध्र और करुनाड (कर्नाटक)। आन्ध्र का प्राचीन नाम क्या था, इसका पता नहीं। 'करुनाडु' तमिल शब्द है। उसका अर्थ है, 'काली मिट्टी का प्रदेश'। करुनाडु का उल्लेख प्राचीन संघकालीन ग्रन्थों में पाया जाता है। आन्ध्र को तोल्काप्पियम के व्याख्याकार चेनावरैयर (ई० १३ वीं शती) 'अरुवानाडु' कहते हैं। उन्होंने यह भी लिखा

---

१. अन्वीक्ष्य दण्डकारण्यं सपर्वतनदीगुहम् ॥
नदीं गोदावरीं चैव सर्वमेवानुपश्यत।
तथैवान्ध्रांश्च पुण्ड्रांश्च चोलान् पाण्ड्यांश्च केरलान् ॥
—किष्किन्धाकांड, सर्ग ४१, श्लोक ११-१२

२. तस्य हा विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्राः असुः पंचाश देवज्यां सो मधुच्छंदसः; पंचाशत्कनीयांसस्तधे ज्यायांसो न ते कुशलं मेनिरे, तान्वः प्रजा भज्ञिस्तेति, त एतेन्ध्राः पुण्ड्रा शवरा पुलिन्द्रा मूतिवा इत्यदुं त्वा वहवो भवन्ति वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः।—ऐतरेय ब्राह्मण, ७-३-१८

है कि इस प्रदेश में चेन्तमिळ से सम्बन्धित 'कोटुन्तमिळ' (मिश्रित तमिल भाषा) का व्यवहार था।[1] बाद के कवियों और व्याख्याकारों ने आन्ध्र को वडुकनाडु और तेलिंगनाडु कहा है। वे भी यही मानते थे कि वहाँ तमिल से मिलती-जुलती (द्राविड़ी) भाषा का प्रचलन था।

आर्यो का प्रबल आधिपत्य आन्ध्र और कर्णाटक में प्राय: ईस्वी पूर्व सातवीं शती में ही दृढ़ हो चुका था। उसी समय वहाँ प्राकृत का बोलबाला शुरू हुआ। फिर संस्कृत का प्राबल्य बढ़ा। ई० पूर्व तीसरी शती में बौद्धों और जैनों का प्रभाव आन्ध्र और कर्णाटक में बढ़ने लगा। वहीं से उनका तमिलनाडु में धर्म-प्रवेश होने लगा। अत: उन दोनों प्रदेशों की प्राचीनतम भाषा का असली रूप खो गया; प्राकृत और संस्कृत की परतें पक्की हो गई। किन्तु इन दोनों प्रदेशों की साधारण जनता में प्राचीन 'द्राविड़ी' भाषा के मूल शब्द प्रचलित हैं। मुख्यतया घरेलू बातों के अधिकांश शब्द ठेठ देशी भाषा या बोली के शब्द होते हैं।

इसीलिए आन्ध्र, पुण्ड्र (कर्णाटक ?) प्रदेशों का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है। इस समय ठेठ तमिल प्रदेश के साथ आर्यो का निकट संबंध न होने से, तमिल या द्रविड का उल्लेख ब्राह्मण-उपनिषद् ग्रन्थों में नहीं हो सका। भागवत पुराण में कृष्ण के जाम्बवती से उत्पन्न पुत्रों में एक नाम 'द्रविड' बताया गया है।[2] संभवतया मनुस्मृतिकार से भागवतकार प्रबुद्ध, अभिज्ञ और गुणज्ञ थे, नहीं तो भगवान् कृष्ण को तथाकथित 'दस्यु, म्लेच्छ एवं व्रात्य' कुल की संतान का पिता बतलाने का साहस न कर बैठते।

कई पाश्चात्य विद्वानों ने जातिप्रथा के प्रवर्त्तक के रूप में द्रविड़ों का वर्णन किया है। इस बात का कोई आधार पुराने तमिल साहित्य में, या बाद के नीति एवं आचार-ग्रन्थों में भी बिलकुल नहीं है। जातिप्रथा का प्रवर्त्तन आर्यो के द्वारा ही तमिल एवं अन्य दक्षिणी प्रदेशों में हुआ है। इस प्रथा का जितना दुष्परिणाम दक्षिण में हुआ, उतना अन्यत्र शायद ही हुआ होगा। इसी स्थिति का लाभ उठाकर बौद्ध और जैन दक्षिण में पैर जमा सके। बाद को मुसलमानों और ईसाइयों का प्रभुत्व भी इसी आरोपित जातिप्रथा के कारण ही दक्षिण में बढ़ और फैल सका। यह स्थिति प्राय: सभी प्रान्तों की रही।

तोल्काप्पियम् से, उस समय तमिलनाडु में चार वर्गो या जातियों का

---

१. देखें—तोल्काप्पियम्—शोल्लतिकारम् (शब्दाधिकार), सूत्र ४०१ की व्याख्या।

२. साम्वः सुमित्रः पुरुजित् शतजित् च सहस्रजित्।
विजयः चित्रकेतुश्च वसुमान् द्रविडः क्रतुः।
जाम्बवत्यः सुताः ह्येते साम्वाद्याः पितृसम्मताः॥ १०।६१।११-१२

होना मालूम होता है। अन्तणर्, अरशर्, वणिकर् और वेळाळर। ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के रूपान्तर् नहीं हैं। 'अन्तणर' का अर्थ होता है सदाचारी, धर्मज्ञ, विद्वान् व्यक्ति। 'अरशर्' से राजा का तात्पर्य है। राजपरिवार के व्यक्तियों को भी ले सकते हैं। 'वणिक्' के लिए तोल्काप्पियर ने 'वैचिकन्' (वैशिक या वैश्य) शब्द का प्रयोग किया है। वाणिज्य-व्यापार करनेवालों को वैशिक कहा गया है। वेळाळर् कृपक या किसान लोग होते हैं। इन चारों जातियों में श्रेष्ठता-निकृष्टता का कोई उल्लेख तोल्काप्पियम् में नहीं है।

'अन्तणर्' से निस्पृह, निस्स्वार्थी, विद्वान् सदाचारी उपदेशक से तात्पर्य है। यह आर्य ब्राह्मण थे, ऐसा निश्चय नहीं किया जा सकता है। तोल्काप्पियम् में आर्य ब्राह्मणों के लिए 'पार्प्पनर' (ब्राह्मण) शब्द अलग आया है। उस काल में 'पार्प्पार' (आर्य ब्राह्मण) उपदेशक, दूत, राजा और महारानी के प्रणय-कलह को दूर करनेवाले, यजन-याजन आदि छह स्वधर्मों के पालक रहे। लोग उनको मानते थे।[1] 'अन्तणर्' जो ब्राह्मणों के समान जातिवर्ग के शीर्षस्थ थे, राजाओं के सहायक, मंत्री, समाज के नियन्ता और मार्गदर्शक के रूप में थे। इनके लिए 'मेलोर, उयर्न्तोर' (श्रेष्ठ) आदि शब्दों का प्रयोग किया है। वणिक् और कृषक लोगों का भी सम्मान्य दृष्टि से ही उल्लेख किया है। ये दोनों कई राजोचित चिह्नों को धारण करने के अधिकारी थे।[2]

वेळाळर् (किसान) लोगों का कुलधर्म या कुलाचार था खेती करना। उनकी जीविका का साधन खेतीबारी ही बताया गया। आवश्यकता पड़ने पर वे देशरक्षा के लिए हथियार उठाने के अधिकारी भी थे। शान्त प्रकृति के साथ-साथ वे वीरता के भी धनी थे।[3]

बाद के तिरुवळ्ळुवर, कम्बर आदि महाकवियों ने तथा संघकालीन कवियों ने भी कृपकों की बड़ाई की है। उनको अन्नदाता, लोकरक्षक, समाज-पोषक, प्राणिवर्ग के साथी आदि प्रशस्तियों से सम्मानित किया है।

तिरुवळ्ळुवर ने (ई० पूर्व प्रथम शती) बताया है, दुनिया के समस्त उद्योग-व्यवसायों में श्रेष्ठ है खेती का काम। इससे जितना भी कष्ट हो, यही गण्य-मान्य कृत्य है। दूसरे सभी व्यवसायियों का पालन किसान करते हैं। अतः वे लोकजीवन की धुरी के समान हैं। खेती करनेवाले ही सफल सम्मान्य जीवन बितानेवाले स्वाभिमानी श्रमिक लोग हैं; अन्य लोग तो दूसरों की चाकरी और

१. देखें—तोल्काप्पियम् (तमिल) सूत्र, १०२०, १४३८, १४४५ आदि
२. वही, सूत्र, ९७४, ९७७, ९८२, १५६२—१५७६
३. तोल्काप्पियम्, सूत्र १५७३।

बड़ाई करके जीनेवाले केवल अनुचर हैं। ...''[१]

इसीपर से अनुमान किया जा सकता है कि जातिभेद के चौथे वर्णवालों (शूद्र नहीं, कृषक) के प्रति सामाजिक समादर कितना ऊँचा था। भूलकरभी प्राचीन और अर्वाचीन तमिल विद्वानों ने 'शूद्र' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं किया।

इससे स्पष्ट है कि द्रविड (तमिल) देश में लगभग छठी शती में जातिभेद तो थे, पर वे ऊँच-नीच-भाव और शोषक-शोषित वर्गों के प्रतीक नहीं थे। तोल्का-प्पियम् तथा उसके परवर्ती ग्रन्थों में राजा और कृषक लोगों की खूब बड़ाई की गई है। उनके आचार-विचार और आदर्श विस्तार से वर्णन किये गए हैं। 'अन्तणर्' (प्रथम वर्ण या सम्मान्य उपदेशक वर्ग) और 'वणिकर्' के बारे में उन ग्रन्थों में कम ही वर्णन मिलता है। इस काल में केरल अलग प्रदेश नहीं था; तमिल देश का अंग (चेर राज्य) था।

आन्ध्र और कर्णाटक की तत्कालीन सामाजिक स्थिति के बारे में कोई मूर्त प्रमाण नहीं मिलता है।

द्रविड़ प्रदेश और दक्षिणापथ

द्राविड़ जाति का विस्तार दुनिया-भर में होने का उल्लेख पाश्चात्य विद्वानों ने किया है। उनका अनुसरण कर कई भारतीय इतिहासकारों ने भी इस मत का समर्थन किया है।

जैसे, मोहेनजो-दाड़ो, व हड़प्पा में द्राविड रहते थे; अमरीका के आदि-वासियों में द्राविड थे; अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में द्राविड रहते थे; दक्षिण भारत में तो वे थे ही; यही उनका गढ़ है; सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा, खेतीवारी आदि में द्राविड बढ़े-चढ़े थे—ऐसी धारणाएँ ऐतिहासिक स्थापनाओं के बल पर फैली हुई हैं। यह बात नहीं कि इनमें तथ्य नहीं है। किन्तु इनमें पूरा ही तथ्य है, यह बात भी नहीं है।

यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या द्रविड-कुलीन होने से सारी द्रविड़ जाति एकही भाषा बोलती थी? द्राविडों के, जो नाना प्रदेशों में फैले हुए थे, आचार-विचार क्या एकसमान थे? वे लोग जहाँ भी थे, उन देशों और प्रदेशों में क्या अपने अमिट निशान छोड़ गए हैं? क्या द्राविड आजभी उन स्थानों पर अपनापन या स्वत्वाधिकार जताने के हक़दार हैं? 'द्राविड' कहलानेवाले सभी लोग अपने-को एक कुल के, एक संस्कृति के और एक वर्ग के अन्तर्गत मानने को तैयार हैं क्या? वे अपने से अधिक मौलिक, विशुद्ध, सम्पन्न और प्रतिनिधि वर्ग को क्या अपना अगुआ मानने को तैयार होते हैं?

---

१. तिरुक्कुरळ् (तमिलवेद)। पद्य १०३१—३३

इन प्रश्नों की व्यावहारिकता आज हास्यास्पद मालूम होगी; फिरभी इतिहासकार 'इतिहास-जिज्ञासा' करते रहते हैं। वे कई तथ्यनिरूपण भी कर दिखाते हैं। पर उससे कोई विशेष लाभ नहीं।

हम यहाँ 'द्रविड प्रदेश' से केवल तमिल प्रदेश का निरूपण करना उचित समझते हैं। 'दक्षिणापथ' भी आधुनिक स्थापना के अनुसार 'द्राविड प्रदेश' ही है। 'दक्षिणापथ' शब्द में समन्वय का संदेश है। अतः उस शब्द से पूरे दक्षिण का—आन्ध्र, कर्णाटक, केरल और तमिल राज्यों का—अभिधान किया जाता है।

फिरभी प्रथानुसार तथाकथित सुविशाल 'द्राविड देश' के बारे में एक उद्धरण-भर दे देना अप्रासंगिक न होगा।

श्री एम० सी० दास ने लिखा है, "बहुत प्राचीन काल में दक्षिण भारत, दक्षिण अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के अतिरिक्त बीच की भूमि समुद्र में डूब गई। उस पुराने बड़े महाद्वीप का नाम वैज्ञानिकों ने 'लेमूरिया' भूखंड रखा है।"[1]

'द्रविड़' शब्द से यूरोप के आदिवासी रेड इंडियन जातिवालों का भी निर्देश था। 'द्राविडी' का अर्थ 'रेड इंडियन' प्रदेश की एक सुगंधित वस्तु है। 'द्राविडक' शब्द उस प्रदेश की एक औषध 'ज़ोडोरी' के लिए प्रयुक्त होता है।[2]

एम०एम० विलियम्स ने अपने बृहत् संस्कृत-अंग्रेजी कोश में, 'द्रमिड' का अर्थ वैयाकरण तथा आर्य-विरोधी जाति दिया है। 'द्रमिल' शब्द का अर्थ कोशकार दिया है। पता नहीं, किस आधार पर और किन प्रमाणों से उन्होंने ये अर्थ दिये हैं।

द्राविडों का अधिकृत भूभाग दक्षिणापथ समझा जाता है। आजभी इस भूभाग में द्रविडवर्ग के लोग निवास करते हैं। भारत वैदिक काल से उत्तरापथ और दक्षिणापथ के रूप में विभाजित था। निबिड विन्ध्याटवी दोनों भागों की प्रकृति-निर्मित दुर्गम सीमा थी। यही कारण है कि उत्तर और दक्षिण का सम्पर्क वेद-काल में ठीक तरह से नहीं हो सका। यदि शुरू-शुरू में दोनों भागों, कुलों और संस्कृतियों का निकट सम्पर्क हुआ होता, तो सम्भव है कि आर्य-कुल की प्रवृत्ति बहुत-कुछ नियंत्रित रहती। उस समय यदि परस्पर सापेक्ष सम्पर्क हुआ होता, और पारस्परिक प्रभाव स्वीकृत हुआ होता, तो हमारी धारणा है कि सच्ची और सशक्त भारतीयता की नींव अवश्य तभी पड़ गई होती। आर्यों की विकासशीलता और द्रविडों (तमिलों) की उदार, भव्य और प्रतिष्ठित नागरिकता मिलकर कई अद्भुत सफलताएँ प्राप्त कर सकती थीं।

द्रविड (तमिल) देश की सीमा 'तोल्काप्पियम' ग्रन्थकार के समकालीन

---

१. ऋग्वेदिक इंडिया' (अंग्रेज़ी) भाग १, पृष्ठ ९४

२. श्री वामन शिवराम आपटे का 'द प्राक्टिकल संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी' (अंग्रेजी) देखें।

(ई०पूर्व छठी शती) कवि पनंपारनार ने स्पष्ट बताई है। 'तोलकाप्पियम्' के आमुख में प्रशस्तिपद्य के रूप में वह गीत रखा गया है। उसके शुरू में तमिल देश की सीमाएँ बताई गई हैं :

वडवेंकटम् तेन् कुमरि आयिडैत् तमिळ्कूरुम् नल्लुलकत्तु…

अर्थात्, उत्तर दिशा में 'वेंकटम्' (तिरुपति) से लेकर दक्षिण में 'कुमरि' (कन्याकुमारी से सुदूर दक्षिण में जो नदी बहती थी,) तक तमिलभाषी प्रदेश में प्रचलित भाषा तथा पद्यों के स्वरूप की विवेचना के लिए, उनके आधार (तमिल) अक्षर, शब्द तथा अर्थ के लक्षण-नियम बताये जा रहे हैं (प्रस्तुत तोल्काप्पियम् ग्रन्थ में)।

इस पद्य में तमिलनाडु की उत्तर और दक्षिण की सीमाएँ बताई गई हैं। व्याख्याकारों ने बताया है कि पूर्व और पश्चिम की सीमाएँ दोनों समुद्र हैं—पूर्व में बंगालखाड़ी और पश्चिम में अरब महासागर। इस प्रशस्तिपद्य के गायक भी ग्रंथकार तोल्काप्पियर के समकालीन (ई० पूर्व छठी शती के) थे।

इस पद्य के व्याख्याकार पेराशिरियर ने (ई०नवीं शती) लिखा है, **नार्पेयरेल्लै येन्पदु तेन्कुमरि वटवेंकिटम् कुणकटल् कुट कटल्**……… अर्थात् चार सीमाएँ (तमिल देश की) ये हैं; दक्षिण में कुमरि नदी, उत्तर में वेंकट गिरि तथा कुण (पूर्व) और कुट (पश्चिम) में दोनों सागर।"

इसी आशय को संघकालीन कवि (ईस्वी पूर्व तीसरी या चौथी के) कारिकिळार ने भी व्यक्त किया है। **पांडियन् पल्यागशालै मुतुकुडुमि पेरुवळुवति** नामक पांडिय नरेश की प्रशस्ति में इस कवि ने एक गीत लिखा है। यह पद्य २९ पंक्तियों का है। यह 'पुरनानूरु' नामक संघकालीन पद्यसंग्रह में संकलित है। कई याग-यज्ञ करनेवाले उस पांडिय नरेश के राज्य की सीमा के वर्णन के साथ गीत प्रारम्भ होता है। चारों सीमाओं का उल्लेख इस प्रकार है, "उत्तर में हिममंडित बड़ा पर्वत (वेंकट गिरि या विन्ध्यगिरि), दक्षिण में कुमरि नदी, पूर्व और पश्चिम में दोनों समुद्र। इन सीमाओं के अंतर्गत तमिल देश के एकछत्र राजा हैं यह पांडिय नरेश…।"[1]

'पुरनानूरु' के दूसरे कवि **कुरुंकोळियूर किळार** ने चेर राजा **मान्तरंचेरल इरुम्पोरै** की प्रशस्ति में एक गीत लिखा है। यह ४० पंक्तियों का है। इसमें चेर-राजवंश की प्रसिद्धि गाई गई है। इसमें भी पूर्वोक्त चारों सीमाओं का उल्लेख है।[2]

दक्षिण सीमा कुमरि नदी आज की कन्याकुमारी (कुमारी अन्तरीप) से दो सौ कोस दक्षिण में बहती थी। वहांतक पाण्डिय देश फैला हुआ था। इसका

---

१. पुरनानूरु (तमिल), पद्य ६

१. पुरनानूरु (तमिल), पद्य १७

उल्लेख तोलकाप्पियम् के व्याख्याकार इळंपूरणर (ई. १२ वीं शती) ने भी किया है। फिर ईस्वी पूर्व प्रारंभिक शती में वह प्रदेश समुद्रमग्न हो गया। पांडिय राज्य घटकर उत्तर की ओर बढ़ने को बाध्य हुआ।

ईस्वी दूसरी शती के तमिल महाकाव्य शिलप्पतिकारम् में भी तमिल नाडु की वे ही सीमाएँ बताई गई हैं, जो तोलकाप्पियम् में निर्दिष्ट हैं। इस काव्य के रचयिता चेर-राजकुमार इळंको अटिकळ हैं। उस पद्य का अंश है।

नेटियोन् कुन्रमुम् तोटियोळ् पौवमुम्
तमिळ वरम्पु अरुत्त तण् पुनल् नल् नाडु...।[1]

अर्थात् विष्णु पर्वत (तिरुपति) और कुमरि सागर के बीच में स्थित तमिल-भाषी प्रदेश, नदी-नालों से युक्त, सम्पन्न और समुन्नत प्राचीन देश है।...

उस काल में केरल अलग भाषाभाषी प्रदेश नहीं था; तमिलभाषी प्रदेश था। वहाँ चेरवंशी राजाओं का प्रशस्त शासन था। उस भूभाग का नाम ही 'चेरलम्' था। उसी स्थानवाची शब्द से चेर या चेरल शब्द वहाँ के राजाओं तथा निवासियों के लिए प्रयुक्त होते थे। तमिल देश के तीन प्रमुख भाग थे। उनमें चेर, चोल, और पाण्डिय राजशासन चलते थे। उन भागों को या राज्यों को चेर-नाडु, चोळनाडु और पाण्डियनाडु कहते थे। ये तीनों प्राचीनतम, वैभवशाली तथा पराक्रमी राजवंश थे। इनके राज्य शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता तथा सम्पन्नता में बेजोड़ थे। इन तीनों राज्यों का उल्लेख वाल्मीकि ने भी किया है।[2]

प्राचीन तमिल ग्रन्थकारों तथा व्याख्याकारों ने तीनों राज्यों के शासनक्षेत्रों के बारे में लिखा है, "एक सौ अस्सी 'कातम्' (एक कातम् की दूरी दो मील) के विस्तारवाले तमिलभाषी देश में, अस्सी 'कातम्' का प्रदेश चेर-राज्य था; छप्पन 'कातम्' का भाग पाण्डिय राज्य का था; चौवालीस 'कातम्' का प्रदेश चोल-राज्य का था। तमिलकम् (तमिल देश) का पश्चिम भाग चेर राजाओं का था; पूर्व दक्षिण भाग पाण्डिय राजाओं का था; पूर्वोत्तर भाग चोल राजाओं का था। इसी कारण इन तीनों राज्यों के नाम 'कुटपुलम् (पश्चिम देश) "तेन्पुलम्' (दक्षिण देश) और 'कुणपुलम्' (पूर्व देश) पड़े। 'पुलम्' का अर्थ है, देश या प्रदेश।

'चेरलम्' का संस्कृत रूप है केरल। 'चेरल' का अर्थ है, जुड़ना या मिल जाना। समुद्र के हट जाने से जो भूभाग पूर्व-स्थित प्रदेश के साथ मिल गया या जुड़ गया, उस प्रदेश का नाम 'चेरल्'+अकम्=चेरलकम्' (मिला हुआ प्रदेश) पड़ गया। 'चेरलकम्' उच्चारण-लाघव के कारण 'चेरलम्' चेरम् बन गया। यही चेरम् या चेरलम् > उस प्रदेश के राजवंश का नाम हो गया। वहाँ के राजाओं और

---

१. शिलप्पतिकारम् (तमिल), पुकारकाण्डम्, वेनिल् कातै।
२. वाल्मीकि रामायण (संस्कृत) किष्किन्धा काण्ड, ४१-१२

निवासियों को चेरर् या चेरलर् कहने लगे। तमिल संघकालीन ग्रंथों में चेर राजाओं की श्रेष्ठता के वर्णन कई बार आये हैं।"[1]

चेर, चोल, पाण्डिय राजाओं के द्वारा प्रशासित भूभाग ही तमिलनाडु कहलाता था। तोलकाप्पियर ने इसी तमिल देश की सीमाएँ तिरुपति पर्वत और कुमरि नदी (उत्तर और दक्षिण की) बताई हैं। इसी प्रदेश में प्रचलित भाषा, शब्द, अर्थ, छंद, आचार आदि के लक्षण और नियम तोल्काप्पियम् में बताये गए हैं। इसीमें उन तीनों राजवंशों का भी उल्लेख है।[2] बाद के अकनानूरु, पुरनानूरु आदि आठ प्रबन्ध-काव्यों और दस प्रशस्ति गीत-संग्रहों में भी तीनों सुख्यात प्राचीनतम राजवंशों के विशद वर्णन हैं। ये ग्रन्थ संघकालीन साहित्य (ईस्वी पूर्व पाँचवीं शती से ईस्वी दूसरी शती तक) कहलाते हैं।

चेर, चोल, पाण्डिय राजाओं को क्रमशः कुट्टुवन्, चेम्पियन और चेळियन् के उपनामों से पुकारा जाता था। विजयमाला के लिए चेर राजा पनम्पू (ताड़ के फूल), चोल राजा 'कोन्नैप्पू' (अमलतास के फूल) और पाण्डिय नरेश 'वेप्पम्पू' (नीम के फूल) का उपयोग करते थे।[3] चेर राजाओं का प्रधान ध्येय दान और 'अर्थ' (धर्म, अर्थ, काम में से अन्यतम) था। इधर अर्थ का आशय धन और भौतिक समृद्धि आदि से है। चोल राजाओं का मुख्य उद्देश्य 'धर्म' था; और पाण्डियों का तो 'काम' (कला, शिक्षा तथा जीवन की सुविधा से मतलब) था।

तीनों राजाओं की अलग-अलग ध्वजाएँ थीं। तीर-कमान (धनुष-बाण) अंकित ध्वजा चेर नरेशों की थी; मीन-अंकित झंडा पाण्डिय राजाओं का था; बाघ-(व्याघ्र) अंकित ध्वजा चोल राजाओं की थी। तीनों राजवंशों की जयभेरियों के नाम भी भिन्न-भिन्न थे—'वीरमुरशु' (चेर राजवंश का), 'न्यायमुरशु' (पांडिय राजवंश का) और 'त्याग मुरशु' (चोल राजवंश का)। साहित्य की शाखाओं में, चेरों ने नाटक (गीतयुक्त नाटक और नृत्य) को, चोलों ने लक्ष्य-लक्षण-काव्य ग्रन्थादि साहित्य को, और पांडियों ने संगीत-विद्या को अपना-अपना प्रिय विषय चुना था। उन्होंने अपनी-अपनी शाखा की समुन्नति की। हाथी-समूह के लिए चेर देश, बहुमूल्य मोतियों के लिए पांडिय देश और धन-धान्य के लिए चोल देश विशेष प्रख्यात थे।

पूर्वोक्त तमिल (द्रविड) देश को तोल्काप्पियर ने 'चेन्तमिळ् निलम्' (विशुद्ध तमिलभाषी देश) भी कहा है।[4] इससे यह प्रतीत होता है कि उनके समय में तमिल की विकृत या उससे बिछुड़ी हुई द्राविडी भाषाएँ बोलने के प्रदेश

---

१. केरल साहित्य चरित्रम्—भाग-१ (महाकवि उळ्ळूर रचित) पृष्ठ १७
२. तोल्काप्पियम्, अर्थाधिकरण (अध्याय) सूत्र १३३१।
३. तोल्काप्पियम्, अर्थाधिकरण (अध्याय)
४. तोल्काप्पियम् (तमिल), सूत्र ८८१, ८८३।

सीमांत में थे। इन द्रविड प्रदेशों का 'कोटुन्तमिळनाडु' (विकृत और मिश्रित तमिल के देश) नाम से तोल्काप्पियम् के टीकाकारों ने निर्देश किया है। यह प्रसंग ऐतिहासिक महत्व रखता है।

तोल्काप्पियर ने तमिल-प्रचलित १२ प्रदेशों का निर्देश किया है। उनके नाम नहीं बताये हैं। व्याख्याकारों ने इन १२ प्रदेशों की दो प्रकार से विवेचना की है। एक में चेन्तमिळ देश, जो तिरुपति से कुमरि नदी तक तथा पूर्व और पश्चिम सागरों के बीच में अवस्थित है, उसके १२ खंड प्रदेशों के नाम लिये हैं। दूसरी में, उक्त चेन्तमिळ देश के सीमावर्ती तमिल से मिलती-जुलती (द्राविड़ी) भाषाएँ-प्रचलित १२ प्रदेशों का उल्लेख किया है।

व्याख्याकार चेनावरैयर ने तमिल देश के अन्तर्गत बारह प्रदेशों के नाम गिनाये हैं—पोंकर नाडु, ओळिनाडु, तेन् पांडिनाडु, कुट्टनाडु, कुटनाडु, पन्रिनाडु, कर्कानाडु, शीतनाडु, पूळिनाडु, मलैनाडु, अरुवानाडु, और अरुवा वडुतलै नाडु। इन बारह प्रदेशों का निर्देश, बारहवीं शती के पवणंदी (भवण नंदी) नामक जैन विद्वान् ने अपने तमिल व्याकरण 'नन्नूल' में किया है।[1] यही प्रदेश निर्देश कुछ अन्य मुक्तक पद्यों में भी पाया जाता है, जो अज्ञात कवि के हैं। एक बानगी है:

तेन् पांडिकुट्टम् कुटम् कर्का वेण्पूळि
पन्रियरुवा अतन् वडक्कु—नन्राय
शीत मलाडु पुननाडु चेन्तमिळ् चेर्
एतमिल पन्निरुनाट्टेण्

—इस पद्य में पूर्वोक्त बारहों प्रदेशों के नाम गिनाये गये हैं, जो चेन्तमिळ्-वाले देश के भाग हैं। इनमें पोंकरनाडु (या पोतुम्बर नाडु, या वेणाडु), कुट्टनाडु, कुटनाडु, पूळिनाडु—ये चारों प्रदेश आजकल केरल में मिल गये हैं। शेष आठ प्रदेश तमिलनाडु के अंतर्गत हैं। उनमें, तेन् पांडिनाडु आज के तिरुनेलवेली ज़िले में है; कर्कानाडु कोयम्बत्तूर ज़िले का पश्चिम भाग है; शीतनाडु शेष कोयम्बत्तूर तथा नीलगिरि ज़िलों का प्रदेश है; पन्रिनाडु पूर्वोक्त शीत नाडु प्रदेश के पूर्व भाग से वर्तमान पलनि तक का स्थान; ओळिनाडु, (या पुननाडु) चोल देश (तंजावूर तिरुच्चि ज़िले) का दक्षिणी भाग; मलैनाडु (या मलाडु) उत्तर आर्काट का एक भाग; अरुवानाडु दक्षिण आर्काट ज़िले का दक्षिणी भाग; और अरुवा वडु-तलैनाडु आज के चेंगलपेट ज़िले से तिरुप्पति तक का प्रदेश। यह आठों प्रदेश आज मद्रास राज्य (तमिलनाडु) के अंतर्गत हैं।[2] ये रहे तमिलभाषी प्रदेश।

---

१. नन्नूल (तमिल), सूत्र २७३
२. आधार : केरल साहित्य चरित्रम् भाग-१ (मलयालम-महाकवि उळ्ळूर-विरचित) पृष्ठ २२

इनके देशी या देशज शब्दों को 'दिशाशब्द' कहने की अपेक्षा, तमिलभाषी देश के सीमावर्ती पडोसी प्रदेशों के तमिल के सजातीय शब्दों को 'दिशा शब्द' कहना समीचीन लगता है। इसी आशय से तोल्काप्पियम के दूसरे प्रमुख व्याख्याकार नच्चिनार्किनियर ने सीमावर्ती बारह पडोसी प्रदेशों के ये नाम गिनाये हैं :

१. पळन्तीपम्, २. कोल्लम्, ३. कूपगम्, ४. चिंगलम्, ५. कोंकणम्, ६. तुळुवम्, ७. कुटकम्, ८. कुन्रकम्, ९. करुनटम्, १०. वटुकम्, ११. तेलिंगम्, और १२. कलिंगम्।

इन बारहों पड़ोसी प्रदेशों में ठेठ तमिल का प्रचलन नहीं था; किन्तु तमिल से मिलती-जुलती तमिल की सजातीय (द्राविडी) भाषाएँ बोली जाती थीं। अतः इन पड़ोसी प्रदेशों से आकर मिल गये तत्सम या तद्भव देशी शब्दों को 'दिशा-शब्द' कहना युक्तियुक्त जँचता है। आधुनिक भाषा-शास्त्री तमिल विद्वान् इसी मंतव्य को प्रमाणित मानते हैं।

अब यह निर्धारण करना संगत होगा कि ईस्वी प्रारंभिक सदियों तक पूर्वोक्त पड़ोसी देशों में तमिलभाषी तथा तमिल की सजातीय भाषा बोलनेवाले निवास करते थे। मतलब यह कि तमिलनाडु के साथ इन पड़ोसी देशों का निकट सम्पर्क था। लोगों का आना जाना, मिलना-जुलना और आदान-प्रदान बराबर हुआ करता था। संभवतः इसी सम्पर्क और साजात्य के अभिज्ञान से संस्कृत-कवियों ने पूरे दक्षिणापथ के लिए 'द्राविड' शब्द का प्रयोग किया होगा। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने, तथा उनके पथगामी भारतीय विद्वानों ने भी द्रविड और द्राविड़ शब्दों के अर्थ का अनर्थ कर रखा है।

प्रकाण्ड भाषापंडित महाकवि उळ्ळूर का मत है कि पळन्तमिळ् (प्राचीन तमिल) को मूल द्रविड भाषा मानते हैं। बाद को उस मूल द्रविड भाषा की दो शाखाएँ हो गई। उनका नामकरण आधुनिक दृष्टि से उत्तर द्राविडी और दक्षिण द्राविडी कह सकते हैं। उत्तर द्राविडी शाखा में कन्नड और तेलुगु (कर्णाटक तथा आन्ध्र की भाषाएँ) आती हैं। दक्षिण द्राविडी में तमिल और मलयालम भाषाएँ शामिल हैं। दक्षिणापथ के पूर्वोत्तर भाग में प्रचलित कन्नड़ भाषा (उत्तर द्राविडी भाषा) से तेलुगु अलग हुई। 'करुनाडु' (काली मिट्टीवाला प्रदेश) शब्द विकृति में 'करुनडम्' > 'करुनाटकम्' बनकर, बाद को संस्कृत प्रभाव से 'कर्णाटकम्' या कर्णाटम् बना। मूल शब्द को देशज रूप है 'कन्नड' या 'कन्नडम्'। 'करुनाडु' संघकालीन तमिल ग्रन्थों में, तथा 'कन्नड' उनके बाद के तमिल काव्य शिलप्पतिकारम् (ईस्वी दूसरी शती) में प्रयुक्त हुए हैं। ईस्वी आठवीं शती के वेळ्विक्कुडि शिलालेख (तमिल) में 'करुनाटकम्' शब्द का प्रयोग है। पुरानी कन्नड भाषा तथा तमिल और मलयालम में कई समानताएँ हैं।

ठेठ तेलुगु भाषा की रचना प्रथमतः आठवीं शती के शिलालेखों में मिलती

है। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि इस भाषा का मूल नाम हैं 'तेनुगु', जिसका अर्थ है माधुर्य, मधु या मधुतुल्य। इसीका रूपान्तर है तेलुंगु या तेलुगु। संस्कृत ग्रन्थों में 'तेलुगु' को 'आन्ध्र' शब्द से ही निर्देश किया गया है। तमिल के संघकालीन ग्रन्थों में आन्ध्र देश को 'तमिळ्प्पेयर्नाडु' (तमिल से विच्छिन्न सजातीय देश) वताया गया है। यहाँ की (आन्ध्र) भाषा को (संस्कृत प्रधान विकृत द्राविडी भाषा को) तमिल ग्रन्थाकारों ने 'वट्टुकु' (उत्तर देशीय भाषा) नाम दिया है। यह आन्ध्र भाषा की एक उपशाखा का नाम भी हो सकता है।

तेलुगु के प्रथम ग्रन्थकार नन्नय भट्ट हैं। इन्होंने संस्कृत के महाभारत का तेलुगु में अनुवाद किया। पर वह उसे पूरा नहीं कर सके। ये ई० १०२० के थे। इनके समय के पूर्व तक आन्ध्र-साहित्य कन्नड भाषा में रचा गया था। पंद्रहवीं शती के तेलुगु कविवर श्रीनाथ ने भी स्वीकार किया है, कि 'तेलुगु में ग्रन्थ-रचना करने पर भी शिष्टाचार या प्रथा के अनुसार उसे 'कर्णाटक भाषा ग्रंथ' कहना उचित समझता हूँ।'

संस्कृत ग्रंन्थों में पूरे दक्षिण के लिए 'दक्षिणापथ' नाम आता है। यह विन्ध्य पर्वत या वन से कुमारी अन्तरीप तक का भूभाग है। व्यवहार की सरलता के लिए ग्रंथकार, इतिहासकार आदि ने भारत देश को उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ नाम से दो भूभागों में विभक्त किया था। इस विभाजन के पीछे कोई बुरा उद्देश्य नहीं था।

किन्तु कुछ विदेशी इतिहासकारों ने दोनों भूभागों के बीच फूट डालने तथा परस्पर विद्वेष फैलाने के लिए उस विभाजन का अनुचित लाभ उठाया।

ऋग्वेद में 'दक्षिणापथ' का उल्लेख है। उसका अर्थ 'दक्षिण की ओर जानेवाला मार्ग' होता है। किन्तु ऋग्वेद में दक्षिण देश, दक्षिण भूभाग, तथा दक्षिणी देशों की उपाधि के लिए भी 'दक्षिणापथ' शब्द प्रयुक्त हुआ है। उनसे भिन्न अर्थ में भी उसका प्रयोग हुआ है। वह है, 'दक्षिणपदा।[1] इसका अर्थ है, दक्षिण की ओर वढ़ते पैरोंवाले वहिष्कृत लोगों का स्थान। आशय यह है, 'आर्यों द्वारा वहिष्कृत (परावृज्) लोगों का, जो निकृष्ट (आर्यधर्मच्युत) जीवन बिताते हैं, निवासस्थान है।' किन्तु 'दक्षिणपदा' 'दक्षिणापथ' नहीं है। दक्षिणपदा तो आर्यों के देश सप्तसिन्धव या आर्यावर्त्त की दक्षिणी सीमा है। इससे सीमान्त आर्येतर प्रदेशों का आशय हो सकता है।[2]

प्रायः ऋग्वेद में विन्ध्य पर्वत तक के प्रदेश को दक्षिण सीमा तथा आर्येतर दस्यु, दास आदि जातियों का वासस्थान बताया गया है। इस बात की पुष्टि कौपीतकि उपनिषद् (३।२,१,३२) में मिलती है। वोधायन धर्मसूत्र में (१। १,२,

---

१. ऋग्वेद १०।६१।८

२. 'वैदिक इण्डेक्स' (हिन्दी अनुवाद) में 'दक्षिणापथ' की व्याख्या देखें।

१३) सुराष्ट्र के साथ संयुक्त रूप से रहनेवाले प्रदेश का नाम 'दक्षिणापथ' दिया गया है।

डॉ० सम्पूर्णानंद तथा ए० सी० दास के मतानुसार आर्यों का आदिदेश तथा मूल निवासस्थान सप्तसिंधव था। यह गान्धार से अर्वली (अरावली) पर्वतमाला तक उत्तर-दक्षिण में फैला हुआ था। आदिकाल में अर्वली तथा विन्ध्य पर्वतमाला के उत्तरी भाग में समुद्र था। यह अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी को जोड़ता था। ऋग्वेद में यह वर्णन आया है कि इन्द्र ने (वृत्रासुर से) गौओं को जीता, सोम को जीता और सप्तसिंधुओं के प्रवाह को मुक्त कर दिया।[1]

"सप्तसिन्धव प्रदेश सात प्राचीन नदियों से घिरा हुआ उत्तरापथ का भू भाग था। उन नदियों के नाम थे, सिन्धु, विपासा (व्यास), शुतुद्रु या शतद्रु (सतलज), वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चनाव), परुष्णी (रावी) और सरस्वती। इन्हीं सात नदियों के कारण इस प्रदेश का नाम सप्त-सिन्धव पड़ा था। इसके अतिरिक्त और भी नदियाँ थीं। सरस्वती के पास ही दृषद्वती थी। सिन्धु में तृष्टामा, सुसर्तु, रसा, श्वेती, कुभा, गोमती, मेहत्नु और क्रुमु गिरती थीं। सिन्धु के नाम सुषोमा, विपाशका और आर्जिकीया भी थे। ऋग्वेद में (१०-७-५५) गंगा, यमुना का नाम भी आया है। पर यह नामोद्देश मात्र है। इससे इतना ही प्रमाणित होता है कि ऋग्वेद-कालीन मंत्रकार ऋषि को इन नदियों का पता था। यों यह सप्तसिन्धव के बाहर थीं।"[2]

"किसी समय पूर्वी अफ्रीका से लेकर पश्चिमी मलय द्वीप-समूह तक एक महाद्वीप था। (इस भूभाग में दक्षिणापथ भी सम्मिलित था।) बाद को महाद्वीप के कुछ अंश जलमग्न हो गए। (इसकी चर्चा तमिल के संघ-कालीन ग्रंथों में भी हुई है।) उसके कुछ ऊँचे भाग ही बाहर रह गये। संभव है कि ऋग्वेद-काल में यह द्वीप-समूह जलमग्न न रहा हो। इसका नाम 'गोंडवाना' महाद्वीप रखा गया है।

"ऋग्वेद से ऐसा प्रतीत होता है कि कभी आर्यों के निवास-स्थान के तीन ओर समुद्र था। सरस्वती नदी समुद्र में गिरती थी। ऋग्वेदकालीन आर्यों को भारत के उस भाग का पता न था, जो गंगा से पूर्व की ओर है। (दक्षिण की ओर के भूभाग का भी उनको पता न था।) क्योंकि वहाँ समुद्र था।......अर्वली (अरावली) और विन्ध्य पर्वतमालाएँ

---

२. 'अजयो गा अजयः शूर सोमम् अवासृजः सर्तवे सप्तसिन्धून्'—
(ऋग्वेद, १-३२-१२)

१. 'आर्यों का आदिदेश' (हिन्दी) पृष्ठ ३३—डॉ० सम्पूर्णानन्द,

बहुत प्राचीन हैं। भूगर्भ-शास्त्र के वेत्ताओं के निर्णय के अनुसार हिमालय इनकी अपेक्षा बहुत नया पर्वत है। वह अबभी दृढ़ नहीं है। धीरे-धीरे उठ रहा है। **दक्षिण की भूमि भी उत्तर की भूमि की अपेक्षा पुरानी** है। उत्तर में उत्तरप्रदेश से लेकर बंगाल तक की भूमि नदियों द्वारा पहाड़ों से लाई गई सामग्री से बनी है, और अबतक बनती ही जा रही है। वैज्ञानिक तो ऐसा कहते ही हैं कि हिमालय को समुद्र में से निकले अभी बहुत काल नहीं हुआ। संस्कृत पुराणों में भी उसके नये होने की बात मिलती है।"[1]

बाद के स्मृति-ग्रन्थों में आर्यों के फैलाव तथा नये प्रदेशों में बस जाने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। मनुस्मृतिकार ने ब्रह्मावर्त्त, मध्यदेश, आर्यावर्त्त और ब्रह्मर्षि देश (याज्ञिय देश) इन चारों देशों को आर्यजाति का अपना और निवास-योग्य भूभाग बताया है। यह भाग पूरा उत्तरापथ है, जो हिमालय से विन्ध्यपर्वत तक फैला हुआ है। इसके बाद के दक्षिण भाग (दक्षिणापथ) को मनुस्मृतिकार ने 'म्लेच्छ देश' बताया है।[2]

पूर्वोक्त प्रमाणों तथा उद्धरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वेद-काल से मनुस्मृति-काल तक आर्यों को सुदूर दक्षिण में स्थित तमिल प्रदेश के बारे में, और वहाँ की भाषा, साहित्य और संस्कृति के बारे में कुछ भी ज्ञान नहीं था। कुछ वेदकार ऋषि विन्ध्यपर्वत तथा विन्ध्य अटवी के उत्तरी भाग में बसी बस्तियों और टोलियों या जातियों के बारे में थोड़ा-सा ज्ञान रखते थे। यह आर्येतर जातियाँ थीं। उन जातियों के निवासस्थान आर्यावर्त्त (उत्तरापथ) की दक्षिणी सीमा पर बिखरे हुए थे। संभवतः उन्हीं वन्य जातियों का परिचय पाकर ऐतरेय ब्राह्मण में आन्ध्रों को दस्यु बताया गया है। उन्हीं वन्य जातियों को मनुस्मृतिकार विभ्रम से 'द्रविड' समझ बैठा। उन दिनों आर्य पंडितवर्ग में प्रचलित 'द्रविड' शब्द यूनानी व्यापारियों तथा जैन-बौद्ध प्रचारकों द्वारा प्राप्त 'दमिल' 'द्रमिल' या 'द्रमिड' शब्द का ही रूपान्तर है।

ऐसी ही गलती तमिल के प्राचीन निघंटुकारों ने आर्यों के साथ की है। तमिल निघंटुओं में 'आर्य' शब्द का 'म्लेच्छ' (निकृष्ट, अधम) अर्थ दिया गया है। आर्य भाषा संस्कृति का प्रसार तमिल देश में प्रथमतः कुछ ऋग्वेदकालीन महर्षियों से; बाद को यूनानी व्यापारियों से, जो आर्य बने हुए थे, और फिर जैन साधुओं तथा बौद्ध भिक्षुओं से ही बराबर हुआ करता था।

जैसे आर्यों को विन्ध्याटवी के दक्षिणी ओर के बारे में बहुत स्वल्प ज्ञान

---

१. मनुस्मृति (संस्कृत) दूसरा अध्याय, श्लोक १७-२३
२. वही, परिशिष्ट (ड), पृष्ठ २२६

था, उसी प्रकार संघपूर्व तथा संघारंभकालीन तमिलवालों को विन्ध्य के उत्तर में सुदूर फैले हुए उत्तरापथ के बारे में बहुत कम जानकारी थी। जो कुछ आर्यभाषा और संस्कृति के बारे में तमिल लोगों का ज्ञान था, वह 'उत्तरापथ' से आये हुए यायावर आर्यो तथा यवनों से प्राप्त हुआ। संघकाल में (ईसवी पूर्व पाँचवीं शती से ई० दूसरी शती तक) बहुत-सी आर्य विषयक एवं उत्तरापथ-संबंधी जानकारी तमिलों को मिल चुकी थी। यह जानकारी प्रत्यक्ष अनुभव या आँखों-देखी नहीं थी। 'आर्षवाक्यम् प्रमाणम्' या 'आप्तवाक्यम् प्रमाणम्' की विश्वस्त भावना से बहुत-सी बातें स्वीकार कर ली गयी थीं।

'उत्तरापथ' संबंधी बातें 'तोल्काप्पियम्' में बहुत कम आती हैं। संघकालीन रचनाओं में (लगभग २० ग्रन्थों में बहुत-से आर्यसंबंधी विषय पाये जाते हैं। उनमें ये विषय प्रमुख हैं :

१. अक्किनि (अग्नि) २. अगत्तियन् (अगस्त्य), ३. अकलिकै, (अहल्या), ४. अनिरुत्तन्, ५. आतिचेटन् (आदिशेष), ६. आरियर (आर्य), ७. इन्तिरन् (इंद्र), ८. इयक्कन (यक्ष), ९. इयमन् (यम), १०. इरति-कामन् (रति और कामदेव), ११. इराम कतै (रामकथा), १२. शिवलीलायें, १३. इराचचूयम् (राजसूय याग), १४. कृष्णलीलायें, १५. पलरामन् (बलराम), १६. महाभारत की चर्चा और कुछ घटनाओं का निर्देश, १७. पिरकलातन् (प्रह्लाद), १८, अमण् मुनिवर् (दिगम्वर जैन साधु), १९. मोरियर् (मौर्य), २०. यवनर् (यवन) इत्यादि।

ये सव विषय लगभग सात सौ वर्षों की अवधि में तमिल देश के साहित्य-ग्रन्थों की चर्चा में आये हैं।

तमिल के संघकालीन ग्रन्थों में 'उत्तरापथ' के लिए 'वडपुलम्'[1] और 'वडपॉळिल्'[2] (उत्तरी देश) शव्द मिलते हैं। यह शव्द भी प्राय: विंध्य पर्वत के आस-पास के प्रदेशों का ही निर्देश करते थे। उस ज़माने में प्रवासी तथा घुमंतू आर्यो का वड़ा आश्रय-स्थान आन्ध्र प्रदेश का उत्तरी भाग था। आर्य-संस्कृति तथा भाषा-साहित्य के प्रचार का सशक्त केन्द्र वही था। अत: उत्तरी देश तथा उत्तरी भाषा (वडमोलि), उत्तरी देशवासी (वडवर्, वडुकर्, वडपुलत्तार्) आदि शव्दों से, विन्ध्यारण्य के प्रान्त में अपना अड्डा जमाकर वस गये आर्यों तथा आर्यधर्मावलंवियों की भूमि, भाषा और टोली का निर्देश किया जाता था। कुछ ऐसे प्रमाण भी हैं कि उस समय के इने-गिने कवियों को हिमालय तक का ज्ञान (सुना हुआ) भी था। 'दक्षिणापथ' तथा 'उत्तरापथ' का सही, पूरा वोध ईसवी

---

१. पुरनानूरु (तमिल) पद्य - ५२
२. परिपाटल ([illegible]) पद्य - ५

तीसरी-चौथी शतियों में ही दोनों पक्षों को हुआ था।

द्रविड-संस्कृति की परम्परा

संस्कृति विकासशील समाज की परम्परागत थाती है। आदान-प्रदान, परिवर्तन, प्रगति और समन्वय ये सब संस्कृति के अनिवार्य अंग हैं। इन्हींके सहारे सांस्कृतिक परम्परा बढ़ती और फैलती है। कोई भी मूल संस्कृति बाहरी प्रभाव और आकर्षण से अछूती नहीं रह सकती। इसलिए सभी प्राचीन संस्कृतियाँ, मौलिक या विशुद्ध कहलाने पर भी, असल में मिली-जुली हैं। समन्वय और बदलती हुई भावना एवं परम्परा को वे प्रकट करती हैं।

समन्वयशील संस्कृति उस मूल नदी के समान होती है, जो कई उपनदियों का संग पाकर महानदी बनती है। उस महानदी में से कई छोटी-मोटी शाखाएँ निकलती हैं। उनके रूप-रंग और नाम बदल जाते हैं। किन्तु उनका उत्स वही कहलाता है, जो मूल नदी का गोमुख होता है।

इसी प्रकार संस्कृति भी शुरू में गंगोत्री के पर्वतीय नाले की तरह निकलकर स्थान, समय और साधनों का सहारा पाकर महानदी बन जाती है। उसमें से कई शाखाएँ-उपशाखाएँ निकलती हैं। वे अपना अलग-अलग पारम्पर्य रचा लेती हैं। उन सभी आदि, आश्रित, उपाश्रित और मिश्रित परम्पराओं का मूल उत्स तो वही गोमुख होता है, जो मूल धारा को जन्म देता है।[1]

संसार की विशुद्ध और स्वतंत्र संस्कृतियों में द्रविड (तमिल) संस्कृति भी एक है। आर्य-संस्कृति के समान द्रविड-संस्कृति भी प्राचीन, समृद्ध और परम्परागत है। किन्तु आर्य-संस्कृति की सार्वदेशिक प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि द्रविड-संस्कृति को प्राप्त नहीं हुई है। आधुनिक इतिहासकार पाश्चात्य और भारतीय भी जिस द्रविड संस्कृति की कल्पना करते हैं, वह भ्रामक और विवादास्पद है। सिन्धुघाटी से लेकर आफ्रीका भूखंड तक फैली तथाकथित 'द्रविड-संस्कृति' तमिल परिवार की विशुद्ध संस्कृति नहीं हो सकती। केवल कुछ शब्दों, वाक्यों तथा अभिव्यक्तियों या आचार-विचारों के साम्य का उद्धरण देकर 'सुविशाल द्रविड-संस्कृति' की स्थापना नहीं की जा सकती है। इससे यही बखेड़ा खड़ा होगा, सिन्धुघाटी के आदिनिवासी होने का दावा आज के तमिलभाषी मात्र नहीं, कन्नड, तेलुगु, कुई, ब्राहुयी, कोण्ड आदि सभ्य और अर्ध-सभ्य जातीय भी कर सकते हैं। इसी प्रकार आर्य-संस्कृति के सपूत

---

१. तमिल के प्राचीन साहित्य-ग्रन्थों में संस्कृति के लिए 'आरु' शब्द भी प्रचलित था। इसका अधिक प्रचलित अर्थ 'नदी' होता है। संस्कृति के लिए मरपु, पण्पु निलै, कलाचारम् आदि शब्दों का भी व्यवहार होता है। किन्तु आज 'पण्पाडु' शब्द ही संस्कृति के अर्थ में पूर्णतया समादृत शब्द है।

होने का दंभ न केवल गौरांग, लंबे-चौड़े व्यक्ति ही कर सकते हैं। ऋग्वेद में निर्दिष्ट 'श्वेतांग मित्र' (श्वित्न्य) को तथाकथित दास-दस्यु जातियों में भी आज अधिकत: पा सकते हैं। अत: यह मानना उचित होगा कि कोई भी मूल संस्कृति आज विशुद्ध नहीं कही जा सकती है। उसमें मिलावट है। परन्तु मिश्रित होने पर भी अपनी मूल परम्परा के कारण वह विशिष्ट संस्कृति कहलाती है।

आर्य तथा आर्येतर (दास, दस्यु आदि) संस्कृतियों का मिश्रण ऋग्वेद-काल में ही हो चुका था। ऋग्वेद-काल के संबंध में जितने मत-मतान्तर हैं, उतने ही आर्येतर-संस्कृति के परिचायक ग्रंथों के रचनाकाल के बारे में भी हैं। ऋग्वेद-काल ईसा पूर्व ६००० से ३००० तक माना जाता है। प्रसिद्ध भारतीय इतिहास-कार रमेशचन्द्र दत्त ईसा पूर्व २००० से १४०० तक मानते हैं। लोकमान्य तिलक, डॉ० सम्पूर्णानन्द आदि विद्वान तो अधिक प्राचीनता सिद्ध करते हैं। यह भी एक परम्परागत परिपाटी है। इतिहास में स्वतंत्र तथा सुलझे हुए अवलोकन का अभाव ऐसे पूर्वाग्रह, पिष्टपेषण और मनगढंत अनुमान को प्रश्रय दे डालता है।

महाभारत में द्रविडों को कामधेनु के थन से (स्वेद से) उत्पन्न जाति बताया गया है।[1] ऋग्वेद में जो आर्यविरोधी जातियों और कबीलों का उल्लेख है, उनसे 'द्रविड' का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस विस्फोटक विचार का न तो कोई सिद्ध प्रमाण ऋग्वेद में मिलता है और न तमिल के प्राचीनतम ग्रंथों में कि आर्यविरोधी जातियों का नाम 'द्रविड' है। जो 'द्रविड' शब्द की सही व्युत्पत्ति से बिल्कुल अन-भिज्ञ थे, उन्हींकी यह कपोल-कल्पना है।

जैसे सप्त सिन्धव प्रदेशों में या आर्यावर्त में आर्य जातियाँ मूल निवासी के रूप में निवास करती थीं, वैसेही दक्षिणापथ में तमिल तथा तमिल परिवार की प्राचीन-तम स्वतंत्र जातियाँ भी रहती थीं। आर्यो से परास्त कुछ आदिवासी कबीले काला-न्तर में पीछे हटकर दक्षिणापथ में आश्रय पा गये होंगे, और वे द्रविडों के साथ घुल-मिल गये होंगे। इसी तरह कई आर्य जातियाँ भी द्रविडों से प्रभावित होकर तथा द्रविड़ों को प्रभावितकर घुल-मिल गयी हैं। ये भी द्रविड जाति के ही कह-लाते हैं। यों इनकी मूल परम्परा तो आर्य भी और द्रविड भी है। किन्तु जहाँ आकर आश्रय मिलता है, उसीका प्रभाव अधिक होता है।

तमिल के प्राचीन साहित्य में नदी को संस्कृति का प्रतीक माना गया है। तोलकाप्पियम् में ३-१८६ 'आरु' शब्द प्रथा तथा संस्कृति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'आरु' का प्रचलित अर्थ नदी होता है। संस्कृति भी एक नदी है। वह गति-शील है, जीवन को श्रेष्ठ बनानेवाली है। इसीलिए संस्कृति का मूल स्थान नदी

---

१. 'असृजत् पह्लवान् पुच्छात् प्रस्रवात् द्राविडान्···।' महाभारत, राजसूयक पर्व (१, १७४, १७५)

तट का भूभाग माना जाता है। तमिल संस्कृति की परम्परा भी 'मरुत निलम्' (नदीतट के भूभाग) से शुरू होती है।

तमिल संस्कृति का सबसे पहला परिचय तोलकाप्पियम् से मिलता है। यह लक्षणग्रंथ पाणिनि की अष्टाध्यायी से भी प्राचीन माना जाता है। इतिहासकार इसके कालनिर्णय में भी एकमत नहीं हैं। किन्तु अधिकांश विद्वानों का मत है कि तोलकाप्पियम् के रचयिता तोलकाप्पियर् पाणिनि से एक-दो शताब्दी के पूर्ववर्ती थे।

तमिल प्रदेश में तीन साहित्य-परिषदें पांडिय राजाओं के द्वारा चलाई गयी थीं। इनको 'संघम्' कहते हैं। प्रथम, मध्यम और अन्तिम के तीन संघ पांडिय प्रदेश में सम्पन्न हुए। इनमें तमिल विद्वान और कवि एकत्र होकर ग्रंथ-रचना करते थे। पंडितों की साहित्य-परिषद् को तमिल में 'चंकम्' कहते हैं। इसका अर्थ 'संघ' होता है।

(अ) संघकाल

तीनों संघों का विवरण पहली बार तमिल के रीतिग्रंथ 'इरैयनार अकप्पो-रुळ्' में उसके व्याख्याकार नक्कीरर् ने दिया है। उनके मतानुसार प्रथम परिषद (तलैच्चंकम्-आदि संघ) दक्षिण मधुरा में काय्चिन वळुति नामक पाण्डिय राजा के तत्त्वावधान में स्थापित हुई थी। यह ४४४० वर्ष तक चली। इस संघ के अध्यक्षों और अभिभावकों में शिव, कुवेर, अगस्त्य, मुरुकन् (स्कन्द) मुरंचियूर मुटि-नाकनार्, आदि प्रतिष्ठित विद्वान थे। इनकी संख्या ५४९ थी। इस परिषद में साहित्य-रचना करनेवालों की संख्या ४४४९ थी। इस दीर्घकालीन परिषद के संरक्षक व संचालक पाण्डिय नरेश थे। ये काय्चिन वलुति से लेकर कटुंकोन तक ८९ थे। इनमें सात पांडिय राजा स्वयं विद्वान कवि थे। इनको परिषद के ग्रंथ-कार होने का श्रेय मिला। इस अवधि में परिपाटल, मुतुनारै, मुतुकुरुकु, कलरियाविरै आदि सैकड़ों ग्रंथ रचे गये। इस परिषद-काल का प्रामाणिक लक्षणग्रन्थ अगस्त्य द्वारा रचित 'अकत्तियम्' नामक तमिल ग्रन्थ था। इस आदि परिषद का स्थान 'तेन् मतुरै' (दक्षिण मधुरा) वर्तमान मधुरै शहर से सैकड़ों मील दक्षिण में बसा हुआ था। वह स्थान जलप्रलय (कटल्कोळ्) में विनष्ट हो गया। वहाँ तक समुद्र बढ़ आया। उस काल सारे ग्रंथ उसी जलप्रलय में नष्ट हो गये। इस प्रथम संघ का समय ऋग्वेद-काल का अन्तिम चरण माना जाता है।

पांडिय राजधानी उक्त दक्षिण मधुरा के नष्ट होने से, बाद को 'कवाट-पुरम्' नामक स्थान पर बसायी गयी। यह भी आज के मधुरै शहर से सुदूर दक्षिण में था। यहाँ दूसरी परिषद की स्थापना पांडिय नरेश वेण्तोळ् चेळियन् ने की। प्रथम परिषद् के अभिभावक पांडिय नरेश निलन्तरु तिरुविर् पांडियन ने इस परि-षद् को समृद्ध किया। इसे 'इटैच् चंकन्' (मध्यम संघ) कहते हैं। इसके अध्यक्ष थे अकत्तियनार (अगस्त्य), तोलकाप्पियर, इरुन्तैयुर करुंकोषि, मोशि, वेळ्ळूर काप्पि-यन, चिरुपांडरंगन, तिरैयन्मारन, तुवरैक्कोन, कीरन्तै आदि ५९ पंडित तथा सुकवि।

इस परिषद्-काल में ३७०० कवि अपनी रचनाओं को परिषद के अध्यक्षों व निर्णायकों को सुनाकर समादर पाते थे। परिषद-संरक्षक ५९ पांडिय नरेश थे। इनमें पांच नरेश स्वयं सुकवि थे। उनको ग्रंथकार होने का गौरव प्राप्त था। यह संघ ३७०० वर्ष तक चला। इस अवधि में कलि, कुरुकु, वेण्तालि, वियाळमालै, अकवल आदि कई ग्रंथ रचे गये। इस परिषद् के अन्तिम संरक्षक पांडिय नरेश का नाम था मुटत्तिरुमारन। इसके अन्त में भी पहले की तरह जलप्रलय हुआ। समुद्र के प्रकोप से कवाटपुरम्, जो पांडिय राजधानी और परिषद् का केन्द्र था, पूरा नष्ट हो गया। मध्यम संघ के ग्रंथों में आज तोलकाप्पियम् ही उपलब्ध है। मध्यम संघ का काल लगभग वाल्मीकि रामायण का काल माना जाता है। तोलकाप्पियम् के व्याख्याकार नच्चिनार्कि नियर ने (ई० दसवीं शताब्दी) लिखा है, "दूसरे महाप्रलय के अन्तिम समय में, जब रामचन्द्र जी का अवतार हुआ, मध्यम संघ (इटैच्चंकम्) की स्थापना हुई थी।" प्राय: इसी मत को बाद के विद्वानों ने भी स्वीकारा है।

अंतिम संघ (कटैच् चंकम्) वर्तमान मधुरै शहर से थोड़ी दूर दक्षिण में पांडिय नरेश मुटत्तिरुमारन ने स्थापित किया था। इसके वंशज राजाओं ने इस संघ का संरक्षण किया। अंतिम संरक्षक राजा का नाम था उक्किर पेरुवलुति। इस परिषद् के अध्यक्षों और पंडितों के मार्गदर्शन में तमिल-साहित्य की अच्छी वृद्धि हुई। यह संघ १८५० वर्ष तक चला। तमिल साहित्य का यही स्वर्णयुग था। इसी काल को संघकाल कहते हैं। इस अवधि में रचे हुए तथा संकलित ग्रंथों को ही 'संघकालीन साहित्य' कहते हैं। यह काल महाभारत के बाद का माना जाता है। इतिहासकारों के बहुमत ने इस काल को ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दी से, ईसवी दूसरी शताब्दी के मध्य तक को माना है। संघकाल की प्राय: सभी रचनाएँ आज उपलब्ध हैं। इस काल में रचे हुए नेटुन्तोकै, कुलरुन्तोकै आदि आठों पद्य-संग्रह आज मिलते हैं।

उक्त तीनों संघों का विवरण अंतिम संघ के कवि नक्कीरर् ने दिया है। इसका समर्थन तोलकाप्पियम् के व्याख्याकार पेराचिरियर (ई० आठवीं या नौवीं शती के) एवं तमिल महाकाव्य शिलप्पतिकारम् (ई० दूसरी शती) के व्याख्याकार अटियार्क् नल्लार ने (ई० दसवीं शती के) किया है।

अत: तोलकाप्पियर् को मध्य संघ के अंतिम भाग में जीवित प्रकाण्ड तमिल पंडित मानते हैं। यह काल पाणिनि से एक-दो शती पूर्व का था।

(आ) ऐन्द्र व्याकरण

तोलकाप्पियर् को ऐन्द्र व्याकरण का ज्ञाता बताते हैं उनके समकालीन कवि पनंपारनार। इन्होंने तोलकाप्पियम् के आमुख में एक प्रशस्ति गीत (चिरप्पुप् पायिरम्) लिखा है। इसमें तमिलभाषी प्रदेश की सीमा, ग्रंथ की विशेषता, उसके प्रस्तुत करने का विवरण, उस समय के परिषद् के संरक्षक पांडिय राजा का नाम, ग्रंथ की उपादेयता के निर्णायक तमिल विद्वान, ग्रंथकार तोलकाप्पियर की योग्यता आदि बातें बतायी हैं। उस

प्रशस्ति-पद्य का एक अंश है, "मलकुनीर वरैप्पिन् ऐन्तिरम् निरेन्त तोल्काप्पि-यर्···" इसका अर्थ है, "बड़े जलाशयों से घिरे प्रदेश में इन्द्र द्वारा रचित लक्षण-ग्रंथ से सुपरिचित यह तोलकाप्पियर..."

'जलाशयों से घिरे प्रदेश' को सप्तसिंधव बताना उचित होगा। वहाँ इन्द्र द्वारा प्रणीत व्याकरण ग्रंथ को इधर तमिल देश में अच्छी तरह जाननेवाले थे तोलकाप्पियर्। अपने पूर्व तमिल ग्रंथकारों की रीति को अपनाकर तमिल भाषा के वर्ण, शब्द तथा अर्थ की विवेचना उन्होंने की। वह भी तमिलभाषी भूभाग (उत्तर में वेंकट गिरि, दक्षिण में कुमरि नदी तथा पूर्व और पश्चिम में समुद्रतटों तक व्याप्त प्रदेश) में प्रचलित व्यवहार और आचार-विचार के आधार पर तोल-काप्पियर् ने अपने लक्षणग्रंथ का निर्माण किया। यह आशय भी उक्त प्रशस्तिगीत में स्पष्ट बताया गया है।

ध्यान देने की बात है कि तौलकाप्पियर् के समय में आर्यभाषा तथा साहित्य का तमिलनाडु में कुछ-कुछ प्रसार तो हो चुका था। किन्तु तमिलभाषा एवं साहित्य उस समय स्वयं ही पूर्णतः विकसित थे। उस काल के तमिल विद्वान आर्य-प्रभाव को यथारीति अपनाने लगे थे। पर अपनी सत्ता और विशिष्टता को तमिल ने नहीं खोया। तोलकाप्पियर् को मौलिक लक्षणग्रंथ रचने की प्रेरणा ऐन्द्र-व्याकरण से मिली। ग्रंथकार ने अपने पूर्ववर्ती तमिल-लक्षणग्रंथों से यथोचित सहायता ली है। परन्तु समयानुकूल कई नयी बातों का भी समावेश किया है। इनमें से कुछ आर्यसम्मत या आर्यप्रदेशों में प्रचलित थीं, जो उनके समय में तमिल देश में भी पायी जाती थीं। अन्य अधिकांश बातें तमिल प्रदेश की विशुद्ध संस्कृति का ही परिचय देती हैं।

संस्कृत में, पाणिनि के व्याकरण ग्रन्थ के प्रचलन के बाद, 'ऐन्द्र व्याकरण' फीका पड़ गया।[1] वह नामशेष रह गया। पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती व्याकरण-ग्रन्थों का आधार लेकर अपनी मेधाशक्ति से सर्वोत्तम व्याकरण ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' की रचना की थी। इसी कारण पाणिनि-प्रशस्ति में पतंजलि ने महाभाष्य में लिखा है, "पाणिनि का शब्दशास्त्र महान् तथा अच्छी तरह रचा गया समृद्ध ग्रन्थ है (पाणिनीयम् महत् सुविहितम्)[2]; पाणिनि को बच्चा-बच्चा जानता है (आकुमारम् यशः पाणिनेः)।[3]" काशिकाकार ने लिखा है, "पाणिनि का शब्दशास्त्र इस लोक में अत्यन्त प्रशस्त है (पाणिनि शब्दो लोके प्रकाशते)[4]" इत्यादि।

---

१. आधार—'कथासरित्सागर', कात्यायन और पाणिनि का शास्त्रार्थ-प्रसंग।

२. अष्टाध्यायी का महाभाष्य, ३, २, ३

३. वही, १, ४, ८९

४. काशिकावृत्ति, २, १, ६

अतः यह स्पष्ट है कि सूत्रकार पाणिनि ने अपने पूर्वकालिक व्याकरण ग्रन्थों को[1] फीका और अप्रचलित बना दिया। ध्यान देने की बात है कि पाणिनि ने तमिल या द्रविड देश, भाषा या संस्कृति के बारे में कुछ भी नहीं कहा है। उनका ज्ञान कलिंग देश तथा अश्मक (गोदावरी तट) तक ही सीमित था। विन्ध्याचल की नदियों में एक चर्मण्वती का उल्लेख पाणिनि ने किया है।[2] उसके बाद दक्षिण की ओर उनका कोई संकेत नहीं है। पाणिनि के भौगोलिक ज्ञान तथा उनके समय के संस्कृतभाषा के प्रचलन-क्षेत्र के बारे में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने 'पाणिनिकालीन भारत' (पृष्ठ ५) में स्पष्ट लिखा है :—

"यास्क के समय में ही वैदिक भाषा का युग लगभग समाप्त हो चुका था। नये-नये ग्रन्थ, अध्ययन के विषय एवं शब्द सब ओर जन्म ले रहे थे। गद्य और पद्य की नवीन भाषाशैली प्रभावशाली शक्ति के रूप में सामने आ रही थी ··· ··· संस्कृत भाषा का विस्तार-क्षेत्र, उत्तर में कंबोज-प्रकण्व (पामीर-परगना) से लेकर पश्चिम में कच्छ-काठियावाड, दक्षिण में अश्मक (गोदावरी तट का प्रदेश) और पूर्व में कलिंग एवं सूरमस (असम की सूरमा नदी का पहाड़ी प्रदेश) तक फैला हुआ था—जैसा कि अष्टाध्यायी के भौगोलिक उल्लेखों से विदित होता है। सम्भव है, इस विशाल प्रदेश में स्थानीय बोलियाँ भी रही हों; किन्तु एकच्छत्र साम्राज्य का पट्टबंध संस्कृत के ही माथे पर बँधा हुआ था।"

इसलिए यह स्पष्ट है कि पाणिनि-काल तक संस्कृत भाषा का विस्तार तमिल प्रदेश में नहीं हुआ था। कुछ महर्षियों और तपस्वी ब्राह्मणों के आगमन से पाणिनि के पूर्वकालीन श्रुति तथा स्मृति-ग्रन्थों का परिचय तमिल के इने-गिने पंडितों को था। जनसाधारण तो संस्कृत और आर्य-संस्कृति से अछूता ही था। यदि तोलकाप्पियर् पाणिनि के बाद हुए होते, तो वे अवश्य पाणिनि से प्रभावित होते और 'ऐन्द्र परिचित' के बदले में 'पाणिनीय परिचित' ही कहलाते। पाणिनि की तरह तोलकाप्पियर् ने भी अपनी मौलिक मेधाशक्ति से ऐसा उत्तम और पूर्ण ग्रन्थ लिखा है, जिसके सामने पूर्वप्रचलित सारे तमिल लक्षण-ग्रन्थ टिक नहीं सके। तोलकाप्पियम् की वही प्रसिद्धि तमिल प्रदेश में थी, और अब भी है, जो बाद को उत्तरापथ में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' की है।

प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में 'ऐन्द्र व्याकरण' का उल्लेख स्पष्ट मिलता है।

तैत्तरीय संहिता में बताया गया है, "देवताओं ने इन्द्र से प्रार्थना की,

---

१. पाणिनि के पूर्व प्रचलित आठ प्रशस्त व्याकरण ग्रन्थों के रचयिता हैं:
"इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्न (आ) पिशली शाकटायनः। पाणिनि (अ) मर जैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः।" (आदि शाब्दिक—पूर्व व्याकरणकार)

२. अष्टाध्यायी (संस्कृत), ८, २, १२

'वाक् का व्याकरण करो।' इन्द्र ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ध्यानपूर्वक भाषा (वाक्) का व्याकरण किया। इसलिए इस 'वाक्' (संस्कृत भाषा का) 'व्याकृता वाक्' (व्याकरण शिक्षित वाणी) नाम पड़ा है।"[1]

पतंजलि ने अपने महाभाष्य में लिखा है, "बृहस्पति ने सहस्र वर्ष तक अपने शिष्य इंद्र के लिए एक-एक शब्द का शुद्ध रूप बनाकर 'शब्दपारायण' का व्याख्यान किया।"[2]

सामवेद के ऋक्तंत्र नामक प्रतिशाख्य ग्रन्थ में लिखा है कि, ब्रह्मा ने बृहस्पति को, बृहस्पति ने इन्द्र को, और इन्द्र ने भारद्वाज को व्याकरण की शिक्षा दी और भारद्वाज से वह व्याकरण अन्य ऋषियों को प्राप्त हुआ।[3]

मैत्रायणी संहिता (४, ५, ८) में वाणी का विभेद करने और उसे स्पष्ट व्यक्त करने का श्रेय इन्द्र को दिया गया है। ऋग्वेद के एक सूक्तांश 'वाग्वैवराच्याकृता' की व्याख्या करते हुए सायण ने इस वाक्यांश का अर्थ 'ऐन्द्र व्याकरण' बताया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि ऐन्द्र व्याकरण बाद के पाणिनि-व्याकरण के प्रचलन के कारण लुप्त हो गया।

ऐन्द्रव्याकरण तमिल प्रदेश में प्राचीन काल में प्रचलित था। इने-गिने विद्वान ही इसे पढ़ते थे। तमिल महाकाव्य शिलप्पतिकारम् में (ई० दूसरी शती) इस बात का प्रमाण मिलता है।[4] चेनावरैयर्, आटियार्कु नल्लार आदि व्याख्याकार (ई० १०-१२ शती) एकमत से स्वीकारते हैं कि ऐन्द्र व्याकरण तोलकाप्पियर् तथा उनके गुरु अगस्त्य के लिए मार्गदर्शक ग्रन्थ था।

ऐन्द्र व्याकरण का यह प्रसंग तोलकाप्पियम् के काल-निर्णय तथा विषय-परिशीलन में अत्यन्त सहायक है। आर्यभाषा ग्रन्थ से प्रेरणा पाकर तोलकाप्पियर् ने अपने समय के जन-जीवन, सामाजिक स्थिति, लोक-संस्कृति तथा स्वदेशी सभ्यता का अपने ढंग से प्रतिपादन किया है। इनके बाद के संघकालीन पद्यों में भी तमिल जनता की विशुद्ध तथा समान्वित संस्कृति का विशद विवरण मिलता है।

---

१. देवा इन्द्रमब्रुन्निमां नो वाचं व्याकुर्वीति ···ताभिन्द्रो मध्यतो वक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते। —तै० सं० ६, ४, ७, ३]

२. बृहस्पतिरन्द्राय दिव्यं वर्ष सहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणम् प्रोवाच।—महाभाष्यम्, पास्पशाह्निकम्।

३. इदमक्षरं छन्दसां वर्णशः समनुक्रान्तम्, यथाचार्या ऊचुर्ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच; बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भारद्वाजाय, भारद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विदम् अक्षर साम्नायमित्याचक्षते। —ऋक्तंत्र १,४

४. 'विण्णवर कोमान विळुनूल' (देवराज इन्द्र का प्रसिद्ध श्रेष्ठ लक्षण-ग्रन्थ)— शिलप्पतिकारम् (२, ९९-१००)

प्रथम तथा द्वितीय संघों (परिषदों) के अन्त में हुए जलप्रलय का वर्णन संस्कृत-ग्रन्थों, सिंहल के महावंश, तथा तमिल-ग्रंथों में पाया जाता है। तीसरे संघ-काल के इरैयनार अकप्पोरुल्, कलित्तोकै, पुरनानूरु, कुरुंतो, आदि गाथा-संग्रहों में तथा वाद के महाकाव्य शिलप्पतिकारम् में समुद्र के उफान से पांडियराजधानियों के नष्ट होने का वर्णन मिलता है।

दूसरे संघ की पाण्डिय-राजधानी कवाटपुरम् का उल्लेख वाल्मीकि रामायण में आया है।

"ततो हेममयं दिव्यं मुक्तामणि विभूषितम्।
युक्तं कवाटं पाण्डयानां गत्वा द्रक्ष्यथ वानराः॥[1]

सुग्रीव ने हनुमान आदि वानरों को सीता की खोज में दक्षिण दिशा की ओर भेजते हुए यह कहा है, "वानर साथियो! चोलदेश देखने के वाद पाण्डिय राजधानी 'कवाटपुरम्' में जाकर खोजो, जो स्वर्णमय है, मोती, माणिक आदि से समृद्ध, श्रेष्ठ और भव्य नगर है।"

वाल्मीकि रामायण के प्रामाणिक प्राचीन व्याख्याकार गोविन्दराज ने कवाटम् का अर्थ उस नाम का नगर ही वताया है। कवाटपुरम् समुद्रतट पर था। वहाँ मोती का वाज़ार प्रसिद्ध था। वहाँ के विशिष्ट मोती का नाम 'पाण्डय-कवाटकम्' था। इसका उल्लेख कौटल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में (ईसा पूर्व तीसरी शती) किया है।[2] संस्कृत कोशकारों ने कौटल्य को 'द्रामिल' वताया है। इसका तात्पर्य है, 'द्रमिल (तमिल) भाषी या द्रमिल देशवासी।'

आशय यह है कि प्राचीन आर्य-संस्कृति के प्रचार के समय तमिल संस्कृति या दक्षिणापथ की संस्कृति अपना स्वतंत्र स्वरूप रखती थी। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने यह साबित करने का प्रयत्न किया है कि द्रविड़ दस्यु, दास या असुर थे, जो आर्य-विरोधी थे। इस अधकचरे अनुसन्धान का अकाट्य प्रमाणों से निराकरण किया गया है। महान् विद्वान् स्व० रा० राघवय्यंगार ने अपने सुप्रसिद्ध अनुसंधान-ग्रंथ 'तमिळ वरलारु' (तमिल का इतिहास) में दो अध्याय लिखे हैं—एक 'तमिल-भाषी असुर नहीं हैं,' दूसरा 'तमिल-भाषी गन्धर्व-परम्परा के हैं।' इन दोनों विषयों के समर्थन में उन्होंने कई प्रमाण संस्कृत, अंग्रेज़ी तथा तमिल ग्रन्थों से प्रस्तुत किये हैं।[3]

ऋग्वेद में दस्युओं के लिए 'अनासा दस्युः' का प्रयोग कई वार आया है। इसका अर्थ है 'चपटी नाकवाले' या 'नासिकाविहीन'। इसके अलावा, दस्युओं के

१. वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा काण्ड, ४२, १३
२. कौटल्य-अर्थशास्त्र, दूसरा भाग, अध्याय ७३
३. तमिल वरलार (तमिल ग्रन्थ), पृष्ठ : ६१-८५

(ई) दस्यु और द्रविड़ : लिए 'अकर्मन्' (यज्ञ न करनेवाले), 'अदेवयु' 'अव्रत' (संस्कार-विहीन), 'अन्यव्रत' (विचित्र व्रतों से लिप्त) 'देवपीयु' (देवों से घृणा करनेवाले), 'मृध्रवाच्' (आक्रामक परुष वाणीवाले), 'श्यामवर्ण' आदि विशेषण दिये गये हैं। चुमुरि, शम्बर, शुष्ण आदि प्रमुख दस्युओं के नाम हैं।

दस्युओं के समान दासों को भी वेदों में दानवी प्रकृति के क्रूर शत्रु तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त बताया गया है। साथ ही, उन्हें 'शिश्नपूजक' (ऋग्वेद, ७.२१.५) १०, ९९.३, भी कहा गया है। प्रमुख दासों के नाम थे—इलीबिश, चुमुरि, धुनि, पिप्रु, वर्चिन्, शम्बर। आदिवासी कबीलों के नाम थे—किरात, कीकट, चाण्डाल, पर्णक, आदि [1]

---

१. वैदिक इण्डेक्स-भाग १ (हिन्दी अनुवाद)। 'दस्यु' तथा 'दास' शब्द 'वैदिक इण्डेक्स' के सम्पादक पाश्चात्य विद्वान् ए० ए० मैकडॉनेल तथा ए० बी० कीथ ने 'दस्यु' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है।"……और यही चपटी नाक-वाले (अनास्) उन द्रविड आदिवासियों से मिलते-जुलते हैं जिनकी भाषा उत्तर पश्चिम में मिलनेवाले 'ब्रहुइयों' में आजभी प्रचलित है…… ।"

इस संदर्भ के फुटनोट ८ में लिखा गया है, "इण्डियन एम्पायर, १,३९०, में व्यक्त यह विचार कि आधुनिक 'ब्रहुइ' ही वास्तविक द्रविड हैं, जब कि आधुनिक द्रविड मुण्डाभाषी जातियों के मिश्रण का परिणाम है, इस सिद्धान्त को असम्भाव्य बना देगा। किन्तु यह अधिक सम्भव मालूम होता है कि ब्रहुइयों की बोली में उत्तर भारत में बसी द्रविड जाति की परम्पराएँ ही सुरक्षित हों।" नवीन 'वेदभाष्यकार' के रूप में सम्मानित इन दोनों पाश्चात्य विद्वानों ने 'शूद्र' शब्द को दास और दस्यु का पर्यायवाची बताकर, उसे द्रविडवाची सिद्ध किया है। देखिए—"दस्यु और दास दोनों ही आर्य-नियंत्रण से स्वतंत्र अथवा अधीनस्थ दासों के रूप में आनेवाले आदिवासी हैं। यह मानना तर्क-संगत है कि बाद के ग्रंथों का 'शूद्र' वह आदिवासी था, जो आर्यों द्वारा पराधीन बना लिया गया था,·· आदिवासियों के ग्राम निश्चित रूप से वर्तमान किन्तु आर्यों की अधीनता या नियंत्रण के अन्तर्गत ही रहे होंगे····। प्रत्यक्ष में भारत के सभी आरंभिक कृषक ग्रामों की उत्पत्ति का स्रोत द्रविडों को मानते हैं।"

इस संदर्भ के फुटनोट (३८) में कहा गया है," · ऋग्वेद में दस्युओं को 'अनास्' (नासिकाविहीन) कहा गया है, जो शब्द द्रविडों के लिए तो भली प्रकार व्यवहृत हो सकता है ···।"

इन नवीन 'वेद-भाष्यकारों' का विभ्रम देखिए—आर्येतर दस्यु जाति के

ऊपर कहे गये दस्यु-लक्षण तथाकथित द्रविडों के लिए लागू नहीं होते। प्राचीन तमिल ग्रंथों में तमिलभाषियों की नाक की उपमा 'कुमिळम्पू' (तिल के फूल) के साथ दी गयी है। तमिल के प्राचीन पिंगल निघंटु (कोश) में 'तमिळ' शब्द का अर्थ मिठास तथा सरलता दिया गया है। यह शब्द भाववाचक है। ऋग्वेद में 'मृध्रवाच्' (परुष वाणी या आक्रामक वाणी वाले) शब्द से बिलकुल उलटे अर्थ का ही बोध 'तमिळ' शब्द का होना पाते हैं। इसी मिठास और भव्यता के अर्थ में 'तेनुगु' (तेलुगु) शब्द भी बना है, जो आंध्र प्रदेश की व्यवहार-भाषा है। 'कन्नड' का अर्थ भी प्राचीनता तथा सुन्दरता के आशय में प्रचलित है।

तमिल साहित्य में अपने प्रदेश के नर-नारियों के लिए मतिमुकम् (चन्द्र-वदन), तळिर् निरम् (हलका सुनहला रंग—कोंपल का रंग), मुत्तवेण पल् (मोती जैसा सफ़ेद दाँत), नरुनाट्रम् (सुगंधित देह), वेय्त्तोल (उठी हुई भुजाओंवाले), चेव्वाम्बलितल् (कुमुद सरीखी लाल होंठवाली), इनितुडैमै (मधुर स्वभाव) आदि विशेषण दिये गये हैं।

इरैयनार अकप्पोरुळ (संघकालीन रचना) नामक लक्षण ग्रंथ में इस वृत्तांत का उल्लेख है कि देवों और असुरों के बीच में एकबार घमासान लड़ाई छिड़ी, तो उस समय के पांडिय नरेश ने दोनों पक्षों का मध्यस्थ रहकर सुलह करायी।[1]

प्राचीन तमिल ग्रंथों में उत्तरापथ के प्रति कोई विद्वेषी भावना नहीं पाई जाती। उत्तर दिशा को पुण्य दिशा[2] तथा उत्तर की भूमि को 'तोन्मूताट्टि' (वृद्ध देवी)[3] बताया गया है। उत्तरापथ (आर्यावर्त) को 'मरैयो रदेअम' वेद-द्रष्टा या वेदज्ञाता (वेदपाठी पंडितों का देश) कहा गया।[4]

उत्तर और दक्षिण के समन्वय का और एक प्रमाण संघकालीन कृति 'मतुरैक्कांचि' में मिलता है, "उत्तर में मेरु पर्वत की घाटी में शंभुदेवी विराज रही थीं। यही सारे जम्बूद्वीप की अधिष्ठात्री देवी थीं। उत्तरापथ असुरों के भयंकर

लिए 'आदिवासी', 'द्रविड' आदि शब्दों का प्रयोग अपनी ओर से किया है। यह फूट फैलानेवाला दूषित और तथ्यहीन मन्तव्य है। ये 'भाष्यकार' तमिल भाषा और प्राचीन तमिल साहित्य से लेशमात्र भी परिचित होते, तो यह मनगढ़ंत मत प्रकट नहीं करते। इससे भी बुरी विडम्बना की बात यह है कि इस खोजहीन कपोल-कल्पना को अधिकांश भारतीय इतिहासकारों ने भी अक्षरशः अपना लिया है!—लेखक

१. इरैयनार अकप्पोरुल् (तमिल) कळवियलुरै।
२. सिलप्पतिकारम्, १,५:९४
३. मणिमेकलै (तमिल महाकाव्य)
४. तोलकाप्पियम्, सूत्र १०३५

आक्रमण से जब त्रस्त हुआ, तब वह देवी दक्षिण की ओर आ गयी। वह चोलदेश में बैठकर असुरों के नाश के लिए तपस्या करने लगी। उस स्थान का नाम 'चम्पावति' (शम्भुदेवी का स्थान) पड़ा है।[१]

जम्बूद्वीप को प्राचीन तमिलभाषी 'नावलन्तीवु' के नाम से पुकारते थे, जो मूल शब्द का अनुवाद है। वे जम्बूद्वीप को विदेश या शत्रुदेश नहीं मानते थे। हिमाचल को अपनी उत्तरी सीमा बतानेवाले कई तमिल नरेश हुए हैं। इनके अलावा, प्राचीनतम तमिल राजवंश पांडिय और चोल को चन्द्रवंशी तथा सूर्यवंशी होने का वर्णन संस्कृत एवं तमिल ग्रंथों में पाया जाता है। यह मत अर्वाचीन तमिल ग्रंथकारों का था। फिरभी आर्य-विरोधी होने का सबूत कहीं भी नहीं मिलता है। इन राजाओं ने अपनी राजधानियों में इन्द्र के सम्मान में उत्सव मनाये थे। इस बात का वर्णन मतुरैक कांचि, शिलप्पतिकारम्, मणिमेकलै आदि ग्रंथों में मिलता है। यदि द्रविड (तमिलर्)लोग दस्यु होते, तो अपने कुलनाशक ('दस्युहत्य,' 'दास-हत्य') इन्द्र की पूजा कदापि न करते।

तमिल भाषा में असुर के लिए 'अवुणर्' शब्द प्रयुक्त होता है। एक चोल राजा के द्वारा असुरों के विमान (उड़नखटोले) को नष्ट करने का वर्णन, संघ-कालीन ग्रंथ पुरनानूरु (३९), चिरु पाणाट्रुप्पटै (७९-८२), शिलप्पतिकारम् (२७-२९), मणिमेकलै (१-४) आदि में स्पष्ट पाया जाता है। असुर-विमान के लिए 'तूंकेयिल्' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

मनुस्मृतिकार ने स्पष्ट बताया है कि म्लेच्छ भाषा या आर्यभाषा जो भी बोलें, यदि वे चारों वर्णों के बाहर की जाति के हों, तो उन्हें 'दस्यु' समझना चाहिए।'[२]

प्राचीन तमिल लोग भी अपने विरोधियों, लुटेरों तथा आक्रमणकारियों को 'पकैवर्, नेव्वर, कलवेर वाल्नर' इन शब्दों से पुकारते थे। अतः किसीभी प्रति-ष्ठित विकासशील जाति के लिए बाहरी शत्रु का होना सहज है। इतना तो माना जा सकता है कि आर्यों से पराजित तथा त्रस्त कुछ जंगली जातियाँ उत्तरापथ को छोड़कर दक्षिणापथ के जंगलों में आकर बस गयी होंगीं। उनमें तथाकथित 'अनास' 'मृध्रवाच्' आदि लक्षण थोड़े-बहुत पाये जा सकते हैं। ऐसी छोटी-मोटी बातों के आधार पर सारे दक्षिणापथ के निवासी द्राविड़ों को आर्यविरोधी जाति, दस्यु, म्लेच्छ, दास, शूद्र आदि अमान्य नामों से पुकारना निरी कपोल-कल्पना है।

संस्कृत ग्रंथों में मानवजाति के अठारह मूल वर्ग या गण बताये गए हैं। वे हैं—देव, असुर मुनि, किन्नर, किंपुरुष, गरुड़, यक्ष, राक्षस, गंधर्व, सिद्ध, चारण,

---

१. तमिल वरलारु—(रा० राघवय्यंगार) पृष्ठ : ६६

२. मुख बाहूरूपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छ वाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृतः।—मनुस्मृति १०,१५.

विद्याधर, नाग, भूत, वेताल, तारागण, आकाशवासी और भूतलवासी। इस बात का उल्लेख संघकालीन पुरनानूरु में भी मिलता है। उसमें 'पतिनेण् कणन्' (अठारह गण) कहा गया है। गांधर्व विवाह (प्रेमी युवक-युवती का स्वच्छंद मिलन) गांधर्व विद्या (संगीत तथा नाट्य-कला) गांधर्व प्रथा (प्रेमातुर होना) आदि बातें प्राचीन तमिल लोगों की सांस्कृतिक परम्परा में विशेष स्थान रखती है। गांधर्व प्रथा और गांधर्व विवाह के लिए तोलकाप्पियर् ने 'नल्यालृत् तुणैमैयोर् इयल्पु' (तंत्रीवाद्य रखनेवाले गंधर्वों की प्रथा)[1] का प्रयोग किया है। तमिल लोगों के प्राचीन आचार-विचारों का विशद प्रामाणिक परिचय तोलकाप्पियम् के अर्थाधिकार'[2] में खूब पाया जाता है।

(१) तमिल लोगों का पारिवारिक जीवन

तमिल लोगों की प्राचीन विवाह-प्रथाएँ तथा पारिवारिक जीवन की रीतियाँ निराली थीं। उनपर कुछ-कुछ आर्य-संस्कृति का भी प्रभाव था। यह प्रभाव आन्ध्र और कन्नड प्रदेशों से आया था, जो प्राचीन काल में ही आर्य-प्रभावित हो चुके थे। फिरभी पूरे दक्षिणापथ में आर्य-रीति से भिन्न मौलिक प्रथाएँ भी पायी जाती थीं।

विवाह के लिए प्राचीन तमिलग्रंथों में कई मौलिक तथा प्रचलित शब्द मिलते हैं। 'कटिवरें वरैतल्, वतुवैच्चटंकु, कैकोल्, करणम्, मणविला, कटिमणम् मन्रल्, तिरुमणम्, आदि। आजकल 'तिरुमणम्' शब्द अधिक प्रचलित है।

तोलकाप्पियम् के तीन अधिकारम् (अध्याय) हैं। एलुत्तातिकारम् (अक्षराधिकार), चोल्लतिकारम् (शब्दाधिकार) तथा पोरुलातिकारम् (अर्थाधिकार)' में अंतिम अध्याय में तत्कालीन सामाजिक जीवन तथा संस्कृति की बातें निर्धारित की गयी हैं। पहले और दूसरे अध्याय में वर्ण-विचार और शब्द-विचार किये गये हैं। यह किसीभी संस्कृत-ग्रंथ का अनुकरण नहीं है। तोलकाप्पियम् बिलकुल मौलिक रचना है। किन्तु उसके पूर्व भी कुछ लक्षणग्रंथ तमिल में बन चुके थे। उनसे पर्याप्त सामग्री लेकर नयी बातों का समावेश करके तोलकाप्पियर् ने यह लक्षण-ग्रंथ रचा है। इसमें आर्य-संस्कृति का उल्लेख है, किन्तु उसीका अनुकरण नहीं है। अनुकरण बाद को कुछ शताब्दियों के बाद धीरे-धीरे होने लगा। तोलकाप्पियम् में जो कुछ अनुकरण पाया जाता है, वह तत्कालीन स्थिति का सुधरा हुआ रूप है। जो परम्परा उनके भी पूर्व सदियों से चली आयी है, उसीमें थोड़ा परिष्कार उन्होंने

---

१. तोल० १०३५

२. वही: अर्थाधिकरण-इधर 'अर्थ' जीवन के दृश्य तथा भोग्य पदार्थों का निर्देश करता है।

किया है। इस भूमिका पर वस्तुस्थिति का विमर्श करना असली बात को समझने में सहायक होगा।

तोलकाप्पियम् के अर्थाध्याय में दो बातों का वर्णन है—वे देखनेयोग्य बातें और अनुभव करनेयोग्य बातें हैं। इन दोनों को 'पुरप्पोरुल् या काट्चिप्पोरुल्' तथा 'अकप्पोरुल् या करुत्तु प् पोरुल्' कहते हैं। इन दोनों में से दूसरी बात (अनुभवयोग्य) में प्रेम, स्वच्छंद गुप्त मिलन, धार्मिक विवाह, वियोग, संयोग, वासना, निर्वेद, सन्धि, आदि व्यावहारिक विषय वर्णित हैं।

तोलकाप्पियर् ने तमिल देश में परम्परागत विवाह-प्रथा के दो मूल स्वरूप बताये हैं : 'कळवु' और 'कर्प्पु'। प्रेमातुर युवक का किसी भोली कन्या से स्वछन्द मिलना, और उसे अपने वश में कर लेना, बाद को भेद खुलने के पहले या पीछे कन्या के माता-पिता की अनुमति से विधिवत् विवाहित हो जाना—यह सब 'कळवु' (गुप्त मिलन) के अंतर्गत है। विना गुप्त मिलन के या गुप्त मिलन के बाद बड़ों की स्वीकृति पर, उन्हींके द्वारा विधिवत् किया जानेवाला शुभ विवाह 'कर्प्पु' (धार्मिक मिलन) होता है। तोलकाप्पियर् ने इनके बारे में लिखा है, "काम, अर्थ और धर्म को जीवन में पाने के लिए यह दोनों विवाह आवश्यक हैं। यह श्रेष्ठ स्वरूप वैदिक धर्मवालों के देश में प्रचलित (ब्राह्म, प्राजापत्य आदि) आठ प्रकार के विवाहों में सुंदर गांधर्व विवाह रीति के समान हैं।"[१]

(अ) विवाह के स्वरूप :

गुप्त मिलन को स्वाभाविक, नैतिक तथा स्वीकार्य बताया गया है। गुप्त मिलन के लिए शुभ दिन, और शुभ शकुन देखने और निभाने की प्रथा थी। विवाह का दूसरा स्वरूप 'कर्प्पु' (धार्मिक मिलन) है। इसीसे असली तथा स्वस्थ दाम्पत्य शुरू होता है। इसके संदर्भ में तोलकाप्पियर् ने तत्कालीन रीति-नीति का सुंदर वर्णन किया है।

"यह धार्मिक मिलन (कर्प्पु) श्रेष्ठ माना जाता है। इसे सुयोग्य वर के साथ, उसके योग्य वधू को माता-पिता या वधू-पक्ष के अभिभावक बंधुओं के द्वारा विधिवत् कराया जानेवाला शुभ विवाह कहते हैं। गुप्त मिलन हो जाने के बाद विवाह-बंधन में इसलिए बुजुर्गों ने अनिवार्य बनाया कि युवक-समाज में झूठ, कपट, धोखा और दुराचार फैलने की नौबत आ गयी। विधिवत् विवाह हो जाने पर लोकमर्यादा रखने के लिए उन बुराइयों को बढ़ने की गुंजाइश शायद ही रह सकती है। गुप्त मिलन के विना भी योग्य वर-वधू का विवाह होता था। किन्तु पुराने समय से गुप्त मिलन, प्रेमयाचना, मनोयोग आदि के बाद ही युवक-युवतियों का विवाह हुआ

१. तोल्० १०३५

करता था।"[1]

विवाह होने के पश्चात् पति को जिन अवगुणों से दूर रहना चाहिए, उनका भी निर्देश किया गया है, जैसे क्रूरता, दंभ, अपनेको बड़ा समझकर इतराना, कटुवचन

(आ) लक्षण-निर्देश : बोलना, अकर्मण्यता, अपने कुल की बड़ाई का बखान और उसपर गर्व करना, अज्ञान, नुक्ताचीनी करना आदि।'[2]

पत्नी के ये आवश्यक गुण माने जाते थे—'भव्यता, क्षमाशीलता, विनय, तटस्थता, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का बोध, मन की बात खुलने न देना, मधुर स्वभाव, गंभीरता आदि।'[3] धर्मपत्नी होने का गौरव गृहस्वामिनी को तभी मिल सकता है, जबकि वह इन बातों पर अटल विश्वास रखे कि प्राणों से बढ़कर लज्जा है और लज्जा से बढ़कर सतीत्व है।[4]

विद्या सीखने के निमित्त अधिक-से-अधिक तीन वर्ष तक पति अपनी विवाहिता पत्नी से बिछुड़कर रह सकता है। राजा और सेनानी देश-रक्षा, शत्रु-विजय, विदेश-यात्रा—इन आवश्यक कार्यों के लिए एक वर्ष तक अपने घर से बिछुड़कर रह सकता है। मुख्यरूप से वणिक लोग और गौण रीति से दूसरी जातियों के लोग धनोपार्जन के लिए एक वर्ष की ही घर से छुट्टी ले सकते हैं।[5]

प्राचीनकाल में तमिल लोगों में विवाह-संबंध तीन स्तरों में होता था : एक तो दानरूप में, दूसरा मूल्यरूप में और तीसरा वीर-शुल्क (शक्ति-परीक्षा) के रूप

(इ) विवाह-विधियाँ : में। पहले में, सम्पन्न कन्यावाले योग्य निर्धन लड़के को वरदक्षिणा (धनराशि) के साथ अपनी लड़की को ब्याह देते थे। दूसरे में, वरपक्षवालों से कन्याशुल्क के तौरपर उचित सम्पत्ति पाकर कन्यावाले अपनी बेटी वर को दे देते थे। तीसरे में, वीरशुल्क के नाम पर कोई शक्ति-परीक्षा आयोजित करते थे; उसमें विजेता वीर युवक को अपनी बेटी ब्याह देते थे। अपनी-अपनी इच्छा, परम्परा और भावना के अनुसार सभी वर्गों में ये विवाह-रीतियां प्रचलित थीं। इन तीनों के उल्लेख संघ-कालीन रचनाओं में मिलते हैं। वीरता की परीक्षा के लिए प्राय: सांड से भिड़ंत की स्पर्धा प्रचलित थी।[6]

प्राय: वर पक्षवाले ही कन्या की मांग करते थे। कहीं-कहीं स्वयं वर ही जाकर कन्यावालों से अपनी इच्छा प्रकट करता और विवाह तय करके

---

१. तोल्० १०८६-९०

२. तोल्० १२१७

३. तोल्० ११५७

४. वही १०५७

५. वही ११३२-३४

६. कलित्तोकै: १०१, १०२, १०३, १०५, १०६,

आता था।[1]

विवाह-विधियां भी तमिल लोगों की अपनी थीं। अकनानूरु के (८६) पद्य में विवाह-विधियों का वर्णन है। 'उड़द और चावल से बनी खिचड़ी तथा अन्य पकवानों को बराती और बंधु-बांधव मजे से खा रहे हैं। सजा-धजा विशाल पंडाल वनाया गया है। मंगलदीप जल रहा है। चारों ओर फूल मालाएँ सजी हुई हैं। शुक्लपक्ष के रोहिणी नक्षत्रवाले शुभ दिन में यह विवाह सम्पन्न हो रहा है। प्रातः-काल सुमंगला स्त्रियाँ नीरभरे घड़ों को सिर पर रखे, हाथ में माटी के कलश लिये विवाहवेदी पर मंगल गीत गाती हुई आती हैं। भारी चहल-पहल है। कई वस्तुएँ वे वारी-वारी से आदान-प्रदान करती हैं। यह विवाह-विधियों की तैयारी है। वाद को शुभ वेला में चार सुगंगला, पुत्रवती नारियाँ मंडप में आती हैं। उनके पेट पर तिल के दाग हैं, और मंगल आभूषण पहने हुए हैं। वे वधू को आशीष देती हैं—"वेटी, तुम पातिव्रत्य धर्म में स्थिर रहना। अच्छी तरह घर-गृहस्ती को सँभालना। पति को प्रसन्न रखना।" फिर जल से सिक्त फूलों और धानों को वधू पर छिड़कती हैं। घड़ों का नीर वधू के सिर पर उँडेलकर मंगल स्नान कराती हैं। इस प्रकार विवाह-विधि पूरी हो जाती है और वर को वधू सौंप दी जाती है। उसी दिन रात को उस नवल युगल का 'प्रथम मिलन' होता है।

विवाह में पत्नी को मंगलसूत्र बाँधने की प्रथा थी। इसको 'इळैयणि' कहते थे।[2] वाद को इसका नाम 'तालि' पड़ा, जो आजभी प्रचलित है। मंगलसूत्र बाँधने की प्रथा ठेठ तमिल देश या दक्षिणापथ की है। संस्कृत ग्रन्थों में केवल 'पाणिग्रहण' का ही विधान है। दक्षिण में वसे हुए वैदिक सम्प्रदाय के लोगों में भी यह दक्षिणी प्रथा प्रचलित हो गई।

इस संदर्भ में पाणिनिकालीन 'पाणिग्रहण' उल्लेखनीय है। पाणिनि ने विवाह के लिए 'उपयमन' शब्द का प्रयोग किया है जिसकी व्याख्या 'स्वकरण' शब्द से की गई है—'उपाद्यमः स्वकरणें—(१-३-५६)' वर के द्वारा कन्या का पाणि-ग्रहण किये जाने पर विवाह-संस्कार सम्पन्न समझा जाता था। इसके लिए पाणिनि ने 'हस्ते कृत्य' 'पाणौ कृत्य' इन शब्दों का उल्लेख किया है, जो विवाह के पर्याय-वाची थे। कालान्तर में 'पाणिगृहीता' शब्द विधिवाह्य परिणीता स्त्री के लिए प्रयुक्त होने लगा।[3]

अथर्ववेद (१४-१-५१) में पाणिग्रहण के लिए 'हस्त ग्राभ' शब्द का प्रयोग हुआ है। वैदिक युग में विवाह-विधि यही रही कि विवाह-समारोह का आरंभ

---

१. कलित्तोकै—कुरिंचिक्कलि, अध्याय, पद्य १६
२. पुरनानूरु : १२७
३. पाणिनि कालीन भारतवर्ष (डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल) पृ० ९९

वधू के घर से होना,[1] अपने मित्रों और सम्बन्धियों के साथ वर का आना,[2] मांस भक्षण करना,[3] वधू को एक पत्थर के ऊपर खड़ा करके औपचारिक रूप से वर द्वारा उसका हाथ अपने हाथों में लेना, फिर घर का अग्नि की परिक्रमा करना,[4] विवाह-संस्कार समाप्त हो जाने पर वर का अपनी नव वधू को रथ में बिठाकर बरात के साथ अपने घर ले जाना,[5] बंधु-मित्रों को भोज देना, इसके बाद वर का वधू के साथ दाम्पत्य निभाना।[6]

अग्नि-परिक्रमावाली यह विवाह-विधि तमिल लोगों की कुछ जातियों में पायी जाती है। संघकाल की कृति कलित्तोकै में, वैदिक ब्राह्मणों के द्वारा अपनी जाति के विवाह में वर-वधू का अग्निवेदी की परिक्रमा कराने का वर्णन, दृष्टान्त के तौर पर किया गया है। संघोत्तार काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जातियों में यह अग्नि-परिक्रमा भी स्वीकृत हुई। इसका प्रमाण शिलप्पतिकारम् (ईस्वी दूसरी शती का महाकाव्य) में मिलता है।[7] इधर पुरोहित के लिए मुतु-पार्प्पान् (वृद्ध ब्राह्मण), वैदिक संस्कार के लिए 'मरैवळि' तथा अग्नि परिक्रमा के लिए 'तीवलम्' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यह काल आर्य-तमिल-संस्कृतियों के संगमकाल का मध्य चरण था। इस समय बौद्ध और जैन सम्प्रदायों का प्रसार भी हो चुका था।

उत्तर से आये हुए वणिक और विप्र जाति के लोगों में ही वैदिक संस्कृति के अनुसार विवाह-कृत्य सम्पन्न होते थे। उनमें भी देशाचार के तौर पर मंगल सूत्र बाँधना, सुमंगला स्त्रियों द्वारा मंगल स्नान कराना आदि दक्षिणापथ की मूल प्रथाएँ समादर पाने लगीं। आजभी वही सम्मिलित विवाह-कृत्य समाज में देखे जा सकते हैं।

सुमंगला स्त्रियों द्वारा वधू का मंगल स्नान कराना तथा विवाह सम्पन्न कराना आदि प्राचीन प्रथाओं का उल्लेख संघकालीन रचनाओं में पाया जाता है।[8]

---

१. ऋग्वेद : १०. १७, १,
२. वही, ४. ५८, १
३. वही, १०, ८५ १३
४. वही : १०. ८५, ३६, ३८ अथर्ववेद : १४. १, ४७. ४८
५. वही १०. ८५, ७, ८; १०. २४-२७.
६. ऋग्वेद : १०. ८५७. ८; १०. २४-२७ (पूरे विवरण के लिए देखें : वैदिक इण्डेक्स में 'पति-पत्नी' की व्याख्या।)
७. शिलप्पतिकारम्, १-५
८. अकनानूरु, १३६, १०७; मलैपट्टुकटाम्, १५१; नेटुन्तोकै, ८६ इत्यादि।

विवाह वर और वधू दोनों के घरों में हुआ करता था।[1]

वणिक वर्ग में विवाह तय होने के बाद युवतियों को हाथी पर विठाकर विवाह की घोषणा सारे नगर में की जाती थी।[2] पति-पत्नी को देह और प्राण के समान माना गया है। दोनों सुख-दुःख समान रीति से भोगते हैं; दोनों उत्कर्ष-अपकर्ष और संयोग-वियोग के समान भागीदार हैं। दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। पति-पत्नी के लिए सह-जीवन ही आनंदमय है, और वियोग मृत्यु के समान है।[3] पति की मृत्यु होने पर प्राणत्याग करनेवाली सती पत्नियों की गाथाएँ सारे भारत में मिलती हैं। पत्नी के मरण से अत्यन्त व्याकुल होकर प्राणत्याग करने में प्रवृत्त प्रेमी पतियों का परिचय तमिल की संघ-रचनाओं में मिलता है।[4] विधवा नारियाँ अग्नि-प्रवेश कर 'सती' हो जाती थीं; या तो व्रत-संयम से रहकर 'काया-क्लेश' (शरीर को सुखाना) करती थीं; सिर मुँड़ा लेती थीं।[5]

तिरुक्कुरळ् में, जो तमिल वेद माना जाता है और ईस्वी प्रथम शती का सार्वजनीन नीति ग्रन्थ है, गृहस्थ धर्म, उत्तम पत्नी की महिमा, पातिव्रत की श्रेष्ठता आदि कई सर्वमान्य नीतियाँ बतायी गयी हैं। इस समय तमिल देश का पारिवारिक जीवन सुसभ्य और सुव्यवस्थित स्थिति में था।[6]

(२) सामाजिक जीवन

तमिल लोगों की प्राचीन समाज व्यवस्था वैदिक आचार्यों द्वारा निर्धारित वर्ण-व्यवस्था से भिन्न थी। उसमें उच्च-नीच का भेद-भाव नहीं था। किन्तु कालान्तर में वैदिक वर्ण-व्यवस्था धीरे-धीरे तमिल देश में भी स्थान पाने लगी। वह दक्षिणापथ में पहले आन्ध्र और कर्नाटक में फैली। वहीं से तमिल देश में पनपने लगी। किन्तु वह उत्तरापथ की अपेक्षा उदार और परिष्कृत थी। वह संस्कृत के श्रुति-स्मृति ग्रन्थों में निर्दिष्ट स्वरूप से कई अंशों में परिवर्तित और स्थानीय परिस्थितियों से प्रभावित थी।

तमिल का प्राचीन समाज वर्ण-व्यवस्था से नहीं, किन्तु वर्ग-व्यवस्था से बना था। यह व्यवस्था लोगों के वासस्थान, व्यवसाय तथा आचार-भेदों के आधार पर बनायी गयी थी। यह वर्ग भेद तोलकाप्पियर के बहुत पहले से ही (ईसा पूर्व छठी

---

१. कुरुन्तोकै, ३६६
२. शिलप्पतिकारम्, १-५
३. अकनानूरु, ३३६
४. अकनानूरु, २४५
५. पुरनानूरु, २४६, २५, २५०.
६. देखें: तिरुक्कुरळ्, प्रथम भाग (अरत्तुप् पाल्-धर्मभाग)

शती के पूर्व) प्रचलित थे और लगभग ईस्वी पहली शती तक चलते रहे। बाद को वैदिक वर्ण-व्यवस्था का प्रभाव तमिल समाज में फैलने लगा। कट्टरता का युग और कुछ सदियों के बाद शुरू हुआ। बौद्धों और जैनों के आने से वह कट्टरपन और वैदिक प्रभाव घटने लगे। उनके हटने के बाद जाति व्यवस्था में कई नयी बातें आने लगीं, जिनमें कट्टरता भी थी और उदारता भी। बाद को विदेशी विजातियों के अभियान से देश की सभी व्यवस्थाओं की जो दुर्गति हुई, उससे आज की पीढ़ी भली भाँति परिचित है।

प्राचीन काल में तमिल के लोग पाँच वर्गों में बँटे हुए थे। यह वर्ग-भेद स्थान-भेद के आधार पर निर्धारित थे। वे हैं—पर्वत-प्रदेशवासी, वन-प्रदेशवासी, कृषि-प्रदेशवासी, समुद्र-तटवासी तथा बंजर-प्रदेशवासी। इन पाँचों प्रदेशों के नाम तमिल में, कुरिंचि निलम्, मुल्लै निलम्, मरुत निलम्, नेय्तल निलम् और पालै निलम् हैं। तोलकाप्पियम में अंतिम को छोड़कर चार मूल भेदों के नाम और उन प्रदेशवासियों के रहन-सहन आदि की बातें सूक्ष्म ढंग से बतायी गयी हैं। यह (पालैनियम) प्रदेश गरमियों के दिनों में पर्वत तथा वन प्रदेशों में बन जाता है। इसलिए इसका अलग अस्तित्व नहीं माना है।[1] बाद के लक्षण-ग्रन्थकारों ने पाँचों प्रदेशों को स्वीकारा है।

(अ) वर्ग-व्यवस्था

इन पाँचों प्रदेशों के निवासी होते हैं—वनचर, व्याध (शिकारी), कृषक, मछुए और लडाकू व डाकू लोग। इनके तमिल नाम हैं कुरवन् (वनचर), वेट्टुवर (शिकारी), उळवर (कृषक), नुळैयर (मछुए या नाविक), एयिनर, कळ्ळर या मरवर (लड़ाकू और डाकू)।

इन पांच प्रदेशों को 'ऐन्तिणै निलम्' (पांच आचारोंवाले प्रदेश), पाँचों प्रदेशवासियों को 'ऐन्तिणै मक्कळ्' (पाँच आचारों वाले लोग) तथा वहाँ के आचार-विचारों को 'ऐन्तिणै ओळुक्कम्' या 'ऐन्तिणै मरपु' कहते थे। इन पाँचों प्रदेशवासियों के मुखिये होते हैं। उनके नाम हैं : वेर्प्पन् और चिलम्पन् (वनचरों के मुखिये), कुरम्पन्, नाटन् (शिकारियों और ग्वालों के मुखिये), ऊरन्, मकिळ्नन् (कृपकों के मुखिये), शेर्प्पन्, तुरैवन् (मछुओं के मुखिये), और मीळि, विटलै (लड़ाकू डाकुओं के मुखिये)।[2]

तोल्काप्पियर ने समाज-व्यवस्था का चित्रण बड़े वैज्ञानिक ढंग से किया है। पदार्थों के दो भेद—देखनेयोग्य तथा जाननेयोग्य बताये हैं। उन दोनों के तीन मौलिक विभेद—मूल, उत्पन्न तथा सहकारी या संबंधित हैं। मूल में स्थान और

---

१. तोल् ९५१

२. तोल्० ९६९-७० की व्याख्या तथा अकनानूरु, कलित्तोकै, इरैयनार् अकप्पोरुळ् आदि संघकालीन रचनाएँ

काल गिने जाते हैं। उत्पन्न में चल-अचल सभी सजीव एवं निर्जीव पदार्थ आते हैं। सहकारी (संबंधित) में मिथुन-जीवन या दाम्पत्य-जीवन के सुख-दुःख के उद्दीपक सहकारी भाव तथा तत्संबंधी आचार-विचार निर्दिष्ट हैं। समाज के पूरे कार्य-कलाप इन्हीं पाँच प्रादेशिक आचार-विचारों में आ जाते हैं। इन्हीं के आधार पर जीवन के दृश्य कार्य-कलापों को 'पुरत्तिणै' (वाह्य आचार) तथा अनुभवगम्य आचार-विचारों को 'अकत्तिणै' (आन्तरिक तत्त्व) नामक दो प्रधान स्वरूप बताये गये हैं। प्राचीन साहित्य का विभाजन भी इन्हीं दो स्वरूपों में किया गया है। 'पुरत्तिणै' ग्रन्थों में युद्ध, विजय, आक्रमण, दान, पुण्य और जीविका के आचार-भेद का वर्णन है। 'अकत्तिणै' ग्रन्थों में प्रेम, मिलन, रति, विरह, विवाह, वियोग आदि जीवन के आन्तरिक अनुभवों तथा आचरणों का रोचक वर्णन है।

प्रथम भेद के मूल में लोक (स्थान) तथा काल (समय) का विशद वर्णन भी तोलकाप्पियम में पाया जाता है। लोक को 'उलकम्' कहा गया है। 'लोक' शब्द से 'उलकम्' बना है; या तो 'उलकम्' शब्द से 'लोक' निकला है, और संस्कृत में मिल गया है—इस प्रकार दो मत हैं। लोक का स्वरूप—पृथ्वी (निलम्), आग (ती), जल (नीर्), वायु (वळि) और (आकाश (विशुम्पु)—इन पाँच भूतों का मिश्रित सम्मोहन है।[1] काल के प्रभेद—वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिन, वेला आदि के उल्लेख हैं।

द्वितीय भेद 'उत्पन्न' पदार्थों में—दैव, मुखिये, आम लोग, पक्षिवर्ग, पशु, वस्तियाँ, जल, फूल, पेड़, भोजन, ढोल, याळ्-जैसे तंत्रीवाद्य, संगीत, जीविका के धंधे आदि वर्णित हैं।

तीसरे भेद 'सहकारी' में जीवन के बाह्य तथा आंतरिक अनुभवों और आचरणों का वर्णन हैं। इन तीन भेदों के तमिल नाम हैं—मुतल (मूल), करु (उत्पन्न) और उरि (सहकारी या संबंधित)।

पूर्वोक्त पाँचों प्रदेशों में—१ पहाड़ी प्रदेश (कुरिंचि निलम्,) २ जंगली प्रदेश (मुल्लै निलम्), ३ कृषि-प्रदेश (मरुत निलम्,) ४ समुद्रतट प्रदेश (नेय्तल् निलम्), ५ वंजर या ऊवड़ प्रदेश (पालै निलम्) में हरेक के अलग-अलग अनुकूल समय, विशिष्ट पदार्थ तथा आचार होते हैं। क्रमशः उनका विवरण यह है :

१. पहाड़ी प्रदेश (कुरिंचि निलम्) : इसका अनुकूल समय शरत्‌ऋतु (आश्विन और कार्तिक) और हेमन्त ऋतु (अगहन और पौष) हैं। अनुकूल वेला है, रात का दूसरा पहर। इस प्रदेशवासियों के प्रमुख आराध्य देवता हैं—'चेयोन' (स्कन्द देव)। पोरुप्पन, वेर्प्पन, चिलम्पन (पुरुष), कुरत्ति, कोटिच्चि (स्त्री) यहाँ के ऊँचे वर्गों के प्रतिनिधि या मुखिये हैं। साधारण लोगों का वर्गीय

१. तोळ्० १५८२

नाम कुरवर्, कानवर्, (पुरुष), कुरत्ति (स्त्री) होते हैं। तोता, मोर, बाघ, रीछ, हाथी, शेर्—ये इधर के प्रमुख प्राणी हैं। इधर प्रायः झोंपड़ियाँ होती हैं। इन बस्तियों के छोटे-बड़े समूह को 'चिरुकुटि' कहते हैं। नदी-नाले तथा पहाड़ी सोते इधर के जलाशय हैं। वेंकै, कुरिंचि, कान्तल् यह तीनों प्रकार के फूल यहाँ अधिक होते हैं। चंदन, साल, सागौन, अगरु, अशोक, नाग, बाँस आदि वृक्षों की प्रधानता है। खाद्य वस्तुओं में पहाड़ी धान, बाँस के चावल और कोदों प्रधान। खास ढोल (परै) का नाम है 'तोण्टकप् परै'। 'कुरिंचियाळ्' इधर का प्रसिद्ध वाद्य है। संगीत में 'कुरिंचिप् पण' नामक रागविशेष यहाँ विशिष्ट व लोकप्रिय माना जाता है। पर्व-त्योहारों पर झूमझूमकर नाचना, देवता से आविष्ट होकर उछलना, पहाड़ की तलहटियों में खेती करना, शहद इकट्ठा करना, कंदमूलों की पैदावार बढ़ाना और जलाशयों में नहाना—इस प्रदेश के निवासियों के कार्य-कलाप हैं।

२. जंगली प्रदेश (मुल्लै निलम्) : इस प्रदेश का मुख्य अनुकूल समय वर्षा ऋतु (सावन-भादों) है और अनुकूल वेला है संध्या समय। इस प्रदेश के निवासियों के आराध्य देव 'तिरुमाल्' (विष्णु) हैं। उच्च वर्ग के लोगों के उपाधिनाम कुरुम्पोरै नाटन्, तोन्रल् (पुरुष), मनैवि, किलत्ति (स्त्री) होते हैं। आम लोगों को इटैयर, आयर, (पुरुष), इटैय्च्चियर आय्च्चियर (स्त्री) कहते हैं। ये ग्वाले, घसियारे और शिकारी होते हैं। जंगली मुर्गी, हिरन, खरगोश—इधर के प्रमुख प्राणी हैं। छोटी-बड़ी बस्तियों के नाम 'पाटि' हैं। छोटे सोते, नाले और जंगली नदी—यह प्रधान जलाशय हैं। चमेली, मल्लिका आदि इधर के विशिष्ट फूल हैं। अमलतास, कुंद, मंडवा आदि प्रधान पैदावार हैं। ढोल का नाम हैं 'एरंकोट्परै'। इन लोगों के प्रमुख पेशे हैं—खेती करना, ढोरों को पालना, साँड, भैंसे और भेड़ को मादा पशुओं से मिलाना और चरागाहों पर गाय-बैलों और रेवड़ों को चराना। बाँसुरी बजाना, साँड से भिड़ंत, 'कुरवै' नामक सामूहिक नाच, नदी में जलक्रीड़ा आदि इधर के मनोरंजन हैं। इस प्रदेश के लोग पर्व-त्योहारों पर पड़ोसी प्रदेशों के आचारों को भी कुछ-कुछ अपनाते हैं।

३. कृषि-प्रदेश (मरुत निलम्) : इस प्रदेश का अनुकूल समय छहों ऋतुएँ हैं, और अनुकूल वेला प्रातःकाल। आराध्य देव 'वेन्तन्' (इन्द्र या देवराज) है। ऊँचे वर्ग के लोगों को ऊरन्, मकिल्नन् (पुरुष), किळत्ति, मनैवि (स्त्री) के नामों से पुकारते हैं। साधारण जनता में उळवर, कटैयर (पुरुष), उळत्तियर, कटैच्चियर (स्त्री) के नाम प्रचलित हैं। प्राणियों में बगुला, हंस, सारस, भैंसा, जलकुत्ता, गाय, बैल आदि मुख्य हैं। बड़े नगरों को 'पेरूर्' तथा पुराने गाँवों को 'मूतूर' कहते हैं। इस प्रदेश के निवासी अन्य प्रदेशवासियों की अपेक्षा सभ्य, सम्पन्न तथा सुखी माने जाते हैं। नदी, तालाब, कुआँ, बावड़ी आदि इधर के प्रधान जलाशय हैं। कमल, कुमुद, नीलकमल आदि प्रसिद्ध फूल हैं। बढ़िया धान, चावल आदि मुख्य पैदावार

हैं। ढोलों में कृषक ढोल तथा मांगलिक ढोल प्रशस्त हैं। इस प्रदेश के अपने तंत्री-वाद्य तथा राग विशेष हैं। इन लोगों के मुख्य कार्य-कलाप हैं—खेती-बारी, पर्व त्योहार मनाना, तालाब खोदना, नदी-स्नान करना आदि।

४. **समुद्रतट प्रदेश (नेयतल् निलम्)** : इस प्रदेश का अनुकूल समय छहों ऋतुएँ और वेला सूर्योदय की। संध्या वेला को भी अनुकूल मानते हैं। आराध्य देव हैं 'वरुणान्' (वरुण)। ऊँचे वर्ग के लोगों को चेर्प्पन्, पुलम्पन (पुरुष), परत्ति, नुलैच्चि (स्त्री) के नाम से पुकारते हैं। साधारण जनता मछुओं और नाविकों की है। उनको नुलैयर्, परतर्, अलवर्, (पुरुष), नुलैच्चियर, परत्तियर् अलत्तियर्(स्त्री) के नामों से पुकारते हैं। यह वर्ग-भेदों के सूचक हैं। समुद्री कौआ, मगर, मछली इधर के प्रमुख प्राणी हैं। बस्तियों के लिए 'पाक्कम्' 'पट्टिनम्' के नाम प्रचलित हैं। यहाँ केवड़े के तथा अन्य समुदतट के फूल और पेड़ प्रसिद्ध हैं। खाद्य पदार्थ मछली, तथा इनकी बिक्री से प्राप्त अन्य वस्तुएँ हैं। मछुओं और नाविकों के अलग-अलग ढोल हैं। रागों में मुख्य हैं 'चेव्वळि पण' तथा तंत्रीवाद्यों में 'विळरियाल्'। मछली मारना, नमक पैदा करना, मछलियों को सुखाकर रखना, उन चीज़ों को वेचना, वदले में अन्य आवश्यक वस्तुएँ लेना, समुद्र-स्नान करना इन लोगों के दैनिक कार्य होते हैं।

५. **वंजर प्रदेश (पालै निलम्)** : इस प्रदेश का अनुकूल समय ग्रीष्म (जेठ-आसाढ) और शिशिर ऋतु (माघ-फागुन) है, और अनुकूल वेला दोपहर। आराध्य देवता दुर्गा है। इसको 'कन्नि' (कन्या), कोट्रवै और काटुकिळाल् भी कहते हैं। उच्च वर्ग के लोग विटलै, कालै (पुरुष), मीलि, एयिट्रि (स्त्री) कहलाते हैं। आम लोग लड़ाकू और डाकू होते हैं। उनको मरवर्, एयिनर्, कल्लर (पुरुष) मरत्तियर्, एयिट्रियर्, कल्लत्तियर (स्त्री) कहते हैं। कबूतर, चील, गीध, खूंखार कुत्ता, सियार अदि इधर के पशु-पक्षी हैं। बस्ती का नाम 'कुरुम्पु' है। जलहीन कुआँ, सूखा पोखर इधर नाममात्र के जलाशय हैं। वंजर व रेतीले प्रदेशों में उगने-वाले पेड़ और फूल इधर के वनस्पति हैं। पड़ोसी प्रदेशों में जाकर छापा मारना भी इन लोगों का धंधा है। इनका ढोल 'तुटि' है।' पंचुरम्' नामक राग विशेष इनका अपना है। इसी प्रकार इनका वाजा भी अलग है। लड़ना, चढ़ाई करना, राहजनी और डकैती इनका पेशा है।

तोल्काप्पियर ने इस अन्तिम वंजर प्रदेश को अलग नहीं माना। पहाड़ी तथा जंगली प्रदेशों का समीपवर्ती प्रदेश ही गरमी के मौसम में बंजर प्रदेश बन जाता है। वहाँ के कुछ असभ्य लोग डकैती, राहजनी आदि समाजविरोधी रास्ते में अपना धंधा चला लेते हैं। अतः इन लोगों (डाकुओं) तथा इस बंजर (पालै) प्रदेश का निर्देश तोल्काप्पियर ने नहीं किया है। किन्तु वाद के लक्षण-ग्रन्थकारों ने इस प्रदेश को जोड़ना ज़रूरी समझा।

यही तोल्काप्पियर के पूर्व कई शताब्दियों से लेकर बाद की भी कुछ शताब्दियों तक तमिल देश की मौलिक वर्ग-व्यवस्था थी।

वैदिक धर्म द्वारा निर्धारित वर्ण-व्यवस्था का जो स्वरूप वैदिक काल में तथा उसके निकट भविष्य में (धर्मसूत्र ग्रन्थों के समय में) हम पाते हैं, उसीका परिचय तोलकप्पियम में थोड़ा-बहुत पाया जाता है।

(आ) वर्ण-व्यवस्था

यह तो निर्विवाद है कि उस काल में वैदिक वर्ण-व्यवस्था का प्रसार तमिल देश में प्रारम्भिक दशा में था। जनसमाज में पूर्वोक्त पाँच प्रदेशों-वाले वर्गों की व्यवस्था कुछ सुधरी हुई स्थिति में थी। किन्तु उस समय उत्तर की वर्ण-व्यवस्था में नया आकर्षण था; अनुकरण भी थोड़ा-सा होने लगा था। किन्तु कट्टरता लेशमात्र भी नहीं थी। अब पूरा विवरण देखें :

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—यही चार जातियोंवाली वर्ण-व्यवस्था है। यह है आर्यों द्वारा प्रवर्तित, प्रचारित और परिपालित सामाजिक व्यवस्था। कर्म या व्यवस्था के अनुसार समाज को सुव्यवस्थित तथा समृद्ध बनाने के उद्देश्य से यह व्यवस्था शुरू हुई थी। इतिहास साक्षी है कि कोई भी उद्देश्य सदा अपने अच्छे और मान्य कारण का अधिकारी नहीं रह सकता। कालानुकूल परिवर्तन और परिवर्द्धन पाकर अपने मूल लक्ष्य से वह विच्छिन्न हो जाता है। सभ्यता का प्रतीक असभ्यता का पोषक बन जाता है। यही विधना की क्रूर विडम्बना है।

तोल्काप्पियर ने उन चारों वर्णों का उल्लेख और थोड़ा-सा विवेचन अपने ग्रन्थ के तीसरे अध्याय 'अर्थाधिकारण' में किया है—अन्तणर् या अन्तणाळर् (ब्राह्मण या शिष्ट जन), अरचर् (राजा या राजपरिवार के लोग), वैचिर्क (वैश्य) और वेळाण् या वेळाळर् (किसान)।

(१) अन्तणर् (ब्राह्मण या शिष्ट जन) : यह शब्द केवल वैदिक ब्राह्मणों का ही निर्देश करता हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। वैदिक आर्य ब्राह्मणों की अनुकृति में ब्राह्मण्य-पद तमिल अभिजनों के लिए भी लागू हो सकता है। इनके चिह्न बताये गये हैं—यज्ञोपवीत (जनेऊ), कमंडल, त्रिदंड और पीढ़ा।[१] ये शिष्ट जन राजकाजों में भी हाथ बँटा सकते हैं। ये विद्यार्जन तथा राजदूत के कार्य पर देशान्तर जा सकते हैं।[२] जब ये धनोपार्जन के लिए दूसरे देशों में जाते हैं, तब इनको अपने कुल के आचार-अनुष्ठान में अविचल रहना होगा।[३] इन लोगों के छह प्रकार के आचरण होते हैं।[४] व्याख्याकारों ने इन आचरणों की व्याख्या की

---

१. तोल्० १५६२

२. वही, १५७४

३. वही, ६७४, ६८२

४. तोल् १०२०

है—वेदशास्त्रादि का अध्ययन और अध्यापन, यजन (यज्ञ करना) याजन (यज्ञ कराना), दान देना और दान लेना।[1] इस प्रसंग में तोलकाप्पियर ने 'अन्तणर्' शब्द के स्थान पर 'पार्प्पन' (ब्राह्मण) शब्द का प्रयोग किया है।

ब्राह्मण और अभिज्ञ लोगों की बातों को बाकी लोग श्रद्धा से सुनते हैं, तथा औचित्य का विचार कर उनका पालन करते हैं।[2] धार्मिक विवाह द्वारा बँधे हुए पति-पत्नी को दाम्पत्य-धर्म निभाने में सहायता करने वाले गायक, नर्तक, अभिज्ञ आदि जनों में श्रेष्ठ ब्राह्मण भी स्थान पाते हैं।[3] प्रेमी-प्रेमिका के साथ गुप्त मिलन की बात को अपने सजातीय या समवयस्क साथी से कह सकता है और इसी प्रकार ब्राह्मण से भी कह सकता है।[4]

ब्राह्मणों का उल्लेख बाद के संघकालीन ग्रन्थों में भी किया गया है: "राजा लोग केवल ब्राह्मणों के सामने ही सिर झुकाकर विनय प्रदर्शित करेंगे।[5] ब्राह्मण लोग तमिल राजाओं के हित के साधन के लिए उनके तत्त्वावधान में याग-यज्ञ करते थे।[6] राजा के विशेष दूत बनकर पड़ोसी या दूर देशों में जानेवाले ब्राह्मण ही अधिकांश में थे।[7] वैदिक सम्प्रदाय, विद्या-शिक्षा और सदाचार के संरक्षक तथा प्रचारक ये ब्राह्मण ही होते थे।[8] ब्राह्मणों पर अत्याचार करनेवाले और उनको हानि पहुँचानेवाले घोर पापी हैं।[9] ब्राह्मण विद्यार्थी चोटी रखते थे।[10] ब्राह्मणों के लिए भूमि और गाय दान में दी जाती थीं।[11] अपने देश में आये हुए ब्राह्मणों के लिए राजाओं ने 'ब्रह्मस्व' रूप में भूमि प्रदान की है।[12] ब्राह्मण लोग प्रायः दान देकर जीविका चलाते थे। यह उनके लिए गौरव की बात मानी जाती थी। याचकवृत्ति के कारण कोई ब्राह्मणों को अनादर की दृष्टि से नहीं देखता

---

१. अध्यापनम् अध्ययनम् याजनम् याजनम् तथा।
दानम् प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्मण्यग्रजन्मनः॥—मनुस्मृति, १०-७५

२. तोल्० १४४५

३. वही, १४३८

४. तोल्०, १४३७

५. पतिट्रुप्पत्तु, ६३

६. पुरनानूरु, २२४

७. वही, ३४

८. वही, १६६

९. वही, ३४

१०. ऐंकुरुनूरु, २०२

११. पतिट्रुप्पत्तु, ६

१२. पुरनानूरु, १२२

था।[1]—आदि कई बातें ब्राह्मणों के बारे में कही गयी हैं। यह 'पुरनानूरु' संघ-काल के अन्तिम भाग में (प्राय: ईसवी दूसरी शती में) संकलित वीरगाथा-संग्रह है। अतः स्पष्ट है कि उस समय ब्राह्मणों का अस्तित्व तमिल देश में सुदृढ़ हो चुका था।

(२) अरचर् (राजा और राजपरिवार के व्यक्ति) : यह शब्द वेद-कालीन क्षत्र या क्षत्रप का अनुकरण है।

राजा लोग 'चेंकोल्', (राजदण्ड) धारण करते थे। वे सेना, पताका, जनता, भेरी, घोड़ा, हाथी, रथ, माला और किरीट—इन नौ वस्तुओं के स्वत्वाधिकारी थे।[2] यज्ञोपवीत तथा पूजापीठ (पीढा) ब्राह्मणों की तरह राजाओं के भी होते हैं।[3] राजा दुश्मनों पर चढ़ाई करने अकेला जा सकता है, और सदल-बल के साथ भी जा सकता है।[4]

राजाओं के लिए विहित कर्म हैं : अध्ययन ,यजन, दान, सेना-संचालन और प्रजा-पालन ।[5]

राजाओं के द्वारा याग-यज्ञ कराने का उल्लेख अधिकांश संघकालीन रचनाओं में पाया जाता है। 'यज्ञ कराने से बड़ा पुण्य मिलता है; उससे स्वर्ग लाभ प्राप्त होता।'—यह विश्वास तत्कालीन राजाओं तथा अन्य लोगों में फैला हुआ था।[6] कई याग-यज्ञ कराने वाले पांडिय राजा 'पल् याग शालै मुनुकुडुमिप् पेरुवळुति' का वर्णन पुरनानूरु के पद्यों में (६, ९, १२, १५, ६४) आया है। इसी प्रकार राजसूय याग करनेवाले एक चोल राजा 'राजसूयम् वेट्ट पेरुनर्-किळ्ळि' के बारे में गाये गये कई पद्य (१६, १२५, ३६७, ३७७) पुरनानूरु में मिलते हैं।

(३) वैचियर् (वैश्य) : ये व्यापारी लोग हैं। आर्य-संस्कृति के आदि प्रसारक ये ही थे। ऋग्वेद में इन लोगों के देश-विदेश में फैल जाने की वार्ता बहुतायत में पायी जाती है। इन्हींके कारण पूरे एशिया तथा यूरोप में आर्य-संस्कृति का थोड़ा-बहुत प्रसार हो सका। इनकी मूल जाति वर्ग या नाम 'पणि'

---

१. पुरनानूरु २००
२. तोल्० १५६३
३. तोल्० ९७२
४. वही, ९७५
५. वही, १०२० (व्याख्या)
६. मदुरैक्कांचि, ४९४-४९५; तिरुमुरुकाट्रुप्पडै, ९५-९६; पेरुनर् आट्रुप्पडै, ३१५-३१६; पतिट्रुप्पत्तु, ७०.७४, ७, ९; कलित्तोकै, ३६; अकनानूरु, १३; पुरनानूरु, १५, १६६, २२४, ४००।

था। यह पहले आर्यविरोधी या इन्द्रविरोधी थे। बाद को आर्य कहलाने लगे और कालान्तर में आर्य-धर्म एवं संस्कृति के पोषक और प्रचारक बन गये। ये वाणिज्य के लिए जल और स्थल मार्गों से देश-विदेश जाते थे। जहाँ जाकर ये बसे, वहीं के हो गये। स्थानीय आचार-विचारों को भी ये लोग अपनाने लगे; स्थानीय बोलियों या देशी भाषाओं को भी। भाषाओं में नये शब्द, शैली और भाव आदि का प्रवेश इन्हीं पणि या वणिक लोगों के द्वारा हुआ, क्योंकि देश-विदेशों में घूमने का मौका इनको मिलता था। ये लोग अपने वर्ग के दूसरे लोगों से सदा सम्पर्क बनाये रखते थे। कई प्रकार के आचार-विचारों तथा बोलियों से ये परिचित थे। इनके अधीन अनेक स्थानीय तथा विदेशी कर्मचारी रहते थे। इसलिए सभी प्रादेशिक भाषाओं, संस्कृति और जीवन-पद्धति पर बाहरी प्रभाव पड़ने लगा। सामासिक समन्वयशील संस्कृति का विकास इन्हीं लोगों द्वारा अधिक हो सका। इनमें समयानुकूल परिवर्तन लाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति थी।

तोल्काप्पियम में 'वैचिकन्' (वैश्य) और 'वाणिकम्' (वाणिज्य) शब्दों का प्रयोग हुआ है। वैश्यों का धंधा वाणिज्य बताया गया है। ये लोग पण्य वस्तुओं का आयात-निर्यात करते थे।[1] वैश्य भी राजाओं की तरह धनुष, भाला, रथ आदि रख सकते थे। किन्तु इनमें आचारभ्रष्ट वैश्यों को यह सब रखने का अधिकार नहीं था।[2] वणिक लोग धनोपार्जन के अलावा विद्यार्जन तथा देवाराधन के लिए भी घर छोड़कर बाहर जाते थे। वैश्य लोग राजदूत बनकर देश-विदेश भी जा सकते थे।[3] वैश्य लोग विद्या का अध्ययन, यज्ञ करना, दान देना, खेती करना, वाणिज्य करना, गाय-बैल पालना—इन छह कर्मों के अधिकारी थे।[4]

तोल्काप्पियम् के बाद के संघकालीन ग्रंथों में वणिकों के बारे में कई बातों का वर्णन मिलता है।

वैश्य लोग स्थल और जल-मार्गों से देश-विदेश जाकर व्यापार करते थे। वहाँ से तरह-तरह का माल लेकर स्वदेश लौटते थे।[5] चोल देश के समुद्र-तटवर्ती नगरों में अनेक वणिक रहते थे। बंदरगाहों में उनकी धाक थी। वे किसीसे द्वेष-वैर नहीं रखते थे। मछुओं, नाविकों और केवटों के साथ उनका स्नेहपूर्ण संबंध था। हत्या, चोरी आदि पापों से वे दूर रहते थे। देवी-देवताओं की पूजा-आराधना करते थे। याग-यज्ञ कराते थे। गायों को पालते थे। वैदिक आचार्यों तथा वेदविदों का यश

---

१. तोल्० १५६९-७०
२. वही, १५७५-७६
३. वही, ९७७-९८१
४. वही, १०२० (व्याख्या)
५. पुरनानूरु, ३०,३४३

फैलाते थे। पुण्य कमाने में तत्पर रहते थे। उनकी जीवनचर्या पुण्यशील थी। किसानों के जुए की तरह वे मध्यस्थ रहते थे। वे सुचित्त तथा सुचरित्र थे। बोलने में शालीनता, व्यवहार में भद्रता इनके सहज गुण थे। बदनामी से बहुत डरते थे। नेकी और ईमानदारी इनकी आदतों में थी। अपनी और परायी सम्पत्ति पर समभाव रखते थे। मूल्य उचित दर से अधिक नहीं लेते थे। तौलकर देने में धोखा या कपट नहीं करते थे। लागत से कम नहीं देते थे। ये कई भाषाएँ बोलते थे। अनेक देश-विदेशों की यात्राओं से प्राप्त अनुभवों के ये लोग धनी थे।[1]

नमक के व्यापारियों के जीवन का वर्णन पुरनानूरु (३०७), पेरुम्पाणाट्रुपटै (६४) आदि ग्रंथों में हुआ है। समुंदर पार का वाणिज्य, वणिकों की जहाजी यात्रा, वस्तुओं का विनिमय, बंदरों में विदेशी जहाजों का लंगर डालकर ठहरना आदि मदुरैक्काँचि, (५३६-५३७) पतिट्रुपत्तु (५२,७६) नट्रिणै (३१), और पुरनानूरु (३४३) ग्रंथों में वर्णित हैं।

४. **वेळ्ळाकर (कृषक लोग)** : ये चारों वर्णों में अंतिम थे। किन्तु निकृष्ट नहीं माने जाते थे। आर्य प्रदेश में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था में अंतिम वर्ण 'शूद्र' था। परन्तु तमिल प्रदेश में इस शब्द का या इसके तत्सम या तद्भव रूप का प्रयोग कभी और कहीं भी नहीं हुआ है। शूद्रों की जो दुर्गति वैदिक परम्परा के स्मृतिग्रंथों में देखने में आती है, उसका लेशमात्र भी तमिल प्रदेश में नहीं पाया जाता है। किन्तु संभव है कि ई० दसवीं शती के बाद कुछ कट्टरता, पक्षपात और रूखा व्यवहार इन अंतिम वर्णवालों के साथ हुआ हो। लेकिन उसका विकृत परिणाम समाज पर कभी नहीं पड़ा। दक्षिणापथ की यह एक विशेषता है। आर्य-संस्कृति को पचाकर अपनी विशिष्टता के अनुकूल उसमें परिवर्तन लाने की क्षमता तमिल-भाषी जन-समाज के कर्णधारों में थी। इसीका यह सुफल है, कि वर्ण-व्यवस्था, जो इधर की मूल वर्ग-व्यवस्था से प्रभावित और परिष्कृत हुई थी, संघर्ष के बदले समन्वय की वेदी बन सकी।

तोल्काप्पियर ने इन 'वेळाण्' लोगों के लिए खेती-बारी को ही प्रधान वृत्ति बताया है। राजाज्ञा पर सैनिक वृत्ति भी इन कृषक लोगों के लिए विहित थी। पर्व-त्योहारों के अवसर पर ये लोग फूलमाला धारण कर सकते थे। ये भी वैश्यों की तरह धनुष, भाला, बाजूबंद, जयमाला, रथ आदि रख सकते थे। इनके वर्ग में भ्रष्टाचारी लोगों को यह सब रखने का अधिकार नहीं था।[2] समाज के हित-लाभ, देवपूजा, देशरक्षा आदि के लिए अन्य जातियों के समान कृषक लोग भी घर से बाहर जाकर रह सकते थे। इसी प्रकार धन कमाने और राजदूत बनने

---

१. पट्टिनप्पालै, १६५-२१५ (पंक्तियां)

२. तोल्० १५७२-७३-७५, ७६

के लिए भी किसान लोग देश-विदेश जा सकते थे। परन्तु स्त्री अपने पति के साथ समुद्र-यात्रा पर नहीं जा सकती।[1] खेती और मज़दूरी करना, अतिथियों का आदर-सत्कार करना, ढोरों और रेवड़ों को पालना, देवाराधना तथा पर्व-त्यौहार में भाग लेना, विद्या सीखना—ये छहों कार्य किसानों के विशिष्ट कर्त्तव्य थे।[2]

कृषक तड़के ही खेत जोतने के लिए जुए, हल और बैलों के साथ घर से निकल पड़ते थे। दोपहर को उनकी स्त्रियाँ स्वादिष्ठ भोजन ले जाती थीं। खलिहान में बैठकर कृषक बड़े मज़े से अपनी घरवाली के हाथ का परोसा खाना खाते थे। उनका जीवन कितना मधुर, उत्तम और परोपकारी था और आज भी है![3]

कृषक लोगों का सुखी सम्पन्न जीवन, जमीन जोतने की रीति, बुवाई में लगी उनकी स्त्रियों का उल्लास आदि का मनोरम वर्णन 'पेरुम्पाणा ट्रुपटै' नामक संघकृति में (पंक्ति : १८५-२१५) पाया जाता है। कुरुन्तोकै (१५५) में भी कृपक के सुखी जीवन का तथा समाज में उसके प्रति आदर-भाव का परिचय मिलता है। अधिकांश संघकृतियों में कृषकों की प्रशंसा में, 'आर्कलि उळवर्' (आनंद और उल्लास से भरे किसान), 'चेंचाल् उळवर्' (वड़ी निपुणता से जोतनेवाले कृपक), 'पेरुनेल् पल्कूट्टु एरुमै उळव' (धान के भंडार का स्वामी, परोपकारी कृपक) आदि प्रयोग पाये जाते हैं। कृषि-कर्म के लिए प्रशस्त 'वेळाण्मै' का दूसरा प्रचलित अर्थ है, परोपकार। तमिलवेद तिरुक्कुरल् में कृषकों को सभी वर्णवालों से उत्तम और उपयोगी कहा गया है।

पूर्वोक्त चार जातियोंवाली वर्ण-व्यवस्था का जो उल्लेख तोल्काप्पियम् में मिलता है, उसे प्रक्षिप्त माननेवाले तमिल विद्वानों में मरैमलै अटिकल्, वेल्लैवारणन्, कतिरेशन् चेट्टियार आदि हैं। इनके प्रतिपक्ष में भी कम तमिल विद्वान् नहीं हैं। इतना तो माना जा सकता है कि तोल्काप्पियर ने वर्ण-व्यवस्था के प्रभाव का उल्लेख किया है, न कि उस व्यवस्था का समर्थन। उन्होंने जाति (चाति) शब्द का प्रयोग 'वर्ग' के अर्थ में किया है। 'नीर् वाळ् चाति'—जलवासी जाति (प्राणिवर्ग) का प्रयोग किया है।[4] बाद के ग्रंथों में भी वर्ण-व्यवस्था का ऐसा कोई वर्णन और स्वरूप-नियम नहीं मिलता है, जो मनुस्मृति आदि वैदिक धर्म के प्रतिनिधि ग्रन्थों में मिलता है।

इन चार वर्णों के अलावा पंचम वर्ण के लोगों का भी उल्लेख संघकृतियों में आया है। इन लोगों को पुलैयन् पुलैमकन्, इळिचिनन् आदि शब्दों से पुकारा जाना था। ये नीच स्तर के लोग माने जाते थे। ये खाट, चटाई आदि बुनते

---

१. तोल्० ९८०,९८३
२. वही, १०२० (व्याख्या)
३. तोल् नट्रिणै, ६०
४. तोल्० १५३५, १५५५

थे :[१] मरघट की रखवाली करते थे। मृतों को बलि देते थे।[२] अन्य वर्णवालों का कपड़ा धोना भी इन लोगों का पेशा था। खासकर इन लोगों की औरतें धुलाई का यह धंधा करती थीं।[३] ये लोग डमरू-जैसा बाजा बजाते थे और नाच-कूद में थिरकते और झूमते थे।[४] इनकी गंदी बस्तियों में सूअरों का झुंड घूम-घूमकर शोर मचाया करता था। मुर्गे-मुर्गियाँ भी ये लोग बहुत पालते थे।[५] जंगली और पालतू सूअरों के शिकार में ये लोग खास रुचि लेते थे। इस शिकार में ये दक्ष थे। सूअर के शिकार का वर्णन संघकृतियों में पाया जाता है। मांसाहारी तो ये लोग थे ही। इनके समाज में कर्म-कुकर्मों का नियमन कम था।[६]

प्राचीन पारिवारिक जीवन एवं सामाजिक जीवन के बारे में जितने मौलिक प्रमाण और परिचय तमिल ग्रन्थों में मिलते उतने अन्य दक्षिणी भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थों में नहीं हैं। इसका मुख्य कारण है, जब उन भाषाओं (कन्नड़, तेलुगु और मलयालम में) जो प्राचीन ग्रन्थ मिलते हैं, वे एक तो विशुद्ध संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद या अनुकरण हैं, दूसरे स्थानीय परिच्छाया में भी आर्य-संस्कृति और साहित्य से विशेष प्रभावित हैं। अत: उन द्राविड़ (तमिल परिवार की) भाषाओं में संस्कृत शब्दों और शैली की इतनी भरमार है कि उन भाषाभाषी विद्वानों में से कुछ लोग अपनी भाषाओं को 'आर्य या संस्कृत-परिवार की भाषा' घोषित कर रहे हैं!

(इ) भाषा और संस्कृति

तमिल देश में आर्य-संस्कृति तथा आर्य-साहित्य का प्रबल प्रभाव लगभग ईसा पूर्व तीसरी शती में ही फैलने लगा था। तबतक आन्ध्र और कर्नाटक पूरे के पूरे आर्य प्रभावित हो चुके थे। कन्नड़ का प्राचीनतम ग्रन्थ ई० नौवीं शती में बना। इसका नाम है 'कविराजमार्ग'। यह रीति-ग्रन्थ संस्कृत ग्रन्थ का अनुकरण है। आन्ध्र में रचा गया प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, गुणाढ्य कृत 'बृहत्कथा', जो शालिवाहन या सातवाहन के दरबारी कवि की प्राकृत भाषा की रचना थी। ईसा पूर्व तथा ईस्वी प्रारंभिक शतियों में आन्ध्र और कर्नाटक प्रदेशों में प्राकृत ही राजभाषा थी, जो आर्यप्रभाव की विजय-पताका थी। अत: वहाँ की बोलियाँ या भाषाएँ, जो तमिल परिवार की थीं, नामशेष-सी हो गयीं, अपना रूप-स्वरूप अधिकांशत: खो चुकीं

---

१. पुरम्० (पुरनानूरु), ८२
२. वही, ३६०, ३६३
३. कलित्तोकै. ७२ और पुरम्० ३११
४. पुरम्० १७०, और नट्रिणै, ७७
५. पट्टिनप् पालै. ७५-७६ (पंक्तियाँ)
६. मलैपडुकडाम्. १९३-१९५ (पंक्तियाँ); पेरुम्पाणाट्रुप्पडै, १०६-१११ (पंक्तियाँ); मदुरैक्कांचि, २९४-२९५ (पंक्तियाँ)

थीं। तेलुगु का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है, नन्नय भट्ट का 'आन्ध्र महाभारत'। इसका रचना-काल ई० १०२० है। मलयालम तो ई० बारहवीं शती तक तमिल भाषा की एक अभिन्न अंग रही। यह प्रदेश चेर राज्य के नाम से प्रसिद्ध था। संस्कृत तथा ब्राह्मण संस्कृति से मलयालम बाद को इतनी समाविष्ट हुई कि अब उसे 'संस्कृत हिमगिरि गलिता' (मलयालम भाषा संस्कृतरूपी हिमाचल से निकली गंगा-सरीखी है।) कहा जाने लगा! अतः दक्षिणापथ की प्राचीन संस्कृति के प्रमाण और परिचय के लिए हमें प्राचीन तमिल ग्रन्थों का ही अवगाहन करना पड़ता है। इससे, अन्य दक्षिणी भाषाएँ कम सम्पन्न हैं या साहित्य से कम सम्पन्न हैं, यह बात नहीं है। वस्तुस्थिति की यह प्रस्तुति मात्र है। अतः दक्षिणापथ की लोक-संस्कृति को प्राचीन तमिल ग्रन्थों के द्वारा देखना असंगत नहीं होगा। तमिल देश को अपनी प्राचीनतम विशुद्ध मौलिक संस्कृति से धीरे-धीरे हटकर, एक मिश्रित और सामासिक संस्कृति में समाविष्ट होने का सुयोग इन पड़ोसी आन्ध्र और कर्नाटक प्रदेशों के द्वारा ही प्राप्त हुआ।

द्राविड़ी भाषाओं की अपनी अलग-अलग लिपियाँ हैं। इनमें तमिल लिपि प्राचीन है और स्वतंत्र भी। संस्कृत के महाप्राण-अल्पप्राण, गुरु-लघु आदि सभी अक्षरों का समाहार तमिलेतर अन्य तीनों द्राविड़ी भाषाओं में पाया जाता है। तमिल के विशिष्ट अक्षर 'ऴ' ('ल' का मूर्धन्य) तथा रेफ का परुष स्वरूप मलयालम में है। तेलुगु और कन्नड़ में 'ऴ' अक्षर पहले था; बाद को हट गया। रेफ का मूर्धन्य तेलुगु में अब भी है।

तमिल लिपि की विशेषता के बारे में डॉ० न० वी० राजगोपालन का यह मंतव्य द्रष्टव्य है:

"तमिल भाषा काफी समय तक संस्कृत से अप्रभावित रही। अतएव द्राविड़ी भाषा के तत्त्वों को समझने में तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम की अपेक्षा तमिल भाषा अधिक सहायक है।... कन्नड़ का विकास ईस्वी पाँचवीं शती से, तेलुगु का दसवीं शती से और मलयालम का तेरहवीं शती से हुआ।...तमिल की अपनी विशिष्टताएँ ये हैं:

१. तमिल भाषा के शब्दों में प्रकृति और प्रत्ययों का अवस्थान स्पष्ट रहता है।

२. धातु शब्द अधिकतर एकध्वन्यात्मक हैं और बिना रूप-परिवर्तन के ही क्रिया एवं संज्ञा के रूप में प्रयोग हो सकता है।

३. तमिल के शब्दों का लिंग-निर्णय संस्कृत से भिन्न प्रकार का है। महत्-वाचक और अमहत्-वाचक (उयर्तिणै और अहिरिणै) नाम से सभी शब्दों के दो वर्ग हैं। महत्-वाचक (चेतन पदार्थ-वाचक) शब्दों में पुरुषवाचक शब्द पुल्लिंग में और स्त्रीवाचक शब्द स्त्रीलिंग में होते हैं। अमहत्-वाचक (अचेतन पदार्थ-वाचक)

शब्द नपुंसकलिंग में होते हैं।

४. पुंल्लिग और स्त्रीलिंग के एकवचन भिन्न-भिन्न रहते हैं। लेकिन वहुवचन-रूप दोनों के लिए समान होता है। अमहत्वाचक नपुंसकलिंग एक और वहुवचनों में भिन्न होते हैं। (तमिल में द्विवचनरूप है ही नहीं)।

५. तमिल के सर्वनामों में—पुरुषवाचकों में स्त्रीलिंग, पुंल्लिग और नपुंसकलिंग एकवचनों के लिए भिन्न-भिन्न शब्द हैं। (हिन्दी में वह शब्द तीनों लिंगों में चलता है। संस्कृत की तरह तमिल में उनके लिए अलग रूप हैं—जैसे अवन् (वह—पुं०), अवळ् (वह—स्त्री०), अतु (वह—नपुं०), तीन रूप हैं।)

६. तमिल की ध्वनियाँ संस्कृत की अपेक्षा कम हैं। ह्रस्व एकार, ह्रस्व ओकार, विसर्ग समान एक ध्वनि, 'ळ'कार का मूर्धास्थानयुक्त रूप, रेफ की परुष ध्वनि, 'ळ' कार ध्वनि—ये तमिल में हैं। संस्कृत की अनेक ध्वनियाँ—ऋ, ॡ, ख, ग, घ आदि वर्गों के दूसरे, तीसरे और चौथे अक्षर तमिल में नहीं हैं।

७. संयुक्ताक्षर तमिल में नहीं होते हैं। (संयुक्ताक्षर लिखने की रीति प् प (प्प), म् र (म्र), क् य (क्य)-जैसी होती है।

८. तमिल में द्वित्वाक्षरों का प्रयोग बहुत है।

९. तमिल में सरल वाक्यों का ही प्रयोग अधिक होता है। मिश्र और संयुक्त वाक्य नहीं होते। (कर्म तथा भाववाच्य प्रयोग तमिल में पहले नहीं थे; बाद को अनुकरण में अपनाये गये। फिरभी इनका विरला ही प्रयोग होता है।)

तमिल की एक अत्यंत प्राचीन लिपि थी। उसको वट्टेळुत्तु (गोल अक्षर) कहते हैं। इसका प्रमाण तोल्काप्पियम् में मिलता है। (बाद को संस्कृत शब्दों को लिपिबद्ध बनाने के लिए 'ग्रन्थम्' अक्षर अपनाये गये। यह मूल तमिल अक्षरों के परिवर्तित रूप हैं। प्रायः अर्वाचीन शिलालेखों में यह 'ग्रन्थन्' अक्षर प्रयुक्त हैं।) प्राचीन तमिल शिलालेख गोल अक्षरों से लिखे हुए हैं। प्रथम प्राचीन शिलालेख अबतक ईसवी चौथी शती का मिला है। मदुरै में प्राप्त यह शिलालेख गोल अक्षरों से लिखा हुआ है। कतिपय विद्वानों का मत है कि मोहन-जोदड़ो की लिपि प्राचीन द्राविड़ी लिपि (गोल लिपि) का ही नमूना है।"[१]

तमिल में अभिव्यक्ति के कई विशिष्ट प्रयोग हैं। आप और हम को मिला कर एक ही शब्द 'नाम्' (अपन लोग) तमिल में है। इसी प्रकार केवल 'हम' (श्रोता रहित) के लिए 'नांकळ्' शब्द अलग है। 'कित संख्यावान है ?' का बोधक 'एत्तनैयावतु या एन्तुणैयावतु' शब्द प्रचलित है। तमिल में दो या दीजिये के लिए तीन शब्द हैं। उनके प्रयोगस्थान अलग-अलग हैं। ई, ता, कोडु—यह तीनों 'दो' के अर्थ में प्रचलित हैं। जहां लेनेवाला देनेवाले से निम्न स्तर का हो,

---

१ 'तमिल साहित्य का नवीन इतिहास' पृष्ठ : ३२-३४.

वहाँ 'ई' (दो) का प्रयोग होता है। जहाँ लेनेवाला और देनेवाला दोनों समान श्रेणी के हों, वहाँ 'ता' का प्रयोग होता है। जहाँ लेनेवाला दाता से उच्च श्रेणी का या श्रेष्ठ हो, तो वह (लेनेवाला) 'कोडु' (दो) का प्रयोग करेगा। तमिल में सत्य के लिए तीन शब्द हैं—'वाय्मै' जो केवल बोलने में सचाई हो और मन में न हो; 'उण्मै' जो मन की बात सच हो; और 'मेय् में' जो बोलने और सोचने दोनों में सच हो। इस प्रकार कई विशिष्ट प्रयोग तथा अभिव्यक्तियाँ तमिल में हैं।

तमिल में तद्धित प्रयोग अधिक मात्रा में हैं। मूल और आश्रित संज्ञाओं से प्रत्यय या अन्य शब्द जोड़कर नये-नये रूपान्तर बनाने की विधि को तद्धित कहते हैं। यह प्रकार तमिल में अधिक मात्रा में अपनाया जा रहा है। अतः शब्द-भाण्डार की विपुलता मूल शब्दों के सहारे से ही बढ़ जाती है। संभवतया इसी बात का उल्लेख पाणिनि के सूत्रों के वार्तिककार कात्यायन की चर्चा में, महाभाष्यकार पतंजलि ने किया है, "प्रियतद्धितादाक्षिणात्याः (दक्षिण के लोग तद्धिति प्रयोग के शौकीन होते हैं।)"[1] आर. जी. भाण्डारकरने कात्यायन (वररुचि) को दाक्षिणात्य बताया है।[2]

तमिल की एक और विशेषता है कि जोभी अन्यभाषीय शब्द उपयुक्त मिलें, उन्हें पचा लेने या तत्सम बना लेने की क्षमता उसमें है।

(ई) लोक-संस्कृति

अधिकांश इतिहासकारों ने बार-बार इस बात को दोहराया है कि द्रविड लोग नाग की पूजा करनेवाले थे। किन्तु इसका कोई प्रमाण प्राचीन तमिल ग्रन्थों में नहीं है। नाग-पूजा आजभी अधिक मात्रा में केरल की कुछ खास जातियों में पाई जाती है। सर्प की बाँबी में दूध छिड़कने और फल-फूल चढ़ाने की रीति दक्षिण के अन्य प्रदेशों में कुछ विशेष दिनों में होती है। संभव है कि आर्येतर प्राचीन नाग जाति के लोगों में सर्प-पूजा प्रमुख रही होगी। नागों का विस्तार हिमाचल की तराइयों से लेकर सिंहल तक था। उनके प्रभाव से सर्प-पूजा का थोड़ा-बहुत समावेश स्थानीय लोक-संस्कृतियों में हुआ होगा। आर्येतर सभी वर्गों को 'द्रविड' या 'द्राविड' बताने की आदत इतिहासकारों से छुड़ाये नहीं छूटती। किन्तु असली द्रविडों की पूजा-उपासना नाग-पूजा से नहीं, किन्तु स्कन्द, इन्द्र, वरुण, विष्णु और दुर्गा की आराधना से ही शुरू होती है। इस तथ्य का प्रमाण तोल्काप्पियम् में मिलता है। उनके पहले तमिल लोगों की धार्मिक भावना क्या थी—इसका कुछ भी अनुमान आधारपूर्वक नहीं किया जा सकता। फिर भी तोल्काप्पियम् में एक संकेत मिलता है। उसके आधार पर उसके पूर्व समाज में काल (तीनों काल), लोक (स्वर्ग, भूमि और पाताल),

---

१. महाभाष्य, १, १. १,

२. Indian Antiquary Vol. (II) P. 240 (इण्डियन ऐण्टिक्यूरी)

जीवराशि, देह, सुख-दुःख के निर्णायक तथा अमानवी शक्तिसंपन्न देवता, पाँच भूतपदार्थ (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश), सूर्य, चन्द्र और मंत्र (मंत्र)—इनकी उपासना और आराधना होती थी।[1] तोल्काप्पियर ने दुनिया को पाँचों भूतपदार्थों का सम्मिश्रित सम्मोहन बताया है।[2] उनका समय तो परिष्कृत भक्ति-धारा एवं सगुणभक्ति की आराधना-पद्धति का था। उस समय के लोग, जो वन-प्रदेश, पर्वत-प्रदेश, नदी-प्रदेश (समतल-प्रदेश), समुद्रतट-प्रदेश और बंजर-प्रदेश में बँटकर रहते थे, क्रमशः विष्णु, स्कंद, इन्द्र, वरुण और दुर्गा की आराधना करते थे।[3] इन देवताओं को आम शब्द 'दैव' से निर्देश करने की प्रथा थी। तोल्काप्पियर ने 'तेय्वम्' (दैव) शब्द का कई बार प्रयोग किया है। इसके अलावा दैव-वाची ठेठ तमिल शब्दों का भी प्रयोग किया है—कटवुळ्, इयवुळ्, इरैवन् आदि। भगवान् के अर्थ में 'कटवुळ्', ईश्वर के अर्थ में 'इयवुळ्' और सर्वव्यापी विष्णु के अर्थ में 'इरैवन्' ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं। आराध्य कुलदेवता के लिए 'वळिपटु तेय्वम्' का शब्द प्रस्तुत किया है। राजा को देवता का अवतार या देवतास्वरूप मानना उनके समय में प्रचलित था। राजा के अर्थ में प्रचलित 'वेन्तन्' का मुख्य अर्थ 'इन्द्र' है। इसी अर्थ में तोल्काप्पियर ने इन्द्र-पूजा का संकेत किया है।

बाद के संघकालीन ग्रन्थों में दैवपूजा, उत्सव, विशेष आराधना आदि का स्पष्ट वर्णन है।

वन-प्रदेशवासी व्याध (शिकारी) ग्वाले, गड़रिये आदि अपने कुलदेवता विष्णु की आराधना में तरह-तरह के पूजाविधान रचते थे। मुख्यतया इन संदर्भ में वे 'कुरवैक्कूत्तु' नामक सामूहिक नृत्य करते थे, जो गाना, बजाना, नाचना, झूमना आदि का मिला हुआ उल्लासपूर्ण प्रदर्शन था। इस नृत्य के लिए अलग गीत, राग तथा नृत्य के प्रकार थे। इस उल्लासपर्व का रोचक वर्णन संघकृतियों में कलित्तोकै (१०३, १०६), अकनानूरु (२०, २३२), पुरनानूरु (२४, १२९), मलैपटुकटाम् (३२१, ३२२), में देखनेलायक है। शिकारी लोग 'वेट्टुव वरिक्कूत्तु' नामक एक विशेष सामूहिक नृत्य एवं पर्व मनाते थे। इस बात का वर्णन मतुरैक्काँचि (६१३-६१५), शिलप्पतिकारम् आदि में मिलता है। पूर्वोक्त 'कुरवैक्कूत्तु' (ग्वालों का सामूहिक पर्व-त्योहार और नृत्य) का सुन्दर और विस्तृत वर्णन शिलप्पतिकारम् में किया गया है।

पर्वत-प्रदेशवासी वनचर और कंजर लोग अपने प्रिय आराध्य देव स्कंद (मुरुकन्) को प्रसन्न करने के लिए भावावेश में उछल-कूदवाला पर्व-नृत्य करते थे।

---

१. तोल्. ५४०

२. वही, १५८२

३. वही, ९५१

इसमें भी सामूहिक गान और नाच होते थे। किसी एक नर्तक या नर्तकी पर स्कन्ददेव का आवेश आना और उसके द्वारा भविष्यवाणी, मनौती के समाधान, जिज्ञासाओं के जवाब आदि बताना — यह सब होता था। इस पर्व-नृत्य को 'वेरि-याट्टु', 'वेलन् कुरवैक्कूत्तु' आदि नामों से पुकारते थे। इनके समाज में कुलदेवता स्कन्द के पुजारी (वेलन्) की बड़ी धाक थी। उन पर्व-नृत्यों का रोचक वर्णन 'तिरुमुरुकाट्रुप्पटै' (१९-१९७; २२२-२४४); 'मतुरैक्कांचि' (२८४); 'पट्टि-नप्पालै' (१५४-१५८); ऐंकुरुनूरु (२६३); अकनानूरु (२४२, २७२, २९२, ३८३, २२, ११४); 'नट्रिणै' (३२२) और परिपाटल् (५) में किया गया है।

नदी-प्रदेशवासी किसान अपने कुलदेवता इंद्र की पूजा में समारोहपूर्वक उत्सव मनाते थे। पाँचों प्रदेशवासियों में सम्पन्नता और सभ्यता की दृष्टि से यही लोग श्रेष्ठ माने जाते थे। इंद्रपूजा में अन्नकूट, फल, फूल आदि नैवेद्य चढ़ाना, सामूहिक नृत्य-गान, सहभोज आदि होते थे। इंद्रपूजा का वर्णन विस्तार से शिलप्प-तिकारम् (ई० दूसरी शती का महाकाव्य) में हुआ है। उसके पूर्व संघकालीन ग्रन्थों में, ऐंकुरुनूरु (६२), 'परिपाटल्' (५, ९, १९); पतिट्रुपत्तु (४८) आदि में इन्द्र तथा इन्द्रपूजा का वर्णन है।

समुद्रतट के निवासी मछुए और नाविक लोग अपनी समुद्र-यात्रा, मछली-शिकार तथा वर्षा, आँधी आदि उत्पातों से रक्षा के निमित्त वरुण की पूजा-आराधना करते थे। नट्रिणै (३७२), पेरुम्पाणाट्रुपटै (८३-२२८७); ऐंकुरुनूरु (२७८) अकनानूरु (१०, ६०, ३२०) आदि में मछुओं और नाविकों के जीवन तथा पर्व-त्योहार का वर्णन मिलता है।

वंजर-प्रदेशवाले लड़ाकू डाकू लोग अपनी कुलदेवी दुर्गा (कोट्रवै) को वलि चढ़ाते थे; पूजा के अवसर पर सामूहिक नृत्य-गान में थिरकते और झूमते थे। इस देवी और इन प्रदेशवासियों का वर्णन, नट्रिणै (१८५, १९२, २०१, ३९१) कुरुन्तोकै (८९, १००, २१८); अकनानूरु (६२, २०९); तिरुमुरुकाट्रुप्पटै (२५८-२५९); पेरुम्पाणाट्रुप्पटै (४५७-४५९) में किया गया है।

शिवजी की आराधना का विशद वर्णन भी संघकालीन ग्रन्थों में पाया जाता है। इस समय वलराम भी आराध्य देवताओं में एक थे। परिपाटल् (१, २, १३), कलित्तोकै (२६, ३६, १०४, १०५), पुरनानूरु (५६) में बलराम की प्रशस्ति गाई गई है। संघकाल में (ईसा पूर्व पाँचवीं शती से ईस्वी दूसरी शती तक) स्कन्ददेव, विष्णु तथा शिव—ये तीनों ही अधिकांश लोगों के प्रिय आराध्य-देव थे। इन्द्र, वलराम, वरुण—तीनों की आराधना वाद को समाज में से उठने लगी। आज उनकी पूजा नहीं के वरावर है।

प्राचीन काल में, युद्ध-क्षेत्र में मातृ-भूमि की आन पर वीरगति पाये हुए महायोद्धाओं और सेनानियों की स्मृति में शिलाएँ प्रतिष्ठित की जाती थीं।

उन शिलाओं को देवता के समान पूजते थे। उनपर धनुष-बाण अंकित करते थे और वीरगति पाये हुए योद्धाओं के नाम, शौर्य आदि के विवरण भी अंकित किये जाते थे। ये वीर-शिलाएँ गाँव या वस्ती की सीमा पर गड़ी रहती थीं। उन वीर-वरों के मृत्यु-दिवस पर उनकी स्मारक-शिलाओं के सामने घी के दीप जलाते थे; उनपर वलि चढ़ाते थे; पावन नीर से मंगल-स्नान कराते थे। उनपर लाल रंग के फूल और मदिरा, फल और पकवान चढ़ाते थे। त्योहार मनाते थे; नाच-गान होते थे। राह चलते नर-नारी तथा अन्य पथिक उन शिलाओं के सामने सिर झुकाकर आदर-भाव दिखाते थे। स्त्रियाँ उनके नाम पर मनौतियाँ मनाती थीं; कामना पूरी होने पर अभिषेक, शृंगार, नैवेद्य तथा नाच-गान के साथ मनौती पूरी करती थीं। ऐसे पूज्य 'शिलारूपी' बनने का सौभाग्य वीरयोद्धा या सेनापति को ही नहीं, किन्तु राजा-महाराजाओं को भी प्राप्त था। ऐसी वीर-शिला को 'नदुकल्' तथा उसके पूजा-पर्व को 'नट्टुकल्‌विळा' या 'कर्कोळ्निलै' कहते हैं। इन बातों का संकेत तोल्काप्पियम् में मिलता है।[1] बाद के संघकालीन ग्रन्थों में तो उनका वर्णन बार-बार आया है। प्रायः सभी 'पुरम्' (बाह्य या दृश्य जीवन) की गाथाओं में वीर-शिलाओं की प्रशस्ति गाई गई है। उनमें अकनानूरु (६७, १३१, २९७); पुरनानूरु (२२१, २३२, २६०, २६३-२६५, ३०६, ३१४, ३२९); ऐंकुरुनूरु (३५२) के पद्य विशेषरूप में उल्लेखनीय हैं।

वीरों के भाले और शूल भी पूजे जाते थे। विशेषकर कार्तिक महीने के कृत्तिका नक्षत्र के दिन उन हथियारों की पूजा में दीपावली मनाई जाती थी। इसका उल्लेख तोल्काप्पियम् (१०३३-३४) में मिलता है।

सती-साध्वी स्त्रियों को भी, उनकी मृत्यु के बाद, स्मारक-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करके पूजते थे। इस बात का वर्णन पतिट्रुप्पत्तु (५), और पुरनानूरु की व्याख्या में मिलता है। सती कण्णकी की महत्तम गाथा के रूप में प्रसिद्ध है 'शिलप्पतिकारम्', जो चेर राजकुमार इळंगो द्वारा ई० दूसरी शती में रचित प्रथम महाकाव्य है। आज भी तमिलनाडु में द्रौपदी, कण्णकी आदि पतिव्रता सतियों के मंदिर हैं। वहाँ पर सार्वजनीन उत्सव प्रतिवर्ष मनाये जाते हैं।

बाद को, बौद्धों के प्रभाव से विहार, चैत्य और जैनों के प्रसार से 'पळ्ळि' (शिक्षा-केन्द्र), समवसरण (मंदिर) आदि निर्मित हुए। उनका प्रभाव घट जाने पर, शैव, वैष्णव तथा देवी-दुर्गा के सुविशाल मंदिर इतिहास एवं संस्कृति को प्रकाश में लानेवाले दक्षिणापथ के स्थान-स्थान पर निर्मित हुए हैं। वे आजभी अपनी अमिट गरिमा पर गर्वपूर्वक खड़े हैं।

आर्य-संस्कृति के प्रसार के पूर्व ही तमिल लोगों में साहित्य, संस्कृति और

---

१. तोल्० १००६

कला की अपनी सम्पन्न परम्परा थी। भवन-निर्माण, शिल्प, चित्रकारिता, संगीत, नृत्य आदि में उन लोगों का काफ़ी विकास हुआ। आर्य-संस्कृति के सापेक्ष और समन्वयात्मक प्रसार से परस्पर लाभ-ही-लाभ हुआ। दक्षिणापथ के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अपनी मौलिक सत्ता को बचाये और बनाये रखने में तमिल समाज जागरूक रहा। संघर्ष और समन्वय के संदर्भों में उसकी यह जागरूकता अक्षुण्ण रही। सांस्कृतिक धाराओं के प्रवाह-मार्गों में यह सब बातें अनिवार्य हैं, वे होकर ही रहेंगी—हुई भी हैं।

(३) आदर्श संस्कृति

तमिल लोगों की अपनी आदर्श संस्कृति का सर्वांगीण परिचय संघकालीन ग्रंथों, शिलप्पतिकारम् और तमिलवेद तिरुक्कुरळ् में स्पष्ट देखने में आता है।

वीरता में तमिल लोग विशिष्ट आदर्श रखते थे। पुरनानूरु ग्रन्थ एक प्रकार से वीरगाथा-संग्रह ही है। इसमें ईसा पूर्व पाँचवीं शती से लेकर ईसवी दूसरी शती तक की वीरगाथाओं का संकलन हुआ है। चार सौ फुटकर कविताओं का यह ग्रन्थ ई० दूसरी शती में संकलित किया गया। संघकालीन ग्रन्थों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उस समय की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति-गति का ज्वलंत परिचय इसमें मिलता है।

उस काल में वीरयोद्धाओं का समाज में बड़ा आदर था। वीर-मरण पाना ही उनका प्रिय ध्येय था। मातृभूमि की आन पर मर मिटना उनका सर्वोत्तम लक्ष्य था। वे मानव-जीवन को 'एक दिन का जीवन' मानते थे। मृत्यु को अवश्यंभावी मानकर उसे उत्तम ध्येय और संदर्भ के लिए आमंत्रित करते थे। 'वीरों में संघर्ष, एक दूसरे को मार डालना और जीतना इस संसार की सहज प्रवृत्तियाँ हैं।[1] हम ही श्रेष्ठ वीर हैं; हमसे भिड़नेवाले अवश्य हार जायेंगे। हमारी सेना ही बलवती है।'[2]—यह विचार उन लोगों में व्याप्त था।

युद्धक्षेत्र में वीर-गति पाना ही श्रेष्ठ मृत्यु मानी जाती थी। जिन वीरों को वीर-गति नहीं मिली, और उनका अनायास मरण हो गया, उनकी मृत देह को तलवार से भेदकर गाड़ दिया जाता था।[3] एक चेर राजा और एक चोल नरेश में युद्ध छिड़ गया। रणभूमि में संयोगवश चेर राजा की पीठ पर शत्रु का आयुध-प्रहार पड़ गया। पीठ पर व्रण या चोट लगना वीरों के लिए बहुत बड़ा अपमान माना जाता था। इस असह्य संताप से उस चेर राजा ने अनशन करके प्राण त्याग कर

१. पुरम् (पुरनानूरु), ७६
२. वही, ७८
३. पुरम्, ९३

दिया।[1] छाती पर हथियार की चोट पाना ही मान और आन की निशानी थी। तमिल वेद तिरुक्कुरळ् में कहा गया है, 'वीर अपने जीवन के उन दिनों को व्यर्थ मानते हैं, जिन दिनों शत्रुओं से लड़कर छाती पर आयुध-प्रहार न पा सके हों।'[2]

चढ़ाई के समय आक्रामक राजा शत्रु के देश में यह घोषणा करा देता था कि गायों, ब्राह्मणों, स्त्रियों, अस्वस्थ लोगों, पुत्र-हीन दम्पतियों और बूढ़ों को सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दें। वे युद्ध में उन लोगों को कोई हानि नहीं पहुँचाते थे।[3] प्रायः उस ज़माने में युद्ध में भी नैतिकता का पालन होता था।

एक वीरयोद्धा रणक्षेत्र में शत्रुपक्ष के हाथी से भिड़ा; उसके अभियान को रोका, उसकी चोट से धराशायी होने के साथ-साथ उस हमलावर हाथी को मार गिराकर ही वीर-योद्धा ने अपने प्राणों को छोड़ा। यह समाचार सुनकर उसकी माता को ऐसा आनंद हुआ, जो उस पुत्र के जन्म के समय हुए हर्ष से भी अधिक था।[4]

एक धीर माता ने अपने पुत्र को लड़ाई में भेज दिया। शाम को उसने यह भ्रामक खबर सुनी कि उसका बेटा मैदान से भाग खड़ा हुआ। माता तैश में आ गई। उसने प्रतिज्ञा की, "अगर यह बुरी खबर सच निकली, तो मैं इन स्तनों को काटकर फेंक दूँगी, जिनका दूध पीकर वह कुपूत पला और बड़ा हुआ।" यह तत्काल मैदान में जाकर उसे ढूँढ़ने लगी। वहाँ मृतवीरों में उसका सपूत भी छाती पर प्रहार लेकर चित्त पड़ा हुआ था। बूढ़ी माँ को उसकी वीर-गति पर अत्यंत आनंद हुआ।[5]

एक तरुणी माता ने मातृभूमि पर चढ़ आये आक्रामकों से लड़ने के लिए अपने इकलौते बालक को भी हथियार के साथ समरभूमि पर भेज दिया। लड़ाई में उस तरुणी के पिता, भ्राता और पति सभी मारे गये। तब भी उसका चित्त विचलित नहीं हुआ। अबोध बालक का भी देशरक्षा के लिए बलिदान करना उसने अपना परमधर्म समझा।[6]

एक धीर माता का यह उद्‌गार था, "वीर सपूत को जन्म देना मेरा कर्तव्य है। पिता का कर्त्तव्य है उसे स्वस्थ, सुयोग्य और सुशिक्षित बनाना; राजा का कर्त्तव्य है उसे कुशल सेनानी बनाना, और उस बेटे का कर्त्तव्य है मातृभूमि की आन पर रणभूमि में शत्रुदल को चकनाचूर कर स्वयं वीरगति पा जाना; तभी

१. वही, ६५
२. तिरुक्कुरळ्, ७७६
३. पुरम्, ६
४. वही, २७७
५. वही, २७८
६. वही, २७६

मेरा मातृत्व सफल माना जायगा।[1]

संघोत्तर-काल में तमिल कवियों का समादर राजा तथा प्रजा दोनों ही करते थे। उन कवियों की प्रशस्ति के लिए राजा और धनिक लोग लालायित रहते थे। वीरों की प्रशस्ति करते कविगण अघाते नहीं थे। कवियों का मुख्य ध्येय भाषा, साहित्य और संस्कृति का प्रसार और विकास था। वे तटस्थ थे, समन्वयकारी उदारचेता थे और गुण-ग्राही थे।

उस ज़माने के राजाओं में कई श्रेष्ठ दानी थे। उनमें से सात दानी राजाओं का गुण-गान संघकृतियों में किया गया है। उनके नाम हैं : पेकन्, पारि, कारि, आय्, अतियमान्, नल्लि और ओरि। ये सब कवियों, कलाकारों तथा याचकों को मुक्तहस्त से धन-धान्य देते थे। इनकी गुणग्राहकता आदर्श थी। वीरता में भी ये अद्वितीय थे।

पेकन ने वरसात में नाचती हुई मोरनी को पानी से भींगने न देने के लिए उसपर अपना क़ीमती शाल ओढ़ा दिया। पारि ने रास्ते में, अवलंब के अभाव से, धरती पर फैली चमेली की लता को देखा, तो उसे रहा न गया। उस लतिका को अपने रथ पर चढ़ा दिया। रथ को वहीं छोड़कर खुद पैदल चला आया। कारि (मलयमान तिकमुडिक्कारि) ने केवल अपनी पत्नी को छोड़कर बाक़ी सारी सम्पत्ति को दान में दे दिया। आय् (आय् अण्डिरन्) कृषक जाति का सामंत नरेश था। उसने अपनी राजकीय सम्पत्ति को कवियों और याचकों में बाँटकर स्वयं कंगालपन मोल ले लिया। अतियमान नेडुमानंचि चेर-नरेश था। उसने औवैयार नामक कवयित्री को एक अपूर्व आँवले का फल भेंट कर दिया, जिसे खाने से यह विश्वास किया जाता था कि दीर्घ आयु, सुंदर स्वास्थ्य, और चिर यौवन प्राप्त होगा। उसे अतियमान ने एक घने जंगल के वहुत पुराने आँवले के पेड़ से प्राप्त किया था। वह एक ही फल वचा था, जो उस दानी राजा के हाथ लगा। उस अपूर्व 'अमृत-फल' को भी उसने दान में दे दिया। उसके दान का तो कोई हिसाब ही नहीं। दानी ओरि शिकारियों का दलपति था। उसे 'वल् विल् ओरि' पुकारते थे। वह बाण चलाने में वेजोड़ था। एक ही बाण से एकसाथ हाथी, वाघ, हिरन और जंगली सुअर को छेद डालने की अद्भुत शक्ति और निशानेबाजी उसमें थी। वह अपना भोजन तक अतिथियों और आगंतुओं को भेंटकर स्वयं भूखा रह जाता था। उसकी दानशीलता सारी शिकारी जाति के लिए गर्व और गौरव की बात थी।

इन सातों दानियों के वर्णन पुरनानूरु और चिरुपाणाट्रुप् पटै ग्रन्थों में खूब मिलते हैं। अन्य तत्कालीन ग्रन्थों में भी इन दानियों की गौरव-गाथा गाई गई है।

संघ-काल के सैकड़ों कवियों में कुछ कवयित्रियाँ भी प्रसिद्ध हुई हैं। स्त्रियों

---

१. पुरम् ३१२

को उच्च शिक्षा, सामाजिक समादर तथा राजसम्मान पुरुषों के समान ही मिलता था। उनमें औवैयार, काक्कैपाटिनियार, नाकैयार, ऊण्पित्तै, माचात्ति, इळवेयिनि, कुरियेयिनि (ये दोनों कंजर जाति की स्त्रियाँ थीं); तायंकण्णियार, नक्कण्णैयार, पारि मकळिर्, पेरुंकोप्पेण्डु, इळवेयिनि, वेण्णिक् कुयत्तियार, आदि के नाम और पद्य प्रसिद्ध हैं।

पतिव्रता नारियों का बड़ा मान था। 'कर्प्पु' (सतीत्व) की दैवी महिमा पुरनानूरु (१२२, १९८), तोलकाप्पियम् (कर्प्पु प्रकरण, ५), शिलप्पतिकारम् (११,८५-६) आदि में गाई गई है। तमिलवेद तिरुक्कुरळ् ने सती पत्नियों का महिमा-गान इस सुप्रसिद्ध पद्य में किया है—"सती गृहिणी पति को ही देवता मानती है और उसीकी वंदना करती है। वह और किसी देवी-देवता को मानती या पूजती ही नहीं। प्रतिदिन प्रातः उठते ही पति के चरण छूकर प्रणाम करती और अपनी गृहस्थी के काम में लग जाती है। ऐसी पतिव्रता पत्नी के वचन में दैवीशक्ति होती है। उसके कह देने पर अकाल के दिनों में भी वर्षा हो जाती है।[1] आपस्तम्ब धर्म-सूत्र में भी इसी मत की पुष्टि हुई है। इस संदर्भ का उल्लेख करते हुए प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् जे० जे० मेयर ने लिखा है, "इस शताब्दी में वैसी सती-पतिव्रता नारियों में दैवीशक्ति होने का सार्वजनीन विश्वास भारत के हिन्दू-समाज में दृढ़ता के साथ फैला हुआ है। सभ्यता की नई रोशनी में चौंधते यूरोप के लोक-समाज के प्रभाव के बीच में भी यह विश्वास सजीव बना हुआ है।[2]

अच्छी आदर्श संस्कृति के अमिट चिह्न होते हैं लोगों के शिष्टाचार और विचार। आचार के प्रकार और उत्कर्ष हम देख चुके हैं। अब प्राचीन तमिल लोगों के ऊँचे आदर्श और विचार भी देखें। ये विचार पूरे दक्षिणापथ का प्रतिनिधित्व करते हैं। संघपूर्व तथा संघकाल में उत्तरापथ और दक्षिणापथ के बीच में शिष्ट अभिजनों के आवागमन तथा विचारों के आदान-प्रदान कम थे। किन्तु दक्षिणापथ के अन्दर देश-प्रदेशों का आपसी सम्पर्क बना रहा। शिष्ट आचार-विचारों में पूरे दाक्षिणात्य अभिन्न थे। वे सजातीय थे और सहजीवी भी। अतः इन ऊँचे आदर्श विचारों पर जैसे तमिलभाषी गर्व कर सकते हैं, वैसे ही पूरे दक्षिणवासी भी।

---

१. तिरुक्कुरल्, ५५

२. Any man that lives in unbroken chastity can do this (bring rain); Apastamba ii. 9.23, 7. In his sexual purity, therefore, there lies a magic power; this is a widespread belief, indeed, in the world, and still alive today even among Cultured European mankind. —J.J. Meyer : 'Sexual life in India' Vol. II, p. 547.

तोल्काप्पियर के समय (ई० पूर्व छठी शती) से लेकर भारती के समय (पिछली शती) तक दक्षिण के लोगों में ऋग्वेद की यही उदात्त कामना **आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः** (प्रत्येक दिशा से शुभ एवं सुंदर विचार हमें प्राप्त हों) परम्परागत थाती-जैसी चली आई है। तोल्काप्पियर ने अच्छे विचारों,विषयों और ग्रन्थों को तमिल में अनूदित करने की अपील की है।[१] पड़ोसी बोलियों या भाषाओं से अनुकूल शब्दों को आत्मसात् कर लेने की सिफ़ारिश की है।[२] 'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य पर, जो मानव के आंतरिक शत्रु हैं, विजय पाना ही उनकी सच्ची वीरता एवं सफलता है। दया, स्नेह और सहानुभूति ही मानवीय धर्मों में उत्तम और शोभावह होते हैं। सभी उत्तम विचारों और उनसे प्रभावित एवं रचित ग्रन्थों के आदिकर्त्ता केवल भगवान ही हैं। मूल, आश्रित और जन्य—इन तीनों पदार्थों का समाहार ही यह जगत् है।....'—ऐसे कई आदर्श विचार तोल्काप्पियर ने व्यक्त किये हैं।

संघकालीन रचनाओं में उस समय के कवियों के द्वारा अनेक आदर्श विचार व्यक्त किये गये हैं। जैसे :

'लोगों का जीवन केवल अन्न-जल पर आधारित नहीं है; वह तो अच्छे शासक के नीतिपूर्ण सुशासन पर अवलंबित है। अतः शासक ही इस लोक के प्राणाधार होते हैं। इस उत्तरदायित्व को अनुभव करना और अपने कर्त्तव्य का पालन करना शासकवर्ग का परमधर्म है।'[३]

'महात्मा आदर्श पुरुषों के अस्तित्व से ही यह जगत् जीवित है, सक्रिय है और सम्पन्न होता जा रहा है। वे महात्मा लोग इन्द्रलोक का अमृत ही मिले तो भी उसका सेवन अकेले नहीं करते। वे काम, क्रोध, लोभ आदि पर विजय पा चुके हैं। वे डर को कभी पास नहीं फटकने देते। अन्याय और बुराई को वे किसी प्रवल सत्ता के भय से स्वीकारते ही नहीं। श्रेय के लिए जो परोपकार के अंग होते हैं, वे अपने प्राणतक निछावर करने को तैयार रहते हैं। अविचार, अपयश और अनीति के सामने वे कदापि सिर नहीं झुकाते। यह सारी दुनिया ही उनके मूल्य पर मिले, तवभी उन बुरी वातों का वे पक्ष नहीं लेते। उन महापुरुषों में आलस्य, अधीरता कुंठा आदि के लिए स्थान ही नहीं है। वे स्वांतस्सुखाय नहीं, किन्तु परहिताय ही जीते हैं।'[४]

'परिवार में और समाज में भी जाति या जन्म से वड़े और छोटे की गणना

---

१. तोल्, १५६०
२. वही, ८८४–८५
३. पुरम्, १८६
४. पुरम् १८२

तो केवल आयु की दृष्टि से देखी जाती है। किन्तु असली बड़ाई और छोटाई शिक्षित और अशिक्षित के अनुसार होती है। नीच जाति का या परिवार में सबसे छोटा भी हो, यदि वह सुशिक्षित है, तो उसका समादर सबको करना है। राजा भी उसीका सम्मान करता है। बड़े लोग उसीकी प्रशंसा करते हैं। जनसाधारण भी उसीको मानता है।'[1]

'इस दुनिया में भूमि की लालच में लड़े-झगड़े शासकों की संख्या तो समुद्र-तट के रेत-कणों से भी अधिक है। उनका अंतिम आश्रयस्थल मरघट ही रहा, भले ही वे साम्राज्य-विजयी चक्रवर्ती महाराजा हों। अतः दूसरे देशों पर चढ़ाई करना, साम्राज्य-विस्तार का लोभ बढ़ाना, अपनी राजसत्ता फैलाना—ये सब व्यर्थ प्रयास हैं। यही नीति जनसाधारण पर भी लागू होती है। अतः यश, श्रेय और हित के काम करना मानवमात्र का धर्म है।'[2]

'भीख माँगना छोटा काम है, पर माँगने पर नकारना उससे भी घटिया काम है। बिना माँगे उदारता से दान देना श्रेयस्कर काम भले ही हो, किन्तु उससे श्रेष्ठ और बड़ाई का काम है उस दान को विनयपूर्वक अस्वीकार कर देना।'[3]

'वह प्रदेश जंगली हो, बंजर हो, ऊबड़खाबड़ हो या दुर्गम स्थल हो, इनसे कोई हानि नहीं है। यदि वहाँ उत्तम, उद्यमी, कर्मठ पुरुष रहते हों, तो उस प्रदेश से सम्पन्न और श्रेष्ठ स्थल और कोई नहीं है। लोगों के सदाचार और सद्‌विचारों पर ही देश-प्रदेश का विकास और बड़प्पन अवलंबित है।'[4]

'सारे देश-प्रदेश हमारे हैं; हम मानव सब बंधु-मित्र हैं। सारे देशवासी हमारे भाई हैं, स्नेही हैं। हमें पाप, पुण्य, सुख, दुःख, लाभ, हानि आदि दूसरों के पहुँचाये नहीं पहुँचते। वे सब हमारे ही किये-कराये कर्मों के फलाफल होते हैं। मृत्यु तो जीवमात्र की अनिवार्य और अवश्यंभावी घटना है। अतः इस जीवन पर रीझना और खीझना दोनों बेकार हैं। धारा-प्रवाह में पड़ी नाव की तरह हमारा जीवन भी अपने-आप चलकर एक-न-एक दिन पार पा ही लेता है। यही ज्वलंत सत्य है। इसीका समर्थन प्राचीन ग्रन्थकारों ने किया है। अतः हम पद, धन और मान से बड़े बने बुजुर्गों की चापलूसी नहीं करेंगे; उनका गुण-गान नहीं करेंगे; तथा उन वैभवों से वंचित छोटे लोगों की अवज्ञा भी नहीं करेंगे। हम तो केवल मानवता की मर्यादा रखेंगे। जहाँ भी गुण हों, धर्म हों, उनकी बड़ाई अवश्य करेंगे।' इस प्रशस्त आदर्श-विचार के अभिवक्ता थे संघकालीन कविवर ज्योतिषी कणियन्

१. पुरम्, १८३
२. वही, ३६३
३. वही, २०४
४. वही, १८७

पूंकुन्रनार्।[1]

इस प्रकार के अनेक आदर्श विचार अन्य संघकृतियों में भी भरे पड़े हैं।

समन्वयकारी आर्य-संस्कृति

देश-विदेश में फैलने और बस जाने की यायावरी आर्यों की सहज प्रवृत्ति थी। इनकी देखादेखी और इनकी सहायता से दक्षिणापथी (द्राविड लोग) भी पूर्व और पश्चिम के देशों की यात्रा करते थे। कुछ लोग वहीं बस गये; कुछ लोग जाना-आना जारी रखते थे। ये द्राविड लोग अपनी भाषा और संस्कृति का प्रसार उन देशों में करते थे। वहाँ के शब्दों और संस्कारों को भी कुछ-न-कुछ लेते थे। दक्षिणापथियों का सम्पर्क वेदकालीन आर्यों, तथा आर्य-देशवासियों के साथ प्रागैतिहासिक काल में ही शुरू हो चुका था। यह सम्पर्क समुद्र-मार्ग से अधिक, स्थल से कम बढ़ता रहा।[2]

अधिकांश तमिल विद्वानों का मत है कि द्राविड (तमिल-परिवार के लोग) दक्षिणापथ के मूल निवासी थे। डॉ० काल्डवेल, मैक्समूलर-जैसे पाश्चात्य विद्वानों के इस निर्णय के समर्थन में कोई मान्य प्रमाण नहीं है कि द्राविड विदेशी थे, वे मध्य एशिया से हिमालय की उत्तर-पश्चिम घाटियों के मार्ग से आर्यों के पूर्व भारत में आये और दक्षिण में फैल गये।[3]

दक्षिणापथ की तथा वहाँ के मूल निवासी द्राविड़ों की अति प्राचीनता के कई प्रमाण भूगर्भवेत्ता विद्वानों ने प्रस्तुत किये हैं :

"प्राचीन काल में दक्षिण भारत, दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलिया एक दूसरे के साथ भूमिमार्ग से जुड़े हुए थे। इन प्रदेशों के अतिरिक्त बीच की भूमि समुद्र में डूब गई। उस पुराने महाद्वीप का नाम वैज्ञानिकों ने 'लेमूरिया' रख लिया है। इस भूखंड के निवासी आर्येतर थे।"[4]

"भारत का दक्षिण भाग प्रायः बहुत प्राचीन है। भूगर्भवेत्ताओं ने प्रमाणित किया है कि दक्षिण की चट्टानें अत्यन्त प्राचीन हैं। विन्ध्यपर्वत, नीलगिरि, पलनी, पोतियमलै (मलय), अन्नामलै आदि प्राचीनतम पर्वतों में गिने जाते हैं। इस काल के दक्षिण-निवासी पहाड़ी मैदानों में बसते थे। वे अन्य भूखंडों

---

१. पुरम् १९२
२. आधार : द तमिलियन् ऐण्टिक्यूरि—लेखः 'ग्लिम्पसेस आफ़ एन्शियण्ट द्रविडियन्स्' (लेखकः ई० एस० डवल्यू० सेनापति राजा)
३. आधार : वही. लेख : 'द भारत लैण्ड'—(डी० सवरिरायन) पृष्ठ ९-१८
४. ऋग्वेदिक इंडिया भाग-१ (अंग्रेजी)—ए० सी० दास, पृष्ठ ९४

के मूल निवासियों की तरह नितांत बर्बर नहीं थे।[1]"

"बहुत प्राचीन काल में मलेशिया तथा पोलिनेशिया से दक्षिण भारत का सम्बन्ध रहा। मलेशिया की भाषा में अनेक दक्षिण भारतीय शब्द मिलते हैं दक्षिण भारतीय भाषा में मलेशियन शब्द तुलनात्मक रूप में कम हैं। तमिल लोग अधिक संख्या में उन देशों में जाकर बसने लगे।"[2]

" ·· लौह-युग ४००० ईसा-पूर्व का था। यह युग तमिल सभ्यता की देन थी। तमिलों का इस युग में देश-विदेश के प्रवासी बन जाना शुरू हो गया।"[3]

यह बातें तोल्काप्पियर के काल से बहुत पहले की थीं। इनका कोई स्पष्ट उल्लेख तमिल-साहित्य में नहीं है। ई० पूर्व पाँचवीं शती या उसके आस-पास मे विदेशों के साथ वाणिज्य-व्यवसाय जहाज़ों के द्वारा होने का विवरण संघकृतियों में मिलता है। उनमें नट्रिणै (३१,२९५) पतिट्रुप्पत्तु (५२, ७६) पुरनानू (२६,३४३) आदि उल्लेखनीय हैं। यह सम्पर्क ऐतिहासिक काल में हुए थे।

सर्वप्रथम दक्षिणापथ में उत्तरापथ से आये व्यापारी यात्रियों का नाम 'पणि था। इनके बाद ही ऋषि, मुनि, ब्राह्मण, जैन, बौद्ध, तांत्रिक, सिद्ध, संत, सेठ-साहूकार आदि आये। इन सबके लिए सामान्य शब्द 'आरियर्'(आर्य) का व्यवहार तमिल में पहले होता था। बाद को 'आर्य' वैदिक सम्प्रदायवालों का द्योतक बना।

पणि लोग व्यापारी या वणिक थे। ये ही उत्तर और दक्षिण के प्रथम समन्वयकारी थे। इन लोगों की विशेषता थी कि ये जिस देश-प्रदेश में जाते, वहीं के निवासी बन जाते थे। ये अपना आर्य-संस्कार नहीं छोड़ते थे; साथ-साथ स्थानीय संस्कार-आचार अपनाने से भी नहीं चूकते थे। पणि लोग आर्य थे, या आर्येतर— इसमें विद्वान एकमत नहीं हैं। ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में पणि लोगों को इन्द्र-विरोधी स्वार्थी, कृपण और निर्दय बताया गया है।

इस संदर्भ में डॉ० सम्पूर्णानंद का मत उल्लेखनीय है :

"फ़िनीशियन (प्युनिक या फ़िणिक) लोग पहले ईरान में, फिर शाम में, फि उत्तरी अफ्रीका में आ बसे। वे जहाँ रहे समुद्र के किनारे ही रहे। ये लोग दू तक समुद्रयात्रा करते थे। ऐसा माना जाता है कि यूरोप ही नहीं, बल्कि मि को भी इन्होंने कई बातों में सभ्यता का पाठ पढ़ाया है। ·· ये लोग उस सम के व्यापारी तो थे ही; समुद्राटन करने में भी ये लोग उस समय सबसे आ थे। इनके मुख्य देवों के नाम बल और उरेन-(वरुण)अस थे। इन लोगों

---

१. ओरिजन एण्ड स्प्रैड आफ द तमिल्स'—रामचन्द्र दीक्षितर्, पृष्ठ २-३

२. वही, पृष्ठ ९

३. वही, पृष्ठ ११

सभ्यता के विकास में बड़ी सहायता दी है। भूमध्य सागर के तटवर्तियों ने इन्हींसे जहाज़ चलाना, व्यापार करना, गणित, ज्योतिष और लेखन-कला का ज्ञान प्राप्त किया था। आर्य-संस्कृति को सुदूर देश-विदेशों में फैलाने-वालों में पहला नाम फ्युनिकों का है। वेदों में इनका नाम पणिक या पणि कहा गया है। कोश के अनुसार, "**वैश्यस्तु व्यवहर्ता विट्, वार्त्तिकः, पणिको वणिक्**"—अर्थात् वैश्य को व्यवहर्ता, विट्, वार्तिक, पणिक और वणिक कहते हैं। इसी पणिक शब्द से पण्य (बिक्री की सामग्री), पण्यवीथिका (छोटे बाज़ार, पैठ, हाट), आपण (बड़ा बाज़ार) आदि शब्द निकले हैं। पणि लोग धन कमाने के किसी भी साधन को नहीं छोड़ते थे। ऋक् ६-५१, १४ में सोम से प्रार्थना की गई है कि वह पणि का नाश करे। परन्तु ऋक् ६-४६ के तीन मंत्रों में बृबु नाम के एक पणि की प्रशंसा की गई है, जिसने भारद्वाज ऋषि को बहुत-सा दान दिया था। सम्भव है, ये लोग अनार्य रहे हों। पर अधिक सम्भावना इसी बात की है कि ये लोग आर्य थे। न तो इनको म्लेच्छादि नाम से पुकारा गया है, न इनकी वेश-भूषा या भाषा का कोई पृथक् वर्णन है। ऐसा देख पड़ता है कि ये लोग आर्यों में बराबर घूमते थे, व्यापार करते थे और ब्याज पर रुपया देते थे। ये इन्द्र के नहीं, बल के उपासक थे। देव-पूजक नहीं, असुर-पूजक थे। पूर्वी समुद्र के किनारे इनकी बस्तियाँ थीं। पणियों में से बहुत-से तो साधारण आर्यों में धीरे-धीरे मिल गये होंगे। इन्होंने अपनी आसुरी उपासना का परित्याग कर वैदिक और उसके बाद पौराणिक उपासना को अपना लिया। कुछ पणियों ने समुद्र के दक्षिणी और पश्चिमी तटों पर भी बस्तियाँ बसाईं। सप्तसिंधव का व्यापारिक माल इधर लाने और इधर का माल वहाँ ले जाने में इससे सुगमता रही। जब बीच का समुद्र सूख गया, तो सप्तसिंधव से सम्बन्ध टूट गया। आर्य-सभ्यता जैसी यह अपने साथ लाये थे, वह तो रह गई; पर अब मूल स्रोत से अलग पड़ जाने से इनके विकास की धारा स्वतंत्र हो गई। इस राजपूताना-समुद्र के दक्षिणी या पश्चिमी तट पर इनको द्राविड (दक्षिणापथी लोग) मिल गये होंगे, जो वहाँ पहले से बसे हुए थे। उनके साथ मिलकर राष्ट्र में और संस्कृति में भी संकरता आई। फिरभी अधिक उन्नत होने के कारण पणियों ने न तो अपना संस्कार छोड़ा, न उपासना-पद्धति ही। इनकी संस्कृति शुद्ध आर्य-संस्कृति का बिगड़ा हुआ रूप तो पहले ही थी। सप्तसिंधव से दूर पड़ जाने पर और भी वह विकृत या मिश्रित हो गई।"[1]

तोलकाप्पियर के समय में वैश्य, वाणिकर् या वणिकर् तमिलभाषी तथा

---

१. आधार : आर्यों का आदि देश, पृ० २००-२१०

तमिल जातीय हो गये थे।[1] यह ऋग्वेदकालीन पणि या पणिक लोगों की कई शतियों के बाद की पीढ़ी के थे। इन्हींके द्वारा जातिभेद, संस्कृत शब्द, आर्य-संस्कार, समुद्री यात्रा, सभी क्षेत्रों में सम्मिश्रण, समन्वय आदि दक्षिण में फैलने लगा। इन व्यापारियों की सहायता से ही बाद को ऋषि, मुनि, ब्राह्मण आदि वैदिक दर्शन के प्रसारक दक्षिण में आये, फैले, बसे और पनपते रहे। तमिल में पणम् (धन), पण्णियम् (पण्य—बिक्री के माल) आदि शब्द प्राचीन काल में ही प्रचलित होने लगे थे, जो पणियों से संबंधित थे।

पणियों के बाद व्यापारी, योद्धा, अंगरक्षक तथा विज्ञ कारीगर के रूप में आये यवन लोग। ये विदेशी थे और भारत-भर में फैले हुए थे। सांस्कृतिक तथा भाषागत संपर्क और सम्मिश्रण में इनका भी प्रबल हाथ रहा। किन्तु इनके पूर्व ही ऋषि लोग दक्षिण में आ चुके थे। यह बात उत्तर वैदिककाल से संहिता-ब्राह्मण काल तक की अवधि में हुई। अगस्त्य, वाल्मीकि, गौतम, आदि कई महर्षि दक्षिण में आये। ये मुख्यतया तमिल भाषा के विशेष प्रेमी हुए। उसे सीखकर तमिल भाषा और साहित्य की इन्होंने श्रीवृद्धि की। प्रथम संघ (विद्वानों की परिषद्) में वाल्मीकि, अगस्त्य आदि महर्षि विराजमान थे। अगस्त्य को तमिल का श्रेष्ठ अभिभावक और सर्वमान्य वैयाकरण माना जाता है। किन्तु अगस्त्य-व्याकरण आज अप्राप्य है।

अगस्त्य महर्षि ऋग्वेद के प्रसिद्ध मंत्र-द्रष्टाओं में से एक हैं। भारतीय संस्कृतियों में समन्वय, जातियों में स्नेह-सम्पर्क तथा भाषाओं में प्रभावपूर्ण विकास

(अ) अगस्त्य और तमिल

लानेवाले सर्वप्रथम एवं आदर्श भारतीय महामानव अगस्त्य ही थे। अगस्त्य ने ही उत्तर और दक्षिण को जोड़ा। दोनों दुर्गम पथों को मिलाया। उत्तर से कहीं अधिक आदर उन्होंने दक्षिण में पाया। दक्षिण की भाषा और संस्कृति को उन्होंने सम्पन्न किया। उनकी ख्याति जावा, सुमात्रा, स्वर्णभूमि, सिंहल आदि विदेशों में भी फैली। वहाँ के लोग भी अगस्त्य को पूजने लगे। आजभी कई दक्षिण भारतीय देवालयों में अगस्त्य की मूर्ति पूजी जाती है।

अगस्त्य को हम सबसे पहले ऋग्वेद में आर्य एवं आर्येतर जातियों के मध्यस्थ, हितेच्छु तथा सौजन्यवर्धक महर्षि के रूप में पाते हैं। पहले ऋग्वेद-काल में वर्णों के दो ही भेद प्रचलित थे—आर्य-वर्ण और दास-वर्ण।[2] इन दोनों वर्णों के

---

१. 'वैचिकन् पेरुमे वाणिक वाळ्क्कै' (वैश्य 'वाणिक'—वाणिज्य को जीविका का साधन बना लेता है।)—तोल्० १५९६

२. 'हत्वी दस्यून् प्रार्यम् वर्णमावत्'—ऋक्० ३, ३४; ९ और 'यो दासं वर्ण-मधरं गुहाकः'—ऋक्० २, १२, ४

संरक्षक के रूप में अगस्त्य का वर्णन किया गया है। वे आर्य जाति और संस्कृति के प्रमुख कर्णधारों में थे। एक अद्भुत समन्वय का संदेश इस ऋचा से व्यक्त होता है : **"अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः। उभौ वर्णौ ऋषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम।"**[1]

विरोधी दलों या पक्षों के बीच में मेल कराकर स्नेह-सौजन्य बढ़ाने की अपूर्व कुशलता अगस्त्य में थी। इन्द्र और मरुतों में पूजा के अधिकार को लेकर जब बखेड़ा खड़ा हुआ, तब अगस्त्य ने मरुतों का पक्ष लेकर दोनों देवों में समझौता करा दिया। इस अद्भुत कौशल का उल्लेख ऋग्वेद के तीन सूक्तों में[2] तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी हुआ है।[3] इसी कारण अगस्त्य की लोकप्रियता दोनों वर्णों तथा वर्गों में भी बढ़ने लगी। उनका यश फैला। वह केवल उपदेशक नहीं रहे। उन्होंने आर्येतर या अपनी से निम्न जाति की कन्या लोपामुद्रा से स्वयं विवाह करके समन्वय और उदारता का आदर्श स्थापित किया।[4] वैदिक युग में क्षत्रिय और ऋषियों के बीच में विवाह-सम्बन्ध वैध माना जाता था। च्यवन, अप्नवान, ऋचीक, जमदग्नि आदि कई ऋषि अगस्त्य के अनुगामी थे। इन लोगों ने क्षत्रिय कन्याओं के साथ विवाह किया था। अगस्त्य की उदारता के प्रभाव से आर्य और दास वर्णों में भी सम्बन्ध होने लगे। इसके परिणामस्वरूप, महर्षि आपस्तम्ब ने संस्कारी शूद्रों के हाथ से पकाये भोजन को आर्यों के लिए स्वीकार्य माना है।[5]

वेदभाष्यकार सायण के मतानुसार अगस्त्य खेल नामक राजा के पुरोहित थे। यह राजा उदारपंथी रहा होगा। संभवतः इसी उदारता एवं वर्ण-सांकर्य के समर्थन के कारण ही अगस्त्य को 'गोत्रमहर्षि' (गोत्रप्रवर्तक महर्षि) या 'प्रजापति' (वंश-प्रवर्तक) महर्षियों में नहीं गिने गये।[6] वेदसम्मत सात गोत्र माने जाते हैं, जो प्रशस्त महर्षियों के नाम से चलाये गये हैं : भार्गव, आंगिरस, आत्रेय, काश्यप, वाशिष्ठ, भारद्वाज और कौशिक। बाद को अगस्त्य वंश भी कहीं-कहीं गिना जाने

---

१. ऋक्० १, १७९, ६
२. वही, १, १६५; १७०; १७१
३. तैत्तरीय संहिता, ७. ५, ५, २; तैत्तरीय ब्राह्मण २. ७, ११, १; मैत्रायणी संहिता, २. १, ८; काठक संहिता, १०, ११; पंचविंश ब्राह्मण, २१, १४, १५; ऐतरेय ब्राह्मण, ५, १६; कौषीतकि ब्राह्मण, २६,९
४. ऋक्०, १. १७९; तथा महाभारत आदि में वर्णन है।
५. 'आर्याः प्रयता वैश्वदेवे अन्नसंस्कर्तारः स्युः। आर्याधिष्ठिताता वा शूद्रास्संस्कर्तारः स्युः।'—आपस्तम्व धर्मसूत्र, २, ३, १-४
६. सात आदिम प्रजापति थे : गौतम, विश्वामित्र, वसिष्ठ, अत्रि, भारद्वाज, जमदग्नि और काश्यप। (भृगु, दक्ष आदि बाद को शामिल किये गये।)

लगा। किन्तु स्वच्छ और मूल गोत्र केवल चार ही माने जाते थे। महाभारत में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि अंगिरा, कश्यप, अत्रि और भृगु—ये चार ही मूल गोत्र-प्रवर्तक थे।[1]

अगस्त्य वैदिक युग में एक महान् लोकप्रिय गुरु के रूप में माने जाते थे। उनके दल के लोग नये-नये प्रदेशों में जाकर बस गये। अगस्त्य अपने दल के साथ दुर्गम विन्ध्य पर्वत को पार कर तमिल देश में आये और वहीं बस गये। आर्य-संस्कृति का प्रवेश और प्रसार सबसे पहले मिशिनरी ढंग पर अगस्त्य के द्वारा ही हुआ था।[2]

अगस्त्य का पुत्र दृतच्युत ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टाओं में से था। अगस्त्य के पौत्र और प्रपौत्रों में इह्मवाह, सांभवाह, सोमवाह, यज्ञवाह, सारवाह, और दर्भवाह थे।[3]

आर्य-संस्कृति के प्रबल प्रचारक वैदिक महर्षि थे वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य और गौतम राहूगण। इन चारों महर्षियों के समर्थ सहायक राजा थे, दिवोदास, सुदास, विदर्भराज और निमि। इस राजाश्रय के सहारे ही ये आर्य-संस्कृति के प्रसार में सफलता पा सके।[4]

सप्तर्षियों में अगस्त्य का प्रथम स्थान है। इन्हीं ऋषियों के नाम से सप्तर्षिमंडल बना था।[5] अगस्त्य के अनुयायी तथा पूजक सारे भारत में फैले हुए थे। उनके नाम पर कई तीर्थस्थान, पर्वत, कुण्ड आदि हिमाचल से लेकर कन्याकुमारी तक बिखरे पड़े हैं। 'अगस्त्यपाद' (बद्रिकाश्रम के पास) 'धमनिय' (हिमालय की दक्षिणी उपत्यका पर), पंचवटी (नासिक के पास) अगस्त्याश्रम, मलकूट (सतपुरा पहाड़ी के पास—महाराष्ट्र में), 'कुटकुमलै' (कुर्ग पर्वत, जो चोल देश का था और अब कुर्ग प्रदेश में है।) 'पोतियमलै' या 'मलयकूट' (पश्चिम घाटी का गिरि-प्रदेश), द्राक्षाराम (आंध्र), कुंजरगिरि (सिंहल), वेदश्रुति (कोसल देश की नदी तथा वहाँ का अगस्त्याश्रम) इत्यादि कई स्थान हैं।

अगस्त्य तमिल भाषा के पितातुल्य माने जाते हैं। कहते हैं कि उन्होंने

---

१. 'मूलगोत्राणि चत्वारि समुत्पन्नानि भारत।
अंगिराः कश्यपश्चैव ह्यत्रिश्च भृगुरेव च॥

—महाभारत (शांतिपर्व, २९८ सर्ग)

२. 'इण्डिया इन् द वेदिक एज'—ले० पुरुषोत्तमदास भार्गव, पृष्ठ ३१; और महाभारत (वनपर्व—१०४ सर्ग)

३. वही, पृष्ठ, ११७, (आधार : महाभारत; धर्मसिन्धु और निर्णयसिन्धु)

४. वही, पृष्ठ, १५८

५. सप्तर्षि : अगस्त्य, पुलस्त्य, आंगिरस, गौतम, वशिष्ठ, काश्यप और मृगण्डु।

तमिल भाषा शिवजी से सीखी और उसकी श्रीवृद्धि की। उनका रचा लक्षण-ग्रन्थ 'अकत्तियम्' (आगस्त्यम्) तोलकाप्पियम की तरह प्रामाणिक लक्षणग्रन्थ माना जाता था, जो अब अप्राप्य है। तोलकाप्पियर अगस्त्य के शिष्यों में थे। संघकालीन रचनाओं में तथा तमिल और संस्कृत के पुराणग्रन्थों में अगस्त्य का वर्णन पोतिय-मलै (मलयगिरि या मलयकूट) के निवासी तथा तमिल-संवर्धक महर्षि के रूप में किया गया है। इसी कारण उनके लिए पोतियन, (मलयवासी), पोतियमुनि (मलयवासी मुनि), मलयत्तरुंतवन् (मलयवासी तपस्वी) आदि नामों का व्यवहार तमिल में होता है।

पोतियमलै सुप्रसिद्ध पश्चिमी घाट का पहाड़ है। यह प्राचीन काल में पाण्डिय देश के अंतर्गत था। अब यह केरल की सीमा पर है। इसका संस्कृत रूप मलय, तमिल शब्द 'मलै' का संस्कृतीकरण है। इसी पर्वत से तमिल देश की प्रसिद्ध नदियाँ वैयै या वैकै (कृतमाला) और पोरुनै (ताम्रपर्णी) निकलती हैं। इस 'मलय' शब्द से ही मलयालम, मळपाल (मलबार) आदि शब्द निकले हैं। इस पर्वत तथा इससे निकलनेवाली नदियों का वर्णन संस्कृत के वायु, कूर्म, मार्कण्डेय, मत्स्य, वामन, ब्रह्माण्ड, विष्णु, ब्रह्म और शिव पुराणों में पाया जाता है। मलय को 'मलयकुलाचल' और 'मलयकुलपर्वत' भी कहा जाता है। (मलयध्वज, मलैयमान्, मलैयन् आदि तमिल राजाओं के नाम होते थे।) पांडिय वंशीय एक राजा का नाम 'मलय राजा' था, जो सिंहल का वीर शासक था।[१]

यह मलय (पोतिय) पर्वत प्रवासियों और यात्रियों का प्रिय आवास-स्थान था, जहाँ देवता बड़े चाव से निवास करते थे।[२] इस स्थान पर अगस्त्य की स्थिति का उल्लेख मदुरैक्कांचि (४०-४२); परिपाटल् (११, ११) आदि संघ-कृतियों तथा बाद के काव्य-पुराणों में मिलता है।

चीनी यात्री ह्वेन्सांग ने इस 'पोतिय' के पहाड़ी स्थल का निर्देश किया है। उसके समय में इसका नाम 'मलयकूट' प्रचलित था। 'यह मलयकूट कांची की सीमा से तीन हज़ार 'ली' दूर है। यहाँ बहुमूल्य मणि-माणिक प्रचुरता से मिलते हैं।'[३]

३. तैत्तरीय संहिता, ७. ...न वाल्मीकि ने 'अयोमुख' नाम से भी किया है। इसके
यणी संहिता, २. १, ...गोमुख (उत्स) है, अगस्त्य का आश्रम था। 'अयो-
२१, १४, १५; ऐतरेय ...रे का) मुख।' यह नाम वातापि और विल्वल नामक
४. ऋक्०, १. १७९; त... के कारण पड़ा। इस पहाड़ की शृंखला को पोतिय
५. 'आर्याः प्रयता वैश्वदेवे
ऽसंस्कर्तारः स्युः।'— ...एट एंड मिडीवल इंडिया—डी० सी० सरकार
६. सात आदिम प्रजा... ...-संघकृति), पद्यपंक्ति २४६-२४९
जमदग्नि और का... ...आफ़ शमन ह्वेनिसु—ले० बील ट्रबनर्स, पृ० १४०

मलै (मलय), तथा अगस्त्याश्रमवाली पहाड़ी को 'कुटकु' या 'कुरुक्कु' कहते हैं। कुटकु-निवासी होने के कारण अगस्त्य को 'कुटमुनि' तथा कुरुक्कु प्रदेश-वासी होने से 'कुरुमुनि' भी कहते हैं। यह 'कुटमुनि' शब्द बहुत प्रचलित था। इसका सही अर्थ न समझनेवाले कुछ प्राचीन संस्कृत पंडित 'कुट' को दूसरे अर्थ 'कुंभ' में लेकर अगस्त्य को 'कुंभमुनि' कहने लगे। इस 'कुंभमुनि' की संगति स्थापित करने के लिए अगस्त्य के 'कुंभयोनि' 'कुंभजन्मा' आदि नाम रच लिये गये।[1]

इस संदर्भ के वाल्मीकि रामायण के ये श्लोक उल्लेखनीय हैं :

अयोमुखश्च गन्तव्यः पर्वतो धातुमण्डितः।
विचित्र शिखरः श्रीमान् चित्रपुष्पितकाननः॥
सुचन्दन वनोद्देशो मार्गितव्यो महागिरिः।
ततस्तामगां दिव्यां प्रसन्नसलिलाशयाम्॥
तत्र द्रक्ष्यथ कावेरीं विहृतामप्सरोगणैः।
तस्यासीनं नगस्याग्रे मलयस्य महौजसम्।
द्रक्ष्ययादित्य संकाशं अगस्त्यं ऋषिसत्तमम्॥[2]

वाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड में ११, १२ और १३ सर्गों में अगस्त्याश्रम, अगस्त्य की महिमा आदि का विशद वर्णन आया है। वहाँ अगस्त्य को महामुनि, पुण्यकर्मा, महर्षि, लोकार्चित (लोगों से पूजित होनेवाले), भगवान्, धर्मात्मा आदि नामों से प्रशंसित किया गया है।

ऊपर हमने कहा है कि अगस्त्य ने शिवजी से तमिल भाषा सीखी थी।[3] अगस्त्य ने साहित्य, संगीत तथा नाटक (नृत्ययुक्त) पर लक्षण-ग्रन्थ लिखे थे।[4] उन्होंने शिवजी की आज्ञा से तथा तत्कालीन पांडिय नरेश काय्चिन वळुति की प्रार्थना से प्रथम तमिल-संघ (पंडित-परिषद्) आयोजित किया था। इन्हींकी अध्यक्षता तथा मार्गदर्शन में वह संघ सैकड़ों वर्षों तक चला। कई तमिल-ग्रन्थ रचे गये। इस काल में 'अकत्तियम्' लक्षण-ग्रन्थ ही आधार-ग्रन्थ माना जाता था। अगस्त्य के दक्षिण-प्रवास के पहले ही तमिल-साहित्य विकसित हो रहा था। यह प्रथम संघ 'तेन्मतुरै' (दक्षिण मधुरै) में सम्पन्न हुआ, जो ४,४०० वर्ष तक चला।

---

१. दि तमिलियन एंटिक्वरी नं० ७; लेख : श्री वाल्मीकरुम् तेन्नाटुम् (तमिल लेख : श्री वाल्मीकि और दक्षिण देश); लेखक : एम० राघव ऐयंगार
२. वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग ४१, श्लोक १३-१५,
३. कम्बरामायण, आरणियकांड, अकत्तिय सर्ग, ४१; और शिवज्ञान मुनि का 'कांचिपायिरम्'।
४. तोल्०, के व्याख्याकार पेराशिरियर (पद्य ९१ की व्याख्या में)

समुद्र के चढ़ आने से दक्षिण मधुरै तथा प्रथम संघ की रचनाएँ सारी नष्ट हो गईं। फिर कवाटपुरम् में, जो 'तेन्मतुरै' से उत्तर की ओर था, दूसरा संघ आयोजित हुआ। इसका प्रथम आयोजक पांडिय नरेश वेण्तोळ् चेळियन था। कवाटपुरम् उसकी राजधानी थी। यह संघ ३७०० वर्ष तक चला। इस अवधि में प्रामाणिक लक्षण-ग्रन्थ अकत्तियम् (अगस्त्य व्याकरण) और 'तोलकाप्पियम्' दोनों थे। इस संघ के प्रधान आचार्य अगस्त्य थे। इनके प्रधान शिष्य बारह थे: १.तोलकाप्पियर्, २. अतंकोट्टाशान्, ३. तुरालिंगन्, ४. चेम्पूट्चेय्, ५. वैयापिकन्, ६. वायप्पियन्, ७. पनम्पारन्,[1] ८. कळारम्पन्, ९. अविनयन्, १०. काक्कैपाटिनि (प्रथम), ११. नत्तत्तन् और १२. वामनन् ('शिखण्डी' भी कहलाते थे।) ये बारहों कवि द्वितीय संघ के थे। इन कवियों ने मिलकर 'पन्निरु पटलम्' नामक लक्षण-ग्रन्थ लिखा, जो बारह पटलों से युक्त था। यह ग्रन्थ अब अप्राप्य है। किन्तु इसके अनुकरण में तथा इसके आधार पर 'पुरप्पोरुळ् वेण्पामालै' नामक लक्षण-ग्रन्थ ऐयनारितनार ने लिखा। इसमें उस पूर्वग्रन्थ का तथा अगस्त्य के आचार्यत्व का उल्लेख आया है। यह ग्रन्थ प्राप्य है। पूर्वोक्त कवाटपुरम्वाला दूसरा संघ भी नष्ट हुआ। वही जलप्लावन की दुर्घटना फिर हुई। इस समय के ग्रन्थ भी नष्ट हो गये। केवल तोलकाप्पियम् ही पूरा बच सका। अकत्तियम्, पन्निरुपटलम् आदि के कुछ अंश ही आज मिलते हैं।

यह सब विवरण 'इरैयनार अकप्पोरुळ्' नामक द्वितीय संघकालीन रचना की व्याख्या में मिलता है। यह व्याख्या नक्कीरर् नामक तीसरे संघ के विद्वान् ने लिखी थी। यह ई० प्रथम शती के थे। आज संघकृति या संघकालीन रचना के नाम से जो ग्रन्थ मिलते हैं, वे सब तीसरे संघकाल के ही हैं। इस संघ की अवधि रही ईसा पूर्व पाँचवीं शती से ई० दूसरी शती तक।

अगस्त्य के बारे में तमिल के प्राचीन और अर्वाचीन ग्रंथों में कई विवरण मिलते हैं। तोलकाप्पियम् के व्याख्याकार नच्चिनार्किनियर ने (ई० १२-१३वीं शती) अपनी व्याख्या के प्रारम्भ में लिखा है, "अगस्त्य दक्षिण में आते समय 'तुवरापति' (द्वारका ?) से अठारह राजाओं, अठारह सामंतों (वेळिर्) तथा 'अरुवाळर्' जाति के लोगों को भी साथ लाये थे। उन्होंने उनकी सहायता से जंगल को साफ़ कर कई बस्तियाँ बसाई। उस समय राक्षसों का आतंक दक्षिण में छाया हुआ था। अगस्त्य ने रावण को गांधर्वविद्या (संगीत) से जीतकर उससे वचन ले लिया कि भविष्य में राक्षसों से कोई उपद्रव दक्षिण में न होने पाये। अन्य राक्षसों

---

१. यही तोलकाप्पियम की प्रस्तावना में प्रशस्तिगीत के रचयिता थे। इन्हीं के गीत में 'ऐन्द्र व्याकरण' से तोलकाप्पियर के परिचित होने की बात कही गई है। यह दोनों समकालीन और सहपाठी थे।

को भी अपने तपोबल से उन्होंने परास्त कर दिया।"

अगस्त्य के साथ जो अरुवाळर् जाति के लोग आये, वे आन्ध्र के थे। उनकी बस्तियाँ मद्रास से तिरुपति तक के भूभाग में बसाई गई। बाद के तमिल ग्रन्थों में अरुवानाटु (अरुवाळरों का देश) उसी भूभाग का नाम पड़ा।

चिन्नमनूर ताम्रलेख (पुरालेख) में जो आज लंदन-म्यूज़ियम में सुरक्षित है, लिखा है कि अगस्त्य पांडिय नरेश मारवर्मन् के पुरोहित थे। इस बात का समर्थन इरैयनारकप्पोरुळ् (कळवियलुरै), मणिमेकलै (बौद्ध महाकाव्य) आदि में मिलता है।

अर्वाचीन बौद्ध तमिल ग्रंथ वीरचोळियम् में बताया गया है कि अगस्त्य ने बौद्ध देवता अवलोकितेश्वर से तमिल सीखी थी। फिर उसकी श्रीवृद्धि की। उस ग्रंथ के रचयिता थे पुत्तमित्तिरनार् (बुद्धमित्र)।

शिवज्ञानमुनि-जैसे शैव विद्वानों ने लिखा है कि अगस्त्य ने स्कन्ददेव से तमिल सीखी थी। तमिल के प्राचीन ग्रन्थों में मुरुकन् (स्कन्ददेव) को तमिल देवता बताया गया है।

संस्कृत विद्वानों ने अगस्त्य की व्युत्पत्ति 'अगं-पर्वतम् स्तम्भयति इति—**अगस्त्यः** (अर्थात्, जो पर्वत को स्तंभित करदे, उसे अगस्त्य कहते हैं।)' बतायी है। किन्तु कई तमिल पंडित मानते हैं कि 'अकत्तियर' ठेठ तमिल शब्द है। व्याकरण-कार तथा अन्य तमिल ग्रन्थकारों के आचार्य अकत्तियर, जो द्वितीय संघकाल के थे, ऋग्वेदकालीन अगस्त्य नहीं थे। वे विशुद्ध तमिल जातीय विद्वान् थे। 'अकत्तै इरुत्तियवर्' (मन पर विजय प्राप्त करनेवाले और पाप पर नियंत्रण रखनेवाले) 'अकत्तियर' कहलाते हैं। अकत्तियर के नाम से कई पुराण-पुरुष पाये जाते हैं। वे भारत में ही नहीं, सिंहल, जावा, सुमात्रा, मलेशिया, आदि विदेशों में भी प्रख्यात हुए हैं।[1]

इस मंतव्य में आंशिक तथ्य अवश्य है। अगस्त्य गोत्र में उत्पन्न कई विद्वान अपने गोत्र-प्रवर्तक के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। वे सभी समभावना, उदारता, भाषा-पांडित्य तथा लोक-सेवा के धनी होने के कारण समान रूप से सम्मान्य हुए। ऋग्वेदकाल तथा दूसरे संघकाल के बीच में कई सदियाँ गुज़री हैं। इसी प्रकार रामायणकालीन अगस्त्य तथा तमिल के संघकालीन अगस्त्य भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। तोलकाप्पियर के समकालीन तथा उनके आचार्य अगस्त्य तो ईसा पूर्व छठी या सातवीं शती के पूर्व नहीं रखे जा सकते। इस काल में बोधा-यन, गौतम आदि धर्म-सूत्रकार हुए हैं। यह दार्शनिक काल है। ऋग्वेद के बाद अथर्ववेद में भी अगस्ति, अगस्त्य आदि के नाम आये हैं। अतः स्पष्ट है कि अगस्त्य

---

१. 'अकत्तियर वरलारु' (तमिल) ले०—तु० अ० चितम्बरनार्

के नाम से कई विद्वान, महर्षि, तपस्वी आदि प्रख्यात हुए हैं।

प्रसिद्ध इतिहासकार रमेशचन्द्रदत्त के मतानुसार[1], **वैदिककाल** ईसा से दो हज़ार वर्ष पहले से १,४०० वर्ष पहले तक था। इस काल में आर्यों का सप्त-सिन्धव में स्थिर जीवन पाना तथा ऋग्वेद के सूक्तों का निर्माण हुआ। इसके बाद का **ऐतिहासिक काल है,** जो ईसा पूर्व १४०० से १००० वर्ष तक माना गया है। इस अवधि में ही वेदों का सम्पादन, कुरु और पांचालों की उन्नति तथा युद्ध, कौशल-काशी-विदेह की प्रजाओं का विकास, ब्राह्मणों और आरण्यकों (ग्रंथों) एवं उपनिषदों की रचनाएँ हुई। इसके बाद **दार्शनिक काल** आरंभ होता है। इसी काल में आर्यों का भारतभर में विस्तार तथा आर्यभाषा और संस्कृति का फैलाव अधिक हुआ। यास्क, सूत्रकार, स्मृतिकार, दार्शनिक, वैयाकरण, गौतमबुद्ध, मगध-राजवंश आदि हुए। यह काल ईस्वी पूर्व १००० वर्ष से ३०० तक का है।

पूर्वोक्त कालक्रम में, ऐतिहासिक काव्य-काल के मध्यम चरण में, आर्य ऋषि-मुनियों का दक्षिण में आना शुरू हुआ। वैदिक काल के अंतिम भाग में संभवतः पणि (वणिक) लोग दक्षिणी समुद्र-तटों से सम्पर्क स्थापित कर चुके होंगे। दार्शनिक काल के मध्य में उत्तर और दक्षिण का आवागमन का पथ प्रशस्त हो चुका था। इधर आर्यों की सामाजिक तथा सांस्कृतिक परम्परा के समान ही दक्षिणापथ में तमिलों एवं तमिल सजातियों की परम्परा भी विकासशील थी। दोनों के विकास और उत्थान में कुछ शतियों का पूर्वापर अन्तर रहा होगा। इससे कोई विशेष उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं दिखाया जा सकता।

प्राचीनतम धर्मसूत्रकारों में बोधायन का प्रमुख स्थान है। यह ई० पूर्व छठी शती में हुए थे। (कुछ विद्वान ईस्वी पूर्व पाँचवीं शती मानते हैं।) इनको सारे भारतवर्ष का ज्ञान था। इनके समय में ही आर्य-संस्कृति का विस्तार कई आर्येतर प्रदेशों तथा जातियों में हो चुका था। इस सम्बन्ध में कई प्रमाण उनके ग्रन्थ बोधायन धर्मसूत्र में मिलते हैं। उन्होंने लिखा है : 'अवन्ति (मालवा), अंग (पूर्वी बिहार), मगध (दक्षिणी बिहार), सुराष्ट्र (गुजरात), दक्षिणापथ, उपावृत्त, सिन्ध, और सौवीर (दक्षिणी पंजाब) के निवासी 'संकीर्णयोनि' (मिश्रित जाति के) हैं।'[2]

इसी प्रकार, यदि किसी आर्यधर्मी कुलीन पुरुष ने आरट्ट (पंजाब के), कारस्कार (कर्नाटक के), पुण्ड्र (उत्तरी बंगाल के), सौवीर (पंजाब के), वंग

---

१. हिस्ट्री आफ् सिविलिज़ेशन इन एंशिएंट इंडिया

२. अवन्तयोऽङ्गमगधाः सुराष्ट्रा दक्षिणापथाः।
उपावृत्सिंधु सौवीरा एते संकीर्णयोनयः ॥—बोधायन धर्मसूत्र, १, १, २

(पूर्वी बंगाल के), कलिंग (उड़ीसा के) तथा प्राणून के लोगों से भेंट की है, तो उसको 'पुनस्तोम' अथवा 'सर्वपृष्ठा' यज्ञ प्रायश्चित्त के रूप में करना चाहिए।[1]

दक्षिणापथ के बारे में बोधायन ने लिखा है, "दक्षिण और उत्तर में पाँच कर्मों में भेद है। दक्षिण के विशिष्ट आचार ये हैं, अदीक्षित (अनार्य ?) के संग खाना, अपनी पत्नी के संग खाना, बासी खाना, मामा या चाचा की कन्या से विवाह करना इत्यादि।" उत्तर के बारे में उसी प्रसंग में लिखा है, "उत्तर की रीतियों में ऊन बेचना, शराब पीना, दाँतवाले पशुओं को बेचना, शस्त्र (हथियार) का व्यापार करना, समुद्र-यात्रा करना इत्यादि।" जिस देश में ये व्यवहार प्रचलित हैं, उसके अतिरिक्त दूसरे देश में वे पाप समझे जाते हैं। इसमें से प्रत्येक काम के लिए किसी देश का व्यवहार (देशाचार) ही प्रमाण होता है।[2]

इस काल तक (ई० पूर्व छठी शती) उत्तर-दक्षिण में आर्य-प्रभाव खासा फैल चुकने के प्रमाण उपर्युक्त विषयों से मिलते हैं। इसी दर्शन-काल (ई० पूर्व १०००) के प्रारम्भ तक आर्यों की अंतिम दक्षिणी सीमा विन्ध्य पर्वत थी। कुछ अपवादस्वरूप इने-गिने ऋषि-मुनि तथा अन्य आर्य-यात्री विन्ध्य पारकर बीच दक्षिण में आये होंगे। उनमें वेदकालीन अगस्त्य महर्षि भी एक हो सकते हैं। किन्तु बोधायन के समय में या कुछ साल बाद तमिल के प्रथम लक्षण-ग्रन्थकार तोळका-प्पियर हुए। उनके ग्रन्थ पर उस काल के सूत्रग्रन्थों का प्रभाव थोड़ा-बहुत पड़ा भी है। उनके गुरु कहलानेवाले अगस्त्य तो ऋग्वेदकालीन महर्षि नहीं हो सकते। इसी प्रकार, अर्वाचीन तमिल ग्रन्थों में उल्लिखित अगस्त्य तथा वह जो तोलका-प्पियर के गुरु तथा समकालीन थे, और 'अकत्तियम्' (अगस्त्य व्याकरण) के रचयिता पूर्वपुरुष अगस्त्य—ये तीनों भिन्न-भिन्न काल के थे, इसमें कोई संदेह नहीं है। इतना तो तथ्य अवश्य है कि ऋग्वेदकालीन या उनके कुलजात अगस्त्य नामक महर्षि अपने दल के साथ विन्ध्य पारकर दक्षिण में आये थे। दक्षिणवासियों की उन्नति में उन्होंने बहुत सहायता की।

तमिल महाकाव्य शिलप्पतिकारम में कहा गया है कि अगस्त्य ने 'शांति-क्कूत्तु' और 'विनोदक्कूत्तु' नामक दो नृत्य-नाटक ग्रन्थ रचे थे। यह तमिलभाषी आर्यधर्मी अगस्त्य गोत्र का कोई विद्वान् होगा। उस महाकाव्य का समय ई० दूसरी या तीसरी शती है।

महाभारत में दक्षिण दिशा को 'आगस्त्य' (अगस्त्य-दिशा) कहा गया है। उसके स्वयंवर पर्व, पार्थिप प्रख्यापन सर्ग में यह सुन्दर श्लोक है :

---

१. आरट्टान् कारस्करान् पुण्ड्रान् सौवीरान् वंगकलिंगान् प्राणूनानिति च गत्वा पुनस्तोमेन यजेत सर्वपृष्ठया वा।—बोधायन धर्मसूत्र, १, २, १४

२. बोधायनधर्मसूत्र १, १, २

पांड्य चेरल चोलेन्द्रास्त्रयोस्त्रेताग्नयो यथा ।
आसनेषु विराजन्ते आशाम् आगस्त्यम् आगताः ।।

—अर्थात् स्वयंवर मंडप में अगस्त्य महर्षि की दिशा (दक्षिण) से आये (तमिल देशीय) पांड्य आदि तीनों नरेश पावन 'त्रेताग्नि' (तीन अग्नि : आह्वनीय, गार्हस्पत्य और दक्षिणाग्नि) के समान अपने-अपने आसन पर विराजमान हैं।

'शम्भुरहस्य' नामक ग्रन्थ में लिखा है :

एवमेव विजानीहि द्रविडं चापि भाषितम् ।
व्याकर्त्ता स हि सर्वज्ञो यस्यागस्त्यो महामुनिः ।।

—अर्थात्, सर्वज्ञ महामुनि अगस्त्य द्रविड (तमिल) भाषा के व्याकरणकार थे।

तोलकाप्पियम में वैदिक संस्कृति के बारे में भी बताया गया है, जैसे—जाति-व्यवस्था, द्विजों का जीवन, भगवान् की उपासना, इंद्र, वरुण, चन्द्र आदि की पूजा इत्यादि। उस ग्रन्थ में बहुत कम ही संस्कृत शब्द पाये जाते हैं। उनमें सूत्र, पटल, पिण्ड, यामा, निमित्त, दैव, उपमा, काम (इच्छा), सूत, मंगल, जाति आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें में भी कुछ संस्कृतेतर भाषा के शब्द हो सकते हैं, जो संस्कृत द्वारा तमिल में आ गये हों। यह सांस्कृतिक समन्वय का प्रारम्भिक युग था। इसका स्वागत तोलकाप्पियर ने स्वयं किया है। "दिशा शब्द, उत्तरी (संस्कृत आदि) शब्द हमारी तमिल भाषा के लिए स्वागतार्ह हैं; अच्छे ग्रन्थों का अनुवाद ठीक तरह से तमिल में हो जाना आवश्यक है।"—इस मंतव्य का संकेत उनके सूत्र ८८०, ८८४ और १५९६ में मिलता है।

अगस्त्य ने उत्तर और दक्षिण का समन्वय-सेतु निर्माण कर दिया था। उनके बाद उत्तर से ऋषि-मुनि तथा विद्वान दक्षिण आने लगे। तमिल देश में आने के पूर्व बहुतेरे आर्य लोग निबिड़ दण्डकारण्य को साफ़कर बस्तियाँ बसा चुके थे। वहीं से वे दक्षिण की ओर फैलने लगे। दण्डकारण्य आज महाराष्ट्र राज्य में है। अगस्त्य पहले यहीं रहते थे। पंचवटी (नासिक) से दो योजन दूरी पर अगस्त्याश्रम होने का उल्लेख वाल्मीकि ने (आरण्यकाण्ड में) किया है। तमिल की संघकृति पतिट्रुप्पत्तु में दण्डकारण्य को आर्य-देश बताया गया है। यह तमिलभाषी (प्राचीन केरल) प्रदेश की सीमा पर पड़ता है। वहाँ से धीरे-धीरे आर्यलोग तमिल प्रदेश में आने लगे। तोलकाप्पियम् तथा बाद के संघ-ग्रन्थों में आर्यमुनि, विप्र तथा कलाकार आदि का आदरपूर्वक उल्लेख पाया जाता है। यह सम्भवतः ऋग्वेद-काल के बाद तथा धर्मसूत्र, एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों का समय हो सकता है।

(आ) अगस्त्य के बाद

रामायण-काल में उत्तर और दक्षिण का सम्पर्क-मार्ग तैयार हो चुका

था। महाभारत के काल में यह और भी प्रशस्त हुआ। किन्तु अशोक के समय तक केवल ऋषि, मुनि, तपस्वी, ब्राह्मण तथा घुमंतू लोग ही उत्तर से दक्षिण में आते रहे। राजाओं के दलबल के साथ अभियान के लिए विशाल पथ अशोक के बाद ही तैयार हुआ। तबतक समुद्री मार्ग से उत्तर और दक्षिण के व्यापार-वाणिज्य का सम्पर्क काफ़ी बढ़ चुका था। विदेशों के साथ व्यापार केरल के मुचिरि, तोण्टि तथा चोल देश के पुकार् (कावेरि पूम्पट्टिनम्) और पांडिय देश के बंदरगाहों के द्वारा होता था। इधर पणिकों (वणिकों) और यवनों के जलपोत आते-जाते थे। बाद को अरब, पुर्तगाली, फ्रांसिसी आदि व्यापारियों के जहाज़ आने लगे।

आर्यों के सामाजिक संघटन का प्रभाव दक्षिण में फैलने लगा। आर्य प्रधानतया पशुपालक, कृषक और योद्धा थे। वे छोटे-छोटे समूहों में रहते थे। उन समूहों को 'जन' कहते थे। 'जन' के सब लोग 'सजात' अर्थात् एकवंशीय कहे जाते थे। एक 'जन' (समूह) के सब 'सजात' मिलकर 'विशः' (प्रजा) कहलाते थे। प्रत्येक 'जन' की कई टुकड़ियाँ होती थीं, जिनको 'ग्राम' कहते थे। ग्राम शब्द का असल अर्थ जत्था या समुदाय है। बाद में एक-एक ग्राम जहाँ बस गया, वह भूप्रदेश भी ग्राम कहलाने लगा। कुछ ग्राम घूमते-फिरते रहते थे। ग्राम का नेता 'ग्रामणी' कहलाता था। लड़ाई के लिए 'जन' के सब लोग ग्रामवार जमा होते थे। उस जमाव को 'संग्राम' कहते थे। उसीसे 'संग्राम' का अर्थ युद्ध हो गया। जैसे 'ग्राम' का मुखिया 'ग्रामीण' वैसे ही सारे 'जन' (समूह) का मुखिया 'राजा' होता था। वह राजा 'जन' या 'विशः' का प्रधान शासक होता था, न कि भूमि का। उसका राज्य (शासन-अधिकार) 'जानराज्य' (मुखियापन) कहलाता था। राजनीतिक रूप से संघटित 'जन' को 'राष्ट्र' कहते थे। महाभारत के युद्ध के बाद, जनों के राज्य जनपदों के रूप में स्थिर होने लगे। जिन प्रदेशों पर जन बस गये थे, वही उनके 'जनपद' कहलाये। जैसे कुरु जन जहाँ बसे, वह 'कुरु जनपद' और मद्र जन जहाँ बसे, वह 'मद्र जनपद'। उन जनपदों में शिल्प, शिक्षा, व्यापार आदि बढ़ने लगे। नगर, दुर्ग आदि आबाद होने लगे। कुछ समय बाद कुछ जनपदों ने दूसरों का प्रदेश जीतकर, और कुछ ने आपस में मिलकर अपनी भूमि बढ़ा ली। वे महाजनपद कहलाये। महाजनपदों का काल ई० पूर्व आठवीं-सातवीं शती से पाँचवीं शती तक माना जाता है।

ग्राम तथा राज्य या राष्ट्र की व्यवस्था आर्यों के द्वारा दक्षिण में फैलने लगी। ई० पूर्व छठी या सातवीं शती में ही चेर, चोल और पांडिय राष्ट्रों में सुव्यवस्था थी। तोलकाप्पियम् में इस बात का उल्लेख है। उन्होंने तमिलों की पाँच प्रकार की प्रदेश-व्यवस्था का भी वर्णन किया है। ये प्रदेश लोगों के रहन-सहन, व्यवसाय तथा परिस्थिति के अनुसार बाँटे गये थे। यह व्यवस्था आर्य-प्रभाव से पहले की थी। महाजनपद की प्रणाली के परिष्कृत रूप तमिल देश में अपनाये गये।

चोल, चेर और पाण्डिय महाराज्य 'मंडल' के नाम से विभक्त थे। हरेक मंडल के कई 'वळनाडु' (प्रान्त) थे; प्रत्येक प्रान्त के कई 'नाडु' (ज़िले) थे; हरेक ज़िले के कई 'कूट्रम्' (तालूके) थे; हरेक तालूका कई 'ऊर्' (गाँवों) का समूह था। संघकाल में छोटे-छोटे स्वतन्त्र प्रदेशों को 'कोट्टम्' कहा गया है। यह 'कोट्टम्' कई 'चिट्रूर्' (छोटे-बड़े गाँवों) का समूह था। इस प्रकार महाजनपद-व्यवस्था की प्रतिच्छाया स्वतन्त्र रूप से, तथा अनुकरण से भी तमिलनाडु में पड़ी। इसके बहुत पहले ही आन्ध्र और कर्णाटक में वह व्यवस्था स्थिर हो चुकी थी। आन्ध्र, शबर, मूचिक आदि आर्येतर दाक्षिणात्य जातियाँ थीं। इनका आर्यों के साथ निकट का सम्पर्क था। इसलिए विन्ध्य प्रदेश तथा कर्णाटक ई० पूर्व सातवीं या छठीं शती में ही द्राविडत्व (तमिल-परिवार) से अलग होकर आर्यत्व की ओर अधिक झुक गये। ई० पूर्व पाँचवीं शती के बाद तो वे दोनों प्रदेश 'आर्य-देश' ही मान लिये गये। इस तथ्य के प्रमाण संघ-कृतियों में मिलते हैं।

ई० पूर्व छठीं शती के बोधायन धर्मसूत्र में अवन्ती, अंग, बंग, मगध, सौराष्ट्र, सिन्ध, पंजाब आदि उत्तरी देशों के साथ-साथ दक्षिणापथ को भी (आन्ध्र तथा कर्णाटक को) 'संकर योनि' (मिश्रित जाति) के लोगों का देश बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि उस समय के पूर्व ही आर्य तथा आर्येतर जातियों में वर्ण-संकरता हो चुकी थी। इस बढ़ती और फैलती मिश्रित जातियों से अलग रहकर आर्य-विशुद्धि को रखने के लिए तत्कालीन धर्म-सूत्रग्रन्थों में जाति-व्यवस्था, आचार-नियम आदि निर्धारित किये गये। इसीका प्रभाव तोलकाप्पियम में भी जाति-निर्देश के रूप में पाया जाता है।[1]

बाद को, इस जाति-व्यवस्था में काल तथा देश के अनुकूल कई शिथिलताएँ अपना ली गई; कट्टरता कम होती गई। पाणिनि (ई० पूर्व पाँचवीं शती) के समय में यह स्थिति थी। 'अष्टाध्यायी' में इस बात का समर्थन मिलता है।

पाणिनि ने दो प्रकार के शूद्रों का उल्लेख किया है। एक 'अनिर्वसित' जो हिन्दू समाज के अंग थे और दूसरे 'निर्वसित' जो आर्य जाति के बाहर थे।[2] पाणिनि ने 'वैश्य' के लिए 'आर्य' पद का प्रयोग किया है।[3] वैदिक साहित्य में भी वैश्यों या वणिकों के लिए आर्य शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसलिए दक्षिणापथ में जिन उत्तरी

---

१. तोल्० सूत्र १५६२-१५७६ में अन्तणर (द्रविड ब्राह्मण), अरचर् (राजा), वैचिकन् (वैश्य) तथा वेळाण् मान्तर् (किसान) इन चार जातियों की चर्चा है। साथ ही 'चूतर्' (सूत) का उल्लेख भी सूत्र १०३४ में हुआ है। ब्राह्मण स्त्री से क्षत्रिय पुरुष का पुत्र सूत कहलाता था।

२. 'शूद्राणामनिर्वसितानाम्'—अष्टाध्यायी, २. ४. १०

३. 'आर्य स्वामिवैश्ययोः—वही ३. १. १०३

लोगों ने प्रवेश किया, वे सब आर्य ही कहलाये।

पाणिनि के बाद की स्थिति और भी उदार थी। पाणिनि के व्याख्याकार कात्यायन ने अपनी 'काशिकावृत्ति' में 'महाशूद्र' का निर्देश किया है। विदेशी जातियाँ आभीर, यवन, शक, मद्र आदि महाशूद्रों में गिनी जाती थीं। इनके साथ आर्य, सवर्ण लोग छुआछूत नहीं रखते थे। उनको अपने साथ बिठाकर भोजन करते थे, आदर दिखाते थे। उत्तरी सिंध के पूर्वी भाग में महाशूद्रों का बड़ा राज्य था।

कात्यायन के बाद कौटल्य (ई० पूर्व चौथी शती) के समय में तो जाति-परिवर्तन ज़ोरों पर था। अनार्यों और दासों को तब येन-केन प्रकारेण आर्य-जातीय बनाया जाता था। सभी आर्य श्रेष्ठों, गृहपतियों और स्वामियों के लिए यह नियम-विधान ही कौटल्य ने बना दिया है, "गुलामी से छूटनेवाले दासों को, जो अपना ऋण या मूल्य चुकाकर रिहाई पाते हैं, 'आर्य' बना देना प्रत्येक गृहस्वामी का कर्तव्य है। ऐसा न कर सकनेवाले आर्य मालिक पर उसकी इस अयोग्यता के दण्डस्वरूप बारह 'पण' (तत्कालीन मुद्रा) जुर्माना किया जाय।"[1]

तोलकाप्पियम के अनुशीलन से पता चलता है कि आर्य द्विजों की अनुकृति में तमिलों में भी 'अन्तणर्' नामक उच्च जाति तैयार हुई। क्षत्रिय तो राजा लोग थे ही। वैश्य या वणिक आर्य-संस्कृति के साथ तमिल संस्कृति के भी अनुयायी रहे। शूद्र नामक जाति तमिल देश में तोलकाप्पियर के काल से संघ-काल तक बनी ही नहीं। द्रविडेतर या द्रविडविरोधी कोई आदिवासी जाति इधर संघर्ष के लिए नहीं थी। आर्य जाति के जो वणिक, ऋषि, मुनि, विप्र आदि आये, उन्होंने सद्‌भावना और सदाचार के सहारे तमिलों का मन मोह लिया। अतः ब्राह्मणों, तपस्वियों तथा वणिकों का तमिल ग्रन्थों में आदरपूर्वक उल्लेख किया गया है।

रामायण की कथा, मुख्यतया मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का पावन चरित तमिलों के लिए अत्यन्त आकर्षक रहा है। वाल्मीकि रामायण में तमिल प्रदेशों के गौरवपूर्ण वर्णन मिलते हैं। संघ-कृतियों में रामकथा का आदर के साथ उल्लेख हुआ है। 'धनुष्कोटि में श्री रामचन्द्र ने अपने हाथ के संकेत से पक्षियों की चहचहाहट को बन्द किया।' यह वर्णन संघ-कृति अकनानूरु (७०) में है। इधर श्री-राम को कवि ने 'वेल्पोर् इरामन्(अमर विजयी राम) बताया है। "राक्षस रावण ने सीता का अपहरण किया, तब रावण के हाथ में सीता के कुछ आभूषण आ गए। रावण ने उन्हें ज़मीन पर फेंक दिया। वानरों ने उन्हें उठाकर पहन लिया। उनके चेहरे खुशी से लाल हो गये। वे उछलने-कूदने लगे।" इस संदर्भ में कवि ने राम को 'कटुन्तेरल् इरामन्' (महाप्रतापी राम) तथा रावण को 'अरक्कन'

---

१. 'दासरूपेण निष्क्रयेण आर्यमकुर्वतो द्वादशपणम् दण्डः'

—अर्थशास्त्र, दासकल्प प्रकरण—३. ११.

(निर्दयी क्रूर राक्षस) कहा है। यह वर्णन पुरनानूरु (३७८) में मिलता है।

मतुरैक्कांचि (४०-४१) में रावण को भगवान् अगस्त्य द्वारा गांधर्व (संगीत) विद्या के सहारे जीतने की बात कही गई है। इधर रावण के लिए 'तेन्नवन्' (दक्षिण दिशावासी), तथा अगस्त्य के लिए 'मुतुकटवुळ्' (वृद्ध भगवान्) शब्द प्रयुक्त हुए हैं। संघकाल के अंतिम चरण में (ई० दूसरी शती) रामकथा के इतिवृत्त दीवारों पर चित्रित किये गये थे। ऐसे भित्तिचित्रों में अहल्या-शाप के वृत्तान्त-वाले चित्रों का उल्लेख परिपाटल् (१९) में पाया जाता है। सुविख्यात महाकाव्य कम्बरामायणम् (ई० नौवीं शती) के पूर्व ही लगभग ई० छठी शती में एक रामायण तमिल में रची गई थी। उसका उल्लेख प्राचीन व्याख्याकारों ने किया है। किन्तु वह रामायण आज अप्राप्य है।

इसी प्रकार कृष्ण की कथाएँ और महाभारत के वृत्तान्त संघ-कृतियों में पाये जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि रामायण तथा महाभारत की कथाएँ उत्तर और दक्षिण को जोड़ने तथा दक्षिण में आर्य-संस्कृति के फैलाने में सफल हुईं। संघ-कृतियों में 'आर्य' (आरियर्) शब्द का प्रयोग कई जगह हुआ है। उत्तर से आये करनटों या नटवरों ('आरियक् कूत्तर') को भी 'आर्य' शब्द से पुकारा गया है। रस्से पर करतब दिखानेवाले तथा नाच-गान करनेवाले उन नटवरों का वर्णन कुरुन्तोकै (७) नामक संघ-कृति में मिलता है।

आर्य क्षत्रियों की समरभेरी बजाने का वर्णन, चोलराजा के धनुर्धारी वीरों के द्वारा आर्यों की सेना को तितर-बितर करने का वर्णन, उत्तरी पर्वत (विन्ध्य?) पर चढ़ाई कर विजय पाये चेर राजा की वीरता-प्रशस्ति, आर्यों की स्वर्णिम हिमगिरि की उपमा सुनहले फूलों से भरे 'वेंगै' वृक्षों के जंगल के साथ करना, चेर-नरेश चेंकुट्टुवन की उत्तर पर चढ़ाई, तथा उसका आर्य राजाओं में त्राहि-त्राहि मचाना, उत्तर के गिरि (विन्ध्य या हिमालय ?) पर अपना राजचिह्न मीन का अंकित करना इत्यादि बातें अकनानूरु के ३९६, ३९८ तथा ३८९ पद्यों में मिलती हैं।

इमयवरम्पन् नेडुंचेरलातन् तक (हिमालय तक यश फैलानेवाले चेर-राजा) ने ब्राह्मणों के लिए पाँच सौ बस्तियाँ (ऊर्) 'ब्रह्मदाय' (ब्रह्मस्व) के रूप में दान दीं। अपने राज्यकाल (अठावन वर्ष) में अड़तीस वर्ष तक ब्राह्मणों को उत्तर से तमिल देश में आकर बसने की अनुमति भी दी। यह राजा ई० पूर्व प्रथम शती के अंत में या ई० प्रथम शती के प्रारम्भ में चेर देश (केरल) पर शासन कर रहा था।[1]

जब आर्य-संस्कृति और जाति-व्यवस्था तमिलप्रदेश में फैलने लगी, तब समाज के उच्चस्तर के अभिजनों में ब्राह्मणत्व स्वीकारने का विशेष आकर्षण हुआ। यह आर्य और द्रविड अभिजनों की सम्पर्क-जाति थी। इनको 'अन्तणर्' कहते थे। यह

---

१. पतिट्रुप्पत्तु (दूसरा दशक, अंतिम पद्य—पतिकम्)

जन्म से द्रविड (तमिलवाले) थे। आभिजात्य से आर्य या विप्र बने। इनकी मातृ-भाषा तमिल थी। अध्ययन की भाषा संस्कृत थी। अतः द्रविड समाज में विशुद्ध आर्य ब्राह्मणों की अपेक्षा इन 'अन्तणर्' लोगों की मान्यता अधिक थी। तोलकाप्पियम् में तथा परवर्ती संघ-कृतियों में इन अन्तणर् लोगों का आदरपूर्ण उल्लेख है। राज-काज में, तथा समाज के नेतृत्व में ये ही लोग आगे थे। राजे भी इन्हींको मानते थे। इनका तथा इनके मार्गदर्शक आर्य ब्राह्मणों का अच्छा सम्पर्क था। ये दोनों, विशुद्ध तथा संकर विप्रजातियाँ, दक्षिण में अलग-अलग बस्तियों में रहती थीं। वेदविहित सभी कर्म और विधान दोनों के लिए समान थे। बाद को ये दोनों जातियाँ मिल गईं। इसी कारण, इन संकर ब्राह्मणों का विशिष्ट उल्लेख 'पंच द्राविड' नाम से उत्तरापथ के धर्मसूत्रकारों ने किया है। ये थे, द्रविड (तमिल देशवासी), कर्णाटक (कन्नड प्रदेशवासी), तैलंग (तेलुगु प्रदेशवासी) गुर्जर (गुजरातवासी) और महाराष्ट्र (मराठी प्रदेशवासी)।[1]

आगे चलकर इन ब्राह्मणों की अनेक शाखाएँ वैष्णव, शैव, स्मार्त आदि निकलीं और प्रत्येक शाखा की कई उपशाखाएँ भी।

विशुद्ध आर्य ब्राह्मण के लिए प्राचीन तमिल ग्रन्थों में पार्प्पार्, पार्पनर् (ब्राह्मण का अपभ्रंशरूप) शब्द आते हैं। ठेठ तमिलभाषी परिवर्तित विप्रों के लिए 'अन्तणर्' 'अन्तणाळर्' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'अन्तणर्' में तमिलपन अधिक था और 'पार्प्पार्' में आर्यत्व। अतएव तमिल के ग्रन्थों में अन्तणर् के यशो-गान ने अधिक स्थान पाया है। बाद को 'पार्प्पार्' की प्रतिष्ठा बढ़ जाने से सभी ब्राह्मण पार्प्पार् कहलाने लगे। अब तो कौन अन्तणर् और कौन पार्प्पार्—यह भेद बताना असम्भव हो गया है।

तोलकाप्पियम् में 'अन्तणर्' (द्रविड ब्राह्मण) के बारे में यह उल्लेख है, "अन्तणर् को जनेऊ, जलपात्र, त्रिदण्ड और पीठा अपने लिए अलग रखने का अधि-कार है।[2] अन्तणर् राजा लोगों के समान माने जाते हैं।[3] राजाओं की अनुपस्थिति में अन्तणर् राजकाज सँभालने के अधिकारी हैं।[4] अन्तणर् के आठ मुख्य गुण होते हैं: १. आभिजात्य (कुलीनता), २. सुशिक्षा, ३. सदाचार, ४. सत्यनिष्ठा, ५. विशु-

---

१. कर्णाटाश्चैव तैलंगा गुर्जरा राष्ट्रवासिनः।
आन्ध्राश्च द्राविडाः पंच विन्ध्य दक्षिणवासिनः॥
(इनमें तैलंग और आन्ध्र एकही प्रदेश के माने जाते हैं।)

—स्कन्द पुराण और शब्दकल्पद्रुम

२. तोल्० १५६२

३. वही, १५६४

४. वही, १५७४

द्धता, ६. तटस्थता, ७. निर्दोषिता तथा ८. निस्स्वार्थता। इसका संकेत तोलकाप्पियम् में हुआ है।

बाद की संघ-कृतियों में अन्तणर् लोगों का प्रातःकाल वेदपाठ करना,[१] उनके संध्यावंदन करने की भव्य प्रथा,[२] उनका अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन आदि छहों वेदसम्मत कर्मों का अधिकारी होना,[३] उनके गृहों में कुत्ता और मुर्गी को न पालना,[४] उनका अग्निसंधान, हवन आदि करना,[५] विशेष रूप से तमिल देवता स्कन्द की पूजा-आराधना करना,[६] इत्यादि बातों का वर्णन मिलता है।

तमिलवेद तिरुक्कुरल् में अन्तणर् को समस्त जीवों पर दया-ममता रखने-वाला धर्मात्मा कहा गया है।[७] तिरुक्कुरल् ई० प्रथमशती का अद्वितीय नीतिग्रन्थ है। इसमें किसी मत, सम्प्रदाय, वर्ग या वर्ण का समर्थन भी नहीं और खंडन भी नहीं है। यह आदर्श नीतिग्रन्थ है। सभी सम्प्रदायवाले इसे अपना वेदोपम ग्रन्थ मानते हैं। तिरुक्कुरल के समय में सभी ब्राह्मण अपनेको 'अन्तणर्' कहलाने में गौरव का अनुभव करते थे।

तोलकाप्पियम में 'पार्प्पार्' (विशुद्ध आर्य ब्राह्मण) का भी उल्लेख है।

बाद के संघकालीन ग्रन्थों में भी 'पार्प्पार्' लोगों का वर्णन है। ब्राह्मण विद्यार्थी या बालक चोटी रखते थे।[८] ब्राह्मणों को राजा, वणिक, धनिक आदि खूब दान दिया करते थे।[९] उनके लिए गाय तथा भूमि का दान उत्तम दान माना जाता था।[१०] ब्राह्मणों का अहित राजा नहीं करता था।[११] ब्राह्मण ही मुख्यतया राजदूत बनकर दूसरे देशों में जाते थे।[१२]

इस समय बौद्धों और जैनों का आगमन तमिल नाडु में शुरू हो गया था। उन्होंने द्रविड ब्राह्मणों को, जो अन्तणर् कहलाते थे, अधिकांश में अपने सम्प्रदाय में

१. मतुरैक्कांचि, ६५५-६५६
२. पुरलानूरु, २
३. पतिट्रुप् पत्तु, २४
४. पोरुनर् आट्रुप्पटै, २९९-३०१
५. कलित्तोकै, ११९; पुरनानूरु, ३९७
६. मुरुकाट्रुप्पटै १८३-१८७
७. कुरळ्, ३०
८. ऐंकुरुनूरु, २०२
९. पुरनानूरु, ३६७
१०. पतिट्रुप् पत्तु, ६
११. पुरम् ४३
१२. वही, ३०५, और अकनानूरु, ३३७

ले लिया। इसी कारण ब्राह्मणों में परस्परविरोधी दो वर्ग हो गए। किन्तु ज़ब बौद्ध और जैन प्रभाव क्षीण होने लगा, तब आर्य-संस्कृति का उत्कर्ष बढ़ने लगा। दोनों वर्ग—सभी ब्राह्मण—समान माने जाने लगे। तब वैदिक-अवैदिक का संघर्ष था। वैदिकों के हाथ बाजी लगी। राजन्य-परिवार में, तथा समाज के धनिक और प्रतिष्ठित वर्ग में वैदिक ब्राह्मणों की धाक अधिक रही। अतएव वर्णाश्रम-धर्म के नियमों और जाति-व्यवस्था में कट्टरता और असहिष्णुता बढ़ने लगी। यह मौर्य राजवंश का काल था। हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों का उत्कर्ष, संघर्ष और समझौता सब इसी काल में जैसे उत्तर में हुए, वैसे ही दक्षिण में भी हुए।

पांडिय राजा के सामन्त मोकूर पळैयन् के साथ लड़ने के लिए आये। मौर्यों ने पहाड़ी प्रदेश में रथ जानेयोग्य रास्ता बनाया।[1] महापद्मनंद के समय मौर्य-सेना ने तमिल देश पर चढ़ाई की। उस मौर्य-सेना का छक्का छुड़ानेवाला वीर सेनानी था पूर्वोक्त मोकूर पळैयन्। उत्तरापथ में उस मौर्य-सेना को खदेड़ते हुए तमिलों की सेना गई। सेना के अधिनायक महापद्मनंद के प्रभूत ऐश्वर्य पर रीझकर वहीं ठहर जानेवाले नहीं थे।[2] मौर्यों ने वटुकर् (आन्ध्र) सेना को आगे बढ़ाकर दक्षिणी देशों पर विजय पाने के लिए भारी अभियान किया। ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी रास्ते को दुरुस्त किया। फिर चढ़ाई की। पर उनको मुँह की खाकर लौट जाना पड़ा।[3]

इसी प्रकार की प्रशस्ति पुरनानूरु (१७५) में आतनुंकन नामक वेंकट-गिरि के सामंत के बारे में आत्तिरैयनार नामक कवि ने गाई है। उस समय वेंकट-गिरि (तिरुपति) तमिल देश की उत्तरी सीमा था।

आगे चलकर उत्तर और दक्षिण का परस्पर सम्पर्क अधिक बढ़ने लगा। इसका माध्यम था आन्ध्र एवं कर्णाटक का उच्चवर्ग तथा राजकुल। इस काल में चक्रवर्ती महाराजाओं की वैभव-गाथा विशेष आकर्षक थी। सशक्त राजा-महाराजाओं को सामरिक उमंग, साम्राज्य की लालसा तथा 'आसेतु हिमाचल' एकछत्र चक्रवर्ती बनने का प्रबल मोह उमड़ने लगा। इसीके परिणामों तथा फलाफलों से हमारे इतिहास का अधिकांश भरा हुआ है। राजशेखर ने अपनी प्रसिद्ध रचना काव्यमीमांसा में चक्रवर्ती का लक्षण बताया है कि जो कन्याकुमारी से लेकर बिन्दु-सरोवर तक की भूमि पर विजय पाता है, वही चक्रवर्ती कहलाता है, और यह भूप्रदेश एक हज़ार योजनवाला है।[4] इससे एक अच्छा परिणाम निकला कि भारत

---

१. अकनानूरु, ६९
२. वही, २५१ ३. वही, २८१
४. 'कुमारी पुरात् प्रभृति बिन्दुसरोऽवधि योजनानां दशशती चक्रवर्ति क्षेत्रम्। तं विजयमानः चक्रवर्ती भवति।'

एक समग्र देश माना जाता था। इसका आभास तमिल की संघ-कृतियों में मिलता है। पुराण-प्रसिद्ध दानी शिवि को चोलराज-वंश का राजा बताया गया है और उसका गुणगान पुरनानूरु के पद्यों में (३७, ३९, ४३ और ४६) हुआ है। कई याग-यज्ञ करनेवाले एक पांडिय राजा को 'पल्यागशालै' (कई यागशालाओं के स्वामी) की उपाधि दी गई थी। उस राजा का पूरा नाम पल्यागशालै मुदुकुटुमिप् पेरुवळुति था। उसकी प्रशस्ति पुरनानूरु (५८) की टिप्पणी में की गई है। राजसूय यज्ञ करनेवाले चोलाधीश को 'चोळन् इराचचूयम् वेट्ट पेरुनर्किळि' कहा गया है। उसका यशोगान पुरनानूरु के (१६, १२५, ३६७, ३७७) पद्यों में मिलता है। यज्ञ करने से स्वर्ग-लाभ होने के विश्वास ने उच्च वर्गों में घर कर लिया था। इसकी चर्चा मदुरैक्कांचि में है। याग-यज्ञ की लोकप्रियता तथा उनके अनुष्ठान का वर्णन प्रायः सभी संघकालीन ग्रन्थों में मिलता है। संघकाल में (ई० पूर्व पांचवीं शती से ई० दूसरी शती तक) आर्य-संस्कृति ने तमिल देश में जड़ पकड़ ली। संभवतया याग-यज्ञ, ब्राह्मण-पूजा, संस्कृत-प्रचार तथा जाति-व्यवस्था और देवताओं की आराधना ई० पूर्व प्रथम शती में ही तमिल देश में प्रसार पा चुकी थी। आन्ध्र और कर्णाटक में एक-दो शती पहले ही यह प्रसार हो चुका था। तमिल प्रदेश में ई० प्रथम या द्वितीय शती के बाद ही प्रसार हुआ। यह स्थिति बौद्धों और जैनों के आने से बदल गई। दसवीं शती के आसपास फिर से आर्य-संस्कृति का नया उत्कर्ष और उत्थान हुआ। संस्कृत भाषा का आकर्षण तो शुरू से ही रहा। संस्कृत तथा तमिल के विद्वान कवि संघ-काल के आरंभ में ही थे।

एक ही संस्कृति (भारतीय संस्कृति) तथा एक भाषा (भारती भाषा-संस्कृत) से बाँधने का प्रयास बराबर चालू रहा। इसीका ज्वलंत उदाहरण वायु-पुराण आदि अर्वाचीन ग्रन्थों में बहुधा पाया जाता है। भारतीय भावना का एक प्रतीक वायुपुराण की इस सुन्दर वाणी में निहित है :

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणं च यत्।
वर्षं तद् भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा ॥

अर्थात्, हिन्द महासागर से उत्तर तथा हिमालय से दक्षिण में जो भूप्रदेश फैला हुआ है, वही भारतवर्ष है। वहाँ रहनेवाली सारी प्रजा **भारती प्रजा** है।

ई० छठी शती से यह भावना तीव्र से तीव्रतर होने लगी। तत्कालीन सभी संस्कृत ग्रंथों में और बाद के दक्षिणी भाषा के ग्रन्थों में इसी अखंड भारतीय भावना को हम पाते हैं। इसका प्रबल प्रचार भागवत, भविष्य, विष्णु, ब्रह्म, वायु, कूर्म आदि पुराणों के द्वारा हुआ। इन पुराणों में भारत का भौगोलिक सर्वेक्षण वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। सभी भारतीय महानदियों, पर्वतों, जातियों और जनपदों का वर्णन सीमा-निर्णय के साथ हुआ है।

उदाहरणार्थ :

तास्विमे कुरु पांचाला मध्यदेशादयो जनाः ।
पूर्वदेशादिकाश्चैव कामरूप निवासिनः ।।
पुण्ड्राः कलिंगा मगधा दाक्षिणात्याश्च कृत्स्नशः ।
तथापरान्ताः सौराष्ट्राः शूद्राभीरास्तथार्बुदाः ।।
मारुका मालवाश्चैव पारियात्रनिवासिनः ।
सौवीराः सैन्धवा हूणाः शालवाः शाकलवासिनः ।।
मद्रारामास्तथैवान्ध्राः पारसीकादयस्तथा ।

ये श्लोक विष्णुपुराण (२, ३, १४-१७) ; कूर्म पुराण (१, ४६, ४१-४४) ; ब्रह्माण्डपुराण (२१, १५-१७) आदि में थोड़े पाठ-भेदों के साथ पाये जाते हैं।

इसी काल में (नौवीं शती ई०) भारत को इन पाँच विभागों में भी बाँटते थे : 'मध्यदेश, उदीच्यदेश, प्राच्यदेश, दक्षिणापथ और अपरान्त देश ।'[1]

पूर्वोक्त पुराण ग्रन्थों में दक्षिणापथ का भूभाग महाराष्ट्र से लेकर कन्या-कुमारी तक निर्धारित किया गया है, और वहाँ के जनपदों का उल्लेख लोगों के निवास-स्थानों के आधार पर भारतीय संस्कृति के समन्वित स्वरूप की झाँकी नीचे के उद्धरण में देखनेयोग्य है :

"अथापरे जनपदाः दक्षिणापथवासिनः ।
पाण्डयाश्च केरलाश्चैव चोलाः कुल्यास्तथैव च ।।
सेतुका मूषिकाश्चैव कुमारा वनवासकाः ।
महाराष्ट्राः माहिषकाः कलिंगाश्चैव सर्वशः ।।
कावेराः सह चैषीका आटव्याः शवराश्च ये ।
पुलिन्दा विन्ध्यमूलीयाः विदर्भाः दण्डकैस्सह ।।
पौरिका मौलकाश्चैव अश्मकाः भोगवर्धनाः ।
ऋषिकाः कुन्तला आन्ध्राः उद्भिदा नलकालुपाः ।।
दाक्षिणात्याश्च वै देशा अपरान्तान् निबोधत ।"

ये ही श्लोक कुछ पाठभेदों के साथ कई पुराणों में मिलते हैं। इनमें से पाण्ड्य, केरल, चोल, सेतुक, कुमार (धनुष्कोटि तथा कन्याकुमारी-प्रदेशवासी), कावेर (कावेरी तटवासी), ये तमिलभाषी थे। मूषिक, वनवासक, शबर, पुलिन्द, विन्ध्यमूलीय, मौलक, आन्ध्र ये तेलुगु-प्रदेशवाले थे। माहिषक, अश्मक, भोगवर्धन, कुन्तल ये सब कन्नड़ प्रदेश के थे।

भारत के कई प्रदेशों में सम्पर्क की भाषा संस्कृत थी। वह शिष्टसमाज की भाषा समझी जाती थी। उसपर सभी सम्प्रदायवालों, देशवासियों तथा जातियों

---

१. भुवनकोश (पुराणकोश, जिसका अनुवाद चीनी भाषा में भी हुआ है।)

का समान अधिकार था। इसीलिए संस्कृत भाषा का प्रसार, महत्व और आदर-भाव भारत में ही नहीं, विदेशों में भी बढ़ने लगा। इसी कारण संस्कृत भाषा का विशिष्ट नाम 'भारती' पड़ा। उसकी सजीवता तथा सभी देशी भाषाओं को अपेक्षाकृत अनुप्राणित करने के कारण उसे 'अमर भारती' भी कहा जाता है। कुछ लोग संस्कृत को 'मृत भाषा' समझते हैं और कहते भी हैं। यह ग़लत है। संस्कृत कदापि किसी प्रदेश विशेष की जनसाधारण की बोली नहीं रही। कई बोलियों का संयुक्त या शुद्धीकृत रूप ही संस्कृत है। यह उसका सार्थक नाम है। इसीलिए भारत के विभिन्न भाषा-भाषी संस्कृत पर समान अधिकार पा सके। संस्कृत शब्दों को लेने और उसकी शैली अपनाने में केवल एक तमिल को छोड़कर अन्य सभी भारतीय भाषाएँ होड़ करती थीं। प्रकृति की कृपा से तमिल को संस्कृत के समान ही विपुल शब्द-भंडार तथा विकासयोग्य स्वरूप स्वतः प्राप्त है। फिरभी शुरू से लेकर पिछली शती तक संस्कृत के साथ तमिल का निकट का संबंध रहा है। स्वयं तोलकाप्पियर ने 'वटचोल' (संस्कृत शब्द) स्वीकारने, तथा उन्हें यथाविधि तमिलीकरण करने की भी सम्मति दी है। 'तोलकाप्पियम' के व्याख्याकार चेनावरैयर ने (ई० तेरहवीं शती) स्पष्ट लिखा है कि वटचोल (संस्कृत शब्द) सभी प्रदेशों की सामान्य भाषा होने के कारण उसके शब्दों को लेना स्वीकार्य समझा जाता है।[1]

ई० नौवीं और दशवीं शती के वैष्णवसंत आळवारों तथा शैवसंत नायनमारों के भक्ति-साहित्य में संस्कृत और तमिल को समान आदर की दृष्टि से 'भगवान् की वाणी' बताया गया है। तेरहवीं शती के बाद जो 'मणिप्रवालशैली' सभी दक्षिणी भाषाओं में चलाई गई, उसका प्रभाव तमिलप्रेमी विद्वानों के मन पर अच्छा नहीं पड़ा। संस्कृत शब्दों को मौके-बेमौके ठूँस-ठूँसकर तमिल के विशुद्ध स्वरूप को बिगाड़ना अवांछनीय था। स्वभावतः इसका अप्रिय परिणाम आया।

यूनानी लोग ई० पूर्व छठी शती में ही भारत में आने लगे थे। इन्हींको बाद में यवन कहा जाने लगा। यवन स्वभावतः समुद्रयात्री, समर-प्रेमी तथा कुशल कारीगर थे। प्राचीनतम यूनानी ग्रन्थों में भारत की चर्चा मिलती है। यूनान के दार्शनिक पिथोगोरस ने, जो ई० पूर्व छठी शती का था, कई भारतीय दार्शनिक तत्त्वों को अपनाया है।

(इ) यवनों का सहयोग

प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस् ने (ई० पूर्व पाँचवीं शती) भारतीय इतिहास को अपने समय के यात्रियों तथा व्यापारियों से सुनकर लिखा है। उसमें उसने भारत की तत्कालीन सामाजिक स्थिति, आदिवासियों के आचार आदि का उल्लेख किया है।

---

१. तोलकाप्पियम्, ४०१ सूत्र की व्याख्या (चेनावरैयम्)

उसके बाद प्रसिद्ध यूनानी यात्री मेगस्थनीस ई० पू० चौथी शती में भारत आया। उस समय भारत में मौर्यो का राज था। वह चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहता था। उसके लिखे मूल इतिहास में के कई अंश बाद के इतिहास-ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। उनका संग्रह किया गया है। सिंहल में हिन्दूराज स्थापित होने की बात भी उसने लिखी है। सिंहल के सम्बन्धित भारतीय टापू को उसने 'तम्रोवनी' बताया। यह 'तण्पोरुनि' (पोरुनै) नदी का रूपान्तर है, जो पाण्डियदेश की प्रसिद्ध नदी है। इसीको प्राकृत (पाली) में 'तम्बपन्नी' तथा संस्कृत में 'ताम्रपर्णी' कहा गया है। मेगस्थनीस कहता है कि यह टापू एक नदी (पोरुनै या ताम्रपर्णी) के द्वारा भारतवर्ष से अलग था। उसमें सोना और बड़े-बड़े मोती होते थे। हाथी वहाँ के बहुत बड़े होते थे।

मेगस्थनीस के बाद के यूनानी इतिहासकार ईलियन ने लिखा है, "तम्रोवनी एक बड़ा टापू था। उसमें अनेक पर्वत थे, और बहुत अधिकता से खजूर के पेड़ थे। वहाँ के लोग नरकटों की बनी हुई झोंपड़ियों में रहते थे। वे अपने हाथियों को पार ले जाने के लिए नावें बनाते थे, और उन्हें कलिंग के राजा के पास ले जाकर बेचते थे।"

इस इतिहासकार ने अपने पूर्ववर्ती मेगस्थनीस के ग्रन्थ से ही बहुत-सी बातें ली हैं। उसने भारत की यात्रा नहीं की थी।

ई० पूर्व चौथी शती में यवनों (यूनानियों) का भारत में बस जाना और फैलना अधिक हुआ। उनके सहयोग से आर्य वणिक देश-विदेश के समुद्र-तट के पत्तनों से सम्पर्क रखते थे। यवन लोग समुद्री यात्रा में दक्ष थे। साथ ही, युद्ध-प्रणालियों में नवीनता और व्यवस्था लाने का श्रेय यवनों को था। इसीलिए कई शताब्दियों तक भारतीय राजे-महाराजे यवनों को अंगरक्षक, सेनानी तथा सैनिक प्रशिक्षक पदों पर नियुक्त करते थे।

तोलकाप्पियम में यवनों का कोई उल्लेख नहीं है। यवनों का उल्लेख बाद के संघकालीन ग्रन्थों में है। संभवतः ई० पूर्व तीन या चार शतियों के पहले ही यवन व्यापारी तमिल तथा केरल के बंदरों में मधुर मदिरा, महीन कपड़ों आदि के साथ जहाजों पर आया करते थे।[1] सुरा-सुन्दरी का राजसी ठाट में समावेश यवनों के प्रभाव से अधिक होने लगा।

अन्तणर् (द्रविड ब्राह्मण) लोगों की यज्ञवेदी में यवनों का विशिष्ट 'ओतिम' दीप, जिसकी मूठ पर हंस की मूर्ति रहती थी, जलता था।[2] बाघ की मूर्ति से

---

१. पुरनानूरु, ५६
२. पेरुम्पाणाट्रुप्पटै, ३१५-३१७

अंकित दीप चोल राजा के शयन-कक्ष में जला करता था।[1] सुन्दर स्त्री (दीप-धारिणी) की प्रतिमा के हाथों पर रखा हुआ दीप राजाओं के अन्तःपुर की शोभा बढ़ाता था।[2]

चेर देश (केरल) के बंदरगाह 'मुचिरि' में यवनों के जहाज़ स्वर्ण-राशि के साथ आते, और उसके बदले में काली मिर्च के बोरे लादकर वापस जाते थे।[3]

ई० पहली तथा दूसरी शती में तमिल प्रदेश के वणिक भी रोम, अरब आदि विदेशों में व्यापार के लिए जहाजों पर जाते थे। तमिल प्रदेश और रोम का घनिष्ठ संबंध था। इस बात को यूनानी यात्री प्लिनि, तालमी, पेरिप्लस, स्ट्रापो आदि ने अपने यात्रा-वृत्तान्तों में लिखा है। प्लिनि लिखता है—"प्रतिवर्ष ९७६ स्वर्ण-मुद्राओं को मूल्य में देकर तमिलनाडु से यवन व्यापारी कई अद्भुत वस्तुओं का आयात करते थे। वे वस्तुएँ सौगुने अधिक मूल्य पर दूसरे विदेशों में वेची जाती थीं। इससे यवन व्यापारियों ने बहुत अधिक लाभ उठाया।[4]

ई० दूसरी शती के तमिल महाकाव्य 'शिलप्पतिकारम्' तथा 'मणिमेकलै' में यवन व्यापारियों और यवन कारीगरों का उल्लेख हुआ है। बढ़ईगीरी में यवन बड़े निपुण थे। इसी प्रकार मगध, महाराष्ट्र, अवन्ती, गुर्जर, कोशल, वत्स आदि प्रदेशों से शिल्पी, चित्रकार, भवन-निर्माता तथा अन्य कारीगर तमिलनाडु में विशेष कार्यों के लिए बुलाये जाते थे। उनकी कला-कृतियों से तमिल प्रदेश की राजधानियाँ आकर्षक बनने लगीं।[5]

ई० पूर्व प्रथम शती के प्रसिद्ध ज्योतिषशास्त्री गर्गाचार्य ने स्वयं माना है, "यद्यपि विदेशी यवन म्लेच्छ माने जाते हैं, तथापि उनके पास ज्योतिष एवं अन्तरिक्ष विज्ञान परम्परागत थाती के समान विद्यमान हैं। अतः वे शास्त्रज्ञ यवन आर्य ऋषि-मुनियों के समान माने जायेंगे।"[6]

संघ-कृतियों में विदेशी तथा देशी व्यापारियों की चहल-पहल का विशद वर्णन पट्टिनप्पालै नामक ग्रन्थ में मिलता है (पद्य : १८४-१९३)। आर्य वैश्यों की दक्षिणी यात्रा तथा आवास में यवनों का काफी सहयोग था। यवनों के सहारे आर्य तथा द्रविड संस्कृतियाँ रोम, अरब, जावा, सुमात्रा आदि समुद्र-पार विदेशों में फैलीं, यद्यपि उनका प्रसार यवनों के आगमन के पहले से था, पर कम ही।

---

१. मुल्लैप्पाट्टु, ६१-६३
२. नेदुनल्वाटै, १०१-१०५
३. अकनानूरु, १४९
४. दि तमिल्स एटीन हंड्रेड ईयर्स एगो, पृष्ठ ३८
५. मणिमेकलै १८ और १९ वीं कातें (गाथा)
६. हिस्टरी ऑफ सिविलीज़ेशन इन एंशिएंट इंडिया, पार्ट—२, पृष्ठ १२०

तमिल-साहित्य

आर्य-भाषा तथा संस्कृति का प्रसार दक्षिणापथ में ईसा पूर्व १००० वर्ष में ही शुरू हो गया था। किन्तु सफलता इन्हें सबसे पहले आन्ध्र में मिली। वहीं से शतियों के बाद तमिलनाडु में आर्य-भाषा तथा संस्कृति का प्रवेश होने लगा। तबतक तमिल भाषा तथा संस्कृति सम्पन्न और विकासोन्मुख थी। विकासशील भाषा एवं संस्कृति के लिए उपादेय बाहरी प्रभाव स्वागत करनेयोग्य तो है ही; इसीका सुफल तमिल में मर्यादित रूप से पाया जा सकता है।

(ई) आर्य-भाषा और साहित्य का प्रसार

संघकाल में ही 'मापुराणम्' (महापुराणम्), 'पूतपुराणम्' (भूत या पूत पुराण), अकत्तियम् (अगस्त्य का लक्षण-ग्रन्थ) आदि आर्य-प्रभावित ग्रन्थ रचे गये थे, जो आज अप्राप्य हैं।

तमिल साहित्य की धाराओं को नौ काल-खंडों में विभाजित कर सकते हैं :

१. **संघ-पूर्वकाल :** ऋग्वेद के अंतिम चरण का काल

२. **प्रथम संघ-काल :** वैदिक काल का मध्य भाग

३. **द्वितीय संघ-काल :** इस काल के अन्त में तोलकाप्पियम् रचा गया जो पूरा प्राप्य है। इसका रचनाकाल ईसा पूर्व छठी शती है।

४. **अंतिम संघ-काल :** यह काल तमिलों के विशुद्ध जीवन, आचार-विचार के साथ आर्य-प्रभाव और उनसे बदलती स्थिति-गति का भी परिचय देता है। यह काल ई० पूर्व पाँचवीं शती से ई० दूसरी या तीसरी शती तक का है।

५. **संघोत्तर काल :** प्रधानतः जैन-बौद्धों का साहित्य-काल। इसी समय का है 'तिरुक्कुरळ,' जो तमिलवेद माना जाता है। इसके रचयिता तिरुवळ्ळुवर विश्व-मानव तथा धर्म-निर्देशक के रूप में प्रख्यात हैं। शिलप्पतिकारम् तथा मणि-मेखलै दोनों महाकाव्य इसी काल में रचे गये। इनके रचयिता जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय के थे। यह काल ई० २०० से ६०० तक का है।

६. **भक्ति-साहित्य-काल :** इस काल में शैव, वैष्णव आदि कवियों ने वृहद् भक्ति-साहित्य रचा। पहले शैवों और वैष्णवों दोनों ने मिलकर जैनों का प्रभाव तथा आधिपत्य नष्ट कर दिया। स्वयं जैनों ने ई० पहली तथा दूसरी शतियों में ही बौद्धों को प्रभावहीन बना दिया। वैष्णव संतों को 'आळवार' कहते हैं और शैव संतों को 'नायन्मार'। उनके भक्तिपुंज हृदय-स्पर्शी पद्यों को 'तिरुवाय् मोळि' और 'तिरुमुरै' कहते हैं। तिरुवाय् मोळि चार हज़ार पदों का संकलन है, और तिरुमुरै लगभग दस हज़ार पदों का। यह काल आर्य-प्रभाव से अनुप्राणित सांस्कृतिक समन्वय और विकास का समुन्नत काल माना जाता है। इस विकास और समन्वय के कर्णधार जैन, बौद्ध तथा वैदिक तीनों थे। यह काल ई० ६०० से ९०० तक माना जाता है।

७. काव्य-पुराण काल : तमिल साहित्य का स्वर्णयुग। जैन तथा वैदिक विद्वानों ने होड़ लगाकर तमिल भाषा और साहित्य को अधिक-से-अधिक समृद्ध किया। यह काल ई० ८०० से १२०० तक का है।

यह एक प्रकार से साम्प्रदायिक संघर्ष का युग था। जैनों और बौद्धों को परास्त कर चुकने के बाद शैवों और वैष्णवों के बीच में ही प्रतिस्पर्धा बढ़ी, जिसके फलस्वरूप अनेक विशाल गगन-चुम्बी मंदिर खड़े कर दिये गये। वैष्णवों का अमर अनुपम महाकाव्य 'कम्ब रामायणम्' इसी युग में रचा गया।

इसी काल में, कन्त (स्कंद) पुराणम् 'पेरियपुराणम्' तिरुविलैयाडल् पुराणम् आदि शैव सम्प्रदाय के ग्रन्थ रचे गये।

जैनों ने जितनी तमिल भाषा और साहित्य की संवृद्धि की, उतनी और किसी सम्प्रदाय के विद्वानों ने उस युग में नहीं की। बाद को अन्य सम्प्रदायवालों ने भी तमिल की वृद्धि की। इनमें शैव और वैष्णव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस युग की एक और विशेषता है व्याख्या-प्रणाली। व्याकरण-ग्रन्थों तथा प्रबंध-काव्यों तक की विशद व्याख्या बड़ी विद्वत्ता के साथ इसी युग में रची गई।

८. प्रशस्ति-ग्रन्थ-काल : यह ई० १२०० से १८०० तक का है।

तेरहवीं शती में अधिकांश व्याख्याकार हुए। ये प्रायः संस्कृत के पंडित थे और दर्शनशास्त्रों के भी अच्छे ज्ञाता थे। इनकी व्याख्याएँ मणिप्रवाल-शैली (संस्कृत-तमिल मिश्रित भाषा शैली) में हैं।

इस काल में शैव सिद्धान्त, शाक्त सम्प्रदाय तथा सिद्ध सम्प्रदाय के ग्रन्थ संस्कृत मिश्रित तमिल में रचे गये। वैष्णव सम्प्रदाय के कई पद्य-ग्रन्थ भी लिखे गये।

९. आधुनिक काल : ई० १८०० से १९३० तक। इस काल के प्रसिद्ध संत-कवियों में तायुमान स्वामी तथा रामलिंग स्वामी का उल्लेख बड़ी श्रद्धा के साथ किया जाता है। यहाँतक आर्य-संस्कृति के सार्वजनीन सर्वमान्य प्रभाव को हम पा सकते हैं। इस काल के अंतिम भाग से ही अंग्रेजों तथा कुछ भारतीयों के भी कुचक्र से आर्य भाषा और संस्कृति के प्रति तमिल लोगों में द्वेष की भावना फैलने लगी। किन्तु इस स्थिति से दक्षिण के अन्य तमिलेतर तीनों भाषा-भाषी प्रदेश अछूते रहे हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि वहाँ संस्कृत तथा आर्य-संस्कृति शुरू में ही ऐसी घुलमिल गई थी कि उससे अलग कोई मौलिक भाषा-संस्कृति का अस्तित्व ही नहीं रहा।

तेलुगु-साहित्य

तेलुगु भाषा तमिल परिवार की समृद्ध भाषा है। विन्ध्य तथा दण्डकारण्य प्रदेश के मूल निवासी आन्ध्रों के साम्राज्य का विस्तृत देश है तेलुगु प्रदेश। ऐतरेय

ब्राह्मण तथा धर्मसूत्र ग्रन्थों में आन्ध्र जाति का उल्लेख है। ई० पूर्व प्रारंभिक शतियों में ही तेलुगु प्रदेश तमिल-परिवार से बिछुड़कर आर्य-परिवार की ओर अग्रसर होने लगा था। आगे चलकर आर्य भाषा और संस्कृति का यह समुन्नत केन्द्र बन गया। संस्कृत के जितने कवि, विद्वान, पंडित और वेदपाठी आन्ध्र में हुए, उतने अन्य दक्षिणी प्रदेशों में नहीं हुए। साहित्यिक तेलुगु भाषा में लगभग अस्सी प्रतिशत संस्कृत शब्द मिले हुए हैं। किन्तु जनसाधारण की बोलचाल की भाषा में तमिल परिवार के मूल तथा तद्भव शब्द अधिक मात्रा में पाये जाते हैं।

आज भी तेलुगु के भाषा-पंडितों में यह मतभेद है कि तेलुगु भाषा आर्य-परिवार की है या तमिल-(द्रविड) परिवार की। इसका यही कारण है कि तेलुगु-साहित्य की प्राचीनतम रचनाओं में भी संस्कृत तथा प्राकृत शब्दों की भरमार है। आन्ध्रों के शासन-काल में ही संस्कृत एवं आर्य-संस्कृति का प्रभूत प्रभाव फैल चुका था। फिर सातवाहनों के शासन-काल में तो देशी भाषा तेलुगु की पूरी उपेक्षा तथा संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं का राजकीय समादर हुआ। वे आन्ध्र के साथ महाराष्ट्र, कर्णाटक प्रदेशों पर भी शासन करते थे। इसीलिए इन भू-भागों में देशी भाषाओं का प्रभाव लुप्तप्राय हो गया। शातकर्णी (सातवाहन) वंश के राजाओं की राजभाषा प्राकृत थी। इनके काल में सोमदेव शर्मा ने 'कथासरित् सागर' तथा उससे पहले शातवाहन (शालिवाहन-साम्राज्य स्थापक) के मंत्री गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' की रचना की थी।

तेलुगु या तेनुगु आन्ध्र प्रदेश की मूल द्राविडी भाषा का नाम है। तेनुगु शब्द का अर्थ माधुर्य है। जैसे 'तमिल' शब्द माधुर्य के अर्थ में ही भाषापरक हो गया, उसी तरह 'तेनुगु या तेलुगु' का अर्थ-विन्यास माना जा सकता है।

तेलुगु साहित्य-परम्परा की काल-गणना नीचेलिखे अनुसार विभाजित की जाती है :

१. **अज्ञात युग** : इस युग की रचनाएँ अप्राप्य हैं। इस काल में जैन व बौद्ध सम्प्रदायों के कई ग्रन्थ रचे गये। किन्तु बाद को धार्मिक-विद्वेष के कारण वे नष्ट कर दिये गये। (सौभाग्यवश तमिल प्रदेश में ऐसा नहीं हुआ। जैन तथा बौद्ध कवियों के रचे दोनों महाकाव्य पूरे-के-पूरे प्राप्य हैं। उनका पंडित-समाज में बड़ा आदर है।) यह काल ई० पूर्व प्रथमशती से ई० दसवीं शती तक का है।

ई० प्रथम या द्वितीय शतियों के कुछ शिला-लेख और ताम्र-पत्र मिले हैं।

२. **भाषान्तरीकरण युग या कवित्रय-युग** : इस युग में संस्कृत के काव्यों एवं पुराणों के अनुवाद ही मुख्यतया हुए। ई० १०२० में श्री नन्नय भट्ट का रचा 'आन्ध्रमहाभारतमु' ही प्रथम उपलब्ध तेलुगु ग्रन्थ है। यह चालुक्य राजा नरेन्द्र के दरबारी कवि थे। इन्होंने 'आन्ध्र शब्द-चिन्तामणि' नामक व्याकरण-ग्रन्थ संस्कृत में लिखा। इनके साथ महाकवि तिक्कन्ना और एरी प्रेगडा ने मिलकर 'आन्ध्र-

महाभारत' को पूरा किया। ये तीनों महाकवि 'कवित्रय' कहे जाते हैं। तेलुगु साहित्य के ये आदिम कीर्ति-स्तंभ हैं।

इस काल की एक और विशेष देन है तेलुगु का महान् गौरव-ग्रन्थ 'रंगनाथ रामायण'। यही तेलुगु की रामायणों में प्रथम है। इसके रचयिता गोन बुद्ध रेड्डी थे। 'भास्कर रामायण' भी इसी काल की है। पाँच तेलुगु कवियों ने मिलकर इस रामायण की रचना की थी। यह काल ई० ११०० से १३५० तक का है।

३. संधि-युग या श्रीनाथ-युग : इस काल में कई प्रशस्ति-गाथाएँ रची गईं। कवि सार्वभौम श्रीनाथ ने इस युग में कई प्रबंध-काव्य रचे, जो सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। इस युग के एक और लोकप्रिय महाकवि बम्मेर पोतना थे। उनका रचा भागवत महाकाव्य सुप्रसिद्ध है। पोतना कृषक थे। बड़े स्वाभिमानी संत भक्त-कवि थे। यह काल ई० १३५० से १५०० तक का है।

४. प्रबंध-युग या रायल युग : तेलुगु साहित्य का यह स्वर्ण-युग माना जाता है। प्रबन्ध-काव्यों को महाकाव्य रूप इसी काल में प्राप्त हुआ। प्रसिद्ध आन्ध्र-सम्राट् कृष्णदेव राय इस युग का प्रतिनिधित्व करते थे। वे दक्षिणी भाषाओं के मर्मज्ञ, साहित्य-रसिक तथा स्वयं भी विद्वान् कवि थे। उन्होंने "आमुक्तमालयदा" नामक भक्ति-प्रबन्ध लिखा। यह तमिल देश की वैष्णव भक्तिन तथा विदुषी आण्डाल की पावन कथा है; साथ ही श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों का वृत्तान्त भी इसमें वर्णित है। कृष्णदेव राय के दरबार में 'अष्ट दिग्गज' नामक आठ तेलुगु महाकवि थे। यह काल ई० १५०१ से १७०० तक का है।

५. अर्वाचीन युग या संक्रान्ति-युग : इस युग में यक्षगान तथा शतक नाम के गान तथा पद्यात्मक रचनाएँ अधिक मात्रा में रची गई। इस काल में तेलुगु-भाषी लोग तमिल प्रदेश में भी बसने लगे। इससे तेलुगु भाषा तथा साहित्य का प्रसार थोड़ा-बहुत तमिलनाडु के कुछ भागों में एवं कर्णाटक के प्रमुख नगरों में होने लगा। इस युग में भी पूर्ववर्ती युगों की तरह संस्कृत-साहित्य का पूरा प्रभाव रहा। इसी युग में संगीत-सम्राट् राम-भक्त त्यागराज हुए।[1] यह काल ई० १७०२ से १८५० तक का है।

कन्नड-साहित्य

कन्नड़ तमिल-परिवार की अन्य तीनों भाषाओं में प्राचीन मानी जाती है। साहित्य की प्राचीनता में भी तमिल के बाद कन्नड़ का ही नाम आता है। 'कन्नड़' शब्द 'करुनाडु' (काली मिट्टी का प्रदेश) का संक्षिप्त तथा परिवर्तित रूप

---

१. यह लेख-अंश श्री बालशौरि रेड्डी के लेख 'तेलुगु का काव्य-साहित्य'; 'तेलुगु-भाषा का विकास' तथा अन्य सामग्रियों पर आधारित है।

है। यह प्रदेशवाची शब्द बाद को भाषा-परक बन गया। कन्नड़ का भाषा की दृष्टि से तो तमिल से अधिक सम्बन्ध, तथा लिपि की दृष्टि से तेलुगु के साथ अधिक सम्बन्ध देखने में आता है। प्राचीन कन्नड़ और प्राचीन तमिल में अधिक समानता है।

प्रथम उपलब्ध साहित्य कन्नड़ का 'हलमडी शिला-लेख' है, जो ई० ४५० का है। ई० नौवीं शती के प्रारंभ में विरचित 'कविराज मार्ग' ही कन्नड़ का प्रथम साहित्य-ग्रन्थ है। इसमें कन्नड़ के कवियों, कथाकारों तथा अन्य साहित्यिकों का वर्णन है। कन्नड़ का प्राचीनतम गद्य-ग्रन्थ 'वड्डाराधने' शिवकोटाचार्य ने ई० ६२० में लिखा था। इसमें प्राकृत ग्रन्थ 'भगवती आराधना' के आधार पर उन्नीस जैन महापुरुषों की कथाएँ हैं। कन्नड़ की साहित्य-परम्परा का काल-विभाजन इस प्रकार किया जाता है :

१. पम्पपूर्व युग—नौवीं तथा दसवीं शती ई०
२. पम्प-युग या जैन-युग—ई० ६५० से ११५०
३. वसवयुग या स्वातंत्र्य-युग—ई० ११५० से १५००
४. कुमार व्यास-युग—ई० १५०० से १६००
५. आधुनिक-युग

पम्पपूर्व युग का उल्लेख आरंभ में किया जा चुका है। दूसरे पम्पयुग या जैन युग में जैन कवियों ने अनेक पुराण-कथा-धर्म सम्बन्धी रचनाएँ की हैं। संस्कृत काव्य-शैली का कन्नड़ में प्रयोग होने लगा। चम्पू प्रबन्धों का निर्माण हुआ। छन्द, रस, अलंकार, व्याकरण, कोश, ज्योतिष, वैद्यक आदि ग्रन्थों की रचना भी इसी युग में होने लगी।

इस युग का प्रथम तथा श्रेष्ठ कवि पम्प था। इसने आदि तीर्थंकर ऋषभ-देव पर 'आदि पुराण' लिखा। अपने आश्रयदाता अरिकेसरी की अर्जुन के साथ तुलना करके 'विक्रमार्जुन विजय' या 'पम्पभारत' की रचना की। इस युग की अधिकांश रचनाएँ जैनधर्म के प्रचार की दृष्टि से की गईं। इस युग का प्रधान लक्षण रहा अन्यधर्म-सहिष्णुता। परधर्म-दूषण कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं आता। बाद की रचनाओं में परधर्म-दूषण देखने में आता है।

तीसरे वसव-युग में कर्णाटक के सभी क्षेत्रों में क्रांति हुई। क्रांति के अग्रदूत थे वसवदेव। इस क्रांति के फलस्वरूप साहित्य की भाषा, छन्द तथा वस्तु में परि-वर्तन हुआ। संस्कृतमयी भाषा के स्थान पर बोलचाल की देशी (द्राविडी) भाषा में साहित्य-निर्माण होने लगा। देशी छंदों को भी प्रोत्साहन मिला। शैवों के अलावा अन्य मतावलम्बी भी साहित्य-क्षेत्र में आये। वीर शैवों की प्रसिद्धि बढ़ी। उनके वसवपुराण, प्रभुदेवर गले, गिरिजा कल्याण आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। कई जैन तथा ब्राह्मण कवियों ने भी इस काल में अनेक धार्मिक ग्रन्थ रचे।

चौथा, कुमार व्यास युग तो वैष्णवों का साहित्यिक युग था। इस युग में

विजयनगर तथा मैसूर के राजाओं के प्रोत्साहन से वैष्णव साहित्य की श्रीवृद्धि हुई।

इस युग के प्रतिनिधि कवि 'कुमार व्यास' ने, जिनका असली नाम नारायणप्पा था, 'भारत काव्य' लिखा। यह बड़ा लोकप्रिय ग्रन्थ है। कुमार वाल्मीकि (नरहरि कवि) ने 'तोरवे रामायण' की रचना की।

इसी काल में मध्यसम्प्रदाय के अनेक विद्वान, कवि, और संगीताचार्य हुए। उनमें दासकूट, पुरंदरदास, कनकदास, रंगविट्ठल, विजयविट्ठल आदि प्रसिद्ध हैं। वीरशैव कवियों की कई प्रसिद्ध रचनाएँ इसी काल में हुई। 'सर्वज्ञ' नामक सुधारवादी कवि इसी युग में हुआ।[1]

मलयालम-साहित्य

केरल की भाषा मलयालम है। दसवीं शती तक यह प्रदेश चेर-राज्य था। वे ठेठ तमिल जातीय नरेश थे। तब वहाँ की भाषा भी तमिल ही थी। कुछ स्थानीय बोलियों तथा संस्कृत, प्राकृत, अरबी, पुर्तगाली आदि भाषाओं के सम्पर्क से चेर-प्रदेश की यह तमिल शाखा एक नया रूप ग्रहण करने लगी। पहले संस्कृत का जोर, बाद को बौद्ध-जैनों का प्रभाव, फिर विदेशियों का फैलाव अधिक हुआ! परिणामस्वरूप चेरल (केरल) प्रदेश, जो तमिल का प्रमुख अंग था, बिछुड़कर अलग प्रदेश बन गया। भाषा, रीति-रिवाज, पर्व-त्योहार आदि में कुछ-कुछ परिवर्तन आने लगे। 'मलयालम' नाम पर्वतीय प्रदेश होने के कारण पड़ा। वही भाषा-परक भी है।

मलयालम के साहित्य ने दसवीं शती से लेकर कई परिवर्तनों, आयामों और प्रयोगों के सहारे अच्छी प्रगति की है। उसके पहले केरल में संस्कृत साहित्यिक भाषा थी। यह एक-दो शतियों की बात है। उसके भी पूर्व तमिल में ही साहित्य-रचना होती थी। दसवीं शती के उपरान्त मलयालम भाषा का स्वतंत्र स्वरूप बनने लगा। उत्तर भारत से आये हुए विद्वान ब्राह्मणों ने मलयालम में बहुलता से संस्कृत शब्दों तथा संस्कृत विभक्तियों को भी मिलाकर उसे खिचड़ी भाषा बना दिया। यही 'मणिप्रवाल' भाषा बतायी जाती है। तमिल के इस गरिमापूर्ण प्रदेश में जितना संस्कृत भाषा तथा संस्कृति का आधिपत्य हुआ, उतना और किसीभी प्रदेश में नहीं हुआ। इसका यह सुपरिणाम भी हुआ कि वहाँ की बोल-चाल की भाषा द्रविडत्व के साथ आर्यत्व पर अधिकार पाने लगी। इसीलिए केरल के लोग शिक्षा-दीक्षा में भारतभर में आगे रहे और आज भी हैं। उनके पास दो प्राचीन और सुसम्पन्न

---

१. आधार : श्री श्रीकंठमूर्ति का लेख 'कन्नड भाषा का संक्षिप्त इतिहास' तथा अन्य सामग्री पर आधारित

भाषाओं की थाती हैं। यह कम सौभाग्य की बात नहीं है। ऐसा सौभाग्य अन्य किसी-भी दक्षिणी प्रदेश को प्राप्त नहीं हुआ। बाद की शतियों में बोलचाल की भाषा का भी अच्छा विकास हुआ। अब उसकी सुंदर तथा सशक्त भाषा-शैली बन गई है। उसके पीछे तमिल और संस्कृत दोनों की विशेषताओं की पूँजी है।

१. **आदिकाल** : ई० दसवीं शती से सोलहवीं शती तक। इस काल में 'मणि-प्रवाल शैली' में चम्पू, संदेश-काव्य, तथा लघुकाव्य रचे गए। चम्पू ग्रन्थों में भरत-मुनि के नाट्यशास्त्र, अन्य संस्कृत नाटकों तथा स्थानीय नृत्य-परम्परा का सम्मिलित रूप सामने आया। इस नाट्य-नाटक शैली को मलयालम में 'कूत्तु कूटियाट्टम' कहते हैं। यही शब्द तमिल प्रदेश में भी प्रचलित थे। चम्पू ग्रन्थों में उण्णियच्चि चरितम्, उण्णिच्चिरुतेवि चरितम्, और 'उण्णियाटी चरितम्' ये तीनों प्राचीन (दसवीं शती के) माने जाते हैं।

मलयालम के संदेश-काव्य कालिदास के मेघदूत की अनुकृति में लिखे गये हैं। उण्णुनीलि सन्देश और कोकसन्देश ई० १४वीं शती में रचे गये हैं। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से दोनों ही उच्च कोटि के सन्देश-काव्य हैं। भाषा इनकी संस्कृत-प्रधान है।

मणिप्रवाल-शैली के लघुकाव्यों में प्रेम, शृङ्गार, भोग-विलास आदि के वर्णन प्रधान विषय हैं। १४वीं शती में अनंतपुरवर्णनम्, कृष्णस्तवम्, दशावतार-चरितम् आदि भक्तिप्रधान ग्रन्थ भी रचे गये।

इस काल में जन-साधारण की बोली में कई गीत तथा गाथाएँ रची गयीं। लोकगीत के नाम से वे प्रसिद्ध हैं। जनसाधारण की भाषा के काव्यों में 'राम-चरितम्' सबसे प्राचीन है। इसमें तमिल भाषा का स्वरूप अधिक दृष्टिगोचर होता है।

पन्द्रहवी शती के तीन प्रसिद्ध कवि 'निरणम्' कवि के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे तीनों माधव, शंकर तथा राम पणिक्कर-कुल के थे। उनकी रचनाएँ क्रमशः भगवद्गीता, भारत माला तथा रामायणम्, भारतम् और भागवतम् हैं।

२ **मध्यकाल** : यह काल भी आर्य-भाषा तथा संस्कृति का पोषक रहा। साथ ही, देशी भाषा, कला और संस्कृति का भी आदर होने लगा। इस युग के प्रतिनिधि कवि तथा भाषा-पंडित थे तुंचत्तु एळुत्तुच्चन। इन्होंने मलयालम भाषा के लिए नयी अक्षर-माला की व्यवस्था की। जाति-भेद तथा धार्मिक कट्टरता को इन्होंने दूर किया। उच्च-नीच कुलों को एक ही सांस्कृतिक परम्परा का अधिकारी मानकर समाज में नयी चेतना जगा दी। इन्होंने भक्ति तथा सदाचार सम्बन्धी कई पुस्तकें लिखीं। उनमें से अध्यात्म रामायणम्, महाभारतम् और हरिनामसंकीर्तनम् ने अनुपम लोक-सम्मान प्राप्त किया। मलयालम भाषा-साहित्य के युग-प्रवर्त्तक के रूप में यह एळुत्तच्चन (विद्यागुरु या अक्षर-पिता) माने जाते हैं। आम लोगों की इनके

प्रति बड़ी श्रद्धा-भक्ति है।

इसी युग में वटक्कन पाट्टुकळ् (लोकगीत) परम्परा का विकास हुआ। जन-साधारण की सरल (तमिल प्रधान) भाषा में गीत तथा पद्यग्रन्थ रचे गये। संस्कृत-प्रधान भाषा में रचे गये पुराण-इतिहास-ग्रन्थों में वाल्मीकि रामायणम्, वैराग्य चन्द्रोदयम्, पाताल रामायणम्, वाणयुद्धम् तथा भीष्मोपदेशम् प्रसिद्ध एवं उल्लेखनीय हैं।

इस काल में केरल की विशिष्ट नृत्य-नाटक-कला का अच्छा विकास हुआ। कथकलि, तुल्लल आदि नाट्य विधाएँ प्रशस्त हुईं। इनके उपयोगार्थ कई गीत-काव्य तथा लक्षण-ग्रन्थ रचे गये। यह सब आर्य-संस्कृति के पोषक थे। साथ ही, द्रविड संस्कृति की मूल प्रेरणा तथा परम्परा का समावेश भी बराबर होता रहा।[1]

सांस्कृतिक समन्वय

द्रविड देश में आर्य भाषा तथा संस्कृति का प्रसार बड़े वेग और ज़ोर के साथ हुआ। तमिल को छोड़कर अन्य तीनों भाषा-प्रदेशों में उसका पूरा आधिपत्य हो गया। फिरभी देशी बोलियों और भाषाओं की जो उपेक्षा मध्यकाल में हुई, वह अवांछनीय स्थिति बाद में कम होती गई। अब स्थिति बदल रही है। तथापि आर्य-संस्कृति की जड़ इतनी दृढतर है कि उसे उखाड़ने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सांस्कृतिक भेद या विभाजन करना न तो किसी प्रकार सम्भव है और न वांछनीय ही।

तमिल का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ तोलकाप्पियम् ईसा पूर्व छठी शती का है। उसी काल से तमिल की साहित्य-परम्परा अबाध गति से चली आ रही है। इस परम्परा में विशुद्ध तमिल, आर्य-प्रभावित तमिल, तथा संस्कृत-मिश्रित तमिल आदि भाषा-रूपों को हम पाते हैं। आजभी विशुद्ध तमिल का स्वरूप अक्षुण्ण पाया जा सकता है। यही तमिल की अनूठी प्राचीनतम गरिमा है। इसी कारण तमिल द्रविड-परिवार की प्रतिनिधि भाषा मानी जाती है।

तेलुगु का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ 'आन्ध्र महाभारतमु' ई० १०२० का है। उसी समय से आर्यप्रभावपूर्ण तेलुगु भाषा में साहित्य-परम्परा बढ़ती आ रही है।

कन्नड़ का प्रथम प्राप्य ग्रन्थ 'कविराज मार्ग' ई० नौवीं शती का है। उस समय से कन्नड़ साहित्य की विकास-परम्परा चली आ रही है। यह भी अधि-

---

१. आधार : केरल साहित्य चरित्रम् (मलयालम : महाकवि उळ्ळूर परमेश्वर ऐयर रचित); श्री एन० वेंकटेश्वरन का 'केरल वैभव' (हिन्दी) तथा अन्य सामग्री।

कांश में आर्य-प्रभावित है, जिसमें जैनों का प्रमुख हाथ रहा है।

मलयालम भाषा का प्रथम प्राप्य ग्रन्थ चम्पूग्रन्थ (उण्णियच्चि चरितम् आदि) ई० दसवीं शती का है। यह तमिल भाषा से बिछुड़कर संस्कृत-प्रभाव से समादृत मिश्रित भाषा बन गई। दसवां शती से प्रधान रूप में आर्य-संस्कृति तथा गौण रूप में द्रविड संस्कृति के प्रभाव के साथ मलयालम साहित्य-धारा बढ़ती आ रही है। इस शती में स्थिति बदल गयी है।

अपनी समन्वयकारी प्रवृत्ति, सम्पन्नता तथा विकासशील क्षमता के कारण ही आर्य-संस्कृति ने जन-मानस में तथा शिष्ट-समाज में अत्यन्त आदर पाया है।

प्राचीन आचार्यों ने समस्त भारत को एकही सांस्कृतिक सूत्र में बाँधने और प्रबल बनाने का स्वप्न देखा था। इसीलिए संस्कृत भाषा सभी धर्मों की माध्यम भाषा बनी। वैदिक, बौद्ध, जैन, शाक्त, सिद्ध आदि अनेक धर्मावलम्बी पंडितों ने संस्कृत द्वारा भारत को भावसूत्र में बाँधा।

आर्य-संस्कृति कई प्रादेशिक एवं साम्प्रदायिक संस्कृतियों के संगम से 'सामासिक संस्कृति' बनी। इसीलिए उसके नाना रूप-स्वरूप बने हैं; उसमें से विविध शाखाएँ फूट निकली हैं; भिन्न-भिन्न पर्व, त्यौहार, व्रत, उत्सव आदि में आर्य-संस्कृति अन्तर्वाहिनी की तरह सजीव है। इस अमिट अन्तर्धारा की विशेषता है विविधताओं और विभिन्नताओं के बीच में अभिन्नता को बनाये रखने की संजीवनी सामंजस्य-भावना। इस सार्वजनीन भावना पर आर्य-आर्येतर, द्रविड-द्रविडेतर सभीका समान अधिकार है।

अध्याय–३

वेद और वैदिक वाङ्मय

[डॉ० मंगलदेव शास्त्री]

भारतीय परंपरा में वैदिक वाङ्मय का सदा से बहुत अधिक महत्त्व रहा है, और बराबर रहेगा।

मनुस्मृति में वेद के विषय में कहा है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। (२।६)

सर्वज्ञानमयो हि सः। (२।७)

अर्थात् वेद धर्म का मूल है। उसमें समस्त ज्ञान भरा हुआ है।

चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, भूत, वर्तमान और भविष्य, इन सबका पूरा ज्ञान वेद से होता है।

वेद के विषय में सबसे पहला प्रश्न यह है कि वेद कहते किसको हैं? इस विषय में तीन दृष्टियाँ हो सकती हैं:

पहली दृष्टि यह है कि 'वेद' शब्द 'विद् ज्ञाने' धातु से बना है। इसलिए इसका मौलिक अर्थ 'ज्ञान' ही है। 'विद्या' शब्द भी इसी धातु से निकला है। इसलिए मूल में 'विद्या' और 'वेद' इन दोनों शब्दों का अर्थ समान ही है। 'वेद' शब्द का इस सामान्य अर्थ में प्रयोग 'आयुर्वेद', 'धनुर्वेद' आदि शब्दों में प्राचीन काल से चला आया है।

दूसरी दृष्टि के अनुसार, 'वेद' शब्द का, सामान्य 'ज्ञान' के स्थान में, विशेष पारिभाषिक अर्थ में ही प्रयोग होता है। **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"** (आपस्तम्बयज्ञ परिभाषासूत्र, ३१), इस प्राचीन परिभाषा के अनुसार वेद के मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग, दोनों के लिए समान रूप से, 'वेद' शब्द का प्रयोग सदा से भारत की साहित्यिक परम्परा में चला आया है।

तीसरी दृष्टि दूसरी दृष्टि से भी अधिक संकुचित है। उसके अनुसार वेद के मन्त्र-भाग (या संहिता-भाग) को ही 'वेद' कहना चाहिए।

इस विषय में हमारा अपना मत यह है कि प्रारम्भ में 'वेद' शब्द का प्रयोग असल में सामान्यतः ज्ञान या विद्या के अर्थ में ही होता था। कालान्तर में, अनेक कारणों से, यह प्राचीन परम्परा से प्राप्त मन्त्र और ब्राह्मण दोनों मिलकर वैदिक साहित्य के लिए प्रयुक्त होने लगे। परन्तु मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग में

परस्पर विभिन्नता है। ब्राह्मण-भाग मन्त्र-भाग के पीछे-पीछे चलता है। इसलिए प्रतिपादन की सुविधा से 'वेद' शब्द का प्रयोग मन्त्र-भाग (या संहिता-भाग) के लिए ही करना युक्तियुक्त है।

वेद के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, ये चार भाग माने जाते हैं। इनके लिए ही ऋक्संहिता, यजुःसंहिता, सामसंहिता और अथर्वसंहिता ये नाम प्रसिद्ध हैं।

वेदों के लिए 'त्रयी' शब्द का प्रयोग भी बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। 'शतपथ' आदि ब्राह्मण ग्रंथों में, तथा मनुस्मृति, गीता आदि में 'त्रयी' या 'त्रयं ब्रह्म' (तीन वेद) का प्रयोग प्रायः पाया जाता है। इन शब्दों का अर्थ ऐसे स्थलों में ऋक्, यजुः और साम यही किया जाता है। अथर्ववेद का उल्लेख छूट जाता है। इसी आधार पर यह विवाद प्राचीन काल से चला आ रहा है कि अथर्ववेद को भी वेद मानना चाहिए या नहीं।

जहाँ-जहाँ चार वेदों का उल्लेख है, वहाँ ग्रन्थ-रूप में चार संहिताओं से अभिप्राय है। 'त्रयी' या 'त्रयं ब्रह्म' (=तीन वेद) से अभिप्राय संहिताओं से न होकर ऋक् (=पद्यात्मक वैदिकी रचना), यजुः (= गद्यात्मक वैदिकी रचना) और साम (=गीतात्मक वैदिकी रचना) से वेद-मन्त्रों की तीन प्रकार की रचनाओं से है। वास्तव में, ऋक्, यजुः और साम का शास्त्रीय अर्थ यही है। चारों वेदों के मन्त्रों का सन्निवेश इन्हीं तीन प्रकार की रचनाओं में हो जाता है। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण आदि में 'त्रयी' के साथ 'विद्या' शब्द का भी प्रयोग प्रायः किया गया है।

'वेदत्रयी' और 'वेदचतुष्टय' इन शब्दों में भेद केवल शब्द का है, कोई वास्तविक विरोध नहीं है। इधर बहुतकाल से वैदिकों की परम्परा में वेदचतुष्टय का ही व्यवहार होता है।

प्रत्येक वेद के विषय में कुछ कहने से पहले वेदों की शाखाओं के बारे में थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है। प्रत्येक वेद की अनेक शाखाएँ मानी जाती हैं। इस शाखा-भेद का क्या अभिप्राय है? इस विषय में प्रायः भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। पर प्रत्येक वैदिक जानता है कि उसका किस वेद की किस शाखा से सम्बन्ध है। वह यह भी जानता है कि उसकी शाखा में प्रचलित वेद-संहिता का पाठ अपने ही वेद की अन्य शाखा से संबंधित संहिता के पाठ से कुछ ही अंशों में भिन्न है। इसलिए यह स्पष्ट है कि वेदों का शाखा-भेद, बहुत अंशतक किसी भी प्राचीन ग्रंथ के समान, पाठ-भेद पर ही आधार रखता है।

इसपर भी सांप्रदायिक विचार के लोग 'वेद शाश्वत हैं' 'वेद ईश्वरकृत हैं', इसीलिए 'उनमें पाठ-भेद नहीं हो सकता', ऐसी-ऐसी धारणाओं के कारण वेदों की शाखाओं का मनमाना अर्थ करते हैं।

शाखा-भेद कैसे हुआ ? उत्तर इसका स्पष्ट है। वैदिक परम्परा में एक ऐसा समय था, जबकि अध्ययन और अध्यापन का आधार केवल मौखिक था। उसी काल में एक ही गुरु के शिष्य-प्रशिष्य भारत-जैसे महान् देश में फैलते हुए, विशेष करके जाने-आने की उन दिनों की कठिनाइयों के कारण, किसीभी पाठ कोपूरी तरह अक्षुण्ण नहीं रख सकते थे। पाठ-भेद का हो जाना स्वाभाविक था।

साथ ही, जान-बूझकर पाठ का बदल देना या बढ़ा देना भी, किसी विशेष अवस्था में, सम्भावना से बाहर की बात नहीं है। एक ऐसाभी समय था, जब नई ऋचाएँ भी बनाई जाती थीं। तभी तो वैदिक वाङ्मय में ऐसीभी ऋचाएं और मन्त्र मिलते हैं, जो प्राप्त वैदिक संहिताओं में नहीं पाये जाते। ऐसी अवस्था में पाठ-भेद कर देना या पाठ-भेद का हो जाना असंभव नहीं हो सकता।

ऋग्वेद–संहिता

वैदिक संहिताओं में ऋग्वेद-संहिता सबसे बड़ी है। छन्दोबद्ध या पद्यात्मक मन्त्रों को 'ऋक्' या ऋचा कहते हैं। ऋक्-संहिता या ऋग्वेद-संहिता ऐसी ही ऋचाओं का वड़ा भारी संग्रह है। संहिता का अर्थ है संग्रह।

थोड़े-बहुत पाठ-भेदों के कारण इस संहिता की अनेक शाखाएँ मानी जाती हैं। महाभाष्य-जैसे प्राचीन ग्रन्थ में (लगभग १५० ई० पूर्व) कहा गया है कि ऋग्वेद की २१ शाखाएँ थीं। पीछे के ग्रन्थों में केवल ५ शाखाओं का उल्लेख मिलता है। शाखाओं की इस कमी का मुख्य कारण अध्ययन और अध्यापन की कमी ही हो सकता है। आजकल जो ऋग्वेद-संहिता प्रचलित है, उसका सम्बन्ध 'शाकलशाखा' से है।

इस संहिता के दस भाग हैं, जिनको 'मण्डल' कहते हैं। प्रत्येक मण्डल में अनेक सूक्त होते हैं, और सूक्तों में अनेक ऋचाएँ। इनका विवरण नीचे दिया जाता है :—

मण्डल	सूक्त -संख्या	ऋक्-संख्या
प्रथम मण्डल	१९१	२००६
द्वितीय मण्डल	४३	४२९
तृतीय मण्डल	६२	६१७
चतुर्थ मण्डल	५८	५८९
पंचम मण्डल	८७	७२७
षष्ठ मण्डल	७५	७६५
सप्तम मण्डल	१०४	८४१
अष्टम मण्डल	९२	१६३६
।वम मण्डल	११४	११०८
दशम मण्डल	१९१	१७५४
	१०१७	१०४७२

ऋचाओं के ऋषि, देवता और छन्द

ऋग्वेद-संहिता की छपी पुस्तकों में, प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में, उस सूक्त के ऋषि, देवता और छन्द का निर्देश है। छन्द (गायत्री आदि) का अर्थ स्पष्ट है। प्रत्येक ऋचा का कोई-न-कोई छन्द होना ही चाहिए।

'ऋक्' शब्द का मूलार्थ है, 'जिससे स्तुति की जाय।' 'ऋच् स्तुतौ' धातु से यह बना है। इसलिए ऋचा या सूक्त में जिस विषय या पदार्थ की स्तुति, वर्णन या प्रतिपादन होता है, उसका वह 'देवता' कहलाता है। इस पारिभाषिक अर्थ के कारण देवता-रूप से प्रसिद्ध इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि के साथ-साथ सूक्तों में वर्णन किये गये ज्ञान, संज्ञान, कृषि, अक्ष आदि को भी उनका देवता कहा जाता है।

ऋचाओं या सूक्तों के ऋषि से क्या अभिप्राय है? इस विषय में अनेक मत हैं। प्राचीन ग्रन्थों में कहीं तो ऐसा उल्लेख आता है कि ऋषि उनको कहते हैं, जिन्होंने वेद-मन्त्रों का साक्षात्कार किया था। कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि मन्त्रों के बनानेवाले को ही ऋषि कहा जाता है। हमारे मत में तो दोनों बातों में कोई भेद नहीं है।

कवि की अलौकिक प्रतिभा से रची हुई कविता में कवि का अपना कितना हाथ होता है, और दैवी प्रेरणा का कितना, यह कहना कठिन है। दूसरे, 'खाना खा लीजिए' और 'भोजन पा लीजिए' में अर्थ का भेद न होने पर भी भावना का गहरा भेद है। इसी तरह 'ऋषि ने मन्त्र बनाया' या 'ऋषि पर मन्त्र प्रकट हुआ' या 'उसने मन्त्र को देखा' इनमें, वस्तुतः एक ही अर्थ होते हुए भी, केवल भावना का भेद है। इतना तो स्पष्ट है कि मन्त्रों की शाब्दिक या मौखिक या श्रुति-परम्परा से उनके ऋषियों का मौलिक सम्बन्ध अवश्य है।

काल-भेद से भाषा के मुहावरों में अन्तर पड़ जाता है। 'विद्या पढ़ी जाती है' इसी बात को वैदिक मुहावरे में कहते थे 'विद्या सुनी जाती है।' 'मन्त्रों को देखना' और 'मन्त्रों को बनाना' में ऐसा ही मुहावरे का भेद-मात्र है। वस्तुगत भेद न तो है, न हो ही सकता है।

अन्य वैदिक संहिताओं से ऋग्वेद-संहिता के क्रम में विशेष अन्तर है।

मण्डलों का ऋषियों से संबन्ध और संहिता का क्रम

इस संहिता के क्रम की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें, याज्ञिक कर्मकाण्ड के किसी क्रम को ध्यान में रखकर, केवल मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों या ऋषि-वंशों के आधार पर ही सूक्तों का संग्रह किया गया है। इसलिए इस संहिता के क्रम में जैसा ऐतिहासिक महत्त्व है, वैसा अन्य संहिताओं के क्रम में नहीं।

पहले और दसवें मण्डल में सूक्त-संख्या (१९१) तो समान है ही, उनमें परस्पर यह भी समानता है कि दोनों में भिन्न-भिन्न ऋषियों के सूक्तों के संग्रह किये गये हैं। दूसरे मण्डल से सातवें मण्डलतक प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध केवल

एकही ऋषि या उसके वंश से है। क्रम से उन ऋषियों के नाम हैं—गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वसिष्ठ। **आठवें मण्डल** का सम्बन्ध प्रधान रूप से कण्व ऋषि के वंश से है। इस मण्डल में 'प्रगाथ' नामक एक विशेष छन्द की बहुलता है। इसलिए इसके ऋषियों को 'प्रगाथ' भी कहा जाता है। **नवें मण्डल** की विशेषता यह है कि उसमें लगभग सब सूक्तों का देवता पवमान सोम है। ऋषि तो दूसरे और सातवें मण्डल के ऋषियों में से ही हैं।

ऋग्वेद-संहिता के क्रम का यह ऐतिहासिक आधार अपना विशेष महत्त्व रखता है। इससे जहाँ एक ओर संहिता के मन्त्रों और सूक्तों का घनिष्ठ सम्बन्ध विशेष ऋषियों या उनके वंशों से स्पष्ट है, वहाँ दूसरी ओर उनका याज्ञिक कर्म-काण्ड से निरपेक्ष मौलिक स्वरूप भी बहुत-कुछ मालूम हो जाता है।

ऋग्वेद-संहिता का विषय

ऋग्वेद का अर्थ है—ऋचाओं का वेद। ऋचाएँ अन्य वेदों में भी हैं। पर ऋग्वेद में केवल ऋचाओं का ही संग्रह है। ऋचा से स्तुति की जाती है। जिनकी स्तुति की जाती है उनको 'देवता' कहते हैं। अभिप्राय यह हुआ कि इस संहिता में केवल देवताओं की स्तुतियाँ हैं।

वैदिक देवता क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक से सम्बन्ध रखने के कारण तीन प्रकार के माने जाते हैं।

अग्नि, सोम, पृथिवी आदि **पृथिवी-स्थानीय** कहलाते हैं;

इन्द्र, रुद्र, वायु आदि **अन्तरिक्ष-स्थानीय;**

और वरुण, मित्र, उषस्, सूर्य आदि **द्युस्थानीय।**

ऋग्वेद में लगभग २५० सूक्तों में इन्द्र की, लगभग २०० सूक्तों में अग्नि की, और १०० से अधिक सूक्तों में सोम की स्तुति की गई है। यम, मित्र, वरुण, रुद्र, विष्णु आदि देवताओं के भी सूक्त हैं। पर उनकी संख्या इन्द्र, अग्नि और सोम के सूक्तों की संख्या के बराबर नहीं है।

एक प्रकार से अपना व्यक्तित्व रखनेवाले इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में ऐसेभी देवता हैं, जिनका वैसा व्यक्तित्व नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए मनु, श्रद्धा आदि ऐसेही देवता हैं।

इसके सिवाय, कुछ ऐसे भी सूक्त हैं, जिनमें सुन्दर गम्भीर दार्शनिक विचार प्रकट किये गये हैं।

ऋग्वेद की कई विशेपताएँ हैं। वैदिक संस्कृति के स्वरूप को समझने के लिए जितनी मौलिक और पुष्कल सामग्री ऋग्वेद में मिल सकती है, उसकी दूसरी संहिताओं की सामग्री से कोई तुलना ही नहीं की जा सकती। वास्तव में, वैदिक साहित्य का मूल ऋग्वेद ही है। सारे वैदिक कर्मकाण्ड का मुख्य आश्रय भी ऋग्वेद ही है।

यजुर्वेद-संहिता

महाभाष्यकार पतंजलि के समय में यजुर्वेद-संहिता १०१ शाखाओं में पाई जाती थी। अन्य ग्रन्थों में इन शाखाओं की संख्या, अपने-अपने समय के अनुसार, १०१ से कम या अधिक बतलाई गई है। परन्तु आजकल केवल पाँच शाखाएँ या संहिताएँ छपी हुई प्राप्त हैं।

चिरकाल से यजुर्वेद-संहिता के **शुक्ल** और **कृष्ण** नामों से दो भेद चले आ रहे हैं। ऊपर की शाखाओं का समावेश इन्हीं दो भेदों में माना जाता है। इस प्रकार कुछ शाखाओं का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से, और कुछ का कृष्ण यजुर्वेद से रहा है। छपी हुई पाँच शाखाओं में से तीन (**तैत्तिरीय, मैत्रायणी** और **कठ**) का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से, और दो (**माध्यन्दिन** और **काण्व**) का शुक्ल यजुर्वेद से है।

इन दोनों (शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद) भेदों में वास्तविक दृष्टि से परस्पर यही अन्तर है कि जहाँ शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्र-भाग का समावेश है, वहाँ कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग दोनों का समावेश मिला-जुला है।

वेदों की पद्यात्मक (=ऋचाओं के रूप में) या गद्यात्मक रचनाओं को, जिनको प्रायः याज्ञिक कर्मकाण्ड में पढ़ा जाता है, 'मन्त्र' कहते हैं। 'ब्राह्मण,' एक प्रकार से, मन्त्र आदि पर व्याख्यात्मक रचना या ग्रन्थ को कहते हैं। मन्त्र और ब्राह्मणों के स्वरूपों में मौलिक अन्तर है। ऐसा मालूम होता है कि इन्हीं मन्त्रों और ब्राह्मण के भागों के सम्मिश्रण के कारण यजुर्वेद के एक भेद को 'कृष्ण,' और जिसमें ऐसा सम्मिश्रण नहीं है उसे 'शुक्ल' कहा जाने लगा। दोनों में, कृष्ण यजुर्वेद प्राचीन और शुक्ल यजुर्वेद नवीन समझा जाता है।

एक और कारण भी हो सकता है। कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं का विस्तार प्रायः दक्षिण भारत में, और शुक्ल यजुर्वेद का उत्तर भारत (या मनु के-आर्यावर्त) में है। यह स्वाभाविक है कि कृष्ण यजुर्वेद के साहित्य पर जितना प्रभाव वैदिकेतर विचार-धारा का दीखता है, उतना शुक्ल यजुर्वेदीय साहित्य पर नहीं। ऐसा जान पड़ता है कि कृष्ण यजुर्वेद की इस प्रवृत्ति के विरोध में 'शुद्ध' वैदिक **धारा** के पक्षपात के कारण शुक्ल यजुर्वेद का प्रारम्भ हुआ होगा। बहुत-कुछ उसी तरह, जिस तरह वर्तमान काल में समन्वयात्मक पौराणिक धर्म के विरोध में आर्यसमाज का प्रारम्भ हुआ। 'शुद्ध' धारा के कारण ही कदाचित् 'शुक्ल' और 'कृष्ण' शब्दों का प्रचलन होने लगा।

शुक्ल यजुर्वेद में काण्वशाखीय संहिता की अपेक्षा माध्यन्दिन शाखा की यजुर्वेद-संहिता का कहीं अधिक प्रचार है। कहा तो यह जाता है कि माध्य-

न्दिन शाखा की यजुर्वेद-संहिता का जितना प्रचार और विस्तार भारत में है, उतना किसीभी अन्य शाखा का नहीं है।

माध्यन्दिन शाखावाली शुक्ल यजुर्वेद-संहिता में ४० अध्याय और १९७५ कण्डिकाएँ (या मन्त्र) हैं। मन्त्रों की संख्या के बारे में मतभेद भी है। इस संहिता में गद्यात्मक मन्त्रों (यजुस्) के साथ-साथ ऋचाएँ भी मिलती हैं। संहिता का लगभग आधा भाग ऋचाओं का ही होगा। उन ऋचाओं में से ७०० से अधिक ऋग्वेद में भी पाई जाती हैं।

यजुर्वेद-संहिता का क्रम और विषय

यजुर्वेद-संहिता का क्रम, विशेष याज्ञिक कर्मकाण्ड का क्रम लक्ष्य में रखकर, निर्धारित किया गया है। जैसे प्रथम अध्याय से द्वितीय अध्याय के २८ वें मन्त्र-तक 'दर्श पूर्णमास' नामक यज्ञ का प्रसंग आया है। इसी प्रकार अगले भागों में पिण्डपितृयज्ञ, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य आदि वैदिक यज्ञों से संबंध रखनेवाले मन्त्रों का संग्रह है। केवल अन्त में, ४० वें अध्याय का सम्बन्ध कर्मकांड से न होकर ज्ञानकाण्ड (उपनिषद्) से है।

यजुर्वेद का घनिष्ठ सम्बन्ध याज्ञिक प्रक्रिया से है। यह तो उसके नाम से ही स्पष्ट है। 'यजुस्' और 'यज्ञ' दोनों शब्द 'यज्' धातु से निकले हैं। निरुक्तकार यास्क ने भी कहा है—**"यजुर्भिर्यजन्ति"** (१३।७) तथा **"यजुर्यजतेः"** (७।१२)

यही सिद्धान्त यजुर्वेद के **शतपथ** आदि ब्राह्मण ग्रन्थों का तथा प्राचीन भाष्यकारों का है। आचार्य स्वामी दयानन्द ने, याज्ञिक दृष्टि के बिना, स्वतन्त्र सामान्य दृष्टि से भी यजुर्वेद की व्याख्या करने का यत्न किया है।

सामवेद-संहिता

महाभाष्य में सामवेद की एक सहस्र शाखाओं का उल्लेख है। परन्तु आजकल **कौथुम**, **राणायनीय** और **जैमिनीय** केवल ये तीन शाखाएँ मिलती हैं।

सामवेद की राणायनीय संहिता में, जो सबसे अधिक प्रसिद्ध है, १५४९ ऋचाएं हैं। इनमें से ७५ को छोड़कर शेष ऋग्वेद से ली गई हैं।

सामवेद में दो भाग हैं, **पूर्वार्चिक** और **उत्तरार्चिक**। पूर्वार्चिक के छह भाग हैं। इनको प्रपाठक कहते हैं। उत्तरार्चिक में नौ प्रपाठक हैं।

यजुर्वेद-संहिता के समान सामवेद-संहिता का भी संग्रह याज्ञिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से ही किया गया है। सामवेद में संग्रह की गई ऋचाएँ विशेष करके सोम-याग में गाई जाती थीं। साम-गान की पुस्तकों में ये ही ऋचाएँ गान की दृष्टि से सजाई हुई रहती हैं। संहिता में तो वे ऋग्वेद के समान ही दी हुई हैं; केवल स्वर लिखने का प्रकार सामवेद का अपना है।

यों सामवेद का विशेषरूप से अपना प्रतिपाद्य विषय कुछ नहीं है। ऋचाओं के द्वारा जो विभिन्न देवताओं की स्तुति होती है, वही उनका प्रतिपाद्य विषय कहा जा सकता है। पर ध्येय उनका साम-गान ही है। साम-गान की दृष्टि से एक विशेष वेद की कल्पना में हमारे पूर्वजों की उदात्त मनोवृत्ति प्रकट होती है। इसी वेद के लिए भगवान् कृष्ण ने कहा है—

"वेदानां सामवेदोऽस्मि" (गीता–१०।२२)।

अथर्ववेद-संहिता

महाभाष्यकार के समय में अथर्ववेद की नौ शाखाएँ पाई जाती थीं। पर आज दो ही शाखाएँ मिलती हैं **शौनक** और **पैप्पलाद**। दोनों में से शौनक शाखा की संहिता अधिक प्रसिद्ध है।

अथर्ववेद की (शौनक-शाखीय) संहिता में २० काण्ड (भाग), ७३० सूक्त और लगभग ६००० मन्त्र हैं। इन मन्त्रों में से कोई १२०० मन्त्र स्पष्ट ही ऋग्वेद-संहिता से लिये हुए मालूम होते हैं। उनमें कुछ पाठान्तर अवश्य है। अथर्ववेद का २० वाँ काण्ड तो, कुछ ही अंश को छोड़कर, पूरा-का-पूरा ऋग्वेद से लिया गया है। १५ वाँ और १६ वाँ काण्ड ब्राह्मणों के जैसे गद्य में है।

कई दृष्टियों से अथर्ववेद-संहिता की अपनी विशेषता है। मुख्य विशेपता यह है कि जहाँ ऊपर की तीनों संहिताओं का सम्बन्ध श्रौत (=वैदिक) यज्ञों से है, वहाँ अथर्ववेद का (बीसवें काण्ड को छोड़कर) सम्बन्ध प्रायः गृह्य कर्मकाण्ड (जन्म, विवाह या मृत्युसंबंधी संस्कार आदि) या राजाओं के मूर्धाभिपेक-सम्बन्धी कर्मकाण्ड से है। बीसवें काण्ड में अधिकतर इन्द्र देवता की स्तुति के सोमयाग-उपयोगी सूक्तों का ही संग्रह है।

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, सांमनस्य, राजविद्या, अध्यात्मविद्या आदि महत्त्वपूर्ण विषयों के अनेक सूक्त भी अथर्ववेद में पाये जाते हैं। अथर्ववेद का **पृथिवीसूक्त** (१२।१) अपने विषय की अद्वितीय रचना है।

यह कहा जा सकता है कि अन्य संहिताओं की परंपरा में मन्त्रों को, प्रधानरूप से वैदिक (या श्रोत) यज्ञों का अंग मानकर ही, उनकी उपयोगिता समझी जाती है। अथर्ववेद में यह बात नहीं है। यहाँ मन्त्र को बहुत ऊँचे स्तर पर रखा गया है। मंत्र में स्वयं शक्ति है, दूसरे शब्दों में कहा जाय तो मंत्र आत्मा में निहित शक्ति को खोलने की प्रधान कुंजी है, इसीलिए उसका प्रयोग और उपयोग, किसी वैदिक यज्ञ के आश्रय के बिना, स्वतंत्र रूप से भी किया जा सकता है। यह मौलिक सिद्धान्त ही अथर्ववेद की प्रमुख विशेपता है। एक प्रकार से यदि बहुद्रव्य-साध्य यज्ञों (गीता के शब्दों में 'द्रव्य-यज्ञ') से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य वेदों को केवल **संपन्न-वर्ग** का वेद कहा जाये, तो अथर्ववेद को **जनता का** वेद कहा जा सकता है।

: २ :

ब्राह्मणग्रन्थ

वेदों के बाद वैदिक साहित्य में ब्राह्मण-ग्रन्थों का स्थान है ।

प्रत्येक वैदिक संहिता के साथ एक या अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थों का का घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है । ऋग्वेद के **ऐतरेय ब्राह्मण** आदि, यजुर्वेद के **शतपथ-ब्राह्मण** आदि, सामवेद के **ताण्ड्य महाब्राह्मण** आदि अनेक ब्राह्मण माने जाते हैं । अथर्ववेद का केवल एक ब्राह्मण **गोपथ** है ।

ये सब ब्राह्मण बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं । शतपथ तो बहुत बड़ा है । इसमें १०० अध्याय और १४ काण्ड हैं । दूसरे ब्राह्मण छोटे-छोटे हैं ।

ब्राह्मण-ग्रन्थों की एक विशेषता यह है कि वे गद्यात्मक हैं । इसलिए संस्कृत भाषा की गद्य-शैली के विकास का अध्ययन करने की दृष्टि से उनका अत्यन्त महत्त्व है ।

ब्राह्मण-ग्रन्थों का और भी कई दृष्टियों से महत्त्व है । वर्तमान दर्शन-शास्त्रों के प्रारंभ से प्राचीनतर दार्शनिक विचारधारा और ऊहापोह की शैली का उनसे पता चलता है । विभिन्न विषयों पर नपे-तुले परिमार्जित विचार उनसे जाने जा सकते हैं । शब्दों का निर्वचन उनमें देखा जा सकता है । इसी प्रकार जहाँ-तहाँ बिखरी हुई विविध ऐतिहासिक सामग्री भी उनमें मिलती है ।

वैदिक धारा के स्वरूप और प्रवाह को ठीक-ठीक समझने के लिए ब्राह्मण-साहित्य का अध्ययन आवश्यक है ।

: ३ :

वेदाङ्ग

शिक्षा, छन्दः, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प, ये छह वेदांग कहलाते हैं ।

शिक्षा से अभिप्राय 'अ' 'क' आदि वर्णों के ठीक-ठीक उच्चारण की विद्या से है ।

छन्दः का विषय गायत्री आदि छन्दों की व्याख्या है ।

व्याकरण प्रसिद्ध ही है ।

निरुक्त को **निर्वचनशास्त्र** या लगभग **भाषा-विज्ञान** कह सकते हैं ।

ज्योतिष से यहाँ अभिप्राय खगोल-विद्या से है ।

कल्प के श्रौतकर्मकाण्ड, गृह्यकर्मकाण्ड तथा धर्मसूत्रों का विषय, ये तीन भेद है ।

कालान्तर में भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और विचारों के सम्पर्क और संघर्ष

के कारण वेदों की अध्ययन और अध्यापन की परम्परा में कुछ-न-कुछ शिथिलता का आना स्वाभाविक था। इसलिए भारत के बदले हुए वातावरण में, वेदों के उच्चारण की रक्षा, वेदों के अध्ययन की सुविधा और वैदिक आचार-विचार तथा कर्म-काण्ड की परम्परा की सुरक्षा की दृष्टि से ही, इन छह वेदांगों (=वेद की सहायक विद्याओं) का प्रारम्भ और अद्वितीय विकास प्राचीन काल में ही हो गया था।

ऊपर के छहों नाम वास्तव में विद्या-(अथवा, विषय)-परक हैं, ग्रन्थ-परक नहीं। तो भी, आजकल प्रत्येक वेदांग से कुछ निश्चित ग्रंथ ही समझे जाते हैं, जैसे, शिक्षा से **पाणिनिमुनि की शिक्षा** (यद्यपि वह पाणिनि की बनाई हुई नहीं है);

छन्द से **पिंगलकृत छन्दःसूत्र** (इसमें वैदिक और लौकिक संस्कृत के भी छन्दों की व्याख्या है);

व्याकरण से **पाणिनि मुनि-कृत अष्टाध्यायी** (इसमें भी लौकिक संस्कृत तथा वैदिक भाषा, दोनों का व्याकरण दिया है);

निरुक्त से **यास्क मुनि-कृत निरुक्त;**

ज्योतिष से **लगध आचार्य** का **वेदांग-ज्योतिष;**

कल्प से विभिन्न वेदों और वैदिक शाखाओं से सम्बद्ध (१) गृह्यसूत्र (२) श्रौत-सूत्र और (३) धर्म-सूत्र।

वेदों की परम्परा में धीरे-धीरे छन्दः, व्याकरण, ज्योतिप और कल्पसूत्र के अन्तर्गत धर्म-सूत्रों के विषय ने सामान्य विद्याओं का रूप धारण कर लिया और इस रूप में ये बराबर उन्नति करते रहे। इसी प्रकार अन्य अनेक भारतीय विद्याओं के विकास में वैदिक परम्परा का प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में हाथ रहा है।

वेदांगों के नाम से प्रसिद्ध ग्रंथों में प्रायः सबके निर्माण का समय ईसवी सन् से कुछ शताब्दियों पहले का है। हमारे लिए यह साधारण गर्व की बात नहीं है। व्याकरण के विषय में तो भारत उन्नति की उस सीमा तक पहुँचा था, जहाँतक संसार अभीतक नहीं पहुँच सका है।

: ४ :

वैदिक परिशिष्ट

वेदांगों के अतिरिक्त वेदों के पाठ, तथा उनके ऋषि, छन्दः, देवता आदि की अनुक्रमणियों के सम्बन्ध में लिखे गये सैकड़ों फुटकल छोटे-बड़े ग्रंथों की गणना वैदिक परिशिष्टों में की जाती है।

वेदों की भिन्न-भिन्न शाखावालों ने अपनी-अपनी संहिता को सुरक्षित रखने के विचार से अनेक उपायों का सहारा लिया था। संहिताओं में पदों की सन्धि को तोड़कर उनके पद-पाठ आदि अनेक प्रकार के पाठ तैयार किये गये। संहिताओं की अनेक प्रकार की सूचियाँ या अनुक्रमणियाँ बनाई गई। उनके पदों तक की संख्या

की गई। स् और श् या ष् के भेद पर तथा व् और ब् के भेद पर, और इसी प्रकार की अन्य छोटी-से-छोटी बातों को लेकर पुस्तकें लिखी गईं। अभिप्राय था अपनी-अपनी संहिता की रक्षा।

ऐसे ग्रंथों में ऋग्वेद से सम्बन्ध रखनेवाली शौनक आचार्य की **बृहद्देवता** (लगभग ई० पू० ५०० की) तथा कात्यायन की **ऋक्सर्वानुक्रमणी** (ई० पू० ४५० के लगभग) अति प्रसिद्ध हैं।

सैकड़ों की संख्या में प्राप्त इन परिशिष्टात्मक ग्रन्थों से भारतीय साहित्य की परम्परा में वेदों का अद्वितीय महत्त्व प्रकट होता है।

वैदिक देवतावाद

वैदिक देवताओं के विषय में सबसे पहली बात यही है कि उनमें बहुतों का प्राकृतिक आधार प्रायः स्पष्ट है। अग्नि, वायु, आपः (जल), आदित्य, उषस् आदि देवताओं के वर्णनों से (तथा नामों से भी) स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ भौतिक अग्नि आदि को ही ऊपर उठाकर देवतात्व के आसन पर बिठाया गया है। परन्तु अश्विन् (या अश्विनौ), वरुण आदि कुछ वैदिक देवताओं के वर्णन में यह दृष्टि स्पष्ट नहीं है, इसलिए उनके भौतिक या प्राकृतिक आधार के बारे में संदेह रह जाता है। पर अधिकतर वैदिक देवताओं के स्वरूप को देखते हुए इसमें सन्देह नहीं रहता कि मूल में इनका भी कोई निश्चित भौतिक आधार अवश्य रहा होगा।

इस प्रकार मूल में प्राकृतिक आधार रखनेवाले प्रधान वैदिक देवताओं की न केवल संख्या का ही उल्लेख मिलता है, उनका **कर्म-भेद** तथा **स्थान-भेद** से वर्गीकरण भी निरुक्त-जैसे प्रामाणिक ग्रंथों में किया गया है।

वैदिक देवता परस्पर में केवल अविरोध भाव से ही नहीं, वरन् उन्नायक-भाव से भी चराचर जगत् के नैतिक (या आंतरिक) तथा भौतिक (या बाह्य) शाश्वत नियमों के अनुसार 'सत्य' और 'ऋत' का पालन करते हुए ही अपना-अपना कार्य करते हैं। **'देवा भागं यथापूर्वं संजानाना उपासते'** (ऋक्०, १०।१९१।२), अर्थात्, दैवी शक्तियाँ आपस में सामंजस्य के भाव से ही अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करती हैं) **'सत्यमेव देवाः'**, **'ऋतज्ञः'** इत्यादि वैदिक वचनों का यही अभिप्राय है।

वैदिक देवताओं की इस **मौलिक आध्यात्मिक** एकता का वर्णन स्वयं वेदों में किया गया है :

> **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।**
> **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥**
> (ऋक्० १।१६४।४६)

> **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद् चन्द्रमाः।**
> **तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥** (यजु० ३२।१)

अर्थात्, तत्त्वदर्शी लोगों की दृष्टि में इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, आदित्य आदि नाम एकही मूल सत्ता या अध्यात्म-तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं।

तोभी यह मानना पड़ेगा कि वैदिक मन्त्रों में सामान्य रूप से दृष्टि जितनी उन-उन देवताओं के अपने व्यक्तित्व पर है, उतनी उनकी मौलिक एकता पर नहीं है।

इसीलिए अत्यधिक याज्ञिक कर्मकाण्ड की दृष्टि के समय वह एकता लगभग ओझल हो जाती है, और अन्त में प्रायः बिलकुल नहीं रहती। इसी अवस्था की प्रतिक्रिया के रूप में पीछे से अद्वैत का प्रतिपादन करनेवाली उपनिषदों का उदय वेदांत (=वेद+अन्त) के रूप में हुआ था।

उपर्युक्त कारण से ही वेदों में किसी ऐसे शब्द का मिलना कठिन है, जो आजकल के 'ईश्वर' या 'परमेश्वर' शब्द की तरह, एक ही देवाधिदेव का असंदिग्ध रूप में प्रतिपादन करता हो। 'ब्रह्म' या 'विराट् पुरुष' इन शब्दों का सम्बन्ध, मौलिक तत्त्व के अर्थ में, तत्त्ववेत्ताओं की दार्शनिक दृष्टि से है, सर्वसाधारण के देवतावाद से नहीं।

इस सम्बन्ध में एक और बात की ओर भी संकेत करना आवश्यक है। आजकल वेद-व्याख्याता अग्नि, इन्द्र आदि वैदिक देवताओं के स्वरूप की व्याख्या 'प्रकाशमान ईश्वर', 'ऐश्वर्यशाली परमेश्वर', इत्यादि प्रकार से कर देना पर्याप्त समझते हैं। पर क्या इनका प्रयोग वेद में सर्वत्र विशेषणरूप से ही हुआ है ? ऐसा तो नहीं मालूम होता। उस-उस देवता के लिए निश्चितरूप से विभिन्न स्थिर नाम देने का अभिप्राय उनके निश्चित स्वरूप से अवश्य होना चाहिए।

वैदिक देवता परस्पर पूरे सामंजस्य से काम करते हैं। पर सारे चराचर जगत् की न केवल प्राकृतिक व्यवस्था (ऋत), बल्कि नैतिक व्यवस्था (सत्य) के भी वे पोषक और संरक्षक हैं। उनके नियम अटल हैं। उनकी सारी प्रवृत्ति जगत् के कल्याण के लिए है, वे प्रकाशरूप हैं। अज्ञान और अन्धकार से वे परे हैं। वे सतत-कर्मशील हैं। इसीलिए मनुष्य का सच्चा कल्याण देवताओं के साथ सर्वथा सायुज्य में ही है।

प्राकृतिक शक्तियों का, वैदिक देवताओं के रूप में, यह वर्णन कितना सुंदर और ऊँचा है ! वैदिक देवतावाद प्राकृतिक शक्तियों के साथ मनुष्य-जीवन की समीपता की ही नहीं, एकरूपता की भी आवश्यकता को बताता है।

वैदिक स्तोता का स्वरूप

उपर्युक्त स्वभाववाले देवताओं में आस्था रखनेवाले वैदिक स्तोता का स्वभाव और चरित्र भी उन देवताओं के अनुरूप ही होना चाहिए।

'सत्यमेव देवाः, अनृतं मनुष्याः' (शतपथ ब्रा० १।१।१।४ (अर्थात्, स्वभाव से ही देवता सत्याचरण वाले और मनुष्य अनृत का आचरण करने-

वाले होते हैं) इस वैदिक उक्ति के अनुसार वह अपनी मानव-स्वभाव-सुलभ त्रुटियों और दुर्वलताओं को अच्छी तरह समझता है। तोभी उसको दैवी ऊँचे आदर्शों में विश्वास और आस्था है। इसीलिए वह उन आदर्शों के मूर्त्तरूप देवताओं के अनुरूप ही अपनेको बनाना चाहता है। पहला व्रत वह यही ग्रहण करता है:—

'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम्····
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ।।' (यजु० १।५)

अर्थात्, हे व्रतों के पति अग्नि देवता! मैं अनृत को छोड़कर सत्य को प्राप्त करना चाहता हूँ। तुम्हारे अनुग्रह से मैं इसको पूरा कर सकूँ, यही मेरा व्रत है।

वह आशामयी उदात्त मंगल भावनाओं का केन्द्र है। वह अपने चारों ओर, न केवल अपने देश या जाति में, न केवल इस पृथिवी पर, बल्कि सारे विश्व में सुख, शांति, सौमनस्य, सौहार्द और प्रकाश का साम्राज्य देखना चाहता है। उसकी दृष्टि अत्यन्त विशाल है।

वह अन्धकार [=अज्ञान] से प्रकाश [=ज्ञान] की ओर जाने के लिए उत्सुक है।

वह जीवन की सही-सही परिस्थिति को खूब समझता है। पर उससे घबराता नहीं है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि वह उसका वीरतापूर्वक सामना करे। वह संसार में परिस्थितियों का स्वामी, न कि दास, होकर जीना चाहता है।

इन कारणों से जीवन उसके लिए भार या दुःखमय न होकर उत्तरोत्तर उन्नति करने के लिए एक महान् साधन है।

वह जीवन में ही स्वयं एक अनोखा उल्लास और उत्साह अनुभव करता है। ऐसा केवल निर्दोष वाल-सुलभ हृदय ही कर सकता है।

इन भावनाओं से ही प्रेरित होकर वह अपने देवताओं की स्तुति और प्रार्थना करता है। उसकी स्तुति में दास्य-भाव नहीं होता। वास्तव में, दास्य-भाव से वह परिचित ही नहीं है। **'न त्वेवार्यस्य दासभावः'** (अर्थात्, आर्यत्व और दास्य, दोनों एकसाथ नहीं रह सकते), यह एक प्राचीन उक्ति है। उसका अपने उपास्य देवताओं के साथ सख्य-भाव या प्रेम-मूलक भाव होता है।

दार्शनिक दृष्टि से वैदिक जीवन की दृष्टि और चरमलक्ष्य को जैसा हम समझ सके हैं, वह जीवन और उसके लक्ष्य के संबंध में हमारी सहस्रों वर्षों की परम्परा से मिली दृष्टि से मूलतः भिन्न है।

यह मानी हुई बात है कि हमारे दर्शनों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही है कि मनुष्य को सांसारिक जीवन के दुःखों से छुटकारा दिलाने का सच्चा मार्ग दिखाया जाये। इसके लिए वे भी अपनी-अपनी दृष्टि से सांसारिक जीवन को दुःखमय, और इसीलिए 'वन्ध' कहते हैं। उससे छूटने को 'मुक्ति', 'मोक्ष', 'अपवर्ग',

या 'निर्वाण'—जैसे शब्दों से व्यक्त करते हैं। प्रायः सभी, किसी-न-किसी रूप में, इन चार वस्तुओं का मुख्यरूप से प्रतिपादन करते हैं—हेय (=त्यागने के योग्य, अर्थात् दुःख), हेयहेतु (=अविद्या आदि कारण, जिनसे दुःख उत्पन्न होता है), हान (=दुःख का मुक्ति के रूप में नाश) और हानोपाय (=दुःख से मुक्ति पाने के तत्त्वज्ञान आदि उपाय)।

बौद्ध-दर्शन में भी 'सर्वं दुःखम्' (=संसार में सब-कुछ दुःखमय है) ऐसी भावना पर बड़ा बल दिया गया है। जीवन के चरमलक्ष्य मोक्ष के लिए उनका पारिभाषिक शब्द 'निर्वाण' (दीपक की लौ की तरह बुझ जाना) है। इसमें स्पष्ट ही अभावात्मक अर्थ की प्रधानता है।

इसी प्रकार वेदान्त-दर्शन, जैन-दर्शन आदि में भी बन्ध, दुःख और मोक्ष का सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप में माना गया है।

इसीलिए यह संसार, चाहे प्रकृति ने इसे कितना ही सुन्दर क्यों न बनाया हो, हमारे लिए केवल दुःखमय है। यह स्वाभाविक है कि कोई भी क़ैदी जेल के अन्दर की शोभा और सौंदर्य में कोई रुचि नहीं रख सकता। उसका मन तो सदा अपनी मुक्ति की प्रतीक्षा में ही व्याकुल रहता है। तब हमारा पहला कर्त्तव्य यह हो जाता है कि किसी-न-किसी तरह इस दुःखमय संसार के बन्धन से मुक्ति को प्राप्त किया जाये।

किन्तु वैदिक विचार-धारा के अनुसार हमारा जीवन एक क़ैदी का-सा दुःखमय, निराशामय जीवन नहीं है; वह तो उत्तरोत्तर विकास की एक आशामय विशेष अवस्था है।

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। (यजु० २०।२१)

अर्थात्, 'अज्ञान से प्रकाश की ओर बढ़ते हुए हम अपने को उत्तरोत्तर समुन्नत करें,' आदि वैदिक वचनों में ऐसे ही विकास की ओर संकेत है।

सृष्टि के मूल में जो भी सर्जन करनेवाली शक्ति है, वह निश्चय ही चेतनायुक्त होने के साथ-साथ करुणामय भी है। उससे उत्पन्न इस सृष्टि का सारा प्रयोजन केवल हमारे विकास में सहायता देने का ही है; ठीक उसी तरह जैसे एक सुंदर, सुरम्य विद्यालय का निर्माण बच्चों के संपूर्ण विकास के लिए होता है। ऐसे विद्यालय के छात्रों और जेल के क़ैदियों की मनोवृत्तियों में कितना मौलिक अन्तर है! क़ैदी के निराशामय दुःखमय जीवन की तुलना में छात्र का जीवन आशा, उल्लास और उत्साह से भरा रहता है।

इसलिए स्पष्ट है कि वैदिक विचार-धारा के अनुसार जीवन का चरमलक्ष्य निश्चित रूप से भावात्मक ही है। वह केवल अमृतत्व या निःश्रेयस् ही कहा जा सकता है।

जीवन के इसी लक्ष्य को वैदिक परिभाषा में 'अन्धकार से प्रकाश की ओर

जाना' ('तमसो मा ज्योतिर्गमय') या 'आनन्दमय ज्योतिर्मय अमृतलोक की प्राप्ति' ('यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् । तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते'। ऋक्० ९।११३।७) जैसे भावात्मक आदर्शों के रूप में भी प्रायः वर्णन किया गया है। इन सबका अभिप्राय वास्तव में एक ही है।

यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक संहिताओं में 'मुक्ति' या 'मोक्ष' इन शब्दों के साथ-साथ 'दुःख' शब्द का प्रयोग एक बार भी हमें नहीं मिला। उपर्युक्त वैदिक दार्शनिक दृष्टि के पक्ष में यह एक अद्वितीय प्रमाण है। इसमें संदेह नहीं कि इस दार्शनिक भूमिका के आधार पर ही हम अधिकतर वैदिक मन्त्रों के स्वरूप को समझ सकते हैं और वैदिककालीन आर्यों के जीवन को उल्लासमय जीवन कह सकते हैं। ऐसा जीवन प्रकृति के प्रत्येक रूप में—उषा में, रात्रि में, अरण्यानी में, सूर्य और चन्द्र में, वायु में, सर्वत्र ही अकृत्रिम सौन्दर्य, माधुर्य और निर्दोष आनन्द की अबाध धारा का अनुभव कर सकता है।

और, तभी वेद के अनेक जीवन-संगीतों का मर्म समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए ऐसाही एक जीवन-संगीत है :

पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् ।
बुध्येम शरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम् ॥
पूषेम शरदः शतम् । भवेम शरदः शतम् ।
भूषेम शरदः शतम् । भूयसीः शरदः शतात् ॥

(अथर्व० १९।६७।१-८)

सौ और सौ से भी अधिक वर्षोंतक हम जीवित रहें;
देखने-सुनने आदि में सशक्त रहें;
ज्ञान का उपार्जन करें;
बराबर उन्नति करते रहें;
पुष्ट रहें, आनन्दमय स्वस्थ जीवन व्यतीत करते रहें;
और अपने को भूषित करते रहें।

जीवन की यह भावना कितनी सुखद, स्वस्थ और भव्य है ! भारतीय संस्कृति की लम्बी परम्परा में यह निःसन्देह अद्वितीय है, और गंगा की लम्बी धारा की परम्परा में गंगोत्तरी के जल के समान दिव्य और पवित्र है।

मानव-जीवन के कर्त्तव्यों के बारे में वैदिक संस्कृति की दृष्टि, एकांगी न होकर, सदा से व्यापक रही है। इसीलिए विभिन्न प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वह, लुप्त या नष्ट न होकर, अपनेको अबतक जीवित रख सकी है।

धार्मिक चिन्तन

वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का सबसे उत्कृष्ट और आश्चर्यकारक

उदाहरण उसके धार्मिक चिन्तन का विश्वव्यापी आधार है।

द्यु लोक को पिता, और पृथिवी को माता समझनेवाला वैदिक स्तोता अपने को मानो इस विशाल विश्व का ही वासी समझता है। इसीलिए उसकी स्तुतियों और प्रार्थनाओं में बार-बार न केवल द्यावा, पृथिवी और अन्तरिक्ष इन तीन लोकों का ही, वल्कि इनसे भी परे 'स्वः' और 'नाक' जैसे लोकों का भी उल्लेख पाया जाता है।

उदाहरण के लिए :

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा
येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥(ऋक्० १०।१२१।५)

जिस दैवी शक्ति ने इस विशाल द्यु लोक को, इस पृथिवी को, स्वर्लोक और नाक लोक को अपने-अपने स्वरूप में स्थिर कर रखा है, और जो अन्तरिक्ष-लोक में भी व्याप्त हो रही है, उसको छोड़कर हम किस देव की पूजा करें ? अर्थात् हमको उसी महाशक्तिरूपी देवता की पूजा करनी चाहिए।

वैदिक प्रार्थनाओं का क्षेत्र कितना विशाल है, इसका एक दूसरा उदाहरण यह है :

द्यौःशान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्ति—
र्ब्रह्म शान्तिः सर्व ँ शान्तिः शान्ति-
रेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥ (यजु० ३६।१७)

मेरे लिए द्यु लोक, अन्तरिक्ष-लोक और पृथिवी-लोक सुख-शान्तिदायक हों;
जल, औषधियाँ और वनस्पतियाँ शान्ति देनेवाली हों;
समस्त देवता, ब्रह्मा और सब कुछ शान्तिप्रद हो;
जो शान्ति विश्व में सर्वत्र फैली हुई है, वह मुझे प्राप्त हो।
मैं बराबर शान्ति का अनुभव करूँ।

इनसे अधिक सार्वभौम और सार्वकालिक प्रार्थनाएँ और क्या हो सकती हैं ?

वेदों में मानवीय पक्ष

उदाहरणार्थ,

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ (यजु० ३६।१८)

मैं, मनुष्य क्या, सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।

पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः। (ऋक्० ६।७५।१४)

एक दूसरे की सर्वथा रक्षा और सहायता करना मनुष्यों का मुख्य कर्तव्य है।

यांँश्च पश्यामि यांँश्च न

तेषु मा सुमतिं कृधि। (अथर्व० १७।१।७)

भगवन् ! ऐसी कृपा कीजिए जिससे मैं मनुष्यमात्र के प्रति, चाहे मैं उनको जानता हूँ अथवा नहीं, सद्भावना रख सकूँ !

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः (अथर्व ३।३०।४)

आओ, हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना बढ़े।

इस प्रकार मनुष्यमात्र के प्रति कल्याण-कामना, सद्भावना और सौहार्द बढ़ानेवाले सैकड़ों ही मंत्र वेदों में पाये जाते हैं।

मनुष्यमात्र में सद्भावना और सौहार्द का उपदेश देनेवाले अथर्ववेद तथा ऋग्वेद के सांमनस्य सूक्त कदाचित् संसार के सारे साहित्य में अपनी उपमा नहीं रखते।

आदर्श-रक्षा तथा आत्म-रक्षा

'सत्यं वै देवाः अनृतं मनुष्याः' (देवता वास्तविकता के अनुगामी होते हैं, पर मनुष्य स्वभाव से ही इससे उलटे होते हैं), इस वैदिक उक्ति के अनुसार मनुष्य का व्यवहार आदर्शवाद से प्रायः दूर रहता है। ऐसी परिस्थिति में, विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व के मार्ग पर चलनेवाले को भी, अपने ऊँचे आदर्शों की रक्षा के लिए या आत्म-रक्षा के ही लिए, बहुधा संघर्ष का, अपने शत्रुओं और विरोधियों के दमन का, यहाँतक कि युद्ध के मार्ग का भी आश्रय लेना पड़ता है।

इस अपूर्ण जगत् का यह अप्रिय तथ्य वैदिक संस्कृति से छिपा हुआ नहीं है। इसीलिए मन्त्रों में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—

मा त्वा परिपन्थिनो विदन् (यजु० ४।३४)

इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हारी वास्तविक उन्नति के बाधक शत्रु तुमपर विजय प्राप्त न कर सकें।

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं

वो जम्भे दध्मः। (अथर्व० ३।२७।१-६)

जो विनाही कारण हमसे द्वेष करता है, और इसी कारण जिसे हम अपना द्वेष्य या शत्रु समझते हैं, उसे हम सदा विश्व का कल्याण करनेवाली दैवी शक्तियों को सौंपते हैं, जिससे वे उसे नष्ट करदें।

इसी प्रकार आत्म रक्षा और आदर्श-रक्षा की भावना से भरपूर सहस्रों मन्त्र वेदों में पाये जाते हैं जैसे—

इन्द्रेण मन्युना वयमभिष्याम पृतन्यतः ।
घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ।। (अथर्व० ७।९३।१)

सत्कार्यों में बाधक जो शत्रु हम पर आघात करें, हमको चाहिए कि वीरोचित क्रोध और पराक्रम से उनका दमन करें और उनको नष्ट कर दें ।

अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षतः ।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः ।। (ऋक्० १०।१६६।२)

मैं शत्रुओं पर विजय पानेवाला हूँ । मैं इन्द्र के समान पराक्रमी हूँ । मुझे कोई हानि या आघात नहीं पहुँचा सकता । मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे सारे शत्रु मेरे पैरों तले पड़े हुए हैं ।

मन्त्रों में शत्रुओं के लिए प्रायः 'अव्रत' (=असंयत जीवन व्यतीत करनेवाले) अथवा 'वृत्र' (=सत्कार्यों में बाधा डालनेवाले) जैसे शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रों में आदर्श-रक्षा की भावना भी शत्रुओं का संहार करने की प्रेरक थी ।

मम पुत्राः शत्रुहणः (ऋक्० १०।१५९।३)

अर्थात्, मेरे पुत्र शत्रु का हनन करनेवाले हों !

सुवीरासो वयं ... जयेम (ऋक्० ९।६१।२३)

अर्थात्, हमारे पुत्र अच्छे वीर हों, और उनके साथ हम शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें ।

ऐसी प्रार्थनाएँ और अनेक ऐसे सूक्त न केवल अर्थ की दृष्टि से ही, किन्तु सुनने में भी, युद्ध-गीत और युद्ध-क्षेत्र में वीरों के आह्वान-जैसे प्रतीत होते हैं । वैदिक संस्कृति की वीरोचित भावना के वे सुन्दर हृदयस्पर्शी नमूने हैं ।

उनसे यह भी स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि स्वभाव से ही विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुता को चाहनेवाली वैदिक संस्कृति की दृष्टि एकांगी न होकर व्यापक ही है । वह कोरे आदर्शों की प्रतिपादक नहीं है, किन्तु मनुष्य-जीवन की पूरी परिस्थिति को समझकर चलती है ।

वैदिक प्रार्थनाओं की सबसे पहली विशेषता उनकी समष्टि-भावना में है । इसीलिए वे प्रायः बहुवचनों में ही होती हैं । उदाहरणार्थ,

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रं तन्न आ सुव ।। (यजु० ३०।३)

हे देव सवितः ! हमारे लिए जो सच्चा कल्याण है, वह हम सबको प्राप्त कराइए ।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।। (यजु० ३।३५)

हम सब सवितृ देव के उस प्रसिद्ध वरणीय तेजोमय स्वरूप का ध्यान करते हैं, जो हम सबकी बुद्धियों को प्रेरणा दे।

वैदिक संस्कृति की व्यापक दृष्टि का स्पष्ट ही यह एक सुन्दर निदर्शन है।

वेदों के **सांमनस्य सूक्तों** में भी इस ऊँची सामाजिक भावना (=समष्टि-भावना) का सुन्दर उपदेश मिलता है। जैसे—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते॥ (ऋक्० १०।१९१।२)

अर्थात्, हे मनुष्यो ! जैसे सनातन से विद्यमान, दिव्य शक्तियों से संपन्न सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भाव से अपने-अपने कार्य को करते हैं, ऐसेही तुमभी समष्टि-भावना से एकसाथ कार्यों में लग जाओ, एकमत होकर रहो और आपस में सद्भाव से बरतो।

यही नहीं, वेदमन्त्रों में तो समष्टि-भावना के व्यावहारिक रूप सहभोज और सहपानतक का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जैसे—

सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे (यजु० १८।९)

अर्थात्, अपने साथियों के साथ में सह-पान और सह-भोज मुझे प्राप्त हों।

वेदों के अनेक मन्त्रों में ब्रह्मचारी और गृहस्थ का बड़ा हृदयस्पर्शी वर्णन मिलता है। अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त (११।५) में ब्रह्मचर्य की महिमा का ही वर्णन है। जैसे—

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्त्ति
तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः (अथर्व० ११।५।२४)
ब्रह्मचारी····श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति। (अथर्व० ११।५।४)
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥ (अथर्व० ११।५।१७)

अर्थात्, ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करनेवाला ही प्रकाशमान ज्ञान-विज्ञान को धारण करता है। उसमें मानो सारे देवता वास करते हैं।

ब्रह्मचारी श्रम और तप से युक्त जीवन द्वारा सारी जनता को पोषण देता है।

ब्रह्मचर्य के ही तप से राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है।

यहाँ स्पष्ट शब्दों में राष्ट्र की चौमुखी उन्नति के लिए और मानव-जीवन के विभिन्न कर्त्तव्यों के सफलतापूर्वक निर्वाह के लिए श्रम और तप द्वारा विद्या-प्राप्ति (=ब्रह्मचर्य) की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। मंत्र में 'श्रम' और 'तपः' ये दो शब्द विशेष ध्यान देनेयोग्य हैं। तपस्या पर निर्भर ब्रह्मचर्य-आश्रम की उद्भावना वैदिक संस्कृति की व्यापक दृष्टि का निःसंदेह एक उज्ज्वल प्रमाण है।

गृहस्थ-आश्रम के सम्बन्ध में सबसे ऊँचे विचार वेदों के विवाहसंबंधी सूक्तों में तथा सांमनस्य-सूक्तों में मिलते हैं। यहाँ केवल दो-चार उद्धरण देना पर्याप्त होगा—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं
मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः (ऋक्० १०।८५।३६)
समंजन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ। (ऋक्० १०।८५।४७)
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि।
(ऋक्० १०।८५।२४)
अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि (ऋक्० १०।८५।२७)
मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती।
सुगेभिर्दुर्गमतीताम् ··· ······(ऋक् १०।८५।३२)
सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। (ऋक्० १०।८५।४६)
इहैव स्तं मा वि यौष्टं ··· ··· ···(ऋक्० १०।८५।४२)
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे (अथर्व० १४।२।२७)

अर्थात् हे वधु ! हम दोनों की सौभाग्य-समृद्धि के लिए मैं तुम्हारा पाणि-ग्रहण कर रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि मैंने तुम्हें देवताओं से प्रसादरूप में गृहस्थ-धर्म के पालन के लिए पाया है।

सारी दैवी शक्तियाँ हमारे हृदयों को परस्पर अनुकूल, कर्त्तव्यों के पालन में सावधान और जलों के समान शान्त और भेद-भाव-रहित करें।

विवाह का लक्ष्य यही है कि पति-पत्नी दोनों गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके संयम और सच्चरित्रता का पवित्र जीवन बिताते हुए अपना पूरा विकास कर सकें।

अयि वधु ! तुम पति-गृह में पहुँचकर गृहस्थ के कर्त्तव्य-पालन में सदा जाग-रूक और सावधान रहना।

वे दुर्भावनाएँ, जो प्रायः पति-पत्नी के जीवन में भेद और विराग पैदा कर देती हैं, तुम दोनों के बीच में कभी न आयें। तुम दोनों सदाचारपूर्वक इस कठिन गृहस्थ धर्म का पालन करो।

हे वधु ! तुम पतिगृह में सास-ससुर के लिए सम्राज्ञी के रूप में प्रेम और सम्मान का पात्र बनकर रहना।

तुम दोनों जीवन में एकमत होकर रहो, तुम्हारा वियोग कभी न हो।

हे वधु ! तुम्हारा गृहस्थ-जीवन सारी जनता के लिए सुख देनेवाला हो।

वैवाहिक जीवन के पवित्र और महान् लक्ष्य की ओर स्पष्ट संकेत करने-वाले इन उदात्त विचारों पर टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। भारतीय इति-हास के मध्यकाल के उन लज्जाजनक विचारों से ये कितने भिन्न हैं, जिनमें स्त्री को 'उपभोग की सामग्री', 'नरक का द्वार' (नारी नरकस्य द्वारम्), 'ताड़न की

अधिकारी' और 'आदमी की दासी' तक कहा गया है।

इसी प्रकार वेदों के सांमनस्य-सूक्तों में गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में जो सुन्दर भाव प्रकट किये गये हैं, वे भी वैदिक संस्कृति की एक महान् निधि हैं। उदाहरणार्थ,

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।

(अथर्व० ३।३०।१-३)

अर्थात्, हे गृहस्थो ! तुम्हारे पारिवारिक जीवन में परस्पर एकता, सौहार्द और सद्भावना होनी चाहिए। द्वेष की गन्ध भी न हो। तुम एक-दूसरे से उसी तरह प्रेम करो, जैसे गौ अपने तुरन्त जन्मे हुए बछड़े को प्यार करती है।

पुत्र अपने माता-पिता का आज्ञाकारी और उनके साथ एकमन होकर रहे। पत्नी अपने पति के प्रति मधुर और स्नेह-युक्त वाणी का ही व्यवहार करे !

भाई-भाई के साथ और बहिन-बहिन के साथ द्वेप न करे !

तुम्हें चाहिए कि एकमन होकर समान आदर्शों का अनुसरण करते हुए परस्पर स्नेह और प्रेम को बढ़ानेवाली वाणी का ही व्यवहार करो !

राजनीतिक आदर्श

राजनीतिक आदर्शों के विषय में वैदिक मंत्रों के अनेक ऐसे विचार हैं, जो वैदिक संस्कृति की व्यापक दृष्टि को स्पष्टरूप से प्रमाणित करते हैं।

सभ्यता के इतिहास में राज-संस्था अति प्राचीनकाल से चली आ रही है। वैदिककाल में भी इसकी स्थिति थी, ऐसा वेद-मंत्रों से स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसा होने पर भी वेद-मंत्रों में जन-तंत्र की भावना और जनता या प्रजा के पक्ष का समर्थन जहाँ-तहाँ मिलता है। जैसे,

'विशि राजा प्रतिष्ठितः' (यजु० २०।९)

राजा की स्थिति प्रजा पर ही निर्भर होती है।

'त्वां विशो वृणतां राज्याय' (अथर्व० ३।४।२)

हे राजन् ! प्रजाओं द्वारा तुम राज्य के लिए चुने जाओ।

'विशस्त्वा सर्वा वांछन्तु' (अथर्व० ४।८।४)

हे राजन् ! तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि सारी प्रजाएँ तुम को चाहती हों।

ऐतरेय-ब्राह्मण में तो यहाँतक कह दिया है कि,

'राष्ट्राणि वै विशः' (ऐत० ब्रा० ८।२६)

प्रजाएँ ही राष्ट्र को बनाती हैं।

व्यक्तिगत जीवन

ऋत और सत्य, निष्पाप भावना, श्रद्धा, आत्म-विश्वास, ब्रह्मचर्य व्रत, श्रम और तप, वीरता और शत्रु-संहार (वृत्र-हनन) आदि की महिमा से ओत-प्रोत वेद-मंत्रों से यह स्पष्ट रूप में प्रतीत होता है कि वैदिक संस्कृति की दृष्टि से व्यक्तिगत जीवन का सब तरह से विकास आवश्यक समझा जाता था। इसीलिए वेद-मंत्रों में बौद्धिक और नैतिक विकास के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य और दीर्घायु के लिए भी गंभीर प्रार्थनाएँ पद-पद पर देखने में आती हैं।

वेद की बुद्धि-विषयक प्रार्थनाएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें गायत्री मंत्र (=**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।**—यजु० ३।३५) सुप्रसिद्ध है।

शारीरिक स्वास्थ्य के लिए महत्त्वपूर्ण प्रार्थनाओं के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :

"तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।
··· यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण॥" (यजु० ३।१७)

हे अग्ने ! तुम शरीर की रक्षा करनेवाले हो, मेरे शरीर को पुष्ट करो। तुम आयु को देनेवाले हो, मुझे पूर्ण आयु दो। मेरे शारीरिक स्वास्थ्य में जोभी न्यूनता हो उसे पूरा करदो।

वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा (अथर्व० १९।६०।१-२)

मेरे सारे अंग पूरी स्वस्थता से अपना-अपना कार्य करें, यही मैं चाहता हूँ।
मेरी वाणी, प्राण, आँख और कान अपना-अपना काम कर सकें।
मेरे बाल काले रहें; दाँतों में कोई रोग न हो; बाहुओं में बहुत बल हो।
मेरी ऊरुओं में ओज, जाँघों में वेग और पैरों में दृढ़ता हो।

'अश्मा भवतु नस्तनूः' (यजु० २९।४९)

हमारी प्रार्थना है कि शरीर हमारा पत्थर के समान सुदृढ़ हो।

वैदिक संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी व्यापक दृष्टि है। जीवन की सभी परिस्थितियों में मानव सफलतापूर्वक अपना पूर्ण विकास कर सके, यही उसका प्रधान लक्ष्य है।

वैदिक धारा का ह्रास

यह आश्चर्य और खेद की बात है कि उत्कृष्ट गुणों के होते हुए भी वैदिक धारा आज एक जीवित परम्परा के रूप में हमारे देश से लुप्त-सी हो गई है।

वैदिक धारा, जिससे व्यक्त रूप में भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ होता है, आगे चलकर, ऐतिहासिक सरस्वती नदी की तरह, प्रायः लुप्त हो जाती है, और उसके स्थान में दूसरी धाराएँ बहती हुई दीखती हैं। ऐसा क्यों ?

वैदिक धारा के ह्रास और मन्दता के कारणों को हम उसीमें देखने का यत्न करें।

जातीय जीवन को सुव्यवस्थित और सुसंगठित करने की प्रवृत्ति के आधार पर याज्ञिक कर्मकाण्ड, एक विशेष कर्मकाण्ड के रूप में, प्रारम्भ हुआ था।

वैदिक धारा के उत्कर्ष के दिनों में याज्ञिक कर्मकाण्ड ही उसका महान् प्रतीक माना जाता था। उस समय उसमें स्वाभाविकता थी और सार्थकता भी। श्रद्धा, भक्ति और उल्लास की भावनाओं को साकार करना ही उसका आधार था।

उसकी सारी व्यवस्था में ब्रह्म, क्षत्र और विश् का (पीछे से ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का) पद-पद पर सहयोग स्पष्ट दिखाई देता है। यहाँ तक कि याज्ञिक मंत्रों के छन्दों का और देवताओं का भी इन तीनों वर्णों के आधार पर वर्गीकरण किया गया था। जैसे, गायत्री, त्रिष्टुभ् और जगती। इन वैदिक छन्दों का सम्बन्ध क्रम से ब्रह्म, क्षत्र और विश् से समझा जाता था। इसी तरह अग्नि, इन्द्र और मरुतों का (तथा दूसरे देवताओं का भी) सम्बन्ध उक्त तीनों वर्णों से माना जाता था।

इसका अर्थ कम-से-कम यह तो है ही कि याज्ञिक कर्मकाण्ड में सारी आर्य-जनता की ममता थी और सहयोग था। उस समय के यज्ञों को केवल ब्राह्मणों की देव-पूजा ही न समझना चाहिए। उनमें आर्य जनता के सब वर्गों के लिए आकर्षण और मनोविनोद का संभार रहता था। उदाहरण के लिए, **वाजपेय याग में** मध्याह्न में 'रथों की दौड़' (=**आजि-धावनम्**) नामक विचित्र दृश्य उपस्थित होता था, जो इस यज्ञ का प्रधान अंग माना जाता था। इसी प्रकार **अश्वमेध-यज्ञ** में **पारिप्लव** नामक उपाख्यान (कहानी) बहुत दिनों तक चलता था। उसमें सारी प्रजा, स्त्री और पुरुष, युवा और वृद्ध आकर इकट्ठे होते थे। वीणा वजाने-वालों के झुंड-के-झुंड आ जुटते थे। इस प्रकार के अनेक प्रदर्शनों के साथ उन दिनों के यज्ञ, पूजा के साथ-साथ, नाटकों आदि का भी काम करते थे।

यज्ञ में तभीतक वास्तविकता रहती है, जबतक वह विद्वान् यजमान की अनुकूलता या अधीनता में रहता है और उसी दशा में वह जनता का सच्चा हित साध सकता है।

धीरे-धीरे यज्ञों में जनता का सच्चा सहयोग और सार्थकता घटने लगी।

भावना का, जिससे कोईभी कर्म प्राणवान् बनता है, विलोप होने लगा। उनमें 'यान्त्रिकता' का रूप आने लगा। अर्थ के स्थान में मन्त्रों के शब्दों को ही अधिक-से-अधिक महत्त्व दिया जाने लगा।

ऐसा समझा जाने लगा कि यज्ञों में जिन मंत्रों का प्रयोग होता है, 'उनका क्या अर्थ या उपयुक्तता है' इसके ज्ञान की कोई आवश्यकता या उपयोगिता नहीं है। मन्त्रों के शब्दों में ही कोईऐसी अद्भुत अथवा परोक्ष शक्ति है, जिसके कारण सारे अभीष्ट यज्ञों द्वारा प्राप्त हो सकते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण (३।२२) के एक प्रसंग में कहा है कि अभिमन्त्रित तृण को फेंकने से ही शत्रु-सेना को भगाया जा सकता है !

ऐसी स्थिति में याज्ञिक कर्म-काण्ड की छोटी-से-छोटी बातों को (जैसे, कौन-सी आहुति कैसे और कब देनी चाहिए, किस यज्ञ-पात्र का किस प्रकार उपयोग आदि करना चाहिए) बड़ा महत्त्व दिया जाना स्वाभाविक था।

याज्ञिक कर्म-काण्ड का प्रतिपादन करनेवाले ब्राह्मण आदि ग्रंथों में उस कर्म-काण्ड के सम्बन्ध में थोड़ी-से-थोड़ी च्युति या त्रुटि हो जानेपर प्रायश्चित्तों का विधान पाया जाता है। उससे उस समय के कर्म-काण्ड की यान्त्रिकता स्पष्ट मालूम हो जाती है।

उदाहरण के लिए **ऐतरेय ब्राह्मण** के २२ वें अध्याय में, अग्निहोत्री गौ का (=जिसका दूध अग्निहोत्र-हवि के काम में आता था), दूध दुहते समय, उसके बैठ जाने पर, रँभाने पर, अथवा छटककर अलग खड़े हो जाने पर, या गरम करते हुए दूध के गिर जाने पर, तरह-तरह के प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है !

राजनीतिक आदि कारणों से देश की धीरे-धीरे बदलती हुई परिस्थिति में आर्य जाति के स्वरूप में कुछ ऐसे मौलिक परिवर्तन हुए, कि याज्ञिक कर्म-काण्ड जन-जीवन से, उसके बुद्धिपूर्वक सहयोग से, और बढ़ती हुई पारिभाषिक जटिलता के कारण, वह जन्ममूलक पुरोहितों के स्वच्छन्द एकाधिकार की वस्तु बन गया।

प्रत्येक राजनीतिक उत्कर्ष की प्रतिक्रिया प्रायः अकर्मण्यता, आलस्य, आदर्श-हीनता और रूढ़िपरता के जीवन में हुआ करती है। जबकि बाहरी और आन्तरिक संघर्ष लगभग समाप्त हो गये, तब आर्यजाति के भिन्न-भिन्न वर्ग सुख और चैन का जीवन बिताने लगे। उनमें तब अकर्मण्यता, आलस्य आदि का आ जाना स्वाभाविक था। जिसको जो महत्त्व, पद, या विशेषाधिकार प्राप्त हो चुका था, वह उसीको स्थायी और दृढ़ बनाने में लगा था। यदि क्षत्रिय अपने राजनीतिक महत्त्व को स्थायी करना चाहता था, तो ब्राह्मण भी पौरोहित्य के लाभों को सुरक्षित और दृढ़ करने में लगा हुआ था। इसी वातावरण में, शक्ति और प्रभाव के केन्द्रित हो जाने से, उन-उन पदों और वर्गों में रूढ़ि और स्थिरता आने लगी। साधारण आर्य-जनता (=विश् या प्रजा) में से ही ब्राह्मण-वर्ग तथा क्षत्रिय-वर्ग के साथ-साथ वैश्य-

वर्ग का भी प्रारम्भ हुआ। यही रूढ़िमूलक वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ था।

वर्ण-व्यवस्था के रूढ़ि-मूलक हो जाने पर, क्षत्रिय-वर्ग में धीरे-धीरे ऐश्वर्य भोगने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। साथ ही, न केवल धार्मिक कर्मकाण्ड में ही, बल्कि राज्य अथवा राष्ट्र के संचालन में भी, वह पुरोहित-वर्ग पर निर्भर होने लगा। वेद में राजाओं की प्रायः अतिशयोक्तिपूर्ण जो **दान-स्तुतियाँ** पाई जाती हैं, और ब्राह्मण-ग्रंथों में पुरोहितों की जो बहुत अधिक महिमा गायी गई है, वे स्पष्ट ही इस परिस्थिति की द्योतक हैं।

इसी वातावरण में याज्ञिक कर्म-काण्ड को, आर्यजाति की उसमें परम्परागत श्रद्धा के आधार पर, अधिक-से-अधिक जटिल, यान्त्रिक और कृत्रिम बना दिया गया।

मनुष्य की ऐसी कोई भी कामना (नैतिक या अनैतिक) नहीं थी, जिसे प्राप्त करने का उपाय यज्ञ द्वारा न बतलाया जा सकता था। यहाँतक कि यदि कोई नौकर नौकरी से भाग जाना चाहता था, तो उसे रोकने का उपाय भी एक याज्ञिक बतला सकता था!

वैदिक (=श्रौत) यज्ञों का विस्तार इतना बढ़ गया था कि उनमें बहुधा **अनेक** (१६ या १७ तक) **ऋत्विजों की आवश्यकता** होती थी। वे कई सप्ताहों तक, कभी-कभी तो एक वर्ष से भी अधिक समय तक, चलते थे। उनके करने में इतना संभार करना पड़ता था, और इतनी अधिक दक्षिणा देनी पड़ती थी, कि साधारण वित्त के लोग तो उनको कर ही नहीं सकते थे।

निम्न जनता को तो यज्ञों के करने का अधिकार ही नहीं था! **शतपथ-ब्राह्मण** में कहा है—

> **"ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञियाः।.......न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते। ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वा। ते हि यज्ञियाः।"** (शतपथ-ब्रा० ३।१।१।९-१०)

अर्थात्, देवता लोग सब किसीसे बात-चीत नहीं करते! वे केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से ही बातें करते हैं; क्योंकि इनको ही यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त है।

'दक्षिणा' के स्वरूप को भी समझ लेना आवश्यक है। यज्ञों में ऋत्विजों को जो दक्षिणा दी जाती थी, वह असल में उनकी 'फीस' या 'मज़दूरी' ही होती थी। **पूर्वमीमांसा** में ऋत्विजों को स्पष्टतः **'दक्षिणा-क्रीत'** (दक्षिणा से ख़रीदा गया) कहा गया है।

धर्मशास्त्रों में भी ब्राह्मणादि वर्णों के यजन (=यज्ञ करना), प्रतिग्रह (=दान लेना) आदि जो विशेष कर्म कहे गये हैं, उनको स्पष्ट ही 'आजीविका' या 'वृत्ति' के रूप में माना गया है।

ऐसी स्थिति में पुरोहित का काम कोई पारमार्थिक कर्म न होकर, दूसरे पेशों के समान, एक पेशा या व्यवसाय ही था। यह ठीक ही था। क्योंकि पुरोहित कोई 'मिशनरी' या 'श्रमण' (जैन या बौद्ध भिक्षु) तो था नहीं। उनको भी अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करना पड़ता था। इसलिए उनका दक्षिणा लेना न्याय्य और समुचित था, विशेष करके जबकि वे आर्य जाति की प्राचीन धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परा के निर्वाहक और संरक्षक थे।

दक्षिणा पर या पौरोहित्य-संस्था पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उस समय की वह एक आवश्यकता थी। पौरोहित्य-संस्था ने यजमान-पुरोहित के घनिष्ठ मधुर स्नेह-सम्बन्ध के उदाहरण भी उपस्थित किये हैं।

किन्तु भारतीय संस्कृति के इतिहास में जब से पुरोहिती के पेशे का सम्बन्ध एक जन्म-मूलक वर्गविशेष से हो गया, तबसे उसमें रूढ़िमूलक वर्गों की अच्छी-बुरी सारी बातों का आ जाना स्वाभाविक था।

वैदिक संस्कृति के उष:काल में मन्त्रात्मक वेद और आर्यजाति के जीवन में एक प्रकार से एकरूपता थी। उस समय उसका जीवन वेद था, और वेद ही जीवन था, क्योंकि एक से दूसरे की व्याख्या की जा सकती थी।

उसके बाद एक विशेष कर्मकाण्ड के रूप में याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रारम्भ हुआ। उस समय उसमें पूरी स्वाभाविकता और सार्थकता थी। उसके साथ जिन-भी वैदिक मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था, वह पूरी तरह उनके अर्थ को और उप-योगिता को समझकर ही किया जाता था।

बाद को, वैदिक मन्त्रों के अर्थ लगाने में कदाचित् कुछ कठिनाई का अनुभव किया जाने लगा। इसीलिए निरुक्त में कहा गया है—

"उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म-ग्रहणायेमं
ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदांगानि च।" (निरुक्त १।२०)

अर्थात्, वैदिक परम्परा की इस अवस्था में मन्त्र का अर्थ समझने की कठि-नता के कारण ही निरुक्त को तथा अन्य वेदांगों को रचा गया।

कर्मकाण्ड की महत्ता उसके अपने क्रिया-कलाप में न होकर, उसके पीछे रहनेवाली भावना में ही हुआ करती है। इसी बात को बृहदारण्यक उपनिषद् की भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है—

"न वा अरे कर्मकाण्डस्य कामाय कर्मकाण्डं प्रियं भवति,
जनताया राष्ट्रस्य तु कामाय कर्मकाण्डं प्रियं भवति।"

अर्थात्, अरे भाई! कर्मकाण्ड, कर्मकाण्ड होने के कारण, प्रिय नहीं होता है, किन्तु इसलिए प्रिय होता है कि उससे जनता या राष्ट्र के कल्याण में सहायता मिलती है।

परन्तु इस स्थिति ने पलटा खाया। आर्य जनता में, और विशेषकर संपन्न

वर्ग में, उदात्त वैदिक भावनाओं के स्थान में अकर्मण्यता आदि भावनाओं का प्रभाव बराबर बढ़ने लगा।

यह समझा जाने लगा कि ऋत्विजों में, उनके द्वारा प्रयोग किये गये मंत्रों के शब्दों में, और यज्ञ के क्रिया-कलाप में ही ऐसी कोई अदृष्ट शक्ति है, जिससे बल-पूर्वक अभीष्ट-कामना सिद्ध की जा सकती है।

"ब्रह्म हि देवान् प्रच्यावयति" (शतपथ ब्रा० ३।३।४।१७)

अर्थात्, मंत्र में ऐसी शक्ति है, कि वह देवों को भी झुका सकती है।

इस मनोवृत्ति का वेदों के पठन-पाठन पर अनर्थकारी प्रभाव पड़ना ही था। अब तो यह समझा जाने लगा कि—

(१) वेदों के मन्त्रों का केवल यही प्रयोजन है कि उनका यज्ञों में प्रयोग किया जाय;

(२) मंत्रों के शब्दमात्र में शक्ति है, यहाँ तक कि वास्तव में मंत्र का कोई अर्थ ही नहीं होता।

याज्ञिकों की इसी खेदजनक प्रवृत्ति को देखकर **महाभाष्य** में कहा गया है—

"वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति।" (**पस्पशाह्निक**)

याज्ञिक लोग व्याकरणादि की उपेक्षा करके वेद के केवल शब्दों को रटकर अपनेको कृतकृत्य समझ लेते हैं।

वेद-मन्त्रों के अर्थ की ओर याज्ञिकों की इस उपेक्षा को देखकर वैदिक काल में ही विद्वानों ने अर्थ-ज्ञान पर बहुत-कुछ बल देना प्रारम्भ कर दिया था। **निरुक्त** में ही उद्धृत इन प्राचीन वचनों को देखिए—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद-
धीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्दचते
अनग्नाविव शुष्कैंधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ (**निरुक्त १।१८**)

अर्थात्, वेद को पढ़कर उसके अर्थ को न जाननेवाला भार से लदे हुए केवल एक स्थाणु के समान है। जिस मंत्र आदि को, विना अर्थ समझे, केवल पाठमात्र से पढ़ा जाता है, उसका कोई फल नहीं होता, जैसे सूखा ईंधन भी विना आग के कभी नहीं जलता।

मन्त्रार्थ-ज्ञानपूर्वक वैदिक यज्ञों के करने के समयतक, निश्चय ही, विद्वान याज्ञिकों को उस मौलिक आध्यात्मिक एकता का भान रहता होगा। तभी तो कहा जाता था—

"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।" [ऋक्० १।१६४।४६]
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि
रेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। [ऋक्० १०।११४।५]

अर्थात्, विद्वान लोग एकही मौलिक सत्ता या अध्यात्म-तत्त्व को भिन्न-भिन्न इन्द्र, मित्र, अग्नि आदि नामों से कहते हैं।

इस प्रकार याज्ञिक कर्म-काण्ड की अत्यधिक यान्त्रिकता क्रम-क्रम से न केवल वैदिक देवतावाद के लिए ही, किन्तु उसके आध्यात्मिक एकतावाद के लिए भी सर्व-नाश करनेवाली सिद्ध हुई। इस स्थिति का नैतिक भावनाओं पर भी बुरा प्रभाव पड़ा।

याज्ञिक कर्म-काण्ड के काल में देश के सामने कोई महान् राजनीतिक कार्य-क्रम नहीं दीखता। उन दिनों देश में कोई बड़ी चर्चा थी, तो वैदिक यज्ञों की, उनमें दी जानेवाली बड़ी-बड़ी दक्षिणाओं की, और पुरोहितों की।

आगे चलकर वेदाभ्यास जड़ता या मन्दता का प्रतीक ही माना जाने लगा था। तभी तो महाकवि कालिदास ने अपने **'विक्रमोर्वशी'** नाटक [१।१०] में प्रजा-पति को भी **'वेदाभ्यासजडः'** कहने का साहस किया है!

रूढ़ि-मूलक वर्ग-वाद से जो सबसे बड़ी हानि देश को हुई, वह विभिन्न वर्णों में पृथक्त्व-भावना के बढ़ाने की थी। इस प्रवृत्ति का सबसे अधिक खेदजनक प्रभाव शूद्र और आर्य के परस्पर सम्बन्ध पर पड़ा। चारों वेदों में शूद्र के प्रति अन्याय की अथवा कठोरता की दृष्टि कहीं नहीं पाई जाती। यही नहीं, वेद-मन्त्रों में तो अन्य वर्णों के समान शूद्र के प्रति भी सद्भावना और ममता का वातावरण स्पष्ट दिखाई देता है।

आर्य-जाति की मौलिक एकजातीयता की भावना के मुक़ाबले में पिछली खेदजनक पृथक्ता की भावना के लिए तनिक **शतपथ ब्राह्मण** के निम्नलिखित उद्धरण को देखिए—

> **"अथेतराः पृथङ् नानायजुर्भिरुपदधाति विशं**
> **तत्क्षत्रादवीर्यतरां करोति पृथग्वादिनीं नानाचेतसम्"**
>
> (शत० ब्रा० ८।७।२।३)

अर्थात्, चयन में वह दूसरी इष्टकाओं को पृथक्-पृथक् यजुर्वेद के मन्त्रों से रखता है, जिससे क्षेत्र की अपेक्षा पृथक्-पृथक् अर्थात् अनैक्य से बोलनेवाली और विभिन्न चित्तवाली प्रजा में दुर्बलता रहे।

यहां प्रजा के विषय में यह भावना कि उसमें किसी प्रकार एकता और एक-चित्तता न आ सके और वह राजशक्ति के सामने दुर्बल ही रहे कितनी हीन और खेदजनक है!

कोई भी धार्मिक कर्मकाण्ड, मनुष्य की उस विषय की स्वाभाविक प्रवृत्ति से प्रारम्भ होकर, प्रायः धीरे-धीरे बढ़ता हुआ पुरोहित-वर्ग के एकाधिकार की वस्तु बन जाता है। यह अवस्था अन्त में पुरोहित-वर्ग और जनता दोनों के लिए हानिकर सिद्ध होती है। इससे जहां एक ओर अकर्मण्यता, मूढग्रह और अन्धविश्वास बढ़ता है, वहां दूसरी ओर व्यावसायिक अनियन्त्रित प्रवृत्ति के बढ़ने से नैतिकता के प्रायः

सर्वनाश की स्थिति पैदा हो जाती है।

उपनिषदों के निम्नलिखित प्रमाण प्राणहीन याज्ञिक क्रियाकलाप से उत्पन्न उद्विग्नता को स्पष्ट प्रकट करते हैं—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति।। (मुण्डकोपनिषद् १।२।७)
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।। (कठोपनिषद् १।२।५)

अर्थात्, ये आदर्श-हीन जटिल यज्ञरूपी कर्म अदृढ़ नौका के समान हैं। अविवेकी लोग इनको ही जीवन का लक्ष्य बनाकर अपनी अन्ध वासनाओं के भँवर में ही पड़े रहते हैं, और वास्तविक कल्याण को नहीं पा सकते। मूढ़ लोग, अपनेको पण्डित और बुद्धिमान समझते हुए, पर वास्तव में अज्ञानवश आदर्शहीन याज्ञिक क्रियाकलाप में फँसे हुए, आध्यात्मिक उन्नति के सरल-सीधे मार्ग पर अग्रसर नहीं हो पाते। वे मान, दम्भ और मोह के टेढ़े मार्ग में फँसकर अपना जीवन नष्ट करते हैं। उनकी दशा सचमुच अन्धे के पीछे चलनेवाले अन्धों के समान ही होती है।

स्पष्ट है कि वैदिक धारा के ह्रास का मुख्य कारण बहुत अधिक जटिलता और विस्तार को पहुँचा हुआ उसका आदर्शहीन शुष्क कर्मकाण्ड था। आर्य-जाति में रूढ़िमूलक वर्ग-वाद की प्रवृत्ति लाने और उसे दृढ़ करने में भी इसी कर्मकाण्ड का विशेष हाथ था। इसीके कारण, विभिन्न वर्णों में अलगपने की भावना बढ़ी। इसीने विशेषरूप से रूढ़िमूलक पुरोहित-वर्ग को जन्म दिया, जिसकी क्रमशः बढ़ती हुई व्यावसायिकता और अनैतिकता ने वैदिक धारा को ह्रास की ओर और भी बढ़ा दिया।

यह समय ऐसा था, जबकि जनता को कोई धार्मिक प्रेरणा और जीवनप्रद सन्देश कहीं से भी मिलना प्रायः बन्द हो गया था, और वैदिक धारा का प्रवाह अत्यन्त मन्द पड़ गया था।

वैदिक धारा का ह्रास एक ऐतिहासिक सत्य है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वेद और वैदिक वाङ्मय का महत्त्व आज के भारत के लिए नहीं है।

यह परम सौभाग्य है कि वेद अबभी सुरक्षित हैं। उनकी अक्षम्य उपेक्षा हुई है, सहस्रों वर्षो से। पर अब समय आ गया है जबकि आवश्यकता है उनके वास्तविक अनुशीलन और स्वाध्याय की, किसी संकीर्ण सांप्रदायिक दृष्टि से नहीं, किन्तु अत्यन्त उदार मानवीय भावना से।

वेद हमारे राष्ट्र की अनमोल शाश्वत निधि तो हैं ही, पर अपनी अद्वितीय उदात्त भावना और अमर जीवन-सन्देश के कारण उनका सार्वकालिक और सार्वभौम महत्त्व भी है।*

---

*समाज विज्ञान परिषद्, काशी विद्यापीठ, बनारस द्वारा प्रकाशित 'भारतीय संस्कृति का विकास —वैदिक धारा' में से महत्त्वपूर्ण संक्षिप्तीकृत अंश साभार संकलित। —संपादक

वैदिक सूक्त

[नीचे हम तीन वैदिक सूक्त—**नासदीय सूक्त, पृथिवी सूक्त** तथा **सांमनस्य सूक्त**, भावार्थ के साथ, दे रहे हैं। ये बड़े महत्त्वपूर्ण सूक्त हैं—सं०]

नासदीय सूक्त

ऋग्वेद का यह बड़ा प्रसिद्ध सूक्त है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आदिवैदिक काल का चिन्तन इस सूक्त में पाया जाता है। उपनिषदों में जिस तत्त्वज्ञान का अनेक प्रकार से निरूपण किया गया है, उसका वीज इस सूक्त में दृष्टिगोचर होता है। ऋषि चिन्तन करता है कि जब 'असत्' का अन्धकार सर्वत्र व्याप्त था, तब उससे 'सत्' कैसे उत्पन्न हुआ ? सृष्टि का मूल कारण क्या था ? जानने की उसकी उत्कट इच्छा है, परन्तु किसी निश्चय पर वह पहुँच नहीं पा रहा। गहरे-से-गहरा तत्त्व-चिन्तन इस सूक्त में हम देखते हैं। लोकमान्य तिलक के शब्दों में यह 'स्वाधीन चिन्तन' था।

इस सूक्त का ऋषि परमेष्ठी प्रजापति है, और देवता है परमात्मा।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म
न्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥१॥

तब, मूल आरम्भ में, असत् नहीं था, और सत् भी नहीं था;
अन्तरिक्ष तब नहीं था, उसके परे का यह आकाश भी न था।
किसने (किसपर) आवरण डाला ? और कहाँ ? किसके सुख के लिए ?
गहन और अगाध जल (भी) कहाँ था तब ?

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस॥२॥

तब न तो मरण था (अर्थात् नाशवान् दीखनेवाली यह सृष्टि)।
अतः अमृत अविनाशी (नित्य पदार्थ) भी न था।
रात और दिन का भेद समझने के लिए तब कोई साधन न था।
(जो कुछ था) अकेला एकही था वह,
अपनी शक्ति से, विना ही वायु के, साँस लेता रहा, स्फूर्तिमान होता रहा।
उसके परे और कुछ भी न था।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽ
प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥३॥

अन्धकार में अन्धकार व्याप्त था (जैसे अपने आपमें वह छिपकर बैठा हो)
जल में जल समाहित था।
तब असत् अर्थात् शून्यमय जो था,
वह तप की महिमा से मण्डित था, और वह प्रकट हुआ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

इसके मन का बीज प्रथम निकला,
वही आरम्भ में काम बन गया—
(अर्थात् निर्माण करने की प्रवृत्ति)
ऋषियों ने अपने अन्तःकरण में विचार करके निश्चित किया कि,
असत् में – मूल परब्रह्म में—सत् का, विनाशी दीखनेवाली सृष्टि का यह पहला सम्बन्ध है।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्
अधःस्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥५॥

(यह) किरण या धागा आड़ा फैल गया इनमें,
यदि कहा जाय कि यह नीचे था, तो ऊपर भी था यह;
(इनमें से कुछ) रेतोधा याने बीज देनेवाले हुए, और बढ़कर बड़े भी हुए,
उन्हींकी अपनी शक्ति इस ओर रही,
और प्रभाव उस ओर (व्याप्त) हो गया।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेना
थ को वेद यत आबभूव ॥६॥

यह (सत् का) सारा पसारा किससे आया, कहाँ से आया—
(इससे अधिक) विस्तारपूर्वक कौन कहेगा यहाँ ?
निश्चयपूर्वक कौन जानता है इसे ?

देव भी इस सत्-सृष्टि के पश्चात् हुए हैं,
फिर जहाँ से वह सृष्टि हुई उसे कौन जानेगा ?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे योमन्
सो अंग वेद यदि वा न वेद ।।७।।

यह सारा फैलाव जहाँ से हुआ, उसे तो परम आकाश में रहनेवाला जानता होगा,
जो इस सृष्टि का अध्यक्ष है।
या नहीं भी जानता हो, कौन कह सकता है ?

पृथिवी सूक्त

अथर्ववेदीय सूक्त है यह। इस सूक्त के मंत्रों में पृथिवी का स्तवन किया गया है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में "मातृभूमि के स्वरूप और उसके साथ राष्ट्रीय जन की एकता का जैसा वर्णन इस सूक्त में है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सूक्त की भाषा में अपूर्व तेज और अर्थवत्ता पाई जाती है। स्वर्ण का वेश पहने हुए शब्दों को कवि ने श्रद्धापूर्वक मातृभूमि के चरणों में अर्पित किया है।"

पृथिवी सूक्त में से कुछ सुन्दर मंत्रों को हम नीचे उद्धृत करते हैं :

यस्याः हृदयं परमे व्योमन्
सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।।८।।

पृथिवी का हृदय परम व्योम में स्थित है;
यह हृदय सत्य से घिरा हुआ अमृतरूप है।

सा नो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव संदृशि ।।१८।।

हे मातृभूमि, हिरण्य के संदर्शन से तुम हमारे सामने प्रकट होओ—
तुम्हारी स्वर्णमयी प्ररोचनाओं का हम दर्शन करना चाहते हैं।

स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु ।।३१।।

चलने से ही दिशाओं के कल्याणों तक हम पहुँचते हैं।

ये ते पंथानो बहवो जनायना रथस्य
वर्त्मानसश्च यातवे ।।४७।।

पदपंक्तियों के द्वारा ही मातृभूमि के विशाल जनायन पंथ निर्माण होते हैं।
यात्रा के बल से ही रथों के वर्त्म और शकटों के मार्ग भूमि पर बिछते हैं।

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश ।।२४।।

तुम्हारी जो गन्ध कमल में बसी हुई है, उस सुगन्ध से मुझे सुरभित करो।

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा
हिरण्यवक्षा जगतो निवेशिनी ॥२॥

हे मातृभूमि ! तुम विश्व का भरण करनेवाली हो, रत्नों की खान हो, हिरण्य से परिपूर्ण हो;
तुम्हारे ऊपर एक संसार ही बसा हुआ है।
तुम सबकी प्राण-स्थिति का कारण हो।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु
मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना
देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥४४॥

अपने गूढ़ प्रदेशों में तुम नाना निधियों का भरण करती हो।
तुम रत्नों, मणियों और सुवर्ण को देनेवाली हो;
रत्नों का वितरण करनेवाली हे वसुधे ! प्रेम और प्रसन्नता से पुलकित होकर तुम हमारे लिए कोषों को प्रदान करो।

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥४५॥

अडिग खड़ी हुई अनुकूल धेनु के समान हे माता ! तुम सहस्रों धाराओं से अपने द्रविण का हमारे लिए दोहन करो।
तुम्हारी कृपा से राष्ट्र के कोष अक्षय निधियों से भरे-पूरे रहें,
उनमें किसी प्रकार किसीभी कार्य के लिए कभी न्यूनता न आये।

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं
यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेहि अभि नः पवस्व
माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ॥१२॥

हे पृथिवी ! तुम्हारे शरीर से निकलनेवाली जो शक्ति की धाराएं हैं उनके साथ हमें संयुक्त करो।
यह भूमि मेरी माता है, और मैं इसका पुत्र हूँ।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसं ॥४५॥

अपने-अपने प्रदेशों के अनुसार उन जनोंकी अनेक भाषाएँ हैं, और वे नाना धर्मों के माननेवाले हैं।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे ॥५॥

हे पृथिवी ! तुम हमारे पूर्वकालीन पूर्वजों की भी माता हो।

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिभूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ।।५६।।

पृथिवी पर जो ग्राम और अरण्य हैं, जो सभाएँ और समितियाँ हैं,
जो सार्वजनिक सम्मेलन हैं, उनमें हे भूमि ! हम तुम्हारे लिए सुन्दर भाषण करें ।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा
तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी
उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ।।१।।

सत्य, वृहत् और उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ ये पृथिवी को धारण करते हैं ।
जो पृथिवी हमारे भूत और हमारे भविष्य की पत्नी है, वह हमारे लिए विस्तृत लोक प्रदान करनेवाली हो ।

भूमे मातर्नि धेहि या भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ।।६३।।

हे भूमि माता ! हमें पार्थिव कल्याणों के मध्य में रखकर द्यु लोक के भी उच्च भावों के साथ युक्त करो ।
[**पृथिवी सूक्त** के इन मंत्रों का भावार्थ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का है।]

सांमनस्य सूक्त

मानव-समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी यह सूक्त **अथर्ववेद** में आया है। इसमें उपदेश किया गया है सब मनुष्यों को कि वे आपस में मिल-जुलकर, एकचित्त होकर, समाज में रहें । यह सूक्त सात त्रिष्टुप छन्दों में अथर्व ऋषि ने गाया है इस प्रकार :—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।।१।।

मैं तुम सबको एक हृदयवाला और एक मनवाला और आपस में द्वेष न रखनेवाला बनाता हूँ;
तुम एक दूसरे से मिलने के लिए प्रेम से खिचकर चले जाओ,
जैसे, अपने बछड़े की ओर गाय दौड़ी हुई आती है ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ।।२।।

पुत्र हो पिता की आज्ञा माननेवाला,

और, माता के प्रति अनुकूल हो और सहृदय हो;
पत्नी अपने पति से सदा मधुर, शान्तियुक्त, सुखद वाणी वोले।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥३॥

भाई भाई से और वहन से द्वेष न करे,
और वहन अपनी वहन से और भाई से द्वेष न रखे;
सब इकट्ठे होकर एक दूसरे के लिए अनुकूल रहो, एकचित्त रहो,
और, एक ही उद्देश्य को लेकर एक दूसरे से ऐसी वाणी वोला करो, जो कल्याणयुक्त हो और सुखद।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥४॥

जिस ज्ञान को पाकर विद्वान लोग एक दूसरे का विरोध नहीं करते,
और आपस में भी द्वेप नहीं रखते,
उस ब्रह्मविद्या को तुम सबके घरों में हम पहुँचाते हैं
जो सबसे उत्तम ज्ञान प्राप्त करानेवाली है।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तःसधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि॥५॥

तुम लोग एक दूसरे से बड़े और उत्तम गुणवाले होते हुए भी समानचित्त होकर समान कार्य करते रहो;
एक ही प्रकार का भार उठाते हुए, एक ही धुरा में बँधकर,
एक दूसरे से कभी अलग मत होओ।
और, एक दूसरे से मनोहर वचन वोलो;
एक दूसरे से हिलो-मिलो,
आओ, समानरूप से एक ही स्थान पर एकत्र हुए तुम लोगों को मैं एक मन-वाला बनाता हूँ।

समानी प्रपा सह वोन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यंचोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥६॥

तुम्हारा पानी पीने का स्थान एक हो,
तुम्हारा सबका परस्पर में एकसाथ भोजन हो;
इसीलिए तुमको मैं एकही वन्धन में वाँध रहा हूँ।
और, भली भाँति ज्ञानरूप अग्नि की उपासना करो एकत्र होकर,
नाभि (केन्द्र) के चारों ओर अरों के समान।

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाःसायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥७॥

बनाता हूँ तुम सबको कि एक कार्य में उद्योग करते रहो, एक स्थान पर जुड़े रहो;
एक दूसरे के प्रति प्रेम उत्पन्न करते रहो,
और समान चित्तवाले रहो।
तुम सब लोग अमृत की रक्षा करते हुए देवों (इन्द्रिय गणों) के समान रहो,
सायंकाल और प्रात:काल तुम्हारा उत्तम हृदय रहे, और चित्त परस्पर प्रेमयुक्त रहे।

श्रम-गान

ऐतरेय ब्राह्मण में निम्नलिखित ५ श्लोकों में श्रमशीलता की महिमा का गायन किया गया है। पुरुष के रूप में प्रकट होकर इन्द्र ने रोहित से जो श्रम का यशोगान किया वह बड़ा ही प्रेरक है। श्रमदेव की उपासना करने के लिए यह मनोहर संगीत हठात् अपनी ओर खींच लेता है।

इन्द्र कहता है :

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित ! शुश्रुम;
पापो नृषद् वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा—
चरैवेति, चरैवेति।

सुना है कि श्रम करने से जो थकता नहीं है, उसेही श्री प्राप्त होती है।
हाथ पर हाथ धरे बैठा रहनेवाला अच्छा आदमी भी निकम्मा ही है।
श्रम करते रहनेवाले की ही सहायता इन्द्र करता है।
अतः निरन्तर श्रम करते ही रहो, श्रम करते ही रहो।

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः;
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः—
चरैवेति, चरैवेति।

श्रम करनेवाले की जंघाओं में स्फूर्ति के फूल खिले रहते हैं;
स्वास्थ्य का फल उसीके बलिष्ठ शरीर में फलता है।
उसके सभी पापों को श्रम निष्क्रिय बना देता है।
अतः निरन्तर श्रम करते ही रहो, श्रम करते ही रहो।

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः;
शेते निपद्यमानस्य चरति चरता भगः—
चरैवेति, चरैवेति।

जो बैठा रहता है, उसका सौभाग्य भी बैठ जाता है,
और खड़े रहनेवाले का सौभाग्य खड़ा हो जाता है।
सोनेवाले का सोता रहता है,
और जो चलता है उसका सौभाग्य प्रगति करता है।
अतः निरन्तर श्रम करते ही रहो, श्रम करते ही रहो।

कलिःशयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः;
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्—
चरैवेति, चरैवेति।

वह कलि है, जो सो रहा है,
द्वापर है वह, जो नींद से उठ बैठा है,
और वह त्रेता है, जो उठकर खड़ा हो गया।
किन्तु श्रमशील पुरुष तो सत्ययुग ही बन जाता है।
अतः निरन्तर श्रम करते ही रहो, श्रम करते ही रहो।

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्;
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्—
चरैवेति, चरैवेति।

जीवन का मधु श्रम में निरत रहनेवाला मनुष्य ही पाता है,
वही स्वादिष्ट फल चखता है,
देखो न, सूर्यदेव के श्रम को, वह एक क्षण भी आलस्य नहीं करता,
अतः निरन्तर श्रम करते ही रहो, श्रम करते ही रहो।

कुछ वैदिक सूक्तियाँ

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

[ऋक्० १०।११४।५

एकही परमतत्त्व की विद्वान कवियों ने अनेक प्रकार से कल्पना की है।

यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् [ऋक्० ५।४४।८

अपना ध्येय श्रम और तप से ही मनुष्य पा सकता है।

प्रतार्यायुः प्रतरं नवीयः [ऋक्० १०।५९।१

हम नये से और भी नये, और ऊँचे से भी ऊँचे जीवन की ओर बढ़ते रहें।

विश्वदानीं सुमनसः स्याम

पश्येमनु सूर्यमुच्चरन्तम्। [ऋक्० ६।५२।५

प्रसन्न मन से हम उदय होते हुए सूर्य को सदा देखें।

यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत्। [यजु० १६।४

सारा जगत् हमें व्याधियों से बचाकर आह्लाद देनेवाला बन जाय।

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्

ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।

ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द।

कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥

ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति

पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।

ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष

ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः॥ [ऋक्० ४।२३।८-९

ऋत स्रोत है सभी प्रकार के सुख और शान्ति का,

पापों का नाश कर देती है ऋत की भावना,

वह बोध देती है और प्रकाश भी।

बहरे कानों ने भी सुनी है ऋत की कीर्ति;

जड़ें उसकी बहुत दृढ़ हैं,

जगत् की अनेक सुरम्य वस्तुओं में ऋत साकार हो रहा है।

अन्नादि की कामना ऋत पर ही अवलम्बित है,

और सूर्य की किरणें, ऋत के कारण ही, जल में प्रवेश कर उसे ऊपर ले जाती हैं।

मा भेः, मा संविक्थाः। [यजु० १।२३

तुम न तो डरो, और न घबराओ।

विद्वान् पथः पुरएता ऋजु नेषति [ऋक्० ५।४६।१

सही रास्ते पर वही नेता ले जाता है, जो समझदार होता है।

न स सखा यो न ददाति सख्ये। [ऋक्० १०।११७।४

जो मित्र का सहायक नहीं, वह मित्र नहीं हो सकता।

केवलाघो भवति केवलादी [ऋक्० १०।११७।६

अकेला खानेवाला तो पाप खाता है, अर्थात् वह पापमय है।

जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविः [साम० उ० ३।१।६

जनता को जागरूक व्यक्ति ही बचा सकता है।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः [अथर्व० १२।१।१२

भूमि मेरी माता है, मैं पृथिवी का पुत्र हूँ।

मा नो विददभिभा, मा अशस्तिः, मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या।
[अथर्व० १।२०।१

पराजय हमारे पास न आये, अपयश हमें प्राप्त न हो;
और ऐसे बुरे कृत्य हमसे दूर रहें, जो द्वेष बढ़ानेवाले हों।

इतश्च यदमुतश्च यद्वधं वरुण यावय।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम्। [अथर्व० १।२०।३

दूसरों के भीतर वध करने का भाव न रहे,
प्रभो! यह भाव ही हमसे दूर करदे,
और अपना महान् आश्रय तू हमें दे।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽति व्याधी महारथी जायताम्।
[यजु० २२।२२

विश्वभावन ब्राह्मण ब्रह्मतेज से युक्त हों।
राजन्यगण शूरवीर, धनुर्धर, नीरोग और महारथी हों।

दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा,
सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। [यजु० २२।२२

गौएँ दुधारू, बैल भार ढोने में समर्थ, घोड़े शीघ्रगामी, स्त्रियाँ शोभामयी
और रथी विजयी हों, और इस यजमान का पुत्र निर्भय वीर हो।

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु।
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्।
योगक्षेमो नः कल्पताम्। [यजु० २२।२२

आवश्यकता के अनुसार वर्षा हो, वनस्पतियाँ फलती रहें।
हमारा योग-क्षेम हो।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ।
[ऋक्० ५।६०।५

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः ।
सु जातारो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो
अच्छा जिगातन । [ऋक्० ५।५९।६

उनमें न तो कोई बड़ा है, और न कोई छोटा,
आपस में वे सब भाई-भाई हैं ।
और अपने कल्याण के लिए वे सब मिलकर प्रयत्न करते हैं ।
उनमें कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं, और कोई मध्यम भी नहीं ।
वे सभी एकसमान हैं ।
अपने उदय के लिए उत्साहपूर्वक वे उद्यम करते हैं ।
अच्छे कुल में वे पैदा हुए और भूमि को वे अपनी माता मानते हैं ।
वे दिव्य मानव भली भाँति यहाँ आयें ।

ऊर्जा मधुमती वाक् । मधुमतीं उदेयम् ।। [मं० २।१-२

वाणी मधुर हो, और उसमें बल भी हो ।

भद्रश्रुतौ कर्णौ । सुश्रुतौ कर्णौ । भद्रं श्लोकं श्रूयासम् ।
सुश्रुतिः उपश्रुतिः च मा मा हासिष्टाम् । [मं० २।४-५

कान मेरे अच्छे-अच्छे उपदेश सुनें, अच्छे उपदेश उनमें भरे रहें;
ऐसी वाणी सुना करूँ, जिससे कल्याण होता हो;
अच्छे उपदेश और दूर से अच्छे शब्द सुनने की मेरी शक्ति कभी क्षीण न पड़े ।

रुजः, वेनः, मूर्धा, विधर्मा, उखः, चमसः, धर्ता, धरुणः, विमोकः,
आर्द्रपविः, आर्द्रदानुः, मातरिश्वा च मा मा हासिष्टाम् ।।
[मं० ३।२-४

मेरा ये त्याग न करें, त्याग न करें—
तेजस्विता, महत्त्वाकांक्षा, मेधा-शक्ति, विशेष गुणोंवाला धर्म, यज्ञ के साधन, धारण करनेवाली शक्तियाँ, बन्धन से छूटने की इच्छा, सिद्ध शस्त्र, देने की इच्छा तथा प्राण ।

जितं अस्माकं, उद्भिन्नं अस्माकं, विश्वाः अरातीः पृतनाः ।
[मं० ९।२

हम अपना सामर्थ्य बढ़ाते रहें, अपनी विजय का, अपने उत्कर्ष का और अपने शत्रुओं की सारी सेनाओं को पूरी तरह परास्त कर देने का ।

मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्यात् । [अथर्व० ५।६।८

निन्दनीय पाप से तू हमें मुक्त कर ।

योऽस्मांश्चक्षुषा मनसा चित्याकूत्या च अघायुरभिदासात्,
त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन् कृणु। [अथर्व० ५।६।१०

जो भी हमें आँख से, मन से, चित्त और संकल्प से दास बनाना चाहता है, हे अग्निदेव ! अपने शस्त्र से उसे तू शस्त्रहीन करदे ।

पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते। [अथर्व० १०।८।२९

पूर्ण से पूर्ण उदित होता है, और पूर्ण से पूर्ण ही सींचा जाता है।

अ-दार-सृद् भवतु देव सोम। [अथर्व० १।२०

हे सोमदेव ! हमारी आपस में फूट न हो।

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।
[अथर्व० ५।११।७

हमारे गृहों को प्रकाशित करती रहें कल्याण करनेवाली उषाएँ घोड़ों, गायों और शूरवीर पुत्रों के साथ।

माया ह जज्ञे मायसा। [अथर्व० ८।९।५

कपट कपट से बढ़ता है।

स विशोऽनु व्यचलत्, तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा
चानुव्यचलन्।

जब वह प्रजा के अनुकूल चला,
तभी उसे सभा, समिति और सेना अनुकूल हुई, और धन-कोष भी अनुकूल हुआ।

अध्याय–४

उपनिषद्

[वियोगी हरि]

उपनिषदोंको वैदिक साहित्य का अंग माना गया है। उपनिषद् को वेद श्रुति भी कहा गया है। वेद का चूंकि यह अन्तिम भाग है, इसलिए इसके विषय वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषदों में मुख्यरूप से ब्रह्म-विद्या का निरूपण कि गया है। उपनिषद्, 'उप' और 'निषद्' इन दो शब्दों से बना है। 'उप' का अर्थ निकट और 'निषद्' से आशय है बैठना। गुरु के निकट बैठकर अध्यात्म तत्त्व सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना यह उपनिषद् का अर्थ है। परमतत्त्व ब्रह्म में जो ज्ञ साधक को स्थिर कर देता है, उसीका बहुत सुन्दर निरूपण उपनिषदों में कि गया है। इन ग्रन्थों में ऐसा सामर्थ्य है, जो मानव को, उनके अनुसार विचार तथा आ रण करने से, सबसे ऊँचे शिखर पर पहुँचा सकता है। शंकर, रामानुज, माध्व अ प्रमुख आचार्यों ने उपनिषदों को 'प्रस्थान-त्रयी' में स्थान दिया है। उनपर अप अपने मत या सिद्धान्त के प्रतिपादक भाष्य लिखे हैं। ब्रह्मसूत्र, एकादश उपनि और भगवद्गीता इनको 'प्रस्थान-त्रयी' में लिया गया है।

जर्मनी के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता शोपेनहर के शब्दों में, "सारे संसार में उ निषद् ग्रंथों के समान कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं, जिसमें मानव-जीवन को इतना ऊं उठाने की क्षमता हो।"

प्रख्यात दर्शन-शास्त्री मैक्समूलर का भी ऐसाही मत है।

इसी प्रकार एक दूसरा जर्मन विद्वान् पाल डॉसन कहता है, "उपनि का दार्शनिक मंथन न सिर्फ़ भारत में, बल्कि शायद सारी दुनिया में बेजोड़ है

फ्रेड्रिक श्लेगल ने तो यहाँतक कहा है, "उपनिषदों के आगे पाश्च तत्त्वदर्शन ऐसा समझना चाहिए, जैसे प्रचण्ड सूर्य के सामने एक टिमटिमाता दीपक

फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् कजेंस, और इसी प्रकार हैक्सले का कथन है "सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान का मूल उपनिषदों के अन्दर देखा जा सकता है।"

स्वामी विवेकानन्द का मानना है, "उपनिषदों का यह एक पावन मार्ग बहुत-से व्यवहार, रीति-रिवाज और लोकाचार, जो आज समझ में नहीं आ सक उनकी सच्चाई उपनिषदों के द्वारा स्पष्ट दीखने लगती है।"

च० राजगोपालाचार्य ने लिखा है, "उपनिषद् ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें आध

ःमक जिज्ञासा के बारे में संसार के दूसरे धर्म-ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक वैज्ञा-
नक भावना देखने में आती है। जिन ऋषियों के विचार और उपदेश उनमें भरे
ड़े हैं, वे वर्तमान युग के अधिकांश वैज्ञानिकों की भाँति ही रचनात्मक शंकाओं से
ेरित दिखाई पड़ते हैं। उनके प्रश्नों और उत्तरों से मालूम होता है कि वे एक ऐसे
ाल में हुए थे, जब परम्परा और पुरातन आचार-विचारों के अनुसरण के साथ-
ाथ मनुष्य परमसत्य को जानने की उत्कट इच्छा रखता था, और तब का वह
ातावरण बड़ाही साहसपूर्ण और स्वतंत्र विचारों से व्याप्त था।"

आचार्य विनोबा भावे मानते हैं, "मेरी दृष्टि में उपनिषद् पुस्तक है ही नहीं,
ह तो प्रातिभ-दर्शन है। उस दर्शन को यद्यपि शब्दों में प्रकट करने का प्रयत्न किया
ाया है, फिरभी शब्दों के पैर लड़खड़ा गये हैं, परन्तु सिर्फ़ निष्ठा के चिह्न उभरे
हैं। उस निष्ठा को अन्तर में भरकर, शब्दों की सहायता से शब्दों को दूर हटाकर,
अनुभव किया जाय, तभी उपनिषदों का बोध हो सकता है।"

वेद की संहिताओं के बाद रचे गये जिन ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन अरण्य में अर्थात् वन में किया गया था, उनको 'आरण्यक' कहते हैं। अनेक आरण्यकों के अमुक भाग उपनिषद् ग्रन्थ हैं। जैसे, ऐतरेय ब्राह्मण का अन्तिम भाग 'ऐतरेय आरण्यक' माना गया है, और उसी ब्राह्मण के चार से लेकर छह अध्यायों को 'ऐतरेय उपनिषद्' कहते हैं।

रचना-काल—उपनिषदों का रचना-काल ई० पू० १००० से ई० पू० ३०० माना जाता है। कुछ उपनिषदें ई० पू० ४०० से ई० पू० ३०० तक रची गईं।

विचारक—उपनिषदों के विचारकों में प्रजापति, इन्द्र, नारद, सनत्कुमार आदि प्रमुख हैं।

संवादों में उल्लेखनीय—महीदास, ऐतरेय, रैक्व, शाण्डिल्य, सत्यकाम जाबाल, जैवालि, उद्दालक, श्वेतकेतु, भारद्वाज, गार्ग्यायन, प्रतर्दन, बालाकि, गार्गी और मैत्रेयी इनके नाम उपनिषदों में दिये गये संवादों में उल्लेखनीय हैं।

किस वेद से किन प्रमुख उपनिषदों का अंग-सम्बन्ध है, इसे हम नीचे देते हैं :—

ऋग्वेदीय	ऐतरेय
यजुर्वेदीय	कठ, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, ईश और बृहदारण्यक
सामवेदीय	छान्दोग्य और केन
अथर्ववेदीय	मुण्डक, प्रश्न और माण्डूक्य

इन उपनिषदों में कुछ पद्यमय हैं और कुछ केवल गद्यमय। प्राचीनतम उपनिषदें प्रायः गद्यात्मक हैं। तीन उपनिषदों में गद्य और पद्य दोनों ही हैं नीचे लिखे अनुसार :

१. ईश	पद्यमय

२. केन पद्यमय
३. कठ ,,
४. मुण्डक ,,
५. माण्डूक्य गद्यमय
६. प्रश्न गद्यमय तथा पद्यमय
७. ऐतरेय ,, ,,
८. तैत्तिरीय गद्यमय
९. श्वेताश्वतर पद्यमय
१०. छान्दोग्य गद्यमय तथा पद्यमय
११. बृहदारण्यक गद्यमय

कौषीतिकी तथा नृसिहतापिनी इन उपनिषदों पर भी आचार्यों ने भाष्य लिखे हैं।

ईश सबसे छोटा उपनिषद् है। इसमें केवल १८ श्लोक हैं। परन्तु इस उपनिषद् में ब्रह्म-विद्या का पूरा सार-तत्त्व आ गया है, जैसे गागर में सागर भर दिया गया हो।

आचार्य विनोवाजी ने ईशोपनिषद् के मंत्रों की जो **'ईशावास्य बोध'** नाम से तात्त्विक व्याख्या की है उसे हम नीचे अविकल रूप में उद्धृत करते हैं :

"ईशावास्य एक छोटी-सी उपनिषद् है। और, शायद ही ऐसी कोई दूसरी छोटी रचना हो, जिसमें इतना अर्थ समाविष्ट किया गया हो। हम रोज़ गीता का पाठ करते हैं। वह भी छोटी ही है। फिरभी उसमें अठारह अध्याय हैं। पर इसमें तो केवल अठारह श्लोक हैं। लोग मानते हैं कि दुनिया का पहला ग्रन्थ वेद है। वेदों का रहस्य जिन ग्रन्थों में आया है, उनको 'वेदान्त' कहते हैं। ईशावास्य एक वेदान्त-ग्रंथ है। वेदान्त के ग्रन्थ तो वैसे बहुत हैं। पर इसमें थोड़े में वेदों का सार आ गया है, और उसका भी निचोड़ **'ईशावास्यमिदं सर्व यत् किंचजगत्यां जगत्, तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्वित् धनम्"** इस पहले मंत्र में आ गया है।

"इस मंत्र का अर्थ है दुनिया में जोभी जीवन है, सब ईश्वर से भरा हुआ है। कोई चीज़ ईश्वर से खाली नहीं है। सत्ता की भाषा में बोलें, तो यहाँ केवल उसीकी सत्ता है। वही एक मालिक है। यह समझकर हमें सब उसीको समर्पण करना चाहिए, और जो कुछ उसके पास से मिले, उसका प्रसाद समझकर ग्रहण करना चाहिए। यहाँ मेरा कुछभी नहीं, सब ईश्वर का है—ऐसी भावना रखनी चाहिए। जो पुरुष इस तरह रहेगा—कोईभी चीज़ अपनी नहीं मानेगा—सभी उसका होगा, सब उसे मिल जायगा। जो कुछ उसे मिलेगा, उसमें वह संतुष्ट रहेगा। दूसरे का मत्सर नहीं करेगा। किसीके धन की अभि-

लाषा नहीं करेगा। इस छोटे-से मंत्र में एक महान् जीवन-व्यापी सिद्धान्त बता दिया है, और उसे अमल में लाने का उपाय भी। ईश्वर-समर्पण, प्रसाद के रूप में ग्रहण, मत्सर न करना, धन की वासना न करना—इस प्रकार एक संपूर्ण विचार इस मंत्र में हमारे सामने रख दिया है।

प्रायः हम देखते हैं कि मनुष्य दूसरे के धन की अभिलाषा करता है। यह क्यों? इसलिए कि वह आलस्य में जीना चाहता है। दूसरे मंत्र में इसलिए कहा है कि बिना कर्म के जीवन की इच्छा रखना जीवन के साथ बेईमानी है। अर्थात् निरंतर कर्म करते हुए जैसा जीवन भगवान् हमें दे, जीना चाहिए। जब हम कर्म को टालते हैं, जीवन भाररूप होता है—शापरूप होता है। जाने-अनजाने हम सब यह कर रहे हैं, इसीसे हम दुःख भोग रहे हैं, और दुनिया में जो पाप हैं, वे भी बहुत सारे इसीसे पैदा हुए हैं।

"तीसरे मंत्र में आगे चलकर बताया है कि अगर तुम भगवान् को भूल जाते हो, भोग-प्रधान वृत्ति रखते हो, कर्मनिष्ठा को छोड़कर आलस्य को अपनाते हो, तो इसी जीवन में नरक में पड़ते हो। और जो स्थिति जीवन में है उसीके अनुसार मरने के बाद भी गति होगी, यह वस्तु तीसरे मंत्र में समझाई है।

"चौथे और पाँचवें मंत्र का एक स्वतंत्र परिच्छेद बनता है उसका सार यह है कि ईश्वर की शक्ति अलौकिक है। वह असीम है। उसके बारे में हम तर्क नहीं कर सकते। हमारे तर्क से वह सीमित हो जायगा। गीता में बताया है कि ईश्वर जब अवतार लेता है, तब वह महान् कर्म करता हुआ दिखाई देता है, पर उस कर्म का लेप उसे नहीं लगता। उस समय भी वह अकर्मा रहता है। इससे उलटे, जब वह अपने मूल रूप में रहता है, अर्थात् अवतार ग्रहण नहीं करता है, तब वह कुछभी नहीं करता दिखाई देता है, पर उस समय भी वह सारी दुनिया का शासन करता रहता है। अर्थात् अकर्मा भी वह सब कर्म करता है। वही उसका व्यापक स्वरूप यहाँ रख दिया है।

"फिरतीन मंत्रों में ईश्वर-भक्त का वर्णन है। वह अपने में सबको और सबमें अपनेको देखता है। यही भक्ति है। भक्ति से 'निज-पर' का भेद मिट जाता है। मनुष्य ने अपने बीच हज़ारों दीवारें खड़ी कर रखी हैं। राष्ट्र, समाज और कुटुम्ब में लड़ाई-झगड़े इसीसे पैदा हुए हैं। इस 'निज-पर' के भेद को मिटाना ईश्वर के ज्ञान का फल है। जो ईश्वर की भक्ति करनेवाला है, वह इसी रास्ते पर अग्रसर होता है। दिन-दिन उसकी आत्म-भावना बढ़ती जाती है। वह सोचता है कि जैसे मेरे शरीर की वासनाएँ हैं, वैसी दूसरों की भी हैं। इसलिए उनको खिलाकर खाऊँ और पिलाकर पीऊँ। मुझमें और मेरे कुटुम्ब में कोई भेद नहीं। इसी तरह देहात-देहात और राष्ट्र-राष्ट्र में कोई

फ़र्क नहीं है। इतना ही नहीं, मनुष्य और पशु में भी वह भेद नहीं करता। इस प्रकार वह अपना-पराया भेद मिटाता जाता है। जो इस तरह रहता है, उसका जीवन आनंदमय बनता है। इस प्रकार ईश्वर-निष्ठ पुरुष का या आत्मज्ञानी का वर्णन करके आठवें मंत्र के अंत में पूर्वार्ध समाप्त होता है।

"आगे के तीन मंत्रों में बुद्धि का कार्य बतलाया है। बुद्धि भगवान् ने हमारे हाथ में एक बड़ा हथियार दिया है। इससे हम अपनी उन्नति कर सकते हैं और अवनति भी। हमें चाहिए कि हम उन्नति करें। दुनिया में जितना भी ज्ञान है उस सारे ज्ञान की हमें आवश्यकता नहीं है। कुछ तो आवश्यक ज्ञान होता है, कुछ अनावश्यक। आवश्यक और अनावश्यक ज्ञान का विवेक करना हमें सीखना चाहिए। जो ज्ञान आवश्यक नहीं, उससे जीवन बरबाद होगा और बुद्धि पर व्यर्थ का बोझ पड़ेगा। और जो आवश्यक है वह अगर हासिल नहीं किया, तो मनुष्य अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं कर सकेगा। इसलिए इन मंत्रों में कहा गया है कि विद्या भी चाहिए और अविद्या भी। जो आवश्यक नहीं है, उसका अज्ञान ही रहने दें। अगर ग़फ़लत से अनावश्यक ज्ञान हो जाय, तो प्रयत्नपूर्वक उसे भूलही जाना चाहिए। साथही, हमें यहभी पहचानना चाहिए कि हम तो ज्ञान और अज्ञान दोनों से भिन्न, केवल साक्षिरूप हैं। इस तरह अभ्यास करने से बुद्धि ईश्वर-परायण रहती है। नहीं तो वह अवनति के लिए कारण हो सकती है।

"आगे के तीन मंत्रों में हृदय-शोधन आया है। जिस तरह बुद्धि की शुद्धि करना आवश्यक है, उसी तरह हृदय की भी। हमें हृदय में देखना चाहिए। हमारे हृदय में दोष और गुण भरे हुए हैं। तब हमें क्या करना चाहिए? हमें गुणों की 'संभूति' करनी चाहिए। उनका विकास करते रहना चाहिए। उन्हें उज्ज्वल बनाना चाहिए, और दोषों की 'असंभूति' करनी चाहिए। अर्थात् नये दोष उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए, और जो हों उनका विनाश करना चाहिए। जो कुछभी हम करते हैं, उसमें हमारी दृष्टि केवल चित्त-शुद्धि की होनी चाहिए। बाह्य दृष्टि से किसी कर्म में हमें खूब सफलता भी मिले, और लोग हमारा जयजयकार करने लगें, फिरभी अगर उस कर्म से हमारे गुण नहीं बढ़े हैं, तो वह कर्म बुरा है। उससे हमने अपनी अवनति ही की है, और दुनिया की भी होने दी है। साथही, हमें यहभी पहचानना चाहिए कि हम तो दोष और गुण दोनों से भिन्न, केवल साक्षिरूप हैं। इस तरह अभ्यास करने से सच्ची हृदय-शुद्धि होगी।

"इसके आगे एक महान् मंत्र आया है। उसमें दर्शन का सार आ जाता है। दर्शन का सार यह है कि दुनिया में सत्य छिपा हुआ है। वह मोह के आवरण से ढका है। जबतक उस मोह के आवरण का हम भेदन नहीं करते हैं,

तबतक सत्य का दर्शन नहीं होता है। वह इसलिए नहीं कि बुद्धि-शक्ति की कमी है। दर्शन तो बुद्धि पर मोह का आवरण होने के कारण ही नहीं होता है। एक मोह कांचन-मोह है। बाहर और अन्दर भी इस मोह के कारण परदे पड़ते हैं। उसके कारण सत्य का दर्शन नहीं होने पाता। और भी तरह-तरह के मोह हैं। उनको 'हिरण्मय पात्र' अर्थात् सोने का ढकना कहा है। अगर सत्य का दर्शन करना है, तो यह सोने का ढकना दूर हटा देना चाहिए।

"अंत के तीन मंत्रों में हमारा विकास-क्रम बतलाया है।

"सोलहवें मंत्र में बताया है कि जिसे ईश्वर कहते हैं, वह इस संसार को प्रेरणा देता है, उसका पालन-पोषण करता है, और नियमन करता है। वह संसार का नित्य निरीक्षण करता है। ऐसी जिसकी शक्ति गाई जाती है, उसके सामने तो मैं एक तुच्छ जीव हूँ। पर उसमें और मुझमें तत्त्व-भेद नहीं है। क्योंकि उसीका मैं अंश हूँ। वही मैं हूँ। मुझपर यह देह एक आवरण है। यह एक सुवर्ण-पात्र है। इसके भीतर मैं छिपा हूँ। इस देह को अगर हम भेद सकते हैं, तो उस 'मैं' का दर्शन होता है। ईश्वर जिस प्रकार पूर्ण है, सुन्दर है, मैं भी उसी प्रकार हूँ—हो सकता हूँ। 'सोऽहम्' मंत्र ने यह आश्वासन हमें दिया है।

"फिर कहा है कि इसकी हमें आमरण साधना करनी है। जितने भी भेद हैं, सब बाहरी हैं, देह के साथ हैं। मुझमें—आत्मा में—कोई भेद नहीं है। बाहरी आवरणों को भेदकर हमें अंतर्यामी के पास पहुँचना है। काला-गोरा, पतला-मोटा, मूढ़-चतुर, नीतिमान्-अनीतिमान्—सभी भेद ऊपरी हैं, देह के साथ हैं। इन्हें हमें भूल जाना है और अन्दर की वस्तु को ग्रहण करना है। ऋषि कहता है कि जो इस तरह आमरण साधना करता है, उसका देह जब गिर जाता है, तो उसकी मिट्टी, मिट्टी में मिल जाती है और आत्मा परमात्मा में मिल जाता है।

"अंतिम मंत्र भगवान् की प्रार्थना है। भगवान् को मार्ग-दर्शक अग्नि के रूप में देखा है। जो अग्नि हममें रहकर हमें जीवित रखता है, जिसके न रहने से शरीर ठण्डा पड़ जाता है वह जो गरमी है, वह उपासना के लिए चैतन्य का एक संकेत है। उससे हम चैतन्य को पहचानते हैं। वह चैतन्य की व्याख्या नहीं है। अग्निस्वरूप चैतन्यदायी भगवान् से प्रार्थना की है कि हे प्रभो! जबतक हममें चेतना है, गरमी है, हमें सीधी राह पर रख। हमें वक्र मार्ग से न लेजा। शायद इस मंत्र का ऋषि बुनकर होगा। बुनते समय अगर हत्थे की ठोंक टेढ़ी लगती है, तो कपड़ा टेढ़ा हो जाता है, बिगड़ता जाता है। इसलिए भगवान् से इस अन्तिम मंत्र में प्रार्थना की है कि हे प्रभो, हमारे जीवन में किसी तरह की वक्रता न आने दे। हमें सीधी राह से ले जा। अगर मुझसे पूछा जाय कि किस गुण को गुणों को राजा बनाओगे, तो मैं किसी एक गुण को स्थायी राजा

बनाने के बजाय निर्वाचन-पद्धति से काम लेना पसन्द करूँगा, और भिन्न-भिन्न गुण एक अवधि के लिए राजा बनेंगे। लेकिन जिन गुणों को मैं राजा बनाऊँ, लगता है, उनमें ऋजुता का स्थान पहला रहेगा। जहाँ ऋजुता है, सरलता है, वहाँ धर्म है, वहाँ जीवन है। जहाँ वक्रता है, वहाँ अधर्म है, मृत्यु है। कातनेवाला जानता है कि तकुआ सीधा चाहिए। उसमें टेढ़ापन ज़रा भी नहीं चलता। तकुआ जिस तरह टेढ़ापन सहन नहीं करता, उसी तरह हमभी अपने जीवन में वक्रता को बिलकुल सहन न करें। काया-वाचा-मन से अंदर-बाहर हम सरल हो जायें। ऐसे सरल जीवन के लिए हमें बल दे, ऐसी इस मंत्र में प्रार्थना की गई है।

"उपनिषद् के आरम्भ में और अन्त में शान्ति-मंत्र बोलते हैं। उसका अर्थ है—सब पूर्ण है, इसलिए सर्वदा शांति रखनी चाहिए। अशांति का कोई कारण ही नहीं। पर हमें तो आभास होता है, जिधर देखो उधर दुःख भरा है, सब अपूर्ण है, और उसे हमें पूरा करना है। लेकिन ऐसा नहीं है। कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है सही, पर उसको जानना चाहिए कि मैं नया कुछ नहीं करता हूँ। घड़ा तो मिट्टी में पहले ही मौजूद था, छुपा था। मैं तो बीच में निमित्तमात्र खड़ा हो गया हूँ। इसी तरह शिक्षक भी सोचेगा। वह विद्यार्थी को ज्ञान नहीं देता है। ज्ञान तो विद्यार्थी के दिमाग़ में भरा ही है। शिक्षक उस ज्ञान को प्रकट करनेभर में मददगार बनता है। इसी तरह माता-पिता भी सोचें। दुनिया पूर्ण है, लेकिन हमें बीच में खेल करने का मौक़ा मिला है। पानी में लहरें उठती हैं। एक लहर उठती है और मिट जाती है। उसके पीछे दूसरी लहर उठती है और वह भी मिट जाती है। किन्तु होता है सब पानी-ही-पानी। वैसेही हमभी हैं। जब हम काम करते हैं और गिर जाते हैं, दूसरे उठते हैं। इस तरह जब हम सोचते हैं, अशांति का कोई कारण ही नहीं रहता। इसलिए अन्त में कहा है—ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः"

केन उपनिषद् में ४ खण्ड हैं, और कुल २४ कण्डिकाएँ।

'केन' अर्थात् 'किससे' इस शब्द से उपनिषद् का प्रारम्भ होता है। पूछा गया है कि पंच प्राणरूपी पाँचों देवताओं का संचालन किस देव से होता है?

उत्तर दिया गया है कि वह देव, यथार्थरूप में, पाँचों प्राणों एवं इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। उनका ज्ञान भी अज्ञान बन जाता है। 'ऐसा नहीं' 'ऐसा नहीं' तब यही ब्रह्म के विषय में कहा जायेगा। मतलब यह कि उसे किसने जाना और कौन उसे कह सका।

'परा विद्या' प्राप्त कर लेनेवाला ही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी हो सकता है, यह आगे बताया गया है।

अन्त में, कहा गया है कि ब्रह्म-ज्ञान के रहस्य का मूल है तप, इन्द्रिय-दमन और कर्त्तव्यकर्म ।

कठ उपनिषद् में दो अध्याय हैं, और प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन वल्लियाँ। प्रसिद्ध नचिकेता की कथा से इस उपनिषद् का आरम्भ होता है, जिसे यम ने ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया था। वह उपदेश 'ज्ञान-अग्नि' है। उसे 'नाचिकेत अग्नि' या यज्ञ कहते हैं। प्रेय मार्ग और श्रेय मार्ग का भेद भी इसी उपनिषद् में बताया गया है। ब्रह्म का निरूपण इसमें काव्यमय शैली में किया गया है।

मुण्डक उपनिषद् में तीन मुण्डक हैं, और प्रत्येक में दो-दो खण्ड ।

इस उपनिषद् ने 'अक्षर ब्रह्म' के स्वरूप का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन किया है। अक्षर ब्रह्म को कहा गया है कि वह शाश्वत है, अमृतरूप है और सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। बताया गया है कि अपरा विद्या की अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान की उसतक पहुँच नहीं। परा विद्या अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभूति के ऊँचे ज्ञान से ही उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। जीवात्मा और परमात्मा ये दो पक्षी संसाररूप वृक्ष के ऊपर बैठे हैं, यह सुन्दर रूपक भी इसी उपनिषद् में आया है।

माण्डूक्य—यह एक छोटी-सी उपनिषद् है। इसे माण्डूक्य नामक ऋषि ने रचा था। गद्यात्मक है यह। आत्मा की जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा चौथी तुरीया अवस्था का इसमें निरूपण किया गया है। इसमें वाच्य और वाचक की एकता दिखाई गई है। ईश्वर ही जगत् का कर्त्ता, पालक और संहारक है, यहभी इसमें बताया गया है।

प्रश्न उपनिषद् में छह प्रश्न आये हैं, जिनको सुकेश, सत्यकाम, सौर्यायणी, कौसल्य, वैदर्भि और कबन्धि इन ब्रह्म-तत्त्व के जिज्ञासुओं ने पिप्पलाद ऋषि से पूछा था। पिप्पलाद द्वारा दिये गये उत्तरों से उन जिज्ञासुओं का समाधान हो गया। वे अविद्या के उस पार, ज्ञान के किनारे पर, पहुँच गये ऐसा उनको अनुभव हुआ।

ऐतरेय भी छोटी ही उपनिषद् है। महीदास ऐतरेय ऋषि की कृति है यह उपनिषद्। इसमें तीन अध्याय हैं। पहले अध्याय में तीन खण्ड, दूसरे में केवल एक खण्ड और तीसरे में भी एक ही खण्ड है। इस उपनिषद् में सृष्टि-रचना का क्रम बताया गया है। यह भी कहा गया है कि देव 'परोक्षप्रिय' होते हैं। यह आत्मा क्या है इसका बड़ा सुन्दर विवेचन इस उपनिषद् में किया गया है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा, ब्रह्म और भृगु नामक तीन वल्लियाँ हैं। पहली वल्ली में १२ अनुवाक् हैं, दूसरी में ९ अनुवाक् हैं, और तीसरी में दस। अनुवाक् का अर्थ है किसी उठाये गये प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर ।

'रस-तत्त्व' को इसी उपनिषद् में ब्रह्म का 'स्वरूप' बताया गया है, जो 'आनन्द' से भी परे है। अन्न की महिमा का बखान भी इसीमें आता है। भृगु को अपने पिता से जो ब्रह्मज्ञान मिला, उसका मूल, इस उपनिषद् के अनुसार, यह था

कि अन्न और उससे निर्मित प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाक् ये प्रत्येक ब्रह्म हैं।

अन्तेवासी को दिया गया सुप्रसिद्ध आचार्य-उपदेश शिक्षावल्ली में आया है। ब्रह्मवल्ली में पंच कोषों का वर्णन किया गया है। ईश्वर-संकल्प से सृष्टि-उत्पत्ति का निरूपण भी इसी उपनिषद् में है।

भृगुवल्ली में ब्रह्म-मीमांसा की गई है, जो अत्यन्त महत्त्व की है। इसीमें अपने पुत्र को वरुण ने ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया है।

श्वेताश्वतर यह प्रसिद्ध उपनिषद् है। इसमें छह अध्याय हैं। पहले अध्याय में ब्रह्म-साक्षात्कार का उपाय और ध्यान बताया गया है। शेष अध्यायों में योगसाधन के स्थान और योग-सिद्धि के चिह्नों का वर्णन आया है। प्रार्थना और उपासना के त्रिविध प्रकार तथा ब्रह्म-महिमा का निरूपण सरस भाषा में किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में परा विद्या अर्थात् ब्रह्म-विद्या की पूरी परम्परा बहुत स्पष्ट देखने में आती है।

छान्दोग्य—यह बड़ी उपनिषद् है। इसमें आठ प्रपाठक अथवा भाग हैं। इस उपनिषद् में जानश्रुति, सत्यकाम, उपकोशल, श्वेतकेतु, अश्वपति आदि की सुन्दर ज्ञानवर्द्धक कथाएँ हैं। गायत्री की उपासना का भी वर्णन इसीमें आया है। बताया गया है कि यह सारा पसारा ब्रह्म ही है, यह पुरुष संकल्पमय है, और पुरुष ही यज्ञस्वरूप है। इसी उपनिषद् में देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण को घोर आंगिरस ऋषि ने उपदेश दिया है, जिसे सुनकर वे भूख-प्यास भी भूल गये थे। विविध अग्नियों का वर्णन भी इसीमें आया है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य का निरूपण इसीमें किया गया है। सनत्कुमार इसीमें नारद को उपदेश देते हैं। 'भूमा' की उपासना का उल्लेख इसी में आया है। सत्य शब्द की निरुक्ति, ब्रह्मचर्य का माहात्म्य और प्रजापति का उपदेश इसके आठवें प्रपाठक में बड़ा सुन्दर मिलता है। इन्द्र और विरोचन की प्रसिद्ध कथा इसी अन्तिम भाग में आई है।

बृहदारण्यक सबसे बड़ी उपनिषद् है। इसमें पाँच अध्याय हैं। द्रप्त बालाकि-कथा के अतिरिक्त इस उपनिषद् में प्रसिद्ध मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य-संवाद, जनक की सभा में याज्ञवल्क्य से गार्गी के प्रश्न, जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद, श्वेतकेतु का पांचालों की सभा में जाना तथा मनुष्यों, देवों और असुरों को प्रजापति द्वारा दिया गया केवल एक अक्षर 'द' का उपदेश, इस उपनिषद् की मुख्य विशेषताएँ हैं।

उपनिषदों की संख्या २०० तथा २२० तक बताई जाती है। एक संख्या १०८ उपनिषदों की भी कही जाती है। परन्तु उनमें से बहुत-सी बाद की रचनाएँ मालूम देती हैं।

उपर्युक्त ११ उपनिषदों पर अनेक भाष्य और टीकाएँ विभिन्न आचार्यों और विद्वानों ने लिखी हैं, और उनके आधार पर अपने-अपने मतों का प्रतिपादन किया है। एक ही उपनिषद् से अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत इन वेदान्त-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

उपनिषदों की कुछ कथाएँ

उपनिषद्-ग्रंथों में आत्मा, परमात्मा और सृष्टि के गहरे तत्त्वज्ञान का निरूपण छोटी-छोटी कथाओं को लेकर किया गया है। नीचे हम ऐसी कुछ कथाएँ दे रहे हैं, जिनके बहाने ब्रह्म-विद्या का विवेचन तथा निरूपण अलग-अलग प्रकार से बड़ी सुन्दर शैली में किया गया है।

नचिकेता

यह कथा **कठोपनिषद्** से ली गई है।

वाजश्रवस् नाम के एक ऋषि थे। उन्होंने एक बड़ा यज्ञ रचा। यज्ञ के अन्त में अपना सर्वस्व उन्होंने दान कर दिया।

दक्षिणा में दी गई गायों को जब वाजश्रवस् के पुत्र नचिकेता ने देखा, तो वह मन में सोचने लगा कि पिताजी यह कैसा दान कर रहे हैं! दान तो प्रिय वस्तु का होता है। ये गायें तो अब स्वयं न तो पानी पी सकती हैं, न भरपेट चारा चर सकती हैं। इनकी एक-एक हड्डी दीखती है। इनके थनों में दूध की एक बूंद भी नहीं रही है। ऐसी शिथिल गायों का दान आनन्द-लोक में कैसे फलित हो सकता है? श्रद्धा और करुणा से नचिकेता का हृदय भर आया।

"पिताजी, और मुझे आप किसे दान में देंगे?" नचिकेता ने पूछा।

वाजश्रवस् ने कोई उत्तर नहीं दिया। दूसरी बार भी वे पूछने पर चुप ही रहे। पर तीसरी बार जब नचिकेता ने हठ किया, तो वे क्रुद्ध हो उठे, और उनका उत्तर था, "तुझे मैं मृत्यु को दूंगा।"

नचिकेता सोचने लगा, 'तुझे डर क्या। तुझसे जो पहले हो चुके हैं, उनको तू देख और जो तुझसे बाद में होंगे उन्हेंभी देख। मर्त्य यह अन्न की तरह उपजता है, पकता है, नष्ट हो जाता है और फिर पैदा हो जाता है।'

अतिथि के रूप में नचिकेता यम के द्वार पर पहुँचता है। आचार्य यम के पुत्र जल आदि से उस अतिथि का आदर करते हैं, और कुशल-क्षेम पूछते हैं।[1]

---

१. प्रो० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार ने नचिकेता का अर्थ न जाननेवाला—जिज्ञासु किया है। मृत्यु को इस संवाद का एक पात्र उन्होंने माना है। वे स्वसम्पादित एकादशोपनिषद् ग्रंथ में लिखते हैं—"वैदिक साहित्य में आचार्य को प्रायः मृत्यु का नाम दिया गया है। ऋग्वेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में कहा है "आचार्यो मृत्युः"। आचार्य के सम्मुख अपनेपन को मिटा देना पड़ता है, इसलिए आचार्य

तीन दिन और तीन रात नचिकेता वहाँ भूखा पड़ा रहा। यम का ध्यान उसकी ओर नहीं गया। तीन दिन बाद आचार्य यम उससे आकर कहते हैं, "मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। तुम मेरी प्रतीक्षा में रहे कि जब मैं आऊँ तभी भोजन करोगे। यह मुझसे पाप हुआ। पाप से बचने के लिए भोजन करने के पहले मैं चाहता हूँ कि तुम मुझसे तीन वर माँगलो।"

पहला वर नचिकेता ने यह माँगा,

"मेरे पिता गौतम का चित्त शान्त हो जाय। वह क्रोध को जीतलें। जब मैं यहाँ से लौटकर जाऊँ, तो वे मुझसे प्रसन्न होकर बोलें।"

यह वर उसे दिया गया।

दूसरा वर उसने यह माँगा, "मैं उस अग्नि का उपदेश लेना चाहता हूँ, जो स्वर्गलोक को प्राप्त करा देती है, जिससे मनुष्य अमर हो जाता है।"

उस रहस्यमयी तीन प्रकार की अग्नि का उपदेश यम ने उसे दिया और उसका नाम 'नाचिकेत अग्नि' रख दिया। अग्नि से आशय उस तप:साधना से था, जिससे ब्रह्म-यज्ञ पूरा होता है और मनुष्य शोक के पार होकर अमर हो जाता है।

तीसरा वर जो नचिकेता ने माँगा वह था आत्म-तत्त्व के सम्यक् ज्ञान का, और यही सबसे उत्कृष्ट था।

यम ने अनेक प्रकार के प्रलोभन नचिकेता को दिये, सभी सांसारिक सुखों और संपदा के, किन्तु वह आत्मज्ञान के बदले में कुछ भी लेने को तैयार नहीं हुआ। सुखों के वे सारे ही साधन उसके आगे तुच्छ थे। बोला—

"यह सब अपने ही पास आप रखिए। मैं तो वही वर माँगता हूँ, जिससे आत्मतत्त्व का पूर्णज्ञान प्राप्त कर सकूँ।"

तब यम ने 'प्रेय' और 'श्रेय' इन दोनों मार्गों का विवेचन करते हुए श्रेय का उसे उपदेश दिया। विद्या और अविद्या का भेद खोला। नित्य और अनित्य का अन्तर बतलाया। ब्रह्माण्ड और पिण्ड का तारतम्य समझाया।

आत्मतत्त्व का रहस्य नचिकेता के आगे प्रकट हो गया। हृदय की गाँठ खुल गई। संशय दूर हो गया। वह उसे मिल गया, जिसके लिए तड़प रहा था। उसने समझ लिया कि, आत्मा न तो जन्म लेता है और न मरता है। वह सनातन है, नित्य है।

मृत्यु है। आचार्य मृत्यु ही नहीं, मृत्यु के साथ जैसे जन्म जुड़ा रहता है, वैसे आचार्य शिष्य के अपनेपन को मारकर उसे दूसरा जन्म देता है। इसलिए वैदिक साहित्य में लिखा है कि आचार्य शिष्य को तीन दिन और तीन रात गर्भ में धारण कर उसे नया जन्म देता है। नचिकेता भी तीन दिन-रात वग़ैर खाये-पिये मृत्यु के यहाँ रहा; ऐसे ही रहा, जैसे ब्रह्मचारी आचार्य के गर्भ में रहता है, अपने पिछले रूप को मारकर नये जन्म की तैयारी में।

मृत्यु ने नचिकेता को 'ब्रह्मयुक्त' बना दिया, मलविहीन कर दिया।

जाबाल सत्यकाम

यह कथा **छान्दोग्य उपनिषद्** से ली गई है।

एक दिन सत्यकाम ने अपनी माता जाबाला से पूछा, "माँ, मैं ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना चाहता हूँ। मुझे बता कि मेरा गोत्र क्या है ?"

"मैं नहीं जानती, बेटा, कि तू किस गोत्र का है। युवावस्था में कितनेही लोगों की मैंने सेवा की थी। उन्हीं दिनों मैंने तुझे पाया। इसलिए बेटा, मैं नहीं जानती कि तेरा गोत्र क्या है। कोई तुझसे पूछे, तो बतला देना कि मेरी मां का नाम जाबाला और मेरा नाम सत्यकाम है। कहना कि मैं जाबाल सत्यकाम हूँ।"

गौतम गोत्र के हरिद्रुमत मुनि के आश्रम में माता से विदा लेकर सत्यकाम पहुँचा, और बोला—"भगवन् ! मैं आपके आश्रम में रहकर ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना चाहता हूँ, इसीलिए मैं आपके समीप आया हूँ।"

"सौम्य ! गोत्र तेरा क्या है ?" मुनि ने पूछा।

"भगवन्, मुझे मालूम नहीं कि मेरा गोत्र क्या है। पूछने पर मेरी माँ ने बतलाया कि युवावस्था में उसने कई लोगों की सेवा की थी, और उन्हीं दिनों मेरा जन्म हुआ, सो उसेभी पता नहीं कि मेरा क्या गोत्र है। माता ने बतलाया कि उसका नाम जाबाला है और मेरा नाम सत्यकाम। मैं अपना गोत्र तो नहीं जानता हूँ, बस, मैं जाबाल सत्यकाम हूँ।"

हरिद्रुमत मुनि ने कहा, "तू निस्संदेह ब्राह्मण है। ब्राह्मण ही ऐसी स्पष्ट बात कह सकता है। तू सत्य से विचलित नहीं हुआ। आ, मैं तुझे उपनयन की दीक्षा देता हूँ। मेरे आश्रम में रहकर तू ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर।"

यह यक्ष कौन है ?

यह कथा **केनोपनिषद्** से ली गई है।

कथा है कि एक बार देवताओं और दानवों में घोर युद्ध छिड़ गया। अन्त में जीत देवताओं की हुई। अग्नि, वायु और इन्द्र अपने आपको दूसरे देवताओं से अधिक पराक्रमी और शक्तिशाली मानने लगे। उनको गर्व हो गया कि इस जीत के कारण वे ही हैं। सर्वसमर्थ ब्रह्म ने उनके इस गर्व को ताड़ लिया, और उसने अपनी शक्ति को देवताओं के अन्दर से खींच लिया। उनके सामने अब ब्रह्म एक यक्ष के रूप में खड़ा था।

देवताओं की समझ में न आया कि यह यक्ष कौन है।

"अग्निदेव ! आप जाकर पता लगाइए कि यह कौन है ?"

अग्नि दौड़कर यक्ष के सामने पहुँचा। यक्ष के पूछने पर उसने अपना परि-

चय दिया कि मैं अग्नि हू।

"तेरी क्या शक्ति है ? तू क्या कर सकता है ?" यक्ष ने पूछा।

"पृथिवी पर जो कुछ भी है उसे जलाकर मैं भस्म कर सकता हूँ।"

अग्नि के सामने यक्ष ने एक तृण रख दिया। "अच्छा, तो जला इसे।"

अग्नि ने अपनी सारी शक्ति लगादी उसे जलाने में, पर उसे वह जला नहीं सका और वहाँ से अपना-सा मुँह लिये लौट आया। यक्ष का पता लगाना उसके लिए सम्भव न हुआ।

"वायुदेव ! आप पता लगाकर आइए कि यह यक्ष कौन है," देवताओं ने वायु से कहा।

वायु वहाँ पहुँचा।

"तू कौन है ?" यक्ष ने पूछा।

"मैं वायु हूँ।"

"क्या शक्ति है तुझमें ?"

"मैं चाहे जिस वस्तु को उड़ा ले जा सकता हूँ—बड़े-बड़े पहाड़ों को भी।"

"अच्छा, तो इस तिनके को तनिक उड़ा तो।"

वायु ने अपना सारा वल लगा दिया। पर वह तिनका टस-से-मस न हुआ। वह भी निराश लौट आया विना ही यह जाने कि वह यक्ष कौन है।

अव इन्द्र की वारी थी। देवताओं ने उसे भेजा इस विश्वास से कि इन्द्रदेव अवश्य ही यक्ष का पता लगा लेंगे।

इन्द्र वहाँ पहुँचा, तो यक्ष अन्तर्धान हो गया। न जाने कहाँ जा छिपा।

इन्द्र अन्तरिक्ष में यक्ष को खोजने लगा, पर वह वहाँ कहाँ था ! खोज में उसे एक स्त्री दिखाई दी परमसुन्दरी और ऐसी शुभ्र जैसे हिमलता हो। उसने नाम वतलाया 'उमा'। उमा अर्थात् वुद्धि।

इन्द्र ने उससे पूछा, "कौन था यह यक्ष ?"

यक्ष यह ब्रह्म था। तुम देवगणों की शक्ति असल में ब्रह्म की ही शक्ति है, तुम्हारी अपनी नहीं।

देवताओं की आँखें खुल गईं। गर्व उनका चूर-चूर हो गया। वुद्धि ने उनको सुझा दिया कि सारा वल और सामर्थ्य तो वास्तव में ब्रह्म का ही है।

अग्नि, वायु और इन्द्र निःसंदेह ये तीनों देव-शक्तियाँ हैं, पर इनको भी शक्ति प्रदान करनेवाला तो ब्रह्म ही है। यही इस कथा का निष्कर्ष है।

'किमहं तेन कुर्याम् ?'

यह कथा वृहदारण्यक उपनिषद् से ली गई है।

ऋषि याज्ञवल्क्य का मन आज गृहस्थी से ऊव गया है। अव वे गृहस्थ-

आश्रम में पड़े नहीं रहना चाहते।

ऋषि की दो पत्नियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी।

मैत्रेयी से वे कहते हैं, "आ, आज तेरा कात्यायनी के साथ निवटारा करा देता हूँ। मेरे पास इस आश्रम में जो कुछ भी है, उसके दो भाग कर देता हूँ, एक भाग यह तेरा, और दूसरा यह भाग कात्यायनी का।"

"यदि धन-सम्पदा से परिपूर्ण यह सारी पृथिवी मेरी हो जाये, तो क्या उससे मैं अमर हो जाऊँगी? 'कथं तेन अमृता स्याम्'?" मैत्रेयी ने पूछा।

"पृथिवी की सम्पूर्ण धन-सम्पदा से तू अमर नहीं हो सकती। उससे वह परम-पद मिलनेवाला नहीं", याज्ञवल्क्य का स्पष्ट उत्तर था।

"तव उसे लेकर मैं क्या करूँ, जिससे मैं अमर नहीं हो सकती?" 'येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्'। अमर होने का जो उपाय आप जानते हों, वही कृपाकर मुझे बताइए, वही मेरा सच्चा भाग होगा।" मैत्रेयी ने निश्चयपूर्वक याज्ञ-वल्क्य से निवेदन किया।

वह अमृतभाग मैत्रेयी को मिला। उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश याज्ञवल्क्य ने दिया। आत्मा का गूढ़ रहस्य खोलकर उसके सामने रख दिया। समझाते हुए कहा, किसीको कोई पति, पत्नी, माता, पिता, भ्राता और मित्र—उसके लिए प्रिय नहीं होता, किन्तु अपनी आत्मा के लिए, अपने आपके नाते से प्रिय होता है। तव उस प्रिय आत्मा को ही देखना चाहिए, उसीको सुनना चाहिए और उसीका मनन और ध्यान करना चाहिए, तभी आत्मा और अनात्मा के बीच की संशय की गाँठ खुल सकती है।

ऐसेही अनेक उदाहरण देकर याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मतत्त्व का दर्शन करा दिया और ब्रह्मविद्या का पार उसने पा लिया।

ब्रह्मज्ञानी रैक्व

यह कथा **छान्दोग्य** उपनिषद् से ली गई है।

यह वात नहीं कि किसी आश्रम में रहनेवाला या किसी अन्धेरी गुफा में ध्यान लगानेवाला ही आत्मा के रहस्य को जान सकता है, और ब्रह्मविद्या में पारंगत हो सकता है। आत्मतत्त्व का सच्चा ज्ञान ऐसे लोगों ने भी प्राप्त किया, और दूसरों को दिया था, जो या तो खेतों में हल चलाते थे, या बैलगाड़ी हाँका करते थे।

एक ऋषि था। उसका नाम रैक्व था। वह बैलगाड़ी हाँका करता था। जानश्रुति नामक एक राजा ने इसी गाड़ीवान ऋषि के चरणों में बैठकर ब्रह्म-विद्या सीखी थी।

एक रात को कुछ महात्मा राजा की अतिथिशाला में ठहरे हुए वात कर रहे थे। एक ने दूसरे से कहा, "जानश्रुति राजा महान् धर्मात्मा है। उसकी कीर्ति

सारे जगत् में और दूसरे लोकों में भी फैली हुई है। उसके साथ वाद-विवाद न करना। कहीं वह तुझे भस्म न कर डाले अपने धर्मतेज से।"

"वाह ! तुमने इस मामूली-से राजा को इतना ऊँचा चढ़ा दिया, जैसे वह ब्रह्मज्ञान-पारंगत रैक्व ऋषि हो।"

राजा ने किसी तरह उन दोनों महात्माओं की यह बात सुनली। सुबह उठते ही उसने अपने सारथी से कहा, "जाओ, पता तो लगाओ कि यह रैक्व ऋषि कौन है और कहाँ रहता है।"

सारथी ने कितने ही ऋषियों के आश्रम खोज डाले, पर उसे कहीं भी रैक्व ऋषि का पता न चला।

राजा ने उसे फिर भेजा यह कहकर कि साधारण झोंपड़ों में रैक्व ऋषि को जाकर तुम ढूँढ़ो।

सारथी देखता है कि, एक बूढ़ा गाड़ीवान गाड़ी के पास बैठा दाद खुजला रहा है। पूछने पर उसने बतलाया, "हाँ, मैं ही रैक्व हूँ।"

राजा जानश्रुति वहाँ छह सौ गउएँ और रत्नों की माला लेकर रैक्व के पास पहुँचा। उसने राजा की वह सारी भेंट लेने से इनकार कर दिया। ब्रह्मविद्या कहीं बेचने और खरीदने की वस्तु हुआ करती है ?

किन्तु राजा को, आत्मतत्त्व का अधिकारी जानकर, रैक्व ऋषि ने ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। पिण्ड और ब्रह्माण्ड का भेद उसके सामने खोलकर रख दिया। रैक्व ने जो विद्या राजा को सिखाई, उसका नाम 'संवर्ग विद्या' है। उसका आशय यह है कि मनुष्य को भोक्ता बनकर रहना चाहिए, भोग्य बनकर नहीं। ब्रह्माण्ड को अपने भीतर वह समेटले, न कि दूसरों में स्वयं सिमट जाय। दुनिया में आकर वह ऐसा पांसा फेंकदे, कि सारे पांसे उसीमें आजायें, और वह सबको मात देदे।

अश्वपति का ब्रह्मोपदेश

यह कथा **छान्दोग्य** उपनिषद् से ली गई है।

कैकय देश का एक राजा था। उसका नाम था अश्वपति। वह बड़ा सदाचारी, प्रजावत्सल और उच्चकोटि का ब्रह्मज्ञानी था। उसने 'वैश्वानर' आत्मा की सफलतापूर्वक खोज की थी। आत्म-दर्शन स्वयं किया था, और बड़े-बड़े वेदज्ञ पंडितों को भी आत्मतत्त्व की दीक्षा दी थी।

प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल ये पाँच महापंडित एकसाथ बैठकर विचार करने लगे कि, आत्मा क्या है, ब्रह्म क्या है ?

यह सुनकर कि उद्दालक ऋषि वैश्वानर आत्मा की शोध में आजकल लगा हुआ है, वे पाँचों आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके पास पहुँचे।

परन्तु उद्दालक उनकी शंका का समाधान न कर सका। उसने अपने आपको

कच्चा पाया। उसने सुन रखा था कि केकय देश का राजा अश्वपति ही उनको समाधान दे सकता है, अतः वे पाँचों पंडित और उद्दालक आत्मतत्त्व की खोज में केकय देश पहुँचे।

राजा अश्वपति ने उनका यथोचित आतिथ्य किया। राजा ने उनसे कहा कि, "मेरे राज्य में न तो कोई चोर है, न कोई कृपण, और न कोई मद्य पीनेवाला। सभी नित्य हवन करते हैं। मेरे यहाँ कोई अविद्वान् नहीं मिलेगा। प्रजाजनों में कोई व्यभिचारी नहीं है। फिर व्यभिचारिणी तो कोई हो ही कैसे सकती है?"

उन पंडितों और उद्दालक को यह सुनकर आश्चर्य हुआ और हर्ष भी कि वे निस्संदेह एक ऐसे राजर्षि के पास पहुँचे हैं, जो उनको आत्मतत्त्व का सच्चा और पूरा ज्ञान करा सकता है।

अश्वपति ने एक-एक पंडित से अलग-अलग पूछा, कि वे किसको आत्मा मानकर उसकी उपासना करते हैं।

उन्होंने जो उत्तर दिये, उससे मालूम हुआ कि प्राचीनशाल द्युलोक की उपासना करता था। नक्षत्रों और तारों से प्रकाशमान आकाश को वह आत्मा मानता था।

सत्ययज्ञ ने आदित्य अर्थात् सूर्य को आत्मा मान लिया था, और वह उसी का उपासक था।

इन्द्रद्युम्न ने वायु को आत्मा बतलाया, और उसने उसीकी उपासना की थी।

जन पंडित ने अन्तरिक्ष को आत्मा मान लिया था, और उसीकी उपासना में वह संलग्न था।

बुडिल आत्मा मानता था जल को।

और, उद्दालक ने पृथिवी को आत्मा मान लिया था। वह केवल पृथिवी का उपासक था।

अश्वपति ने उनसे कहा कि वे अलग-अलग एक-एक अंश को आत्मा मान रहे हैं, सम्पूर्ण को नहीं, इसलिए उनकी साधना भी अधूरी है। उसने बताया कि द्युलोक, आदित्य, वायु, आकाश, अन्तरिक्ष, जल तथा पृथिवी को आत्मा मानकर वे धन-धान्य, रथ, बड़े-बड़े भवन और दूसरी सांसारिक समृद्धि पाकर उनको भोग सकते हैं। परन्तु उस परमलाभ को वे इनकी उपासना से नहीं पा सकते, जिसे पाकर फिर कुछ पाने के लिए शेष नहीं रहता। अलग-अलग एक-एक तत्त्व और देवता की उपासना वे भले ही करें, किन्तु उनका संशय तबतक दूर होने का नहीं, जबतक उन्होंने वैश्वानर को, विश्वमानुष को अर्थात् समष्टिरूप आत्मा को नहीं जाना, नहीं पहचाना, उसका साक्षात्कार नहीं किया, और उसकी उपासना नहीं की।

अश्वपति के उपदेश का सारांश यह है कि हमारा पिण्ड यह नर है, और वैश्वानर है ब्रह्माण्ड। व्यष्टि का समष्टि में लय हो जाना, पिण्ड का ब्रह्माण्ड में

तदाकार हो जाना ही वैश्वानर की सच्ची उपासना है। नर की आत्मा को ही देखकर हमें वहाँ नहीं रुक जाना चाहिए। पूरी तृप्ति तो हमारी तभी होगी, जब विश्व-मात्र में व्याप्त नर की, वैश्वानर की खोज हम करेंगे और उसीके लिए यज्ञ करेंगे और परितृप्त भी उसेही। मतलब यह कि आत्मा के अपूर्ण रूप की उपासना न कर हम उसके पूर्ण रूप की उपासना करें। सम्पूर्ण जगत् को तृप्त करने के लिए हम तृप्तकर्म करें।

उन पाँचों महापंडितों और उद्दालक की जिज्ञासा का पूरा समाधान हो गया। वे वैश्वानर के उपासक हो गये।

'सत्' का रहस्य

यह कथा **छान्दोग्य** उपनिषद् से ली गई है।

पुराकाल में आरुणी नाम का एक ब्रह्मविद्या-विशारद पंडित था। उसके पुत्र का नाम श्वेतकेतु था।

एक दिन आरुणी ने श्वेतकेतु से कहा, "बेटा, किसी आश्रम में जाकर तुम ब्रह्मचर्य की साधना करो और वेदों का वहाँ पर गहरा अध्ययन करो। हमारे कुल की परम्परा यही रही है। कोई भी हमारे वंश में केवल 'ब्रह्मवन्धु' होकर नहीं रहा। ब्रह्मबन्धु, याने ब्राह्मणों का केवल सम्बन्धी, स्वयं वेदों को न जाननेवाला।

कुमार श्वेतकेतु एक आचार्य की सेवा में चला गया। १२ वर्षतक वह वहाँ रहा। वेद-पारंगत होकर लौटा। अपनी वेद-विद्या का उसे बड़ा गर्व हो गया।

पिता आरुणी ने एक दिन उसे बुलाकर पूछा, "बेटा, तेरे गुरु ने क्या वह आदेश, वह रहस्य भी बतलाया कि जिससे सारा अविज्ञात विज्ञात हो जाता है?"

श्वेतकेतु वह नहीं जानता था। स्तब्ध रह गया। नम्रतापूर्वक पिता से पूछा, "ऐसा वह आदेश क्या है? मेरे आचार्य ने तो उसे नहीं बतलाया।"

तब, आरुणी उस रहस्य पर प्रवचन करने लगा :

"प्रारम्भ में केवल 'सत्' था, केवल एक, अद्वितीय।

सत् से ही सब-कुछ बना है। वह कारण है और यह सब कुछ, सारा जगत् समस्त ब्रह्माण्ड उसका कार्य है। बिना किसी कारण के कार्य कोई हो ही नहीं सकता।

सत् से ही सब-कुछ बना है। उसमें से सब कुछ निकला है, और उसीमें सब लय हो जाता है।

श्वेतकेतु को उदाहरण दे-देकर आरुणी ने बतलाया :—

कुछ नदियाँ पूर्व की ओर बहती हैं, और कुछ पश्चिम की ओर। किन्तु वे नदियाँ बनीं कैसे? समुद्र से जो भाप उठी थी, उसीसे वर्षा हुई, और वे नदियाँ बन गई। वह पानी बह-बहकर समुद्र में पहुँचा। समुद्र में पहुँचकर उन नदियों का पानी

क्या यह जानता है कि 'मैं अमुक नदी का पानी हूँ ?

सत् से जो उपजा वह नहीं जानता कि उसकी उत्पत्ति सत् से हुई है।

यह बड़ा सूक्ष्म तत्त्व है। अणु के अन्दर जो तत्त्व छिपा हुआ है, उस अव्यक्त को कौन जानता है ? परन्तु वह है।

सत् से कौन इनकार कर सकता है? सत्यकेतु ! तू वही सत् है, तू वही है।

"मेरी बात को यदि तू ठीक तरह से न समझा हो, तो जा, वटवृक्ष का एक फल उठा ला।"

श्वेतकेतु फल उठा लाया। पिता के कहने से उसने उसे तोड़ दिया। उसके अन्दर बहुत सारे छोटे-छोटे दाने उसने देखे। फिर एक दाने को भी तोड़ा।

"क्या देखता है, श्वेतकेतु, इस तोड़े हुए दाने के अन्दर ?"

"कुछभी तो नहीं दीख रहा इसके अन्दर, पिताजी !"

"इसके अन्दर से ही तो वत्स, यह इतना विशाल वटवृक्ष खड़ा हो जाता है। हाँ, जिसके अन्दर 'कुछ भी नहीं' दीखता है, उसीमें से तो। इस 'कुछ नहीं' में ही 'सब कुछ' समाया हुआ है। पर वह दीख नहीं रहा। अत्यन्त सूक्ष्म है वह। स्थूल उसे पकड़ नहीं सकता।"

"श्वेतकेतु! एक कटोरी में आज रात को पानी भर देना, और उसमें नमक की एक डली डाल देना।"

दूसरे दिन प्रातः आरुणी ने पूछा, "देख, नमक की वह डली कटोरी में कहाँ पड़ी हुई है ?"

"वह तो मुझे कहीं नहीं मिल रही है।"

"कटोरी के नीचे एक चम्मच पानी अपने मुँह में डालकर तू मुझे बता कि वह कैसा है ?"

"खारा।"

"बीच में का पानी लेकर चख कि वह कैसा है ?"

"खारा ही।"

"और अब, ऊपर का पानी मुँह में लेकर बता कि उसका स्वाद कैसा है ?"

"वह भी खारा ही।"

"पिताजी ! मैं समझ गया नमक की वह डली कटोरी के सारे ही पानी में, नीचे के, बीच के और ऊपर के पानी में मिलकर एकाकार हो गई है। यह उसके स्वाद से मालूम हुआ, पर वह दीख नहीं रही है।"

आरुणी जो समझाना चाहता था उसे श्वेतकेतु समझ गया।

नमक की डली नष्ट नहीं हुई थी। वह जैसी थी, अबभी वैसी ही थी।

इसी प्रकार सत्, जिससे यह सब कुछ बना है, देखने में नहीं आ रहा है; पर यह कौन कहेगा कि "वह है ही नहीं ?"

"श्वेतकेतु ! मुझे आनन्द हुआ कि तूने उस आदेश को, सत् के उस रहस्य को समझ लिया, और प्रत्यक्ष देख भी लिया।"

केवल एक अक्षर का उपदेश

यह कथा बृहदारण्यक से ली गई है।

देवों, मनुष्यों और असुरों, इन तीनों ने अपने पिता प्रजापति के सान्निध्य में रहकर ब्रह्मचर्य की अखण्ड साधना की।

उसके अनन्तर, देवों ने प्रजापति से कहा—"अब आप हमें कोई उपदेश दीजिए।"

प्रजापति ने उपदेश के रूप में उनको एकही अक्षर दिया—केवल 'द'।

"क्या तुम इसका आशय समझ गये हो ?" प्रजापति नें पूछा।

"समझ गये, आप कह रहे हैं कि तुम लोग दमन करो।"

"आशय मेरे उपदेश का तुमने यह ठीक समझा।"

मनुष्यों ने भी प्रजापति से उपदेश चाहा।

उनको भी वही एक अक्षर दिया गया—केवल 'द'।

उनसे भी पूछा कि क्या वे इसका आशय जान गये हैं।

"हमने जान लिया है—'दिया करो' आपके उपदेश का यही अर्थ हमने समझा है।"

"ठीक है, तुमने मेरा आशय समझ लिया है।"

अब असुर उनके बाद पहुँचे—"हमभी उपदेश चाहते हैं।"

प्रजापति ने असुरों को भी वही 'द' अक्षर दिया, और पूछा, "तुम लोग इसका अर्थ समझ गये हो न ?"

"भगवन् ! आपका भाव हमने समझ लिया, यही कि 'दया' किया करो।"

"ठीक, तुमने मेरा भाव जान लिया।"

यही दैवी वाणी थी गर्जनेवाली—'द' 'द' 'द' की। आशय यह कि दमन करो, दो और दया करो।

देवत्व का कहीं असीम अहंकार न बढ़ जाय, इसलिए देवों के हित में दमन आवश्यक था।

मनुष्यत्व तभी सार्थक है, जबकि निरन्तर दिया जाय, नहीं तो उसका विकास रुक जा सकता है।

और, असुरों को यदि ऊँची भूमिका पर उठना है, तो दया के सिवाय उनके लिए दूसरा मार्ग ही नहीं।

यह प्रजापति कौन था ? ऋषि ने गाया कि वह 'हृदय' था। वह सिखाता है—इन्द्रिय-दमन, सर्वस्व-दान और दया और करुणा।

उपनिषदों की कुछ सूक्तियाँ

ईशोपनिषद्

ईशावास्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।१।।

जगत् में जो कुछभी गतिवाला है, वह सब ईश्वर से बसा हुआ है ।
इसलिए तुम त्यागपूर्वक उपभोग करो,
किसी दूसरे के धन की लालसा न करो ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।२।।

मनुष्य (निष्काम) कर्म करते हुए संसार में सौ वर्षतक जीने की इच्छा करे ।
इस प्रकार वह कर्म में लिप्त नहीं होता है ।
इसके सिवाय दूसरा कोई रास्ता नहीं ।

यस्मिन्सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।७।।

जब कोई जान लेता है कि जीवमात्र असल में सर्वव्यापी परमेश्वर ही हैं,
तब वह सबमें एकता का ही अनुभव करता है ।
उस अवस्था में क्या तो मोह, और क्या शोक ?

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।।९।।

जो अविद्या अर्थात् केवल भौतिकज्ञान की उपासना करते हैं वे घने अन्धकार में जा पहुँचते हैं,
और, जो विद्या अर्थात् अध्यात्म-ज्ञान में ही डूबे रहते हैं (भौतिक जगत् की कुछभी परवाह नहीं करते) वे उससे भी अधिक घने अन्धकार में जा पहुँचते हैं ।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।११।।

विद्या और अविद्या इन दोनों को जो एकसाथ जान लेते हैं,
वे अविद्या अर्थात् भौतिकता से मृत्यु को पार कर जाते हैं, और विद्या अर्थात् आत्मज्ञान से अमृत का रसास्वादन करते हैं ।

कठोपनिषद्

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते
उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु
भवति हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते ।।(२)--१
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ
संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।।(२)-२

श्रेय का मार्ग भिन्न है, और प्रेय का मार्ग भिन्न है ।
भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से ये मनुष्य को बाँधते हैं ।
श्रेय को ग्रहण करनेवाले का कल्याण होता है ।
और, जो प्रेय को ग्रहण करता है, वह अपने लक्ष्य से दूर चला जाता है ।
श्रेय और प्रेय ये दोनों ही भावनाएँ मनुष्य के सामने आती हैं,
धीर पुरुष इन दोनों की छानवीन करता है;
प्रेय की अपेक्षा वह श्रेय को ही पसन्द करता है;
जो मन्द बुद्धिवाला होता है वह सुख-चैन में मगन रहने के लिए प्रेय का वरण करता है ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न वहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।। (२)-२३

आत्म-दर्शन बड़े-बड़े व्याख्यानों से नहीं होता है,
तर्क-वितर्क से भी नहीं,
और वहुत-कुछ पढ़ने और सुनने से भी नहीं होता ।
आत्मा जिसे वरण कर लेती है, वही इसे पा सकता है,
अपने स्वरूप को उसके सामने आत्मा स्वयंही खोलकर रख देती है ।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।(३)–३
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेपु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।(३)–४
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ।।(३)–५

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥(३)–९

आत्मा यह रथ का स्वामी है, और शरीर ही रथ है,
और बुद्धि है सारथी, और लगाम है यह मन,
इन्द्रियाँ घोड़ों की तरह उसमें जुती हुई हैं, और इन्द्रियों के विषय हैं मार्ग,
ज्ञानी जनों का कहना है कि जब आत्मा और इन्द्रियाँ और मन ये मिलकर काम करते हैं, तब मनुष्य भोक्ता कहा जाता है ।
जो विज्ञान से रहित है उसका मन आत्मा से सदा अलग रहेगा ।
वश में उसकी इन्द्रियाँ भी नहीं रहतीं,
वैसे ही, जैसे दुष्ट घोड़े सारथी के क़ाबू में नहीं रहते ।
किन्तु जिसका सारथी विज्ञान है, जो मन की लगाम को अपने हाथ में रखता है,
वह संसाररूपी मार्ग का पार पा लेता है,
और विष्णु के परमधाम को अर्थात् परमात्मा तक वह पहुँच जाता है ।

नाविरतो दुश्चरितान्
नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि
प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥१।२।२४ ॥

जिसने अपने आपको बुरे आचरणों से नहीं हटाया, जो अशान्त है, चित्त जिसका चंचल है,
वह प्रज्ञान द्वारा, केवल बुद्धि के सहारे, आत्म-तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता ।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१।३।१४॥

उठ जाओ, जाग जाओ,
श्रेष्ठपुरुषों के पास पहुँचकर आत्मज्ञान को प्राप्त करो
बुद्धिमान पुरुषों ने उस आत्मज्ञान के मार्ग को वैसा ही दुर्गम बतलाया है,
जैसे छुरे की तेज़ धार होती है,
जिसे छुआ नहीं जा सकता ।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥
मनसैवेदमवाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

जो कुछ यहाँ है, वही वहाँ है,
और जो वहाँ है, वही इस लोक में स्थित है।
वह मृत्यु से मृत्यु में भटकता रहता है, जो इस विश्व में केवल भिन्नता ही देखता है।
मन से ही यह ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए कि नानात्व कुछभी नहीं है।
जो नानात्व देखता है,
वह मृत्यु से मृत्यु में भटकता रहता है।

> यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
> एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति ॥१४॥
> यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
> एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥१५॥

पर्वत के शिखर पर बरसनेवाला जल पर्वतों की ही चारों दिशाओं में, अनेक धाराओं में विभाजित होकर, बहता है,
इसी तरह अज्ञानी मनुष्य विभिन्न कर्मों को अनेक रूपों में देखता है, और उन्हींके पीछे दौड़ता रहता है।
जैसे शुद्ध जल में डाला हुआ जल उसके साथ मिलकर वैसाही हो जाता है;
यही बात ज्ञानी मुनि की आत्मा पर घटित होती है।
वह नाना रूपों में एकही रूप का दर्शन करता है।

केनोपनिषद्

> यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि
> नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं।
> यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु
> मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥(२)–१
> यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य ने वेद सः
> अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥(२)–३

यदि तू मानता है कि ब्रह्म के स्वरूप को तूने जान लिया है,
तो उसके स्वरूप को बहुत अल्प ही जानता है
उसके जिस स्वरूप को तू जानता है, और देवताओं में उसका जो रूप प्रकट है, वह विवादास्पद है, स्पष्ट नहीं है,
जो मानता है कि ब्रह्म के स्वरूप को वह नहीं जान सका,
उसे उसने जान लिया है;
जिसने समझ लिया कि वह ब्रह्म को जान गया है, उसने उसे नहीं जाना।

अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप के विषय में इतना ही जाना जा सकता है कि उसे जाना ही नहीं जा सकता ।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।(२)–५

वास्तविक तत्त्व को यदि इसी जन्म में तुमने जान लिया, तब तो परमलाभ है,
पर इसी जन्म में उसे नहीं जाना, तो बहुत बड़ी हानि है ।

मुण्डकोपनिषद्

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ।।३।१।५।।

सत्य से, तप से, सम्यक् ज्ञान से और ब्रह्मचर्य से ही इस आत्मा को पाया जा सकता है ।
दोषहीन यति अर्थात् संयमी लोग जिसे देखते हैं वह ज्योतिर्मय निर्मल आत्मा इसी शरीर के भीतर विद्यमान है,
मतलब यह कि हम अपने अन्दर, अपने विशुद्ध स्वरूप को अथवा परमेश्वर को देख सकते हैं ।

सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।।३।१।६।।

जय सत्य की होती है, असत्य की नहीं;
देव तक ले जानेवाला मार्ग सत्य से निर्माण हुआ है,
वह पंथ देवयान है ।
आप्तकाम (जिनकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो गई हैं)
ऋषिगण जिस मार्ग से चलकर जहाँ पहुँचते हैं
वह परमधाम सत्य का ही है ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति ।।३।१।१।।
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ।।३।१।२।।

सुन्दर पंखोंवाले, सदा एकसाथ रहनेवाले एक दूसरे के सखा दो पक्षी हैं,

एकही वृक्ष को वे दोनों भेंट रहे हैं,
एक तो उनमें से पिप्पल के स्वादिष्ट फल को खा रहा है और दूसरा उसे न खाते हुए केवल देख रहा है।
वे दो पक्षी हैं जीवात्मा और परमात्मा।
प्रकृति अथवा शरीर वह वृक्ष है,
जीवात्मा तो कर्मफल को भोगता है, तहाँ परमात्मा केवल साक्षीरूप रहता है।
एक तो उस वृक्ष पर कर्मफल भोगने में मस्त हो जाता है, भोगते-भोगते अशक्त हो जाता है,
और मोह में डूबकर शोक करने लगता है,
किन्तु उसी वृक्ष पर जब दूसरे को अथवा परमात्मा को वह देखता है, कि उसकी आराधना हो रही है,
तो उसकी महिमा की ओर देखकर उसका शोक चला जाता है।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपेविहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥३-२-८॥

जैसे बहती हुई नदियाँ समुद्र में पहुँचकर
अपने नाम और रूप को त्यागकर उसमें लीन हो जाती हैं,
इसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य विमुक्त दशा में अपना नाम-रूप छोड़ देता है;
तब वह परे-से-परे दिव्य पुरुष को पा जाता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥२-८॥

इस पर और अपर अर्थात् वाच्य और वाचक का ज्ञान हो जाने पर,
हृदय की गाँठ खुल जाती है, संशय सारे नष्ट हो जाते हैं,
और कर्मों का क्षय हो जाता है।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनंदंति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापियान्ति ॥१-२-७॥

अठारह प्रकार के ये यज्ञ, असल में, छोटी-छोटी कमज़ोर नावों के समान हैं;
इन यज्ञों को जो श्रेयस्कर मानते हैं, और उनका अभिनन्दन करते हैं,
वे मूढ़ हैं, वे बार-बार बुढ़ापे और मृत्यु को पाते हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद्

आचार्य का दीक्षान्त-उपदेश

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥१॥

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि।

ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्।

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भियाऽदेयम्। संविदा देयम् ॥३॥

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्म्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्त्तेरन्। तथा तत्र वर्त्तेथाः ॥४॥

एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपषित्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम् ॥६॥

[वेद विद्या पढ़ा देने के पश्चात् आचार्य शिष्य को उपदेश करता है, दीक्षान्त-भाषण देता हुआ कहता है]—

तुम सत्य बोलना। धर्माचरण करना। स्वाध्याय से प्रमाद न करना।

आचार्य को जो प्रिय हो उसे दक्षिणारूप में देकर गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करना, और संतति के सूत्र को न तोड़ना।

सत्य बोलने में प्रमाद न करना। धर्म-पालन में प्रमाद न करना। जिससे तुम्हारा कल्याण होता हो उसमें प्रमाद न करना। अपना वैभव बढ़ाने में प्रमाद न करना।

स्वाध्याय और प्रवचन द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाते रहना। देवों और पितरों के प्रति तुम्हारा जो कर्त्तव्य है उसे सदा ध्यान में रखना ॥१॥

माता को, पिता को, आचार्य को और अतिथि को देवस्वरूप मानना, उनके प्रति पूज्यबुद्धि रखना।

हमारे जो कर्म अनिन्दित हैं उन्हींका स्मरण करना, दूसरों का नहीं।

जो हमारे सदाचार हैं उन्हींकी उपासना करना, दूसरों की नहीं ॥२॥

हमसे श्रेष्ठ विद्वान् जहाँ बैठे हों उनके प्रवचन को ध्यान से सुनना, उनका यथेष्ट आदर करना।

दूसरों की जो भी सहायता करो वह श्रद्धापूर्वक करना, किसीको कोई वस्तु अश्रद्धा से न देना। प्रसन्नता के साथ देना, नम्रतापूर्वक देना, न कि भय से, और प्रेमपूर्वक देना।

ऐसा करते हुए भी यदि तुम्हें कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में संशय पैदा हो जाय, यह समझ में न आये कि धर्माचार क्या है तो जो विचारवान तपस्वी, कर्त्तव्यपरायण शान्त और सरस स्वभाववाले विद्वान हों उनके पास जाकर अपना समाधान कर लेना और जैसा वे वर्ताव करते हों वैसा बर्ताव करना ॥

यही आदेश है। यही आदेश है। यही वेद और उपनिषद् का सार है। यही हमारी शिक्षा है। इसके अनुसार ही अपने जीवन में आचरण करना।

अन्नं न निन्द्यात। तद्व्रतम्।
अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्।
अन्नं बहु कुर्वीत ।तद्व्रतम्।
न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्।

अन्न की निन्दा नहीं करनी चाहिए,
अन्न को छोड़ना नहीं चाहिए,
अन्न को बहुत बढ़ाना चाहिए,
किसीभी अतिथि को घर से लौटाना नहीं चाहिए,
यही व्रत है, इसे जानकर धारण करना चाहिए।

छान्दोग्य

यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति।
भूमैव सुखं। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यम् ७।२३।१

जो महान् है, असीम है, वही सुख है।
अल्प में, परिमित या क्षुद्र में सुख नहीं।
इसलिए भूमा को जानने की इच्छा करनी चाहिए।

श्वेताश्वतर

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः
स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ,
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥१।१५॥

जैसे तिलों में तेल, और दही में घृत,

और स्रोतों में जल है, और अरणियों में अग्नि,
वैसेही यह परमात्मा आत्मा में है।
अपने आपमें ही यह पाया जाता है,
जो इसे सत्य और तप से देखता है, वही।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म, तदापस्तत्प्रजापतिः ।।४।२।।

वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्र है और वही शुक्र,
वह ब्रह्म है, वह जल है और प्रजापति भी वही।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि, त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ।।४।३।।

मेरे आत्मन् ! तू स्त्री है और तू पुरुष है,
तू कुमार है और कुमारी भी तू ही है।
तू जरा-जीर्ण होकर लाठी के सहारे चलता है।
और तू ही, हे विश्वतोमुख ! जन्म धारण करता है।

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा,
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो,
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।४।१७।।

यही देव जगत् का सृजनहार है, यह महान् आत्मा है।
सदाही प्राणियों के हृदय में यह प्रतिष्ठित है।
यह देव श्रद्धा से, बुद्धि से और मनन से प्राप्त होता है।
जिन्होंने इसे जान लिया,
वे अमृत-पद पा सकते हैं।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य,
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनम्
एवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।४।२०।।

इस देव को इन चक्षुओं से नहीं, किन्तु हृदय से, श्रद्धा-भक्ति से जो जानता है,
उसको अमृतत्व प्राप्त हो जाता है।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।६।११।।

सब प्राणियों के अन्तस् में छिपा हुआ परमात्मा एकही है,

वह सब में व्याप्त है, सब प्राणियों का वह अन्तर्आत्मा है,
वह सभी कर्मों का अध्यक्ष है,
सभी प्राणियों में वह बसा हुआ है,
वह सब-कुछ सदा देखता रहता है तटस्थ दृष्टि से।
वह चैतन्य है, निर्द्वन्द्व है,
और, वह प्रकृति के तीनों गुणों से रहित है।

बृहदारण्यक

ऋषि याज्ञवल्क्य ने अमृत तत्त्व की जिज्ञासु अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।

न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।

अरी ! निश्चय ही, पति की कामना के लिए पति प्यारा नहीं होता है, किन्तु आत्मा की कामना के लिए, अर्थात् आत्म-सन्तोष के लिए ही उसे पति प्यारा होता है।

अरी ! निश्चय ही, पत्नी की कामना से पति को पत्नी प्यारी नहीं होती है, किन्तु आत्मा की कामना के लिए, आत्म-सन्तोष के लिए उसे पत्नी प्यारी होती है।

न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रियाः भवन्ति।

न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।

न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति।

न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति।

न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवन्त्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

मैत्रेयी ! पुत्रों की कामना के लिए पुत्र प्यारे नहीं होते हैं, वे तो आत्म-ममता के कारण प्यारे होते हैं।

धन की कामना के लिए धन प्रिय नहीं होता, वह तो आत्मा का सुख-

साधन होने के कारण प्यारा होता है।

लोकों की कामना से लोक प्रिय नहीं होते हैं, किन्तु आत्मा के कारण से वे लोक प्रिय होते हैं।

अरी ! देवों की कामना से देव प्रिय नहीं होते हैं, वे तो आत्म-सन्तोष के कारण प्रिय होते हैं।

सारे प्राणी प्राणियों की कामना से प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्म-भावना से वे प्रिय होते हैं।

मैत्रेयी ! सबकी कामना के लिए सब प्रिय नहीं होते, किन्तु सब वस्तुएँ इस-लिए प्रिय होती हैं क्योंकि उनसे आत्म-सन्तोष होता है।

वास्तव में प्रियरूप तो स्वयं यह आत्मा है।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
मैत्रेइयात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥२।४।५॥

मैत्रेयी ! तब यह आत्मा ही देखने के योग्य है, सुनने के योग्य है, मनन करने के योग्य है और संकल्पपूर्वक ध्यान करने के योग्य है।

आत्मा ही के दर्शन से, श्रवण से, मनन से और विशेष ज्ञान से यह सारा रहस्य आपही ज्ञात हो जाता है।

रामायण

सीता, राम, हनुमान और भरत को छोड़कर हमारी और कोई गति नहीं। हमारे मन की शान्ति, हमारा सब-कुछ उन्हींके ध्यान में निहित है। उनकी पुण्य-कथा हमारे पुरखों की धरोहर है। इसके आधार पर हम आज जीवित हैं।

जबतक हमारी भारत-भूमि में गंगा और कावेरी बहती रहेंगी, तबतक सीता-राम की कथा भी आबाल स्त्री-पुरुष, सबमें प्रचलित रहेगी, माता की तरह हमारी जनता की रक्षा करती रहेगी।

भारतीय इतिहास के महान् तथा घटनापूर्ण काल में अपने व्यस्त जीवन की सांध्यवेला में मैंने रामायण की जो कहानी कही है, मेरी राय में, भारतवासियों के प्रति की गई यह मेरी सर्वोत्तम सेवा है। इसी कार्य से मुझे मन की शान्ति और तृप्ति मिली है। वर्त्तमान समय की वास्तविक आवश्यकता यह है कि हमारे और हमारी भूमि के संतों के बीच ऐक्य स्थापित हो, जिससे हमारे भविष्य का निर्माण मजबूत चट्टान पर हो सके, बालू पर नहीं।

—च० राजगोपालाचारी

मैं जबभी रामायण पढ़ता हूँ, मेरा यह अभिप्राय अधिक-से-अधिक दृढ़ बनता जाता है कि यह महाकाव्य मानव की सबसे उत्कृष्ट रचनाओं में से एक है। इस महाकाव्य ने हमारी समस्त जनता के हृदय और मन पर प्रभाव डाला है,—न केवल मूल या इसके अनुवाद पढ़नेवालों पर, बल्कि ऐसे लाखों-करोड़ों पर भी, जिन्हें अक्षर-ज्ञान तक नहीं, और जिन्होंने रामायण की कथा घर पर ही या तो माता-पिता से सुनी है, अथवा सार्वजनिक समारोहों में ऐसे व्याख्याताओं से, जो हमारी पवित्र भूमि की विशिष्ट विभूति थे।

शायद नई पीढ़ी के लोगों को इस महाकाव्य से उतना परिचय नहीं रहा है, जितना कि हमारे पुराने युग में था। क्या यह दुःखद सत्य नहीं है कि हमारे स्कूल-कॉलेजों के नवयुवकों में से अधिकांश इस प्रकार पल और बढ़ रहे हैं, जिनको हमारी सभ्यता और संस्कृति के स्रोत की पर्याप्त जानकारी नहीं है ?

फिरभी मेरा विश्वास है कि भविष्य में ऐसे दिन आनेवाले हैं, जब हमें सदा की अपेक्षा अधिक श्रद्धापूर्ण हृदय से इस परमसुंदर रचना की ओर, हमारे साहित्य की सभी कथाओं से अधिक मर्मस्पर्शी रामायणी कथा की ओर पुनः लौटना होगा।

—वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री

अध्याय–५

रामायणी कथा

[डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल]

वाल्मीकि-रामायण के रचयिता महामुनि वाल्मीकि का आश्रम तमसा के तट पर था। तमसा अयोध्या से ६ मील पूर्व एक छोटी-सी नदी है। एक दिन प्रातः काल वाल्मीकि अपने शिष्य भरद्वाज के साथ नदी-तट पर स्नान के लिए गये थे। वहां उन्होंने देखा कि निषाद जाति के एक जंगली पुरुष ने सारस के जोड़े में से नर को अपने बाण से मार दिया है, और मादा अपने पति के लिए विलाप कर रही है। यह प्रसिद्ध है कि सारस के जोड़े में परस्पर बहुत प्रेम होता है और एक के मर जाने पर दूसरा जन्मभर विवाह नहीं करता। यह दृश्य देखकर वाल्मीकि का मन करुणा से भर गया, और उनके हृदय का शोक निम्नलिखित श्लोक के रूप में फूट पड़ा, **शोकः श्लोकत्वमागतः**

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। [बाल० २।१५

"हा निषाद ! तुमपर यह कैसा अज्ञान छा गया, जो तुमने सारस के जोड़े में से एक को उस समय मार डाला, जब वह काम-विलास की दशा में डूबा हुआ था। इस अपराध के कारण तुम सदा-सदा के लिए समाज में हेठे बने रहोगे, क्योंकि तुम पशु-पक्षियों और मनुष्यों के मनोभावों को नहीं जानते।"

यह श्लोक जब वाल्मीकि के मुख से निकला, तो उन्हें अनुभव हुआ कि इसमें तीन विशेषताएँ हैं। एक तो इसमें चार चरण हैं, दूसरे, प्रत्येक चरण में गिनती के ८, ८ अक्षर हैं और तीसरे, इसमें ऐसी लय है कि यह वीणा पर गाया जा सकता है। इससे वाल्मीकि बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें उस समय तक का पूरा साहित्य ज्ञात था। अतः उन्हें अनुभव हुआ कि साहित्यिक शैली पर यह एक नई शैली उन्हें प्राप्त हो गई है। उसी समय उनके मन में यह प्रेरणा हुई कि वे इस छन्द में एक नये काव्य की रचना करें और इसके लिए उन्होंने राम के चरित्र को अपना विषय चुना। वही आदिकाव्य रामायण है।

वाल्मीकि द्वारा विरचित रामायण विश्व का सबसे बड़ा महाकाव्य है। इसमें इस समय २४ सहस्र श्लोक हैं। इसे राम-चरित के अतिरिक्त सीता का महान् चरित (**सीतायाश्चरितं महत्**) कहा गया है। यह आरम्भ में रामायण नाम से

प्रसिद्ध था। पुनः 'आर्ष रामायण' और अन्त में 'आदि-काव्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका उपबृंहित काव्य-स्वरूप, जो इस समय उपलब्ध है, सात काण्डों में पूरा हुआ है और उसमें अनेक उपाख्यान आ गये हैं। इसमें अनेक सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं का वर्णन है, जो वैदिक युग से चली आती थीं। अनेक प्रकार के धार्मिक समारोह, सामाजिक उत्सव, नगर-वर्णन, राज्याभिषेक-वर्णन, प्रासाद-वर्णन, तथा नदी, तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, कुटुम्ब, राज्यप्रबन्ध, सेना, शिल्पि-संघ, जनता के आमोद-प्रमोद, अन्न, पान-गोष्ठी, जन-विश्वास, उत्सव-यात्रा आदि का जैसा सटीक वर्णन वाल्मीकि ने किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वाल्मीकि रामायण को भारत का सबसे महान् लोकवार्ताशास्त्रीय ग्रन्थ मानकर उसका अध्ययन किया जा सकता है। ऐसा अध्ययन अबतक नहीं हुआ है, किंतु उसके लिए वाल्मीकि रामायण आकर-ग्रन्थ है। जो समाज-संस्था हमारे सामने है, वह कुछ परिवर्तनों के साथ वैदिक युग से चली आती थी और कवि ने उसका प्रत्यक्ष दर्शन किया था। वे पहले कवि थे, जिनके नेत्रों में वह वर्णन समा गया और उन्होंने उसके वर्णन के लिए मौलिक शब्दावली का विकास किया। भारत में कमलों से भरे सरोवर सदा से थे, आजभी हैं, किन्तु—**'सौमित्रे शोभते पम्पा वैदूर्यविमलोदका'**—इस भूमिका से वाल्मीकि ने ही उनकी दिव्य शोभा का बहुमुखी स्वर ऊँचा किया। भारत में ६ ऋतुओं का चक्र सदा से रहा है, किंतु वाल्मीकि ने ही सर्वप्रथम उनके वर्णन के लिए शब्दावली का निर्माण किया। यथा :—

वर्षा-वर्णन, किष्किधा, २८ वाँ
शरद्-वर्णन, किष्किधा, ३० वाँ
हेमन्त-वर्णन, अरण्य, १६ वाँ
वसन्त-वर्णन, किष्किधा, पहला अध्याय

भारत का जो भौतिक संसार है, जो वृक्ष-वनस्पति और पशु-पक्षी हैं, जो पर्वतमालाएँ और मेखजाल हैं, उनका सर्वोत्तम दर्पण वाल्मीकि-रामायण है। उनके वर्णन के लिए यदि हमें समर्थ शब्दावली की आवश्यकता हो, तो वाल्मीकि की शरण में जाना चाहिए।

कालक्रम से वाल्मीकि-रामायण का उपबृंहण होता रहा। भारत के महान् ग्रन्थों की यह विशेपता है। महाभारत और पुराणों के साथ भी ऐसा ही हुआ। फलतः वाल्मीकि-रामायण में एकही वर्णन भिन्न-भिन्न रूपों में कई बार दोहराया गया है। साहित्यिक समवस्थान की इस शैली को अंग्रेजी में 'जक्स्टापोज़ीशन' कहते हैं। उदाहरण के लिए लंका एवं अयोध्या का वर्णन एक से अधिक प्रकार के एकसाथ आगे-पीछे पाये जाते हैं।

रामायणी कथा का ताना-बाना झीने और सघन रूप में (**रहस्यं च प्रकाशं च** २।३३) प्रायः सारे देश में फैला हुआ है। वाल्मीकि ने इसका कुछ संकेत किया

। राम के आख्यान का एक रूप इक्ष्वाकुओं के राजवंश में चला आ रहा था। इसे ाल्मीकि ने अपनाया :—

इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मनाम्।
महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमिति श्रुतम्॥ [बाल० ५।३

दूसरे पक्ष में, वाल्मीकि ने रामचरित के गान के लिए सामग्री लोक से भी ंगृहीत की, जैसा रामायण में स्पष्ट कहा है (**लोकादन्विष्य भूयश्च चरितं रितव्रतः** १.३.१)

ऊपर हमने रामायण के जिस रूप का परिचय दिया है, उससे कहीं अधिक हत्त्वपूर्ण वाल्मीकि की अन्य दृष्टि थी, जिसे रामायण की अन्तरात्मा कहा जा कता है। इसके आरम्भ में ही वाल्मीकि ने नारद से जो मुख्य प्रश्न किया वह ारित्र्ययोग के विषय में है—'**चारित्रेण च को युक्तः**'। वाल्मीकि का संपूर्ण ष्टिकोण 'चारित्र्ययोग की जिज्ञासा' है। चरित्रवान् व्यक्ति को ढूँढ़ने के लिए ही ादिकाव्य रामायण का जन्म हुआ। मानव-जीवन में सब कुछ चाहिए, पर सबसे ऊपर चरित्र की सुरभि से सुरक्षित मनुष्य चाहिए। राम ऐसे चरित्रवान् व्यक्ति ैं। यही वाल्मीकि के प्रश्न का समाधान है। वाल्मीकि के लिए चरित्र और धर्म र्यायवाची हैं। उनकी दृष्टि में राम धर्म की प्रत्यक्ष मूर्ति हैं—'**रामो विग्रहवान् र्मः**' (अरण्य, ३७।१३)। अपने इस सूत्र की व्याख्या उन्होंने अनेक प्रकार से की ै। राम धर्मरूपी सनातन वृक्ष के मूल हैं और सब मनुष्य उसके पत्र-पुष्प और ल के समान हैं :—

मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः॥

[अयोध्या० ३३। १५

वाल्मीकि राम की प्रशंसा में धर्मज्ञ, धर्मिष्ठ, धर्मभृतांवर आदि विशेषण ेते हुए नहीं थकते। संसार में दो प्रकार के मनुष्य बसते हैं—एक अल्पसत्त्व या ीन पराक्रमवाले साधारण, जिन्हें रामायण में प्राकृत नर कहा है, दूसरे धीर या रित्रवान् व्यक्ति, जो धर्म या चरित्र के आदर्शों को धर्म के मार्ग से प्रत्यक्ष कर देखाते हैं। साधारण जीवन व्यतीत करनेवाले मानव तो चारों ओर भरे पड़े हैं, र सत्यसंध और दृढव्रत मनुष्य विरले ही होते हैं। राम उसी प्रकार के व्यक्ति ैं। वाल्मीकि के संसार में वे केन्द्र में स्थित हैं। सप्तसिन्धु और गंगा की अन्तर्वेदी में एवं नर्मदा से कावेरी तक जिन भारतीयों ने सभ्यता का विकास किया, राम उनके मूर्तिमान् प्रतीक हैं।

राम के कन्धे ऊँचे और उठे हुए, भुजाएँ लम्बी, ग्रीवा शंख के समान और ठोढ़ी दोहरी थी। छाती चौड़ी, लम्बा धनुष सँभालनेवाले हाथ घुटनोंतक लम्बे थे। गले की हड्डी मांस से ढकी हुई, उत्तम सिर, सुन्दर ललाट, चमकीला रंग, सब

अंग बराबर बँटे हुए, सब प्रकार से शुभ लक्षणों से युक्त देह, इसप्रकार राम का स्वरूप था।

आरम्भ में ही तपस्वी वाल्मीकि नारद से प्रश्न करते हैं, 'इस समय लोक में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्य बोलनेवाला, दृढ़व्रती, चरित्रयुक्त, सब भूतों का हित करनेवाला, विद्वान्, सुन्दर, जितेन्द्रिय और क्रोध को जीतनेवाला कौन है ? उत्तर में नारद राम के अनेक गुणों की तालिका प्रस्तुत करते हैं। यही रामायण का पहला सर्ग मूलरामायण है। उसका सार इसप्रकार है—

"राम नियतात्मा हैं। उन्होंने इन्द्रियों का जय किया है। वे महावीर्य हैं। संग्राम में पैर पीछे नहीं रखते। धृति और बुद्धि दोनों का उनमें विकास हुआ है। वे नीतिमान् और वाग्मी, सुन्दर भाषण करनेवाले हैं। वे देवकल्प, ऋजु और दान्त हैं। धर्म के तत्त्व को जानते हैं। सत्यसंध अर्थात् मन, वचन और कर्म से सत्य का पालन करनेवाले हैं। राम क्षत्रिय के पद से सदा प्रजाओं का हित करते हैं। यशस्वी, ज्ञान-सम्पन्न, शुचि, वश्य और समाधिमान् या चित्त की एकाग्रता से युक्त हैं। जीवों के रक्षक, स्वधर्म और स्वजनों का पालन करनेवाले हैं। वेद-वेदांग में पारंगत और धनुर्वेद में निष्ठित हैं। राम आर्य हैं। सदा हँसकर बोलते हैं। उनका दर्शन ही सुन्दर है। वह सब शास्त्रों के मर्म को जाननेवाले, स्मृतिवान् हैं। उनकी बुद्धि में नवीन कल्पनाओं या विचारों का स्फुरण होता रहता है। पराक्रम में विष्णु, कान्ति में चन्द्रमा, क्रोध में कालाग्नि, क्षमा-गुण में पृथिवी, त्याग में कुबेर और सत्यगुण में साक्षात् धर्म के समान हैं। (मूल रामायण सर्ग १)। सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, शौच, आर्जव, विद्या, गुरु-शुश्रूषा ये गुण राम में सुनिश्चित हैं (अयोध्या० १२। ३०)। राम सत्पुरुष हैं। वे सत्यधर्म में परायण हैं। धर्म उनके रूप में मूर्त होता है। वे प्राणियों के रक्षक और धर्म के परिरक्षक हैं। (**रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता**) उनमें दया है। उन्होंने क्रोध को वश में कर लिया है। वे प्रशान्तात्मा हैं, और मीठा बोलते हैं। वे किसीसे असूया नहीं करते। देवों की प्रार्थना पर मानो सनातन विष्णु ही रामरूप में पृथिवी पर प्रकट हो गये हैं। मनुष्यों के दुःख देखकर वे दुखी होते हैं, और सुख में पिता की तरह प्रसन्न होते हैं। राम एक बार बात कहकर उसे पलटते नहीं (**रामो द्विर्नाभिभाषते**, अयोध्या०, १८।३०)।"

राम के चरित्र-विस्तार को वाल्मीकि ने अर्ध श्लोक में समेट लिया है (**समुद इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव**, वाल० १।१७)। राम से अधिक कोई सत्पथ में स्थित नहीं है।

राम के समान ही वाल्मीकि ने सीता के चरित्र का विलक्षण चित्रण किया है। सीता राम के तुल्य हैं और राम सीता के तुल्य :—

तुल्यशीलवयोवृत्तां तुल्याभिजनलक्षणाम्।
राघवोऽर्हति वैदेहीं तं चेयमसितेक्षणा॥ ६।५

शील, आयु, आचार और कुल इन लक्षणों में राम सीता के और सीता राम के तुल्य हैं। सीता के चरित्र का उद्‌घाटन वाल्मीकि का ऐसा ऋण है, जिससे यह राष्ट्र कभी उऋण नहीं हो सकता। भारतीय नारी-समाज के लिए सीता का महान् चरित्र सदा के लिए सबसे बड़ा धर्मशास्त्र बन गया है। रामायण में ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ सीता ने राम से अपना मत-भेद प्रकट किया, किंतु उन्होंने अपना पति देवता-स्वरूप कभी नहीं खोया। वाल्मीकि की दृष्टि में पातिव्रत-धर्म और सीता पर्याय हैं।

धर्मबन्ध

वाल्मीकि की दृष्टि में रामायण धर्म का महाप्रयोग है। धर्माचरण के मार्ग में जो ग्रन्थियाँ लग जाती हैं, उन्हें रामायण के पात्र बड़ी कुशलता से सुलझाते हैं। राजा-प्रजा, भाई-बन्धु, कुटुम्बी सब अपने-अपने धर्म से बँधे हैं। जिस प्रकार आकाश में प्रत्येक नक्षत्र, ग्रह अपने मार्ग में स्थिर हैं, न वहाँ भय है, न स्खलन, इसी प्रकार जीवन में अपने धर्म पर ध्रुव रहते हुए हम दूसरों से बिना टकराये प्रगति कर सकते हैं। वाल्मीकि ने बड़ी सुन्दरता से कई स्थानों पर हमें इसका परिचय दिया है कि यदि धर्म की मर्यादाएँ टूट जातीं, सत्य के बाँध ढीले पड़ जाते, तो राम और भरत-जैसे धीर पात्र भी किस प्रकार आचरण कर बैठते। आखिर मनुष्य के भीतर क्षमा भी है क्रोध भी, धर्म भी है अधर्म भी, सत्य भी है असत्य भी। एकही जगह पर द्वन्द्व रहते हैं। धीर मनुष्य वही है, जो इनके दिव्य मान को ग्रहण करता है। श्रुति का ज्ञान रखनेवाले पुरुष भी जब रजोगुण में सन जाते हैं, तो महान् अनर्थ उपस्थित हो जाता है। राम धर्मबन्धन से च्युत होकर क्या करते ? "हे लक्ष्मण, मैं अकेला ही क्रुद्ध होकर इस अयोध्या को और सारी पृथिवी को अपने बाणों से नष्ट करके अपना अभिषेक कर सकता हूँ। पर अधर्म से डरता हूँ (अयोध्या ५३।२५-६)। कल्पना कीजिए उस अयोध्या की, जिसमें राज्य लेने के लिए राम बाणों का प्रयोग करते। क्या फिर हमें वहाँ स्वर्ग का वह सौरभ मिल सकता, जो आजतक फैला हुआ है ? भरत को यदि धर्म का बन्धन बाँधकर न रखता, तो वह क्या करते, इसका उत्तर उन्हींके मुहँ से सुननेयोग्य है :—

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम्।
हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम्॥

[अयोध्या० १०६।९

मैं धर्म-बन्धन में बँधा हुआ हूँ, इसीलिए पापकारिणी दण्ड के योग्य माता को तीव्र दण्ड से मारे बिना छोड़ता हूँ। भरत क्रोध में भरकर कैकेयी को मार डालते और फिर उस पाप के दुःख से सम्भवतः अपनी भी हत्या कर बैठते। धर्मबन्धों के टूट जाने का कैसा घातक परिणाम होता, इसकी कल्पनामात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यह वे भरत हैं, जिनके लिए गोस्वामीजी ने यथार्थ ही लिखा है—

जो न जनम जग होत भरत को,
सकल धरम धुर धरनि धरत को ?

ठीक ही है। राम ने, सीता ने, लक्ष्मण ने एक-एक धर्म का पालन किया। वे वैसा न करते, तो उनकी गणना प्राकृत जीवों में होती। पर यह भरत ही हैं, जिन्होंने सब पात्रों के धर्म की धुरी अपने कन्धों पर रखकर पूरी उतारी। भरत अड़ जाते तो राम का धर्म, दशरथ का धर्म, लक्ष्मण और सीता का धर्म सभी संकट में पड़ जाते।

धर्म से स्खलित होकर दशरथ क्या करते ? 'हे राम ! कैकेयी ने मुझे मोहित करके वरदान ले लिया है; तुम मुझे क़ैद करके अयोध्या के राजा बनो।' परन्तु जिन राम से दशरथ ने यह प्रस्ताव किया, उनके लिए वाल्मीकि सबसे पहले **'धर्मभृतां वरः'** विशेषण रखते हैं (अयोध्या० ३४।२७)।

राम ने उत्तर में कहा :—

इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला।
मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम्॥ [अयोध्या० २४।४१

"धन-धान्य, राष्ट्र और जनों से भरी हुई यह पृथिवी भरत को दे दीजिए। इसमें सोच-विचार का स्थान नहीं है, मुझे राज्य नहीं चाहिए।"

राम की माता, दशरथ की अग्र महिषी कौशल्या धर्म को भूलकर क्या करतीं ? 'हे राम ! मैं बड़ी मन्दभाग्या हूँ। न जाने मुझे सपत्नियों से कितने वाग्बाण सुनने पड़ेंगे ? मेरे व्रत, दान और संयम सब ऊसर में बोये हुए बीज की तरह व्यर्थ चले गये। हे पुत्र, माता तुम्हारे लिए वैसी ही हैं, जैसे पिता हैं, वैसे ही माता का कहना मान्य है। मैं तुम्हें वन जाने की आज्ञा नहीं देती।'

इसपर माता को स्मरण दिलाते हैं :—

पितुर्नियोगे स्थातव्यमेष धर्मः सनातनः।

"हे देवि ! राजा दशरथ हमारे-तुम्हारे दोनों के गुरु हैं। उनकी आज्ञा ही हमारी गति और धर्म है।" लक्ष्मण तो धर्म के अभाव में साक्षात् ज्वालामुखी ही थे। कौशल्या के विलाप को सुनते ही उनका अवरुद्ध हृदय फूट पड़ता है, वे कौशल्या से राम के सामने ही कहते हैं—"हे देवि ! राम का वन जाना मुझे तो कुछ जँचता नहीं। बूढ़े राजा विषयान्ध हैं, नहीं तो कौन राम-जैसे देवकल्प पुत्र को वनवास देगा। जबतक यह खबर फैलने न पाये तभीतक राज्य अपने हाथ में कर लेना चाहिए। किसकी शक्ति है, जो मेरे सामने आये ? आज अयोध्या को मैं सूनसान बना दूंगा। यदि भरत का कोई साथी मेरे सामने युद्ध के लिए आयगा, यदि पिता कैकेयी के साथ हों, तो उनका भी बन्ध या वध कर देना चाहिए। उत्पथ पर गये हुए का शासन करना ही चाहिए" (अयो० २१।१-१३)।

कौशल्या ने राम से कहा—"हे तात, तुमने लक्ष्मण की बात सुनी। जो धर्मानुकूल जान पड़े, करो।"

परन्तु धर्मात्मा राम को झटपट लक्ष्मण के राज्य-हरण का यह प्रस्ताव बिल्कुल पसन्द नहीं आया। उन्होंने समझाया—"लक्ष्मण, तुम्हारे स्नेह को मैं जानता हूँ। इस अनार्य-बुद्धि को दूर करो।"

अब हम रामायण की कथा को लेते हैं। इसके लिए वर्तमान संस्करण का ही आश्रय लिया गया है। यह स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान लोकप्रचलित संस्करण दाक्षिणात्य पाठ पर आधारित है। निर्णयसागर और गीताप्रेस के संस्करण नहीं हैं। इसके अतिरिक्त इटली के विद्वान् गौरेशियों ने बंगीय पाठ मुद्रित किया था, और पं० विश्ववन्धु ने उत्तर-पश्चिम का पाठ प्रकाशित किया है। किंतु वे दोनों लोक में चालू नहीं हुए। फिरभी यह उल्लेखनीय है कि रामायण की उत्तरापथ-वाचना के, जो वस्तुत: कोसल जनपद की वाचना थी, संपादन और प्रकाशन की बहुत बड़ी आवश्यकता अभी बनी है। अनन्य गति से हम यहाँ प्रस्तुत प्रकाशित संस्करण को ही आधार मानकर कथा का वर्णन कर रहे हैं।

रामायण के कुछ हस्तलेख ऐसे हैं, जिनमें अयोध्याकाण्ड को ही आदिकाण्ड कहा गया है। ज्ञात होता है कि उस समय "**कोसलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्**'—से ही ग्रन्थ का आरम्भ होता था। इस प्रश्न की मीमांसा में न जाकर वर्तमान बालकाण्ड की कथा इस प्रकार है।

इसमें कुछ महाकथाएँ आ मिली हैं, जैसे—राजा दशरथ के अश्वमेध यज्ञ की कथा, गंगावतरण, विश्वामित्र के चरित्र की कई अवान्तर कथाएँ आदि। ग्रन्थ का आरम्भ अयोध्या के वर्णन से किया गया है, जो बहुत ही सटीक और सुन्दर है।

कोसल नाम का एक सुखी और बड़ा जनपद था। वह सरयू के तट पर बसा हुआ था। अयोध्या उसकी राजधानी थी। वह १२ योजन लम्बी और ३ योजन चौड़ी थी। दशरथ उसके राजा थे। उस महापुरी के चारों ओर ऊँचा परकोटा था। उसमें नगर-द्वार और तोरण थे। बीच में महापथ या राजमार्ग थे। नगरी कितने ही आपणों में विभक्त थी। सड़कें जल से सींची जाती और फूलों से सजाई जाती थीं। नगर के द्वार-तोरण महाकपाटों से युक्त थे। अनेक शिल्पी नगरी में रहते थे। परकोटे में अट्टालकों या बुर्जों पर मार करनेवाले यन्त्रायुध लगे हुए थे। नगरी में सूत और मागधों का निवास था, क्योंकि वे राजा को उसके कर्त्तव्यों का ज्ञान कराने के लिए आवश्यक थे। वहाँ नाटक खेलनेवाली स्त्रियों के संघ थे। उस महापुरी को घेरनेवाली साल वृक्षों की एक मेखला थी। बाहर अनेक उद्यान और आम्र-वन थे। नगरी का स्वरूप दुर्ग-जैसा था। उसके प्राकार के चारों ओर एक खाई थी। उस पुरी में अनेक हाथी, घोड़े और ऊँट और गधे थे। वहाँ राजा को भेंट देने के लिए बहुत-से सामन्त भी आते-जाते थे। वहाँ अनेक देशों से व्यापारी लोग आकर रहते थे। नगरी में अनेक प्रासाद या बड़े महल थे, जिनमें रत्न जड़े थे। वहाँ अनेक सुन्दर नारियाँ थीं। इक्षु, शाली आदि के भण्डार भरे हुए थे। अनेक घरों में गन्ने

के रस से बने पदार्थों का संचय था। दुन्दुभी, मृदंग, वीणा आदि भाँति-भाँति के वाजे बजानेवाले वहाँ रहते थे। उस पुरी में वेद-वेदांग जाननेवाले अनेक विद्वान् और ऋषि थे। वहाँ के राजा दशरथ पुरवासी और जनपद-निवासी दोनों को अत्यन्त प्रिय थे। वह राजा अपने दुर्ग में सब वस्तुओं का संग्रह रखता था। वह दीर्घदर्शी' वेदों का भक्त और यज्ञ करनेवाला था। वह धर्मपरायण, वशी, राजर्षि, यशस्वी, वलवान्, मित्रवान्, जितेन्द्रिय, सत्यसंध, त्रिवर्ग का रक्षक, इन्द्र के समान प्रतापी और कुबेर के समान धनी था। इस प्रकार एक प्राचीन आदर्श राजा और उसकी नगरी का वर्णन वाल्मीकि ने किया है, जिसकी गूँज साहित्य में कई बार सुनाई पड़ती है।

अयोध्या में नर-नारी सुखी और स्वस्थ थे। सब स्वर्ण के आभूषण धारण करते, सुगन्धि लगाते, मिष्टान्न भोजन करते, गाय और घोड़े पालते, विद्याभ्यास करते और ईश्वर में विश्वास रखते थे। इस प्रकार कई श्लोकों में आदर्श नागरिकों का वर्णन किया गया है।

राजा के आठ गुणी मन्त्री थे। उनमें आठवें सुमन्त्र थे। वसिष्ठ और वामदेव ये दो राज्य के पुरोहित थे। कुछ कोष-संग्रह के काम में और कुछ सेना के संग्रह में नियुक्त थे। मन्त्री संधि और विग्रह के तत्त्व के ज्ञाता और मन्त्र को गुप्त रखने में समर्थ थे।

राजा दशरथ के कोई पुत्र न था। उन्होंने मन्त्रियों और ब्राह्मणों से अश्व-मेध-यज्ञ का प्रस्ताव किया। सवने राजा का अनुमोदन किया। राजकुल से चर्चा उठी कि पुत्र के लिए पुत्रेष्टि-यज्ञ किया जाय। ब्राह्मणों और मन्त्रियों ने इसका अनुमोदन किया। सुमन्त्र की राय से पहले अंग देश (चम्पा-भागलपुर) से ऋष्यशृंग को बुलाया गया, और राजकन्या शान्ता का विवाह करके उन्हेंही यज्ञ का मुख्य ऋत्विज् वनाया गया। यहाँ पहले वैदिक कर्मकाण्ड के महायज्ञ अश्वमेध का वर्णन है, जहाँ पहले यज्ञ का घोड़ा छोड़ा गया, और वर्षभर बाद उसके लौटने पर प्राचीन वैदिक विधि के अनुसार यज्ञ पूरा किया गया। पर ज्ञात होता है कि यह वाद में जोड़ा हुआ प्रकरण है, क्योंकि इसके पुछल्ले के रूप में एक पुत्रेष्टि का वर्णन है, जिसके पुरोहित ऋष्यशृंग हुए। यह कोई लौकिक दृष्टि थी, जिसमें किसी महद् भूत अर्थात् यक्ष के आयुर्वेद-औषधियों से सिद्ध सोने का कटोरा लेकर प्रकट होने का वर्णन है। उसी खीर के खाने से रानियों को गर्भ रहा और चार पुत्र उत्पन्न हुए। मूल कथा में पुत्रेष्टि की ही कल्पना थी, जिसके लिए प्राचीन आदिम जातियों के अंग जनपद से ऋष्यशृंग को बुलवाया गया। बाद के लेखकों ने उसी मूल कहानी के साथ महान् अश्वमेध का पैवन्द चढ़ा दिया और मूल कहानी अर्दव में पड़ गई। हम देखते हैं कि अश्वमेध-यज्ञ-का वर्णन आठ अध्यायों में (वाल० अध्याय १२-१७) एवं पुत्रेष्टि का केवल एक अध्याय में (१८ में) सिकुड़ा हुआ है।

इसके अनन्तर जब राम और लक्ष्मण किशोरावस्था को प्राप्त हुए, तब ऋषि विश्वामित्र राक्षसों की बाधा को राम द्वारा हटाने की इच्छा से राम-लक्ष्मण की याचना के लिए दशरथ के यहाँ आये और अपना स्पष्ट अभिप्राय कहा। पहले तो दशरथ ने आना-कानी की, पर वसिष्ठ के समझाने से वे मान गये। यहाँ से राम का चरित्र नया मोड़ लेता है। विश्वामित्र के साथ वे सरयू और गंगा के संगम पर गये, जहाँ एक सिद्धाश्रम था। वहाँ ताटका नाम की एक निषाद स्त्री निवास करती थी, जिसने सिद्धों को खा डाला था। विश्वामित्र के कहने से राम ने उसका वध किया। वहाँ से राम, लक्ष्मण और विश्वामित्र मिथिला की ओर बढ़े। इसीके पेटे में गंगावतरण का महान् आख्यान और विश्वामित्र से सम्बद्ध कई अवान्तर कथाएँ आ गई हैं, जिनमें वसिष्ठ-विश्वामित्र के प्राचीन विरोध की कथा और विश्वामित्र द्वारा ब्रह्मर्षि-पद-प्राप्ति की कथा भी है। ये सब आधिकारिक महाकथा के साथ बँटे हुए पुछल्ले हैं, जो अवश्य ही बहते हुए महाप्रवाह में आकर कालान्तर में मिलते गये।

जब राम और लक्ष्मण मिथिला पहुँचे, तो जनक ने महामुनि विश्वामित्र और उनका यथोचित स्वागत किया। यहाँ पकड़ की बात यह है कि वाल्मीकि ने सीता-स्वयंवर का वर्णन नहीं किया। यह तो बाद की रोचक कल्पना है। वाल्मीकि के अनुसार जनक के वंश में एक दिव्य शिवधनुष चला आता था, जो दक्ष-यज्ञ-विध्वंस के अनन्तर शिव ने देवरात को दिया था और जो जनक को हल चलाते हुए पृथिवी से मिला था। इसी भाँति सीता का जन्म भी भूमि से हुआ था। जनक ने प्रतिज्ञा की थी कि जो उस धनुष को चढ़ा देगा, उसीको सीता प्राप्त होगी। अत: सीता के लिए 'वीर्यशुल्का' विशेषण प्रयुक्त हुआ। इसके लिए बहुत-से राजे समय-समय पर मिथिला आये, पर धनुष न चढ़ा सके। उसी शृङ्खला में राम भी पहुँचे और धनुष चढ़ा दिया। तब सीता से उनका विवाह हो गया।

जनक ने यह समाचार देने के लिए दशरथ के पास दूत भेजे। समाचार पाकर दशरथ बरात लेकर मिथिला आये, और वहाँ उनकी उपस्थिति में चारों भाइयों का विवाह हुआ। दो पुत्रियाँ जनक की और दो उनके छोटे भाई कुशध्वज की थीं, जो सांकाश्य (संकिसा, फर्रुखाबाद) के राजा थे। उन्हेंभी जनक ने संदेश भेजकर बुलवा लिया था। विवाह के अनन्तर परशुराम के आने और राम से स्पर्धा करने की घटना का भी संक्षिप्त वर्णन है। यह भागवतों द्वारा बैठाई गई छोटी चिप्पी जान पड़ती है, जो मूल कथा का अंग न थी। इसमें कहा है कि परशुराम का धनुष वैष्णव धनुष था।

विवाह के उपरान्त भरत अपने मामा के यहाँ केकय देश (पंजाब में नमक के पहाड़ का प्रदेश) चले गये थे। जब राम का विवाह हो गया, तब दशरथ के मन में उन्हें युवराज बनाने का विचार उत्पन्न हुआ। उन्होंने सोचा कि राम सब गुणों

से युक्त हैं। वे रूपवान्, वीर्यवान्, अनसूयक, प्रशान्तात्मा, कृतज्ञ, मृदुभाषी, मधुर-भाषी, सत्यभाषी, विद्वान्, वृद्ध-प्रतिपूजक, प्रजारंजन में अनुरक्त, जितक्रोध, सानुक्रोश, दीनानुकुम्पी, धर्मज्ञ, शुचि, क्षात्रधर्मानुरक्त, नीरोग, तरुण, वाग्मी इत्यादि सब प्रकार के गुणों से युक्त हैं। राजा दशरथ ने उन्हें युवराज बनाने के लिए मन्त्रि-परिषद् और पौर-जानपद-सभा का अधिवेशन किया। उस समय के संविधान के अनुसार ऐसा करना आवश्यक था। उन्होंने राम के पक्ष में प्रस्ताव रखकर (**यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद् विचिन्त्यताम्**। अयोध्या० २।१६) यद्यपि मुझे यह प्रिय है, पर यदि आपके मत से और भी हितकारी हो तो वह भी सोचिए। ब्राह्मण, सेना के मुख्य अधिकारी एवं पौर-जानपद-जनों ने एक मति से राजा के इस प्रस्ताव का समर्थन किया। राजा ने उनका मत जानकर निश्चय किया कि अगले दिन राम का युवराज-पद पर अभिषेक किया जाय। सभा विसर्जित कर राजा जैसेही अन्तःपुर में पहुँचे, उनके मन में कुछ खुटका पैदा हो गया कि कहीं अगले दिनतक ठहरने से उत्सव में कुछ बाधा न पड़ जाय। अतः सुमन्त्र को भेजकर तत्काल राम को फिर बुलवाया। राम का मन शंकित हुआ (**शंकान्वितोऽभवत्**। अयोध्या० ४।५) और उन्होंने सुमन्त्र से इसका कारण पूछा। पर सुमन्त्र कोई स्पष्ट उत्तर न दे सके। राम उलटे पाँव दशरथ-भवन में पहुँचे। वहाँ राजा ने उनसे कहा—"राम, मैं बूढ़ा हो गया हूँ। सब भोग भोग चुका हूँ। तुम मेरे प्रिय पुत्र हो। मेरे लिए तुम्हारे अभिषेक के अतिरिक्त अब क्या करने को बचा है, इसलिए कलतक ठहरने से क्या लाभ? तुमसे मैं जो कहूँ वह करो। आज तो सब प्रजाएँ तुम्हारे अनुकूल हैं, इसलिए मैं आज ही तुम्हें युवराज बनाऊँगा :—

अद्य प्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम्।
अतस्त्वां युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक ॥ [अयोध्या० ४।१६

मनुष्यों का मन चंचल होता है। जबतक मेरा मन स्थिर है, तबतक अभिषेक हो जाने दो। यह एक विचित्र प्रकरण रामायण में पड़ा रह गया है, जो उसका मूल पाठस्थ अंग न था। इसमें जो दशरथ के मन की ग्रन्थि है, उसका अभिनन्दन नहीं किया जा सकता। उन्हें आशंका हुई कि भरत ननिहाल में है। कलतक राजप्रासाद में और अयोध्या में बात फैल जायगी। संभव है कोई विघ्न उठ खड़ा हो। इसलिए कल प्रातः तक न ठहरकर उसी दिन अभिषेक कर दिया जाय, तो अच्छा है। उन्होंने अपने मन में इसका नकशा बना लिया। सम्भव है, राम को यह अच्छा न लगा हो, पर पिता के सामने वे बोल नहीं सके। पहले प्रस्ताव के अनुसार राजा वसिष्ठ से कह चुके थे कि राम को युवराजोचित उपदेश दें। वसिष्ठ तीन चौकवाले (त्रिकक्ष्य) राम के कुमारभवन में गये और उन्होंने कहा—"हे राम! तुम्हारे पिता तुम्हें युवराज बनानेवाले हैं। आज सीता के साथ उपवास रखो।" और तब मन्त्रों के साथ उपवास का व्रत गुरु वसिष्ठ ने राम को बता दिया। लौटते हुए वसिष्ठ ने देखा कि

अयोध्या के मार्ग मनुष्यों से भरे हुए हैं और:वहाँ बड़ी शोभा है। दशरथ को राम से अपने मिलने की सूचना देकर वसिष्ठ अपने स्थान पर आ गये, तब राजा अन्तः-पुर में गये। अयोध्या ने उस समय महोत्सव का रूप धारण किया। देवतायन, चतुष्पथ, रथ्या, चैत्य, अट्टालक, पण्यापण, भवन एवं सभाओं में ध्वजा-पताकाएँ फहरादी गई। (६।११-४) : नटनर्तक-संघों के गान सुनाई पड़ने लगे। जनता सुनने लगी। मनुष्य आपस में रामाभिषेक की कहानी कहने लगे। चत्वरों और गृहों के द्वार पर बालक मिलकर क्रीड़ा करने लगे। राजमार्ग में धूप-दीप, गन्ध और पुष्पो-पहार की शोभा की गई। सड़कों पर झाड़-फानूसों (दीपवृक्ष) से उजाला किया गया। इस अवसर पर राम का अभिषेक देखने के लिए गाँवों से बहुत-से लोग अयोध्यापुरी आ गये थे :—

ते तु दिग्भ्यः पुरीं प्राप्ता द्रष्टुं रामाभिषेचनम्।
रामस्य पूरयामासुः पुरीं जानपदा जनाः॥ ६।२६

इस अवसर पर वसिष्ठ ने राम-राज्याभिषेक के लिए जो सामग्री एकत्र कराई उसका बड़ा अच्छा वर्णन रामायण में आया है, जैसे :—

सुवर्णादि रत्न, सब प्रकार की औषधियाँ, श्वेत पुष्पों की मालाएँ, लाजा, मधु, घृत, कोरे वस्त्र, रथ, सब आयुध, चतुरंगिणी सेना, शुभलक्षणों से युक्त गजेन्द्र, चामर-व्यजन, ध्वज और पाण्डुर छत्र, सौ स्वर्णघट, सोने से मढ़े सींगवाला वृषभ, पूरा व्याघ्रचर्म उन्होंने इसप्रकार की सामग्री के लिए आदेश दिया। समुद्र-जल से भरे स्वर्ण के गंगोदक घट, उदुम्बर काष्ठ का भद्रपीठ, सब प्रकार के बीज, गन्ध, विविध रत्न, मधु, दधि, घृत, लाजा, दर्भ, पुष्प, दुग्ध, सुन्दरी अष्ट कन्यकाएँ, मत्त गजेन्द्र, चार घोड़ों का रथ, तलवार, धनुष, पालकी, श्वेत छत्र, दो श्वेत चँवर, सोने की झारी, सुनहरी डोरी से बँधा हुआ बड़ी टांकवाला श्वेत बैल, चतुर्दंष्ट्र सिंह, महा-बलवान् अश्व, सिंहासन, व्याघ्रचर्म, समिधाएँ, अग्नि, सभी वादित्रसंघ, वेश्याएँ, अलंकृत स्त्रियाँ, आचार्य, ब्राह्मण, पवित्र गायें, पवित्र मृग-पक्षी, पौरजानपद, जन, व्यापारी, ये सब राम के अभिषेक के लिए एकत्र किये गये। लोकवार्ताशास्त्र की यह सामग्री रामायण के वर्णन-प्रवाह में आ गई। हाथी, घोड़ा, शेर और बैल ये चार महा आजानेय या मांगलिक पशु माने जाते थे। ये अशोक के सारनाथ-स्तम्भ पर अंकित हैं। बौद्ध और ब्राह्मण-साहित्य में इनका अनेक बार वर्णन आया है। इन्हें कला में 'चतुष्पद-पंक्ति' भी कहा जाता था।

राजा जब अन्तःपुर में गये, तबतक अभिषेक का समाचार फैल चुका था। उसे सुनकर कैकेयी को प्रसन्नता हुई थी। उसके बाद उसकी चेरी मन्थरा ने रानी को समझाना शुरू किया कि राम के अभिषेक से उसका सुख-सौभाग्य लुप्त हो जायगा। पहले तो कैकेयी ने मन्थरा को डाँटा-डपटा, पर चेरी ने शनैः शनैः रानी पर अपना रंग चढ़ा लिया। मन्थरा ने अपने तर्कों को तीखा बनाते हुए इस युक्ति

से लाभ उठाया कि "कुटिलात्मा राजा ने भरत को ननिहाल भेजकर राम का रास्ता साफ़ बना दिया है। तुम्हें सीधी जानकर तुम्हारे शठ पति ने तुम्हें बुरी तरह ठगा है :—

धर्मवादी शठो भर्त्ता श्लक्ष्णवादी च दारुणः।
शुद्धभावेन जानीषे तेनैवमतिसंधिता।।
अपवाह्य तु दुष्टात्मा भरतं तव बन्धुषु।
काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके।। ७। २४, २६।

कैकेयी इन वाक्यों से तिलमिला उठी, और रात्रि में राजा से दो वरदान माँग ही लिये: एक भरत के लिए राज्य और दूसरा राम के लिए वन-गमन। राजा दशरथ अपने वचनों से बँध गये थे। और आगे का घटना-चक्र बिल्कुल दूसरी तरह नध गया।

अगले दिन प्रातःकाल वे देरतक सोते रहे। जब सुमन्त्र भीतर आया तो राजा ने राम को बुलवाया। राम आये और उन्होंने नया समाचार सुना। राम को इससे शोक या व्यथा नहीं हुई :—

तदप्रियममित्रघ्नो वचनं मरणोपमम्।
श्रुत्वा न विव्यथे रामः कैकेयीं चेदमब्रवीत्।। [अयोध्या० १६।१

"मुझे इस बात का दुःख है कि राजा भरत के अभिषेक की बात मुझसे स्वयं प्रसन्न होकर क्यों नहीं कहते। मैं सीता को, राज्य को, प्राणों को, प्रियजनों को, धन-संपत्ति को, स्वयं प्रसन्नतया प्रिय भाई भरत के लिए त्याग सकता हूँ। पिता की प्रेरणा से, और हे माता, तुम्हारी प्रसन्नता के लिए तो ऐसा करने की बात ही क्या। शीघ्रगामी दूत तुरन्त जाकर भरत को मामा के कुल से ले आयें। मैं शीघ्र ही १४ वर्ष के लिए दण्डक वन में चला जाऊँ। कैकेयी राम की यह बात सुनकर खिल उठी।

वहाँ से राम कौसल्या के पास गये। माता कौसल्या यह सुनकर शोक से विह्वल हो गईं, पर उन्होंने परिस्थिति को पहचानकर राजा की आज्ञा का समर्थन करना ही उचित समझा।

जब यह समाचार लक्ष्मण ने सुना, तो वे क्रोध में भर गये, और कौसल्या से कहने लगे, "हे आर्ये! मुझे राजा की यह बात अच्छी नहीं लगी, जो उन्होंने राम-जैसे पुत्र को वनवास दे दिया। राजा स्त्री के कहने में आ गये। वे वृद्ध हो गये हैं। उनकी बुद्धि ठीक नहीं। स्वयं राम का कोई दोष या अपराध मुझे दिखाई नहीं देता। जबतक यह समाचार फैलता नहीं, तबतक हमें बलपूर्वक राज्य को अपनी मुट्ठी में कर लेना चाहिए। हे राम! जबतक मैं धनुष लिये हुए आपकी रक्षा के लिए आपके पास हूँ, तबतक कोई आपका बाल भी बाँका नहीं कर सकता। मैं इस अयोध्या को मनुष्यों से शून्य कर दूँगा, यदि कोई हमारा विरोध करेगा। जो भरत

का पक्ष लेगा मैं उसका वध कर दूंगा। ठण्डे रहने से काम नहीं चलता।" इसप्रकार लक्ष्मण का ज्वालामुखी फूट पड़ा। पर राम का धर्म-पथ इससे भिन्न था। उन्होंने लक्ष्मण को समझाया और साथ में वन चलने का उनका आग्रह भी मान लिया।

फिर वे सीता के पास गये। उनकी इच्छा थी कि सीता राजकुल में ही ठहरें। पर सीता को भला यह कव स्वीकार हो सकता था। उनके आग्रह को देखकर राम को उनकी बात मान लेनी पड़ी। और सीता भी वन की पद-यात्रा में उनके साथ हो लीं। इस प्रकार लक्ष्मण और सीता के साथ राम दशरथ की अन्तिम आज्ञा लेकर अयोध्या से वन की ओर चल पड़े। पहले वे अपने सारथि सुमन्त्र को लेकर कुछ दूरतक रथ में वैठकर गये। उनके साथ कोसल जनपद के और बहुत-से लोग चल रहे थे। जब वे कोसल-सीमा पर पहुँचे, तो उन्होंने अयोध्या की ओर हाथ जोड़कर देवताओं से विदा माँगी और साथ आते लोगों से कहा, "मेरे ऊपर जो यह बहुत वर्षों के लिए दुःख आया है, वह मेरे किसी पूर्वजन्म के पाप का परिणाम है। अव आप लोग लौटें और अपने-अपने काम में लग जायें। **"चिरं दुःखस्य पापीयो गम्यतामर्थसिद्धये"** (५०।५)।

राम शृंगवेरपुर की ओर बढ़े। वहाँ का राजा गुह निषाद राम का पूर्व-सखा था। गुह ने प्रेम से राम का आलिंगन करके कहा, "आपके लिए जैसी अयोध्या है, वैसेही इस राज्य को जानिए। आपके जैसा अतिथि किसी बड़भागी को ही प्राप्त होता है। हम सव सेवक हैं, आप स्वामी हैं। आज्ञा कीजिए।" राम ने समुचित उत्तर देते हुए कहा, "आपके द्वारा समर्पित इस बहुविध सामग्री का मैं स्वागत करता हूँ, पर मैं इसे ले नहीं सकता। मैं १४ वर्ष के लिए तपस्वी बनकर और कुश-वस्त्र और मृगचर्म तथा वल्कल पहनकर फलमूल खाते वनवास करूँगा, ऐसा मुझे आदेश है। मेरे रथ के घोड़े जितना चारा चर सकें वही आपकी भेंट मेरे लिए पर्याप्त है, और मुझे कुछ नहीं चाहिए।" तव राम ने पश्चिम सन्ध्या की, और लक्ष्मण से लाया हुआ केवल जल पिया। वह रात्रि उन्होंने वृक्ष के नीचे ही शयन करके बिताई। लक्ष्मण धनुष-बाण लिये रात्रि में जागकर राम की रक्षा करते रहे।

यहाँ से आगे बढ़कर राम भरद्वाज के आश्रम में पहुँचे, जो गंगा-यमुना के संगम पर था। वहाँ उन्होंने सायंकाल को भरद्वाज के दर्शन किये। अपना परिचय उन्होंने इस प्रकार दिया :—

"पुत्रौ दशरथस्यावां भगवन् रामलक्ष्मणौ।
भार्या ममेयं कल्याणी वैदेही जनकात्मजा॥
मां चानुयाता विजनं तपोवनमनिन्दिता।

[अयोध्या० ५४।१३-१४

"हे भगवन्! अव मैं फल-फूल खाकर तापस-वेश में वन में प्रवेश करूँगा।" भरद्वाज ने यथोचित स्वागत किया। वहाँ से उन्होंने सुमन्त्र को रथ देकर लौटा

दिया। अगले दिन भरद्वाज ने राम से चित्रकूट पर निवास बनाने को कहा। वह स्थान उनके अनुकूल था। भौगोलिक दृष्टि से चित्रकूट उस समय वनखण्ड माना जाता था। वहाँ पर्वत, झरने, नदियाँ और वन-खण्डियाँ थीं, जिनमें जंगली पशु रहते थे। भरद्वाज ने संगम से चित्रकूट जाने का मार्ग भी बताते हुए कहा कि, मैं बहुत बार वहाँ हो आया हूँ। उन्होंने बेड़ा (काष्ठ संघाट महाप्लव) बनाकर यमुना को पार किया। फिर अंशुमती पार कर चित्रकूट पहुँचे।

चित्रकूट से आगे वाल्मीकि का प्रकृति-प्रेम फूट पड़ा। उन्होंने वन के वृक्ष, लता, पुष्प एवं वन्य पशु-पक्षियों का तथा जलधाराओं और झरनों का मुक्त हृदय से वर्णन किया है। मानो प्रकृति की यह शोभा उनके अन्तर में भरी हुई थी, जो उपयुक्त समय पाकर प्रकट हो उठी।

दशरथ के मन में राम के कदाचित् लौटने की जो एक क्षीण रेखा थी, वह भी जाती रही। उन्होंने राम के शोक में प्राण छोड़ दिये। जब राजा की दशाह-क्रियाएँ हो चुकीं, तब वसिष्ठ और मंत्रियों ने कैकय देश से भरत को बुलवाया। भरत ने लौटकर सब परिस्थिति को समझा। कैकेयी हर्षित थी कि भरत उसका स्वागत करेंगे, किंतु भरत का राम-प्रेम बहुत सूक्ष्म था। पहले तो उन्होंने कैकेयी को बुरा-भला कहा, पर पीछे अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया। वसिष्ठ, मंत्रियों और प्रजाजनों ने उनसे राज्य सँभालने का आग्रह किया, पर भरत ने यही कहा कि, "राज्य राम का है और मैं उन्हें वापस लाने के लिए वन जाऊँगा। मेरे बड़े भाई राम राजा होंगे, और मैं १४ वर्ष वन में रहूँगा :—

रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पंच च॥
आनयिष्याम्यहं ज्येष्ठं भ्रातरं राघवं वनात्।

[**अयोध्या० ७९।८-९**

मातृत्व के घमण्ड से भरी हुई अपनी माता की इच्छा कभी पूरी न होने दूँगा (**न सकामां करिष्यामि स्वामिमां मातृगन्धिनीम्, ७९।१२**)।" भरत की यह बात सुनकर सब लोगों ने उनका अभिनन्दन करते हुए कहा—"ऐसा उत्तम वचन कहनेवाले आपकी सेवा में पद्मा लक्ष्मी सदा विद्यमान रहें, क्योंकि आपका संकल्प अपने ज्येष्ठ भाई को राज्य देने का है।"

एवं ते भाषमाणस्य पद्मा श्रीरुपतिष्ठताम्।
यस्त्वं ज्येष्ठे नृपसुते पृथिवीं दातुमिच्छसि॥ ७९।१५

जब भरत ने राम को वापस लाने के लिए वन जाने का संकल्प कर लिया तो यात्रा से पूर्व एक टुकड़ी मार्ग बनानेवाली भेजी गई। इन्हें उस समय 'वर्त्मकर्म-कोविद' या 'मार्गिन्' कहते थे और आज-कल की भाषा में सफरमैना कहते हैं। ऐसे काम में निपुण ये लोग थे।

भूमि-प्रदेश जाननेवाले सूत्रकर्म-विशारद, खनक, यन्त्रक, कर्मान्तिक, स्थपति, यन्त्रकोविद, वर्धकि, वृक्षतक्षक, सूपकार, सुधाकार, वंशकार, चर्मकार ये लोग अपना साज-सामान लेकर पहले ही चल पड़े। ये लोग लता, वल्ली, गुल्म, ठूँठ और पत्थर को काटते-छाँटते मार्ग बनाने लगे। कुछ वृक्षरहित स्थानों में वृक्ष रोपे, और कुछ ने कुल्हाड़ों, टाँकियों और हँसियों से वनकटी करके रास्ता साफ़ किया। कुछ ने पुराने कुओं और गड्ढों को भरकर मार्ग को सम बनाया। पानी के लिए कुओं और स्रोतों को ठीक बनाया। इस प्रकार सरयू से गंगातट तक सुविधाजनक मार्ग तैयार कर दिया गया।

इसके उपरान्त, भरत राम को लाने के लिए चले। उन्होंने शृंगवेरपुर में निवास किया। वहाँ निषादाधिपति गुह भरत से आकर मिला। भरत ने उससे भरद्वाज-आश्रम का मार्ग पूछा। तब भरत प्रयाग-स्थित भरद्वाज-आश्रम में गये। वहाँ उन्हें भरद्वाज से ज्ञात हुआ कि राम चित्रकूट में कुटी बनाकर निवास कर रहे हैं। इस प्रसंग में वाल्मीकि ने भरद्वाज-द्वारा किये गये भरत के आतिथ्य का उल्लेख किया है। वह तो यथार्थ है, किन्तु भरत की सेना के आतिथ्य का विशद वर्णन कालान्तर में जोड़ा गया उपबृंहण है।

चित्रकूट में मन्दाकिनी नदी के तट पर सेना को ठहराकर भरत राम के आश्रम की ओर गये। दूर से उनकी सेना को देखकर लक्ष्मण का मन शङ्का से भर गया। वे अग्नि की तरह क्रुद्ध होकर राम से कहने लगे, "कैकेयी का पुत्र भरत सेना सजाकर हम दोनों का वध करने आया है। पर मैं स्वयं उसे मारूँगा। भरत के वध में कोई दोष नहीं। वह पूर्वापकारी है। उसे जीवित छोड़ने में अधर्म होगा। बान्धवों के साथ कैकेयी को भी मैं छोड़नेवाला नहीं। शत्रु-सेना में आग लगाकर मैं वन को जला डालूँगा। सेना-सहित भरत को मारकर मैं अपने धनुष-बाण से उऋण बनूँगा।"

लक्ष्मण को क्रोधमूर्च्छित देखकर राम ने मीठे वचनों से शान्त किया, "लक्ष्मण! भरत के प्रति खड्ग या चर्म के प्रयोग का अवसर नहीं। पिता के वचन की रक्षा के लिए भरत को मारकर मुझे राज्य तो क्या, अधर्म से प्राप्त इन्द्रत्व भी नहीं चाहिए। भरत के बिना जो सुख हो उसे अग्नि जला डाले। मेरी समझ में भरत मेरे वनवास के दुःख से शोकाकुल होकर मुझसे मिलने आ रहा है। कैकेयी से रुष्ट हो और पिता को प्रसन्न करके मुझे राज्य देने आया है। भरत से हमारा अहित न होगा। तुमने भी पहले कभी उसके विपरीत नहीं सोचा। अब यह शङ्का क्यों करते हो? तुम भरत के लिए ऐसे निष्ठुर और अप्रिय वचन न कहो। यदि राज्य के लिए तुम ऐसा कहते हो, तो भरत के आने पर मैं उससे कहूँगा कि वह राज्य तुम्हें दे दे। मेरी बात सुनकर भरत उत्तर में केवल 'हाँ' कहेगा।" राम के यह वचन सुनकर लक्ष्मण लज्जा से अपने शरीर में सिकुड़ गये। बात बदलने के लिए लक्ष्मण ने कहा, "मालूम

होता है, पिताजी स्वयं आपसे मिलने आये हैं।" लक्ष्मण को यों संकोच में पड़ा देखकर राम ने कहा, "नहीं, स्वयं भरत ही मुझसे मिलने की इच्छा से आया है। अथवा वन का कष्ट देखकर वह हमें घर ले चलेगा। लक्ष्मण ! तुम वृक्ष से नीचे उतर आओ। भरत से युद्ध नहीं होगा। उस पर्वत की तलहटी में सेना को ठहराने का प्रबन्ध करो।"

गुह की सहायता से रामाश्रम का पता लगाकर भरत माताओं और मन्त्रियों के साथ राम के पास पहुँचे। वहाँ उन्होंने महती पर्णशाला में जटाधारी राम को बैठे हुए देखा। भरत धाड़ मारकर विलाप करने लगे, "मेरे जीवन को धिक्कार है, जिसके कारण राम को यह दुःख सहना पड़ा।" वे रोते हुए राम के पैरों में गिर पड़े। उनके मुख से केवल 'आर्य' शब्द निकला, और वे कुछ न कह सके। राम भी उनका आलिंगन कर रोने लगे।

राम ने पूछा--"हे तात ! पिता का क्या हाल है, क्योंकि तू उन्हें जीवित छोड़कर यहाँ नहीं आ सकता था। यहाँ राम ने भरत से राजनीति-संबन्धी अनेक प्रश्न किये, जो लगभग ७५ श्लोकों में है (१००।४-७५)। यह उत्तरगर्भित प्रश्नमुखी 'कच्चित' शैली थी। ये ही श्लोक स्वल्प-भेद से महाभारत के सभा-पर्व में 'नारद-राजनीति' नामक अध्याय में भी आये हैं। जैसे :—

रामायण—१००।२२ कच्चित्सहस्रैर्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम्।
पण्डितोह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यात् निःश्रेयसं महत्॥

महाभारत-स० पर्व—५।२४ कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम्।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्य्यान्निःश्रेयसं परम्॥

अन्त में, राम ने भरत से राज्य छोड़कर वहाँ आने का कारण पूछा। भरत ने कहा—"हे आर्य ! पिता स्वर्ग सिधार गये। माताएँ विधवा हो गईं। ऐसी परिस्थिति में मैं आपको लेने आया हूँ। आप चलकर अयोध्या का राज्य करें। कोसल की भूमि को अविधवा बनाइए। अपने पितृ-पैतामह मन्त्रिमण्डल के वचन की रक्षा कीजिए।" फिर भरत राम के चरणों पर गिर पड़े।

भरत को गले लगाकर राम ने कहा—"तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं है। माता कैकेयी की भर्त्सना करना भी उचित नहीं। महाराजा मुझे राज्यासन पर या कुशचीर पहनाकर वन में रखने में समर्थ थे। और पिता के तुल्य ही माता का भी गौरव होता है। मुझे तो वन-गमन के लिए माता और पिता दोनों की ही आज्ञा थी। तुम अयोध्या में राज्य करो, मैं दण्डक वन में रहूँगा।"

भरत ने बारम्बार राज्य स्वीकार करने के लिए राम से आग्रह किया, किन्तु राम किसी प्रकार सहमत न हुए।

यहीं जाबालि नामक एक ब्राह्मण ने, जो अयोध्या के विस्तृत मन्त्रिमण्डल में भी थे, राम से कुछ लोकायतिक दर्शन के अनुसार वाक्य कहे—"हे राम ! इस

प्रकार का निरर्थक विचार मत करो। तुम तपस्वी और आर्यबुद्धि हो, क्यों साधारण पुरुष की तरह सोचते हो। कौन किसका सगा है ? मनुष्य अकेला आता है और अकेला ही जाता है। कोई किसीका नहीं है। जो माता-पिता, भाई-बन्धु का सम्बन्ध मानता है, वह उन्मत्त है। जैसे किसी वाहरी गाँव को जाता हुआ व्यक्ति मार्ग में ठहर जाता है और फिर उस स्थान को छोड़कर आगे बढ़ जाता है, ऐसेही यहाँ रिश्ते-नाते का सम्बन्ध है। पिता-पितामह का राज्य छोड़कर तापस-वेश में तुम्हारा वनवास अच्छा नहीं। समृद्ध अयोध्या में अपना अभिषेक कराओ। वह नगरी तुम्हारे वियोग में एकवेणी स्त्री के समान दुखी है। जैसे इन्द्र स्वर्ग में, वैसे भी तुम महार्घ भोगों को भोगते हुए अयोध्या में विहार करो। दशरथ तुम्हारे कोई नहीं, न तुम दशरथ के कोई हो। जैसा मन में आवे वैसा करो। राजा वहाँ चले गये, जहाँ तुमभी जाओगे। प्राणियों की यही गति है। परलोक कुछ नहीं है, ऐसा सोचो। प्रत्यक्ष को ही ग्रहण करो, परोक्ष को पीछे फेंकदो। भरत तुम्हें मना रहे हैं तो राज्य ले लो।"

जावालि के वचन सुनकर राम ने कहा—"जो अकार्य है और अशक्य है, तुम ऐसी बात कह रहे हो। धर्म के वेश में यदि मैं इस अधर्म को स्वीकार करूँगा तो अशुभ विधिहीन क्रिया को स्वीकार करूँगा। मैं स्वेच्छाचारी नहीं बनूंगा। राजा जैसा आचार करते हैं, प्रजाएँ भी वैसाही करती हैं :—

यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः।

[अयोध्या० १०९।९

ऋषियों और देवों ने सत्य को ही माना है। सत्यवादी पुरुष ही परम अक्षय लोक को पाता है :—

सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम्।

[अयोध्या० १०९।११

सत्यपरायण धर्म ही लोक में सबका मूल है—

धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते। [अयोध्या० १०९।१२

लोक में सत्य ही ईश्वर है। सत्य पर ही धर्म आश्रित है। सत्य सबका मूल है। सत्य से कोई और ऊँचा नहीं है :—

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥ [अयोध्या० १०९।१३

दान, यज्ञ, तप और वेद सब सत्यमूलक हैं। अतः सबको सत्यपरायण होना चाहिए।"

ऊपर के इन वाक्यों (५६ श्लोकों) में चार्वाक् के 'लोकायतिक' दर्शन और वेदों के 'सनातन' दर्शन के उत्तर-प्रत्युत्तर या दो दृष्टिकोण कहे गये हैं। राम सत्यवादी वैदिक दर्शन के अनुयायी हैं। जावालि के दृष्टिकोण को नास्तिक मत कहा गया है, जैसाकि वस्तुतः बृहस्पतिकृत प्रत्यक्षवादी भौतिक चार्वाक् दर्शन था। वसिष्ठ

ने भी राम से राज्य ग्रहण करने का आग्रह किया, पर राम के किसी भी प्रकार न मानने पर भरत ने उनकी चरणपादुका ग्रहण की, और अयोध्या को लौट आये। वहाँ वे राम की चरणपादुका को ही सिंहासन पर आसीन कर नन्दिग्राम में रहकर राज्य-शासन चलाने लगे।

अबतक राम का समय सुख-शान्ति से बीता था। अब दण्डकवन की राजनीति की छाया उनके मन पर पड़ने लगी। वे अत्रि मुनि के आश्रम में पहुँचे, और आगे के घटना-चक्र का नागपाश उन्हें उत्तरोत्तर कसने लगा। उन्होंने देखा कि चित्रकूट के ऋषि-मुनि कुछ घबराये हुए हैं। पूछने पर उस आश्रम के वृद्ध उपकुलपति ऋषि ने बताया, "राम, जबसे तुम यहाँ आये हो, रावण के छोटे भाई खर का उपद्रव बढ़ने लगा है। हम अब अन्यत्र चले जायेंगे। तुम्हें भी यह स्थान छोड़ देना चाहिए।" यह कहकर उस कुलपति ने अपने साथियों के साथ स्थान बदल दिया और राम भी अत्रि के आश्रम की ओर गये। वहाँ मुनि ने उनका स्वागत किया और ऋषि-पत्नी अनसूया ने पातिव्रत धर्म के विषय में सीता को बहुत कुछ उपदेश दिया :

नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाऽशुभः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्त्ता तासां लोका महोदयाः।।

[अयोध्या० ११७।२३

अत्रि के आश्रम में अनेक ऋषियों ने मिलकर राम से राक्षसों के उपद्रव की चर्चा की, और उन आततायियों से युद्ध करके अपने कष्ट दूर करने को कहा।

इस परिस्थिति को समझकर राम ने निश्चय कर लिया कि अपने-आपको इस संकट में डालही देना चाहिए, और वे सीता और लक्ष्मण के साथ गहन वन की ओर चल पड़े।

यह प्रदेश उस युग में घने जंगलों से भरा हुआ था। कहीं-कहीं पर आर्य-वस्तियाँ थीं, जिन्हें ऋषियों के आश्रम कहा गया है। वहाँ अधिकांश निषाद, शबर आदि जातियाँ बसी हुई थीं, जिनको राक्षस कहा गया है। ये स्वच्छन्द रहते थे और ऋषियों के साथ यथेच्छ व्यवहार करते थे।

वन में अनेक ऋषि मिलकर राम के पास आये। अपनी प्रसन्नता प्रकट की। यह विन्ध्याटवी का पहला जंगल था। यहाँ विराध नामक राक्षस से पहली मुठभेड़ हुई। विराध का शरीर हाथी के जैसा बलधारी था। वह राम-लक्ष्मण को कन्धों पर चढ़ाकर ले भागा। पर दोनों भाइयों ने अवसर पाकर उसकी भुजाएँ तोड़ डालीं और उसे गिरा दिया। यहाँ वाल्मीकि ने एक महत्त्वपूर्ण सूचना दी है।

घायल पड़े हुए विराध ने राम से कहा—"हमारी सनातन प्रथा मृत शरीर को गड्ढे में गाड़ने की है, तुम मेरे लिए ऐसाही करो।" यहाँ गड्ढे के लिए श्वभ्र, प्रदर, अवट और विल इन चार शब्दों का प्रयोग किया गया है। श्वभ्र निखात, निक्षेप,

अवट-निधान, बिल-प्रवेश अथवा प्रदर-निपातन इन चारों का अभिप्राय शरीर को गड्ढे में फेंकना था। इसके बाद उसे भारी-भारी शिलाओं से ढक दिया जाता था, जिसे यहाँ शिला-अन्तर्धान कहा गया है। इसे अंग्रेजी में मेगैलिथ बरियल (Megalith burial) कहा जाता है। इसेही दक्षिण में आजतक 'राक्षस गल्लू' कहते हैं, और इस प्रकार के हज़ारों नमूने पाये गये हैं।

वहीं पर विराध से राम को सूचना मिली कि पास में शरभंग मुनि का आश्रम है। वह शरभंगा नदी के किनारे था। ज्ञात होता है, शरभंग मुनि विराध के मित्र बनकर वहाँ अपना आश्रम बनाये हुए थे। उस खुले वन में राम भी कुछ सहम गये, और शरभंग-आश्रम में चले जाने का विचार किया।

शरभंग मुनि उस समय जराजीर्ण होकर मरणासन्न थे। उन्होंने राम से कहा—"यहाँ से कुछ दूर मन्दाकिनी के झुरमुट में सुतीक्ष्ण मुनि का आश्रम है, वहीं चले जाओ।" वहीं शरभंग के आश्रम में दण्डकवन के अनेक मुनि-समुदायों ने राम से अपनी रक्षा के लिए राक्षसों से युद्ध ठानने की प्रार्थना की। उनमें ये लोग थे :—

वैखानस, बालखिल्य, संप्रक्षाल, मरीचिप, अश्मकुट्ट, पत्राहार, दन्तोलूखली, उन्मज्जक, गात्रशय्य, अशय्य, अनवकाशिक, सलिलाहार, वायुभक्ष, आकाशनिलय, स्थण्डिलशायी, ऊर्ध्ववासी, दान्त, आर्द्रपटवासा, सजप, तपोनिष्ठ और पंचाग्निसेवी।

राम सुतीक्ष्ण मुनि के आश्रम में आये। नदी और पहाड़ पार कर उन्होंने एकान्त में एक आश्रम देखा। उसके बीच में ऊँचे बाँसों से चीर मालाएँ बँधी हुई थीं। सुतीक्ष्ण उस प्रदेश में प्रभावशाली व्यक्ति थे। उनसे सब हाल-चाल पाकर राम ने यह कहते हुए विदा ली कि अब हम शीघ्र ही दण्डकवन के और दूसरे आश्रमों में ऋषिमण्डल से मिलते हुए आगे जायेंगे।

यहीं राम को राक्षस-संहार के लिए उद्यत देखकर सीता ने समझाया। किसीसे अकारण वैर मोल लेना ठीक नहीं है। राक्षसों ने आपका क्या बिगाड़ा है? आप पिता का वचन पालने के हेतु यहाँ आये हैं। सब प्राणियों के प्रति शुभ दर्शन रखते हैं। फिर आप बिना वैर के ही इस रौद्र प्रतिहिंसा के लिए क्यों कमर कस रहे हैं? आपने दण्डकवन के मुनियों की रक्षा के लिए राक्षस-वध की प्रतिज्ञा कर ली है। इस स्थिति में आपको देखकर मेरा मन चिन्ता से भर गया है :—

ततस्त्वां प्रस्थितं दृष्ट्वा मम चिन्ताकुलं मनः।
त्वद् वृत्तं चिन्तयन्त्या वै भवेन्निःश्रेयसं हितम्॥ [अरण्य० ९।१२

"मुझे आपका दण्डकवन में जाना अच्छा नहीं लगता। कहीं ऐसा न हो कि आप अपने इन बाणों का प्रयोग दण्डकारण्य के वनचरों पर कर बैठें। सुना है कि वन में तप करते किसी मुनि के यहाँ इन्द्र एक योद्धा का रूप धारण कर अपनी तलवार धरोहर के तौर पर रख गया। उससे उस मुनि में रौद्र बुद्धि आ गई और

उसका तप भंग हो गया। मैं स्नेह और मान से ही आपसे ऐसा कहती हूँ, कुछ उपदेश नहीं दे रही हूँ। वैर के विना दण्डकाश्रित राक्षसों के वध का विचार लोक में अच्छा नहीं होगा, जैसे बिनाही अपराध के किसीको दण्ड देना। कहाँ शास्त्र, कहाँ वन ? कहाँ क्षात्र-धर्म और कहाँ तप ? इन परस्परविरोधी बातों को एक में मिलाना ठीक नहीं। शस्त्र-सेवा से बुद्धि कातर हो जाती है। अयोध्या लौटकर आप क्षात्र-धर्म का आचरण कीजिएगा। आपने अबतक मुनि-जैसे नियमों का पालन किया है, वही आपका धर्म है" :—

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥ [अरण्य० ९।३०

सीता ने बात बहुत गहरी कही। पर राम को वह एक आँक भी अच्छी न लगी। उन्होंने कहा—"देवि ! तुमने ठीक ही कहा, किंतु तुमने ही तो पहले यह कहा था कि क्षत्रिय इसलिए धनुष धारण करते हैं कि लोक में कहीं दुःख की पुकार न हो,

क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त्तशब्दो भवेदिति। [अरण्य० १०।३

दण्डकवन के मुनियों ने स्वयं आकर मुझसे आर्त्त वचन कहे हैं, जिन्हें तुमने भी सुना है। क्रूरकर्मा राक्षस उन्हें चैन से फल-फूल भी नहीं लेने देते। तब मैंने उनकी रक्षा की प्रतिज्ञा की है। मैं और क्या करता? यहाँ राम के वीरोचित हृदय की स्पष्ट झाँकी मिलती है। वे भारी जोखिम उठाने के लिए तैयार हो गये। कहीं दुखियों की पुकार न सुनाई दे, इसीलिए क्षत्रिय शस्त्र धारण करते हैं, यही राम का दृष्टिकोण था। उन्होंने कहा—"सीते ! अब मैं अपनी उस प्रतिज्ञा से नहीं फिर सकता, चाहे राक्षसों के साथ युद्ध में तुम्हें और लक्ष्मण को भी छोड़ना पड़े :—

मुनीनामन्यथाकर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा।
अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्॥

[अरण्य० १०।१८

"हे वैदेहि ! स्नेह और सौहार्दवश ही तुमने ऐसा मुझसे कहा है।"

अब राम घोर दण्डक में प्रविष्ट होकर एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाते हुए आगे बढ़े। पहले उन्हें शातकर्णि मुनि का पञ्चाप्सरस् नाम का तटाक मिला। वे कहीं आधा दिन, कहीं एक दिन, कहीं दो-तीन दिन, कहीं चार-पाँच या छह-सात दिन, या आधा मास, एक मास या वर्षभर ठहरते हुए दण्डकवन में विचरने लगे, (अरण्य० ११।२४-२५)। इस प्रकार दस वर्ष बीत गये। तब वे सुतीक्ष्ण के आश्रम में पुनः लौट आये, जैसाकि मुनि ने उनसे पहले कहा था।

(**आगन्तव्यं च ते दृष्ट्वा पुनरेवाश्रमं प्रति**। ८।१६)। यह उल्लेखनीय है कि इतने समय तक राम की राक्षसों से कोई छेड़-छाड़ नहीं हुई। एक दिन सुतीक्ष्ण ने राम से स्वयं कहा कि, "तुम आजही झटपट यहाँ से चले जाओ।" मालूम होता

है कि राम की उपस्थिति से सुतीक्ष्ण को भी राक्षसों का कुछ खुटका पैदा हो गया था। राम संकेत पाकर अगस्त्य के आश्रम में चले गये। अगस्त्य का राक्षसों से पहले से ही झगड़ा था। वे वातापि और इल्विल से वैर मोल लेकर उनका वध करा चुके थे। उन्हींके कारण दक्षिण दिशा की ओर लोग आँख उठाने से डरते थे। उसके उपभोग की तो बात ही क्या ?

तस्येदमाश्रमपदं प्रभावाद् यस्य राक्षसैः।
दिगियं दक्षिणा त्रासाद् दृश्यते नोपभुज्यते ॥ [अरण्य० ११।८२

जब से अगस्त्य ने दक्षिण में अपना अड्डा जमाया, तबसे राक्षस निर्वैर और भयभीत हो गये। अगस्त्य कोई साधारण व्यक्ति न थे। उन्होंने विन्ध्य के निवासियों को अपना शिष्य बना लिया था और उन्हें उन सबका बल प्राप्त था। क्रूरकर्मा राक्षसों के लिए भी दक्षिण दिशा अगस्त्य के कारण दुर्धर्ष बन गई थी। राम ने सोचा, "यह लोक-पूजित अगस्त्य हमारे लिए कल्याणकारी सिद्ध होंगे। मैं अगस्त्य से मिलकर अपने वनवास का शेष समय भी सुख से बिता दूँगा।" ज्ञात होता है कि अगस्त्य के आश्रम में आर्य और निषाद दोनों संस्कृतियों का मेल था, और उनकी शिष्य-मण्डली में दोनों जातियोंके लोग थे। स्पष्ट लिखा है कि यक्षत्व और अमरत्व दोनों की सिद्धि अगस्त्य के यहाँ होती थी :—

यक्षत्वममरत्वं च राज्यानि विविधानि च। [अरण्य० ११।९३

यक्ष-संस्कृति और देव-संस्कृति दोनों का मेल अगस्त्य ने किया, और अनेक राज्यों को अपना अनुयायी बनाया।

अगस्त्य के आश्रम में वैदिक-जैसे इन्द्र, अग्नि तथा लौकिक जैसे गरुड़, नाग आदि अनेक देवताओं के थान और चौरे थे। राम ने बड़ी औपचारिकता से अपने आने की सूचना कराई, और फिर महामुनि अगस्त्य से जाकर मिले। अगस्त्य ने स्वागत करके उन्हें ठहराया और अपने यहाँ के शस्त्रास्त्र दिये। परन्तु राम ने रहने के लिए दूसरा स्थान पूछा। अगस्त्य ने अपने आश्रम से दो योजन दूर पञ्चवटी नामक स्थान का वर्णन किया, और राम वहीं जाकर ठहर गये। इस वर्णन के मूल में यह संकेत स्पष्ट है कि अगस्त्य नहीं चाहते थे कि उनके आश्रम में रहते हुए उनका राक्षसों से कोई टण्टा बढ़े। राम ने भी यही ठीक समझा, और अलग पञ्चवटी में रहने लगे। यहाँतक सीता उनके साथ थीं। पञ्चवटी के मार्ग में राम को गृध्र जाति के जटायु से भेंट हुई। राम ने समझा कि यह कोई पक्षी जाति का राक्षस ही है, पर जटायु ने अपनेको राम के पिता दशरथ का मित्र बताया। जटायु गरुड़ के छोटे भाई अरुड़ का पुत्र था। उसकी माता का नाम श्येनी था। संपाति उसका बड़ा भाई था। ऐसी वंश-परम्परा ये लोकवार्ता के अनुसार मानते थे।

राम द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर गोदावरी के समीप लक्ष्मण ने विपुल पर्णशाला बनाई। पञ्चवटी में रहते हुए राम को कहीं शूर्पणखा ने देख लिया। बस, यहीं से

बात का बतंगड़ बढ़ गया। वह राम पर मोहित हो गई। अन्त में शूर्पणखा को लक्ष्मण ने विकृत कर दिया। उसके भाई खर ने राम से युद्ध किया, पर वह भी परास्त हुआ।

जनस्थान में यह घटना घटी, तब अकम्पन ने जाकर रावण को सूचना दी। रावण ने प्रतिशोध की बात सोची, और इस सम्बन्ध में वह ताटका-पुत्र मारीच से मिला। शूर्पणखा स्वयं रावण के पास पहुँची। उसे धिक्कारती हुई उसने राम-लक्ष्मण और सीता का पूरा वर्णन सुनाया। रावण पुनः मारीच के पास गया, और उसने वह षड़यन्त्र रचा जिसके द्वारा वह राम-लक्ष्मण को आश्रम से दूर ले जाकर सीता का हरण कर सके। यहाँ व्यञ्जना से यह स्पष्ट है कि रावण भी राम-लक्ष्मण से सीधी मुठभेड़ नहीं चाहता था। मारीच के साथ रावण का षड़यन्त्र सफल हुआ, और वह सीता को अकेली पाकर हर ले गया।

वानर जाति की राजधानी किष्किन्धा थी। वहाँ सीता ने अपने वस्त्रों और आभूषणों के कुछ चिह्न गिरा दिये, जो राम के वहाँ पहुँचने तक उस जाति के लोगों ने अपने राज-घराने में सँभाल रखे थे।

मार्ग में जटायु ने बाधा की, पर वह सफल न हुआ। रावण ने लंका में पहुँच-कर सीता को अशोक-वाटिका में रख दिया।

सीता को आश्रम में न पाकर राम परिस्थिति को समझ गये। उनके भीतर से शोक और क्रोध का नया ज्वालामुखी फूट पड़ा। जटायु से उन्हें सब हाल ज्ञात हो गया। सीता की खोज और राक्षसों का वध अब यही दो प्रश्न उनके सामने थे। किष्किंधा, सुन्दर और युद्धकाण्ड में उन्होंने अपनी समस्त लोक-संग्रह की बुद्धि, शौर्य और शक्ति का परिचय देकर इन्हीं दो प्रश्नों का सफल समाधान किया।

मार्ग में राम ने शबरी से भेंट की। वह शबर जाति की श्रमणा थी। उसने राम का स्वागत किया। वहाँ से राम पम्पा के निकट किष्किंधा पहुँचे। यहाँ हनुमान् के द्वारा सुग्रीव से उनकी मित्रता हुई। दक्षिण की वानर जाति के राजा सुग्रीव थे, और ऋक्ष जाति के जाम्बवान्। ये सुग्रीव के मित्र थे। वानर जाति में राम को एक ऐसे सहायक प्राप्त हुए, जिनके बुद्धि-बल, शरीर-बल और सेवा-भक्ति की प्रशंसा शब्दों से नहीं की जासकती। हनुमान् राम के लिए अनुपम सहायक सिद्ध हुए। हनुमान् समुद्र-पार रावण की लङ्का में गये। यह सबको पता लग ही चुका था कि रावण ही सीता को हर ले गया है। रामायण में वाल्मीकि ने रावण-पालित लङ्का का और उसके महलों का बहुत ही ज्वलन्त वर्णन किया है, जो किन्हीं अर्थों में अयोध्या के वर्णन से बढ़कर है। रावण वेदज्ञ ब्राह्मण था। किंतु कर्मों का खोटा था और स्वभाव का हठी। कितनों ने ही उसे समझाया, पर वह टस से मस न हुआ, और राम से युद्ध करते हुए अपने परिवार के साथ खेत रहा। यहाँ पर रावण-वध की यह महती कथा समाप्त होती है।

रावण के भाई विभीषण को राज्य देकर सीता और लक्ष्मण-सहित राम अयोध्या लौट आये। वहाँ भरत ने उनका हृदय से स्वागत किया, और कहा—"महावली वृषभ के द्वारा जैसे अपने तरुण बछड़े के कन्धे पर रखे हुए जूये को वय किशोर नहीं ढो पाता; वैसेही मैं इस राज्य का बोझ ढोने में असमर्थ हूँ। हे राम! कृपया अब आपही इस गुरु भार को सँभालिए :—

धुरमेकाकिना न्यस्तां वृषभेण बलीयसा।
किशोरवद् गुरुं भारं न वोढुमहमुत्सहे ।। [युद्ध का० १२८।३

जैसे कौवा हंस की चाल नहीं जानता, वैसेही मैं आपके मार्ग से अपरिचित हूँ। हे राघव! संसार आपको मध्याह्नगत सूर्य के समान अभिषिक्त देखना चाहता है। जबतक कालचक्र घूमता है और जहाँतक पृथिवी का विस्तार है, उसपर आप शासन कीजिए।" राम ने 'तथा' कहकर भरत के इस वाक्य को स्वीकार किया।

तब सहज चुटुकीवाले (सुहस्त) नापितों ने राम का क्षौर किया (श्मश्रु-वर्धनाः)। शत्रुघ्न ने राम और लक्ष्मण को सब भाँति सजाया, तथा माताओं ने सीता को। कौसल्या ने प्रसन्न होकर वानर-पत्नियों का भी शृंगार कराया। सुमन्त्र ने अग्नि और सूर्य के समान चमकता हुआ रथ जोड़ा और उसपर राम बैठे। सुग्रीव और हनुमान् ने स्नान करके दिव्य वस्त्र और कुण्डल पहने। सुग्रीव की पत्नियों के साथ सीता अयोध्या की शोभा देखने निकलीं। तब वसिष्ठ के साथ सब मन्त्रियों ने राम-राज्य और नगर की वृद्धि के लिए विचार किया, और राम के अभिषेक के संबंध में सब प्रकार की मंगलार्थक तैयारी का निश्चय किया। राम रथ पर बैठकर नगर में आये। भरत ने रास पकड़ी। शत्रुघ्न ने छत्र लगाया। लक्ष्मण पंखा झलने लगे। विभीषण चँवर डुला रहे थे। सुग्रीव को शत्रुञ्जय नामक महागज पर बैठाया गया। उस समय शंख और दुन्दुभी की ध्वनि होने लगी। जब राम ने हर्म्य-मालिनी अयोध्यापुरी में प्रवेश किया, ब्राह्मण और प्रजाजन उनके चारों ओर रथ को घेरकर चलने लगे। रथ के आगे अक्षत, सुवर्ण और गायें, अष्ट कन्याएँ तथा ब्राह्मण चले। गाने-बजानेवालों की मण्डली के साथ चले। पुरवासियों ने घर-घर में पताकाएँ फहराईं, राम पिता के महल में आ पहुँचे, जहाँ से वे चौदह वर्ष पूर्व वन को गये थे। भरत से राम ने कहा—"मेरा जो अशोक-वाटिका-सहित निधि-भवन था, उसमें सुग्रीव को ठहराओ।" सुग्रीव ने चार सुवर्णघट वानरों को दिये, जिन्होंने ४ समुद्रों का जल भरा और ५०० नदियों का जल भी कुम्भों में लाया गया। ब्राह्मणों, मन्त्रियों और पुरवासियों ने राम का अभिषेक किया।

वसिष्ठ ने सीता के साथ राम को रत्नजटित पीठ पर बैठाया। मनु के अभि-षेक के लिए ब्रह्मा ने जो दिव्य मुकुट बनाया था, वह इक्ष्वाकु वंश में चला आता था। उसेही राम ने पहना। सुनहले चित्र-कटावों से अलंकृत सभाओं में वसिष्ठ ने राम को महापीठ पर बैठाकर उस सुनहले किरीट को रखा, जिसे अनेक राजे

पहले पहन चुके थे। छत्र शत्रुघ्न ने हाथ में लिया और सुग्रीव ने एक श्वेत चँवर, विभीषण ने दूसरा चँवर हाथ में लिया। इन्द्र की प्रेरणा से वायु ने सौ सुनहले पुष्पों की माला और एक मुक्ताहार पहनाया। राम के अभिषेक में देवता गान और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। अभिषेक-उत्सव के समय पृथिवी अन्न से भर गई, वृक्ष फलों से लद गये, पुष्प अधिक सौरभ फैलाने लगे :—

भूमिः सस्यवती चैव फलवन्तश्च पादपाः।
गन्धवन्ति च पुष्पाणि बभूवू राघवोत्सवे ।। [यु० का० १२८।७२

इस अवसर पर अश्व, रत्न, गौ, सुवर्ण आदि का बहुत-सा दान दिया गया। राम ने सुग्रीव को एक मणिमाला भेंट की तथा अंगद को बिल्लौर के बने हुए दो भुजबन्द दिये। जनक-नन्दिनी सीता ने अपने कण्ठ का हार उतारकर हनुमान् को पहनाया। अन्य वानरों को भी वस्त्रों और आभूषणों से सम्मानित किया गया। वे सब प्रसन्न होकर अपने-अपने स्थानों को लौट गये।

महायशस्वी राम राज्य का शासन करने लगे। शासन करते हुए लक्ष्मण से बोले, "हे धर्मज्ञ, मेरे साथ तुमभी इस पृथिवी का भार सँभालो। युवराज-पद पर स्थित होकर मेरे समान तुमभी इस भार को उठाओ :—

आतिष्ठ धर्मज्ञ मया सहे मां, गां पूर्वराजाध्युषितां बलेन।
तुल्यं मया त्वं पितृभिर्धृता या, तां यौवराज्ये धुरमुद्वहस्व ।।
[यु० का० १२८।९२

राम ने अनेक यज्ञ किये, और दीर्घ-कालतक राज्य किया। उनके राज्य में विधवाओं का रुदन नहीं था। न सर्पादि एवं हिंस्र पशु का भय था। लोक दस्युओं से रहित हो गया। किसीको कोई अनर्थ नहीं सताता था। सब धर्मपरायण हो गये। राम का दर्शन करते हुए एक दूसरे के प्रति हिंसाभाव से मुक्त हो गये। सब लोग सहस्रों पुत्र-पौत्रों से सुखी, नीरोग, शोकरहित हो गये :—

आसन् वर्ष सहस्राणि तथा पुत्र सहस्रिणः।
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति ।। [यु० का० १२८।१०१

यह उल्लेखनीय है कि वाल्मीकि-कृत रामायण की समाप्ति युद्धकाण्ड में हो जाती है। इसी काण्ड के अन्त में राम-राज्याभिषेक का वर्णन है और अन्त में फल-श्रुति भी दी गई है :—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं राज्ञां च विजयावहम्।
आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम् ।।
[यु० का० १२८।१०७

यह राम-कथा तबतक लोक में प्रचार पाती रहेगी, जबतक भूलोक में पर्वत और नदियाँ चिरायु हैं :—

यावत् स्थास्यन्ति गिरयो नद्यश्च महीतले ।
तावदियं रामकथा लोकेषु प्रचलिष्यति ।।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वाल्मीकि-रामायण में पहले पाँच ही काण्ड थे। उसका आरम्भ अयोध्याकाण्ड से और समाप्ति युद्धकाण्ड में होती थी। बाल-काण्ड और उत्तरकाण्ड कालान्तर में आगे-पीछे संकलित हुए, जब गुप्त-युग में उसे काव्य-रूप में पल्लवित किया गया।

राम का चरित्र*

[श्री वी. एस. श्रीनिवास शास्त्री]

श्रीराम का चरित्र कुछ भिन्न प्रकार का है। जीवन उनका कुछ जटिल या उलझा हुआ-सा है। उनके कुछ गुण उनके दूसरे गुणों से मेल नहीं खाते। कुछ ऐसे कार्य उन्होंने किये, जिनपर सदा विवाद रहा है। हममें से कुछ लोग, जो राम के भक्त भी हैं, सुयोग्य आलोचकों के मार्ग-दर्शन में राम के कुछ कार्यों के विवेचन करने का साहस करते हैं। मानव-स्वभाव का अध्ययन और उसे उदाहरण के रूप में सामने रखना ही जिन लेखकों का काम है, और जो केवल उनके कार्यों पर ही ध्यान देते हैं, वे अलग कोटि के होते हैं। उनमें से सभी विशेषज्ञ नहीं होते हैं। जब वे अपने पात्रों के चरित्र का निर्माण करते हैं, तब न तो उनमें तालमेल रहता है और न सौष्ठव ही होता है। कुछ लेखक अपने पात्र के चरित्र का वर्णन अपने सतत साथी के रूप में करते हैं। वे उनके विचारों के साथ-साथ मानो विचरण करते हैं। वे उनको अपनी ऐसी आकांक्षाओं के अनुरूप ढालते हैं, जैसाकि उन्हें बनाना चाहते हैं। संसार के महान् लेखक वे ही होते हैं, जो अपने नायक और नायिका के कार्यों को अपनी धारणाओं के अनुसार ढाल सकते हैं।

ऐसा लगता है कि वाल्मीकि राम के चरित्र या उनके कथानक के स्वयं निर्माता नहीं हैं। यह भी कहना कठिन है कि वाल्मीकि अपने कथानक की उन घटनाओं के आविष्कारक हैं, जिनसे उनके नायक और नायिका के चरित्र की विशेषता का पता चलता है। उनके चरित्र का निर्माण भी युगों-पूर्व हुआ दीखता है। मैं वाल्मीकि और उनके कथानक को सामान्य मानव की दृष्टि से देख रहा हूँ। परम्परा से यह बात मानी जाती है कि वाल्मीकि श्रीराम के समकालीन थे, और उस युग में ही उन्होंने इस महाकाव्य को रचा था। वास्तव में यह बात सही है या नहीं, पर इतना सत्य है कि राम के चरित्र-चित्रण और कथानक में वाल्मीकि की कल्पना काम में नहीं लाई गई। वाल्मीकि तो सम्भवतः विषय-वस्तु को प्रस्तुत करनेतक ही उत्तरदायी हैं। वे उन भावनाओं और कल्पनाओं को अपने पात्रों के चरित्र से जोड़ने के लिए उत्तरदायी हो सकते हैं, जिनका कि वर्णन किया गया है। भाषा तथा अलंकार आदि निःसंदेह उनके अपने हैं। तब यह पूछा जा सकता है कि रामायण में स्थान-स्थान पर राम का जो वर्णन किया गया है क्या वह उनको प्रदान

---

* 'लेक्चर्स ऑन दि रामायण' में के पाँचवें व्याख्यान से संकलित —सं०

किये गये चरित्र के अनुसार है ? निःसन्देह, मेरी राय में बात ऐसीही है।

वाल्मीकि ने क्या अपने कथानक के लिए राम के सम्बन्ध में प्रचलित सारी ही प्राचीन गाथाओं को लिया है अथवा उनमें से कुछ को, भले ही वे उनके अपने विचारों के अनुरूप न रही हों ? इस बारे में अनुमान ही किया जा सकता है। जब वे राम के चरित्र को पूर्णतया विकसित मानते हैं, और उनके सामर्थ्य का विवेचन करते हैं, तब हमें यह सोचना ही पड़ता है कि हो सकता है कि वे उन घटनाओं के चुनने में भी स्वतंत्र नहीं थे, क्योंकि उनमें पारस्परिक मेल नहीं बैठता। अतः इस परिणाम पर आना पड़ता है कि कुछ खास घटनाएँ, जिनका एक-दूसरे से तालमेल नहीं, कवि के चुनाव की इच्छा के अनुसार नहीं हैं। यह भी कि, कवि उन घटनाओं से सम्बन्ध रखनेवाली पुरानी परम्परा के कारण उनको छोड़ नहीं सका।

यदि हम राम को अपने जैसाही हाड़-मांस का पुतला मानें, और उनमें भी उन्हीं सब भावनाओं को देखें, जो हममें हैं, तो मानना होगा कि उनके विचारों में उतार-चढ़ाव आते थे। वे कभी किसी एक स्तर पर काम करते थे, तो कभी किसी दूसरे स्तर पर। तब हमें उनके चरित्र या उनके वचनों के बारे में अपने विश्वास के अनुसार निर्णय, उनकी स्थितियों के अनुरूप ही, करना पड़ेगा। अपने अनुभव से हम यह जानते हैं कि हममें से कोईभी कभी एकही प्रकार के विचारों पर स्थिर नहीं रह सकता। अच्छे वातावरण में, अच्छे विचारों और अच्छे काम करनेवालों के बीच में रहते हुए हम धार्मिक विचारों और कर्त्तव्य-भावनाओं को ग्रहण करने, और प्रलोभनों को दबा लेने के कारण कभी-कभी ऊँचे स्तर पर पहुँच जाते हैं। लेकिन यह दुर्भाग्य की बात है कि ऐसे क्षण सदा नहीं आया करते। ऐसी परिस्थितियाँ बहुत ही कम आती हैं, जिनके कारण हम सदा ऊँचे स्तर पर रह सकें। हमारे जीवन में प्रायः ऐसी दुर्भावनाएँ और प्रेरणाएं आती हैं, जो नीचे स्तर पर खींच ले जाती हैं। अनेक प्रकार के प्रलोभन हमारेही नहीं, बल्कि उन लोगों के भी सामने आ जाते हैं, जिन्होंने अपना जीवन त्यागपूर्ण और तपस्यामय बनाया है। हम देखते हैं कि यदि हमें बहुत ऊँचे स्तर पर रहना है, तो उस प्रकार के एक खास वातावरण की आवश्यकता होती है। अक्सर हमारा पतन हो जाता है, और हम ऐसे काम कर बैठते हैं, जिनको भिन्न वातावरण में न करते। उन कामों को जानते-बूझते हुए भी यह सोचकर हम करते हैं कि दूसरे लोगों को उसका पता न चलेगा, वे हमारी भूल को पकड़ नहीं सकेंगे, और किसी-न-किसी विचार से हमें क्षमा कर दिया जायेगा।

श्रीराम में सदाही ऊँचे स्तर पर रहने का असाधारण गुण था। वे कभी उस स्तर से या अपने उत्तम आचरण से नीचे नहीं उतरे। कभी ऐसा हुआ भी, तब उसका कारण उपेक्षा करने के जैसा था। कभी-कभी तो उसका कारण खोजना भी कठिन हो जाता है, क्योंकि मनुष्य की दृष्टि बहुत सीमित होती है। राम ने कई बार ऐसेभी कुछ काम किये और ऐसीभी बातें कहीं, जिनको उनका ऊँचा स्वभाव

अच्छा नहीं समझता था, जिनका समर्थन नहीं करता था। यह कहना कठिन है कि उन्होंने वैसे काम क्यों किये। क्या उन्हें उनके चरित्र की दुर्बलता ही समझा जाय? मेरे मत में इस प्रकार के कार्यों के कारण राम के चरित्र की उत्कृष्टता में रत्ती-भर भी कमी नहीं आती है। मैं निस्संकोच कहना चाहता हूँ कि राम को मानव के रूप में भी देखा जाय, तो भी उनका चरित्र स्वच्छ है, पूर्णत: निर्मल है।

जब श्रीराम के हाथ में सम्राट् के रूप में शासन की बागडोर नहीं थी, और न किसीको देने के लिए धन-सम्पत्ति उनके अधिकार में थी, तबभी वे, उस युवा-काल में ही, कीर्ति के ऊँचे शिखर पर पहुँच गये थे। बड़ा या छोटा, शासक या साधारण प्रजा, ऋषि-मुनि या महान् योद्धा, जो भी उनके सम्पर्क में आया, वह श्रद्धा से उनके सामने नतमस्तक ही होता रहा। उनके अपने भाई भी, जो आयु में समान ही थे, सदा उनको अपने से बड़ा, चरित्र में महान् और श्रद्धेय समझते रहे। जहाँ-जहाँ उनकी बराबरी के भी लोग उनके सम्पर्क में आये, वे उनसे अपनी समानता का साहस नहीं कर सके। इसका बहुत ही सुन्दर उदाहरण युद्ध-काण्ड के अन्तिम दृश्य में मिलता है। युद्ध समाप्त हो चुका था। श्रीराम ने अपने सामने सीता को बुलाया,—उसी सीता को जिसके कारण इतना बड़ा युद्ध हुआ, जिसके कारण उन्होंने बड़े-से-बड़े त्याग किये और जिसे वे अपनी प्राणवल्लभा मानते थे। उस समय सीता के प्रति जो शब्द उन्होंने कहे, उनसे सीता को ही नहीं, किन्तु लक्ष्मण, विभीषण, सारी वानर-सेना तथा युद्ध में बचे राक्षसों को भी अत्यन्त दु:ख हुआ। जब वे गंभीर तथा निराश-से बैठे कठोर शब्द कह रहे थे, तब सब उनकी ओर देखते हुए सोचने लगे कि राम आखिर चाहते क्या हैं! उस समय न तो वे सम्राट् थे और न उच्च कोटि के राजर्षि ही। पर क्यों किसीने भी उनका प्रतिवाद नहीं किया? हरेक ने यही सोचा कि राम जो-कुछ कह रहे हैं, उसके विवेचन करने की सामर्थ्य हममें नहीं है। स्पष्ट है कि किसीने भी उस बात को अच्छा नहीं माना होगा, पर विरोध में एक भी आवाज़ नहीं उठी। बात यह है कि राम के पास जो भी आया, वह इतना अधिक प्रभावित हो गया कि उसके लिए उनका वचन एक अटल सिद्धान्त बन गया, और जो भी आदेश उन्होंने दिया उसका पूरा पालन, बिना किसी हिचक के, उसने किया। कोई उनका विरोध नहीं कर सकता था। वह कितना महान् होगा जो बिना किसी प्रतिवाद के इस अनुपम उच्चता तक पहुँच गया! ऐसा होना असंभव था, यदि श्रीराम सत्य के महान् रक्षक और स्वयं धर्म के अवतार न होते। समय-समय पर भयंकर मुसीबतें आईं, और सबने उन्हें सांसारिक व्यवहार के अनुरूप सलाह दी, उन्हें नीचे स्तर पर लाने का यत्न किया। किन्तु उन्होंने सदाही ऊँचे चरित्र का उदाहरण रखते हुए सबको आश्चर्य-चकित कर दिया।

विभीषण को शरण में लेने का ही प्रसंग लीजिए। जब वह श्रीराम की शरण में आया, तो युद्ध-परिषद् में इसपर खासा विचार हुआ। परामर्श देनेवालों

में अनेक मुखिये थे। एक हनुमान् को छोड़कर किसीने भी यह परामर्श नहीं दिया, कि विभीषण को शरण में लिया जाय। एक-दो ने तो उसका वध कर देने की वात भी कही। परन्तु अकेले श्रीराम ने अपने चरित्र की परम उच्चता दिखाते हुए कहा, "कोई भी व्यक्ति व्यर्थ मेरी शरण में नहीं आता। कोई कैसा ही दुष्ट हो, भलेही अपात्र हो, स्वयं रावण-सरीखा भयंकर शत्रु ही क्यों न हो, यदि वह अहंकार छोड़कर मित्रता की भावना से मेरी शरण में आता है, तो मैं उसे निराश न करूँगा।" इस प्रतिज्ञा को श्रीराम ने पूरा निवाहा भी।

रावण के साथ भीषण युद्ध के समय का एक और उदाहरण है। युद्ध में रावण का रथ टूट गया, और उसे नीचे उतरना पड़ा। प्रसिद्ध धनुष भी उसका खण्ड-खण्ड हो गया। उस समय राम अपने महान् शत्रु को यदि चाहते तो नष्टकर सकते थे। पर उन्होंने अपनी उच्चता का परिचय देते हुए कहा, "रावण, तुम इस समय संकट में हो। मैंने आज तुम्हारा पराक्रम देखा। तुम वड़ी बहादुरी से लड़े। मेरे बहुत सारे वीरों का तुमने सामना किया। अब तुम्हें रथ से उतरना पड़ा है। मेरी ही तरह तुम विवश खड़े हो। तुम्हारा धनुष भी टूट गया है। तुम थक गये हो। मैं तुम्हें समय देता हूँ। घर जाओ और अच्छी तरह स्वस्थ हो दूसरे रथ पर बैठकर शस्त्र-सज्जित कल फिर युद्ध-भूमि पर आओ। तब मैं तुम्हें बताऊँगा कि युद्ध कैसे लड़ा जाता है।" क्या कभी कहीं ऐसी वात सुनी गई है? किसी वीर ने कभी ऐसा किया है?

रावण के धराशायी हो जाने के बाद का एक और उल्लेखनीय प्रसंग है। दुविधा में उलझा हुआ अश्रुपूर्ण विभीषण राम के पास आकर कहता है, "यह सत्य है कि रावण मेरा बड़ा भाई था। यह भी सत्य है कि वह मेरा शासक था। यह भी सही है कि उसने कई बार मेरी रक्षा भी की थी। किन्तु वह दुरात्मा था। उसने कितनी ही स्त्रियों का शील-भंग किया। लोगों के जीवन से खिलवाड़ किया, और अन्यायपूर्ण युद्ध किये। इसलिए मैं उसकी अन्त्येष्टि क्रिया नहीं करूँगा।" यह सुनकर कोई भी साधारण व्यक्ति कह सकता है कि, "तब ठीक है, उसकी लाश को समुद्र में फेंकदो।" परन्तु श्रीराम ने उस समय विभीषण से क्या कहा, "विभीषण! तुम्हारी यह भूल है। मैं किसी दुष्ट और नीच आदमी को युद्ध में नहीं मारता हूँ। रावण महान् योद्धा था, महान् पुरुष था। वह महान् सम्राट् था। बड़ी शान से उसने मौत पाई है। जाओ, शास्त्रोक्त विधि से तुम उसकी अन्त्येष्टि करो और पुण्य के भागी बनो।"

राम के चरित्र की यह कल्पनातीत निर्मलता और महानता थी। क्या यह भारी आश्चर्य नहीं कि संसार ने राम की छोटी-बड़ी सभी आज्ञाओं का सिर झुकाकर पालन किया और परमेश्वर का आदेश मानकर किया! इतने पर भी हम उस मानव-प्रकृति के कृतज्ञ हैं, जैसा कि कवि और सारा विश्व कहता है कि, यह स्वभाव

हम सबमें एक समान विद्यमान है। हम भय और शंकाओं से भरे हुए हैं। जैसा हम विचार और अनुभव करते हैं, श्रीराम भी वैसा ही करते रहे होंगे। दुःख उनको दुखी कर देते हैं, शोक उनको अभिभूत कर देता है और वे पीड़ा से विह्वल हो उठते हैं। कवि ने अनेक स्थानों पर उन्हें आँसू बहाते और विलाप करते दिखाया है। कई बार उनको क्रोध आ जाता है, और प्राण त्याग देने के लिए भी वे अधीर हो उठते हैं। लोगों को वे कटु वचन भी कह जाते हैं। हमारी-आपकी तरह वे शंकाशील भी हैं। यह न सोचा जाय कि राम के स्वभाव में यह बातें बताकर उनको ऊँचे स्तर से उतारकर नीचे लाया जा रहा है, और हम अपनेको ऊँचा उठाना चाहते हैं। यदि हमारे जैसे हाड़-मांस के पुतले अपनी भावनाओं के कारण रुष्ट और शोकाकुल होते हैं, तो हमारे लिए यह भी संभव है कि हम उस उच्च शिखर पर भी पहुँचें। भले ही उतनी ऊँचाई पर हम पहुँच न भी सकें, तो क्या थोड़ा-बहुत भी ऊँचा नहीं उठ सकते? क्या हम अपनी तामसी वृत्तियों का कुछ हदतक भी दमन नहीं कर सकते। जिन तामसी वृत्तियों से हमारा निर्माण हुआ है, उन सबको सात्विक वृत्तियों में पूरी तरह बदल देना कठिन है। किन्तु अपने स्वभाव को हम बहुत-कुछ अंशों में निर्मल तो बना ही सकते हैं, तभी रामायण के पाठ का लाभ हम ले सकेंगे।

यहाँ श्रीराम के चरित्र की कुछ ऐसी घटनाओं और प्रसंगों को हम दे रहे हैं, जिनसे उनके मानव-स्वभाव का पता चलता है, दैवी अथवा अतिमानवीय स्वभाव का नहीं।

प्रसंग है राजा दशरथ और उनकी पत्नी कैकेयी का। राजा का निश्चय बदलने के लिए कैकेयी हठ किये बैठी है। राम को जब वनवास का दुःखद समाचार सुनाने के लिए बुलाया गया, तब वे सीता के साथ बैठे थे। इससे पहले पिता ने उनसे राज्याभिषेक की बात कही थी। सीता से उन्होंने कहा था कि जीवन में ऐसे शुभ अवसर भगवान् की कृपा से ही आते हैं—

देवि देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे।
मन्त्रयेते ध्रुवं किञ्चिदभिषेचनसंहितम्॥

मन उनका स्वच्छ था। कोई शंका नहीं थी। कहते हैं, "देवि, निस्संदेह मेरे पिता और माता कैकेयी मेरे राजतिलक की तैयारी के संबंध में ही कोई अच्छी मंत्रणा कर रहे हैं।"

लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा।
सञ्चोदयति राजानं मदर्थं मदिरेक्षणे॥

कैकेयी का राम पर कितना अधिक स्नेह था, इसीसे वे कहते हैं, "निस्संदेह मुझपर स्नेह के कारण ही कैकेयी पिता से कह रही हैं कि राज्याभिषेक का यह शुभकार्य यथाशीघ्र आप सम्पन्न कीजिए।"

सा प्रहृष्टा महाराजं हितकामानुवर्तिनी ।
जननी चार्थकामा मे केकयाधिपतेः सुता ॥

यह निश्चित है कि माता कैकेयी पिता के अभिप्राय को देखकर मेरे राज्य-तिलक के लिए उन्हें प्रेरित कर रही होंगी । वे मुझपर सदा प्रसन्न रहती हैं, और महाराज के हित के पीछे चलनेवाली तथा मेरा कल्याण चाहनेवाली हैं ।

हन्त शीघ्रमितो गत्वा द्रक्ष्यामि च महीपतिम् ।
सह त्वं परिवारेण सुखमास्व रमस्व च ॥

अच्छा, यहाँ से शीघ्र जाकर महाराज का दर्शन करता हूँ और तुम सखी-सहेलियों के साथ सुख से तबतक यहीं रहो ।

श्रीराम का कैसा महान् चरित्र है ! वे अपने पिता से ही नहीं, सौतेली मां से भी अपने सौभाग्य की कामना करते हैं ।

और, जब उनको यह दुःखद समाचार मिला, तो लौटकर अपनी माता कौसल्या को वनवास की बात सुनाने जाते हैं। कवि यहाँ उनकी बात को एक दूसरी ही मोड़ दे रहा है । जब कौसल्या ने सुना कि राम के राज्यतिलक के बदले भरत को युवराज-पद मिलेगा, और चौदह वर्ष के लिए राम को दण्डकारण्य भेजा जा रहा है, तो कवि कहता है, राम का मुख वैसाही देदीप्यमान था, उसमें कोई अन्तर नहीं आया । देखकर यही प्रतीत होता था कि राम उसी समृद्धि और सौभाग्य के मार्ग पर खड़े हैं । उन्होंने तनिक भी निराशा और दुःख प्रकट नहीं किया ।

'धारयन् मनसा दुःखम्' अपने दुःख को अन्तर में दबाकर वे वहाँ गये । उनको अप्रसन्नता तो थी, किन्तु वे उसके वशीभूत नहीं हुए । यह बात नहीं कि उन्होंने दुःख का अनुभव नहीं किया, परन्तु इन्द्रियों पर उनका पूरा नियंत्रण था । अपने कर्त्तव्य के प्रति वे दृढ़ और उच्च विचार रखनेवाले थे, तो भी उनपर परि-स्थितियों का प्रभाव तो पड़ना ही था ।

इसके अनन्तर वे सीता के पास जाते हैं। स्वभावतः यह और भी कठोर अव-सर था—

प्रविवेशाथ रामस्तु स्ववेश्म सुविभूषितम् ।
प्रहृष्टजनसम्पूर्णं ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः ॥

संकोच के कारण नीचे को मुख किये राम हर्षितजनों से घिरे अपने भवन में गये—

अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च तं पतिम् ।
अपश्यच्छोकसंतप्तं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम् ॥

काँपती हुई सीता आगे बढ़ी, और पति का शोक-संतप्त चेहरा देखा।

यह क्या ? गम्भीर और विचार-मग्न ! अबतक राम

भावों को दबा रखा था, न तो चेहरे पर और न वाणी पर उन्हें आने दिया था। परन्तु सीता के आगे अपने मनोगत दुःख को वे रोक न सके, और वह प्रकट हो ही गया—

तां दृष्ट्वा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम् ।
तं शोकं राघवः सोढुं ततो विवृततां गतः ।।

मुख का रंग बदल गया था, पीला पड़ गया था। मनोभावों को वे रोक नहीं पा रहे थे।

'प्रभो ! यह क्या हुआ ? मन आपका व्यथित क्यों है', काँपती हुई सीता ने पूछा।

अब मैं एक दूसरे प्रसंग पर आता हूँ, जहाँ लक्ष्मण से राम बात कर रहे हैं। लक्ष्मण उनके साथ-साथ दण्डकारण्य में जाना चाहते हैं। किन्तु राम चाहते हैं कि वे अयोध्या में ही रहें। ऐसा वे क्यों चाहते हैं ? कारण क्या है ? यहाँ उनकी मानवीय दुर्बलता प्रकट होती है। लक्ष्मण से वे कहते हैं—

स्निग्धो धर्मरतो वीरः सततं सत्पथे स्थितः ।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विधेयश्च सखा च मे ।।

लक्ष्मण तुम मेरे स्नेही हो। धर्मरत हो और वीर हो। सदा सन्मार्ग पर चलते हो। मुझे प्राणों के समान प्रिय हो, मेरे अनुगामी हो और मित्र भी। इसलिए मैं जो कहता हूँ उसे मानना ही चाहिए तुम्हें। मैं वन जा रहा हूँ, सीता भी मेरे साथ जा रही है। और तुम भी मेरे साथ चलने को तैयार हो रहे हो। तब मेरी माता कौसल्या और यशस्विनी सुमित्रा की सेवा कौन करेगा ?

मयाऽद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम् ।
को भजिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम् ।।

राजा काम के वशीभूत हो गये हैं। कैकेयी ने उनकी मति हरली है और वह सफल हो गई है। अपने हठ से वह पीछे हटनेवाली नहीं। राम का दुःख असह्य ... ना है। कौसल्या और सुमित्रा की देखभाल हमारे पीछे कैकेयी करनेवाली

पिता और कहीं भरत भी अपनी माता के प्रभाव में न आ जायें—

मंत्रणा कर र

एवं कुरुष्व सौमित्रे मत्कृते रघुनन्दन ।
अस्माभिर्विप्रहीणाया मातुर्नो न भवेत्सुखम् ।।

लक्ष्मण ! तुम मेरी बात मानलो, क्योंकि हमारे वियोग में हम दोनों ... सुख नहीं होगा।

कैकेयी

मुझपर स्नेह के

शुभकार्य यथाश

...ते हैं कि यदि कोई दूसरा व्यक्ति कैकेयी के लिए कोई ऐसी बात ...म कैकेयी का पक्ष लेते हैं, और कहते हैं, उसकी निन्दा मत करो, ...सपर संदेह कर रहे हों और उसे बहुत अच्छा भी न समझते हों। ...स रहा हो कि दुर्भाग्य के निर्दय हाथ में पड़कर अनिवार्य परि-

स्थितियों में अपने पुत्र भरत के लिए उसने यह षड्यंत्र रचा है। श्रीराम कैकेयी के संबंध में जो यह छूट देते हैं वह दूसरे लोग नहीं देंगे। जब कभी लक्ष्मण कैकेयी के प्रति घृणा की भावना प्रदर्शित करते, और उसे बुरा-भला कहते हैं, तो राम उन्हें रोकते हैं, 'नहीं-नहीं, लक्ष्मण, ऐसी बात नहीं है।' इसी प्रकार जब कोई भरत की बुराई करता है, तब वे भरत के गुणों का बखान करते हैं।

हम देखते हैं कि कठिन परिस्थितियों में राम किस प्रकार बहुत-कुछ सर्व-साधारण की तरह ही अनुभव करते हैं। लोगों पर वे संदेह करते हैं। कैकेयी पर संदेह करते हैं, और किसी हद तक भरत पर भी। यह सब हम-जैसे मानवों के स्वभाव को ही प्रकट करता है।

एक ऐसा भी प्रसंग रामायण में आया है, जहाँ उन्होंने लोगों के साथ सरल परिहास और खेलवाड़ करना भी पसन्द किया। त्रिजाता नाम का एक निर्धन ब्राह्मण, अपनी स्त्री के कहने पर, राम से कुछ सहायता लेने आता है। कहता है, "आप इतना सारा दान-पुण्य कर रहे हैं, मुझे भी कुछ दीजिए। मैं एक निर्धन ब्राह्मण हूँ। मेरे बहुत-से बच्चे हैं। मेरी जीविका फसल कटे हुए खेतों के अन्न के दाने चुनने से चलती है। उससे इतने बड़े परिवार का पालन नहीं हो पाता। क्या आप मुझपर दया करेंगे?" उस समय राम ने उस ब्राह्मण से क्या कहा? कहते हैं, "यह डंडा लो और अपनी शक्तिभर इसे ज़ोर से फेंको। देखो, वहाँ मेरी सारी गौवें खड़ी हैं। जहाँतक यह डंडा जायेगा वहाँ खड़ी सारी गौवें तुम्हारी हो जायेंगी।" ब्राह्मण को लोभ में भरा देख राम उससे कुछ मनोरंजन करना चाहते हैं। उसने डंडा दो-तीन बार ज़ोर से घुमाकर फेंका। वह सरयू के उसपार जाकर गिरा। सारी गौवें राम ने उसे दे दीं, और कहा, "तुम्हारे प्रति मेरी यह क्रूरता थी। मैं यों भी तुम्हें गौवें दे सकता था, पर मैं जानना चाहता था कि किसी वस्तु को पाने के लिए तुम अपनी पूरी शक्ति लगा सकते हो या नहीं। तो भी मेरे लिए यह उचित न था। तुम्हें यह कष्ट नहीं देना चाहिए था। मैं क्षमा चाहता हूँ। मेरा तो यह केवल एक परिहास था। अब मैं प्रसन्न हूँ। और भी कुछ चाहते हो? मुझे प्रसन्नता होगी यदि कुछ और भी तुम्हें दे सकूँ।" त्रिजाता गर्ग-परिवार का ब्राह्मण था। वह तपप्रिय था। उसने कुछ और नहीं माँगा। यह कहकर चला गया, "राम! मैं इतने से ही परम संतुष्ट हूँ।"

ऐसे भी एक-दो प्रसंग आये हैं, जिनसे श्रीराम के स्वभाव पर एक दूसरे प्रकार का प्रकाश पड़ता है। वन जाने के समय का प्रसंग है। राम राज-भवन छोड़ रहे हैं। सारी अयोध्या नगरी में शोक छाया हुआ है। सीता और लक्ष्मण के साथ वे रथ पर बैठ जाते हैं। सुमंत्र सारथी का काम कर रहा है। दशरथ, कौसल्या और दूसरे परिजन उन्हें अंतिम बार देखने के लिए राज-भवन से बाहर निकल आये। वृद्ध राजा ने चिल्लाकर कहा, "सुमंत्र, ठहरो, ठहरो।"

"नहीं, सुमंत्र, रथ बढ़ा दो।" राम ने आदेश दिया। सुमंत्र निर्णय नहीं कर पा रहा कि वह क्या करे। राजा का आदेश माने या राम का। कवि कहता है कि सुमंत्र की गति उस व्यक्ति की तरह हो गई, जो रथ के अगले और पिछले पहियों में फँस गया हो। किंकर्त्तव्यविमूढ़ है वह। राम की ओर देखकर पूछता है, "आपके पिता मुझे जो आदेश दे रहे हैं, आप उससे यह बिल्कुल उलटी बात क्यों कह रहे हैं?"

"तुम्हें इस बात का डर है कि हमें वन में छोड़कर जब तुम वापस जाओगे, तो महाराज तुमपर नाराज़ होंगे कि तुमने उनकी आज्ञा का पालन नहीं किया।"

नाश्रौषमिति राजानमुपालब्धोऽपि वक्ष्यसि ।
चिरं दुःखस्य पापिष्ठमिति रामस्तमब्रवीत् ॥

यदि आज्ञा-भंग के कारण मेरे पिता तुमपर नाराज़ हों, तो यह कहना कि 'लोगों के कोलाहल में आपका आदेश सुनाई नहीं दिया।'

इस असत्य के बचाव के लिए राम यह औचित्य देते हैं कि दुःख को बहुत अधिक लम्बा खींचना उचित नहीं—

'चिरं दुःखस्य पापिष्ठम् ।'

इसी प्रकार जब राम ने देखा कि उनके वियोग में पौरजन पीछे-पीछे रोते-बिलपते चले आ रहे हैं और लौटते ही नहीं, तब फिर सुमंत्र से उन्होंने यही कहा, 'रुको नहीं, तुम तो चले ही चलो, क्योंकि—

'चिरं दुःखस्य पापीयः ।'

संकटकाल में राम सर्वसाधारण के जैसा व्यवहार भी करते थे।

अनेक तपस्वी ब्राह्मण और प्रजाजन राम के बहुत समझाने पर भी अयोध्या को लौटे नहीं। चलते-चलते तमसा का तट आ गया। वन-यात्रा का यहाँ पहला पड़ाव था। राम ने रात को उठकर देखा कि लोग गहरी नींद में सोये हुए हैं। लगता है कि ये लोग प्राणों को भले ही त्याग दें, पर हमारा पीछा नहीं छोड़ेंगे। इसलिए जबतक ये सोये पड़े हैं, हम शीघ्र रथ पर सवार होकर शून्य मार्ग पर इसी समय चलदें। सुमंत्र ने जल्दी से घोड़ों से रथ को जोड़ा, और वे चल दिये। सुमंत्र से राम ने कहा, 'तुम उत्तर की ओर जाओ और जल्दी-जल्दी जाकर फिर रथ को लौटा लाओ, जिससे कि पौरजन यह न जान पायें कि मैं किधर गया हूँ।'

वियोग-पीड़ित उन ब्राह्मणों और पुरवासियों से बचने के लिए राम ने यह युक्ति अपनाई, और उनसे अपना पीछा छुड़ाया।

ऐसे प्रसंगों और घटनाओं से यह प्रकट होता है कि वाल्मीकि ने श्रीराम का चरित्र हमारे सबके समझनेयोग्य निर्माण किया। यदि सदा-सर्वथा राम महान्-पुरुष ही बने रहते, और हमारी पहुँच के बाहर रहे होते, तो हमें क्या लाभ होता। कुछ बातों में या कुछ हदतक राम को हमारे जैसा होना ही चाहिए।

और भी कुछ घटनाएँ हैं, जहाँपर हम श्रीराम के साथ अपना साम्य पाते हैं। इस महाकाव्य के अध्ययन का यही बड़ा लाभ है कि हम अपनी निम्नवृत्तियों को जीतकर जहाँतक संभव हो ऊँचे स्तर पर पहुँचकर अपने जीवन को सफलतापूर्वक वितायें। मानव का विकास इसी मार्ग पर चलने से होता है। मनुष्य त्रुटियों से ऊपर या उनसे रहित नहीं है। वह ऊँचे-से-ऊँचा उठने का प्रयत्न कर सकता है ऐसे-ऐसे श्रेष्ठ उदाहरणों को सामने रखकर। हो सकता है कि वह इतनी ऊँचाई तक पहुँचने में बहुत सफल न हो। पर उसके लिए प्रयत्न करना भी अच्छा है। बार-बार प्रयत्न करने से निस्सन्देह वह ऊँचा उठ सकता है। प्रयत्न जारी रखना ही चाहिए। श्रीराम के श्रेष्ठ जीवन से हम यही सीखते हैं। यदि हम अपनी त्रुटियों से संघर्ष करते हैं, तो हम एक प्रकार से श्रीराम के स्मरण करने का ही यत्न करते हैं।

शरणागत की रक्षा

[च० राजगोपालाचारी]

समुद्र-तट पर खड़े वानर-सेनापतियों ने देखा कि आकाश में कुछ चमक-सा रहा है। ऐसा लगता था, मानों मेरु पर्वत विशाल सुनहरा मुकुट धारण किये आकाश में खड़ा हो। बिजली चमकती है, फिर विलीन हो जाती है। किन्तु यह प्रकाश, जो वानरों ने देखा, स्थिर-सा दिखाई दिया। उन्होंने ध्यान से निरीक्षण किया। पाँच महा-काय राक्षस आकाश में मँडरा रहे थे। सुग्रीव ने भी स्वयं यह दृश्य देखा। "देखो, हमें नष्ट करने के लिए राक्षस लंका से आये दीखते हैं," उसने कहा।

यह सुनते ही वीर वानर वृक्षों और भारी-भारी पत्थरों को लेकर राक्षसों पर प्रहार करने के लिए तैयार हो गये। कहने लगे, "राजन्, आप आज्ञा दीजिए। अभी इन राक्षसों का हम अन्त कर देंगे।" उनका कोलाहल राक्षसों ने भी सुना। किन्तु विभीषण रंच मात्र भी नहीं घबराया। बोला, "मैं राक्षसों के अधिपति रावण का छोटा भाई हूँ। वीर जटायु का जिसने निर्दयता से वध कर डाला, जो जबरदस्ती सीता को उठा लाया, उसी रावण का मैं भाई हूँ। रावण को मैंने बहुत समझाया कि यह भारी अत्याचार है, सीता को राम के पास वापस पहुँचा देना चाहिए। बार-बार अनुरोध किया, किन्तु रावण ने मेरी बात नहीं मानी। भरी सभा में एक तुच्छ भृत्य की तरह मेरी भर्त्सना की, और मुझे अपमानित किया। मैंने उसके पाप-कर्म में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। अपना घरबार, धन-सम्पत्ति सब-कुछ त्यागकर श्रीराम की शरण में आया हूँ। यह बात आप लोग सीतापति श्रीराम को बताने की कृपा करें।"

सुग्रीव तुरन्त राम के पास यह संदेश लेकर गया, "राघवेन्द्र! रावण का छोटा भाई विभीषण चार राक्षसों के साथ समुद्र-तट पर पहुँच गया है। कहता है कि वह आपका शरणार्थी होकर आया है। अभी तक तो आकाश में ही वे मँडरा रहे हैं। नीचे नहीं उतरे हैं। आप समझदार हैं। सहसा किसीकी बात पर विश्वास न करलें। ये राक्षस बड़े चालाक होते हैं। मुझे तो लगता है कि ये रावण के कहने से हमारे पास आये हैं। हमारे अंदर कलह व फूट पैदा करने के लिए रावण ने इन्हें भेजा होगा। यह भी हो सकता है कि समय पाकर हमारे प्रधान वानरों की हत्या करने के लिए ये हमारे शिविर में आये हों। यह हमें नहीं भूलना चाहिए कि विभीषण हमारे परम वैरी रावण का सगा भाई है। राक्षसों पर कदापि विश्वास नहीं किया जा सकता।

"मुझे तो यही लग रहा है कि रावण का यह एक नया षड्यंत्र है। इन राक्षसों को मार ही डालना चाहिए। अपने बीच में इन्हें जगह देने से अनर्थ हो सकता है।"

राम से इस प्रकार निवेदन कर सुग्रीव उत्तर की प्रतीक्षा में खड़ा रहा।

राम ने सुग्रीव की बात ध्यान से सुनी। हनुमान् आदि वानरों से वे वोले, "नीति-शास्त्र जाननेवाले वानर-राज सुग्रीव ने जो कुछ कहा है, वह आप सबने सुना। आप लोगों का अभिप्राय इस संबंध में क्या है? ऐसे विषय पर सबके विचार मालूम करने के वाद ही कुछ निर्णय किया जा सकता है। अपने-अपने विचार आप लोग विना किसी संकोच के कहें।"

सबने अपने-अपने मत प्रकट किये।

युवराज अंगद ने कहा, "विभीषण शत्रु-पक्ष से आया है। वह स्वयं आया है, या रावण के कहने से, यह वताना कठिन है। पर उसकी माँग का तिरस्कार करना उचित नहीं होगा। किन्तु कुछ भी जाँच किये विना उसे अंगीकार कर लेना भयावह हो सकता है। हमें इस विषय पर सोच-समझकर निर्णय करना चाहिए। पहले उसके हाव-भाव देखें। यदि उसका व्यवहार पसंद न आया, तो उसे हम भगा देंगे। अच्छा लगा, तो रख लेंगे।"

शरभ वोला, "अपने बीच में आने देकर वाद में परीक्षा लेना मुझे तो यह ठीक नहीं लगता। यह कठिन भी होगा और खतरनाक भी। पहले से ही हम क्यों न अपने गुप्तचरों से पता लगवा लें कि विभीषण के मन में क्या है, तव वाद में सोचें कि उसे अपने पक्ष में लिया जाय या नहीं।"

जांबवान् ने कहा, "राक्षस ये बड़े चालाक होते हैं। इनकी परीक्षा करके इनके भेदों का समझना आसान काम नहीं। हम तो अभी समुद्र के इस पार ही हैं, तव इस विभीषण को इतनी जल्दी क्यों पड़ गई? रावण हमारा सदा का शत्रु है। उसके भाई की वातों को हम सत्य कैसे मान सकते हैं? मुझे तो लगता है कि इसे अपने पक्ष में लेना ठीक नहीं होगा।"

मयन्द ने राय दी, "हमारे पास यह अपने-आप पहुँचा है। केवल संदेह के कारण उसकी माँग को ठुकराना ठीक नहीं। पूरी सावधानी और युक्ति के साथ हम विभीषण की परीक्षा ले सकते हैं। यह पता करना चाहिए कि उसने सचमुच रावण का पक्ष छोड़ दिया है क्या? हमारे कुछ चतुर वानर यह काम वड़ी आसानी से कर लेंगे।"

सव-कुछ सुन लेने के वाद श्रीराम ने वुद्धि के भाण्डार हनुमान् की ओर देखा।

हनुमान् समझ गये कि श्रीराम मेरा भी मत सुनना चाहते हैं। मृदुवाणी में उन्होंने कहा, "प्रभो, आप हम लोगों से क्यों अभिप्राय माँगते हैं? आपसे अधिक

समझदार तो बृहस्पति भी नहीं हो सकता। अभी मेरे मित्रों ने जो-जो कहा, उससे मैं सहमत नहीं। मैं तो सोचता हूँ कि विभीषण को अपने पक्ष में लेने में कोई डर नहीं। यदि वह हमारा अहित करना चाहता, तो छिपकर आता। हमारे गुप्तचरों को इसमें क्या भेद मिलनेवाला है ?

"इन मित्रों का कहना है कि शत्रु-पक्ष छोड़कर जो इस तरह अचानक हमारे पास आ रहा है, उसपर विश्वास कैसे किया जाय ? ठीक है। किन्तु यदि कोई अपने भाई के दुर्गुणों को देखकर उसे चाहना छोड़दे, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? आपकी महिमा से विभीषण प्रभावित हो, तो उसमें कौन आश्चर्य है ? परिस्थितियों को देखते हुए मुझे तो मन में विभीषण पर किसी प्रकार की भी शंका नहीं होती है।

"हममें से कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि विभीषण को अपने पक्ष में लिया जाय या नहीं, इसका निर्णय तभी कर सकेंगे जब विभीषण की परीक्षा लेकर उसके उत्तरों से संतुष्ट हो जायेंगे। मुझे यह बात ठीक नहीं लगती, क्योंकि जब कोई यह जान लेता है कि उसकी बातों पर शंका की जा रही है, तब उसका व्यवहार अस्वाभाविक हो जाता है। डर के कारण उसका स्वभाव कुछ विकृत भी हो जाता है। मैंने विभीषण को देखा है। उसके चेहरे के भावों से तो वह जो कुछ कहता है उसे सच मानने को मैं तैयार हूँ। उसके भोले चेहरे पर कपट के कोई चिह्न नहीं दीखते। अंतर के बुरे भावों को, खासकर कपट को, छिपाना बहुत कठिन होता है।

"मैं तो यही सोचता हूँ कि विभीषण और उसके भाई लंकेश रावण में भारी मतभेद पैदा हो गया है। विभीषण का लंका में रहना कठिन हो गया है। इसी कारण वह आपका आश्रय चाहता है। उसे यह भी पता है कि रावण आपसे परास्त हो जानेवाला है। उसने यह भी सुना होगा कि आपने बालि का वध करके सुग्रीव को राज्य दिलाया है। रावण के बाद यदि विभीषण लंका का आधिपत्य चाहता हो, तो उसमें भी कोई अनुचित बात नहीं, न आश्चर्य करने की आवश्यकता है। मैं तो कहता हूँ कि विभीषण को हम अंगीकार करलें।

"अपनी अल्प बुद्धि में तो मुझे यही सूझता है। अब आप जो निर्णय करें, वह हम सबके लिए मान्य होगा।"

इस प्रकार वीर वानरों ने विभीषण के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये।

[कुम्भकर्ण ने सामान्य धर्म का पालन किया। उसे समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। किन्तु विभीषण ने जो क़दम उठाया, वह असाधारण था। इसलिए लोग उसे दोषी ठहराते हैं। विभीषण की अंतरात्मा रावण द्वारा गृहीत नीति को मानने के लिए तैयार नहीं हुई। उसने जो मानसिक संघर्ष का अनुभव किया होगा, उसकी कल्पना करना दूसरों के लिए संभव नहीं। इसी कारण कुछ

प्रमुख वानर विभीषण को शंका की दृष्टि से देखने लगे, जैसे हममें से भी कुछ लोग विभीषण को दोषी समझते हैं ।]

श्रीराम ने प्रमुख वानरों के अभिप्राय ध्यान से सुने। पर उन्हें हनुमान् की राय पसंद आई। शरणागतों की रक्षा करना वे अपना धर्म मानते थे। हनुमान् के अभिप्राय से राम के मन में शान्ति हुई। अपने मत से सहमत होनेवाले को देखकर सात्विक स्वभाववालों को आनंद का अनुभव होता ही है।

श्रीराम बोले, "आप सभी मेरे मित्र हैं। मेरी स्थिति को समझने का आप प्रयत्न करें। मुझे अपना मित्र समझकर जब कोई मेरे पास आश्रय माँगने आता है, मेरे ऊपर संपूर्ण श्रद्धा रखता है, तो उसे मैं कैसे धकेल दूँ ? मेरा धर्म आश्रितों की रक्षा करना है। शरणागतों में कुछ दोष भी हों, तो भी उनकी रक्षा करना मैं अपना धर्म मानता हूँ।"

सुग्रीव को समाधान नहीं हुआ। वह बोला, "हो सकता है कि विभीषण बहुत अच्छा हो। पर उसने संकट के समय अपने भाई का परित्याग किया है। ऐसा व्यक्ति भविष्य में हमारे साथ भी इसी प्रकार का व्यवहार कर सकता है। हम इस पर विश्वास नहीं कर सकते।"

वाल्मीकि कहते हैं कि उस समय लक्ष्मण की ओर देखकर श्रीराम ज़रा मुस्कराये। उन्हें सुग्रीव के अपनी स्वयं की बात भूल जाने पर कुछ हँसी आ गई। वे बोले, "राजाओं को अपने निकट के लोगों पर सदा संदेह होता रहता है। ऐसे भी राजा हैं, जो अपने भाई-भतीजों पर शंका नहीं करते, पर उनकी संख्या थोड़ी ही होती है। रावण को जब विभीषण पर संदेह, द्वेष और क्रोध हुआ, तो उसने भरी सभा में उसका अपमान किया। उसपर यह आरोप लगाया कि वह रावण से द्वेष करता है, जान-बूझकर अपमान करना चाहता है। तब विभीषण समझ गया कि उसके लिए लंका में रहना हितकर नहीं। मान लिया जाय कि उसे रावण के बाद राज्याधिकार पाने की इच्छा है, तब भी इसमें असाधारण बात कौन-सी है ? क्योंकि अब उसे विश्वास हो गया है कि रावण की पराजय और अन्त निश्चित है। लक्ष्मण ! सारे संसार में भरत-जैसा त्यागी, दृढ़संकल्प भाई दूसरा कोई हो नहीं सकता।"

इतना कहकर श्रीराम कुछ क्षण भरत के ध्यान में मग्न हो गये। फिर बोले, "मुझ-सरीखा भाग्यवान् और कौन हो सकता है ? भरत-जैसा भाई और किसका हो सकता है ? मेरे वियोग से दुःखित पिता ने प्राण त्याग दिये। ऐसे स्नेही पिता हमारे थे। सुग्रीव, तुम लोगों के जैसे मित्र भी किसे मिले हैं ?"

श्रीराम कुछ देरतक भाव-विभोर रहे। फिर कहा, "मुझे यह तर्क ठीक नहीं लगता कि जैसे विभीषण ने रावण को त्याग दिया, उसी तरह अवसर आने पर वह हमारा भी परित्याग कर देगा। विभीषण से हम कौन-सी ऐसी विशेष अपेक्षा रख रहे हैं ? हमें उसके राज्य का मोह तो है नहीं। रावण को हम जीतेंगे,

तभी तो लंका का राज्य विभीषण को मिल सकेगा।

"फिर, विभीषण चाहे कैसे भी स्वभाव का हो, वह हमारी शरण में आया है। अतः उसे अभयदान देना मेरा धर्म है। यह मेरे स्वभाव में है। उससे यदि मेरी हानि भी हो, तो भी मैं उसकी परवा न कर विभीषण की रक्षा करूँगा। धर्म की रक्षा करना मेरा प्रथम कर्त्तव्य है। विभीषण मेरा क्या बिगाड़ सकता है? शरणागत की रक्षा अवश्य होनी चाहिए। यदि रावण स्वयं भी मेरी शरण में आता, तो उसकी परीक्षा लिये बिना ही मैं उसे अपना आश्रय दे देता। तब विभीषण का तिरस्कार क्यों किया जाय?"

"अब मेरी शंका दूर हो गई। विभीषण भी आज से जैसे हम हैं, वैसा ही प्रिय मित्र बनकर रहेगा। मैं अभी उसे बुला लाता हूँ," सुग्रीव ने कहा।

वैष्णव संप्रदाय के भक्तगण श्रीमद्रामायण में राक्षस विभीषण की शरणागति को बड़ा महत्त्व देते हैं। वैष्णव संप्रदाय का सबसे प्रधान सिद्धांत यही है कि चाहे कैसाभी अधम हो, प्रभु की शरण में यदि वह चला जाय तो उसके लिए मुक्ति संभव है। सभी पाप प्रभु के चरणों के सामने जलकर नष्ट हो जाते हैं। विभीषण की शरणागतिवाले इस प्रसंग को वैष्णवजन एक धर्मशास्त्र के जैसा ही महत्त्व देते हैं। सब प्रकार से जो निराश्रित है, उसके लिए एकमात्र आश्रय-स्थान प्रभु के चरण ही हैं।

केवल वैष्णव संप्रदाय में ही नहीं, सभी संप्रदायों में, सभी धर्मों में, यही बोध मिलता है कि हमें कभी निराश होने की आवश्यकता नहीं। हमारी पुकार सुनने के लिए प्रभु सर्वदा तत्पर रहता है। "**अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।**" यह भगवान् ने अर्जुन के लिए कहा था, किंतु सारी मानव-जाति के लिए समय-समय पर, स्थान-स्थान पर, यह अभयदान मिला है।

वाल्मीकि रामायण के इस प्रसंग से हमें दो बातें सीखने को मिलती हैं। शत्रु-पक्ष से अलग होकर हमारे बीच यदि कोई आ जाये, तो क्या-क्या बातें सोचने की होती हैं, यह राजनीति का पाठ सुग्रीव आदि वानरों के मुख से मिल जाता है। सुसंस्कारी सच्चरित व्यक्तियों को हनुमान् के तथा श्रीराम के मुख से धर्म का रहस्य सीखने को मिल जाता है। आश्रयदाता श्रीराम कहते हैं, "यदि रावण भी मेरे पास आये, तो मैं उसका तिरस्कार नहीं करूँगा।"

यह वाक्य हम सभी के लिए अमृत-तुल्य है।

महाभारत

महाभारत में धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र सभी कुछ आ गया है। इतना ही नहीं, उसकी महिमा का गान यहांतक किया गया है कि, 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'—अर्थात् जो कुछ महाभारत में है वही अन्यत्र है; जो इसमें नहीं है, वह और कहीं भी नहीं है।

बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के समय भी प्राचीन महापुरुषों ने कैसा वर्ताव किया, इसका सुगम आख्यानों के द्वारा साधारण जनों को बोध करा देने के लिए ही महाभारत रचा गया है।

—बाल गंगाधर तिलक

हमारे देश में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा, जो महाभारत से परिचित न हो। यह अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है। मेरा विश्वास है कि इसका मनन करनेवाले ज्ञान, क्षमता और आत्मशक्ति प्राप्त करेंगे। महाभारत से बढ़कर और कहीं भी इस बात की शिक्षा नहीं मिल सकती कि जीवन में विरोधभाव, विद्वेष और क्रोध से सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

—च० राजगोपालाचारी

महाभारत में यद्यपि ऐसे जन-समाज का वर्णन किया गया है, जो कूटनीति और षड्यंत्रों से भरा हुआ है, युद्ध के दूषित वातावरण में जिसका दम घुट रहा है, तथापि ग्रन्थकार सत्तागत राजनीति के खिलाफ़ है, और उसकी स्पष्ट घोषणा है कि धर्म की बुनियाद पर ही राज्य टिक सकता है—'यतो धर्मस्ततो जयः।' इस सचाई को कौन विचारशील व्यक्ति स्वीकार नहीं करेगा ?

—स० राधाकृष्णन्

अध्याय—६

महाभारत

[डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल]

महाभारत महर्षि वेदव्यास की रचना है। व्यासजी का जन्म-नाम कृष्ण था, क्योंकि वर्ण इनका साँवला था। यमुना की धारा के बीच में एक द्वीप में जन्म होने के कारण इन्हें 'द्वैपायन' भी कहा जाता है। इस कारण महाभारत को 'कार्ष्ण द्वैपायन वेद' भी कहते हैं। व्यासजी की माता का नाम सत्यवती, और पिता का पराशर ऋषि था। इनका एक आश्रम हिमालय में बदरीनाथ के पास, अलकनन्दा के तटपर, व्यास पर्वत के निकट था। प्रसिद्ध है कि वहीं इन्होंने तीन वर्ष के सतत परिश्रम से महाभारत की रचना की थी। कहा जाता है कि मूल ग्रन्थ का नाम 'जय इतिहास' था। उसमें केवल आठ हजार श्लोक थे। पीछे वही चौबीस हज़ार श्लोकों में 'भारत' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका नाम 'चतुर्विंशति-साहस्री संहिता' भी है। आगे चलकर भारत-संहिता में अनेक उपाख्यानों का समावेश हुआ, और वह 'शतसाहस्रीसंहिता' या 'महाभारत' नाम से प्रसिद्ध हुई।

कृष्णद्वैपायन व्यास के इस महाभारत ग्रन्थ में कुरुवंशियों का महान् चरित कहा गया है। कहते हैं कि एक पलड़े पर चारों वेद और दूसरे पल्ड़े पर महा-भारत—इन दोनों को देवर्षियों ने रखकर तोला, तो महत्त्व और गुरुत्व में महाभारत ही अधिक हुआ। तभी इसका नाम महाभारत पड़ा। अमित तेजस्वी व्यास का जितना कुछ अभिमत था, वह इन लक्ष श्लोकों में भर गया है। ऋषियों से संस्तुत यह पुराण श्रव्य वस्तुओं में सर्वोत्तम है। यह पवित्र अर्थशास्त्र है। यह परम धर्मशास्त्र है। यह उच्चतम मोक्षशास्त्र है। यह वीरों को जन्म देनेवाला है। यह महान् कल्याणकारी है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का निचोड़ इस 'जय' नामक इति-हास में आ गया है। भाव-शुद्धि इस ग्रन्थ की प्राण-शक्ति है। तप, अध्ययन और वेद-विधि, इनके पीछे यदि भाव-शुद्धि नहीं है, तो ये व्यर्थ हैं।

इस ग्रन्थ में कहीं संक्षिप्त और कहीं विस्तृत शैली से महाप्राज्ञ ऋषि ने सब-कुछ कहा है। इसमें अनादि अनन्त लोकचक्र के रहस्य का भी वर्णन है। इसमें ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों के चरित हैं। सविस्तर भूत-सृष्टि, सविज्ञान श्रुतियाँ, धर्म, अर्थ, काम, विविध शास्त्र, लोकयात्रा-विधान, इतिहास और उनकी व्याख्या, सभी कुछ पराशर-पुत्र, विद्वान् एवं तीव्र व्रतों का पालन करनेवाले ब्रह्मर्षि व्यास ने

अपने तप और ब्रह्मचर्य की शक्ति से कह दिया है। ऋषियों के आश्रमों में जिस संस्कृति का प्रतिपालन हुआ, राजर्षियों के पुण्य चरितों द्वारा जिसका विस्तार हुआ, समस्त लोक के लोम-प्रतिलोम में जो व्याप्त हुई, उस सांस्कृतिक गंगा को हिमालय से सागरपर्यन्त यदि एकही स्थान पर देखना हो, तो यह दर्शन व्यास के महाभारत में सदैव सुलभ है। वासुदेव कृष्ण का माहात्म्य, पाण्डवों की सत्यता और धृतराष्ट्र के पुत्रों का दुर्वृत्त, यही तो भगवान् व्यास ने चौवीस सहस्र श्लोकों की 'भारत-संहिता' में कहा। उसी भारत-संहिता में अनेक उपाख्यानों के मिल जाने से, नीति और धर्म के अनेक प्रकरणों के समाविष्ट हो जाने तथा भूगोल, इतिहास, धर्म और दर्शन की विपुल सामग्री के एकत्र हो जाने से लक्षश्लोकात्मक 'महाभारत' का जन्म हुआ।

जिस प्रकार समुद्र और हिमालय रत्नों की खान हैं, उसी प्रकार यह महाभारत है। जो इसमें है, वही अन्यत्र मिलेगा। जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है :—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

[आदि पर्व, ५६।३३

महर्षि व्यास ने वेद और लोक की सामग्री का अपूर्व समन्वय महाभारत में प्रस्तुत किया है। सम्पूर्ण महाभारत में संस्कृत के शब्दों का विलक्षण भाण्डार भरा है। रचना-कौशल की अनेक धाराएँ इसमें आकर मिली हैं। सूक्ष्म अर्थ और न्याय से युक्त, वेदार्थ से अलंकृत, नाना शास्त्रों से उपबृंहित, धर्म के आलोक से प्रकाशित भारतवर्ष की राष्ट्रीय संहिता का ही नाम महाभारत है। भारतीय संस्कृति का प्राचीन नाम 'धर्म' है। उसीकी बहुमुखी व्याख्या महाभारत में है। व्यास के प्रतिभासम्पन्न चक्षु में धर्म का पूरा अर्थ समा गया। कौरवों और पाण्डवों की युद्ध-कथा में उसी धर्मामृत को उड़ेलकर उन्होंने महाभारत की महती गंगा प्रवाहित की।

एक ही तत्त्व 'नारायण' और 'नर' इन दो नामों से विख्यात है—'नारायणो नरश्चैव तत्त्वमेकं द्विधाकृतम्।' एक ही महान् सत्य के ये दो रूप हैं। वह नारायणी महिमा किस प्रकार नर-रूप में चरितार्थ होती है, इसका सांगोपांग निरूपण महाभारत का उद्देश्य है। वेदव्यास की दृष्टि में मनुष्य ही ज्ञान और विज्ञान का मध्यविन्दु है—"मैं तुमसे यह रहस्य बतलाता हूँ कि इस लोक में मनुष्य से वढ़कर श्रेष्ठ और कुछ नहीं है"—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि,
नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्। [शान्ति, १८०।१२

'यह लोक कर्मभूमि है' (वन, २६१।३५)। 'मनुष्य का लक्षण कर्म है।' (आश्व० ४३।२०)। 'जैसा कर्म वैसा लाभ, यही शास्त्रों का निचोड़ है'(शान्ति०

२७६।२०)। 'जो स्वयं अपनी आँख से लोक का दर्शन करता है, उसीको सचमुच मैं सर्वदर्शी मानता हूँ' (उद्योग, ४३।३६)। 'वेद का रहस्य सत्य है, सत्य का रहस्य आत्मसंयम है, आत्मसंयम से ही मोक्ष होता है, यही सब उपदेशों का सार है' (शान्ति, २६६।१३)। 'जो 'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्व है, उसे समझने का प्रयत्न क्यों नहीं करते? समुद्र के पार जाने के लिए जैसे नाव आवश्यक है, ऐसे ही अकेला सत्य स्वर्ग का सोपान है' (उद्योग, ३३।४६)। 'मनुष्य का ध्रुव अंश उसका सत्य है। हे युधिष्ठिर, इस मनुष्य-लोक में ही जो श्रेयस्कर है, उसेही कल्याण का श्रेष्ठ रूप कहना चाहिए' (वन, १८३।१८८)।

इस प्रकार के अनेक रत्नों की कान्ति से यह महान् ग्रन्थ आलोकित है। भारतीय राजनीति, अध्यात्म-शास्त्र, समाज-विज्ञान, मानव-जीवन, धर्म, दर्शन— इन सबका सुनहला ताना-बाना इस अनुपम ग्रन्थ में बुना हुआ है। वस्तुतः भारतवर्ष की वैदिक और लौकिक दीर्घनिकाएँ संस्कृति के लिए 'ब्रह्मजालसुत्त' के समान एक महाब्रह्मजाल सूत्र महाभारत के रूप में हमें प्राप्त है।

महाभारत नाम की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—कौरव और पाण्डव दोनों भरतवंशी थे, इसलिए वे 'भारत' कहे गये। भरतवंशियों के संग्राम या युद्ध की संज्ञा 'भारत' हुई। पाणिनीय सूत्र ४।२।५६ (**संग्रामे प्रयोजन योद्धृभ्यः**) के अनुसार योद्धाओं के नाम से युद्ध का नाम रखा जाता था। अतएव स्वाभाविक रीति से भरतों का संग्राम 'भारत' कहलाया। महाभारत में एक स्थान पर 'महाभारत युद्ध' (आश्वमेध ८१।८)। इस शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है, 'बड़ा भारत युद्ध', अर्थात् भरतों के बीच में जो बड़ा संग्राम हुआ वह महाभारत युद्ध कहलाया। अन्यत्र आदिपर्व में 'महाभारताख्यानम्' (५६।३०) शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका तात्पर्य है 'भरतों के महान् संग्राम की कहानी'। महाभारताख्यान का ही संक्षिप्त रूप महाभारत है।

महाभारत के वर्तमान रूप में १८ पर्व हैं। सब पर्वों में कुल मिलाकर १,९४८ अध्याय हैं और ८३,१४६ श्लोक। यह संख्या पूना से संपादित संशोधित संस्करण के अनुसार है। दक्षिणभारत से प्रकाशित विस्तृत पाठ में, जिसे 'महल्लक पाठ' भी कह सकते हैं, अध्यायों की संख्या १,९५९ और श्लोकों की संख्या ९५,५८६ है, अर्थात् उसमें काश्मीरी प्रतियों की अपेक्षा १३,४५० श्लोक अधिक हैं। अठारह पर्वों के नाम इस प्रकार हैं :—

१. आदिपर्व	६. भीष्मपर्व	११. स्त्रीपर्व
२. सभापर्व	७. द्रोणपर्व	१२. शान्तिपर्व
३. आरण्यकपर्व	८. कर्णपर्व	१३. अनुशासनपर्व
४. विराटपर्व	९. शल्यपर्व	१४. आश्वमेधिकपर्व
५. उद्योगपर्व	१० सौप्तिकपर्व	१५. आश्रमवासिकपर्व

१६. मौसलपर्व १७. महाप्रस्थानिकपर्व १८. स्वर्गारोहणपर्व

इन अठारह पर्वों के पीछे महाभारत का एक दूसरे प्रकार का भी पर्व-विभाग था, जिसमें सौ पर्व गिने जाते थे। उनके नाम और गिनती 'पर्वसंग्रह' पर्व में दी हुई है। सौ पर्वों की यह सूची इस प्रकार है :—

(१) पर्वानुक्रमणी पर्व, फिर (२) पर्व-संग्रह पर्व, (३) पौष्य पर्व, (४) पौलोम पर्व, (५) आस्तिक पर्व और (६) आदिवंशावतारण पर्व हैं। उसके बाद अत्यन्त अद्भुत (७) संभव पर्व है। फिर (८) लाक्षागृहदाह पर्व है, (९) हैडिम्बि-पर्व, (१०) बकवध पर्व, और (११) चैत्ररथ पर्व हैं। इसके बाद (१२) देवी पांचाली का स्वयंवर पर्व है और पुनः (१३) वैवाहिक पर्व है। तदनन्तर (१४) विदुरागमन पर्व, (१५) राजलम्भ पर्व, (१६) अर्जुन-वनवास पर्व और (१७) सुभद्राहरण पर्व है। सुभद्रा का हरण हो जाने के बाद कृष्ण और बलराम के दायज लेकर इन्द्रप्रस्थ जाने की कथावाला (१८) हरणहारिक पर्व है। उसके बाद (१९) खाण्डव-दाह पर्व है, जिसमें मय के साथ पाण्डवों का परिचय हुआ। उसके बाद (२०) सभा पर्व, तब (२१) मन्त्र पर्व, (२२) जरासंधवध पर्व, और (२३) दिग्विजय पर्व की कथा है। दिग्विजय के बाद (२४) राजसूयिक पर्व, तब (२५) अध्वाभिहरण पर्व है; जिसमें अनेक देशों के राजा युधिष्ठिर के लिए तरह-तरह की भेंट लेकर आये। तब (२६) शिशुपालवध पर्व, (२७) द्यूतपर्व और उसके बाद (२८) अनुद्यूतपर्व की कथा है। फिर (२९) आरण्यक पर्व, (३०) किर्मीरवध-पर्व, (३१) शिव और अर्जुन के युद्ध का कैरात पर्व, और उसके बाद (३२) इन्द्रलोकाभिगमन पर्व है। पुनः (३३) तीर्थयात्रा पर्व में कुरुराज युधिष्ठिर की तीर्थयात्रा का वर्णन है। तब (३४) जटासुरवध पर्व, (३५) यक्षयुद्ध पर्व, (६६) आजगर पर्व, और उसके बाद (३७) मार्कण्डेय-समस्या पर्व, एवं (३८) द्रौपदी-सत्यभामा-संवाद पर्व है। फिर (३९) घोषयात्रा पर्व, (४०) मृग-स्वप्नभय पर्व, (४१) व्रीहद्रौणिक पर्व और तदनन्तर जयद्रथ द्वारा वन में (४२) द्रौपदी-हरण-पर्व है। फिर (४३) कुण्डला-हरण पर्व, उसके बाद (४४) आरणेय पर्व और तब (४५) वैराट पर्व है। इसके बाद (४६) कीचकवध पर्व, पुनः (४७) गोग्रहण-पर्व और तब (४८) उत्तरा और अभिमन्यु का वैवाहिक पर्व है। इसके बाद, महाद्भुत (४९) उद्योग पर्व है। तब (५०) संजय-यान पर्व, और उसके बाद (५१) धृतराष्ट्र-प्रजागर पर्व है। उसके बाद गुह्य अध्यात्म-दर्शन से युक्त (५२) सनत् सुजातीय पर्व है। तब (५३) यानसन्ध पर्व, (५४) भगवद्यान पर्व, (५५) कर्णविवाद पर्व पुनः (५६) कुरु-पाण्डव-सेनाओं का निर्याण पर्व और तदनन्तर (५७) रथातिरथ-संख्या पर्व है। उसके बाद (५८) उलूक-दूतागमन पर्व और (५९) अम्बोपाख्यान एवं (६०) भीष्माभिषेचन पर्व है। इसके अनन्तर (६१) जम्बूखण्डविनिर्माण पर्व और (६२) द्वीपों के विस्तार का वर्णन करनेवाला,

भूमिपर्व है। उसके बाद (६३) गीता-पर्व और (६४) भीष्मवध पर्व है। तब (६५) द्रोणाभिषेक पर्व (६६) संशप्तकवध पर्व, (६७) अभिमन्युवध पर्व (६८) प्रतिज्ञा पर्व, (६९) जयद्रथवध पर्व, (७०) घटोत्कचवध पर्व, (७१) द्रोण-वध पर्व और (७२) नारायणशास्त्र-मोक्ष पर्व है। इसके बाद (७३) कर्ण पर्व, और तब (७४) शल्य पर्व है। फिर (७५) ह्रदप्रवेश पर्व, (७६) गदा-युद्ध पर्व, (७७) सारस्वत पर्व, और उसके बाद (७८) भयंकर सौप्तिक पर्व है। तदनन्तर बहुत ही दारुण (७९) ऐषीक पर्व है, फिर (८०) जलप्रदानिक पर्व, (८१) स्त्री पर्व और (८२) श्राद्ध पर्व है, जिसमें कुरुओं की श्राद्ध-क्रियाओं का वर्णन किया गया है। इसके बाद (८३) युधिष्ठिर का आभिषेचनिक पर्व, (८४) चार्वाक-निग्रह पर्व, और (८५) गृहप्रविभाग पर्व है। तदनन्तर, शान्ति पर्व का महाप्रकरण है, जिसके अन्तर्गत (८६) राजधर्मानुकीर्त्तन, (८७) आपद्धर्म और (८८) मोक्षधर्म ये तीन बड़े पर्व सम्मिलित हैं। इसके बाद (८९) आनुशासनिक पर्व है। तब भीष्म का (९०) स्वर्गारोहण पर्व है। पुनः सब पापों का नाश करनेवाला (९१) आश्वमेधिक पर्व है, और उसके बाद (९२) अनुगीता पर्व में अध्यात्म-विषयों का विवेचन है। पुनः (९३) आश्रमवास पर्व, (९४) पुत्रदर्शन पर्व, और (९५) नारदागमन पर्व है। तत्पश्चात् अत्यन्त घोर (९६) मौसिल पर्व है, और पुनः (९७) महाप्रस्थानिक-पर्व एवं (९८) स्वर्गारोहण पर्व है। इस प्रकार ये ९८ पर्व हुए। इन्हींके दो परिशिष्ट हैं, एक (९९) हरिवंश पर्व और दूसरा १०० भविष्यत् पर्व, जो हरिवंश-पुराण का अन्तिम भाग है।

ये १०० पर्व महात्मा व्यास द्वारा कहे गये थे, किन्तु सूतपुत्र लोमहर्षण ने नैमिषारण्य में १८ पर्वों का विभाग ही कहा (३३।७१)।

१. आदिपर्व

अठारह पर्वोंवाले महाभारत के पहले पर्व का नाम आदि पर्व है। उसमें प्रस्तावना और विषय-सूची के बाद पहले जनमेजय के नाग-यज्ञ का वर्णन आता है। वेद को जनमेजय ने अपना पुरोहित बनाया। वेद के शिष्य उत्तंक को नागों ने दुःख दिया था। उसने हस्तिनापुर जाकर राजा को नागों से बदला लेने के लिए भड़काया। तीर ठीक निशान पर लगा, क्योंकि जनमेजय के पिता परीक्षित को तक्षक नाग से अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा था, और प्रतिशोध की अग्नि जनमेजय के मन में जल रही थी। उत्तंक ने जनमेजय को सर्प-सत्र के लिए तैयार कर दिया। १३ वें अध्याय से ५३ वें अध्याय तक जनमेजय के नाग-यज्ञ की विस्तृत कहानी है। इसमें कद्रू और विनता की स्पर्द्धा एवं नाग और गरुड़ के जन्म की कथा है। समुद्र-मन्थन द्वारा चौदह रत्नों के उत्पन्न होने का महान् आख्यान भी यहीं है। धन्वन्तरि अमृत का श्वेत कमण्डलु लेकर जब समुद्र से निकले, तो उनके

लिए देवों और असुरों में बड़ा कोलाहल हुआ। तब विष्णु ने मोहिनीरूप धारण कर असुरों को छल लिया, और अमृत देवों को बाँट दिया।

गरुड़ोपाख्यान का सार यह है कि गरुड़ अपने दुर्धर्ष पराक्रम से स्वर्ग से अमृत का घट पृथ्वी पर लाये और अपनी माता को दासता से छुड़ाया।

व्यासजी स्वयं जनमेजय के नाग-यज्ञ में पधारे, तब जनमेजय ने उनसे कुरु और पाण्डवों के चरित सुनाने की प्रार्थना की। व्यासजी यह कार्य अपने शिष्य वैशम्पायन को सौंपकर स्वयं वहाँ से चले गये।

वैशम्पायन ने सबसे पहले कुरु-पाण्डवों के पूर्वपुरुष भरत के जन्म की कथा कही। पौरवों के वंशकर्त्ता दुष्यन्त की पत्नी शकुन्तला से भरत का जन्म हुआ। एकबार महाबाहु दुष्यन्त आखेट के लिए मालिनी नदी के तट पर महर्षि कण्व के रमणीक आश्रम में गये। वहाँ तापसी के वेश में शकुन्तला से उनका परिचय हो गया, और दोनों प्रणय-सूत्र में बँध गये। उन्हींसे कण्व के आश्रम में ही भरत का जन्म हुआ। दुष्यन्त ने भरत को युवराज-पद पर अभिषिक्त किया। भरत का अप्रतिहत चक्र लोकों को गुँजाता हुआ सारी पृथ्वी पर फैल गया। भरत सार्वभौम चक्रवर्ती हुआ। उसने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये। उसी भरत से कुरु-पाण्डवों का कुल 'भारत' कहलाया।

शकुन्तलोपाख्यान के बाद राजा ययाति का बड़ा उपाख्यान है। (अध्याय ७०-८८) चन्द्रवंशी नहुष के पुत्र ययाति कौरवों के पूर्व पुरुष थे। उनकी दो स्त्रियाँ थीं। एक शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी, और दूसरी असुरों के राजा वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा। देवयानी से यदु और तुर्वसु, एवं शर्मिष्ठा से द्रुहु, अनु और पुरु नामक पुत्र हुए। ये पाँचों नाम बड़े विचित्र हैं। इन्हींकी संतति सारे देश में फैली। द्रुहु के पुत्र गांधार देश में जाकर बस गये। अनु के पुत्र आनव दो भागों में बँट गये। पश्चिमी आनव पंजाब में और पूर्वी आनव पाँच भागों में बँटकर अंग, वंग, कलिंग, सुम्ह और पुण्ड्र इन पूर्वी जातियों के साथ मिल गये। यदु के वंशज यादव सौराष्ट्र में बसे, और वहाँ से चेदि देशतक फैल गये। उन्हींमें कृष्ण हुए। तुर्वसु की सन्तान पश्चिम की ओर चली गई। फिर उनका पता न चला। कालान्तर में उन्हीं के वंशज दक्षिण के चेर, चोल और पाण्ड्य हुए। पाँचवें पुत्र पुरु को हस्तिनापुर का राज्य मिला। उसी पौरव वंश में कुरु-पाण्डव हुए।

ययाति के आख्यान में ही कच और देवयानी की छोटी, पर अत्यन्त सुन्दर कथा है। इसके अनुसार बृहस्पति के युवक पुत्र कच ने ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर आचार्य शुक्र से संजीवनी विद्या सीखी, और अपने व्रत की साधना में देवयानी के प्रेम को भी अस्वीकार कर दिया। ययाति के विषय में लिखा है कि जब अष्टकादि ऋषियों ने उन्हें स्वर्ग जाने के लिए अपना-अपना पुण्य देना चाहा, तो ययाति ने इसपर उत्तर दिया—"जिसके लिए मैंने स्वयं पहले कर्म नहीं किया है, मैं उसे कभी

नहीं ले सकता—

अहं तु नाभिगृह्णामि यत्कृतं न मया पुरा," [आदि० ८८।११

अन्त में, ययाति ने अपने जीवन का गुह्य अर्थ प्रकाशित करते हुए इतना और कहा—'मेरा द्युलोक और मेरी पृथिवी सत्य के बल पर टिकी है। सत्य से ही मनुष्यों में अग्नि प्रज्वलित होती है। मैंने कभी मिथ्या वचन नहीं कहा। सज्जन सत्य की ही पूजा करते हैं। सब देवता, मुनि और मनुष्य सत्य से ही पूजनीय बनते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ—

सत्येन मे द्यौश्च वसुन्धरा च
तथैवाग्निर्ज्वलते मानुषेषु।
न मे वृथा व्याहृतमेव वाक्यम्,
सत्यं हि सन्तः प्रतिपूजयन्ति।
सर्वे च देवा मुनयश्च लोकाः
सत्येन पूज्या इति मे मनोगतम्। [आदि० ८८।२४

ययाति के वंशधर पुरु के नाम से कुरु-पाण्डवों का वंश 'पौरव' कहलाया। पौरव वंश में ही दुष्यन्त, भरत, हस्तिन, जिन्होंने हस्तिनापुर बसाया, और कुरु नामक राजा हुए। कुरु-पाण्डव वंश के लोग पुरु से पौरव, भरत से भारत, और कुरु से कौरव कहलाये। कुरु के ही नाम से कुरुक्षेत्र प्रसिद्ध हुआ। कुरु के वंश में ही शान्तनु, भीष्म, विचित्रवीर्य, धृतराष्ट्र, पाण्डव, अभिमन्यु, परीक्षित द्वितीय और जनमेजय तृतीय का जन्म हुआ।

यहीं पर शान्तनु के पुत्र गांगेय भीष्म का चरित्र सामने आता है। ये बाल-ब्रह्मचारी महापुरुष पितामह भीष्म के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म-नाम देवव्रत था। महाभारत की घटनाओं के चलचित्र में देवकल्प भीष्म महाहिमवन्त के ऊँचे शिखर की भाँति दिखाई पड़ते हैं। शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व में भारतीय धर्म और दर्शन की व्याख्या भीष्म के मुख से कराई गई है। भीष्म ने अपने पिता शान्तनु का सत्यवती के साथ विवाह संभव बनाने के लिए स्वयं आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की। यह सत्यवती अपनी कुमारी अवस्था में वेदव्यास को जन्म दे चुकी थी। वह दासराज की कन्या थी। सत्यवती और शान्तनु का विवाह हो जाने पर उनके चित्रांगद और विचित्रवीर्य नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। गन्धर्व देश के राजा के साथ युद्ध में चित्रांगद की मृत्यु हो गई। तब, भीष्म ने विचित्रवीर्य को राजा बनाया। विचित्रवीर्य युवा हुआ, तब भीष्म उसके ब्याह के लिए काशिराज की तीन कन्याओं को हर ले आये। ज्येष्ठ कन्या अम्बा सौभपति शाल्व को पहले ही वर चुकी थी। अतएव भीष्म ने उसे वहाँ जाने की आज्ञा दे दी। अम्बिका और अम्बालिका इन दो कन्याओं का विवाह विचित्रवीर्य के साथ कर दिया। सात वर्ष तक उनके साथ रमण करने के बाद विचित्रवीर्य यक्ष्मा रोग से ग्रसित हो गया, और उसीसे

वह यमलोक सिधार गया। इस मर्मभेदी घटना के बाद कुरुवंश के सामने कठिन समस्या उपस्थित हुई। सत्यवती ने बहुत चाहा कि भीष्म को दोनों बहुओं में नियोग के लिए प्रेरित किया जाये, पर भीष्म ने पुनः अपनी प्रतिज्ञा को दोहराया—"माता, मैं त्रिलोकी को चाहे छोड़ दूं, और देवों का राज्य भी त्याग दूं, पर सत्य को कभी न छोड़ूंगा।" तब भीष्म के कहने से सत्यवती ने द्वैपायन व्यास का स्मरण किया, और व्यास ने अम्बिका से धृतराष्ट्र को और अम्बालिका से पाण्डु को उत्पन्न किया। पर धृतराष्ट्र जन्म से ही अन्धे थे, और पाण्डु जन्म से रोगी थे। इसी अवसर पर जेठी रानी की दासी ने व्यास द्वारा प्रज्ञावान् विदुर को पुत्र रूप में प्राप्त किया।

भीष्म ने धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर इन तीनों कुमारों की शिक्षा का यथोचित प्रबन्ध किया। धनुर्वेद, घोड़े की सवारी, गज-शिक्षा, गदा-युद्ध, ढाल-तलवार का कौशल, नीतिशास्त्र, इतिहास-पुराण, वेदवेदांग और अन्य शास्त्रों का उन्हें प्रशिक्षण दिया गया। शारीरिक श्रम और व्यायाम का भी उन्हें अभ्यास कराया गया। जब ये कुमार युवावस्था को पहुँचे, तो भीष्म को उनके विवाह की चिन्ता हुई। धृतराष्ट्र का विवाह गान्धार देश के राजा सुबल की पुत्री गान्धारी से, तथा पाण्डु का विवाह यदुवंश में उत्पन्न शूर की पुत्री और वसुदेव की बहन पृथा से हुआ। शूर ने पृथा को अपने फुफेरे भाई कुन्तिभोज को, जिसके कोई संतान न थी, गोद दे दिया था। इसीलिए अर्जुन को 'पार्थ' और 'कौन्तेय' कहा जाता है। गान्धारी को जब मालूम हुआ कि उसके पति अन्धे हैं, तब उसने भी अपने नेत्रों पर सदा के लिए पट्टी बाँधली। इधर कुन्ती जब अपने धर्म-पिता कुन्तिभोज के घर पर थी, तब उसने दुर्वासा ऋषि को प्रसन्न किया और ऋषि ने उसे एक मन्त्र सिखाकर कहा—"इस मन्त्र से तुम जिस किसी देवता का आवाहन करोगी, उससे तुम्हें एक पुत्र उत्पन्न होगा।" कुन्ती जब कुमारी थी, तभी उसने मन्त्र की सचाई परखने के लिए सूर्य को बुला लिया, और उससे कर्ण का जन्म हुआ। कुछ समय बाद भीष्म को ज्ञात हुआ कि मद्रदेश (वर्तमान पंजाब, जिसकी प्राचीन राजधानी शाकल या स्यालकोट थी) के राजा की पुत्री माद्री बहुत सुन्दर है, तब उन्होंने पाण्डु का विवाह माद्री से कर दिया। पाण्डु ने बहुत-से देश जीते। अन्त में वह मृगया के लिए हिमालय की तराई के घने शालवृक्षों के जंगल में कुन्ती और माद्री के साथ विहार के लिए चला गया।

समय बीतने पर गान्धारी ने धृतराष्ट्र से १०० पुत्रों को और दुःशला नामक एक कन्या को जन्म दिया। दुःशला का विवाह सिन्धुदेश के राजा जयद्रथ से हुआ। इधर राजा पाण्डु अपनी दोनों पत्नियों के साथ वन में रहते थे। तब उनकी पुंस्त्व-शक्ति नष्ट हो गई और बहुत कुछ सोच-विचार के बाद उन्होंने कुन्ती को नियोग की आज्ञा दे दी। कुन्ती ने पति के आग्रह से धर्मराज से युधिष्ठिर,

वायु से भीम और इन्द्र से अर्जुन नामक तीन पुत्र उत्पन्न किये। छोटी रानी माद्री को भी कुन्ती ने देवताओं के आवाहन का यह उपाय बताया, और दोनों अश्विनीकुमारों से माद्री के नकुल और सहदेव नामक जुड़वा पुत्र उत्पन्न हुए।

एक बार वसन्त ऋतु में पाण्डु अपने आपको न रोक सके, और माद्री के साथ संगम करने से उनकी मृत्यु हो गई। माद्री पति के साथ चिताग्नि में प्रवेश कर गई। पाण्डु की मृत्यु के अनन्तर आश्रम के तपस्वियों ने उसके शव को हस्तिनापुर ले जाकर भीष्म, धृतराष्ट्र, विदुर और सत्यवती को सौंप दिया। पर तथ्य यह जान पड़ता है कि पाण्डु का दाह-कर्म हिमालय में ही कर दिया गया था। पाण्डु की और्ध्वदैहिक क्रियाओं से निवृत्त होकर माता सत्यवती का शरीरान्त हो गया। पाँचों पाण्डवों और धृतराष्ट्र के पुत्रों का एकसाथ लालन-पालन होने लगा। उन्हें सब शास्त्रों की शिक्षा देने के लिए भीष्म ने द्रोणाचार्य को नियुक्त किया। महा-धनुर्धारी द्रोण ने उन्हें अपना शिष्य स्वीकार कर शस्त्राभ्यास कराया। जब कुमारों की शिक्षा समाप्त हुई, तब द्रोण ने धृतराष्ट्र से कहकर 'समाज' नामक उत्सव किया, जिसमें कुमारों ने अपनी शस्त्र-परीक्षा दी।

भीमसेन के बल और अर्जुन की धनुर्विद्या को देखकर दुर्योधन मन-ही-मन जलने लगा। उसने पाण्डवों को मारने के लिए कर्ण और शकुनि की सहायता से एक युक्ति सोची, और धृतराष्ट्र को उस षड्यन्त्र में सम्मिलित कर लिया। निश्चय हुआ कि वारणावत स्थान पर जुड़नेवाले बड़े मेले के समय पाण्डवों को वहाँ भेजा जाय और वहीं लाक्षागृह में ठहराकर आग लगा दी जाय। लाक्षागृह में सन, राल आदि जलनेवाले पदार्थ दीवारों के बीच-बीच में भरवाकर घी, तेल और लाख को मिट्टी में सानकर बने हुए मसाले का पलस्तर दीवारों पर चढ़ाया जाता था। बाँस, लकड़ी आदि से बना हुआ घर ऐसा होता था कि आग की चिनगारी दिखाते ही स्वाहा हो जाय। इसे ही 'जतुगृह' कहते थे, जहाँ स्त्रियाँ जौहर कर लेती थीं। पाण्डवों को इस षड्यन्त्र का पता लग गया। वे गुप्त सुरंग से बाहर बच निकले, और रातों-रात किसी गहन वन में चले गये। आगे बढ़ने पर हिडिम्बा के भाई हिडिम्ब राक्षस से उनकी मुठभेड़ हुई। भीम ने घमासान युद्ध में उसे मार डाला। भीमसेन ने हिडिम्बा से विवाह किया और उससे घटोत्कच नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वहाँ से पाण्डव एकचक्रा नगरी में पहुँचे, और एक ब्राह्मण के घर में ठहर गये। वहाँ उन्होंने बक नामक राक्षस का वध किया। तब किसी ब्राह्मण ने आकर सूचना दी कि पांचाल देश के राजा यज्ञसेन द्रुपद की पुत्री कृष्णा याज्ञसेनी द्रौपदी का स्वयंवर होनेवाला है। पाण्डव वहाँ पहुँचे और अर्जुन ने लक्ष्यभेद करके द्रौपदी से विवाह कर लिया। कुन्ती के एक वाक्य के कारण द्रौपदी पंचपतिका या पाँचों पतियों की स्त्री मानी गई। पर मालूम होता है कि यह बात महाभारत की कथा में पीछे से जोड़ दी गई है।

पाण्डवों के सकुशल जीवित रहने की बात धृतराष्ट्र के पासतक पहुँच गई। उसने विदुर को द्रुपद के यहाँ भेजकर पाण्डवों को हस्तिनापुर बुलवा लिया। कृष्णा की सलाह से पाण्डव खाण्डवप्रस्थ नामक वन में जा बसे। धृतराष्ट्र ने उन्हें आधा राज्य दे दिया। वहाँ उन्होंने इन्द्रप्रस्थ नामक नया नगर बसाया। यहीं रहते हुए अर्जुन बारह वर्ष के लिए तीर्थयात्रा पर चले गये, और अनेक स्थानों में घूमते हुए प्रभासतीर्थ में पहुँचे। वहीं श्रीकृष्ण उनसे आकर मिले, और उन्हें साथ लेकर रैवतक पर्वत (वर्तमान गिरनार) पर गये। वहाँ गिरिमह नामक एक बड़ा उत्सव वृष्णियों ने किया, जिसमें सारण की सगी बहन सुभद्रा भी सजधजकर आई। कृष्ण की सलाह से अर्जुन ने सुभद्रा का बलपूर्वक हरण किया और रथपर बैठाकर उसे हस्तिनापुर ले गये। वृष्णि लोग बहुत गरम हुए, पर कृष्ण ने उन्हें तत्तोथम्मो की और बहुत-सा यौतुक धन लेकर इन्द्रप्रस्थ चले गये। इसी अवसर पर अर्जुन ने खाण्डववन को जलाकर वहाँ के नागों और असुरों की बस्तियों को साफ़ किया, जिससे कि यमुना के काठे में इन्द्रप्रस्थ के राज्य को फैलने का अधिक अवसर मिल सके।

२. सभापर्व

उसी खाण्डव वन में मय नामक एक असुर रहता था। उसे अर्जुन ने अभयदान दिया। मय ने कृतज्ञ होकर कुछ सेवा करनी चाही। उसने कहा—"मैं असुरों का विश्वकर्मा हूँ। मुझे महाकवि कहते हैं। मैं आपके लिए कुछ निर्माण-कार्य करना चाहता हूँ।" अर्जुन ने उसे कृष्ण के पास भेजा। कृष्ण ने उससे युधिष्ठिर के लिए एक सभा का निर्माण करने के लिए कहा। मय ने युधिष्ठिर के लिए विमान की आकृति की एक सभा निर्मित की। तब कृष्ण पाण्डवों से विदा लेकर द्वारका चले गये।

नारद का राजधर्मानुशासन

एक बार देवर्षि नारद युधिष्ठिर के साथ उस सभा में उपस्थित हुए, और उन्होंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षसंबंधी अनेक कुशल-प्रश्न पूछे। इसे 'नारद-राजधर्मानुशासन' कहते हैं। यह व्यावहारिक राजनीति का सुन्दर निचोड़ है। राजा को किस प्रकार शासन करना चाहिए और प्रजा के साथ उसका कैसा व्यवहार होना चाहिए, इसका यहाँ बड़ा अच्छा विवेचन किया गया है। इसी प्रकरण में युधिष्ठिर की सभा को पाषाण से बनी पहली सभा कहा गया है। उसके वास्तु और स्थापत्य का भी अच्छा वर्णन है।

इसके बाद युधिष्ठिर ने अपने भाइयों के साथ मन्त्रणा करके राजसूय यज्ञ करने का संकल्प किया, और द्वारका में कृष्ण के पास अपना दूत भेजा। युधिष्ठिर

की इच्छा जानकर कृष्ण इन्द्रप्रस्थ आये। उन्होंने सब हाल जानकर कहा कि, राजसूय यज्ञ की सफलता के लिए मगध के प्रतापी सम्राट् जरासंध के गुट को तोड़ना आवश्यक है। सब कुछ निश्चित करके कृष्ण, भीम और अर्जुन गिरिव्रज गये और गुप्तरूप से प्रवेशकर जरासंध से मिले। जरासंध और भीम में भयंकर बाहुयुद्ध हुआ, और भीमसेन ने उसे मार डाला। जरासंध के पुत्र सहदेव का राज्याभिषेक कर वे हस्तिनापुर लौट आये।

युधिष्ठिर का राजनैतिक कण्टक तो दूर हो गया, पर राजसूय यज्ञ के लिए धन-धान्य आदि कोष का संग्रह आवश्यक था। उसके लिए उन्होंने अपने भाइयों को दिग्विजय करने के लिए भेजा। अर्जुन उत्तर की ओर गये। भीमसेन पूर्व की ओर, सहदेव दक्षिण की ओर, और नकुल पश्चिम दिशा की दिग्विजय के लिए गये। जब चारों पाण्डव भाइयों ने चारों दिशाएँ जीत लीं, तब युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ आरम्भ किया। उसमें अनेक राजा उपहार लेकर आये। यज्ञ में भीष्म के प्रस्ताव पर कृष्ण का सर्वप्रथम पूजन किया गया; पर चेदिराज शिशुपाल ने इसका कड़ा विरोध किया, और अन्त में वह मारा गया। यज्ञ पूरा होने पर कृष्ण द्वारका चले गये। दुर्योधन युधिष्ठिर से विदा लेकर हस्तिनापुर लौटा। पर उसका मन क्षोभ से जल रहा था। अन्त में, शकुनि से सलाह करके उसने एक योजना बनाई। तदनुसार युधिष्ठिर को जूआ खेलने के लिए आमंत्रित किया। विदुर ने धृतराष्ट्र को बहुत समझाया कि इस कपट चाल को वे रोकें। पर धृतराष्ट्र ने यही कहा—'ब्रह्मा ने जो रच दिया है, सारा जगत् उसी चाल से चलता है।" युधिष्ठिर आये और दुर्योधन की ओर से उसके मामा शकुनि पासा फेंककर जूआ खेलने लगे। युधिष्ठिर दाँव-पर-दाँव हारते गये। अन्त में, अपने आपको और द्रौपदी को भी दाँव पर लगा दिया, और हार गये। चारों ओर सन्नाटा छा गया। स्थिति अत्यन्त भयंकर हो उठी। उस समय दुर्योधन ने ढिठाई की पराकाष्ठा दिखाते हुए दूत भेजकर द्रौपदी को सभा-भवन में बुलवा लिया। सभा में द्रौपदी ने सूक्ष्मधर्म संबंधी कई प्रश्न पूछे, पर दुर्योधन के भाई विकर्ण को छोड़कर किसी ने स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। तब दुःशासन ने सभा के बीच में बलपूर्वक द्रौपदी को वस्त्रहीन करना चाहा। संकट के समय द्रौपदी ने भगवान् का स्मरण किया, और उसकी लाज बच गई। धृतराष्ट्र ने द्रौपदी को अभय देकर महलों में भेज दिया। युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ लौट गये। पर अभी उनके मुख में कालिख लगना शेष था। उनकी पासाटेरी बुद्धि और जूए की लपट का अन्त नहीं हुआ था। दुर्योधन ने तुरन्त दूत दौड़ाया और युधिष्ठिर मार्ग से ही फिर लौट आये। उनके आते ही शकुनि ने जूए की नई शर्त सुनाई। पासा फेंका गया, और चट शकुनि ने कहा, "मैंने दाँव जीत लिया, अब तुम लोग बारह वर्ष वन में रहकर तेरहवें वर्ष अज्ञात-वास करो।" युधिष्ठिर सब प्रकार से हीन होकर चारों भाइयों और द्रौपदी के साथ वन को चल दिये।

३. आरण्यकपर्व

इस पर्व में पाण्डवों के वनवास की कथा है । इसमें तीन सौ अध्याय और लगभग १२००० श्लोक हैं । किन्तु कथा-प्रवाह की दृष्टि से सामग्री इसकी बहुत थोड़ी है । इसमें अधिकांश उपाख्यान, चरित, नीति और धर्म के प्रसंग एवं तीर्थ-यात्रासंबंधी वर्णन कटहल के कोओं की भाँति भरे हुए हैं । इसीमें नलोपाख्यान की सुन्दर कथा है । ऋष्यशृंग-उपाख्यान और रामोपाख्यान भी इसीमें है । कहते हैं, वन को जाते समय युधिष्ठिर ने अपने पुरोहित धौम्य के कहने से सूर्य की आराधना की, और सूर्य ने वरदान में द्रौपदी को एक अक्षय बटलोही दी । विदुर भी पाण्डवों को समझाने आये, और चोट पर अधिक चोट करते हुए कहा, "धृतराष्ट्र के मन में तुम्हारी ओर से कुछ खुटका है, इसलिए तुम लोग तत्काल क्षमा-वृत्ति बनाये रखना।" युधिष्ठिर ने उन्हें आश्वस्त किया । पाण्डवों का संकट सुनकर कृष्ण उनसे मिलने के लिए काम्यकवन में आये, और उन्होंने बड़े ओजस्वी शब्दों में समझाया । द्रौपदी ने भी विलापकर अपनी दुःख-गाथा कही, "हे कृष्ण, न पिता या बन्धु हैं, और तुम भी कोई नहीं हो, जो मुझे उन नीचों से इस प्रकार अपमानित होना पड़ा ।" द्रौपदी के दुःखभरे वचन सुनकर कृष्ण ने उसे बहुत आश्वासन दिया । द्यूतसभा के समय कृष्ण द्वारका में नहीं थे । वे शाल्वराज से युद्ध करने के लिए आनर्त देश में स्थित उसकी राजधानी सौभनगर चले गये थे । इसलिए वे हस्तिनापुर नहीं पहुँच सके । युधिष्ठिर से विदा लेकर कृष्ण द्वारका चले गये । सुभद्रा और अभिमन्यु को भी उन्होंने अपने साथ ले लिया ।

पाण्डव उस महाअरण्य के एक भाग में, द्वैतवन स्थान में, चले गये । वहाँ एक बड़ा सरोवर था। वहीं पर मार्कंण्डेय ऋषि उनसे मिलने के लिए आये । मार्कण्डेय ने युधिष्ठिर को सान्त्वना देने के लिए अनेक प्राचीन कथाएँ सुनाईं । इस लम्बे प्रक-रण को 'मार्कण्डेय समस्या बैठक पर्व' कहते हैं। उन्होंने युधिष्ठिर को राम की भी कथा सुनाई, जब उन्होंने भी वनवास के अनेक संकट सहे थे ।

द्वैतवन में रहनेवाले एक दूसरे तपस्वी मुनि बकदाल्भ ने युधिष्ठिर को ब्रह्म और क्षत्र का तारतम्य समझाया । फिर पाण्डव आपस में ही अपने दुःख और शोक की चर्चा करने लगे । इस प्रसंग में युधिष्ठिर ने क्षमा और अक्रोध पर लम्बा प्रवचन दिया, जिसे सुनकर द्रौपदी हतप्रभ होगई । उसने कहा, "हा ! विधाता, तुम्हारे पैर छूती हूँ । तुमने इनकी बुद्धि पर कैसा पर्दा डाल दिया है !" पर युधिष्ठिर अपनीही बात पर जमे रहे । फिरभी द्रौपदी ने वीरोचित कार्य करने के लिए युधिष्ठिर को बहुत उत्तेजित किया । भीम ने भी युधिष्ठिर को समझाया। पर उनका उत्तर सुन-कर वे गहरी साँस छोड़ने लगे ।

उसी समय महायोगी व्यास वहाँ पहुँचे, और उन्होंने उस स्थान को छोड़ने

की सलाह दी। व्यास की बात सुनकर युधिष्ठिर द्वैतवन से सरस्वती नदी के किनारे काम्यक वन के दूसरे भाग में चले गये। वहाँ युधिष्ठिर ने अर्जुन से एकान्त में कहा, "हे तात ! महर्षि व्यास ने मुझसे कहा है कि तुम अस्त्रों की सिद्धि के लिए देवताओं के पास जाओ। बड़े भाई की बात मानकर अर्जुन ने उसी समय व्रत धारण किया, और वे इन्द्र के पास हिमालय में इन्द्रकील चोटी पर गये। वहाँ उन्हें इन्द्र के दर्शन हुए। इन्द्र ने उन्हें भगवान् शिव का दर्शन करके अस्त्र-विद्या प्राप्त करने की सलाह दी। इसके बाद महाभारत में कैरात पर्व नामक प्रकरण है। इसमें किरात-वेशधारी शिव से युद्ध करके अर्जुन ने दिव्य पाशुपत अस्त्र प्राप्त किया, जिसे ब्रह्मशिर भी कहते थे। वहाँ हिमालय पर अर्जुन और भी देवों के लोकों में गये।

इधर काम्यक वन में पाण्डवों के पास बृहदश्व ऋषि पधारे। उन्होंने निषधदेश के राजा नल की कथा सुनाई। वह भी अपनी पत्नी के साथ विपत्ति सहता हुआ वन में रहा था। यह धार्मिक आख्यान है। मानवीय दुःख-सुख के अनेक स्थल इस कथा में आते हैं। ज्ञात होता है, प्राचीन नियतिवादी दार्शनिकों के तरकश का एक अचूक बाण यह 'नलोपाख्यान' था, जिसमें बड़ों-बड़ों को चक्कर में डाल देनेवाले भाग्य की करतूत का प्रभावशाली दृष्टान्त पाया जाता है। नल की कथा सुनकर पाण्डव तीर्थयात्रा के लिए निकले। वे अपने पुरोहित धौम्य के साथ काम्यक वन से चलकर पूर्व में गया और महेन्द्रपर्वत तक, पश्चिम में पुष्कर और द्वारका तक, और दक्षिण में कन्याकुमारी तक गये। यहीं एक दूसरी तीर्थयात्रा पुलस्त्य के नाम से है। उसका क्षेत्र पूरब में कामरूप तक और पश्चिम में सिन्धु-सागर-संगम तक है। उसके वक्ता नारद हैं। तीसरी तीर्थयात्रा लोमश ऋषि के नाम से संबंधित है। इसमें बदरी, केदार एवं कैलास, मानसरोवर से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक के तीर्थों का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। लोमश-तीर्थयात्रा में ही गंगा के जन्म की कथा और हिमालय में गंगा के भूगोल का विस्तृत वर्णन है। तीर्थयात्रा-प्रसंग में ऋष्यश्रृंग की कथा और अष्टावक्र की भी कथा आई है। इसीमें अष्टावक्र और जनक की ब्रह्मोद्य चर्चा तथा यवक्रीत की कथा है। यहीं कनखल में पहुँचकर विशालबदरी की ओर वे गन्धमादन पर्वत पर चले गये। वहीं से यामुन पर्वत या वन्दरपूँछ पर गये, और फिर सौगन्धिक वन की ओर गये, जो सम्भवतः आजकल की भूड़ारघाटी है। यामुन पर्वत पर पाण्डवों की एक अजगर से भेंट हुई, जो पूर्व जन्म में राजा नहुष था। यहीं अजगर और युधिष्ठिर का बुद्धि को झकझोर देनेवाला संवाद है, जिसमें जाति या जन्म की अपेक्षा कर्म और सत्य की श्रेष्ठता बताई गई है।

हिमालय से पाण्डव काम्यक वन में लौट आये। तब सत्यभामा के साथ कृष्ण उनसे मिलने आये। उन्होंने युधिष्ठिर से कहा, "सारे वृष्णि योद्धा आपके आदेश की प्रतीक्षा में हैं। हस्तिनापुर पर चढ़ाई करके आप दुर्योधन का नाश करें।" समय आनेपर हम अवश्य वैसा करेंगे, युधिष्ठिर ने हाथ जोड़कर कहा। उसी समय ऋषि

मार्कण्डेय वहाँ आ उपस्थित हुए। युधिष्ठिर और मार्कण्डेय के संवादरूप में कई अध्यायों और लगभग २००० श्लोकों का एक लम्बा प्रकरण आरम्भ होता है, जिसका नाम 'मार्कण्डेय-समस्या' पर्व है।

काम्यक वन की शीतल छाया में पंचपाण्डव, द्रौपदी, अनेक ब्राह्मण, पुरोहित धौम्य, कृष्ण, सत्यभामा, नारद और मार्कण्डेय का एकत्र जमघट मानों कथाओं के लिए प्रलोभनभरा आमन्त्रण था। कथाओं के इस समूह में पाँच उपाख्यान मुख्य हैं। पहला मार्कण्डेय-उपाख्यान, दूसरा धुन्धुमार की कथा, तीसरा पतिव्रता-उपाख्यान और कौशिक ब्राह्मण के साथ मिथिला के धर्मव्याध का संवाद, चौथा आंगिरस-उपाख्यान और पाँचवाँ स्कन्द-जन्म की विस्तृत कथा। यहीं मिथिला के धर्मव्याध ने कौशिक ब्राह्मण से शिष्टाचार-धर्म की व्याख्या की है। 'शिष्टाचार' उस समय का पारिभाषिक शब्द था। समाज में जो श्रुतिस्मृति-प्रतिपादित सत्यधर्म चला आता था, जो शील, नीतिधर्म एवं सदाचार का बद्धमूल आदर्श था, उसीको यहाँ 'शिष्टाचार' कहा गया है। बुद्धिपूर्वक रहने और कर्म करने की जिस जीवन-पद्धति का विकास युग-युगों के भीतर से भारतीय समाज ने किया था, उसे शिष्टाचार की संज्ञा दी गई और वही धर्म में प्रमाण माना गया। इसी संवाद के अन्त में स्कन्द के जन्म की कथा है। इसमें लोक और वेद दोनों धाराओं का सम्मेलन है। स्कन्द-लोक में एक बालगृहदेवता की संज्ञा थी। उसीका प्राचीन 'वैदिक कुमार-विद्या' के साथ समन्वय किया गया, और देवसेना, षष्ठी, श्रीलक्ष्मी, अपराजिता आदि देवियों की एकात्मकता बताते हुए उन सबका सम्बन्ध स्कन्द के साथ जोड़ा गया। स्कन्द की कथा के साथ मार्कण्डेय पर्व समाप्त होता है। यहीं द्रौपदी-सत्यभामा के संवाद-रूप में स्त्रियोचित धर्मों का विवेचन है। इसके बाद सत्यभामा के साथ कृष्ण ने विदा ली। उसी समय दुर्योधन की इच्छा हुई कि युधिष्ठिर और भीम उसकी राज्यलक्ष्मी को देख पाते। कर्ण ने उपाय बताया कि सुना है, इस समय राजकीय घोष द्वैतवन में हैं। घोष-यात्रा के बहाने वहाँ चलना चाहिए। धृतराष्ट्र की अनुमति से दुर्योधन अपने साथियों के साथ वहाँ गया। प्राचीन काल में प्रतिवर्ष राज्य के गोधन की जो गणना होती थी, उसके लिए अधिकारियों का जाना 'घोष-यात्रा' कहा जाता था। गायों की संख्या करते हुए तुरन्त की ब्याई गायों को, बछड़ों को और गाभिन हुई ओसर बछियों को गिनकर उनपर अंक या निशान डाल दिये जाते थे। दस सहस्र गायों की संख्या को 'व्रज' कहा जाता था। गौओं की गणना समाप्त करके दुर्योधन द्वैतवन सरोवर की ओर बढ़ गया। युधिष्ठिर का पड़ाव भी सरोवर के चारों ओर था। वहाँ उसने अपने विहार के लिए अखाड़ा बनवाने की आज्ञा दी। पर गन्धर्व-राजा चित्रसेन भी अपनी अप्सराओं के साथ वहीं पर विहार कर रहे थे। उन्होंने रोक-थाम की। इसपर बात बढ़ गई। गन्धर्वों ने कौरवों की सेना को तितर-बितर करके दुर्योधन, कर्ण आदि को बंदी बना लिया। उसके मंत्री रोते-पुकारते युधिष्ठिर के

पास पहुँचे। भीमसेन तो बहुत प्रसन्न हुआ, पर युधिष्ठिर ने अर्जुन और भीम के साथ गन्धर्वों को जीतकर कौरवों को छुड़ाया। तब दुर्योधन हस्तिनापुर लौट आया। वहाँ उसे इतनी अधिक लज्जा हुई कि उसने राज-पाट छोड़ देना चाहा। पर कर्ण, दुःशासन और शकुनि के समझाने से उसे अपना विचार छोड़ देना पड़ा। उसके बाद दुर्योधन ने मंत्रणा-सभा जोड़ी कि आगे क्या करना चाहिए। कर्ण ने सलाह दी कि पाण्डवों ने जैसा राजसूय यज्ञ किया, वैसा तुमभी करो। उसकी बात मानकर दुर्योधन ने धूम-धाम से अपना यज्ञ समाप्त किया। पाण्डवों को भी नेवता भेजा गया था, पर वनवास का समय पूरा न होने से वे नहीं आये। द्वैतवन से हटकर वे मरु-भूमि के सिरे पर तृणविन्दु सरोवर के निकट चले गये।

एक दिन वे द्रौपदी को आश्रम में छोड़कर मृगया के लिए चले गये थे। तब सिन्धुसौवीर का राजा जयद्रथ आश्रम की ओर आ निकला, और सूने में द्रौपदी को बलपूर्वक ले चला। लौटने पर पाण्डव साँपों की तरह फुंफकारते हुए उस ओर दौड़े, और जयद्रथ द्रौपदी को छोड़कर अपने प्राण लेकर भागा। भीम और अर्जुन ने उसे पकड़ लिया, पर युधिष्ठिर ने किसी तरह उसे छुड़ा दिया, और वह अपने देश को लौट गया।

युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय से अपनी भारी विपत्ति की कथा कही, तो उन्हें सान्त्वना देने के लिए मार्कण्डेय ने राम की कथा सुनाई, जिसमें सात सौ श्लोकों पर वह वाल्मीकीय रामायण की कथा पर आश्रित है। रामोपाख्यान के बाद ही सावित्री और सत्यवान् का उपाख्यान आया है, जो भारत के घर-घर की वस्तु है। युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय से पूछा—"हे महामुनि, क्या आपने कोई ऐसी पतिव्रता स्त्री देखी या सुनी है?" उत्तर में मार्कण्डेय ने सावित्री का वृत्तान्त सुनाया, जो मद्रदेश की राजकुमारी थी। उसने अपने पति सत्यवान् के प्राणों की रक्षा के लिए यमराज को भी प्रसन्न किया था।

इसके बाद इन्द्र द्वारा कर्ण के कुण्डल मांगने की कथा है। और कुन्ती द्वारा सूर्य से कौमार अवस्था में ही कर्ण को जन्म देने की कथा है। आरण्यक पर्व के कथा, समुद्र की अन्तिम हिलोर के रूप में, यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद का एक विचित्र प्रकरण आता है, जिसमें लोक-साहित्य और वेद-साहित्य का सम्मिश्रण पाया जाता है। इसमें १८ श्लोकों में प्रश्न और १८ श्लोकों में ही उनके उत्तर हैं। महाभारत में इस अंश को 'प्रश्न-व्याकरण' कहा गया है। कथा यह है कि चारों भाई क्रमशः सरोवर पर जल पीने गये। पर उन्होंने यक्ष के प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया। अन्त में युधिष्ठिर ने प्रश्नों का उत्तर देकर यक्ष को प्रसन्न किया और अपने भाइयों को जीवित कर दिया। यक्ष के अन्तिम प्रश्न का नमूना इस प्रकार है—'हे युधिष्ठिर, पुण्य का विस्तार कितना है? इसकी व्याख्या करो।' युधिष्ठिर ने उत्तर दिया-'अच्छे कर्म का शब्द पृथिवी को छूकर आकाश को छू लेता है। उस पुण्य कर्म की ध्वनि का

जितना विस्तार होता है, उतना ही पुरुष का विस्तार समझो। जिसे प्रिय-अप्रिय, सुख-दु:ख, भूत-भविष्य दोनों एक-से हैं, ऐसा समदर्शी व्यक्ति समस्त धनों का स्वामी होता है।

इस प्रकार वनवास में रहते हुए पाण्डवों के बारह वर्ष पूरे हो गये।

४. विराटपर्व

पाण्डवों ने तेरहवाँ वर्ष राजा विराट के यहाँ अज्ञातवास में बिताया। उनकी निज कथा का रुका हुआ प्रवाह फूटकर आगे बढ़ता है। पाण्डवों का विराटनगर में आना, वेश बदलकर राजा की सभा में प्रवेश करना, कीचक-वध, कौरवों द्वारा विराट की गायें पकड़ने के लिए आने पर अर्जुन का उनके साथ युद्ध, कौरवों की पराजय और अन्त में पाण्डवों के प्रकट होने पर अभिमन्यु का उत्तरा के साथ विवाह, ये ही कथा के मुख्य सूत्र हैं। उपाख्यानों के लिए यहाँ कोई अवसर न था।

अर्जुन की सलाह से युधिष्ठिर ने विराटनगर में अज्ञातवास का तेरहवाँ वर्ष बिताने का निश्चय किया। उन्होंने अपने वेश और नाम बदल लिये, और वे अपने पुरोहित धौम्य की शिक्षा लेकर विराट की राजसभा में पहुँचे। इससे पूर्व अर्जुन ने एक सघन शमीवृक्ष के ऊपर अपने शस्त्रों को छिपा दिया। सभा में राजा विराट ने उनका स्वागत किया। सहदेव तंतिपाल नाम से विराट के पशुपाल बने। अर्जुन बृहन्नला नाम से कुमारी-अन्त:पुर में कुमारी उत्तरा को नृत्य सिखाने पर नियुक्त हुए। नकुल ग्रन्थिक नाम से अश्वयोजक बने। युधिष्ठिर कंक नाम से विराट राजा के अक्ष-विद्या में कुशल मित्र बने। भीम रसोइये के पद पर नियुक्त हुए। द्रौपदी को रानी सुदेषणा ने अपने पास रख लिया। अन्त:पुर की स्त्रियों के मनबहलाव के लिए महाबली भीम की कभी-कभी सिंहों के साथ कुश्ती कराई जाती थी। यों पाण्डवों को दस मास बीत गये। तब विराट का सेनापति कीचक द्रौपदी के रूप पर मोहित हो गया। जब उसने सुदेषणा की साँठ-गाँठ से द्रौपदी पर अपने डोरे डालने चाहे, तो भीम से उसकी टक्कर हुई और भीम ने उसे मार डाला। इस प्रकार अज्ञातवास का तेरहवाँ वर्ष भी लगभग समाप्त हो गया।

इधर दुर्योधन के मन में विचारों का बवंडर चल रहा था। उसने त्रिगर्त के राजा सुशर्मा और कर्ण की सलाह से विराट देश पर चढ़ाई कर दी। सुशर्मा ने विराट की गौवों को छीन लिया। समाचार पाते ही विराट और उनके शूर-वीर भाँति-भाँति के कवच पहनकर गौवों की रक्षा के लिए दौड़े। विराट ने अपने साथ पाण्डवों को भी ले लिया। विराट के गोष्ठ में साठ हज़ार गायें थीं। ठीक मौके पर पहुँचकर दुर्योधन ने उन सब गौवों को अपने अधीन कर लिया। इस युद्ध में विराट के छोटे पुत्र उत्तर ने अपने साथी बृहन्नला को लेकर भारी पराक्रम दिखाया। अर्जुन ने कौरव-सेना को हराकर गोधन को एकत्र करके गोपालों से कहा कि, इन

सबको विराटनगरी में ले चलो। अन्त में बात खुल गई। पाण्डव पहचान लिये गये। मत्स्य-राजा विराट ने अपनी पुत्री उत्तरा अर्जुन को देनी चाही, किन्तु अर्जुन ने उसे अपनी पुत्र-वधू के रूप में स्वीकार किया। उत्तरा और अभिमन्यु का धूम-धाम से विवाह सम्पन्न हुआ। उस उत्सव में कृष्ण भी सम्मिलित हुए।

५. उद्योगपर्व

तेरह वर्ष के वनवास की तपस्या से पाण्डव कंचन की तरह तप रहे थे। परिस्थिति उनके पक्ष में न्याय की पुकार कर रही थी। पर सत्य के उस बिन्दु तक पहुँचने में अभी कई बाधाएँ थीं। उन्हींको हटाने के आरम्भिक प्रयत्नों की झाँकी इस पर्व में मिलती है। इनमें सबसे आकर्षक प्रयत्न कृष्ण का कौरवों की सभा में दूत बनकर जाना है। वहाँ उन्होंने शान्ति की याचना का यह स्वर ऊँचा किया—

कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणामेतद् याचितुमागतः॥

परन्तु दुर्योधन के हठ की चट्टान से टकराकर यह सौम्य प्रयत्न छिन्न-भिन्न हो गया। इस समय धृतराष्ट्र के मन में सबसे बड़ी खलबली थी, जिसने उनकी नींद जाती रही। उस उन्निद्र अवस्था को 'प्रजागर' कहा गया है। उस व्याधि को दूर करने के लिए दो प्रकार की औषधियाँ धृतराष्ट्र को दी गई। एक तो विदुर के नीति-धर्म की, और दूसरे ऋषि सनत्सुजात के अध्यात्मधर्म की।

उपप्लव नगर में अभिमन्यु के विवाह से निवृत्त होकर पाण्डव पुन. विराट-नगर लौट आये। मंत्रणा-सभा में कृष्ण ने प्रस्ताव रखा कि कोई सुयोग्य व्यक्ति उन कौरवों की सभा में जाय और युधिष्ठिर के लिए आधा राज्य मांगे। बहुत सोच-विचार के बाद द्रुपद को दूत बनाया गया। भला उस बेचारे की बात कौन सुनता? धृतराष्ट्र ने यह कहकर उसे लौटा दिया कि मैं भी संजय को पाण्डवों के पास भेजूंगा। संजय पाण्डवों के पास आये, और कर्म तथा धर्म की ऐसी मीमांसा करने लगे कि युधिष्ठिर भी हक्के-बक्के रह गये। इस अवसर पर कृष्ण ने कुछ स्पष्ट कथन किया—"हे संजय! मैं तो सभी के लिए शान्ति चाहता हूँ, पर जहाँ धृतराष्ट्र-जैसे गृध्र हों, वहाँ युद्ध होकर ही रहेगा।" युधिष्ठिर ने नम्रता से संजय को विदा दिया।

इसके बाद, आठ अध्यायों में 'प्रजागर पर्व' का उपदेश है, जिसे 'विदुर-नीति' कहते हैं। इसमें प्राचीन भारत के प्रज्ञा-दर्शन का बहुत अच्छा विवेचन है, जैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। प्रज्ञा-दर्शन का अर्थ था समझदारी, सूझ-बूझ या बुद्धिमत्ता का व्यावहारिक मार्ग, जिसके अनुसार चलना सबका कर्तव्य है। यह भाग्यवाद या नियतिवाद का उलटा था। पर सब कुछ सुनकर धृतराष्ट्र ने यही कहा कि, जो होनेवाला है वही होकर रहेगा।

इसके बाद चार अध्यायों में ऋषि सनत्सुजात का उपदेश है। उन्होंने

धृतराष्ट्र के लिए प्राचीन अध्यात्ममार्ग की व्याख्या की, जिसमें सत्य, अमृत और अप्रमाद का विवेचन था। पर धृतराष्ट्र तो केवल सुनने के रसिक थे, इस कान सुना, उस कान निकाल दिया।

जब संजय ने लौटकर कौरवों की सभा में पाण्डवों का सच्चा हाल बताया, तो वहाँ आपस में बड़ी किच-किच हुई। संजय ने एकान्त में धृतराष्ट्र को कृष्ण का माहात्म्य समझाया।

अब पाण्डवों के पहल करने की बारी थी। उन्होंने कृष्ण को अपना दूत बनाकर भेजा। कृष्ण जानते थे कि युद्ध होकर रहेगा। पर उन्होंने नीति के मार्ग से मुँह न मोड़ा। वे कौरव-राज-सभा में आये। लगभग ८० अध्याओं के इस लम्बे प्रकरण का नाम 'भगवद्यान पर्व' है। चलते समय युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, द्रौपदी सब ने अपने मनोभावों के अनुसार कृष्ण को संदेश दिया। धृतराष्ट्र की सभा में कृष्ण ने शान्ति के लिए बहुत प्रयत्न किया। उनके भाषण की सभीने प्रशंसा की। पर प्रयत्न उनका सफल नहीं हुआ, और दुर्योधन ने कृष्ण को पकड़ लेने की कूटमन्त्रणा की। कृष्ण लौट आये, और सब हाल सुनाकर उन्होंने कहा कि, "यद्यपि मैंने सत्य और पथ्य वचन कहे, परन्तु किसीने कुछभी नहीं माना।" युधिष्ठिर ने परामर्श-सभा बुलाई और सबने युद्ध के ही पक्ष में मत दिया।

६. भीष्मपर्व

दोनों पक्षों की सेनाएँ अस्त्र-शस्त्रों से सज-धजकर कुरुक्षेत्र के मैदान में इकट्ठी हुई। उसमें सारे भारतवर्ष के राजा एकत्र हुए। कौरवों के पक्ष में गान्धार देश के, कुल्लू-कांगड़ा के, मद्र या पंजाब के, कुछ राजस्थान के और दक्षिण दिशा के चेर, चोल, पाण्ड्य आदि राजा थे। पाण्डवों के पक्ष में गंगा-यमुना की अन्तर्वेदी के देशों के एवं सौराष्ट्र से लेकर चेदि देश के राजाओं की ठोस पिण्डी थी। साथही, अंग और मगध, कलिंग और वंग के राजाओं का पुछल्ला भी, जरासंध की मृत्यु के बाद, उनके पुत्र सहदेव के नेतृत्व में पाण्डवों के साथ जुड़ गया था। इस प्रकरण में भुवन-कोष नामक एक बड़ा अध्याय है। उसमें यह भारत-प्रशस्ति है—

"हे भारत! अब मैं तुमसे उस भारतवर्ष का बखान करूँगा, जो भारत देवराज इन्द्र को प्यारा है, विवस्वान् के पुत्र मनु ने जिस भारत को अपना प्रिय-पात्र बनाया था। हे राजन्! आदिराज वैन्य पृथुने जिस भारत को अपना प्रेम अर्पित किया था, और महात्मा राजर्षिवर्य इक्ष्वाकु की जिस भारत के लिए हार्दिक प्रीति थी, प्रतापी ययाति और भक्त अम्बरीष, त्रिलोकविश्रुत मान्धाता और तेजस्वी नहुष जिस भारत को अपने हृदय में स्थान देते थे, सम्राट् मुचुकुन्द और औशीनर शिवि, ऋषभ, ऐल और नृपति नृग जिस भारत को हृदय से चाहते थे,

हे दुर्धर्ष महाराज ! कुशिक और महात्मा गाधि, प्रतापी सोमक और व्रती दिलीप जिस भारत के प्रति भक्ति-भावना रखते थे, उसे मैं तुमसे कहता हूँ । हे महाराज! अनेक बलशाली क्षत्रियों ने जिस भूमि को प्यार किया है, और सभी जिस भारत को चाहते हैं, हे भारतवर्ष में उत्पन्न! 'उस भारत को' मैं तुमसे कहता हूँ ।"

इस भुवन-कोष-प्रकरण में भारत के पर्वतों, नदियों और जनपदों की लंबी सूची है । समस्त देश को उदीच्य, प्राच्य, दक्षिणापथ, अपरान्त या पश्चिम, विन्ध्य-पृष्ठ, पर्वताश्रयी और मध्यदेश इन सात भागों में बाँटा गया है । यह प्राचीन भारतीय भूगोल की अनमोल सामग्री है ।

इसके पश्चात् सुप्रसिद्ध श्रीमद्भगवद्गीता पर्व है । युद्ध-भूमि में जब शस्त्र चलाकर युद्ध करने का अवसर आया, तो अर्जुन को मोह हुआ और उसने कृष्ण से कहा कि, मैं युद्ध नहीं करूँगा । उसके मन में भारी संदेह और कर्म के विषय में अनिश्चय हो गया था । उसके विषाद को हटाने के लिए कृष्ण ने कर्ममार्ग या बुद्धियोग का उपदेश दिया और उसीके साथ प्राचीन विद्या की भी मीमांसा की । गीता में प्राचीन उपनिषदों का सार भरा हुआ है । ज्ञान और कर्म दोनों ही गीता के विषय हैं, और दोनों ही मनुष्य के लिए आवश्यक हैं । गीता का दूसरा सूत्र यह है कि विश्व और मनुष्य दोनों का मूल उद्गम सत्-तत्त्व है । वही ईश्वर या ब्रह्म है । गीता अधिकारी-भेद से प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का प्रतिपादन करती है । ये दोनों मार्ग भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही चले आ रहे थे । गीता प्रज्ञा-दर्शन का ग्रन्थ है । जीवन में अध्यात्म और व्यवहार इन दोनों का मेल ही सच्ची प्रज्ञा या समझदारी है । इन्द्रियों पर विजय यही दोनों मार्गों का निचोड़ है । कृष्ण ने कर्म के पक्ष में बहुत-सी उक्तियां दीं, जो आजभी वैसी ही हरी हैं । श्वास लेकर जीवित रहनेतक को भी उन्होंने कर्म कहा । गीता के दसवें अध्याय में लोक-देवताओं की बहुत बड़ी सूची है । ग्यारहवें अध्याय में भगवान् के विराट् रूप का वर्णन है । विश्व-रूप-दर्शन नामक यह प्रकरण बहुत ही विलक्षण है । यह दिव्य दृष्टि या मन की शक्ति से अनुभव में आता है । इसके अतिरिक्त, गीता में और भी वैदिक विषय हैं, जैसे ज्ञान-विज्ञान, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, क्षर-अक्षर, अपराप्रकृति-पराप्रकृति एवं सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के व्यापार और उनके अनुसार विश्व और व्यक्ति की रचना, दैवी और आसुरी संपत् के अनुसार सारा विश्व उजाले-अँधेरे के समान दो भागों में बँटा है । जिस परमेश्वर ने यह विश्व रचा है और जिसने प्राणियों को बनाया है उसी एक तत्त्व की उपासना मनुष्य अपने-अपने स्वभाव के अनुसार करते हुए सिद्धि को पाते हैं । चाहे कर्मसंन्यास हो, चाहे कर्मयोग दोनों का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मसाक्षात्कार ही है, और ईश्वर की अनन्य भक्ति से बढ़कर उसका कोई दूसरा उपाय नहीं है ।

श्रीकृष्ण का यह उपदेश सुनकर अर्जुन युद्ध के लिए तैयार हो गया । पहले

दस दिन तक भीष्म के सेनापतित्व में युद्ध हुआ। सबसे पहले युधिष्ठिर ने भीष्म और द्रोण को प्रणाम कर उनसे आशीर्वाद लिया। प्रथम दिन दोनों पक्षों के चुने हुए सैनिकों का द्वन्द्व युद्ध हुआ। दूसरे दिन धृष्टद्युम्न ने पाण्डवों की ओर से क्रौंच-व्यूह बनाकर युद्ध किया। तीसरे दिन भीष्म ने अद्भुत पराक्रम प्रकट किया, यहाँ-तक कि कृष्ण अपनी प्रतिज्ञा भूलकर भीष्म को मारने के लिए रथ-चक्र लेकर दौड़े।

चौथे दिन भीष्म और अर्जुन का हयरथ-युद्ध हुआ। पाँचवें दिन भीम एवं अर्जुन के साथ भीष्म का घनघोर युद्ध हुआ। छठे दिन पाण्डव-सेना ने मकर-व्यूह और कौरव-सेना ने क्रौंच-व्यूह बनाकर युद्ध किया। सातवें दिन कौरव-सेना ने मण्डल-व्यूह और पाण्डव-सेना ने वज्र-व्यूह रचकर भीषण संग्राम किया, एवं त्रिगर्त देश के राजा सुशर्मा का, जो संशप्तक गणों का राजा था, अर्जुन के साथ घोर युद्ध हुआ। आठवें दिन दोनों सेनाओं के घमासान युद्ध के अतिरिक्त मैदान घटोत्कच के हाथ रहा। नवें दिन भीष्म ने अपने पराक्रम का पूरा प्रयोग करते हुए बड़ा भयंकर युद्ध किया। दसवें दिन अर्जुन ने शिखण्डी को आगे करके भीष्म पर आक्रमण किया और उसकी ओट में भीष्म को बाणों से बींधकर रथ से गिरा दिया। भीष्म युद्ध-भूमि में शर-शय्या पर गिरकर मृत्यु पाने के लिए उत्तरायण की प्रतीक्षा करने लगे।

७. द्रोणपर्व

दस दिनतक युद्ध करने के बाद जब भीष्म धराशायी हुए, तब ग्यारहवें दिन दुर्योधन ने द्रोण को सेनापति बनाकर फिर युद्ध शुरू किया। द्रोणाचार्य पाँच दिन तक सेनापति रहे। इस अवधि में पाँच बड़े योद्धा युद्ध में कूदे। एक तो त्रिगर्त या कुल्लू-कांगड़ा के छोटे लड़ाकू राज्यों के संशप्तक राजा अंतिम रीति से टूट गये। दूसरे, द्रोणाचार्य के चक्र-व्यूह के छह महारथियों ने अकेले अभिमन्यु को घेरकर उसका वध कर दिया। यह भीषण घटना युद्ध के तेरहवें दिन घटी। अर्जुन ने अत्यन्त शोकाकुल होकर जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा की। अद्भुत पराक्रम दिखाते हुए अन्त में उन्होंने सिन्धुराज जयद्रथ का वध करही डाला। इसके पश्चात् पाण्डवों की ओर से घटोत्कच ने कर्ण के साथ युद्ध करते हुए इन्द्र की दी हुई शक्ति से वीरगति प्राप्त की। अब द्रोणाचार्य रणभूमि में डटे थे। सारे पाण्डव वीरों ने उनपर एकसाथ आक्रमण किया। इसमें द्रुपद और विराट दोनों खेत रहे। तब धृष्टद्युम्न ने द्रोणाचार्य पर और भी घोर आक्रमण किया, और अश्वत्थामा की मृत्यु का झूठा समाचार फैला दिया, जिसे सुनकर द्रोण ने हथियार डाल दिये। इस अवस्था में धृष्टद्युम्न ने उनका शिरच्छेद कर दिया। अपने पिता का वध सुनकर अश्वत्थामा आगबबूला हो गया। उसने नारायण नामक एक विशेष हथि-

यार का प्रयोग किया, जिसे किसी तरह कृष्ण ने रोका।

८. कर्णपर्व

सोलहवें दिन अब दुर्योधन ने कर्ण को सेनापति बनाया। इस पर्व की विशेषता कर्ण और शल्य की 'तू-तू, मैं-मैं' है। शल्य ने कर्ण की निन्दा की। बदले में कर्ण ने शल्य पर वाग्बाणों की बौछार की। किन्तु वस्तुत: कथा के इस झीने आवरण को हटाकर देखा जाय, तो कर्ण की उक्तियों के पीछे मद्रक, यवनों (पंजाब के इण्डोग्रीक) के कुत्सित वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहारों का व्यंग्यपूर्ण वर्णन है। यह भारतीय इतिहास की विचित्र सामग्री है। इसका कुछ नमूना इस प्रकार है—

"मद्र देश कुदेश या पाप का देश है। वहाँ की स्त्रियाँ, बालक, बूढ़े और तरुण प्राय: खेल-कूद में मस्त रहते हैं। वे इन गाथाओं को ऐसे गाते हैं, मानों कोई अध्ययन कर रहे हों। मद्रक दुरात्मा हैं। उनकी इस तरह की गाथाएँ, जैसा कि उनको पहले ब्राह्मणों ने राजसभा में सुनाया था, इस प्रकार हैं। मद्रक बड़ा मित्रद्रोही होता है। जो हमारे साथ नित्य शत्रुता का व्यवहार करता है, वही मद्रक है। मद्रक के साथ कभी दोस्ती नहीं हो सकती, क्योंकि वह झूठा, कुटिल और दुरात्मा होता है। दुष्टता की जितनी हद होती है, वह सब मद्रकों में समझो। उनकी एक विचित्र प्रथा है कि माँ, बाप, बेटे-बेटी, सास और ससुर, भाई, जमाई, पोते और धेवते, मित्र, अतिथि, दास, दासी, जान-पहिचान के और अनजान स्त्री और पुरुष सब एक दूसरे के साथ मिलकर संगत करते हैं। वे शिष्ट व्यक्तियों के घर में इकट्ठे होकर सत्तू की पिण्डियाँ और उसका घोल पीते हैं, और गोमांस के साथ शराब पीकर हँसते और चिल्लाते हैं, एवं कामवश होकर स्वेच्छाचार करते हैं। उनकी काम-वासनाओं से भरी बातें सुनकर, जान पड़ता है कि, उनमें धर्म का सर्वथा लोप हो गया है। मद्रक के साथ न तो वैर और न मैत्री करनी चाहिए। वह अत्यन्त चपल होता है। उसमें शौच का भाव नहीं। उसे स्पर्श और अस्पर्श का ज्ञान भी नहीं होता। बिच्छू जैसे विषबुझा डंक मारता है, वैसे ही मद्रक का मेल है। उनकी स्त्रियाँ शराब के नशे में धुत्त होकर कपड़े फेंककर नाचती हैं। यहाँ तक कि स्वच्छन्द कामाचार से भी नहीं चूकती हैं। हे मद्रक! तू उन्हींका बेटा है, तू धर्म क्या जाने? जैसे ऊँटनी खड़ी होकर मूतती है, वैसे ही स्त्रियाँ भी। वहाँ काँजी पीने का बेहद रिवाज है। काँजी की शौकीन स्त्री कहती है कि, मैं पुत्र दे दूँगी, पर कोई मुझसे काँजी न माँगे। वहाँ की स्त्रियाँ लम्बे-चौड़े शरीरवाली, ऊनी वस्त्र पहननेवाली, ठूँसकर भोजन करनेवाली, निर्लज्ज और अपवित्र होती हैं, ऐसा मैंने सुना है। इनके विषय में और भी कुछ कहा जा सकता है। मद्रक धर्म को क्या जाने? वे पापी देश में उत्पन्न हुए म्लेच्छ हैं। हे मद्रराज! फिर यदि तुमने कुछ कहा, तो

मैं गदा से तुम्हारा सिर तोड़ दूँगा।"

इसी प्रकार मद्रक यवनों के विषय में गाथाओं का ताँता शुरू हो जाता है, और लगभग एक-जैसा वर्णन कुछ है। फिर उसे दस-ग्यारह वार दोहराया गया है। इस वर्णन में न केवल मद्रक यवनों और बाह्लीकों का नाम कई वार आया है, बल्कि इसमें कुछ संकेत तो ऐसे हैं, जो पंजाव के यूनानियों परही घटित होते हैं। जैसे, यह घटना कि उनकी संगतों में स्त्रियाँ और पुरुष मिलकर नाचते और गाते थे। वे साकलदेश में विशेष पर्व मनाकर अपनी प्रसिद्ध गणिकाओं के साथ नृत्य करते थे, जिन्हें 'हाहते' कहा गया। यह यूनानी हैतेरा का रूप था। इन उत्सवों के समय भोज में पहला दौर समाप्त होने के बाद जब रात्रि और बढ़ती, तो दूसरे दौर में बाँसुरी, वीणा आदि बाजों पर गाना गाते थे, जिन्हें यहाँ 'घोषिका गाथा' कहा है। यह यूनानी सिम्पोजिया का संस्कृत रूप है। यवनों में मिट्टी के पात्र का विशेष रिवाज था, और उनके जूठे हो जाने का कोई विचार न था। उनमें पुजारियों के सिरपर भूत-प्रेत आजाने का रिवाज था। जब वे अभुवाने या खेलने लगते, तो उनसे तरह तरह की बातें पूछते थे, जिसे यहाँ 'संसिद्धवचनोत्तर' कहा गया है। यह निश्चय ही यूनानियों के 'औरेकिल्स' की प्रथा का उल्लेख है। इस प्रसंग का मूल शीर्षक 'मद्रक-कुत्सन' यही था, जैसा कि इस पर्व की पुष्पिका में आया है।

जब कर्ण और शल्य इस प्रकार कह-सुन लिये, तो दोनों चुप हो गये। तब दोनों सेनाएं व्यूहबद्ध होकर घोर संग्राम करने लगीं। युद्ध में कर्ण का पुत्र मारा गया, और भीम के हाथ से दुःशासन का वध हुआ। अन्त में कर्ण और अर्जुन युद्ध में एक दूसरे के साथ गुँथ गये और विपन्न दशा में पड़े हुए कर्ण को अर्जुन ने अपने वाणों की वृष्टि से चूर-चूर कर डाला।

९. शल्यपर्व

कर्ण-वध के बाद शल्य को सेनापति बनाया गया। उसने केवल आधे दिन नेतृत्व किया। इस घमासान युद्ध में बचे-खुचे वीर भी काम आ गये। अन्त में, युधिष्ठिर के हाथों शल्य और उसके भाई का वध हुआ। इससे निराश होकर दुर्योधन युद्ध-भूमि से भाग गया, और द्वैपायन नामक सरोवर में जा छिपा। पाण्डव उसकी खोज करते-करते वहीं जा पहुँचे। युधिष्ठिर की चुनौती पर दुर्योधन तालाब से वाहर निकल आया। युधिष्ठिर ने प्रस्ताव रखा कि वह किसी भी एक पाण्डव से द्वन्द्व-युद्ध करले। इस बात पर कृष्ण ने युधिष्ठिर की मूर्खता की भर्त्सना की, किन्तु दुर्योधन ने वीरोचित स्वभाव के अनुसार भीम से लड़ने का निश्चय किया। दोनों के उस गदा-युद्ध में भीम ने नियम के विरुद्ध दुर्योधन की जंघा पर प्रहार किया, जिससे उसकी जंघाएँ टूट गईं और वह भूमि पर गिर गया। उसे उसी अवस्था में छोड़कर पाण्डव अपने शिविर में वापस चले आये। दुर्योधन ने उस मर्मान्तक पीड़ा की दशा

नहीं है। इसमें सर्वप्रथम महर्षि व्यास ने अनेक युक्तियों से युधिष्ठिर को समझाया, और व्यास और कृष्ण की आज्ञा से युधिष्ठिर ने नगर में प्रवेश किया। युधिष्ठिर का राज्याभिषेक किया गया। इसके अनन्तर कृष्ण की सलाह से युधिष्ठिर और कृष्ण भीष्म के पास गये। वहाँ भीष्म ने श्रीकृष्ण की स्तुति की, जो 'भीष्म-स्तव-राज' के नाम से संस्कृत-साहित्य का सर्वोत्तम स्तोत्र है। कृष्ण की प्रेरणा से भीष्म ने युधिष्ठिर को पहले राजधर्म का उपदेश किया। इसमें उस समय के राजतन्त्र का सविस्तार वर्णन है। इसीमें संघ या गणतंत्र राज्यों के स्वरूप और उनकी नीति का उल्लेख बहुत महत्त्वपूर्ण हुआ है।

१३० अध्यायों के बाद आपत्ति-काल में राजा के धर्मों या कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है। इसीके अन्तर्गत कणिङ्क भारद्वाज द्वारा दिया गया सौराष्ट्र देश के राजा को कूटनीति का उपदेश है। किन्तु शान्तिपर्व का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश मोक्ष-धर्म पर्व है। इसमें प्राचीन दार्शनिक मतवादों का बहुत ही अच्छा संग्रह है। कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद, पुरुषवाद, आत्मवाद, ब्रह्मवाद आदि विभिन्न दार्शनिक मतवादों या दृष्टियों का जैसा अच्छा विवेचन मोक्ष-धर्म-पर्व में किया गया है, वैसा संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र कहीं भी नहीं है। पालि-साहित्य में इन दिट्ठियों के बारे में जो कुछ कहा गया है, उससे भी अधिक सटीक और टकसाली सामग्री मोक्ष-धर्म-पर्व में पाई जाती है। इस सामग्री का अभीतक कोई अच्छा अध्ययन नहीं हुआ है। इस पर्व की शब्दावली कुछ विलक्षण ही है, जो स्वतंत्र व्याख्या चाहती है। इसमें सामग्री की दृष्टि से तीन स्तर हैं। पहले स्तर में व्यक्तिगत आचार्यों की दृष्टियों का संग्रह है। दूसरे स्तर में प्राचीन सांख्य एवं योग दर्शनों का संग्रह है। तीसरे स्तर में माहेश्वर शैव और पांचरात्र वैष्णव दर्शनों का विवेचन है। इनमें नारायणीय पर्व में पांचरात्र धर्मों का सविस्तार उल्लेख है। इसमें देवर्षि नारद पहले बदरिकाश्रम में नर-नारायण ऋषि के पास जाते हैं, और फिर नारायण के आदेश के अनुसार श्वेतद्वीप में जाकर भगवान् विष्णु के दर्शन करते हैं, और वहाँ पांचरात्र या एकान्तिन आगम का ज्ञान प्राप्त करके पुन: बदरिकाश्रम लौट आते हैं, और उन्होंने श्वेतद्वीप में जो कुछ देखा था उसका वर्णन करते हैं। तब नारायण की ही महिमा के संबंध का यह विचित्र उपाख्यान समाप्त होता है।

१३. अनुशासनपर्व

इसमें पहले ज्ञानधर्म का महत्त्व कहा गया है, फिर उपमन्यु और श्रीकृष्ण के संवाद के रूप में तण्डि द्वारा कहे गये 'शिवसहस्रनाम' का वर्णन है। पुन: अनेक छोटे-मोटे दानों का वर्णन करने के बाद श्राद्ध, स्वर्ग, नरक आदि संकीर्ण विषयों का सामान्य निरूपण है, जो असल में तो किसी धर्मशास्त्र का अंग होना चाहिए था।

प्रकार स्वर एवं व्यंजनों में लोक और वेद की समस्त वाणी अर्पित है। महाभारत के ओज:पूर्ण प्रवाह के कितने ही प्रकरणों की गूँज राष्ट्र के कानों में, अनेक शताब्दियों के बीत जाने पर भी, बराबर सुनाई देती रही है। शत-सहस्र शाखाओं में फैले हुए पुराण-वट-वृक्ष के नीचे अखण्ड समाधि में विराजमान महर्षि वेदव्यास ने धर्म-संज्ञक किसी अपरिमेय एवं अचिन्त्य तत्त्व का स्वयं साक्षात्कार किया, तथा अपनी अलौकिक काव्य-प्रतिभा द्वारा उसे सब जनों के हितार्थ महाभारत में निबद्ध कर दिया। उनके भगीरथ तप से जो धर्माम्बुवती ज्ञान-गंगा प्रवाहित हुई उसकी सरस धारा में समस्त राष्ट्र ने सहस्रों वर्षों तक अवगाहन किया है। जबतक भूमण्डल पर चन्द्र और सूर्य का प्रकाश है, जबतक अग्निषोमीय पुरुष का मानवीय व्यवहार जगत् में चालू है, जबतक गंगा-यमुना के तटों पर आकाशचारी हंस प्रतिनिर्मल शरद् में उतरते हैं, तबतक भगवान् की अनन्त महिमा को प्रख्यात करनेवाला यह 'जय' नामक इतिहास लोक में अमर रहेगा।

प्रकार स्वर एवं व्यंजनों में लोक और वेद की समस्त वाणी अर्पित है। महाभारत के ओजःपूर्ण प्रवाह के कितने ही प्रकरणों की गूंज राष्ट्र के कानों में, अनेक शताब्दियों के बीत जाने पर भी, बराबर सुनाई देती रही है। शत-सहस्र शाखाओं में फैले हुए पुराण-वट-वृक्ष के नीचे अखण्ड समाधि में विराजमान महर्षि वेदव्यास ने धर्म-संज्ञक किसी अपरिमेय एवं अचिन्त्य तत्त्व का स्वयं साक्षात्कार किया, तथा अपनी अलौकिक काव्य-प्रतिभा द्वारा उसे सब जनों के हितार्थ महाभारत में निबद्ध कर दिया। उनके भगीरथ तप से जो धर्माम्बुवती ज्ञान-गंगा प्रवाहित हुई उसकी सरस धारा में समस्त राष्ट्र ने सहस्रों वर्षों तक अवगाहन किया है। जबतक भूमण्डल पर चन्द्र और सूर्य का प्रकाश है, जबतक अग्निषोमीय पुरुष का मानवीय व्यवहार जगत् में चालू है, जबतक गंगा-यमुना के तटों पर आकाशचारी हंस प्रतिनिर्मल शरद् में उतरते हैं, तबतक भगवान् की अनन्त महिमा को प्रख्यात करनेवाला यह 'जय' नामक इतिहास लोक में अमर रहेगा।

विदुर-नीति

[महाभारत के अन्तर्गत प्रजागर पर्व 'विदुर-नीति' के नाम से प्रसिद्ध है। इसे प्रजागर क्यों कहा गया इसका कारण इस प्रकार है। जब संजय ने धृतराष्ट्र से पूरी बात न कही, तो उनके निर्बल मन में किसी भारी अनर्थ की आशंका हुई। इस चिन्ता में उनकी नींद चली गई। संजय न जाने क्या संदेश लाया है, यह सोचकर वे बहुत अस्वस्थ बन गये। प्रजागर का अर्थ जागरण या निद्राक्षय है। धृतराष्ट्र ने दूत भेजकर तुरन्त विदुर को बुलवाया। विदुर स्वयं बड़े प्रज्ञाशील थे। वे धृतराष्ट्र के लगभग रात-दिन के साथी थे, और धृतराष्ट्र उनकी समझदारी के भक्त होकर उन्हें बहुत मानते भी थे। धृतराष्ट्र से मिलने के लिए विदुर को बाधा न थी। राजा से मिलने के लिए औरों को समय नियत करना पड़ता है, पर विदुर को छूट थी कि जब चाहे मिलें।—वासुदेवशरण अग्रवाल]*

विदुर को 'महाप्राज्ञ' कहा गया है। प्रज्ञावान् व्यक्ति प्राज्ञ कहा जाता था। उपनिषदों के युग में जहाँ अध्यात्म और दर्शन-तत्त्व का इतना विकास हुआ, वहीं उसका जो अंश मानव-जीवन की व्यावहारिक आवश्यकता के लिए निचोड़ लिया गया, उसी समझदारी का नाम प्रज्ञा था। अथवा, कह सकते हैं कि मानव ने निजी जीवन में और सामाजिक व्यवहारों में समझदारी का जो सुन्दर धरातल तैयार किया था, उसी प्रज्ञा की दृढ़ भूमि पर ऊँचे उठते हुए लोग उपनिषदों के अध्यात्म तक पहुँच सके होंगे। प्रज्ञा एक मूल्यवान् शब्द बन गया था। आज अंग्रेजी में जिसे 'कामनसेन्स' या हिन्दी में 'समझदारी' कहते हैं उसेही प्रज्ञा कहा जाता था। उस युग के ही आसपास यूनान में भी प्रज्ञा का दृष्टिकोण विकसित हुआ था, जैसा हम सुकरात आदि विचारकों की दृष्टि में पाते हैं, जो यह चाहते थे कि मानव प्रत्येक क्षेत्र में व्यावहारिक बुद्धिमानी से काम ले और बुद्धिपूर्वक विचारशैली से ही सर्वत्र विचार करे। कर्म और विचार में ऐसे सुलझे हुए व्यक्ति को ही पंडित कहने लगे। पंडित, प्रज्ञावान् और प्राज्ञ का एकही अर्थ था। प्रज्ञा का मुख्य लक्षण यह है कि वह 'संसारिणी' होती है, अर्थात् प्रत्येक बात पर वह समाज की स्थिति या जीवन की दृष्टि से विचार करती है। धर्म, अर्थ, काम यह त्रिवर्ग प्रज्ञा का मुख्य विषय है—

प्रज्ञा-दर्शन

यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पंडित उच्यते॥

---

*यहाँ विदुर-नीति को संक्षिप्त रूप में लिया गया है—सं०

विदुर ने आरम्भ में पंडित और मूर्ख इनकी व्याख्या की—"पंडित या प्राज्ञ वह है, जो जीवन में प्रशस्त ध्येय को चुनता है, निंदित में मन नहीं देता। श्रद्धा उसके कर्मों का मुख्य लक्षण है। वह जो लक्ष्य बनाता है उससे क्रोध, दर्प या सम्मान की इच्छा उसे नहीं हटा पाती। वह जो सोचता है उसके कर्म से ही वह व्यक्त होता है, कहने से नहीं। शीत, उष्ण, ग़रीबी, अमीरी ये उसके कार्य में विघ्न नहीं डालते। वह शक्ति के अनुसार ही इच्छा करता है और शक्ति से ही कर्म-यात्रा बनाता है। विना पूछे हुए दूसरे के काम में हस्तक्षेप नहीं करता। यह पंडित की सबसे बड़ी पहचान है कि वह समझ-बूझकर अपने कार्यों का निश्चय करता है, कामवश नहीं। जो नहीं मिल सकता, उसे वह चाहता नहीं। जो नष्ट हो चुका है, उसका सोच नहीं करता। वह आपत्ति में घबराता नहीं। यही पंडित की पहचान है। जो निश्चय करके उसपर बढ़ चलता है, बीच में रुकता नहीं, जिसने अपने मन को साधकर समय से अधिक-से-अधिक दुहना सीखा है वही पंडित है। गंगा के गहरे दह के समान पंडित को क्षोभ नहीं होता। उसे न सम्मान से हर्ष और न अपमान से ताप होता है। वह काम की युक्ति और मनुष्यों से व्यवहार का उपाय जानता है। जो आर्य-जीवन की मर्यादाओं का रक्षक है, जिसकी प्रज्ञा उसके स्वाध्याय के अनुरूप है वही पंडित है।"

पंडित की व्याख्या

जो दरिद्र होकर बड़ी-बड़ी इच्छाएँ करता है, जो बिना कर्म के फल चाहता रहता है, वह मूढ़ है। जो अपने अर्थ को त्यागकर दूसरे के काम में उलझा रहता है, जो मित्र के काम में मिथ्या व्यवहार करता है, वह मूढ़ है। जो कर्त्तव्य को टालता रहता है, सब जगह शंकाशील रहता है, जिसे शीघ्र करना चाहिए उसे विलम्ब से करता है, वह मूढ़ है। जो बिना बुलाये जाता है, बिना पूछे बोलता है, जो अपनी त्रुटियों को न देखकर उनके लिए दूसरों पर कटाक्ष करता है, जो निठल्ला रहकर भी अलभ्य वस्तु पाने की इच्छा करता है, वह मूढ़ है।"

मूढ़ कौन ?

धनुर्धारी का छोड़ा हुआ बाण एक भी व्यक्ति को मार सके या न मार सके, पर बुद्धिमान् की चलाई हुई युक्ति सारे राष्ट्र और राजा को नष्ट कर डालती है।"

इस कथन से सूचित किया गया है कि प्रज्ञावादी दर्शन जीवन के सब व्यवहारों को चलाने के लिए और विशेषत: राजधर्म के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। वह जीवनोपयोगी सब दर्शनों में सिरमौर था।

"इस विश्व का कर्त्ता एक अद्वितीय ब्रह्म है। जैसे समुद्र पार करने के लिए नाव उपयोगी है, वैसे ही अकेला सत्य स्वर्ग तक पहुँचने की सीढ़ी है। जैसे साँप विलशायी चूहे को खा लेता है, वैसे ही जो राजा दिग्विजय के लिए नहीं उठता और जो ब्राह्मण अपने पाण्डित्य के प्रकाश के लिए देशयात्रा नहीं करता, उन दोनों को यह भूमि ग्रस लेती है। दो नुकीले काँटे शरीर को सुखानेवाले हैं, एक निर्धन की कामना दूसरे असमर्थ का कोप। मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं, उत्तम, मध्यम और

अधम। उन्हें उनके योग्य कामों में लगाना चाहिए। अल्पबुद्धि, दीर्घसूत्री, आलसी और चापलूसों के साथ परामर्श करना पण्डित को उचित नहीं। बड़ा-बूढ़ा संबंधी, टोटे में पड़ा हुआ कुलीन, दरिद्री मित्र, निःसन्तान वहन, इन चारों का प्रतिपालन उत्तम गृहस्थ का कर्त्तव्य है। वृहस्पति ने इन्द्र से कहा था कि, चार बातें तुरन्त फल दिखाती हैं—देवताओं का संकल्प, प्रज्ञाशील की युक्ति, विद्वान् की साधना और पाप कर्मो का क्षय। मनुष्य को उचित है कि पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु इस पंचाग्नि की नित्य सेवा करे। पाँच इन्द्रियों में से यदि एक भी छिद्रयुक्त हो, तो उसी रास्ते मनुष्य की प्रज्ञा नष्ट हो जाती है, जैसे नीचे के एक छेद से मशक का सारा पानी वह जाता है। निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और काम को लम्बा टालने की प्रवृत्ति, इन छह दोषों को छोड़ने में ही भलाई है। सत्य, दान, अनालस्य, अनसूया, क्षमा और धृति, इन छह गुणों को रखना ही अच्छा है। ये आठ बातें आनन्द का मथा हुआ मक्खन हैं—मित्रों का समाज, महान् धन की प्राप्ति, पुत्र का सुख, स्त्री का सुख, समय पर मीठी बातें, अपने वर्ग में सम्मिलन, इष्ट वस्तु की प्राप्ति और लोक में सम्मान। जिस घर में नव द्वार हैं, तीन खम्भे हैं, पाँच सूचना लानेवाले साक्षी या सेवक हैं, और जिसमें क्षेत्रज्ञ आत्मा स्वयं बैठा है, ऐसे इस शरीररूपी गृह को जो ठीक प्रकार से जानता है वही परम बुद्धिमान् है।" प्रज्ञा-दर्शन में समाज और निजी जीवन दोनों का समान महत्त्व था, क्योंकि दोनों को सफलता से चलाने के लिए प्रज्ञा या समझदारी की आवश्यकता है।

राजा का कर्त्तव्य

जो राजा अपने राज्य के कोश, जनपद, दण्ड, बुद्धि, क्षय एवं सेना आदि की उचित मात्रा के विषय में पक्की जानकारी नहीं रखता, वह राज्य में स्थिर नहीं रह सकता। जो इन्हें ठीक से जानकर इनकी देखभाल करता है, और धर्म और अर्थ की जानकारी रखता है, वह राजा राज्य में दृढ़ता प्राप्त करता है। राज्य मिल गया, वस इतना ही पर्याप्त नहीं है। यदि राज्य चलाने की शिक्षा नहीं है तो राज्य-लक्ष्मी नष्ट हो जाती है। मछली वंसी में लगा हुआ चारा देखती है, भीतर की कँटिया नहीं देखती। ऐसे ही जो कर्म के भीतर छिपी अड़चनों को नहीं देखता, उसके वाहरी रूपों को देखता है वह नष्ट हो जाता है। जिस ग्रास को निगला जा सके, जो सटका हुआ पच जाय और जो पचा हुआ अन्त में हित करे उसीको खाने में भलाई है। वृक्ष के कच्चे फलों को चुननेवाला उनमें रस नहीं पाता। उसके लिए वीज भी नष्ट हो जाता है। पर समय पर पका हुआ फल तोड़ने से रस और वीज दोनों मिलते हैं। जैसे भँवरा फूलों से रस चुनता है वैसे ही भिन्न-भिन्न मनुष्यों से अपने उपयोग की वस्तुओं का संग्रह करना चाहिए। फूलों को चुनना उचित है, उनकी जड़ काटना ठीक नहीं। वगीचे में जैसा माली करता है, वैसा करे। कोयला फूंकनेवाले के जैसा व्यवहार न करे। काम करने से क्या लाभ होगा, न करने से क्या हानि होगी, इस वात का विचार

करके तब फिर करने या न करने का निश्चय करे। जिसमें किया हुआ परिश्रम निरर्थक हो, ऐसा काम सदा अकरणीय है। बुद्धिमान् व्यक्ति अपनी प्रज्ञा से किन्हीं ऐसे कामों को सोचता है, जो आरम्भ में छोटे हैं, पर फल बहुत देते हैं और फिर तुरन्त उन्हें करने लगता है, उसमें विघ्न नहीं करता। जो सबको ऋजु भाव से देख-कर अपनी जगह बैठे-बैठे ही चुपचाप आँख से सबको पी जाता है ऐसे राजा को प्रजा चाहती है। मन, वाणी, कर्म और दृष्टि से जो लोक को प्रसन्न करता है उसेही लोक चाहता है। व्याघ्र से जैसे पशु डरते हैं वैसेही यदि राजा से उसकी प्रजा डरे तो समुद्रान्त राज्य भी किस काम का ? वायु जैसे मेघों को छिटका देती है वैसेही राजा अनीति से बाप-दादों का राज्य खो देता है। पहले से सज्जन जिस धर्म-मार्ग पर चलते आये हैं उसपर चलनेवाले राजा के लिए धरती धन-धान्य से पूर्ण हो जाती है। पराये राष्ट्र को छिन्न-भिन्न करने में जो व्यर्थ श्रम जाता है, उसे यदि स्वराष्ट्र के प्रतिपालन में लगाया जाय, तो क्या कहना—

य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रावमर्दने।
स एव यत्नः कर्त्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ।। [उद्योग, ३४।२८

राज्य-लक्ष्मी का मूल धर्म है। गाएँ गन्ध से, ब्राह्मण वेद से, राजा चरों से और इतर जन आँखों से वस्तु का ज्ञान करते हैं। सिल्ला बीनकर खानेवाला जैसे धीर भाव से उसे बीनता है, ऐसेही जहाँ-तहाँ से बुद्धिमानों के सुकर्म और वचनों का संग्रह राजाओं को करना चाहिए। कड़वी गाय को दुहने में महाक्लेश होता है, पर सहज गाय के लिए यत्न नहीं करना पड़ता। जो बिना तपाये झुक जाता है उसे कौन तपाता है ? जो स्वयं झुका हुआ काष्ठ है उसे झुकाना नहीं पड़ता। इन उपमाओं को मन में रखकर जो अपने से बलवान है उसके सामने झुक जाना चाहिए, क्योंकि बलवान के सामने झुकना ऐसाही है, जैसे इन्द्र को प्रणाम करना-—

इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे। [उद्योग, ३४।३५

पशुओं का बन्धु मेघ है। राजाओं के बन्धु उनके मित्र होते हैं। स्त्रियों के बन्धु पति और ब्राह्मणों के बन्धु वेद हैं। धर्म की रक्षा सत्य से, विद्या की नियम-पूर्वक अध्ययन से, सौन्दर्य की साज-शृंगार से और कुल की आचार से होती है। आचारहीन व्यक्ति की कुलीनता का कोई अर्थ नहीं। पराये धन, रूप, बल, कुल, सुख और सौभाग्य में ईर्ष्या की वृत्ति अन्तहीन रोग है। विद्यामद, धनमद, कुलमद मूढ़ों के लिए तो ये मद हैं, पर सज्जनों के लिए येही संयम के हेतु बन जाते हैं।

शील का महत्त्व

जीवन में सबसे अधिक महत्त्व शील या सदाचार का है। सुन्दर वस्त्रों से सभा, घर में गौ होने से भोजन, सवारी होने से मार्ग और शील होने से सब-कुछ जीत लिया जाता है। मनुष्य का शील प्रधान है। जिसका शील जाता रहा, उसके जीने का कोई अर्थ नहीं, चाहे धन और बन्धु कितने भी हों। नमक की डली के साथ जो निर्धन रोटी खा लेते

हैं, वह भी उन्हें तरावट देती है, क्योंकि स्वाद भूख में है। रईसों के भाग भूख कहाँ ? श्रीमन्तों में प्राय: भोजन की शक्ति नहीं होती।

जो अपने आपको न जीतकर अमात्य और अमित्रों को जीतने चलता है वह दु:ख पाता है। अपनेको ही पहले एक देश मानकर यदि जीत लिया जाय, तो फिर अमात्य और अमित्रों का जीतना सफल होगा। यह शरीर रथ है, आत्मा सारथी है, इन्द्रियाँ अश्व हैं। कुशल व्यक्ति सधे हुए अश्वों से धीर रथी के समान सुखपूर्वक यात्रा करता है। इन्द्रियाँ वश में न हों और चाहे बहुत-सा धन मिल जाय, तो भी राजा ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है, और आत्मा ही आत्मा का शत्रु। अतएव संयत मन, बुद्धि और इन्द्रियों की सहायता से अपनेको पहचानना चाहिए। काम और क्रोधरूपी दो घड़ियाल इस शरीररूपी बारीक बुने हुए जाल में छिपकर बुद्धि को कुतर रहे हैं। पापी का साथ न छोड़े, तो अपापी को भी दण्ड भुगतना पड़ता है, जैसे सूखे पेड़ के साथ गीले को भी जलना पड़ता है। नीच बुद्धिमानों पर आक्रोश और निन्दा से चोट करता है। उसका पाप बकने वाले पर पड़ता है, क्षमाधारी छूट जाता है। गुणी का बल क्षमा है। वाक्-संयम सबसे कठिन है। कुल्हाड़ी से काटा हुआ वन फिर शनै:-शनै: फुटाव ले लेता है, पर वाणी का चोट खाया हुआ नहीं पनपता, क्योंकि वचन का बाण हृदय को छेद डालता है। दुर्जन अपने मुँह से टपाटप वाग्बाण चलाया करता है, पर जिसे वे लगते हैं उसका तो रात-दिन मरण ही हो जाता है। बुद्धिमान को चाहिए कि ऐसे मर्मघाती बाण दूसरे पर न छोड़ें। देवता जिसका पराभव सोचते है उसकी बुद्धि हर लेते हैं।

जो प्राज्ञ का उच्च स्थान था वह कोई नई कल्पना न थी, बल्कि प्राज्ञ को ही वैदिक युग में 'धीर' कहते थे। उपनिषद्-युग में प्रुत ज्ञान प्राप्त करके जो उसे कर्मों में उतारते थे उन्हें ही 'कर्माणि धिय:' इस परिभाषा के आधार पर 'धीर' कहा जाता था। उन धीर महर्षियों की यह कल्याणमयी उदार वाणी थी। वे धर्म मे निरत अपने भीतर ही देखते थे, बाहर अन्य व्यक्तियों के दोषों पर दृष्टि न करते थे। इस संवाद का निचोड़ वाणी का संयम है। मनुष्य को उचित है कि रूखी मर्मच्छिद् वाणी कभी न कहे। वह मुख में साक्षात् डायन (निर्ऋति) का निवास है। वाक्-कंटकों से बढ़कर लक्ष्मीनाशक और कुछ नहीं। बोलने से न बोलना अच्छा है, यह पहला पक्ष है। उससे सत्य वचन अच्छा है, यह दूसरा पक्ष है। सत्य-कथन से भी प्रियकथन तीसरा विकल्प है, और उससे भी धर्मानुकूल वचन अन्तिम है। सत्यवादी, मृदु, दान्त, उत्तम पुरुष सबका 'अस्ति' भाव चाहता है, किसीका 'नास्ति' भाव नहीं।

प्रज्ञादर्शन सामाजिक गृहस्थधर्म का समर्थक था। समाज की इकाई कुल है। अतएव व्यक्तियों के उच्च आचार-विचार का प्रत्यक्ष फल कुलों की श्रेष्ठता के रूप में समाज को मिलता है। व्यक्ति चले जाते हैं, पर कुल-परम्परा पीढ़ी

पीढ़ी वनी रहती है। प्राचीन भारतवासी कुल की प्रतिष्ठा पर वहुत ध्यान देते थे। ऋषियों की दृष्टि में सामाजिक उच्चता का आधार धन नहीं, तपश्चर्या, ब्रह्म-विद्या, इन्द्रिय-निग्रह आदि वैयक्तिक गुण ही थे, जिनसे कुलों की प्रतिष्ठा वढ़ती थी। जिन कुलों में सदाचार का पालन होता है वे अल्पधन होने पर भी महाकुलों में गिने जाते हैं। जो महाकुली हैं वे ही समाज के भारी दायित्त्व को सँभालते हैं, जैसे संदन के वृक्ष (सं० स्यन्दन) की छोटी लकड़ी भी रथ में लगी हुई भारी वोझे को सह लेती है।

मूर्ख के लक्षण

जो अक़्ल का दुश्मन हो, वही भकुआमूर्ख है। वह मानों मुट्ठी से आकाश कूटता है, हाथ में फन्दा लेकर हवा को वाँधना चाहता है, या आकाश के इन्द्रधनुष को झुकाना चाहता है, या सूर्य की किरणों को मोड़कर लपेटना चाहता है, जो अशिष्य को सिखाता है, जो क्रोध करता है, जो वलहीन होकर वलवान से वैर साधता है, जो स्त्रियों की रक्षा नहीं करता, जो दूसरे के क्षेत्र में बीज बोता है, जो उधार लेकर कह देता है कि याद नहीं पड़ता, जो देकर डींग हांकता है, जो ससुर होकर पतोहू के साथ हँसी करता है, जो स्त्री के मुँह लगता है, जो श्रद्धाहीन के सामने ज्ञान वघारता है, ऐसे व्यक्ति पल्ले सिरे के मूर्ख हैं।

सामान्य शिष्टाचार

मनुष्य को उचित है कि अभिवादनरूपी शिष्टाचार का वह मनुष्यमात्र के साथ ठीक-ठीक पालन करे। जब कोई वृद्ध व्यक्ति किसी युवक के पास मिलने आता है तो युवक के प्राणों का संतुलन क्षुब्ध हो उठता है। अपने केन्द्र को फिर स्थिर-शान्त बनाने के लिए उसे चाहिए कि उठकर वृद्ध व्यक्ति का स्वागत करे और अभिवादन करे। मनुष्य को यह भी उचित है कि शिष्टाचार के विषय में वह स्वयं पहल करे। अपनेको कभी दूसरों से पिछड़ने न दे। अभ्यागत को पहले आसन देना चाहिए। कुशल-प्रश्न पूछकर जो अपने पास सुलभ हो उसे सरल हृदय से निवेदन करके सत्कार करना चाहिए। जिसके यहाँ विद्वान् को अतिथि-सत्कार न मिले उस व्यक्ति के जीवन को आर्य-पद्धति में जीवित रहना नहीं माना जाता। विद्यावृद्ध, शीलवृद्ध, वयोवृद्ध, वुद्धिवृद्ध, धनवृद्ध और अभिजनवृद्ध, इन छह प्रकार के लोगों को उचित सम्मान मिलना ही चाहिए। कोई मूढ़ ही इनका अपमान करेगा।

प्रज्ञावाद और भाग्यवाद की तुलना

प्रज्ञावाद उन अनेक मतवादों की काट था, जो भाग्य, निर्वेद, कर्मत्याग पर आश्रित समाजविरोधी आदर्शों का प्रतिपादन करते थे। प्रज्ञावाद पुरुषार्थ, सत्कर्म, धर्म, गृहस्थ, प्रज्ञापालन आदि आदर्शों पर आश्रित था, जिनसे जीवन का संवर्धन होता है, निराकरण नहीं। यदि इस दृष्टि से विदुर-नीति या प्रजागर पर्व का तुलना-क अध्ययन किया जाय तो आदि से अन्त तक प्रज्ञावाद के सैकड़ों सिद्धान्तों का

प्रतिपादन इसमें मिलेगा। प्रज्ञावाद का इतना सुन्दर समन्वित विवेचन अन्यत्र कहीं भी भारतीय साहित्य में नहीं मिलता। प्राचीन भारत में प्रज्ञावाद एक प्रौढ़दर्शन के रूप में प्रचलित था। इसकी बहुत-सी चूलें अन्य दार्शनिक मतों के साथ विशेषतः बौद्धमत के साथ भी मिली हुई थीं। बुद्ध स्वयं प्रज्ञावादी थे, किन्तु उनकी सारी विचारधारा ने श्रमण-धर्म को आगे बढ़ाया, गृहस्थ-धर्म को उसके सामने छोटा समझा। पर प्रज्ञावाद प्राचीन वैदिक परम्पराओं को लिए हुए था जिसमें व्यक्ति की महिमा, गृहस्थाश्रम की महिमा, पुरुषार्थ और उत्थान की महिमा का प्रतिपादन किया गया। प्रज्ञावाद अभावात्मक नहीं, जीवन का भावात्मक दृष्टिकोण था—**'भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मतिम्'** [उद्योग, ३६।१६

प्रज्ञावाद उत्थान, समारम्भ एवं पराक्रम का दृष्टिकोण रखता है। इन्द्रियों का कर्म छोड़ बैठना ऐसा ही है, जैसे मृत्यु हो जाना। उत्साह ही जीवन है। जिन्होंने उत्साह छोड़ दिया उन्होंने मानों लक्ष्मी और श्री से भी विदा ले ली। उत्साहपरायण कर्म ही सुख की प्राप्ति, दुःख के नाश और श्री का मूल है। जिसका मन नहीं बुझा वही जीवन में महान् बन सकता है। जो प्रभविष्णु या सामर्थ्यवान् है उसीकी क्षमा सच्ची क्षमा है। जो अशक्त है उसके पास तो क्षमा के सिवा और कुछ है ही नहीं। जो अर्थ और अनर्थ दोनों को एकसमान समझ बैठा हो, वही नित्य क्षमा का आश्रय लेता है।

प्रज्ञावाद छोटे और बड़े, विद्वान् और मूर्ख में उचित भेद करता है। इसके अनुसार छोटों को बड़ों का स्वागत, सत्कार, अभिवादन करना आवश्यक है।

> **न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्**
> **धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।**
> **नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये,**
> **नित्यो जीवो धातुरस्य त्वनित्यः॥** [उद्योग, ४०।११-१२

अर्थात् काम से, भय से, लोभ से या प्राणों के भय से भी धर्म को न छोड़ना चाहिए, क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य है, जीवन नित्य है और शरीर अनित्य है। अनित्य को छोड़कर नित्य का आश्रय लेना चाहिए। इस उत्तम श्लोक को महाभारत के अन्त में पुनः दोहराते हुए 'भारत-सावित्री' कहा गया है।

प्रज्ञावान इस बात का समर्थन करता है, कि मनुष्य को व्यावहारिक जीवन में घर-गृहस्थी, खान-पान, वस्त्र-शयनासन, भूमि, राज्य-शासन आदि सबमें रुचि लेनी चाहिए। पुरुषार्थवादी या प्रज्ञावादी कुटुम्ब, खेत, भूमि, घर, रहन-सहन, भोजन-वस्त्र सबको अच्छे कुल की कसौटी समझता है, और उनमें सुधार करना चाहता है। यदि घर में दरिद्रता के कारण जीविका का अभाव है, तो उसे भाग्य पर न टालकर विनय या जीवन में प्राप्त शिक्षा से उपलब्ध करना चाहिए। कार्य में अध्यवसाय प्रज्ञा का लक्षण है। कभी ऐसा भी देखने में आता है कि बुद्धि होने पर भी धन-

लाभ नहीं होता और मूढ़ के पास रुपये-पैसे की तरावट देखी जाती है। ऐसी घटना से प्रज्ञावादी घबड़ाता नहीं। लोक-पर्याय धर्म से ऐसा सम्भव है, किन्तु अन्त में प्रज्ञा का फल मिलता ही है। भाग्यवादी मूढ़जन विद्यावृद्ध, शीलवृद्ध, बुद्धिवृद्ध आदि वृद्धजनों का अपमान कर बैठते हैं, क्योंकि वे गुणों को नहीं मानते।

प्रज्ञावादी उसेही प्रिय मानता है जो सहज स्नेह से प्रिय और हितू है। इसी प्रकार क्षय और वृद्धि भाग्य के खेल नहीं। इनमें भी मनुष्य के पुरुपार्थ का करिश्मा और कर्म का जादू काम करता है। कैसा भी क्षय हो यदि उसके साथ पुरुषार्थ जुड़ा हुआ है और वह वृद्धि की ओर उन्मुख है, तो उसे क्षय नहीं माना जा सकता। किन्तु कैसी भी समृद्धि हो यदि वह पुरुषार्थ से शून्य है तो उसे क्षय ही समझना चाहिए। नियतिवाद का परिणाम श्रमण-धर्म था, अर्थात् घर-बार छोड़कर वैराग्य साथ लेना। यह अच्छी स्थिति न थी। प्रज्ञावादी की दृष्टि में अग्निहोत्र, शील, सदाचार, विवाह, दान, भोग, स्त्री, धन, अध्ययन और वेद इन सबका मूल्य है और जीवन में सबके लिए इनकी आवश्यकता है।

यक्ष के प्रश्न

[वियोगी हरि]

प्रसंग यह द्वैत वन का है। चित्रसेन गंधर्व के बन्धन से राजा दुर्योधन को छुड़ाकर युधिष्ठिर पुनः द्वैत वन लौट गये। वहाँ एक ब्राह्मण घबराया हुआ पहुँचा, और युधिष्ठिर से बोला, "राजन् ! मेरा तो बुरा हाल हुआ, अरणियों-सहित मैंने अपना बर्तन एक पेड़ पर टाँग रखा था। एक हिरण आया और उसे लेकर भाग गया। हाय ! अब मैं अग्नि कैसे जलाऊँगा ? तुम और तुम्हारे चारों भाई जाकर उसे खोजो, और मेरा अरणियों का बर्तन मुझे लादो।"

पाण्डव उस हिरण को ढूंढ़ने निकल पड़े। पर उसका कहीं भी पता न चला। थके हुए खिन्न पाण्डव एक वट वृक्ष की ठंडी छाया में जा बैठे। युधिष्ठिर ने अपने भाई नकुल से कहा, "देखो, पास में कहीं पानी हो, तो तूणों में भरकर प्यास बुझाने के लिए यहाँ लाओ।"

समीप ही एक कुण्ड था। नकुल वहाँ पहुँचा। ज्योंही उसने वहाँ का पानी पीना चाहा, अन्तरिक्ष से कोई बोला—"खबरदार ! ऐसा दुस्साहस न करना। इस कुण्ड पर पहले से ही मेरा अधिकार है। माद्री-पुत्र ! पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, तभी तुम इसका पानी पी सकोगे।"

वह यक्ष था। उसकी इस बात पर नकुल ने ध्यान नहीं दिया।

प्यास के मारे व्याकुल था। किन्तु पानी पीते ही वह गिर पड़ा और उसके प्राण छूट गये। इसी प्रकार सहदेव, अर्जुन और भीम एक-एक का यही हाल हुआ।

युधिष्ठिर ने भाइयों को मृत देखकर बहुत विलाप किया। उन्होंने भी ज्योंही वहाँ का पानी पीना चाहा, वही आवाज़ सुनाई दी, "युधिष्ठिर ! मेरे प्रश्नों के उत्तर देकर ही तुम इस पानी को हाथ लगा सकते हो।"

"पूछो, यथामति मैं तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर दूंगा," युधिष्ठिर ने कहा।

यक्ष : धर्म का एकमात्र साधन क्या है ?
यश किस एकही उपाय से प्राप्त होता है ?
स्वर्ग-प्राप्ति का एकमात्र साधन क्या है ?
कौन-सा ऐसा एकही उपाय है, जिससे सुखलाभ हो सकता है ?

युधिष्ठिर : **दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः।**
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ॥

दक्षता धर्म का एकमात्र साधन है;
यश-लाभ का एकमात्र उपाय दान है;
स्वर्ग केवल एक सत्य से ही प्राप्त होता है;
एक शील ही सुख का मूल है।

यक्ष : मनुष्य का आत्मा कौन है ?
कौन उसका भाग्य द्वारा प्राप्त मित्र है ?

युधिष्ठिर : **पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतस्सखा।**
मनुष्य का आत्मा उसका पुत्र है;
मित्र उसका वह भार्या है, जो भाग्य से ही मिलती है।

यक्ष : सर्वोत्तम लाभ क्या है ?
सर्वोत्तम सुख क्या है ?

युधिष्ठिर : **लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा।**
आरोग्य सर्वोत्तम लाभ है;
सन्तोष ही सबसे उत्तम सुख है।

यक्ष : धर्म से बढ़कर संसार में और क्या है ?
वह कौन-सा धर्म है, जो सदा फल देता है ?
वह क्या है, जिसका नियंत्रण करके शोक नहीं होता ?
वे कौन हैं, जिनके साथ की गई मित्रता कभी जीर्ण नहीं होती ?

युधिष्ठिर : **आनृशंस्यं परं धर्मात् त्रेताधर्मस्सदाफलः।**
मनो यस्य न शोचन्ति सन्धिस्सद्भिर्न जीर्यते ।।
उदारता धर्म से भी बढ़कर है;
सदा फल देनेवाला वैदिक धर्म है;
वह मन है, जिसका नियंत्रण करके शोक नहीं होता;
सज्जनों की मित्रता कभी जीर्ण नहीं होती।

यक्ष : किसे त्यागकर मनुष्य प्रिय हो जाता है ?
किस वस्तु के त्याग से उसे शोक नहीं होता ?
वह क्या है, जिसे त्यागकर मनुष्य सम्पत्तिशाली हो जाता है ?
किसे त्यागने से वह सुखी हो सकता है ?

युधिष्ठिर : **मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति।**
कामं हित्वाऽर्थवान्भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत् ।।
गर्व का त्याग करने से मनुष्य सबका प्रिय हो जाता है;
क्रोध के त्याग से उसे शोक नहीं होता;
काम का त्याग करके वह सम्पत्तिशाली बनता है;
और, लोभ के त्याग से वह सुखी होता है।

यक्ष : तप का क्या लक्षण है ?
दम किसे कहते हैं ?
सबसे बड़ी क्षमा क्या है ?
और लज्जा की भावना क्या है ?

युधिष्ठिर : **तपस्स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः ।**
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ।।
स्वधर्म का परिपालन ही धर्म है;
सच्चा दम मन का दमन, अर्थात् निग्रह ही है:
(शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि) द्वन्द्वों का सहना ही सबसे बड़ी क्षमा है ।
न करनेयोग्य कर्म से मुँह मोड़ लेना ही लज्जा की भावना है ।

यक्ष : सबसे बड़ी दया क्या है ?
और आर्जव अर्थात् सरलता किसे कहते हैं ?

युधिष्ठिर : **दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता ।।**
सबके सुख की इच्छा ही सबसे बड़ी दया है;
समचित्तता को ही आर्जव कहते हैं ।

यक्ष : मनुष्यों का दुर्जय शत्रु कौन-सा है ?
ऐसी कौन-सी व्याधि है, जिसका अन्त ही नहीं ?
साधु किसे कहा जाये ?
और असाधु किसे कहते हैं ?

युधिष्ठिर : **क्रोधस्सुदुर्जयश्शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः ।**
सर्वभूतहितस्साधुरसाधुर्निर्दयस्स्मृतः ।।
मनुष्यों का दुर्जय शत्रु क्रोध है;
लोभ ऐसी व्याधि है, जिसका कोई अन्त नहीं;
साधु वह है, जो सब प्राणियों का भला चाहता है;
और निर्दय ही असाधु है ।

यक्ष : सबसे बड़ा स्नान क्या है ?
और सबसे बड़ा दान किसे कहा जाये ?

युधिष्ठिर : **स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ।।**
मनोविकारों का त्याग ही सबसे बड़ा स्नान है;
प्राणियों की रक्षा ही महान् दान है ।

यक्ष : मेरा अन्तिम प्रश्न यह है, जिसका उत्तर पाने से तुम्हारे भाई जीवित हो जायेंगे ।
इस जगत् में आश्चर्य क्या है ?

युधिष्ठिर : अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषास्स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतःपरम् ।।

दिन-प्रति-दिन प्राणी यमलोक को जा रहे हैं। यह देखते हुए भी शेष प्राणी चाहते हैं, कि वे अनन्तकाल तक जीवित रहें ! इससे बड़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है ?

यक्ष को युधिष्ठिर के इन उत्तरों से पूरा सन्तोष हो गया, और उसने चारों पाण्डवों को जिला दिया।

शर-शय्या पर से प्रवचन

[वियोगी हरि]

युद्ध समाप्त हो गया था। दुर्योधन और उसके सारे ही भाई तथा साथी योद्धा युद्ध में मारे गये और पाण्डव विजयी हुए। युधिष्ठिर इस जाति-वध और कुल-नाश से लज्जित और संताप-पीड़ित थे। ग्लानि के मारे सोचने लगे कि हम से यह महान् पाप हुआ। मैंने ही अपने बड़े भाई कर्ण को मरवा डाला। बालक अभिमन्यु के वध का भी उत्तरदायी मैं ही हूँ। द्रौपदी के पाँचों पुत्र भी मारे गये। मेरे हृदय में आज जैसे आग जल रही है। राज्य यह मेरे सामने पड़ा है। पर इसे लेकर मैं क्या करूँगा ? अब तो मैं अनशन करके शरीर को सुखाकर प्राण त्याग दूँगा, क्योंकि यह सारा अनर्थ मेरे ही कारण हुआ है।

युधिष्ठिर को इस प्रकार संताप-पीड़ित देखकर वेदव्यासजी ने समझाया और क्षात्र-धर्म का उपदेश किया। उन्होंने कहा—"अन्त तो एक-न-एक दिन सभीका होता है। संयोग का वियोग निश्चित है। तुम तो बुद्धिमान् हो और धर्म का मर्म समझते हो। तुम्हें विधाता ने कर्म करने के लिए ही पैदा किया है। कर्म को छोड़ने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है।

श्रीकृष्ण ने भी युधिष्ठिर को प्राचीन उपाख्यानों के उदाहरण दे-देकर समझाया। उन्होंने कहा, "धर्मराज, क्षात्र-धर्म का पालन न करने से आप पाप के भागी बनेंगे। प्रजा आपको छोड़ और किसका आश्रय लेगी ? राजसिंहासन पर आपको प्रजा के हित को देखते हुए बैठना ही होगा। युधिष्ठिर को इस प्रकार राज़ी कर, द्रौपदी के साथ राजसिंहासन पर बैठा दिया गया। श्रीकृष्ण ने शंख में जल लेकर उनका अभिषेक किया। हस्तिनापुर के नागरिकों ने घर-घर बड़े उत्साह से उत्सव मनाया।

एक दिन धर्मराज युधिष्ठिर श्रीकृष्ण के पास गये और बोले, "मैं आपकी ही कृपा से युद्ध में विजय पाकर इस राज्य का अधिकारी हुआ हूँ। संसार में यह जो हमारी कीर्ति फैली है वह असल में आपकी ही कीर्ति है!"

श्रीकृष्ण ने एक शब्द भी नहीं कहा। वे ध्यानस्थ बैठे रहे।

युधिष्ठिर को आश्चर्य हुआ कि जिन श्रीकृष्ण का ध्यान बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी करते हैं, वे आज यह किसका ध्यान कर रहे हैं।

युधिष्ठिर के बहुत पूछने पर श्रीकृष्ण ने कहा, "धर्मराज, भीष्म बुझती हुई अग्नि की भाँति शर-शय्या पर पड़े मेरा ..."

मन इस समय उन्हींकी ओर था। महात्मा भीष्म के स्वर्गस्थ होने पर यह पृथिवी उसी तरह शोभाहीन हो जायगी, जैसे चन्द्रमा से हीन रात्रि। अभी समय है। आप भीष्म पितामह के समीप जाकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों तथा राजधर्म के विषय में उनसे पूछ लीजिए। मुझे दीख रहा है कि भीष्म का अंत होने पर सारे भूमण्डल में ज्ञान का ह्रास हो जायेगा।

महाराजा युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण तथा अपने चारों भाइयों के साथ तुरन्त रथ तैयार कराकर भीष्म पितामह के समीप पहुँचे। वे शर-शय्या पर पड़े अपनी मन-चाही मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे। श्रीकृष्ण को देखकर आनन्द से पुलकित हो गये वे। पुरुषोत्तम कृष्ण की उन्होंने गद्-गद कण्ठ से स्तुति की।

क्या ही दिव्य दृश्य था वह! महात्मा भीष्म श्रीकृष्ण की स्तुति कर रहे थे, और पुरुषोत्तम स्वयं उनके सम्मुख विनीत भाव से खड़े थे। सच्चे अर्थ में कुरुक्षेत्र उसी घड़ी धर्मक्षेत्र में परिणत हुआ था।

युधिष्ठिर एकटक देख रहे थे कि पितामह सन्ध्याकालीन सूर्य के समान निस्तेज होकर शर-शय्या पर पड़े हुए हैं। अनेक ऋषि-मुनियों से वे घिरे हुए थे। यह स्थान ओघवती नदी का तट था।

श्रीकृष्ण ने महात्मा भीष्म से कहा, "युधिष्ठिर इस महान् युद्ध के परिणामों से, जाति-वध और कुल-नाश से अत्यन्त शोक-पीड़ित और लज्जित हैं। किसी प्रकार हमने इनको राजसिंहासन पर बैठाया है। किन्तु धर्म के विषय में यह आज किंकर्त्तव्यविमूढ़ हैं। आप इनको सामान्य धर्म और राजधर्म का रहस्य खोलकर बतलाइए, जिससे इनके मन का संताप दूर हो जाय और यह धर्मपूर्वक राज्य का शासन करें।

महात्मा भीष्म ने महान् धर्म को, पुरुषोत्तम कृष्ण को और धर्मज्ञ ब्राह्मणों को नमस्कार करके, युधिष्ठिर को सम्बोधन करते हुए शाश्वत धर्म का प्रवचन प्रारम्भ किया। उन्होंने कहा—

उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर।
न ह्युत्थानमृते दैवं राज्ञामर्थं प्रसाधयेत्॥
साधारणं द्वयं ह्येते दैवमुत्थानमेव च।
पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चित्यमुह्यते॥

सारे ही कार्य राजा को अपने स्वयं के पौरुष से करने चाहिए। जिन राजाओं में पौरुष नहीं होता है, उनको भाग्य कुछ भी फल नहीं देता।

पौरुष और दैव यही सिद्धि के दो उपाय हैं, परन्तु इन दोनों में पौरुष बड़ा है। वह प्रत्यक्ष फल देता है। भवितव्यता तो फल के द्वारा निश्चित है।

न हि सत्यादृते किंचिद् राज्ञां वै सिद्धिकारकम्।
आर्जवं सर्वकार्येषु श्रयेथाः कुरुनन्दन॥

हे कुरुनन्दन ! राजाओं के लिए सत्य के सिवाय दूसरी कोई ऐसी वस्तु नहीं जिससे वे सिद्धि पा सकें ।

सत्यपरायण राजा इस लोक में और परलोक में भी सुख पाता है ।

मृदुर्हि राजा सततं लङ्घ्यो भवति सर्वशः ।
तीक्ष्णाच्चोद्विजते लोकस्तस्मादुभयमाचरेत् ।।

जो राजा सदा सब तरह से कोमलता का बर्ताव करनेवाला होता है, उसकी आज्ञा का उल्लंघन लोग कर जाते हैं, और केवल कठोर बर्ताव करने से भी लोग उससे घबरा उठते हैं ।

इसलिए जहाँ जैसी आवश्यकता हो, उसे देखते हुए तुम्हें कठोरता और कोमलता दोनों का ही सहारा लेना चाहिए ।

वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना ।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत् ।।

हे कुरुश्रेष्ठ ! अपने आपको जो प्रिय लगता हो उसे त्यागकर धर्मात्मा राजा को ऐसा कार्य करना चाहिए, जिससे कि सब लोगों का हित होता हो ।

आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः ।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः ।।
त्र्य्यां संवृतमन्त्रश्च राजा भवितुमर्हति ।
वृजिनं च नरेन्द्राणां नान्यच्चारक्षणात् परम् ।।

वही पुरुष राजा होने के योग्य है, जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, क्रोध को जीत लिया है और शास्त्र के सिद्धान्त का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया है;

जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की साधना में सदा लगा रहता है, जिसे तीनों वेदों का ज्ञान हो गया है और जो अपने गुप्त विचारों को दूसरों पर प्रकट नहीं होने देता है ।

प्रजा की रक्षा न करने से बड़ा राजाओं के लिए दूसरा कोई पाप नहीं है ।

शुचिस्तु पृथिवीपालो लोकचित्तग्रहे रतः ।
न पतत्यरिभिर्ग्रस्तः पतितश्चावतिष्ठते ।।

जो राजा बाहर और भीतर से पवित्र रहकर प्रजा के हृदय को अपनाने का यत्न करता है, वह आक्रमण किये जाने पर भी शत्रुओं के वश में नहीं पड़ता ।

यदि वह गिर भी जाय, तो अपने सहायकों को पाकर शीघ्र उठ खड़ा होता है ।

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ।।

सर्वोत्तम राजा वही है, जिससे राज्य में लोग इस प्रकार निर्भय विचरते

हैं, जैसे अपने पिता के घर में पुत्र निर्भीक रहते हैं।

अर्थमूलोऽपि हिंसां च कुरुते स्वयमात्मनः।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात्संपीडयन्प्रजाः।।

धन के लोभ से जो राजा मोहवश प्रजा से शास्त्र-विरुद्ध अधिक कर लेकर उसे क्लेश पहुँचाता है, वह अपने ही हाथों अपना विनाश करता है।

कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम्।
योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत्।।

ग़रीबों, अनाथों, वृद्धों और विधवा स्त्रियों की रक्षा और उनकी जीविका का राजा को सदाही प्रबन्ध करना चाहिए।

मा ते राष्ट्रे याचनका भूवन्मा चापि दस्यवः।
एषां दातार एवैते नैते भूतस्य भावकाः।।

तुम्हारे राज्य में न तो कोई भिखमंगे हों और न चोर-लुटेरे;
क्योंकि ये प्रजा के धन को सिर्फ छीननेवाले होते हैं, उसके ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले नहीं।

संरक्ष्यान् पालयेद् राजा स राजा राजसत्तमः।
ये केचित् तान् न रक्षन्ति तैरर्थो नास्तिकश्चन।।

वही राजा सब राजाओं में श्रेष्ठ माना जाता है, जो रक्षा करनेयोग्य मनुष्यों की रक्षा करता है। जो ऐसा नहीं करते, उन राजाओं की दुनिया को कोई आवश्यकता नहीं।

राजा चरति चेद् धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति।।

धर्माचरण करने से राजा देवता बन जाता है; और यदि वह अधर्म करता है तो नरक में ही गिरता है।

दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च।
अविषह्यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः।।

दुर्बल मनुष्य और मुनि और सर्प इनकी दृष्टि को मैं अत्यन्त असहनीय मानता हूँ, इसलिए तुम किसीभी दुर्बल प्राणी को न सताना।

दुर्बलांस्तात मन्येथा नित्यमेवाविमानितान्।
मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि प्रदहेयुस्सबान्धवम्।।

किसीभी दुर्बल प्राणी का तुम कभी अपमान न करना;
सदा सावधान रहना कि कहीं दुर्बलों की दृष्टि तुम्हें बन्धु-बान्धवों-सहित जलाकर भस्म न कर डाले।

विमानितो हतः क्लिष्टस्त्रातारं चेन्न विन्दति।
अमानुषकृतस्तत्र दण्डो हन्ति नराधिपम्।।

यदि कोई अपमानित, मारा-पीटा हुआ और गाली-गलौज से तिरस्कृत दुर्बल मनुष्य राजा को अपने रक्षक के रूप में नहीं पाता है, तो दैव द्वारा दिया हुआ दण्ड उस राजा का ही अन्त कर डालता है।

मा स्म तात रणे स्थित्वा भुंजीथा दुर्बलं जनम्।
मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि दहन्त्वग्निरिवाश्रयम्॥

वत्स! युद्ध में संलग्न होकर तुम किसी दुर्बल मनुष्य को, उससे कर लेकर, अपने उपभोग की वस्तु न बनाना। जैसे, आग, जिस लकड़ी में वह रहती है, उसी को जला देती है, वैसेही दुर्बलों की दृष्टि तुम्हें कहीं जला न डाले।

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि रोदताम्।
तानि पुत्रान् पशून्घ्नन्ति तेषां मिथ्याभिशंसनात्॥

झूठे आरोप लगाये जाने पर रुदन करते हुए दीन-दुर्बलों की आँखों से जो आँसू गिरते हैं, वे मिथ्या दोष लगाने के कारण उन अपराधियों के पुत्रों और पशुओं का भी नाश कर डालते हैं।

अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेद्वसुधाधिपः।
जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप॥

हे राजन्! युद्ध के सिवाय किसी दूसरे ही उपाय से [illegible] बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए; युद्ध से जो विजय मिलती है उसे [illegible] का बताया गया है।

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्लीरचापलम् ।।
अकार्पण्यमसंरम्भस्सन्तोषः प्रियवादिता ।
अविहिंसाऽनसूया चाप्येषां समुदयो दमः ।।

क्षमा, धीरता, अहिंसा, समता, सत्यवादिता, सरलता, इन्द्रिय-विजय, निपुणता, कोमलता, लज्जा, अचंचलता, उदारता, क्रोधहीनता, सन्तोष, मधुर वचन बोलने का स्वभाव, किसीभी प्राणी को पीड़ा न देना और दूसरों के दोषों को न देखना इन सद्गुणों का प्रकट होना ही दम कहलाता है ।

अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः ।
नमस्यः सर्वभूतानां दान्तो भवति बुद्धिमान् ।।

जिसे सारे ही प्राणियों से भय नहीं है और सभी प्राणी जिसकी ओर से निर्भय हो गये हैं उस दमनशील और बुद्धिमान पुरुष की सभी वन्दना करते हैं।

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम् ।
सत्येन विधृते सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।।

सत्य बोलना शुभ कर्म है । सत्य से बड़ा कोई दूसरा कार्य नहीं है । सबको सत्य ने ही धारण कर रखा है और सब कुछ सत्य में ही प्रतिष्ठित है ।

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ।
यद् यदात्मनि चेच्छेत् तत् परस्योपि चिन्तयेत् ।।

जो स्वयं जीवित रहना चाहता है, वह दूसरों के प्राण कैसे ले सकता है ? अपने लिए जो-जो सुख-सुविधा मनुष्य चाहता है वही दूसरों के लिए भी सुलभ कराने की बात उसे सोचना चाहिए ।

उत्थानेन जयेत् तन्द्रां वितर्कं निश्चयाज्जयेत् ।
मौनेन बहुभाष्यं च शौर्येण च भयं त्यजेत् ।।

आलस्य को उद्योग से तथा वितर्क को दृढ़ निश्चय से जीतना चाहिए; मौन का सहारा लेकर बहुत बोलने की आदत को, और शूरवीरता के द्वारा भय को त्याग देना चाहिए ।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ।।

जगत् में जो काम-वासना से उत्पन्न सुख है और जो स्वर्ग का दिव्य और महान् सुख है, ये दोनों ही तृष्णा-क्षय से होनेवाले सुख की सोलहवीं कला की भी तुलना में नहीं आ सकते ।

मृत्युनाऽभ्याहतो लोको जरया परिवारितः ।
अहोरात्राः पतन्त्येते ननु कस्मान्न बुध्यसे ।।

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम्।
अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै संप्रकर्षति ।।

मृत्यु लोगों को पीट रही है, और बुढ़ापे ने उनको घेर रखा है। ये दिन और रातें तेज़ी से बीतती जा रही हैं। तब, तुम क्यों नहीं जाग जाते ?

अबभी ऐसा काम करो जिससे तुम्हारा कल्याण हो और समय आगे न निकल जाये। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे कार्य अधूरे रह जायें और मृत्यु तुम्हें खींचकर ले जाय।

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।
मृत्युरापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम् ।।

अमरता और मृत्यु ये दोनों देह के भीतर ही बसे हुए हैं; मृत्यु मोह से प्राप्त होती है, और सत्य से अमृत-पद।

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखम् नास्ति त्यागसमं सुखम् ।।

विद्या के समान कोई नेत्र नहीं, सत्य के समान कोई तप नहीं, राग के समान कोई दुःख नहीं और त्याग के समान कोई सुख नहीं।

नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम्।
नात्यक्त्वा चाभयश्शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भवेत् ।।

बिना कुछ त्याग किये सुख प्राप्त नहीं होता, और न बिना त्याग के मनुष्य परमतत्त्व तक पहुँच पाता है। त्याग के बिना निर्भय होकर कोई रह नहीं सकता। मनुष्य सर्वत्याग से ही सुखी हो सकता है।

प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां प्रज्ञा लाभः परो मतः।
प्रज्ञा निःश्रेयसी लोके प्रज्ञा स्वर्गो मतस्सताम् ।।

प्राणियों का आश्रय स्थान एक प्रज्ञा ही है। प्रज्ञा को सबसे बड़ा लाभ कहा गया है। इस लोक में प्रज्ञा ही कल्याणकारिणी है, और सत्पुरुषों ने प्रज्ञा को ही स्वर्ग माना है।

सत्यं ब्रह्म तपस्सत्यं स्वर्गं सत्येन गच्छति।
अनृतं तमसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः ।।

सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही तप है, सत्य से ही मनुष्य स्वर्ग को पाता है। असत्य, जो अन्धकार का रूप है, मनुष्य को नीचे गिरा देता है।

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम् ।।

वेदों का रहस्यात्मक अर्थ सत्य है, सत्य का अर्थ दम है, और दम का है मोक्ष। यही सर्वानुशासन है।

श्वः कार्यमद्य कुर्वति पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वा कृतम् ।।

जिस काम को कल करना हो, उसे आजही कर लिया जाय। जिसे दोपहर बाद करना हो, उसे दोपहर से पहले कर डालना चाहिए; क्योंकि मृत्यु इस बात की बाट नहीं देखती कि इसका काम पूरा हो गया या नहीं।

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगान्महान् ।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ।।

जो कल्याणकारी कार्य है उसे तुम आजही कर डालो। यह महान् काल कहीं तुम्हें लाँघ न जाय। कौन जानता है कि आज किसकी मौत की घड़ी आ पहुँचेगी।

गीता-नवनीत

[वियोगी हरि]

दूसरा अध्याय

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

अरे, तू उनके लिए शोक कर रहा है, कि जिनके लिए नहीं करना चाहिए! साथ ही ज्ञान की बातें बघारता है!
प्राण किसीके जायें या रहें, ज्ञानी पुरुष उनके लिए शोक नहीं किया करते।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

यह बात तो है नहीं कि मैं पहले कभी नहीं था; तू और ये सब राजे-महाराजे पहले न थे।
यह भी नहीं कि हम सब अब आगे न होंगे।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

जैसे देहधारी को इस देह में बालपन, जवानी और बुढ़ापा प्राप्त होता है, उसी तरह उसे दूसरी देह प्राप्त होती है।
इसलिए इस विषय में ज्ञानी मनुष्य को मोह नहीं होता।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

कहा गया है कि शरीर का स्वामी अर्थात् आत्मा नित्य है, अविनाशी है, और अचिन्त्य है;
किन्तु उसे मिलनेवाले ये शरीर नाशवान हैं। अतः हे भारत! तू युद्ध कर।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

इस शरीर के स्वामी या आत्मा को मारनेवाला यह समझता है कि वह मारा जाता है, उन दोनों को ही सच्चा ज्ञान नहीं है।
यह न तो किसीको मारता है, और न किसीसे मारा जाता है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।२२।।

जैसे कोई पुराने वस्त्रों को उतारकर नये वस्त्र पहनता है,
वैसे ही यह देही अर्थात् आत्मा पुराना शरीर छोड़कर नया शरीर धारण कर लेता है ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।२३।।

इस आत्मा को न तो कोई शस्त्र काट सकता है, न इसे आग जला सकती है;
पानी इसे भिगो नहीं सकता, और वायु सुखा नहीं सकती ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२७।।

जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु निश्चित है; और जो मरता है, उसका जन्म भी निश्चित है ।
अतः इस न टल सकनेवाली बात के लिए शोक करना तुझे उचित नहीं ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।३०।।

सबके देह में रहनेवाले इस आत्मा का वध कदापि नहीं किया जा सकता ।
इसलिए हे भारत ! किसीभी प्राणी के विषय में शोक करना तुझे उचित नहीं ।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।३३।।

तू यदि अपने धर्म के अनुकूल युद्ध नहीं करेगा, तो अपने धर्म को और यश को खोकर तू पाप ही बटोरेगा ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।४७।।

तेरा अधिकार केवल कर्म करने का है; फल का मिलना या न मिलना कदापि तेरे अधिकार में नहीं ।
इसलिए यह सोचकर तू कर्म न कर कि उसका अमुक फल मिलना चाहिए, और कर्म न करने का भी आग्रह मत कर ।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।५०।।

जिसमें (साम्य-) बुद्धि आ गई, वह संसार में पाप एवं पुण्य से लिप्त नहीं होता; अतः तू योग-युक्त हो जा ।
कर्म करने की कुशलता ही योग हैं ।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।५२।।

जब तेरी बुद्धि मोह के मैले आवरण को हटा देगी, तब जो कुछ तूने सुना हैं और जो सुनने को हैं उससे तू विरत हो जायगा ।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।५६।।

दुःख में जिसका मन खिन्न नहीं होता, और सुख में जो आसक्त नहीं होता;
प्रीति, भय और क्रोध जिसमें रहा नहीं, उसेही 'स्थितप्रज्ञ' मुनि कहते हैं ।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५७।।

सर्वत्र जिसका मन अनासक्त हो गया; यथाप्राप्त शुभ का जिसे आनन्द नहीं और अशुभ का विषाद नहीं,
कहना चाहिए कि उसकी बुद्धि स्थिर हो गई है ।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।६२।।

जो विषयों का चिन्तन करता रहता है, उनमें उसकी आसक्ति बढ़ती जाती है,
इस आसक्ति से विषय-वासना पैदा होती है ।
और (वासना तृप्त न होने पर) उससे क्रोध उत्पन्न होता है ।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।६३।।

क्रोध से अविवेक पैदा होता है, और उससे स्मृति भ्रष्ट हो जाती है,
स्मृति के भ्रष्ट होने से बुद्धि का नाश, तथा बुद्धि-नाश से सर्वस्व नष्ट हो जाता है ।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।६५।।

चित्त प्रसन्न रहने से सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं;
क्योंकि प्रसन्नचित्त पुरुष की बुद्धि तुरन्त स्थिर हो जाती है ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।६९।।

जो सबके लिए रात्रि है, उसमें स्थितप्रज्ञ जागता रहता है, और जब सारे प्राणी जागते रहते हैं, तब ज्ञानवान् के लिए वह रात्रि है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।७०।।

चारों ओर से पानी भर जाने पर भी अपनी मर्यादा न छोड़नेवाले समुद्र में जैसे सारा पानी चला जाता है,
उसी तरह उस मनुष्य में सब विषय प्रवेश तो करते हैं, पर उसकी शान्ति भंग नहीं होती।
शान्ति उसेही प्राप्त होती है, विषयों की कामना रखनेवाले को नहीं।

तीसरा अध्याय

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।५।।

कुछ-न-कुछ कर्म किये बिना एक क्षण भी कोई रह नहीं सकता।
प्रत्येक परतंत्र मनुष्य को प्रकृति-जन्य गुण कुछ-न-कुछ कर्म करने के लिए सदा प्रेरित करते ही रहते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।६।।

अपनी कर्मेन्द्रियों को रोककर जो मूढ़ व्यक्ति मन से उनके विषयों को सोचता रहता है,
उसे मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहते हैं।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।१७।।

जो केवल आत्मा में ही अनुरक्त है, उसीमें तृप्त है और उसीमें सन्तुष्ट, उसके लिए अपना कुछभी करने को शेष नहीं रहता।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।१९।।

जब ज्ञानी पुरुष कुछभी अपेक्षा नहीं रखता, तब तूभी फल-प्राप्ति का मोह छोड़कर सतत कर्त्तव्य कर्म कर।
आसक्ति छोड़कर कर्म करनेवाले मनुष्य को ऊँची-से-ऊँची गति प्राप्त

होती है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।२१।।

श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता है, उसीको जनसाधारण करते हैं। वह जिसे प्रमाण मानकर चलता है, लोग उसीका अनुकरण करते हैं।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२५।।

हे अर्जुन ! जो 'लोक-संग्रह' करना चाहता है, लोकहित के विचार से लोगों को सदाचारी बनाना चाहता है, उस ज्ञानवान् मनुष्य को आसक्ति त्यागकर वैसा बर्ताव करना चाहिए, जैसा कि व्यावहारिक कर्म में आसक्त लोग करते हैं।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।३७।।

तू यह समझले कि रजोगुण से उत्पन्न यह काम और यह क्रोध बड़े लोलुप और बड़े पापी हैं,
ये दोनों ही तेरे शत्रु हैं।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।४१।।

इसलिए, हे भरतश्रेष्ठ ! पहले इन्द्रियों को नियंत्रण में रख ज्ञान-विज्ञान का नाश करनेवाले इस पापी को तू मार डाल।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।४३।।

हे महाबाहो ! जो बुद्धि से परे है उसे ठीक तरह से जानकर और अपने-आपको रोककर इस कामरूपी दुराराध्य शत्रु का तू हनन करदे।

चौथा अध्याय

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।७।।

हे भारत ! धर्म जब क्षीण होने लगता है, और अधर्म प्रबल हो उठता है,
तब मैं स्वयं ही अवतार लेता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।८।।

सज्जनों की रक्षा और दुष्टों का नाश करने के लिए, धर्म को स्थापित

करने के प्रयोजन से, (अर्थात् लोक-संग्रह की दृष्टि से) युग-युग में मैं जन्म लेता हूँ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

मुझे जो जिस प्रकार भजते हैं मैं उसी प्रकार के फल उनको देता हूँ।
हे पार्थ ! किसीभी ओर से हो, सब मेरे ही मार्ग में आ मिलते हैं।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥१३॥

चारों वर्णों की व्यवस्था, उनके गुण और कर्म के अनुसार, मैंने निर्माण की है।
तू इसे समझले कि मैं उस व्यवस्था का कर्त्ता भी हूँ और अकर्त्ता भी; उसे न करनेवाला मैं अव्यय (अविनाशी) भी हूँ।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१६॥

बुद्धिमान लोग उसीको ज्ञानी कहते हैं, जिसके सारे ही उद्योग फलेच्छा से रहित हैं;
और जिसके कर्म ज्ञान की अग्नि में भस्म हो गये हैं।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसीमें संतुष्ट, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से मुक्त, किसीके भी प्रति ईर्ष्या न रखनेवाला,
और सफलता या असफलता को एक-सा माननेवाला मनुष्य कर्म करके भी उसके बंधन में नहीं आता।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि सारे ईंधन को भस्म कर डालती है,
वैसे ही, हे अर्जुन ! ज्ञान की अग्नि सभी कर्मों को (उनके शुभ-अशुभ बन्धनों को) जला डालती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

इस संसार में सचमुच ज्ञान के समान पवित्र और कुछभी नहीं।
जिसका योग सिद्ध हो गया, वह समय पाकर उस ज्ञान को स्वयं ही प्राप्त कर लेता है।

पाँचवाँ अध्याय

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

जो योगयुक्त हो गया, जिसका अन्तःकरण विशुद्ध हो गया, अपने मन को और इन्द्रियों को जिसने जीत लिया,
और सब प्राणियों का आत्मा जिसका अपना आत्मा बन गया, वह कर्म करता हुआ भी (उनके पुण्य और पाप से) अलिप्त ही रहता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

समस्त कर्मों को मन से त्यागकर जितेन्द्रिय पुरुष नौ द्वारोंवाले इस देह-रूपी नगर में न कुछ करता और न कराता हुआ आनन्दपूर्वक वसता है।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

विद्वान्, विनयशील ब्राह्मण, गाय, हाथी और इसी तरह कुत्ता और चाण्डाल सभीके प्रति पण्डितों अर्थात् ज्ञानियों की दृष्टि समान रहती है।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जो प्रिय वस्तु को पाकर प्रसन्न नहीं होता, और अप्रिय को पाने से खिन्न नहीं,
इस प्रकार जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई है, और जो मोह के फंदे में नहीं फँसता, वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म में स्थित रहता है।

छठा अध्याय

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

अपना उद्धार स्वयं ही करना चाहिए, अपने-आपको गिराना नहीं चाहिए, क्योंकि मनुष्य आपही अपना मित्र है, और आपही अपना शत्रु।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

वह आप अपना मित्र है, जिसने अपने आपको जीत लिया।
पर जिसने अपने आप पर क़ाबू नहीं पाया वह स्वयं अपने साथ शत्रु की तरह वैर करता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।।९।।

सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करनेयोग्य, बान्धव, सज्जन और दुष्ट—
इन सबके प्रति जिसकी समान बुद्धि है, उसी मनुष्य को विशेष योग्य कहना चाहिए।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।१६।।

हे अर्जुन ! ठूँस-ठूँसकर खानेवाले या बिल्कुल न खानेवाले, इसी तरह बहुत अधिक सोनेवाले या रतजगा करनेवाले मनुष्य को यह योग सिद्ध होने का नहीं।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।१७।।

जिसका आहार और विहार नियंत्रित है, कर्मों का आचरण जिसका नपा-तुला है,
और सोना और जागना जिसका परिमित है, उसेही यह योग सुखदायक होता है।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।२६।।

यह चंचल और अस्थिर मन जहाँ भी बाहर को दौड़े, वहाँ से रोककर इसे अपने नियंत्रण में रखना चाहिए।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।३०।।

जो मुझ (परमेश्वर) को सर्वत्र, और सबको मुझमें देखता है,
उससे मैं कभी अलग नहीं होता, और न वह मुझसे कभी दूर रहता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।३१।।

जो सब प्राणियों में समान बुद्धि रखकर उनमें स्थित मुझको भजता है,
वह योगी सब प्रकार से बर्तता हुआ भी मुझमें ही रहता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।३२।।

हे अर्जुन ! सुख या दुःख अपनी ही तरह दूसरों को भी होता है।
जो ऐसी दृष्टि सर्वत्र रखता है, उसेही उत्तम योगी मानना चाहिए।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

हे महाबाहु अर्जुन ! संदेह नहीं कि मन यह चंचल है और इसे वश में रखना बड़ा कठिन है।
किन्तु, हे कौन्तेय ! इस मन को अभ्यास से तथा वैराग्य से वश में किया जा सकता है।

सातवाँ अध्याय

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

हज़ारों में कोई एक-आध ही सिद्धि पाने का यत्न करता है, और ऐसे अनेक प्रयत्न करनेवाले सिद्ध पुरुषों में से कोई विरला ही मुझे ज्ञानपूर्वक जानता है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

हे कौन्तेय ! मैं जल में रस हूँ; मैं ही चन्द्र और सूर्य की प्रभा हूँ; सब वेदों में ओंकार मैं हूँ,
आकाश में मैं शब्द हूँ, और सबका मैंही पुरुषार्थ हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

हे पार्थ ! मुझे तू सब प्राणियों का सनातन बीज समझ।
मैंही बुद्धिमानों की बुद्धि हूँ और तेजस्वियों का तेज।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

काम (वासना) और राग (विषयासक्ति) से रहित बलवानों का मैंही बल हूँ;
और हे भरतश्रेष्ठ ! सब प्राणियों में धर्म के विरुद्ध न जानेवाला मैं काम भी हूँ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

तू यह समझले कि जो भी सात्विक, राजस या तामस भाव हैं, वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं;
किन्तु वे मुझमें हैं; मैं उनमें नहीं हूँ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।१४।।

मेरी यह त्रिगुणमयी दैवी माया कठिनाई से पार की जा सकती है। परन्तु इसे वे मनुष्य (अनायास) पार कर लेते हैं, जो मेरी शरण में आजाते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।।१५।।

जिनका ज्ञान माया ने नष्ट कर दिया है, ऐसे मूढ़, दुष्कर्मी नराधम आसुरी बुद्धि में फँसकर मेरी शरण में नहीं आते।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।१९।।

अनेक जन्मों के अनन्तर जब यह अनुभव हो जाता है कि जो कुछ भी है वह सब 'वासुदेव' ही है—
तब ज्ञानी पुरुष मुझे प्राप्तकर लेता है;
ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है।

आठवाँ अध्याय

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।१४।।

हे पार्थ ! अनन्य चित्त से जो निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी को मैं सुलभ रीति से प्राप्त हो जाता हूँ।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धि परमां गताः ।।१५।।

मुझमें मिल जानेपर परमसिद्धि पानेवाले महात्माओं का पुनर्जन्म नहीं होता, जो दुःखों का घर है और जो अनित्य है।

नवाँ अध्याय

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ।।१७।।

मैं इस जगत् का पिता, माता और पितामह हूँ; इसे धारण करनेवाला भी मैंही हूँ। जो कुछ पवित्र या जो कुछ जाननेयोग्य है वह सब मैं ही हूँ, ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।।१८।।

मैं सबकी गति हूँ, पोषक हूँ, प्रभु हूँ, साक्षी और आश्रय-स्थान हूँ।

शरण और सुहृद् भी मैं हूँ; उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति, भाण्डार और अविनाशी बीज भी मैं ही हूँ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

एक-आध पत्ता, फूल, फल या थोड़ा-सा जल भी जो मुझे अर्पण करता है, उस स्थिर चित्तवाले व्यक्ति की वह भक्तिपूर्ण भेंट मैं प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करता हूँ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

हे कौन्तेय ! तू जो कुछ करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह साराही मुझे तू अर्पण करदे।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

मैं सभीके लिए एकसमान हूँ; मुझे न तो कोई अप्रिय है और न कोई प्रिय;
किन्तु भक्तिपूर्वक जो मुझे भजते हैं, वे मुझमें स्थित हैं, और मैं भी उनमें स्थित हूँ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

कोई कैसाही बड़ा दुराचारी हो, यदि वह मुझे अनन्यभाव से भजता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिए;
कारण कि उसकी बुद्धि ने भली-भाँति ऐसा निश्चय कर लिया है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

तू मुझमें मन लगा; मेरा भक्त बन; मेरी पूजा कर, और मुझे नमस्कार कर—
इस प्रकार मुझमें परायण होकर योग का अभ्यास करने से तू मुझे प्राप्त करलेगा।

दसवाँ अध्याय

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

यह जानकर कि सबकी उत्पत्ति मुझसे हुई है, और सबकी प्रवृत्ति भी मुझसे होती है, ज्ञानी मनुष्य भावनापूर्वक मुझे भजते हैं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।।२०।।

हे गुडाकेश ! सब प्राणियों के भीतर रहनेवाला आत्मा हूँ मैं;
मैं सबका आदि हूँ, मध्य हूँ और अन्त भी ।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ।।४१।।

जोभी वैभवशाली और श्रीसम्पन्न है, उसे तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुआ समझ ।

ग्यारहवाँ अध्याय

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ।।३७।।

हे महात्मन् ! तुम ब्रह्मा के आदिकारण हो, और उनसे भी श्रेष्ठ हो ।
तब तुम्हारी वन्दना वे क्यों न करेंगे ?
हे अनन्त ! हे जगन्निवास ! तुम्हीं सत् हो और तुम्हीं असत्;
सत् और असत् से परे जो अक्षर है, वह भी तुम्हीं हो ।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।।३८।।

तुम आदिदेव हो, पुरातन पुरुष हो, जगत् के एकमात्र आधार हो;
तुम सब कुछ जानते हो, और तुम्हीं जाननेयोग्य हो ।
हे अनन्तरूप ! तुम्हींने इस विश्व को इतना बड़ा विस्तार दिया अथवा व्याप्त किया है ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।५५।।

हे पाण्डव ! जो यह समझकर कर्म करता है कि सारे कर्म मेरे ही अर्थात् परमेश्वर के हैं, जो मुझमय है तथा आसक्ति-रहित है,
और जो किसीके भी साथ वैर-भाव नहीं रखता, उस अपने भक्त को मैं प्राप्त हो जाता हूँ ।

बारहवाँ अध्याय

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एवं च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
किसीसे भी जो द्वेष नहीं करता, सब प्राणियों के साथ जो मित्रता का वर्ताव करता है, और जो दयालु है,
जो न ममत्व-बुद्धि रखता है, और न अहंकार, जिसे दुःख और सुख समान हैं और जो क्षमावान् है,

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥
जो सदाही संतोषी, संयमी और दृढ़ निश्चयवाला है, जिसने अपना मन और बुद्धि मुझे अर्पित करदी है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥
जिससे न तो लोगों को क्लेश होता है, और न जो लोगों से क्लेश पाता है, जो हर्ष, क्रोध, भय और विषाद से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥
मुझे अपना ऐसा भक्त प्रिय है, जो निरपेक्ष है, पवित्र और दक्ष है,
जो (कर्म-फल के प्रति) उदासीन है, कोई भी विकार जिसे विचलित नहीं कर सकता, और जिसने (फलासक्ति में फँसानेवाले) सारे संकल्पों को त्याग दिया है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥
जो न तो हर्ष मानता है, न द्वेष करता है, और न शोक ही,
जो न कोई इच्छा रखता है, जो शुभ और अशुभ (कर्म-फलों) को छोड चुका है, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समःसङ्गविवर्जितः ॥१८॥
शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी, सुख और दुःख जिसके लिए सब समान हैं, और किसीपर भी जिसकी आसक्ति नहीं है,

तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥
निन्दा और प्रशंसा जिसकी दृष्टि में समान है, जो मितभाषी है, जो कुछ

मिल जाय उसीमें संतुष्ट है,
जो अनिकेत है अर्थात् जिसकी कहीं भी आसक्ति नहीं, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्रिय है ।

तेरहवाँ अध्याय

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।।७।।

मानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य-उपासना, शुचिता, स्थिरता, मनोनिग्रह,

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।८।।

इन्द्रियों के विषयों में विरक्ति, अहंकारहीनता तथा जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा-व्याधि एवं दुःखों को (अपने पीछे लगे हुए) दोष समझना,

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।९।।

कर्म में अनासक्ति, स्त्री, पुत्रों और गृहस्थी में आसक्त न होना, चाही या अनचाही वस्तु के मिलने पर चित्त-वृत्ति को सदा एकसमान रखना,

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।१०।।

मुझमें अनन्य भाव से अटल भक्ति होना, एकान्त स्थान में रहना, साधारण लोगों की भीड़-भाड़ को पसन्द न करना,

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।११।।

अध्यात्मज्ञान की नित्यता को समझना, तथा तत्त्वज्ञान का अनुशीलन,—इस सबको 'ज्ञान' कहते हैं; इससे अन्यथा सारा अज्ञान है ।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।२७।।

सभी प्राणियोंमें सदा एकरस रहनेवाला, तथा सबका नाश हो जाने परभी जिसका नाश नहीं होता ऐसे परमेश्वर को जिसने देख लिया, उसीने, कहना चाहिए कि, (सच्चे तत्त्व को) वस्तुतः पहचाना है ।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।२८।।

परमेश्वर को सर्वत्र एक-सा व्याप्त समझकर जो अपने आपका घात नहीं करता, स्वयं अच्छे मार्ग पर लग जाता है, वह उत्तम गति पाता है ।

चौदहवाँ अध्याय

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥

हे पाण्डव ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के प्राप्त होने पर जो दुःख नहीं मानता,
और वे प्राप्त न हों, तो उनकी इच्छा नहीं करता,

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

जो तटस्थ-सा रहता है, तीनों ही गुण जिसे विचलित नहीं करते, जो यह मानकर स्थिर रहता है कि गुण तो अपना-अपना काम करते हैं,
जो डिगता नहीं है, अर्थात् जो किसीभी विकार के वश में नहीं होता।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

सुख और दुःख जिसे समान हैं, जो अपनेमें ही स्थिर है, पत्थर और सोने में जो भेद नहीं करता,
प्रिय और अप्रिय को, निन्दा और प्रशंसा को जो समान दृष्टि से देखता है, जो सदा धैर्यवान् है,

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

जिसे मान और अपमान, या मित्र-पक्ष और शत्रु-पक्ष ये दोनों ही समान हैं, और जिसने सारे ही (काम्य) उद्योगों को छोड़ दिया है, उसे 'गुणातीत' कहते हैं।

पन्द्रहवाँ अध्याय

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

जिनके मन में न तो मान है, न मोह है,
जिन्होंने आसक्ति-दोष को जीत लिया है,
अध्यात्मज्ञान में जो स्थिर रहते हैं,
जिन्होंने कामनाओं का त्याग कर दिया है, और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से जो मुक्त हो गये हैं,

वे ज्ञानी पुरुष अविनाशी पद को अर्थात् ब्रह्मधाम को प्राप्त करते हैं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

इस लोक में दो पुरुष हैं—एक 'क्षर' दूसरा 'अक्षर'—
क्षर सभी नाशवान प्राणियों को कहते हैं, और अक्षर कहते हैं कूटस्थ को, सबके मूल में रहनेवाले अव्यक्त तत्त्व को।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

किन्तु उत्तम पुरुष क्षर और अक्षर इन दोनों से भिन्न है। उसे परमात्मा कहते हैं।
वही अविनाशी परमेश्वर तीनों लोकों में व्याप्त होकर उनका सदा भरण-पोषण करता है।

सोलहवाँ अध्याय

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

अभय शुद्ध सात्विक वृत्ति, ज्ञानमार्ग और कर्मयोग की तारतम्यपूर्वक व्यवस्था,
दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता,

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्म-फल का त्याग, शान्ति, अपैशुन्य अर्थात् क्षुद्र दृष्टि त्यागकर उदारभाव रखना,
सभी प्राणियों पर दया, तृष्णा न करना, कोमलता, (बुरे काम की) लज्जा, स्थिरता,

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

तेजस्विता, क्षमा, धृति, पवित्रता, द्रोह न करना और अतिमान न रखना—हे भारत ! ये गुण दैवी सम्पत्ति में जन्म लेनेवालों को मिलते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक-द्वार हैं; ये हमारा नाश कर डालते हैं,
इसलिए इन तीनों का ही परित्याग करना चाहिए।

सत्रहवाँ अध्याय

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।।१५।।

क्लेश न देनेवाले, सत्य, प्रिय और हितकारी भाषण तथा स्वाध्याय को वाचिक अर्थात् वाणी का तप कहते हैं।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।।१६।।

मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मुनियों की जैसी वृत्ति रखना, आत्म-निग्रह तथा शुद्ध भावना, इनको मानसिक तप कहते हैं।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।२०।।

वह दान सात्त्विक है, जिसे किया जाता है स्थान, काल और पात्र का विचार करके कर्त्तव्यबुद्धि से,
और जो दान अपने साथ बदले में उपकार न करनेवाले व्यक्ति को दिया जाता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।२७।।

यज्ञ, तप और दान में स्थिर भावना रखने को 'सत्' कहते हैं;
इनके निमित्त जो कर्म किया जाय, उसका नाम भी 'सत्' ही है।

अठारहवाँ अध्याय

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।।११।।

देहधारी के लिए कर्मो का सम्पूर्णतया त्याग संभव नहीं है।
अतः जिसने केवल कर्मफलों का त्याग किया है, वही वास्तव में त्यागी अर्थात् संन्यासी है।

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।।१४।।

अधिष्ठान अर्थात् स्थान तथा कर्त्ता, भिन्न-भिन्न करण याने साधन, अनेक प्रकार की अलग-अलग चेष्टाएँ अर्थात् कर्त्ता के व्यापार और उनके साथ ही पाँचवाँ कारण है दैव।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।।२०।।

जिस ज्ञान से यह जाना जाय कि भिन्न-भिन्न प्राणियों में एकही अविभक्त और अविनाशी तत्त्व व्याप्त है, तुझे जानना चाहिए कि वह सात्त्विक ज्ञान है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।४५।।

अपने-अपने (स्वभावजनित गुणों के अनुसार) कर्म में निरन्तर निरत रहने-वाला उसीसे परमसिद्धि पाता है।
अब यह सुन कि स्वकर्म में तत्पर रहने से सिद्धि कैसे मिलती है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।४६।।

समस्त प्राणियों की जिससे प्रवृत्ति हुई है और जिससे सारा जगत् व्याप्त है, अपने कर्मों द्वारा उसकी अर्चना करने से ही मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।५३।।

अहंकार, बल, गर्व, काम, क्रोध और परिग्रह को छोड़कर वह 'ब्रह्मभूत' अर्थात् ब्रह्ममय हो जाता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।५४।।

ब्रह्मभाव को प्राप्त कर वह प्रसन्नचित्त मनुष्य न तो शोक करता है, और न किसी वस्तु की आकांक्षा ही।
प्राणिमात्र में समत्वभाव रखकर वह मेरी परमभक्ति को प्राप्त कर लेता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।६१।।

हे अर्जुन ! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में रहकर अपनी माया से उनको इस तरह घुमा रहा है,
जैसे वे किसी यंत्र पर चढ़ा दिये गये हों।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।६२।।

हे भारत ! तू अनन्यभाव से उसीकी शरण में जा।
उसके अनुग्रह से तुझे परमशान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त होगा।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।६५।।

मुझमें अपने मन को तू पिरो ले, मेरा भक्त हो जा, मेरा यजन कर और मेरी वन्दना,

मैं तुझसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि इससे तू मुझमें ही आ मिलेगा; क्योंकि तू मेरा प्रिय भक्त है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सारे धर्मों अर्थात् अनेक मार्गों को छोड़कर तू केवल मेरी ही शरण आजा। मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, मत सोच-विचार में पड़।

अध्याय–७

पुराण

[शास्त्री रामप्रताप त्रिपाठी]

अथर्व-संहिता के एक मंत्र के अनुसार कि **'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषासह'** पुराण वैदिक काल में भी थे। शतपथ ब्राह्मण में पुराण को वेद कहा गया है—**'पुराणं वेदः'**। पर यह मान लेने का कोई आधार नहीं, कि वैदिक साहित्य में उल्लिखित 'पुराण' का आशय वर्तमान काल के १८ पुराणों से है।

'पुराण' इस शब्द का अर्थ है पुरानी कथाओं या आख्यायिकाओं का संग्रह। बहुधा ये कथाएँ और गाथाएँ धार्मिक व सामाजिक भूमिका पर आधार रखती हैं। बहुत प्राचीन काल से परम्परागत सम्पदा के रूप में ये सुरक्षित रही हैं। पुरा काल से इन ग्रंथों पर लोक-श्रद्धा रही है। जैन एवं बौद्ध धर्म के अनुयायियों में भी पुराणों के नाम से प्रसिद्ध कई ग्रंथ मिलते हैं, और उन ग्रंथों पर उनकी भी ऐसीही श्रद्धा है।

परिभाषा—अनेक पुराणों में पुराण की परिभाषा यह दी गई है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

जिस ग्रंथ में सर्ग या सृष्टि का विज्ञान, प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार और प्रलय, सृष्टि की आदि वंशावली, मन्वन्तर याने किस-किस मनु का अधिकार कबतक रहा और उस समय की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन तथा इतिहास के प्रमुख राजवंशों के राजाओं का विवरण इन सामग्रियों का क्रम से या बिनाही क्रम से जिन ग्रंथों में वर्णन किया गया हो, उन्हें 'पुराण' कहा जाता है। महापुराणों में इन पाँच लक्षणों का होना आवश्यक माना गया है।

पुराण की यह परिभाषा लगभग सभी महापुराणों पर बहुत-कुछ सही उतरती है। परन्तु कुछ ऐसेभी महापुराण हैं, जिनमें ये पाँचों बातें एकसाथ नहीं पाई जाती हैं। किन्तु ऐसा भी नहीं कि किसी पुराण में इन पाँचों लक्षणों में से दो-तीन लक्षण भी न मिलते हों।

भागवत में पुराण के लक्षण दस गिनाये गये हैं—

सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥ [भाग० १२।७।६

सर्ग—पाँच लक्षणों के अनुसार,
विसर्ग—जीव-सृष्टि,
वृत्ति—जीव के लिए उपयोगी वस्तुएँ,
रक्षा—ईश्वर के विविध अवतारों से आशय है,
वंश तथा **वंशानुचरित**—पाँच लक्षणों के अनुसार ही,
संस्था—प्रतिसर्ग से तात्पर्य है,
हेतु—जीव से आश्रय है,
अपाश्रय—ब्रह्म से आशय है,*

पुराणों को धार्मिक ग्रन्थ माना गया है। प्राचीन मान्यताओं की पुराणों में विविध प्रकार से स्थापना की गई है। आज के युग में यद्यपि पुराणों की अनेक कथाओं का महत्त्व घटता जा रहा है, फिरभी उनमें ऐसी अनेक कथाएँ हैं, जिनका मूल्य कम नहीं लगाया जा सकता। मानव-जीवन के शाश्वत सत्यों पर प्रकाश डालनेवाली वे कथाएँ आजभी भारतीय साहित्य में आदरणीय हैं। आजभी ऐसे सहस्रों परिवार मिलेंगे, जो पुराणों का धार्मिक ग्रन्थों के रूप में आदर करते हैं। ऐसेभी लाखों परिवार हैं, जो पुराणों का भली भाँति अर्थ न समझने पर भी केवल उनके पाठ या श्रवण से अपना कल्याण समझते हैं। तीर्थों व व्रतों के प्रसंगों पर, जन्मोत्सव, उपनयन या विवाह के समारोहों पर, पूर्वजों के देहावसान या श्राद्धादि के अवसरों पर पुराणों का पाठ कराया जाता है।

पुराणों में परम्परा से चली आ रही विविध मान्यताओं का स्रोत देखा जा सकता है। परमात्म-तत्त्व तथा परलोक के चिन्तन के साथ-साथ ऐहिक जीवन के सुख-साधनों को सुलभ बनाने की तरफ़ भी पुराणों का ध्यान रहा है। विशाल संस्कृत साहित्य की रचना में पुराणों का खासा हाथ रहा है। संस्कृत साहित्य में जितने महाकाव्य, नाटक, कथाएँ और आख्यायिकाएँ पाई जाती हैं, उन सव पर पुराणों की छाप देखने में आती है। इतिहास न होते हुए भी उनमें इतिहास की ऐसी सामग्री भरी पड़ी है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

किन्तु पुराणों के महत्त्व को स्वीकार करने के साथही यह भी मानना उचित होगा कि सामाजिक उथल-पुथल के कारण पुराणों में कई विकृतियों का भी समावेश हुआ है। इसलिए आँख मूंदकर उनका उपयोग नहीं किया जा सकता। पुरानी सम्पदा का उपयोग सर्वत्र इसी प्रकार संभव होता है। उनका सर्वांश निर्दोष नहीं होता है। जो अंश आज के समाज के लिए अनुपयोगी हैं, उनकी तो उपेक्षा ही की जायगी। अनुसरण उन्हीं अंशों का किया जायेगा, जो उपादेय समझे जायेंगे।

---

*बलदेव उपाध्याय—पुराण विमर्श, पृष्ठ १२८-२९ व ३०

पुराणों में आजभी हम ऐसा बहुत-कुछ पाते हैं, जिससे किसी विशेष जाति, वर्ग या समाज का ही नहीं, किन्तु सारी मानवता का हित हो सकता है। परोपकार, सहानुभूति, करुणा, तप, श्रद्धा, सत्यपरायणता, आत्म-विश्वास, स्वार्थत्याग, स्त्री-पुरुष-मर्यादा, वीरता, चरित्र-रक्षा, अन्य धर्मों के प्रति अपने ही धर्म के समान आदर-दृष्टि आदि सद्गुणों को प्रतिष्ठित करने में पुराणों की कथाएँ विश्व-साहित्य में ऊँचा स्थान रखती हैं।

यही नहीं, पुराणों में राजनीति, कूटनीति, धर्मनीति तथा गृहस्थ के सामान्य व विशेष धर्म तथा आपद्धर्म को भी सरल, सरस शैली में प्रस्तुत किया गया है, जिनका साधारण अशिक्षित लोगों पर भी सीधा प्रभाव पड़ता है।

व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी कलाओं और कार्यों की ओर भी पुराणों का ध्यान रहा है। कृषि, वाणिज्य, राजधर्म, नृत्य, वाद्य, संगीत, मूर्ति-कला, चित्रकला, वृक्षारोपण, वापी-कूप-तड़ाग की प्रतिष्ठा, उद्यान की सजावट, भवन, दुर्ग तथा मार्गों का निर्माण आदि उपयोगी विषयों की पुराणों में खासी अच्छी सामग्री मिलती है।

पुराणों की कितनी ही कथाओं के नायक व उपनायकों के रूप में अनेक राजर्षियों, ऋषियों, मुनियों और गृहस्थों के आदर्श जीवन का समाज पर चिर-काल से खासा प्रभाव रहा है। ये कथाएँ उस काल की सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराती हैं।

मानव-जीवन के सभी अंगों पर ऊँचे आदर्शों का चित्रण पुराणों में किया गया है। वेदों व शास्त्रों के दुर्गम ज्ञान-दुर्ग में प्रवेश पाने के लिए भी पुराणों ने राजमार्गों का काम किया है। वेदों के गम्भीर ज्ञान, दर्शनों के उच्च विचार तथा धर्मशास्त्र की सूक्ष्म व्याख्याएँ भी पुराणों के द्वारा सुगम हुई हैं।

हमारे साहित्य का भी पुराणों ने कम उपकार नहीं किया है। पुराणों की कितनी ही कथाओं के आधार पर भास, कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट, दण्डी, श्रीहर्ष, भारवि, माघ आदि कवियों ने अमर रचनाएँ की हैं। आजभी भारत की विभिन्न भाषाओं के कवियों और लेखकों को पुराणों से प्रेरणा मिलती है।

किन्तु धार्मिक क्रिया-कलापों की परम्परागत रूढ़ियों की भाँति पुराणों की कुछ कथाओं में जहाँ-तहाँ विकृतियाँ भी मिलती हैं। कहीं-कहीं पर मत-मतान्तरों का दुराग्रह तो देखने में आता ही है। एक दूसरे के छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। समय-समय पर व्यासों व सूतों की मनमानी के कारण जहाँ-तहाँ अतिशयोक्तियाँ और विसंगतियाँ भी देखने में आती हैं। विश्व-बन्धुता के जिस ऊँचे आदर्श की स्थापना को सामने रखकर पुराणों की रचना हुई थी, कहीं-कहीं पर संकुचित दृष्टि के कारण उसीका हनन किया गया है। अतः पुराणों के अध्ययन के लिए विवेक-दृष्टि आवश्यक है। जैसे, आम के मधुर-

रस में बाधा डालनेवाले छिलके व गुठली को सावधानी से अलग कर देना पड़ता है, उसी तरह विवेक की दृष्टि से पुराणों का अध्ययन करना उचित होगा। स्पष्ट है कि समय-समय पर लोकरुचि के आग्रह के कारण पुराणों में पीछे से जो नई-नई बातें जोड़ी गईं, उनका मूलकथाओं से मेल नहीं बैठता। किन्तु कुल मिलाकर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों की रचना उदार-भावना को लेकर ही हुई थी।

पुराणों में तीनों मतों—वैष्णव, शैव एवं शाक्त के समन्वय का खासा अच्छा प्रयत्न किया गया था। कुछ स्थलों को छोड़कर, जो साम्प्रदायिक दुराग्रह से कारण बाद में 'प्रक्षिप्त' हुए होंगे, यह साफ़तौर से कहा गया है कि शिव से विरोध रखनेवाले वैष्णव की, तथा विष्णु के निन्दक शैव या शाक्त की घोर दुर्गति होती है। इतना ही नहीं, पुराणों में वेदों और ईश्वर की सत्ता को न माननेवाले तथागत बुद्ध को तथा जैन-धर्म के आदि प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव को ईश्वर के अवतारों में गिना गया है।

पुराणों की सबसे बड़ी देन है, 'भागवत धर्म'। शुष्क ज्ञान तथा कर्मकाण्ड की नीरसता से बचाकर वैष्णव धर्म की नवधा भक्ति का भारतीय जन-जीवन को पुराणों ने जो नया क्षेत्र प्रदान किया, विश्वबन्धुता और उदारता की जो नई दृष्टि दी, उससे उसका महान् हित-साधन हुआ है। सन्देह नहीं कि इन दोनों ऊँची भावनाओं ने अनेक युगों तक बर्बरता और युद्ध की विभीषिका से जन-जीवन को बचाकर ही नहीं रखा, बल्कि परदुःख कातरता, जीवमात्र के प्रति समान दृष्टि आदि सद्-विचारों को भी एक नया रूप दिया।

पुराण-साहित्य को समझने के लिए उसकी रचना-प्रक्रिया का जानना आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक या तुलनात्मक समीक्षा की दृष्टि से पुराण-साहित्य का अध्ययन करना उसके प्रति न्याय नहीं होगा।

पुराणों की रचना

किसीभी देश, जाति या समाज के प्राचीन साहित्य पर, विशेषतया धार्मिक साहित्य पर इस प्रकार की दृष्टि से बहुत सही विचार नहीं किया जा सकता। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'पुराण-विमर्श' के वक्तव्य में यह सत्य ही कहा है कि "आजकल पुराण की ऐतिहासिक पद्धति से विश्लेषण की प्रथा इतनी जागरूक है कि उससे पुराण एक जीवित शास्त्र न रहकर अजायबघर में रखने की चीज़ बन जाता है। उसके अंग-प्रत्यंग का इतना निर्मम विश्लेषण आज किया जाता है कि उसके मूल में कोई तत्त्व ही शेष नहीं रह जाता।"

पुराण-साहित्य की अपनी एक शैली है। इतिहास, काव्य, उपन्यास, कहानी या तथ्यात्मक साहित्य की भाँति उसपर केवल तर्क या मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करना ठीक नहीं। उसके अध्ययन के लिए जरूरी है

वह उदार दृष्टि, जिसमें पुराकाल की परिस्थितियों और कर्तव्य-सीमाओं के प्रति सहानुभूति हो। इस प्रकार के अध्ययन के समय ही इस बात का पता चल सकता है कि पुराण-महोदधि में कितने तो रत्न हैं और कितनी निरर्थक वस्तुएँ। प्रकृति में परमात्म-तत्त्व के दर्शन की जो प्रेरणा पुराणों से मिलती है, उसीका यह परिणाम है कि हम सूर्य और चन्द्र को केवल ग्रह मानकर संतुष्ट नहीं होते, और न हिमालय और विन्ध्याचल को पाषाण-शिलाओं का एक समूह मानकर ही। इन सबमें देवत्व की प्रतिष्ठा की उदार कल्पना से क्या लाभ होता है, इसे कोई कोरा वैज्ञानिक नहीं बता सकता। इसका विश्लेषण तो वही कर सकता है, जो गंगा, यमुना, सरस्वती, शतद्रु, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि महानदियों में मातृत्व की कल्पना करके भारत राष्ट्र को श्रद्धा-भक्ति से देखता और कहता है—
'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।'

यही क्यों, कूपों और सरोवरों में, वृक्षों और वनस्पतियों में देवत्व की भावना फैलाने में भी पुराणों का यही उद्देश्य रहा है कि ये सब हमारी भू-माता के सुन्दर शृंगार हैं, और इनकी प्रतिष्ठा करकें हम न केवल अपना और अपने पड़ोसियों का ही उपकार कर रहे हैं, वरन् आनेवाली पीढ़ियाँ भी इनसे उपकृत होंगी।

पुराणों का रचना-काल

पुराणों के रचना-काल के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। कुछ पुराण बहुत प्राचीन माने जाते हैं, तो कुछ की प्राचीनता में, बहुत बाद की सामग्री का समावेश होने के कारण, सन्देह किया जाता है। किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि वेदों की रचना के समय भी पुराण नाम से प्रख्यात कोई-न-कोई सामग्री मौजूद थी। वह सामग्री कितनी थी व किन-किन रूपों में थी, इसका कोई स्पष्ट विवरण, पुराणों के सिवाय, अन्यत्र नहीं मिलता। इसलिए यह बताना कठिन है कि उस सामग्री में कालान्तर में कितना परिवर्तन या परिवर्द्धन हुआ और उसमें कितना अंश प्राचीन और मौलिक है। किन्तु फिरभी पुराणों के काल-निर्णय-सम्बन्धी कुछ तथ्य, संक्षेप में, इस प्रकार उपलब्ध हैं :

कुछ विद्वानों का मत यह है कि भागवत, वाराह और विष्णु पुराण १२वीं शताब्दी, ब्रह्मपुराण १४वीं, पद्मपुराण १५वीं तथा १६वीं, और नारदीय-पुराण १६वीं या १७वीं शताब्दी की रचनाएँ हैं। परन्तु १०३१ ई० में लिखी गई अलबेरूनी की भारत सम्बन्धी पुस्तक में १८ महापुराणों और १८ उपपुराणों के जो नाम गिनाये गये हैं, उससे इस मत का खण्डन हो जाता है। इसके अतिरिक्त, महाभारत में अठारहों महापुराणों के पढ़ने और सुनने की फलश्रुति से भी यह सिद्ध होता है कि महाभारत की रचना से पूर्व अठारहों महापुराणों का किसी-न-किसी रूप में अस्तित्व रहा होगा। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक श्री चिन्तामणि वैद्य के अनुसार एक लाख श्लोकों में महाभारत की रचना ईसा की प्रथम शताब्दी के

पहले ही हो चुकी थी। इस परसे, कुछ भी हो, इतना तो कहा ही जा सकता है कि पुराणों को अति आधुनिक मानना सही नहीं है। देवी भागवत के इस श्लोक से यह सिद्ध होता है कि समय-समय पर स्वयं व्यासों ने ही पुराणों का सम्पादन किया था :

अतीतास्तु तथा व्यासाः सप्तविंशतिरेव च ।
पुराणसंहितास्ते तु कथितास्तु युगे-युगे ।। [देवी भा० १।३।३४

कृष्णद्वैपायन व्यास ने पाण्डवों के राज्यकाल में पुराणों का २८वीं बार सम्पादन किया था। इसके पूर्व २७ बार व्यास लोग इनका सम्पादन कर चुके थे। इससे यह मानना चाहिए कि बहुत प्राचीन काल से ही पुराणों में पाठान्तर तथा नई कथाएँ जोड़ने की परम्परा चली आ रही थी, और अति आधुनिक कालतक वही परम्परा बिना किसी बाधा के चलती रही है। अतः कोई विशेष नियन्त्रण न होने के कारण कुछ पुराणों में जहाँ-तहाँ क्षेपकों का होना असम्भव नहीं है। व्यासों और सूतों ने ही नहीं, लिपिकारों ने भी जहाँ-तहाँ परिवर्तन आदि किये होंगे। पर ऐसा सभी पुराणों में नहीं किया गया। भागवत की भाँति जिन पुराणों का किसी विशेष सम्प्रदाय से सम्बन्ध था, उनमें इस तरह के क्षेपक या परिवर्तन की गुंजाइश बहुत कम थी।

स्पष्ट है कि कथावाचकों और सूतों ने अपने-अपने राजाओं के वंशों के वर्णन में नियन्त्रण नहीं रखा। परिणाम यह हुआ कि पुराणों में दी गई वंशावलियों में परस्पर मतभेद पैदा हो गये, जिससे किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन हो गया है। बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित 'भविष्य पुराण' को देखकर तो यही मानना पड़ता है कि इन ग्रन्थों में काफी गोलमाल हुआ है। अकबर के वर्णन से ही सन्तोष नहीं किया गया, महारानी विक्टोरिया का उल्लेख करना भी आवश्यक मालूम हुआ। परन्तु इस प्रकार के क्षेपकों से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि भविष्य पुराण अति आधुनिक रचना है। भविष्य पुराण का नाम 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' में भी आया है, जिसका रचनाकाल डॉ० बुह्लर के मतानुसार ३०० वर्ष ईसापूर्व है। कुछ ऐसीही बात दूसरे पुराणों की भी है।

महापुराण तथा उपपुराण

महापुराणों की संख्या १८ है। इनके क्रम के सम्बन्ध में यद्यपि एकमत नहीं है, तोभी नीचे दिया गया क्रम प्रायः बहुसम्मत कहा जा सकता है :

१ ब्रह्म	७ मार्कण्डेय	१३ स्कन्द
२ पद्म	८ अग्नि	१४ वामन
३ विष्णु	९ भविष्य	१५ कूर्म
४ शिव (अथवा वायु)	१० ब्रह्मवैवर्त	१६ मत्स्य
५ श्रीमद्भागवत	११ लिंग	१७ गरुड
६ नारद	१२ वराह	१८ ब्रह्माण्ड

इन अठारहों महापुराणों के श्लोकों की संख्या लगभग ३,६५,१०० होती है।

१८ उपपुराण भी गिनाये गये हैं। प्रसिद्ध है कि कृष्णद्वैपायन द्वारा २८वीं बार पुराण-संहिता के सम्पादन के बाद जो पुराण रचे गये, उन्हें उपपुराण का नाम दिया गया। वे ये हैं :

१ भागवत	७ नन्दकेश्वर	१३ कापिल
२ माहेश्वर	८ साम्ब	१४ दुर्वासस्
३ ब्रह्माण्ड	९ कालिका	१५ शिवधर्म
४ आदित्य	१० वरुण	१६ वृहन्नारदीय
५ पाराशर	११ उपनस्	१७ नारसिंह
६ सौर	१२ मानव	१८ सनत्कुमार

इन उपपुराणों में से कई अप्राप्त हैं, कई खण्डित हैं।

इन उपपुराणों के अतिरिक्त महाभारत का खिल पर्व हरिवंश पुराण कहा जाता है।

फिर १८ औपपुराण या अतिपुराण भी कहे जाते हैं, जिनके नाम ये हैं :

१ कार्तव	७ सूर्य	१३ भार्गव
२ ऋजु	८ परमानन्द	१४ वाशिष्ठ
३ आदि	९ बृहद्धर्म	१५ कौर्म
४ मुद्गल	१० महाभागवत	१६ गर्ग
५ पशुपति	११ देवी	१७ चण्डी
६ गणेश	१२ कल्कि	१८ लक्ष्मी

इनमें से भी कई दुष्प्राप्य और खण्डित हैं। ये सभी परवर्ती काल की रचनाएँ हैं। इनमें से कुछ अच्छी मनोहर शैली में लिखे गये हैं, और उनमें इतिहास, धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र की भी अच्छी सामग्री मिलती है।

जैनों और बौद्धों के भी पुराण ग्रन्थ इन्हीं पुराणों की शैली पर रचे गये हैं। इनके बारे में इतिहासकारों का कहना है कि ये ईसा की ६वीं व ७वीं शताब्दी में रचे गये थे। जैनों के २४ तीर्थंकरों के नाम पर २४ पुराण हैं, जो सब संस्कृत भाषा में हैं।

नैपाली बौद्धों में जिन ९ पुराणों का प्रचलन है, वे नवधर्म के नाम से प्रख्यात हैं। इनमें भी पुरानी कथाओं, इतिहास, जीवनचरित, व्रत आदि का वर्णन है।

पुराणों की रचना बहुधा सरल संस्कृत के गेय छन्दों में हुई है। कुछ पुराणों में भागवत की भाँति उत्कृष्ट पद्य व गद्य की रचना-शैली भी मिलती है,

पर अधिक मात्रा में नहीं। सर्वसाधारण में अधिक-से-अधिक लोकप्रिय हो सके, इसी उद्देश्य से इनमें, पुनरुक्तियों की चिन्ता न कर, प्रत्येक विषय को सुन्दर ढंग से रखा गया है। इनकी कथाओं का आरम्भ प्रायः मनोवैज्ञानिक ढंग से होता है, और कहीं बहुत थोड़े में, तो कहीं बहुत विस्तार के साथ किसी-न-किसी आदर्श या उद्देश्य की स्थापना में उनकी समाप्ति होती है। बहुत सारी कथाओं में असम्भव और अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पनाएँ भी की गई हैं। किन्तु अनेक कथाओं की रोचकता का निर्वाह बहुत करके कुशलतापूर्वक किया गया है।

कई पुराणों में कुछ कथाएँ विविध रूपों में प्रस्तुत की गई हैं। वंशावली का वर्णन भी कहीं-कहीं भिन्न-भिन्न है। यही नहीं, सैकड़ों ऐसीभी कथाएँ हैं, जो महाभारत में भी हैं। कुछ ऐसीभी कथाओं का विस्तृत वर्णन पुराणों में आया है, जिनका मूल वेदों में पाया जाता है। कहीं उनमें समानता है, तो कहीं कुछ अन्तर है। पुराणों में माहात्म्य-साहित्य की बहुलता है। तीर्थों, व्रतों, दानों आदि के माहात्म्य के साथ पुराणों की फलश्रुति का भी माहात्म्य बताया गया है। लोक-रुचि को जगाने के विचार से ही शायद ऐसा किया गया है। किन्तु सूतों का हाथ भी इसके मूल में देखने में आता है।

प्रत्येक महापुराण का विवरण बहुत संक्षेप में नीचे दिया जाता है :

ब्रह्मपुराण

इसे 'आदि ब्रह्मपुराण' भी कहते हैं। यह पुराण बम्बई, पूना और कलकत्ता के कई संस्करणों में मिलता है। शिवपुराण, भागवत, नारदपुराण, देवी भागवत और ब्रह्मवैवर्त की पुराण-सूची के अनुसार इसकी श्लोक-संख्या एक लाख होनी चाहिए। मत्स्य पुराण इसके श्लोकों की संख्या १३,००० बतलाता है। पर आज जो संस्करण इसके मिलते हैं, उनमें श्लोकों की संख्या १३,७८३ है। अनुमान है कि इसके ७८३ श्लोक मत्स्य पुराण की रचना के बाद बढ़ाये गये होंगे। पुराणों पर शोध करनेवाले कुछ विद्वानों का अनुमान है कि ११वीं या १२वीं शताब्दी में दाक्षिणात्य सूतों ने इसमें अनेक माहात्म्य-प्रकरण बढ़ा दिये हैं।

ब्रह्मपुराण का रचनाकाल १२वीं शताब्दी से पूर्व का जान पड़ता है, क्योंकि बल्लालसेनकृत 'दानसागर' ग्रन्थ में तथा उसीके आस-पास रचे गये 'ब्राह्मणसर्वस्व' एवं 'हेमाद्रि' में भी इसके अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। यही नहीं, इसकी अधिक प्राचीनता का एक प्रमाण और भी है। ब्रह्मपुराण में भुवनेश्वर क्षेत्र के अनन्तवासुदेव का माहात्म्य मिलता है। भुवनेश्वर का प्रख्यात अनन्त-वासुदेव-मन्दिर ११वीं शताब्दी में भवदेव भट्ट ने बनवाया था। ब्रह्मपुराण में इस मंदिर का उल्लेख नहीं किया गया है। यदि ११वीं शताब्दी के बाद इसकी रचना हुई होती, तो इस मन्दिर के सम्बन्ध में भी कुछ वर्णन अवश्य किया गया होता।

ब्रह्मपुराण के अनेक श्लोक महाभारत में भी पाये जाते हैं। या तो महाभारत से ये श्लोक ब्रह्मपुराण में लिये गये हैं, या ब्रह्मपुराण से महाभारत में लिये गये हैं। तब ब्रह्मपुराण की रचना महाभारत की रचना के पूर्व की भी हो सकती है। महाभारत का रचना-काल ईसा से ५०० वर्ष पूर्व का बहुधा माना जाता है। इस हिसाब से ब्रह्मपुराण की रचना ईसा से ५०० वर्ष पूर्व से भी पुरानी हो सकती है। ब्रह्मपुराण की कथाशैली और भाषा भी सभी पुराणों की शैली और भाषा से कुछ पृथक्-सी मालूम देती है। उसमें 'आर्ष' प्रयोग और वैदिक उपाख्यानों की अधिकता से यह निश्चित होता है कि पुराणों में यह सबसे अधिक प्राचीन है।

श्रीकृष्ण-चरित का वर्णन इस पुराण में विस्तारपूर्वक किया गया है। सूर्योपासना के महत्व को भी इसमें दिखाया गया है। सांख्ययोग का भी इस पुराण में अच्छा विश्लेषण किया गया है।

पद्मपुराण

रचना-काल के विचार से पद्मपुराण का स्थान दूसरा है। मत्स्य, नारद, भागवत, देवी भागवत और शिवपुराण के अनुसार इसमें ५५००० श्लोक होने चाहिए, किन्तु ब्रह्मवैवर्तपुराण इसके श्लोकों की संख्या ५९००० बतलाता है। आज जो पद्मपुराण मिलता है, उसकी श्लोक-संख्या ४८,४५२ है। सम्भव है कि कालान्तर में उसके कुछ अंश नष्ट हो गये हों, अथवा उनको उपपुराण या अतिपुराण के रूप में फिर से रख दिया गया हो।

इस पुराण में पाँच खण्ड हैं—सृष्टिखण्ड, भूमिखण्ड, स्वर्गखण्ड, पातालखण्ड और उत्तरखण्ड।

पद्मपुराण भी प्राचीन पुराण माना जाता है। इसके कुछ बचनों का उद्धरण 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' में किया गया है। किन्तु साथही इस पुराण में क्षेपक भी काफ़ी हैं। इसमें वर्णित तीर्थों व व्रतों के माहात्म्यों की अतिशयोक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि परवर्ती काल में इस पुराण पर सूतों और बन्दीजनों की कृपा बहुत अधिक रही। इसकी भाषा और शैली ब्रह्मपुराण की भाषा और शैली से कुछ सुधरी हुई तथा लोकरुचि के अनुकूल है।

पद्मपुराण में विष्णु-भक्ति का बड़ा अच्छा प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए वैष्णव सम्प्रदायों में इस पुराण को बहुत अधिक आदर मिला है।

विष्णुपुराण

इस पुराण का स्थान तीसरा ठहरता है। ब्रह्मवैवर्त, मत्स्य, देवी भागवत, नारद और शिवपुराण के मतानुसार इसकी श्लोक-संख्या २३,००० है। कुछ लोग इसके श्लोकों की संख्या १०,००० बताते हैं, और कुछ केवल २००० ही।

प्रो० विल्सन इसके श्लोकों की संख्या ७००० बतलाते हैं। श्रीधर स्वामी, जिन्होंने भागवत की सुप्रसिद्ध टीका 'श्रीधरी' लिखी है, इसकी श्लोक-संख्या

६,००० अनुमान करते हैं। 'विष्णु-धर्मोत्तर' नामक अंश इस पुराण का उत्तर-खण्ड जान पड़ता है। अलबेरुनी का तथा नारदपुराण का भी यही मत है।

विष्णुपुराण की जो प्रति मिलती है, उसमें यदि 'विष्णु धर्मोत्तर' को मिला दिया जाय, तो इसके श्लोकों की संख्या १६,००० हो जाती है। विष्णु-धर्मोत्तर का वर्तमान रूप खण्डित जान पड़ता है, क्योंकि उसके उपलब्ध क्रम में श्रृंखला की कड़ी टूटी हुई मालूम देती है।

विष्णु पुराण की भाषा, शैली, कथावस्तु व साहित्यिक रूप सभी पुराणों से कुछ-न-कुछ अलग हैं। अतः इसकी अति प्राचीनता में संदेह नहीं किया जा सकता।

इसमें गद्य और पद्य दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं। दोनों में ही भाषा-संस्कार और रस-परिपाक भी खूब हुआ है। प्रो० विल्सन विष्णुपुराण के बड़े प्रशंसक हैं। उन्होंने स्वयं इसका अंग्रेजी अनुवाद भी किया है।

विष्णुपुराण में ६ अंश अर्थात खण्ड हैं। दूसरे अंश में तत्कालीन भूगोल का विशद वर्णन आया है। तीसरे अंश में वैदिक शाखाओं पर विशेष प्रकाश डाला गया है। कृष्ण के चरित का भी इस पुराण में बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है।

शिवपुराण का, रचनाकाल की दृष्टि से, चौथा स्थान है। किन्तु मत्स्य, नारद और देवी भागवत में चतुर्थ स्थान पर शिव और वायु दोनों पुराणों का नामोल्लेख आया है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि इसका असली नाम वायुपुराण ही है। इसमें मुख्यरूप से शिव-

शिवपुराण

तत्त्व की व्याख्या और प्रतिष्ठा होने के कारण इसका नाम शिवपुराण भी पड़ गया होगा। इस मत के विपरीत, विष्णु, पद्म, मार्कण्डेय, कूर्म, वराह, भागवत और स्कन्द, इन पुराणों में शिवपुराण का ही उल्लेख किया गया है, वायुपुराण का नहीं। पर गहराई से विचार करने पर मालूम पड़ता है कि प्राचीन काल में ये दोनों पुराण एकही रहे होंगे, क्योंकि दोनों के जो वर्तमान रूप मिलते हैं, उनमें बहुतेरे श्लोक समान हैं, यद्यपि कहीं-कहीं पर भेद भी दिखाई पड़ता है।

देवी भागवत के अनुसार शिवपुराण के श्लोकों की संख्या १०,६०० और शिव, नारद, भागवत, मत्स्य तथा ब्रह्मवैवर्त के अनुसार २४,००० होनी चाहिए। पर आज जो शिवपुराण उपलब्ध है, उसके श्लोकों की संख्या १२,००० है। उसमें कुछ ऐसी संहिताएँ आई हैं, जिनके श्लोकों की संख्या जोड़ने पर २४,००० श्लोकोंवाली संख्या सही मालूम पड़ती है।

शिवपुराण वायुपुराण से प्राचीन है, इसमें सन्देह नहीं। कादम्बरीकार बाणभट्ट ने, जो ईसा की सातवीं शताब्दी में मौजूद था, वायुपुराण का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। महाकवि कालिदास रचित 'कुमारसंभव' की कथा भी

वायुपुराण से ली गई है। प्रो० विल्सन इसे सैकड़ों वर्ष ईसापूर्व की रचना मानते हैं।

शिवपुराण में ४ पाद हैं, अर्थात् खण्ड। भूगोल व खगोल का वर्णन इस पुराण में खासा अच्छा मिलता है। वैदिक शाखाओं का भी इस पुराण में वर्णन आया है। शिवपुराण में वर्णित 'पाशुपत योग' अपना विशेष महत्त्व रखता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में "यह अंश प्राचीन योगशास्त्र का स्वरूप जानने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।"[1]

रचना-काल के क्रम से भागवत का पाँचवा स्थान है। किन्तु सभी पुराणों में लोकप्रियता, उत्तम कथावस्तु, साहित्यिक सौन्दर्य तथा आध्यात्मिक प्रेरणा के लिए भागवत का पुराणों में सबसे ऊँचा स्थान है। अब-तक इसकी अनेक व्याख्याएँ व टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। प्रसिद्ध है कि **'विद्यावतां भागवते परीक्षा'** अर्थात् विद्वानों की परीक्षा भागवत के अर्थ को स्पष्ट करने में होती है। इसकी वर्णन-शैली और भाषा-सौष्ठव में अद्-भुत चमत्कार देखने में आता है। इसके गद्य व पद्य दोनों में ही काव्य के गुण कूट-कूटकर भरे हुए हैं। कथा का क्रम बहुत ललित और मनोरम ढंग से चलता है।

श्रीमद्भागवत

शिवपुराण, देवी भागवत, ब्रह्मवैवर्त, नारद और मत्स्यपुराण के अनुसार भागवत पुराण की श्लोक-संख्या १८,००० है। इसके वर्तमान संस्करणों के श्लोकों की संख्या १८,००० पाई भी जाती है। मुख्य कारण इसका यह है कि सैकड़ों वर्षो से यह प्रसिद्ध ग्रन्थ धार्मिक जनता का, विशेषकरके वैष्णवों का कण्ठहार रहा है। किसीभी मूल्य पर इसका अंग-भंग नहीं होने दिया गया। इसकी मौलिकता सुरक्षित रखने में इसकी प्राचीन प्रख्यात टीकाओं ने भी बड़ा काम किया है। दूसरे पुराणों को ऐसा संयोग नहीं मिला। पर कुछ विचित्र बातें भी भागवत के सम्बन्ध में पाई जाती हैं। नारद, ब्रह्मवैवर्त, श्रीधर स्वामी, मिताक्षरा के टीका-कार आदि के मतों से इसकी गणना अठारह महापुराणों के अन्तर्गत की जाती है, किन्तु शिव, मत्स्य, कालिका, भागवत-कथासंग्रह आदि के अनुसार देवी भागवत ही महापुराण है, श्रीमद्भागवत नहीं। इस सम्बन्ध में एक दूसरे के विरोधी तर्क उपस्थित किये गये हैं।

भागवत में राधा के नाम का उल्लेख नहीं है, जो परवर्ती कृष्ण-काव्य की आधार-भूमि है। उसमें भद्रकाली का माहात्म्य है, जबकि देवी भागवत में राधा की सारी कथा बड़ी रोचकता के साथ वर्णन की गई है। भागवत में जहाँ दार्श-निक भावों की प्रधानता है, वहाँ देवी भागवत में तान्त्रिक भावों की बहुलता है। उसकी इसी तान्त्रिक भावना के कारण उसे कुछ लोग अर्वाचीन मानते हैं। परन्तु

---

१ पुराण-विमर्श, पृष्ठ १४५।

तन्त्र की पद्धति बहुत नई नहीं है। भाषा और वस्तु-विन्यास की दृष्टि से उसमें भागवत की अपेक्षा कुछ नवीनता अवश्य पाई जाती है। जहाँ भागवत की भाषा अत्यन्त परिष्कृत, पाण्डित्यपूर्ण, अर्थ-गाम्भीर्य से युक्त और पद-पद पर समास-बहुला है, वहाँ देवी भागवत की भाषा दूसरे पुराणों की भाँति सामान्यतया सरल और सुगम है। उसके छन्दों में भी भागवत की भाँति विविधता नहीं है। किन्तु महापुराणों के अन्तर्गत गिना जानेवाला श्रीमद्भागवत है या देवी भागवत, इसका निर्णय करना एक कठिन समस्या है। कुछ लोगों की धारणा है कि जब देश में शाक्तों और वैष्णवों का प्रभाव अधिक बढ़ा, और दोनों में प्रतिस्पर्द्धा की भावना पैदा हुई, तब भागवत पुराण के नाम से, जो पंचमपुराण अपने मूलरूप में था, दोनों सम्प्रदायों ने अपने-अपने मत के अनुकूल संकलित और सम्पादित किया होगा। इस धारणा में सिवा तर्क की संगति के, इन दोनों पुराणों की शैली और रचना-पद्धति की समानता भी कारण हो सकती है। कुछ भी हो, भागवत की गणना महापुराणों में हो या न हो, उसकी प्रतिष्ठा सभी पुराणों से बहुत अधिक है। किसी अंश में तो वाल्मीकि-रामायण और महाभारत से भी बढ़कर भारत में भागवत का प्रचार और आदर है।

नारदपुराण

यह छठे पुराण के नाम से विख्यात है। इसे 'नारदीयपुराण' भी कहते हैं। भागवत, देवी भागवत, मत्स्य, ब्रह्मवैवर्त और स्वयं नारदीय पुराण के मतानुसार इसमें २५,००० श्लोक होने चाहिए। किन्तु आज जो नारद-पुराण मिलता है, उसमें २२,००० श्लोक हैं। पूर्व और उत्तर भाग के नाम से इसके दो खण्ड हैं। उत्तर खण्ड में ३००० श्लोकों को ही कुछ लोग मूल 'नारद पुराण' मानते हैं। नारद पुराण के कुछ प्रसंगों का उल्लेख ११वीं शताब्दी में मौजूद अलबेरूनी तथा १२वीं शताब्दी में बल्लालसेन ने भी किया है। किन्तु डॉ० विल्सन ने इस पुराण को १६वीं शताब्दी की रचना माना है। पुराणों के सभी लक्षण इसमें पूरे घटित होते हैं। अन्य पुराणों की अपेक्षा इसमें क्षेपक अंश भी कम देखने में आता है, परन्तु लिपिकारों की असावधानी से कुछ-न-कुछ परिवर्तन इस पुराण में भी हुए हैं। विष्णु-भक्ति का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन नारदपुराण में मिलता है। इतिहास की दृष्टि से भी इस पुराण का अपना विशेष महत्त्व है।

मार्कण्डेयपुराण

इसका स्थान सातवाँ माना जाता है। भागवत, देवी भागवत, शिवपुराण, नारदीयपुराण, ब्रह्मवैवर्त तथा मत्स्यपुराण के अनुसार इसके श्लोकों की संख्या ९००० होनी चाहिए। किन्तु उपलब्ध मार्कण्डेयपुराण की श्लोक-संख्या ६,९०० है। नारदीयपुराण में इसके दो खण्ड होने का उल्लेख मिलता है। सम्भव है कि शेष २,१०० श्लोक उसी खण्ड में हों, जो इस समय उपलब्ध नहीं है। शंकराचार्य तथा सुकवि मयूर और वाण

ने मार्कण्डेय पुराण के वचनों को उद्धृत किया है। 'दुर्गासप्तशती' इसी महापुराण का एक छोटा-सा अंश है, जिसे शाक्त लोग अपना पूज्य ग्रन्थ मानते हैं। पर इस पुराण में साम्प्रदायिक विचार को कोई आदर नहीं दिया गया है। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों से इस पुराण को अच्छा सम्मान मिला है। पार्जिटर महोदय ने तो इसका अंग्रेजी अनुवाद भी किया है।

अग्निपुराण

इसका आठवाँ स्थान माना गया है। मत्स्य, देवी भागवत और शिव-पुराण के मतानुसार इसके श्लोकों की संख्या १६,००० होनी चाहिए। ब्रह्मवैवर्त और भागवत में २,५८०० श्लोकों का उल्लेख है। परन्तु प्राप्त अग्निपुराण के श्लोकों की संख्या १५००० के लगभग है। अग्निपुराण में वेद-वेदांगों का विस्तृत परिचय दिया गया है। इसके पहले अध्याय में ही वैदिक मंत्र द्वारा अग्नि की महिमा बताई गई है। अद्वैत वेदान्त का भी निचोड़ इस पुराण में देखा जा सकता है। नाट्य-शास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष आदि की भी इसमें चर्चा है। पर जो संस्करण आज प्राप्य है, उसमें प्रक्षिप्त अंश स्पष्ट मालूम देते हैं। शास्त्रीय विवेचन और परिचय की दृष्टि से इस पुराण का अधिक महत्व है, इसीलिए यह कहा गया है कि :

'आग्नेयेहि पुराणेऽस्मिन् सर्वाः विद्याः प्रदर्शिताः।'

भविष्यपुराण

इसे कालक्रम से नवाँ स्थान दिया जाता है। नारदपुराण के अनुसार इसमें १४,००० श्लोक होने चाहिए। किन्तु शिव, मत्स्य, ब्रह्मवैवर्त, भागवत और देवी भागवत के अनुसार इसमें १४,५०० श्लोक हैं। उपलब्ध भविष्य पुराण के श्लोकों की संख्या भी लगभग इतनी ही है। आज चार प्रकार के भविष्य पुराण मिलते हैं। इनमें से कौन-सा प्राचीन है और कौन-सा नवीन इसका निर्णय करना कठिन हो गया है। किन्तु भविष्यविषयक बातों का वर्णन सभी भविष्य पुराणों में है। तांत्रिक विषयों की चर्चा भी सबमें समान ही है। भविष्य पुराण में क्षेपकों की भरमार है। लिपिकारों के अलावा प्रेसवालों ने भी जी खोलकर इस पुराण का स्तुति-गान किया है!

ब्रह्मवैवर्त

यह दसवाँ पुराण माना जाता है। मत्स्य, भागवत, नारदीय, शिवपुराण और देवी भागवत के अनुसार इसमें १८००० श्लोक होने चाहिए। पर जो ब्रह्मवैवर्त पुराण आज मिलता है, उसकी श्लोक-संख्या इतनी नहीं है। साथ ही, विभिन्न पुराणों में इस पुराण के सम्बन्ध में जो वर्ण्य विषय बताये गये हैं, वे भी वर्तमान संस्करण में नहीं मिलते। तांत्रिक विषयों का इसमें अधिक वर्णन है। विभिन्न जातियों की उत्पत्ति का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। कृष्ण-काव्य की प्रमुख आराध्या राधा का भी इस पुराण में वर्णन आया है। कृष्णोपासक वैष्णवों में इसी कारण यह पुराण बहुत लोकप्रिय है।

काल-क्रम के अनुसार इसका ग्यारहवाँ स्थान माना गया है। अन्य पुराणों के अनुसार इसके श्लोकों की संख्या ११,००० है। किन्तु जो लिंगपुराण आज

लिंगपुराण

मिलता है, उसमें इतने श्लोक नहीं हैं। असल में लिंगपुराण एक कर्मकाण्ड का ग्रन्थ है। पुराणों की श्रेणी में गणना किये जाने के कारण इसमें कुछ कथाएँ बाद में जोड़ी हुई जान पड़ती हैं। इसमें अग्निलिंग के मध्यस्थ होकर शिव ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश किया है। शिव के १८ अवतारों का इस पुराण में उल्लेख किया गया है। पर इसमें आधुनिक विषयों की अधिकता है। कुछ स्थलों पर विष्णु के निन्दात्मक वचन भी इसमें रख दिये गये हैं।

इस पुराण का स्थान बारहवाँ है। इसके श्लोकों की संख्या दूसरे पुराणों में दी गई अनुक्रमणी के अनुसार २४,००० होनी चाहिए। किन्तु इसके पूर्वार्द्ध

वराहपुराण

के रूप में एकही खण्ड आज मिलता है, जिसकी श्लोक-संख्या १०,५०० है। उत्तरार्द्ध, हस्तलिखित रूप में, कहीं-कहीं पाया जाता है। पर उसके श्लोकों की संख्या का निश्चित पता नहीं लग सका है। सम्भव है, उत्तरार्द्ध के श्लोकों को मिलाकर २४,००० की संख्या पूरी हो जाय। लिंगपुराण की भाँति वराहपुराण भी एक कर्मकाण्ड विषय का ग्रन्थ है। इसकी रचना १२वीं शताब्दी के आसपास की मालूम पड़ती है। इस पर रामानुजीय वैष्णव सम्प्रदाय की छाप स्पष्ट है। सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध होने के कारण इसमें क्षेपक कम हुए हैं। दूसरे पुराणों में इसमें वर्णित विषयों की जो अनुक्रमणी दी गई है, वह लगभग पूरी-की-पूरी मिल जाती है।

वराहपुराण में नचिकेता का उपाख्यान विस्तृत रूप में आया है, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर कठोपनिषद् से वह भिन्न है।

यह तेरहवाँ पुराण माना जाता है। ब्रह्मवैवर्त, नारदीय तथा देवी भागवत में इसके श्लोकों की संख्या ८१,००० बताई गई है। भागवत और मत्स्यपुराण इसकी

स्कन्दपुराण

श्लोक-संख्या ८१,१०० बताते हैं। शिवपुराण में ८४,००० श्लोक होने का उल्लेख है। स्कन्दपुराण में ६ संहिताएँ हैं—सनत्कुमार, सूत, शंकर, वैष्णव, ब्राह्म तथा सौर। इनमें सूतसंहिता शिवोपासना की दृष्टि से विशेषतौर पर उल्लेखनीय है। दूसरे प्रकार से इसे इन सात खण्डों में विभक्त किया गया है—माहेश्वर, वैष्णव, ब्रह्म, काशी, रेवा, तापी और प्रभास। इन तेरह भागों में एक लाख के लगभग श्लोक मिलते हैं। इस पुराण में कुछ आधुनिक विषयों की भी चर्चा की गई है। यद्यपि मूल रूप में इसके अस्तित्व की सूचना ७वीं शताब्दी में भी प्राप्त होती है, तोभी इसमें १५ वीं, १६वीं शताब्दी तक साम्प्रदायिकों द्वारा परिवर्तन और परिवर्द्धन हुए हैं। उनके ऐसे अर्वाचीन विषयों का इसमें समावेश किया गया है, जिन्हें देखते हुए यह

कहना पड़ता है कि कुछ कालतक अनेक सम्प्रदायों के अनुयायियों की कृपादृष्टि इस महापुराण पर रही है ! इसके 'वृहदाकार' का कारण भी शायद यही हो।

वामनपुराण

इसकी गणना चौदहवें स्थान पर की जाती है। दूसरे पुराणों के मतानुसार इसके श्लोकों की संख्या १०,००० होनी चाहिए। पर यह सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। अबतक इसका पूर्व भाग ही प्रकाश में आया है। परन्तु अनेक प्रमाणों से यह पुराण १५वीं और १६वीं शताब्दी की रचना मालूम होता है। ऋग्वेद में वर्णित 'त्रिविक्रम' के प्रतीक को इसमें लौकिक कथा का रूप दिया गया है। साथ ही, नारदीय पुराण में आये हुए विषयों की जो सूची इसमें दी गई है, वह भी सही मालूम होती है। इस पुराण में तीर्थों, व्रतों आदि के माहात्म्य के रूप में अनेक छोटी-मोटी पुस्तकों का समावेश हुआ है।

कूर्मपुराण

यह पन्द्रहवाँ पुराण कहा जाता है। शिव, नारदीय, ब्रह्मवैवर्त, देवीभागवत और श्रीमद्भागवत के अनुसार इसके श्लोकों की संख्या १७००० तथा मत्स्यपुराण के अनुसार १८००० होनी चाहिए। किन्तु कूर्मपुराण का जो संस्करण आज मिलता है, उसमें केवल ६००० ही श्लोक हैं। इसमें कूर्मावतार की कथा का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। तंत्रशास्त्र का भी इसमें उल्लेख है। जान पड़ता है कि या तो तांत्रिकों ने इसमें क्षेपक रख दिये हैं या फिर इसकी रचना तांत्रिक काल के बाद हुई है। इसमें ब्राह्मी, भागवती, सौरी और वैष्णवी ये चार संहिताएँ हैं। मत्स्य और नारदीय पुराण में इसकी जो अनुक्रमणी दी गई है, वह भी ठीक बैठती है।

मत्स्यपुराण

यह पुराण सोलहवाँ कहा जाता है। रचना-कौशल और वस्तु-विन्यास की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण पुराण है। नारदीय पुराण के अनुसार इसकी श्लोक-संख्या १५,००० होनी चाहिए, जो प्राप्त संस्करण में मिलती हैं। किन्तु स्वयं मत्स्यपुराण के अनुसार इसके श्लोकों की संख्या २०,००० होनी चाहिए। इस पुराण में भी दान, यज्ञ, तप, तीर्थ व्रत आदि के माहात्म्य का विस्तृत वर्णन है। राजवंशावलियों के साथ ऋषियों की भी वंशावली इसमें दी गई है। इस पुराण की रचना अधिसीम कृष्ण के शासन-काल में हुई, जो कलियुग के आदिम राजाओं में से था। आधुनिक विषयों की अधिक चर्चा होने के कारण मालूम होता है कि सूतों और मागधों ने इस पुराण में भी क्षेपक जोड़े हैं।

गरुडपुराण

यह सत्रहवाँ पुराण कहा गया है। बहुधा इस पुराण के उत्तर खण्ड का वाचन मरणाशौच के दिनों में कराया जाता है। कारण यह है कि इस पुराण में पारलौकिक बातों की अधिकता है। मत्स्यपुराण के अनुसार इसमें १७,००० और अन्य पुराणों के अनुसार १९,००० श्लोक होने चाहिए। पर आजकल इसका जो संस्करण प्रचलित है,

उसके श्लोकों की संख्या ११,००० के लगभग है। दूसरे पुराणों में इसकी जो अनुक्रमणी दी गई है, वह यथाक्रम इसमें मिलती है। गरुड पुराण में इस बात का उल्लेख आया है, कि इसकी रचना या संकलन राजा परीक्षित के पुत्र जनमेजय के समय में हुआ था। इस पुराण में भी क्षेपक जोड़े गये हैं। यों तान्त्रिकों का प्रभाव इसमें नहीं दीख पड़ता है, तो भी दानादि तथा तीर्थ-व्रतों को बहुत अधिक महत्त्व देनेवाले लोगों का हाथ मालूम होता है।

ब्रह्माण्डपुराण

यह पुराण अठारहवाँ कहा जाता है। नारदीय, ब्रह्मवैवर्त और भागवत के अनुसार इसमें १२,०० श्लोक होने चाहिए। प्राप्त ब्रह्माण्डपुराण के श्लोकों की संख्या भी लगभग इतनी ही है। इस पुराण के भी चार भाग या पाठ हैं, जिनके नाम हैं—प्रक्रिया, अनुपंग, उपोद्घात और उपसंहार। इसकी रचना-शैली और भाषा यद्यपि प्राचीन जान पड़ती है, फिरभी कुछ नये विषय भी इसमें घुले-मिले मालूम देते हैं। इस पुराण में इस बात की चर्चा आई है कि अधिसीम कृष्ण के समय में इसका संकलन या सम्पादन हुआ था। अधिसीम कृष्ण के पश्चात् होनेवाले राजाओं का इसमें कहीं उल्लेख भी नहीं किया गया है।

मत्स्यपुराण के ५३वें अध्याय में, ७३ श्लोकों में, पुराणों की संख्या और उनका विवरण दिया गया है।

नारदीय पुराण के चौथे पाद के ९२वें अध्याय में भी अठारह पुराणों के विभिन्न विषयों की विस्तारपूर्वक अनुक्रमणी दी गई है।

अठारहों महापुराणों का यही संक्षिप्त परिचय है।

अध्याय–८

स्मृतियाँ : धर्मशास्त्र

[वियोगी हरि]

सामान्य परिचय

स्मृति से छहों वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष और निरुक्त) धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण और नीति के सभी ग्रन्थ समझे जाते हैं। स्मृति शब्द का यह व्यापक प्रयोग है। परन्तु विशिष्ट अर्थ में स्मृति शब्द से धर्मशास्त्र के उन्हीं ग्रन्थों का बोध होता है, जिनमें प्रजा के लिए उचित आचार-व्यवहार की व्यवस्था और समाज के शासन के निमित्त नीति और सदाचार सम्बन्धी नियम स्पष्टतापूर्वक दिये रहते हैं।[1]

स्मृति की एक अन्य प्रकार से भी व्याख्या की जाती है— यह कि बड़े-बड़े ऋषियों ने वेदों का आशय या चिन्तन करते हुए जिन ग्रन्थों की रचना की, उनको स्मृति कहा जाता है—**'महर्षिभिर्वेदार्थचिन्तनम् स्मृतिः'**

श्रुति और स्मृति इन दोनों शब्दों का बहुधा साथ-साथ प्रयोग होता है। श्रुति से जहाँ वैदिक संहिताओं का अर्थ लिया जाता है, तहाँ स्मृति का अर्थ किया गया है 'धर्मशास्त्र'।

स्मृतियों में मनुस्मृति को मुख्य स्थान दिया गया है। प्राचीन ग्रन्थों में जहाँ मानवधर्म-शास्त्र के उद्धरण आये हैं, वे सूत्ररूप में हैं। यह सूत्राकार मानवधर्म-शास्त्र अभीतक उपलब्ध नहीं है। कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा की एक उपशाखा मानवधर्मसूत्र को भी मनुस्मृति का मूल कतिपय विद्वान् मानते हैं। मनुस्मृति का रचना-काल २०० ई० पू० से ३०० ई० तक माना जाता है। कुछ अंश तो इसके बहुत प्राचीन हैं, और कुछ अंश बाद में जोड़े गये मालूम होते हैं। मानव-धर्मशास्त्र अन्य स्मृतियों का भी आधार माना जाता है, क्योंकि ये सभी बाद की रचनाएँ हैं।

मनुस्मृति में बारह अध्याय हैं। इनमें सैकड़ों विषयों का उल्लेख तथा विवेचन किया गया है। अध्यायवार, अत्यन्त संक्षेप में, यहाँ हम विषय-निर्देश दे रहे हैं:

---

१ **रामदास गौड़—हिंदुत्व, पृष्ठ ४४६**

पहला अध्याय

जगत् की उत्पत्ति, ब्रह्म-स्वरूप, स्वर्ग और भूमि की सृष्टि, तीन वेद, धर्म और अधर्म में विवेक, महाप्रलय, मन्वन्तर, युग-युग में धर्म की विलक्षणता, चारों वर्णों के कर्म, आचार आदि ।

दूसरा अध्याय

धर्म का सामान्य लक्षण, धर्म का मूल वेद, श्रुति-स्मृति का परिचय, आर्यावर्त्त, सोलह संस्कार, सावित्री-जप का माहात्म्य, प्रणव-प्रशंसा, संध्या-वन्दन, होम-विधि, गुरु-सेवा, गुरु-दक्षिणा आदि ।

तीसरा अध्याय

ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, विवाह और उसके प्रकार, पंचयज्ञ, दान-माहात्म्य, श्राद्ध आदि ।

चौथा अध्याय

वेद-विरोधी कर्मों का त्याग, असत्जीविका का निषेध, संतोष-प्रशंसा, अति-भोजन-निषेध, असत्यकथन की निन्दा, योग्य पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंपना, ब्रह्म-चिंतन आदि ।

पाँचवाँ अध्याय

मांस-भक्षण-निर्णय, भक्ष्य और अभक्ष्य, शौच तथा अशौच, स्पर्शास्पर्श, आचमन-विधि, स्वामी-प्रशंसा, स्त्री-धर्म, पातिव्रत आदि ।

छठा अध्याय

वानप्रस्थ आश्रम, परिव्राजक के नियम, प्राणायाम-प्रशंसा, आत्म-ध्यान, दशविध धर्माचरण, ब्रह्मसाक्षात्कार आदि ।

सातवाँ अध्याय

राजधर्म, प्रजा-रक्षण, दण्डोत्पत्ति व दण्ड-प्रशंसा, न्यायवर्ती राजा, व्यसन-निन्दा, राज-रक्षा, घूसखोरी पर शासन, कर-व्यवस्था, संधि और विग्रह, सैन्य-परीक्षण, परराष्ट्र-पीड़न आदि ।

आठवाँ अध्याय

अठारह प्रकार के विवाद या मामले, धर्मपूर्वक निर्णय, साक्ष्य, शपथ-ग्रहण, झूठ बोलने तथा विविध अपराध करने पर राज-दण्ड, सत्रह प्रकार के दास आदि ।

नवाँ अध्याय

स्त्री-रक्षा और उसके उपाय, स्त्री-प्रशंसा, कन्या के पुनर्दान का निषेध, दायभाग, विभाग-काल, औरस, दत्तक एवं नियुक्त पुत्र के अधिकार, प्रायश्चित्त-प्रकरण आदि।

दसवाँ अध्याय

वर्णों में ब्राह्मण की प्रमुखता, सजातीय, वर्णसंकर और उनके कर्म, व्रात्य, आपद्धर्म, प्रतिग्रह-निन्दा आदि।

ग्यारहवाँ अध्याय

स्नातकों के प्रकार, कुटुंबी ब्राह्मण को दान, पाँच महापातक, अनेकविध प्रायश्चित्त, पाप का न छिपाना, पापवृत्ति की निन्दा, तप की प्रशंसा आदि।

बारहवाँ अध्याय

शुभ-अशुभ कर्मों के फल, मानस, वाचिक और शारीरिक कर्म, जीवात्म-परिचय, सात्त्विक, राजस और तामस गुणों के लक्षण, आत्मज्ञान की प्रधानता, समदर्शन, वेदज्ञ-प्रशंसा, आत्मस्वरूप आदि।

मनु-संहिता के बाद स्मृतियों में **याज्ञवल्क्य-संहिता** का उल्लेख किया जाता है। इस स्मृति के तीन अध्याय हैं :—

१. आचार अध्याय
२. व्यवहार अध्याय
३. प्रायश्चित्त अध्याय

इन दोनों स्मृतियों के अतिरिक्त नीचे लिखी स्मृतियों को भी प्रामाणिक माना जाता है :—

१. अत्रि-स्मृति
२. विष्णु-स्मृति
३. हारीत-स्मृति
४. औषनसी-स्मृति
५. आंगिरस-स्मृति
६. यम-स्मृति
७. आपस्तम्ब-स्मृति
८. संवर्त-स्मृति
९. कात्यायन-स्मृति
१०. बृहस्पति-स्मृति
११. पाराशर-स्मृति
१२. व्यास-स्मृति
१३. शंख-स्मृति
१४. लिखित-स्मृति
१५. दक्ष-स्मृति
१६. गौतम-स्मृति
१७. शातातप-स्मृति
१८. वशिष्ठ-स्मृति
१९. भृगु-स्मृति
२०. नारद-स्मृति

इन सभी स्मृतियों के मुख्य विषय बहुत करके समान हैं। आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त का विवेचन न्यूनाधिक रूप में इन सभी स्मृतियों में किया गया है। चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के कर्मों का निरूपण सभी में मिलता है। अनेक प्रकार के दानों का वर्णन आया है। भूमिदान की भारी प्रशंसा की गई है। अनेक अपराधों और पातकों का उल्लेख मिलता है। उनके प्रायश्चित्त भी विविध प्रकार के वताये गये हैं। प्रायश्चित्त करनेलायक कुछ ऐसेभी अपराध गिनाये गये हैं, जो आज विचित्र मालूम देंगे, जैसे ऊँट-गाड़ी पर वैठना (अत्रि-स्मृति) और नीला वस्त्र पहनना, (आपस्तम्ब-स्मृति) इन्द्रधनुष का देखना, और शूद्र के राज्य में वसना (मनुस्मृति)! दोष अनेक प्रकार के माने गये हैं, जैसे स्पर्शास्पर्श, शूद्र के घर का पानी पी लेना, बिल्ली आदि का जूठा अन्न खाना (अत्रि-स्मृति) ब्रह्म-हत्या, मदिरा-पान, स्त्री-वध इत्यादि।

अनुलोम तथा प्रतिलोम उत्पन्न जातियों का विचार कई स्मृतियों में किया गया है। ब्राह्म आदि आठ प्रकार के विवाहों का निरूपण और स्त्री-धर्म का वर्णन भी कई स्मृतियों में आया है।

जिन सत्कर्मों के शुभ फल बताये गये हैं, उनमें वावड़ी, कुएँ और तालाव के जीर्णोद्धार भी शामिल हैं।

संध्योपासन, गायत्री-जप और तर्पण-विधि का उल्लेख **शंख-स्मृति** में विशेषरूप में हुआ है।

चान्द्रायण, कृच्छ्र आदि व्रतों के विधान और उनकी विधि का उल्लेख कई स्मृतियों में आया है।

याज्ञवल्क्य-स्मृति के व्यवहार अध्याय में अनेक प्रकरणों पर विचार किया गया है, जैसे साक्षी-प्रकरण, ऋण-दान-प्रकरण, लेख्य-प्रकरण, दाय-भाग-प्रकरण, दण्ड-प्रकरण आदि।

दण्ड-विधान के अन्तर्गत ब्राह्मण को अदण्डनीय माना गया है, उसके अपराधी होने पर भी (**गौतम-स्मृति**)। आततायी ब्राह्मण का वध निन्दनीय कहा गया है (**वशिष्ठ-स्मृति**)।

देवता और अतिथि के पूजन-सत्कार में पशु-वध किया जा सकता है, **वशिष्ठ-स्मृति** ने इसे दोष नहीं माना है।

मनुस्मृति में ऐसे पशुओं की सूची दी गई है, कि किनका मांस भक्ष्य है और किनका अभक्ष्य।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी की, अग्निहोत्री की और संस्कारी गृहस्थ की कई स्मृतियों में भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है।

सभी स्मृतियों में कुछ बातें लगभग सामान्य हैं। देखने में आता है कि समय और परिस्थितियों में अन्तर आने के कारण अनेक नियमों में परिवर्तन किये गये।

तब के कितने ही विधि तथा निषेध के नियम आज अनावश्यक हो गये हैं, और अपने-आप रद्द भी। संभव है कि उस-उस काल में विधि-निषेध को कुछ कारणों से इतना अधिक महत्त्व दिया गया हो। उन कारणों को खोजने की कोई आवश्यकता नहीं। हो सकता है कि कई विधि-निषेध के नियम बनाने में किसी-न-किसी पक्षपात या आग्रह से भी काम लिया गया हो। फिरभी इन स्मृतियों में ऐसेभी कुछ विधान और नियम पाये जाते हैं, जिनका महत्त्व कम नहीं आँका जा सकता। बुद्धि-संगत आचार-शुद्धि को अनावश्यक नहीं आँका जा सकता। रूपान्तर हो सकता है, किन्तु दोष तो समाज में सदा रहेंगे ही, यद्यपि प्रायश्चित्त का वही रूप न होगा, जो उस-उस काल में माना गया था। क्या धर्म है और क्या अधर्म, इसका निर्णय करने के लिए सदाही विवेक-बुद्धि की तराजू आवश्यक है। मतलब यह कि स्मृति-ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है वह सारा ही ज्यों-का-ज्यों न तो ग्रहण करनेयोग्य है, और न सारा ही त्याग देनेयोग्य। दृष्टि वैज्ञानिक होगी तो धर्म-अधर्म के विषय में निर्णय संतुलित और समीचीन रहेगा।

शास्त्री रामप्रताप त्रिपाठी का, स्मृति-ग्रन्थों के संबंध में, यह मत बिल्कुल सही है कि—"आज के युग में ब्राह्मण एवं शूद्र जैसे भेद की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। छुआछूत की भावना अनावश्यक हो गई है। स्मृतियों में जिस पुरानी वर्ण-व्यवस्था का वर्णन किया गया है उसको आज के युग में भी वैसाही आदर देना असामयिक और हानिकारक भी है। ग्रीष्मकाल की प्रचण्ड लू में शीतकाल की भाँति अग्नि का सेवन करना मूर्खता है। जिन युगों में ये स्मृतियाँ रची गई थीं वे बीत गये। तबकी आवश्यकताएँ और समस्याएँ दूसरी थीं। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि स्मृतियों में वर्णित आचारों, नियमों और परम्पराओं का, वर्तमान समाज की आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार, अनुकरण करना उचित है। स्मृतियों में ऐसी सहस्रों सूक्तियाँ हैं, जिनकी आजभी वैसी ही आवश्यकता है, जैसी पूर्वकाल में थी। सूर्य और चन्द्रमा की ज्योति के समान उनकी आभा मलिन होनेवाली नहीं।"

धर्म और धर्मशास्त्र

[डॉ० स० राधाकृष्णन्]

[हिन्दू-धर्म और दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० स० राधाकृष्णन् के कुछ ऐसे गवेषणापूर्ण विचारों को उनके सुप्रसिद्ध ग्रंथ धर्म और समाज* में से हम नीचे उद्धृत करते हैं, जो धर्मशास्त्र की सूक्ष्मता और गहनता पर बड़ा अच्छा प्रकाश डालते हैं—सं०]

धर्म शब्द अनेक अर्थों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह 'धृ' धातु से (बनाये रखना, धारण करना, पुष्ट करना)[1] बना है। यही वह मानदण्ड है, जो विश्व को धारण करता है; किसीभी वस्तु का वह मूल तत्त्व, जिसके कारण वह वस्तु वह है। वेदों में इस शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों के अर्थ में किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म की तीन शाखाओं (स्कन्धों) का उल्लेख किया गया है, जिनका सम्बन्ध गृहस्थ, तपस्वी, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों से है।[2] जब तैत्तिरीय उपनिषद् हमसे धर्म का आचरण[3] करने को कहता है, तब उसका अभिप्राय जीवन के उस सोपान के कर्त्तव्यों के पालन से होता है, जिसमें हम विद्यमान हैं। इस अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग भगवद्गीता और मनुस्मृति, दोनों में हुआ है। **पूर्वमीमांसा** के अनुसार धर्म एक वांछनीय वस्तु है, जिसकी विशेषता है प्रेरणा देना।[4] **वैशेषिक सूत्र** में धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जिससे अभ्युदय व निःश्रेयस् की प्राप्ति हो, वह धर्म है।[5] अपने प्रयोजन के लिए हम धर्म की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि यह चारों वर्णों के और चारों आश्रमों के सदस्यों द्वारा जीवन के चार प्रयोजनों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के संबंध में पालन करनेयोग्य मनुष्य का समूचा कर्त्तव्य है। जहाँ सामाजिक व्यवस्था का सर्वोच्च लक्ष्य यह है कि मनुष्यों को आध्यात्मिक पूर्णता और पवित्रता की स्थिति तक पहुँचने के लिए प्रशिक्षण दिया जाये, वहाँ इसका एक अत्यावश्यक लक्ष्य, इसके सांसारिक लक्ष्यों के कारण, इस प्रकार की सामाजिक दशाओं का

धर्म की व्याख्या

---

*राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली द्वारा प्रकाशित

१ तुलना कीजिए : धारणात् धर्ममित्याहुः, धर्मेण विधृताः प्रजाः।

२ त्रयो धर्मस्कन्धाः। २-२३

३ धर्म चर। १-११

४ चोदनालक्षणार्थो धर्मः।

५ यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

विकास करना भी है, जिनमें जन-समुदाय नैतिक, भौतिक और बौद्धिक जीवन के ऐसे स्तर तक पहुँच सके, जो सबकी भलाई और शान्ति के अनुकूल हो, क्योंकि ये दशाएँ प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन और अपनी स्वतन्त्रता को अधिकाधिक वास्तविक बनाने में सहायता देती हैं।

धर्म का मूल सिद्धान्त है मानवीय गौरव को प्राप्त करना, जो भगवान् का निवासस्थान है। "सब धर्मों का सर्वस्वीकृत मूल सिद्धान्त यह ज्ञान ही है कि परमात्मा प्रत्येक जीवित प्राणी के हृदय में निवास करता है।[1]" "समझलो कि धर्म का सार यही है और फिर इसके अनुसार आचरण करो, दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार मत करो, जैसा, तुम नहीं चाहते कि कोई तुम्हारे साथ करे, ।"[2] "हमें दूसरों के प्रति ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए, जो यदि हमारे प्रति किया जाय, तो हमें अप्रिय लगे। यही धर्म का सार है, शेष सारा बर्ताव तो स्वार्थपूर्ण इच्छाओं से प्रेरित होता है।"[3] हमें दूसरों को अपने जैसाही समझना चाहिए। "जो अपने मन, वचन और कर्म से निरन्तर दूसरों के कल्याण में लगा रहता है और जो सदा दूसरों का मित्र रहता है, ओ जाजलि, वह धर्म को ठीक-ठीक समझता है।"[4] "सब प्राणियों के प्रति मन, वचन और कर्म द्वारा अ-द्वेष, सद्भावना और दान, इन्हें सबके लिए आवश्यक गुण[5] बताया गया है। स्वतंत्रता या मुक्ति अनुशासन द्वारा ही होती है।"[6] दूसरे शब्दों

---

१ भगवान् वासुदेवो हि सर्व भूतेष्ववस्थितः,
एतज्ज्ञानं हि सर्वस्य मूलं धर्मस्य शाश्वतम्।

२ श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्,
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।
तुलना कीजिए : आपस्तम्ब; आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति सः पश्यति।

३ न तत् परस्य समादध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः,
एष सामासिको धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते।

४ सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः,
कर्मणा मनसा वाचा, स धर्मं वेद जाजले। शान्तिपर्व, २६१–९
साथ ही तुलना कीजिए :
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्ववेदमयो हरिः,
सर्वतीर्थमयी गंगा सर्वधर्ममयी दया।

५ अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा,
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः।

६ वेदस्योपनिषद्सत्यं, सत्यस्योपनिषद् दमः,
दमस्योपनिषन्मोक्षः, एतत् सर्वानुशासनम्।
साथ ही तुलना कीजिए,

में, हमारे सामाजिक जीवन को इस ढंग से चलाया जाना चाहिए, जिससे उसके प्रत्येक सदस्य का, एक व्यक्ति के रूप में जीने का, काम करने का और जीवन में उन्नति करने का अधिकार प्रभावकारी रूप से स्वीकार कर लिया जाये। यह पवित्र की गई गतिविधि है। व्यक्ति के जीवन का सार उसे सामाजिक अनुष्ठानों से परे ले जाता है, हालाँकि उसे उन अनुष्ठानों की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन हमारी भवितव्यता में एक गति है, अन्तिम छोर नहीं। इसकी दशा सदा तनाव और गति की ही रहती है। एक इस प्रकार का अविराम प्रयत्न चलता रहता है कि किन्हीं भी दी हुई दशाओं के सम्बन्ध में अस्तित्त्व के सामान्य स्तर को जितना संभव हो, अधिक-से-अधिक ऊँचा उठाया जाये। हिन्दू-धर्म हमारे सम्मुख नियमों और विनियमों का एक कार्यक्रम प्रस्तुत करता है और यह अनुमति देता है कि उनमें निरन्तर परिवर्तन किया जा सकता है। धर्म के नियम अमर विचारों के मरणशील शरीर की भाँति हैं, और इसलिए उनमें परिवर्तन किये जा सकते हैं।

धर्म के स्रोत

धर्म के स्रोत ये हैं : (१) श्रुति या वेद, (२) स्मृति और स्मृति को जानने-वालों का व्यवहार, (३) धर्मात्मा लोगों का आचरण, और (४) व्यक्ति का अपना अन्तःकरण।[1]

वेद हिन्दू-धर्म का मूल आधार है।[2] वेद के शब्द सरल, महत्त्वपूर्ण और प्राचीन हैं। वे श्रद्धा और भक्ति से, विश्वास और निश्चय से भरे हुए हैं। उनमें मनुष्य की शाश्वत आशाएँ और सान्त्वनाएँ घनीभूत हैं। उन ऋषियों की गंभीरता को हृदयंगम कर पाना भी कठिन है, जिनके होठों से पहले-पहल यह प्रार्थना निकली थी, "असत् से हटाकर मुझे सत् की ओर ले चलो, अन्धकार से हटाकर मुझे प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से हटाकर मुझे शाश्वत जीवन की ओर ले चलो।"[3] वैदिक सूक्तियाँ अपनी व्यंजना की दृष्टि से अनन्त हैं।[4] हारीत का कथन है कि श्रुति के अन्तर्गत वेद और तन्त्र दोनों ही हैं।[5] हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत कुछ सम्प्रदाय ऐसे भी हैं, जो वेद को प्रमाण नहीं मानते। मेधातिथि कहता है, "इस प्रकार सब विदेशी

नाहं शप्तः प्रतिशपामि किंचित् दमं द्वारं ह्यमृतस्येह वेद्मि।
गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्॥

१ वेदोऽखिलो धर्ममूलं, स्मृतिशीले च तद्विदाम्,
आचारश्चैव साधूनां आत्मनस्तुष्टिरेव च।

२ श्रुतिप्रमाणको धर्मः। हारीत।

३ असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतंगमय।

४ अनन्ता वै वेदाः।

५ श्रुतिश्च द्विविधा, वैदिकी तान्त्रिकी च। मनु की टीका में कुल्लूक द्वारा उद्धृत, २–१

सम्प्रदाय, जैसे, भोजक, पंचरात्रिक, निर्ग्रंथ, अनर्थवादी, पाशुपत तथा अन्य सम्प्रदाय यह मानते हैं कि महापुरुषों ने और उन विशिष्ट देवताओं ने, जिन्होंने उन मतों का प्रवर्तन किया, उन मतों में निहित सत्य का सीधे प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान प्राप्त किया है और उनका विचार है कि धर्म का उद्‌गम वेद नहीं है।"[1]

वेदों में धर्म का कोई सुव्यवस्थित विवरण नहीं है। उनमें आदर्शों की ओर संकेत हैं, और कुछ व्यवहारों का उल्लेख है। आचरण के उदाहरणों से भिन्न, नियम और आदेश स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में प्राप्त होते हैं; स्मृति और धर्मशास्त्र व्यवहारतः पर्यायवाची ही हैं। स्मृति का शब्दार्थ उस वस्तु की ओर संकेत करता है, जो वेदों के अध्ययन में निष्णात ऋषियों को याद रह गई थी। स्मृति का कोई भी नियम, जिसके लिए कोई वैदिक सूत्र ढूंढ़ा जा सके, वेद की भाँति प्रामाणिक बन जाता है। यदि कहीं श्रुति और स्मृति में विरोध हो, तो वहाँ श्रुति को प्रामाणिक स्वीकार किया जायेगा।[2]

जिस ढंग से अनुशासित (शिष्ट) लोग आचरण करते हैं, वह भी धर्म का एक स्रोत है।[3] यह आशा की जाती है कि भले मनुष्यों का व्यवहार शास्त्रों के आदेशों के अनुकूल ही होगा और इसलिए उसे आचरण के लिए पथ-प्रदर्शक माना गया है। यह आवश्यक नहीं है कि भले मनुष्य अनिवार्यरूप से ब्राह्मण ही हों। मित्र मिश्र भले शूद्रों (सच्छूद्र) के व्यवहार को प्रामाणिक मानता है। वशिष्ठ के कथनानुसार उन्हें निःस्वार्थ होना चाहिए।[4] स्थानीय प्रथाओं (रिवाजों) को प्रामा-

---

१ न वेदमूलमपि धर्मम् अभिमन्यन्ते। मनु पर टीका, २–६

२ शास्त्रदीपिका, १-३-४। कुमारिल लिखता है, "क्योंकि ये स्मृतियाँ मानवीय रचयिताओं से निकली हैं, और वेदों की भाँति शाश्वत नहीं हैं, इसलिए इन्हें स्वतःप्रमाण नहीं माना जा सकता। मनु की स्मृति या अन्य लोगों की स्मृतियाँ उनके रचयिताओं के स्मरण पर आधारित हैं, और स्मरण की प्रामाणिकता उसके मूल स्रोत की सत्यता पर निर्भर हैं, परिणामतः किसीभी एक स्मृति को वेदों की भाँति स्वतःप्रमाण नहीं माना जासकता। फिरभी, क्योंकि हम देखते हैं कि वेदों में निष्णात प्रतिष्ठित पुरुषों की एक अविच्छिन्न परम्परा उन्हें प्रमाण मानती आई है, इसलिए हम उन्हें एकदम अविश्वसनीय कहकर अस्वीकार नहीं कर सकते। इसीलिए उनकी विश्वसनीयता के विषय में अनिश्चितता का भाव उत्पन्न हो जाता है।" तन्त्रवार्तिक।

३ महाभारत में एक श्लोक है, जो प्रायः उद्धृत किया जाता है :
तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्,
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।

४ अकामात्मा–१–६

णिक[1] माना गया और उनका समावेश सदाचार में कर लिया गया। याज्ञवल्क्य का कथन है, "यदि कोई बात स्मृति-सम्मत भी हो, पर लोग उसे बुरा समझते हैं, तो उसके अनुसार आचरण नहीं करना चाहिए।"[2] बृहस्पति ने घोषणा की कि "प्रत्येक देश, जाति और कुटुम्ब की चिरकाल से चली आ रही प्रथाओं या परम्पराओं को ज्यों-का-त्यों बनाये रखना चाहिए।"[3]

"यदि किन्हीं जातियों में बहुपतित्व की प्रथा प्रचलित थी, तो हिन्दू शासकों ने उसमें हस्तक्षेप नहीं किया। नये जीते हुए देश के विषय में चर्चा करते हुए याज्ञवल्क्य कहता है, "उस देश में चाहे जो भी प्रथाएँ, क़ानून और रीति-रिवाज प्रचलित हों, राजा को चाहिए कि उनका पालन पहले की ही भाँति होता रहने दे।"[4] परन्तु वह प्रथा अनैतिक या लोकहित-विरोधी न होनी चाहिए। वह सदाचार के अनुकूल होनी चाहिए। गौतम का कथन है कि देशों, जातियों, और कुटुम्बों के आचरण के नियम, यदि श्रुति-विरोधी न हों तो, प्रामाणिक हैं।[5] समाज जिस वस्तु को अपना लेता है, उसे अपने विचार और कर्म के प्रमुख आदर्श के अनुरूप ढाल लेता है।

श्रेष्ठ व्यक्तियों के व्यवहार के साथ-साथ 'अच्छे अन्तःकरण' को भी धर्म का एक स्रोत स्वीकार किया गया है।[6] याज्ञवल्क्य ने उस वस्तु का उल्लेख किया है, जो अपने-आपको प्रिय लगे और सावधान विचार से उत्पन्न इच्छा हुई हो।[7] यह अनुशासित व्यक्ति का अन्तःकरण है, किसी उथले व्यक्ति के मन की मौज नहीं। जिसभी वस्तु की हृदय स्वीकृति देता[8] हो, या जिसकी आर्य लोग प्रशंसा करते हों,[9] वह धर्म है। मनु हमें वह कार्य करने को कहता है, जिससे आन्तरिक आत्मा को (अन्तरात्मा को) तृप्ति होती हो।[10] जो बात युक्तियुक्त हो, उसे स्वीकार

---

१ आश्वलायन, १-७-१; बौधायन, १-५-३

२ १-१५६

३ २-२६-३१ तुलना कीजिए,
देशधर्मान् जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान्,
पाषाण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन् उक्तवान् मनुः। —मनुस्मृति, १-११८

४ १-३४२-३४३

५ देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्।

६ आत्मसंतुष्टिः। मनु, २-६

७ स्वस्य च प्रियमात्मनः सम्यक् संकल्पजः कामो। २-१२; याज्ञवल्क्य, १-६

८ हृदयेनाभ्यनुज्ञातः। मनु, २-१

९ यं आर्याः प्रशंसन्ति। विश्वामित्र

१० ४-१६१

करना चाहिए, फिर चाहे वह किसी बालक ने कही हो, या किसी तोते ने। पर जो बात युक्तियुक्त न हो, वह चाहे किसी वृद्ध ने कही हो, या स्वयं मुनि शुकदेव ने, उसे अस्वीकार ही किया जाना चाहिए।[1]

संकट के समय कर्त्तव्य के नियमों में अपवाद की भी अनुमति थी। आवश्यकता किसी नियम को नहीं देखती, और प्राण-रक्षा के लिए आपद्धर्म के नियमों के अन्तर्गत किसी भी प्रकार के आचरण की छूट दी गई है। विश्वामित्र के सामने ऐसा अवसर आया था, जब उसे प्राण बचाने के लिए कुत्ते का मांस चुराना आवश्यक हो गया था और उसने इस चोरी को यह कहकर उचित ठहराया कि जीवित रहना मरने की अपेक्षा अच्छा है। धर्मानुकूल जीने के लिए पहले जीवित रहना आवश्यक है।[2] श्रुति सर्वोच्च प्रमाण है, उसके बाद महत्त्व की दृष्टि से स्मृति या मनुष्य द्वारा बना ली गई परम्परा का स्थान है। यह उस सीमा तक प्रामाणिक है, जहाँ तक यह वेद के प्रतिकूल नहीं है। इसे प्रामाणिकता वेद से ही प्राप्त होती है। व्यवहार या प्रथाएँ (आचार) भी विश्वसनीय हैं, यदि वे सुसंस्कृत लोगों द्वारा स्वीकृत हों। व्यक्ति का अपना अन्तःकरण भी प्रामाणिक है।

वेदों को हमारी सब आवश्यकताओं का पहले से ज्ञान नहीं हो सकता था। इसलिए हमें उन लोगों की बुद्धिमत्ता पर भरोसा करना होगा, जो वेदों की भावना से भली भाँति परिचित हैं। वेदों में प्रत्येक कल्पना किये जा सकने योग्य मामले के लिए व्यवस्था नहीं की गई है, किन्तु कुछ साधारण सिद्धान्त नियत कर दिये गये हैं, जिन्हें हम अपने विवेक और विचार के अनुसार नये मामलों पर भी लागू कर सकते हैं। परिषदों के, या विद्वानों की सभाओं के निश्चयों को भी स्वीकार किया जा सकता है, यदि हमें यह पक्का विश्वास हो कि वे निष्पक्ष हैं। संदिग्ध और विवादग्रस्त मामलों के निर्णय भी उन्हीं के द्वारा किये जाते हैं। मनु और पराशर ने यह नियम बनाया है कि जब लोगों की आदतों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये जाते हैं, तब परिषद् बुलाई जानी ही चाहिए। साधारणतया परिषद् में सौ बुद्धिमान् ब्राह्मण होने चाहिए, परन्तु संकट के समय अन्तर्दृष्टिवाला और जितेन्द्रिय एक ब्राह्मण भी परिषद् के रूप में कार्य कर सकता है।[3] 'स्मृतिचन्द्रिका' का मत है कि धार्मिक मनुष्यों द्वारा चलाई गई परम्परा भी वेदों की भाँति ही प्रामाणिक है। मनु का कथन है कि यदि समितियाँ न बुलाई जा सकें, तो एक श्रेष्ठ ब्राह्मण की

---

१ युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं बालादपि शुकादपि,
युक्तिहीनं वचस्त्याज्यं वृद्धादपि शुकादपि।

२ जीवितं मरणात् श्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात्।

३ मुनीनां आत्मविद्यानां द्विजानां यज्ञयाजिनाम्,
वेदवृत्तेषु स्नातानां एकोऽपि परिषद् भवेत्। पराशर, ८-३

सम्मति भी काफ़ी है।[1] समाज के लिए विधान बनाने का अधिकार केवल उन्हीं लोगों को है, जो अनुशासित हों, सब जीवों के प्रति सहृदय हों, वेदों और तर्क की पद्धतियों में निष्णात हों, व्यावहारिक बुद्धिवाले (देशकाल-विशेषज्ञ) हों, और निष्कलंक चरित्र के हों। ऐसे लोगही राष्ट्र के सचेतन मन और अन्तःकरण होते हैं। सामाजिक प्रमाप (स्टैंडर्ड) सामाजिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया द्वारा एकाएक स्वतः नहीं बन जाते। वे उन व्यक्तियों के, जो सृजनशील प्रतिभा से सम्पन्न हैं, आध्यात्मिक प्रयत्नों के परिणाम हैं। यद्यपि ऐसे लोग सदा अल्पसंख्यक रहते हैं, फिरभी वे सामान्य कोटि के मनुष्यों पर प्रत्यक्ष सीधे ज्ञान देने की पद्धति द्वारा प्रभाव नहीं डालते, बल्कि एक सामाजिक क़वायद की पद्धति के कार्य करते हैं। सामान्य लोग यन्त्र की भाँति एक ऐसा विकास कर बैठते हैं, जिसे वे अपने-आप पहल करके नहीं कर सकते थे।

हमें प्रत्येक प्रसंग में अपने सही कर्त्तव्य का निर्णय करना होता है। आपस्तम्ब का कथन है, "धर्म और अधर्म यह कहते नहीं फिरते कि 'हम ये रहे', न देवता, न गन्धर्व और न पितर ही यह बताते हैं कि 'यह धर्म हैं' और 'यह अधर्म है'।"[2] हमें अपनी तर्कबुद्धि का प्रयोग करना होता है और परम्परा की यथोचित व्याख्या करनी होती है। हमें शास्त्रों को, उनकी संगति (प्रसग) को हृदयंगम किये बिना, आँख मींचकर अनुकरण नहीं करना चाहिए।[3] श्रेष्ठ लोग जिस बात की प्रशंसा करते हैं, वह ठीक है; जिसकी वे निन्दा करते हैं, वह ग़लत है।[4] यह बात श्रुति के इस आदेश के अनुकूल है कि जहाँ यह सन्देह उत्पन्न हो जाय कि क्या उचित है और क्या अनुचित, वहाँ धर्मपरायण लोगों के विचारों को प्रमाण मानना चाहिए। मिताक्षर का कथन है, "यदि कोई बात धर्म द्वारा अनुमत होने पर भी लोक-निन्दित हो, तो उसपर आचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे स्वर्ग का

---

१ समयश्चापि साधूनां प्रमाणं वेदवद् भवेत्।

२ न धर्माधर्मौ चरत आवां स्व इति, न देवगन्धर्वाः न पितरश्राचक्षते अयं धर्मो अयं अधर्म इति। १-२०-६

३ तुलना कीजिए,

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णयः,
युक्तिहीने विचारे तु धर्महानिः प्रजायते। —बृहस्पति

देखिए श्री के० वी० रंगस्वामी आयंगर-लिखित 'राजधर्म' (१९४१) पृष्ठ ११४

आर्ष धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना,
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मः वेद नेतरः। —मनु, १२-१०६

४ यं आर्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मः, यं गर्हन्ते सोऽधर्मः।

सुख नहीं मिलता।"[1] जहाँ यह निश्चय करना कठिन हो कि उचित कर्त्तव्य क्या है, वहाँ जो व्यक्ति आदिष्ट (निर्धारित) कर्त्तव्य का पालन करता है, उसे पाप नहीं लगता। जब एक बार यह निश्चय हो जाये कि ठीक कार्य यह है, तब हमें उसका पालन करना चाहिए। व्यास हमें प्रोत्साहित करता है कि धर्म का पालन करना ही चाहिए, भले ही उसके लिए अपनी समस्त सांसारिक इच्छाओं का बलिदान क्यों न करना पड़े, चाहे उसके कारण हमें कितने ही भीषण कष्टों और दरिद्रता का सामना क्यों न करना पड़े, और चाहे उसमें प्राण जाने तक का भय क्यों न हो।[2] भर्तृहरि कहता है, "धर्मपरायण व्यक्ति न्याय के पथ से कभी विचलित नहीं होते, चाहे दुनियादारी की दृष्टि से कुशल लोग उनकी प्रशंसा करें या निन्दा करें, चाहे उन्हें सम्पत्ति मिलती हो, या छिनती हो, चाहे तुरन्त मृत्यु होती हो, या दीर्घ जीवन प्राप्त होता हो।"[3]

धर्म के वे नियम, जिनका उल्लंघन करने से क़ानूनी कार्रवाई करना आवश्यक होता है, व्यवहार या वास्तविक विधान कहलाते हैं। हिन्दूविधानशास्त्री नैतिक शिक्षाओं और वैधानिक नियमों में मतभेद करते हैं; एक हैं धार्मिक और नैतिक पालन के नियम (आचार) और प्रायश्चित्त करने के नियम (प्रायश्चित्त); और दूसरे हैं सकारात्मक विधान के नियम (व्यवहार)। **याज्ञवल्क्य-स्मृति** में तीन अध्याय हैं: आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। व्यवहार या दीवानी क़ानून—अर्थविधान—का सम्बन्ध विवाह, पुत्र गोद लेने, बँटवारे, और उत्तराधिकार से है। यह पहले से चली आ रही प्रथाओं पर आधारित है। **बृहस्पति** का कथन है कि चार प्रकार के विधान हैं, जिनका प्रबन्ध शासकों को करना होता है और संदिग्ध मामलों का निर्णय इन विधानों के अनुसार ही होना चाहिए। ये विधान हैं: धर्म या नैतिक विधान, व्यवहार या दीवानी क़ानून (अर्थविधान), चरित्र या प्रथाएँ और राजशासन या राजा के अध्यादेश।[4] औचित्य और सामान्य बुद्धि पर आधारित नये बनाये गये वैधानिक नियम भी प्रामाणिक होते हैं और वे पहले से विद्यमान क़ानूनों और प्रथाओं का उल्लंघन करते हैं।

---

१ १-३-४

२ न जातु कामात् न भयात् न लोभात्
धर्मं त्यजेत् जीवितस्यापि हेतोः।

३ निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्,
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

४ २-१८

किसीभी जीवित समाज में निरन्तर बने रहने की शक्ति और परिवर्तन की शक्ति, दोनों ही होनी चाहिए। हिन्दू-विचारधारा में अत्यावश्यक परिवर्तनों के लिए स्थान रखा गया है। सामाजिक आनुवंशिकता में कोई उग्र व्याघात न पड़ना चाहिए, फिर भी नये दबावों, अन्तर्विरोधों और गड़बड़ों का तो सामना करना ही होगा और उनपर विजय पानी होगी। यह ठीक है कि आत्मा के सत्य सनातन हैं, पर नियम युग-युग में बदलते रहते हैं।[1] हमारी लालित संस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं। वे अपने समय में धूमधाम से रहती हैं, और उसके बाद समाप्त हो जाती हैं। वे काल की उपज होती हैं और काल की ही ग्रास बन जाती हैं। परन्तु हम धर्म को इन संस्थाओं के किसीभी समूह के साथ एक या अभिन्न नहीं समझ सकते। यह इसलिए बना रहता है, क्योंकि इसकी जड़ें मानवीय प्रकृति में हैं, और यह अपने किसीभी ऐतिहासिक मूर्त रूप के समाप्त हो जाने के बाद भी बचा रहेगा। धर्म की पद्धति परीक्षणात्मक परिवर्तन की है। सब संस्थाएँ परीक्षण हैं, यहाँतक कि सम्पूर्ण जीवन भी परीक्षण ही है। विधान-निर्माता अपने आस-पास की परिस्थितियों से, यहाँतक कि जब वे उससे ऊपर उठने की कोशिश भी कर रहे होते हैं, तब भी बँधे-से रहते है। विधानों और संस्थाओं में पवित्रता या निष्कलंकता की कोई बात नहीं है। **पराशर-स्मृति** में कहा गया है कि सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि-युग, इन चार युगों में क्रमशः मनु, गौतम, शंख-लिखित और पराशर के आदेश सबसे अधिक प्रामाणिक माने जाने चाहिए। एक युग के विश्वासों और प्रथाओं को हम दूसरे युगों में स्थानान्तरित नहीं कर सकते। सामाजिक सम्बन्धों के विषय में नैतिक धारणाएँ परम नहीं हैं, किन्तु विभिन्न प्रकार के समाजों और दशाओं के सापेक्ष हैं। यद्यपि धर्म देश-काल-निरपेक्ष है, परन्तु इसकी कोई भी अन्तर्वस्तु परम और कालातीत नहीं है। नैतिकता में केवल एकही वस्तु शाश्वत है, और वह है मनुष्य की उत्कृष्टतर होते जाने की अभिलाषा। परन्तु प्रत्येक विशिष्ट स्थिति में यह 'उत्कृष्टतर' क्या होगा, इसका निर्धारण काल और परिस्थितियाँ करती हैं। हम सामाजिक रूढ़ियों को, उनके साथ जुड़ी सुनिर्दिष्ट परिस्थितियों को ध्यान में रखे बिना, ऊँचा उठाकर देश-काल-निरपेक्ष नियमों का आसन नहीं दे सकते। कोईभी ऐसा सुनिश्चित मानवीय कार्य नहीं है, जिसे तर्कसंगत रूप से, जिन परिस्थितियों में वह किया गया है उनका बिल्कुल विचार किये बिना, पूरा सही या पूरा ग़लत कहा जा सके। आचरण के विभिन्न प्रकार सभ्यता के विभिन्न सोपानों में इस आधार पर अच्छे या बुरे माने जाते है कि वे मानव के आनन्द में वृद्धि करते है या उसमें बाधा डालते हैं। हिन्दूशास्त्रकार न तो स्वप्नदर्शी ही थे,

परिवर्तन के सिद्धान्त

---

१ पराशर १-३३, युगरूपानुसारतः १-२२, देखिए, मनु, १८५

और न यथार्थवादी ही। उनके पास आदर्श थे, किन्तु वे आदर्श अव्यवहार्य नहीं थे। वे इस बात को स्वीकार करते थे कि समाज एक शनैः शनैः होनेवाली उन्नति है। वस्तुएँ मर जाती हैं और उन्हें हटाकर रास्ते को साफ़ कर देना होता है। अमर कालातीत सत्य अपने आपको जीवन की चिर-आवर्तनशील नवीनता में प्रकट करते हैं। विज्ञानेश्वर का, यद्यपि वह रूढ़िवादी विधिज्ञ (ज्यूरिस्ट) है, कथन है कि समाज को अधिकार है कि वह अनुपयुक्त क़ानूनों को अस्वीकार कर दे, भले ही वे शास्त्रानुमत भी क्यों न हों। वह गो-बलि और गो-मांस-भक्षण का उदाहरण देता है, जो किसी समय मान्य थे, पर उसके समय मे सदोष मानकर अस्वीकृत कर दिये गये थे। इसी प्रकार अतीत में 'नियोग' की प्रथा पूर्णतया वैध थी, परन्तु अव वह अवैध मानी जाती है। समय की आवश्यकताओं को देखकर क़ानून बनाये जाते हैं, और ख़त्म भी कर दिये जाते हैं। जो लोग हिन्दूशास्त्रों के भाष्यकारों के कार्य से परिचित हैं, उन्हें मालूम है कि उन भाष्यकारों ने जो परिवर्तन किये, वे कितने महत्त्वपूर्ण थे। शासकों ने भी, जो पण्डितों की सहायता से क़ानून का प्रवन्ध चलाते थे, समाज की आवश्यकताओं को पहचाना और उनके अनुसार कानूनों में परिवर्तन किये। नीति-विज्ञान और विधान सामाजिक विकास की किन्हीं विशिष्ट अवस्थाओं के विचारों और रुचियों के प्रतिविम्ब होते हैं, और ज्यों ज्यों वे धर्म के साथ सम्बद्ध होकर एक खास तरह की पवित्रता प्राप्त कर लेते हैं, तो वे परिवर्तन के प्रति अत्यधिक प्रतिरोधशील हो जाते हैं। सामाजिक लचक हिन्दूधर्म की मुख्य विशेषता रही है। सनातन धर्म को मानने का अर्थ 'स्थिर खड़ा हो जाना' नहीं है। इसका अर्थ है कि उसके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को ग्रहण कर लिया जाये और उनका आधुनिक जीवन में प्रयोग किया जाये। सब सच्ची उन्नतियों में परिवर्तन में भी एकता सुरक्षित बनी रहती है। जब बीज पौधा बनता है और जीवाणु पूरा पुष्ट शिशु बनता है, तब उनमें अविच्छिन्न निरन्तरता बनी रहती है। जब परिवर्तन हो भी रहे होते हैं, तो वे परिवर्तन प्रतीत नहीं होते, क्योंकि वहाँ एक बनाये रखनेवाली एक शक्ति रहती है, जो नई सामग्री को मिलाती और नियंत्रित रखती है। यदि धर्म के वृक्ष को सुरक्षित रखना हो, तो हमें चाहिए कि इस अदृश्य शक्ति को जीवन की अधिकाधिक बढ़ती हुई अभिव्यक्तियों को व्यवस्थित करने और बनाये रखने दें। यदि हमें अपनी सामाजिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न नहीं होने देना है, यदि हमें अपने सामाजिक विचार को असंगत या अंड-मंड नहीं बनने देना है, तो हमें उन बाह्य अनुभवों को, जो हमपर अधिकाधिक आ-आकर पड़ रहे हैं, नियंत्रित करना होगा और उन्हें सार्थक बनाना होगा। धर्म के सिद्धान्तों को, मान्यताओं के मानदण्डों को नये अनुभवों के दबाव में और उनके बाद भी बनाये रखना होगा। केवल तभी हमारे लिए संतुलित और समग्र सामाजिक प्रगति कर पाना सम्भव होगा। यदि

हम बदलती हुई दशाओं में भी उत्तराधिकार में प्राप्त संहिताओं से ही चिपटे रहेंगे, तो उसका परिणाम यदि विनाश नहीं, तो अस्थिरता अवश्य होगा। आज हमें परिवर्तन करने चाहिए और हिन्दूधर्म की अन्तर्वस्तु को आधुनिक दशाओं से सुसंगत बना देना चाहिए। हिन्दूसमाज में नई शक्तियों का प्रवेश, एक कृषि-प्रधान देश का औद्योगिकीकरण, विशेषाधिकारों और गुणों का पृथक्करण, हिन्दू-समाज में अहिन्दुओं का प्रवेश, और विवाह तथा धर्म-परिवर्तन द्वारा जातियों का मिश्रण, स्त्रियों का उद्धार (कष्ट से मुक्ति), ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनके सम्बन्ध में उदार भावना के साथ विचार किया जाना चाहिए। वैदिक युग में आर्यो से कहा गया था कि वे अनार्य भारतीयों, द्रविड़ों, आन्ध्रों और पुलिन्दों को सामाजिक मान्यता दें। ऐतरेय ब्राह्मण[1] में उल्लेख है कि आन्ध्र विश्वामित्र की सन्तान थे। उसने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि आन्ध्र आर्यो के समकक्ष हैं। पुराणों में लिखा है कि विश्वामित्र ने एक नई सृष्टि रची थी। वेदों से हमें पता चलता है कि व्रात्यस्तोम यज्ञ[2] करने के बाद व्रात्यों को आर्यों में सम्मिलित किया जा सकता था। बारह पीढ़ियों के बाद भी उनकी शुद्धि के लिए व्यवस्था की गई है। हमें पता नहीं कि ये व्रात्य लोग कौन थे। अधिक लोकप्रिय मत यह है कि वे यूनानी (यवन) और असभ्य थे। यूनानी और सीथियन लोगों ने हिन्दूधर्म को स्वीकार कर लिया था, और नवधर्म-दीक्षितों का-सा उत्साह प्रदर्शित किया था। एक यूनानी उपराजदूत हीलियोडोरस विष्णु का भक्त (भागवत) हो गया था, और उसने एक वैष्णव मन्दिर में एक स्तम्भ (गरुडध्वज) खड़ा करवाया था।[3] हूण भी विष्णु के उपासक बन गये थे। अनेक विदेशी आक्रमणकारी यहाँ क्षत्रिय बनकर रहने लगे। जब मुसलमानों की विजयों के कारण हिन्दू नर-नारियों का सामूहिक रूप से धर्म-परिवर्तन होने लगा, तब देवल स्मृति ने, जो ईस्वी सन् की आठवीं शताब्दी के पश्चात् किसी समय सिन्ध में लिखी गई, उन्हें फिर हिन्दूधर्म में दीक्षित कर लेने को उचित ठहराया।

नई दशाओं का सामना करने के लिए नई स्मृतियाँ बनीं। न तो वेदों में और न अतीत की प्रथाओं में ही कोई ऐसी बात है, जिसके कारण हममें

---

१ ७-१८।

२ कात्यायन २२-४, १-२८।

३ इस शिलालेख पर लिखा है, "देवाधिदेव वासुदेव के इस गरुडध्वज का निर्माण तक्षशिलावासी, डियोन के पुत्र, परमवैष्णव हीलियोडोरस ने कराया, जो महान् राजा ऐंटियाल्सिडस का यूनानी राजदूत बनकर शरणागत-रक्षक राजा काशीपुत्र भागभद्र के यहाँ आया था; राजा काशीपुत्र उस समय अपने राज्य-काल के चौदहवें वर्ष में सुख और समृद्धि के साथ शासन कर रहा था।"

यह अपेक्षा की जाती हो कि हम उन्हीं पुरानी बातों से चिपटे रहें, जो कभी की जीर्ण-शीर्ण हो चुकी हैं। मेधातिथि कहता है, "यदि आजभी कोईऐसा व्यक्ति होता, जिसमें उपर्युक्त योग्यताएँ होतीं, तो आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए उसके वचन भी (मनु तथा अन्य स्मृतिकारों के वचनों) की ही भाँति प्रामाणिक होते।"[1] जिन लोगों को सत्य का आन्तरिक ज्ञान है, वे ही नये अनुभवों को सँभाल पाने में और धर्म की धारणा करने की शक्ति को फिर नया कर पाने में समर्थ होंगे। यदि वे परिवर्तन की स्वीकृति देते हैं, तो सुरक्षा की भावना को धक्का नहीं पहुँचेगा। उस दशा में सुधार बिना किसी प्रतिक्रिया के आगे बढ़ सकेगा। भविष्य में तैयार की गई स्मृतियाँ, जहाँतक वे वेदों में प्रकट की गई भावना के मूल सत्यों पर आधारित होंगी, पूरी तरह प्रामाणिक मानी जायेंगी। कालिदास के शब्दों में, कोई वस्तु केवल इसीलिए अच्छी नहीं हो जाती, कि वह प्राचीन है, और न कोई नई रचना केवल इसलिए बुरी समझी जा सकती है कि वह नई है।[2]

प्रत्येक समाज के इतिहास में एक ऐसा समय आता है, जब उस समाज को एक सजीव शक्ति के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रखना हो और अपनी प्रगति को जारी रखना हो तो, सामाजिक व्यवस्था में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। यदि वह प्रयत्न करने में असमर्थ रहे, यदि उसकी शक्ति समाप्त हो चुकी हो, और उसका पुरुषार्थ निःशेप हो चुका हो, तो वह इतिहास के रंगमंच से बाहर निकल जायगा। हमारे सम्मुख सामाजिक परिवर्तन के लिए एक बहुत बड़ा अवसर उपस्थित है। हमें मनुष्य-निर्मित विषमताओं और अन्यायों को हटाकर समाज को शुद्ध करना होगा और सब लोगों को वैयक्तिक कल्याण और विकास के लिए समान अवसर प्रदान करना होगा। यदि आज वे लोग, जो हमारी संस्कृति में निष्णात हैं (बहुश्रुताः) और इसे बचाए रखने के लिए उत्सुक हैं, हमारे सामाजिक संगठन में आमूल परिवर्तन करदें, तो वे हिन्दू-परम्परा की भावना के अनुकूल ही कार्य कर रहे होंगे। भारत में हम सलेट को पोंछकर एकदम साफ नहीं कर दे सकते और न बिलकुल अनलिखे कागज़ पर ही कोई नया सुसमाचार लिख सकते हैं। सच्ची प्रगति वृक्ष की वृद्धि की भांति एक (सजीव) वस्तु है। हमें निष्प्राण लकड़ी को काट देना होगा और निस्तेज अतीत को भी परे फेंक देना होगा। हम अतीत में इतनी अधिक बार बदलते रहे हैं कि केवल परिवर्तन-भर से धर्म की आत्मा अव्यवस्थित नहीं हो जायगी। हमारी कुछ संस्थाएँ सामाजिक न्याय और आर्थिक कल्याण के मार्ग में दुर्जय बाधाएँ बन गई हैं और हमें इन बाधाओं को हटाने के लिए यत्न करना होगा, अन्धविश्वास को बनाये रखनेवाली

---

१ मनु पर मेधातिथि की टीका २-६।

२ पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।

शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करना होगा और लोगों के मनों को नया रूप देना होगा।

× × ×

जातियों या वर्णों का विभाजन

जातियों या वर्णों का विभाजन व्यक्तिगत स्वभाव पर आधारित है,[1] जो अपरिवर्तनीय नहीं है। प्रारम्भ में केवल एक ही वर्ण था। हम सबके सब ब्राह्मण थे या सबके सब शूद्र थे।[2] एक स्मृति के मूल पाठ में कहा गया है कि जब व्यक्ति जन्म लेता है, तब वह शूद्र होता है और फिर शुद्ध होकर वह ब्राह्मण बनता है।[3] सामाजिक आवश्यकताओं और वैयक्तिक कर्मों के अनुसार लोगों को विभिन्न वर्णों में बाँट दिया गया है। ब्राह्मण लोग पुरोहित हैं। उनके पास न सम्पत्ति (जायदाद) होनी चाहिए और न कार्यकारी (शासन की) शक्ति। वे लोग द्रष्टा (ऋषि) हैं, जो समाज के अन्तःकरणस्वरूप हैं। क्षत्रिय लोग प्रशासक हैं, जिनका सिद्धान्त है जीवन के प्रति सम्मान और श्रद्धा। वैश्य लोग व्यापारी और कारीगर हैं, शिल्प-कौशलवाले लोग, जिनका उद्देश्य है कार्यपटुता। अकुशल कामगर, श्रमिक वर्ग, शूद्र हैं। उनकी अपने कार्य में कार्य के लिए कोई विशेष रुचि नहीं होती; केवल अनुदेशों का पालन करते जाते हैं और कुल कार्य में उनका योग (देन) केवल अंशमात्र ही होता है। वे निर्दोष मनोवेगों का जीवन विताते हैं और परम्परागत रीतियों को अपनाते हैं। उनका सारा आनन्द विवाह और पितृत्व की पारिवारिक तथा अन्य सामाजिक सम्बन्धों की जिम्मेदारियों को पूरा करने में ही होता है। वर्णों के आधार पर बने हुए समूह (जातियाँ) समाज के सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक और औद्योगिक अनुभागों का कार्यभार सँभालनेवाली व्यावसायिक श्रेणियाँ अधिक हैं। हिन्दू-धर्म ने आर्यों को, द्रविड़ों को और पूर्व की ओर गंगा की घाटी में आ भटकी मंगोल जातियों को और हिमालय-पार से आक्रमण करनेवाले पार्थियन, सीथियन और हूण लोगों को अपने बाड़े में खींच लिया। इससे अपने बाड़े में अनेक प्रकार के विविध लोगों को लिया और धर्म-परिवर्तन करके हिन्दू बननेवाले लोगों को यह छूट दी कि वे नये धर्म में रहते हुए भी अपने

---

१ सत्त्वाधिको ब्राह्मणःस्यात् क्षत्रियस्तु रजोधिकः,
तमोधिको भवेत् वैश्यः गुणसाम्यात्तु शूद्रता।

२ बृहदारण्यक उप०, १-४-११-१५; मनु, १-३१; महाभारत से भी तुलना कीजिए, १२-१८८ :
न विशेषोस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।

३ जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते।

पुराने धर्मों की विधियों और परम्पराओं को बनाये रखें, यद्यपि उनके रूपों में सदैव कुछ-न-कुछ परिवर्तन किया गया। 'महाभारत' में इन्द्र सम्राट् मान्धाता से कहता है कि वह यवनों-जैसी सब विदेशी जातियों को आर्यों के प्रभाव में लाये।[1] हिन्दू-धर्म में उसके विकास के सभी स्तरों पर जातिभेदों की आश्चर्यजनक विविधता रही है। 'ऋग्वेद' के काल में विभाजन आर्यों और दासों के रूप में था, और स्वयं आर्यों में कोई पक्के विभाग नहीं थे। 'ब्राह्मणग्रन्थों' के काल में चारों वर्ण जन्म पर आधारित अनम्य (सुकठोर) समूहों में विभक्त हो चुके थे। ज्यों-ज्यों कला-कौशलों की संख्या और जटिलता बढ़ी, त्यों-त्यों धन्धों (पेशों) के आधार पर जातियों का विकास हुआ। स्मृतियों ने अनगिनत जातियों का कारण अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों द्वारा चारों वर्णों के परस्पर मिश्रण को बताया है। जब वैदिक आर्यों ने देखा कि उनके यहाँ अनेक जातियों और रंगों के अनेक कबीलों और श्रेणियों-वाली जनसंख्या विद्यमान है, ये कबीले और श्रेणियाँ विभिन्न देवताओं और भूत-प्रेतों की पूजा करती हैं, अपनी असदृश प्रथाओं और रहन-सहन की आदतों पर चलती हैं और अपने कबीलों की भावनाओं से भरी हुई हैं, तो उन्होंने चौहरे वर्गीकरण को अपनाकर उन सबको एकही समष्टि में ठीक ढंग से बिठा देने का प्रयत्न किया। ये चार वर्ण मूल जातीय भेदों का अवक्रमण कर जाते हैं (उनसे ऊपर है)। यह ऐसा वर्गीकरण है, जो सामाजिक तथ्यों और मनोविज्ञान पर आधारित है। हिन्दू-धर्म की एक सारभूत विशेषता है—मनुष्य में आत्मा को स्वीकार करना; और इस दृष्टि से सब मनुष्य समान हैं। वर्ण या जाति कार्य की असदृशता है और जीवन का लक्ष्य निष्काम सेवा द्वारा जाति-वैविध्य से ऊपर उठ जाना है। वर्ण-व्यवस्था सम्पूर्ण मानव-जाति पर लागू करने के लिए है। 'महाभारत' में कहा गया है कि यावन (यूनानी, किरात, दरद, चीनी, शक (सीथियन), पह्लव (पार्थियन), शबर (द्रविड़ पूर्व जातियाँ) तथा अन्य कई अहिन्दू लोग इन्हीं चार वर्णों में से किसी-न-किसी में आते हैं।[2] ये विदेशी जन-जातियाँ (कबीले) हिन्दू-समाज में घुल-मिल गईं। वह समंजन, जिसके द्वारा विदेशियों को हिन्दू-धर्म में दीक्षित कर लिया जाता है, बहुत प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। जबतक विदेशी लोग समाज की साधारण परम्पराओं और साँझे क़ानूनों का पालन करते थे, तबतक उन्हें हिन्दू ही समझा जाता था। बड़े-बड़े साम्राज्य-निर्माता, नन्द, मौर्य और गुप्त पौराणिक दृष्टिकोण के अनुसार निम्न वर्णों में उत्पन्न हुए थे। गुप्त सम्राटों ने लिच्छवियों में विवाह किये, जोकि म्लेच्छ समझे जाते थे। इस प्रणाली को इस उद्देश्य से रचा गया था कि इसके द्वारा पहले भारत की विभिन्न

---

१ शान्तिपर्व ६५

२ शान्तिपर्व ५५। साथ ही देखिए, मनु, १०-४३-४४

जातीय जनता और उसके बाद समस्त संसार की जनता एकही साँझी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक शृंखला में बँध सके। प्रत्येक वर्ग के लिए सुनिश्चित कृत्य और कर्त्तव्य नियत करने और उन्हें अधिकार और विशेषाधिकार देने से यह आशा की जाती थी, कि विभिन्न वर्ग सहयोगपूर्वक कार्य करेंगे और उनमें जातीय समन्वय हो सकेगा। यह एक ऐसा साँचा है, जिसमें सब मनुष्यों को, उनकी व्यावसायिक योग्यता और स्वभाव के अनुसार, ढाला जा सकता है। वर्ण-धर्म का आधार यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के विधान को पूर्ण करने का यत्न करना चाहिए। हमें अपने अस्तित्व के नमूने के अनुकूल ही अपने जीवन को अनुशासित करना चाहिए; जिस नमूने के हम नहीं हैं, उसके पीछे दौड़कर अपनी ऊर्जाओं का अपव्यय करने से कोई लाभ नहीं है।

इस योजना का यह ध्येय अवश्य था कि आनुवंशिकता और शिक्षा की शक्तियों का प्रयोग करके विभिन्न वर्गों के सदस्यों में यथायोग्य भावना और परम्परा का विकास किया जाय, परन्तु इस विभाजन को सुकठोर (अनम्य) नहीं समझा जाता था। कुछ उदाहरण ऐसे हैं, जिनमें व्यक्तियों और समूहों ने अपना सामाजिक वर्ग (वर्ण) बदल लिया था। विश्वामित्र, अजमीढ और पुरामीढ को ब्राह्मणवर्ग में स्थान दिया गया था, और यहाँतक कि उन्होंने वैदिक ऋचाओं की रचना भी की थी। यास्क ने अपने 'निरुक्त' में बताया है कि सन्तानु और देवापि दो भाई थे; उनमें एक क्षत्रिय राजा बना और दूसरा ब्राह्मण पुरोहित। दास-कन्या इलुपा से उत्पन्न पुत्र कवप ने एक यज्ञ में ब्राह्मण पुरोहित का कार्य किया था।[1] जनक ने, जो जन्म से क्षत्रिय था, अपनी परिपक्व बुद्धि और सन्तजनोचित चरित्र के कारण ब्राह्मण-पद प्राप्त कर लिया था।[2] भागवत में बताया गया है कि धृष्ट् नामक क्षत्रिय जाति उन्नत होकर ब्राह्मण बन गई थी। जाति-उत्कर्ष के लिए व्यवस्था रखी गई है। भले ही आप शूद्र हों, पर यदि आप अच्छे काम करते हैं तो आप ब्राह्मण बन जाते हैं।[3] ब्राह्मण जन्म के कारण, संस्कारों के कारण, अध्ययन या कुटुम्ब के कारण नहीं होते, किन्तु अपने आचरण के कारण होते हैं।[4]

---

१ ऐतरेय ब्राह्मण, २-१९

२ रामायण, बालकाण्ड, ५१-५५

३ एभिस्तु कर्मभिर्देवि शुभैराचरितैस्तथा।
शूद्रो ब्राह्मणतां याति वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत्॥

४ न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम्॥
और साथ ही :

भले ही हमने शूद्र के घर में जन्म क्यों न लिया हो, अच्छे आचरण द्वारा हम उच्च-तम स्थिति (पद) तक पहुँच सकते हैं।[1]

मानव-प्राणी सदा बनता रहता है। उसका सार गति में है, जकड़े हुए उद्देश्यों में नहीं। पहले स्वस्थ सामाजिक गतिशीलता थी, और बहुत समय तक वर्ण आनुवंशिक, सुनियत जातियाँ, नहीं बने। परन्तु कर्म के आधार पर विभाजन बहुत प्राचीन काल से ही काम नहीं करता रहा। मैगस्थनीज़ हमें वर्ण-व्यवस्था से भिन्न विभाजन के विषय में बताता है। उसने राजनीतिज्ञों और सरकारी कर्म-चारियों को सबसे ऊँचा स्थान दिया है, और शिकारियों तथा जंगली लोगों को छठे विभाग में रखा है। पतञ्जलि ने ब्राह्मण राजाओं और मनु ने शूद्र शासकों का उल्लेख किया है। सिकन्दर के समय ब्राह्मण सैनिक होते थे, जैसेकि आजभी होते हैं। वर्ण-व्यवस्था का लक्ष्य चाहे जो कुछ रहा हो, परन्तु हुआ यह कि लोगों में एक मिथ्या अभिमान की भावना आ गई और उसके फलस्वरूप निचले वर्णों का तिरस्कार होने लगा। शूद्रों के सम्बन्ध में मनु की दुर्भाग्यपूर्ण उक्तियाँ सम्भवतः उसके बौद्धधर्म-विरोधी रुख से प्रेरित थीं; जो बौद्धधर्म शूद्रों को अध्ययन और मठवाद का उच्चतम धार्मिक जीवन बिताने का अधिकार देता था। मनु की दृष्टि में ये वे शूद्र थे, जो द्विजों (ब्राह्मणों या उच्च वर्णों) की सी शान दिखाया करते थे।[2] मनु ने धर्मशास्त्रों के अध्ययन का अधिकार केवल ब्राह्मणों तक सीमित रखा है, परन्तु शंकराचार्य का मत है कि उन्हें सब वर्णों के लोग पढ़ सकते हैं। जब वर्ण-व्यवस्था की मूल योजना में अत्यधिक रूढ़िवाद (नियम-निष्ठा) आ गया, तब उसके विरोध में बौद्ध और जैन मतों के अनुयायियों ने प्रतिवाद की आवाज़ उठाई; और उन्होंने मैत्री या मानवीय भ्रातृभाव के आदर्श पर ज़ोर दिया। विशेषरूप से वे लोग इन नये मतों में दीक्षित हो गये, जिन्हें अपनी शक्तियों को उच्चतम सीमातक विकसित करने का अवसर प्राप्त नहीं था। हिन्दू आचार्यों ने जाति के आधार पर भेदभाव की निन्दा की। 'वज्रसूचिकोपनिषद्' का मत है कि ऐसे बहुत-से ब्राह्मण मुनियों के पद तक पहुँच गये थे, जो अ-ब्राह्मणियों की सन्तान थे।[3]

सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन च विधीयते।
वृत्तस्थितस्तु शूद्रोपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति ॥

१ शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः।
वैश्यत्वं लभते ब्राह्मं क्षत्रियत्वं तथैव च।
आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते।—अरण्यपर्व

२ शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः

३ जात्यन्तरेषु अनेकजातिसम्भवात् महर्षयो बहवः सन्ति व्यासः कैवर्तकन्यायां, वशिष्ठ उर्वश्यां....अगस्त्यः कलशज इति श्रुत्वात्

'महाभारत' के एक श्लोक में कहा गया है कि हम सब ब्राह्मण ही उत्पन्न होते हैं और बाद में अपने आचरण और धन्धों (पेशों) के कारण अलग-अलग वर्णों में पहुँच जाते हैं। पहले सारा संसार एकही वर्ण का था, और बाद में चार वर्ण लोगों के अपने-अपने आचरण के कारण स्थापित हुए।[1] आदिम जातियों का हिन्दूकरण, उच्चतर आदर्शों के प्रति स्वाभाविक आकर्षण, धीरे-धीरे बिना किसी दबाव के होता रहा है। इसे और भी शीघ्र तथा सफल बनाने के लिए सवर्ण हिन्दुओं को अपनी पृथक्ता और अभिमान को त्याग देना चाहिए। वर्ण-भेद ने हिन्दुओं में एक जातीयता का विकास नहीं होने दिया। अनगिनत जातियों और उपजातियों से भी पिण्ड छुड़ाना होगा, जिनके साथ एकांतिकता, ईर्ष्या, लोभ और भय की भावना जुड़ी हुई है।

शारीरिक शुद्धि (शौच) आन्तरिक शुद्धि का ही साधन है। स्वच्छता दिव्यता के लिए प्राथमिक सहायता है। पुराने समय में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य एक-दूसरे के हाथ का पकाया हुआ अन्न खा सकते थे। मनु का कथन है कि द्विज को शूद्र के हाथ का पकाया भोजन नहीं करना चाहिए।[2] परन्तु जो खाद्य दास ने या परिवार के मित्र ने या खेती के लाभ में साझीदार ने पकाया हो, वह खाया जा सकता है।[3] हमारे इस समय में इस प्रकार के भेदभाव असमर्थनीय हैं और खिझाने-वाले हैं, और ये स्वच्छन्द सामाजिक गति में रुकावट डालते हैं। प्राचीन काल में मांस ब्राह्मण लोग भी खाते थे। प्राचीन वैदिक धर्म में कई पशुओं की बलि दी जाती थी। बौद्ध, जैन और वैष्णव मतों के प्रभाव के कारण यह प्रथा बुरी समझी जाने लगी। मनु और याज्ञवल्क्य ने मांस-भक्षण पर इतने अधिक प्रतिबन्ध लगा दिये हैं कि वे मांसाहार को निरुत्साहित करते हैं।

संस्कार

संस्कारों में प्रमुख ये हैं: (१) जातकर्म या जन्म; (२) उपनयन या आत्मिक जीवन में दीक्षा; (३) विवाह; (४) अंत्येष्टि या मृतक की अंतिम क्रिया। अन्य संस्कार, जैसे नामकरण—बच्चे का नाम रखना, अन्नप्राशन—बच्चे को पहली बार पका हुआ भोजन खिलाना, विद्यारम्भ—बच्चे की शिक्षा का आरम्भ लोकप्रिय ढंग के संस्कार हैं, जिनसे बच्चे के प्रति प्रेम और वात्सल्य प्रकट होता है। उपनयन को छोड़कर बाकी सब संस्कार, भलेही अलग-अलग रूपों में सभी

---

१ एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर,
कर्मक्रियाविशेषेण चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्। —अरण्यपर्व

२ ४-२३२; गौतम, १७-१

३ ४-२५३; आपस्तम्ब १८-१-६, १३, १४

हिन्दुओं द्वारा किये जाते हैं। उपनयन आध्यात्मिक पुनर्जन्म है। पहले जन्म में विच्छेद, वियोग और आवश्यकता के सामने झुकना होता है। यह दूसरा जन्म सम्मिलन और स्वाधीनता में होता है। पहले जन्म में अस्तित्व का विशुद्धतया बाहरी रूप ही होता है; दूसरे जन्म का अर्थ है जीवन को गहरे आंतरिक स्तर पर जीना। उपनयन संस्कार का मूल भारत-ईरानी है। इसका सार पवित्र गायत्री मंत्र सिखाने में है। यह एक प्रार्थना है, जो सवितृ (सूर्य)[1] से की गई है, जो सृष्टि का मूल उद्‌गम और प्रेरक माना जाता है। सारा सत्य प्रतीकात्मक है। सूर्य, जो प्रकाश और जीवन का प्रत्यक्ष स्रोत है, दिव्यता (ईश्वरत्व) की प्रकृति (स्वभाव) को अन्य किसीभी कल्पनात्मक संकेत की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह व्यक्त करता है। दिव्य शक्ति का यह सबसे प्रमुख दृश्य आविर्भाव (प्रकटन) है। मंत्र का अर्थ है : "हम दैवी प्रकाश की देदीप्यमान महिमा का ध्यान करते हैं; वह हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे।"[2] उपनिषदों के काल में उपनयन एक सीधा-सादा अनुष्ठान था। शिष्य समिधाएँ हाथ में लेकर गुरु के पास जाता था और छात्रत्व (ब्रह्मचर्य) के आश्रम में प्रविष्ट होने की इच्छा प्रकट करता था। मृगचर्म धारण करना, उपवास करना तथा अन्य अनुष्ठान उस काल से अबतक चले आ रहे हैं, जबकि वैदिक आर्य वनों में रहा करते थे। जब सत्यकाम जाबाल गौतम हरिद्रुमत के पास आकर सच बात बता देता है, तो गौतम कहता है, "समिधाएँ ले आओ वत्स, मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा।"[3] सूत्रों और स्मृतियों में पहुँचकर यह अनुष्ठान बहुत विशद हो गया। सुप्रसिद्ध मंत्र[4] को बोलते हुए यज्ञोपवीत धारण करना दीक्षा का प्रतीक है। यद्यपि क्षत्रियों और वैश्यों को भी उपनयन का अधिकार था, पर लगता है कि वे सब इस अधिकार का उपयोग करते नहीं थे। संध्या में अवैदिक तत्त्व मिल गये हैं; संध्या के कई अवयव (अंग) हैं: आचमन (जल के घूंट भरना), प्राणायाम (श्वास का नियंत्रण), मार्जन (मंत्र बोलते हुए अपने शरीर पर जल छिड़कना) अघमर्षण (सूर्य को जल-अर्घ्य चढ़ाना), जप (गायत्री मंत्र का बार-बार पाठ),

---

१ ऋग्वेद, ३-६२-१०

२ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।
वैदिक तथा अन्य परम्पराओं में सूर्य को परमात्मा की मूर्ति के रूप में प्रयुक्त किया जाता रहा है। इस प्रथा के विषय में दान्ते कहता है, "सारे संसार में अन्य कोई इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तु ऐसी नहीं है, जो परमात्मा का प्रतिरूप बनने के लिए सूर्य से अधिक उपयुक्त हो।"

३ छान्दोग्य उपनिषद्, ४-४-५।

४ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

उपस्थान (प्रातःकाल सूर्य की उपासना के लिए और सायंकाल वरुण की उपासना के लिए मंत्रों का पाठ), उपसंग्रहण (अपने गोत्र और नाम का उच्चारण करते हुए, अपने कान छूकर, पैर पकड़कर और सिर झुकाकर यह कहना कि 'मैं प्रणाम करता हूँ')।

गायत्री की प्रार्थना भारत के सांस्कृतिक इतिहास की समयुगीन है। इसमें यह मान लिया गया है कि वस्तुएँ जिस रूप में हैं उनमें एक प्रकार की अविराम अस्थिरता है; एक उत्कृष्टतर मार्ग की शाश्वत खोज है और है एक उत्कृष्टतर संसार की ओर निरन्तर प्रगति। जीवन का सबसे बड़ा वरदान एक उच्चतर जीवन का स्वप्न है। प्रत्येक व्यक्ति की महत्वाकांक्षा यह होती है कि उसे गम्भीरतर, तीव्रतर और विस्तृततर आत्मचेतना और स्पष्टतर आत्मज्ञान प्राप्त हो। इस प्रार्थना को तो संदेहवादी और ईश्वरवादी भी अपने बौद्धिक अन्तःकरणों पर आँच आने दिये बिना अपना सकते हैं। यह मानव-आत्मा में और मानवीय प्रयत्न की समाप्ति में श्रद्धा की पहले से ही कल्पना करके चलती है। यह उस सच्चे धर्म की प्रतीक है, जो आध्यामिक साहस-कार्य है। परमात्मा सतत पुनर्जन्म है। हमें अपने-आपको नग्न (अनावृत) और मिथ्यात्व के मुखावरण के बिना पाना होगा। तभी हमारा दूसरा जन्म होता है।

अध्याय–९

दर्शन शास्त्र

[डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम. ए., पी. एच. डी.]

मनुष्य ने जिस दिन प्रतीयमान, अर्थात् ऊपर या वाहर से दीखनेवाले जगत् की गहराई में पैठकर उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया, उसी दिन से दर्शन का प्रारम्भ होता है। चूँकि भारतीय विचार-धाराओं को जानने के लिए सबसे प्राचीन प्राप्त साहित्य वेद हैं, इसलिए भारतीय दर्शनों का प्रारम्भ वेदों से माना जाता है। पर यह कहना उचित न होगा कि वेदों की रचना करनेवाले आर्यों से पहले भारत में दार्शनिक दृष्टि नहीं थी। वेद एवं पुराणों में बहुत-सी ऐसी परम्पराओं का उल्लेख आया है, जो भारत के निवासियों में, आर्यों के आने से पहले, प्रचलित थीं। जबतक आर्यों और मूल निवासियों में संघर्ष चलता रहा, उन्हें आदर नहीं मिला। किन्तु वातावरण के शान्त होने पर जब दोनों आपस में मिल गये, तब उन परम्पराओं ने भारतीय संस्कृति में फिरसे अपना प्रभुत्व जमा लिया। वर्तमान हिन्दू-संस्कृति का यदि गहराई से विश्लेषण किया जाय, तो उसमें आर्येतर प्रभाव साफ़ प्रतीत होता है, और यह उन परम्पराओं की दृढ़ता तथा उदात्त भावना का प्रमाण है। फिर-भी उन परम्पराओं का क्रमबद्ध इतिहास लिखने के लिए पर्याप्त सामग्री उप-लब्ध नहीं है। इसलिए भारतीय दर्शनों का इतिहास-लेखन वेदों से प्रारम्भ किया जाता है, और अवैदिक परम्पराओं को वैदिक परम्परा की प्रतिक्रिया बताया जाता है। पर यह ठीक नहीं है। श्रमण-परम्परा के बीज उपनिषदों तथा अथर्ववेद और ऋग्वेद में मिलते हैं। यह ठीक है कि उन परम्पराओं में नये-नये प्रवर्त्तक आये और प्रयोग भी नये-नये होते रहे। उनमें से बहुत-से प्रयोग प्रतिक्रिया के रूप में भी हुए। किन्तु यह कहना सही नहीं कि उन प्रयोगों से पहले उन परम्पराओं का कोई रूप नहीं था, और उस समय वैदिक परम्परा ही सर्वत्र व्याप्त थी।

दर्शन का प्रारम्भ

जहाँतक अनुभव का प्रश्न है, दर्शन और विज्ञान दोनों का एकही साध्य है। लेकिन साधनों में भेद है। उपेय एक होने पर भी उपायों में भेद है। विज्ञान, अनुभव के आधार पर, जहाँ वस्तु की व्याख्या करता है, वहाँ दर्शन तर्क के आधार पर। यद्यपि तर्क का आधार भी प्रत्यक्ष ही है, किन्तु दर्शन प्रत्यक्ष अथवा अनुभव का उपपादन करने

दर्शन और विज्ञान

के लिए ऐसी वस्तु की कल्पना भी कर लेता है, जो अतीन्द्रिय है। विज्ञान इस प्रकार की कल्पनाएँ नहीं करता।

भारतीय विचार-धाराओं में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया गया है। व्याकरण के अनुसार यह शब्द 'दृश्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है देखना।

'दर्शन' शब्द का अर्थ

इसी धातु से 'ऋषि' शब्द भी बनता है, जिसका अर्थ है देखनेवाला। देखता तो प्रत्येक प्राणी है, किन्तु उसे 'ऋषि' नहीं कहा जा सकता। ऋषि वह है, जिसने जीवन अथवा विश्व के रहस्य को देखा। जीवन का रहस्य जाननेवाला धर्मप्रवर्तक के रूप में सामने आया, और विश्व का रहस्य जाननेवाला दार्शनिक के रूप में। इसी प्रकार दर्शन शब्द का भी अर्थ है 'रहस्य का साक्षात्कार'।

जैन दर्शन में इस शब्द के दो अर्थ मिलते हैं। पहला अर्थ है श्रद्धा। यह दो प्रकार की होती है, मिथ्या और सम्यक्। जो वास्तव में दुःख के साधन हैं उन्हें सुख का साधन मानना, जीवन के वास्तविक लक्ष्य को न पहचानना 'मिथ्या' श्रद्धा है। इसके विपरीत, जीवन के वास्तविक लक्ष्य को पहचानना और सुख के वास्तविक साधनों को सुख का साधन और दुःख के साधनों को दुःख का साधन मानना 'सम्यक्' श्रद्धा है। इन्हींको 'मिथ्यादर्शन' और 'सम्यग्दर्शन' भी कहा जाता है। जैन आचार-शास्त्र या आध्यात्मिक उत्थान का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है।

दर्शन शब्द का दूसरा अर्थ 'निराकार प्रतीति' या आत्मा का किसी वस्तु को जानने के लिए प्रथम आवर्जन है। ज्ञान का प्रारम्भ इस दर्शन से होता है। इन दोनों का विवेचन आगे किया जायगा।

बौद्धदर्शन में दर्शन की जगह 'दृष्टि' शब्द अधिक प्रचलित है। वहाँ भी आध्यात्मिक विकास का प्रारम्भ सम्यक् दृष्टि के साथ होता है।

दार्शनिक विचार-धाराओं की चर्चा करते समय दर्शन शब्द का अर्थ मुख्यतः 'विश्व के रहस्य का साक्षात्कार' माना जाता है। सभी दर्शनों ने अपनी-अपनी दृष्टि से विश्व का जो रहस्य देखा, उसका तर्क और अनुभव के आधार पर प्रतिपादन किया, वही प्रत्येक विचार-धारा का साहित्य बन गया।

दर्शन शब्द के उपर्युक्त अर्थ से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दर्शन का सम्बन्ध जीवन तथा अनुभव दोनों के साथ है। जीवन का रहस्य आचार-शास्त्र के अन्तर्गत है, और अनुभव का रहस्य तत्त्वज्ञान के अन्तर्गत।

दर्शन का क्षेत्र

तत्त्वज्ञान का अर्थ है 'वास्तविकता का ज्ञान'। हम घट-पट आदि सैकड़ों पदार्थों को प्रतिदिन देखते हैं। हमारे मन में स्वभावतः प्रश्न उठता है कि क्या वे, जैसे कि दिखाई देते हैं, वास्तव में ऐसे ही हैं अथवा भिन्न प्रकार के। आँवला खाने के बाद शुद्ध जल भी मीठा लगता है। पित्त ज्वरवाले को प्रत्येक वस्तु कसैली लगती है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसे जैसी प्रतीति होती

है, 'वास्तविकता' भी वैसी ही है। वास्तविकता की खोज के लिए हम उसका अनुभव दूसरे अनुभवों से मिलाते हैं। उसके विकृत अनुभव का कारण ढूँढ़ते हैं और सच्चे अनुभव की कसौटी निश्चित करते हैं। ये सारी बातें प्रमाणशास्त्र में आती हैं। सम्यग्ज्ञान के कारण को 'प्रमाण' कहते हैं। जिस शास्त्र में उन कारणों की परीक्षा की जाय वह प्रमाणशास्त्र है। जानने की कसौटी के निश्चित हो जाने पर हम प्रतीयमान पदार्थों को उस कसौटी पर परखते हैं, उनके खरे या खोटे होने की जाँच करते हैं। इसे 'प्रमेय-परीक्षण' कहा जाता है। इसी तरह हमें यह भी जानना है कि ज्ञान के साधन का ज्ञेय के साथ क्या सम्बन्ध है। उदाहरण के रूप में, हम आँखों से घट को जानते हैं तो यह जानना आवश्यक है कि आँखें घट को किस प्रकार जानती हैं। इस चर्चा को ज्ञान-मीमांसा कह सकते हैं। इस प्रकार अनुभव के तीन भेद हो जाते हैं :

१. प्रमाण-मीमांसा
२. प्रमेय-मीमांसा
३. ज्ञान-मीमांसा

यदि इनके साथ आचारशास्त्र (नीतिशास्त्र) को भी मिला दिया जाय, तो दर्शनशास्त्र के चार विभाग हो जाते हैं।

भारतीय दर्शनों का विभाजन साधारण तौर पर 'वैदिक' तथा 'अवैदिक' दर्शनों के रूप में किया जाता है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त ये वैदिक दर्शन हैं। और जैन, बौद्ध तथा चार्वाक अवैदिक हैं। वैदिक का इतना ही अर्थ है कि इन दर्शनों ने वेद को अप्रमाण नहीं माना। धर्म या आचार के क्षेत्र में वेद को अन्तिम प्रमाण के रूप में भी स्वीकार किया है। जहाँतक दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रश्न है, प्रथम चार दर्शन अपने मूल आधार के रूप में वेदों को प्रस्तुत नहीं करते। मीमांसा तथा वेदांत ही अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन वैदिक साहित्य के आधार पर करते हैं। इन दर्शनों का दूसरा विभाजन 'आस्तिक' तथा 'नास्तिक' के रूप में किया जाता है। प्रथम छह आस्तिक माने जाते हैं, और अन्तिम तीन नास्तिक। किन्तु आस्तिक शब्द के अर्थ के बारे में कई धारणाएँ हैं। मनुस्मृति में 'वेद-निन्दक' को नास्तिक कहा गया है।

भारतीय दर्शन

ऊपर का यह विभाजन इसी आधार पर किया जाता है। पाणिनि ने परलोक माननेवाले को आस्तिक, और न माननेवाले को नास्तिक कहा है। इस दृष्टि से देखा जाय तो जैन और बौद्ध नास्तिक नहीं हैं। केवल चार्वाक ही ऐसा दर्शन है, जो परलोक तथा आत्मा का अस्तित्व नहीं मानता। कठोपनिषद् में यह विभाजन मरने के बाद आत्मा के रहने और न रहने के आधार पर किया गया है। अंग्रेजी में आस्तिक और नास्तिक के लिए क्रमश: 'थीएस्ट' तथा 'एथीएस्ट' शब्दों का प्रयोग

होता है। वहाँ इनका अर्थ है जगत्कर्त्ता के रूप में ईश्वर को माननेवाला और न माननेवाला। इस दृष्टि से देखा जाय, तो सांख्यदर्शन की गणना नास्तिकों में होगी। किन्तु भारत में यह अर्थ नहीं लिया जाता।

दर्शनों का दूसरा विभाजन मूल दृष्टि के आधार पर भी किया जाता है। कुछ दर्शन विश्व के मूल में एक तत्त्व मानते हैं, कुछ दो, और कुछ अनेक। कोई वाह्य जगत् को मिथ्या मानता है, तो कोई सत्य।

वैदिक दर्शनों को युगल रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसका अर्थ है कि वे एक-दूसरे के पूरक हैं। न्याय और वैशेषिक का युगल है। न्याय मुख्यतया प्रमाण अर्थात् तर्कशास्त्र को प्रस्तुत करता है, और वैशेषिक प्रमेय अर्थात् जगत् के स्वरूप को। सांख्य और योग का युगल है। सांख्य जहाँ विश्व के मूल तत्त्वों का निरूपण करता है, तहाँ योग साधना-मार्ग का। इसी प्रकार मीमांसा और वेदान्त का युगल है। मीमांसा कर्ममार्ग का प्रतिपादक है, और वेदान्त ज्ञान मार्ग अर्थात् आत्मा के साक्षात्कार का।

सभी दर्शन संसार को दुःखरूप मानते हैं, और उससे छुटकारा जीवन का चरम लक्ष्य। इस दृष्टि से देखा जाय तो भारतीय दर्शनों को मोक्षशास्त्र कहा जायगा। इसके विपरीत, पाश्चात्य दर्शनों का मुख्य लक्ष्य है सत्य की खोज।

दर्शनशास्त्र की मुख्य तीन शाखाएँ हैं:

(१) विश्व-व्यवस्था या ज्ञेय-मीमांसा—इसमें यह बताया जाता है कि विश्व का स्वरूप क्या है, उसकी रचना कैसे हुई और उसके मूल तत्त्व कितने हैं?

(२) प्रमाण या तर्क-मीमांसा—इसमें यह बताया जाता है कि हम वस्तुओं को कैसे जानते हैं और हमारा ज्ञान कहाँतक ठीक है?

(३) आचार-मीमांसा—इसमें यह बताया जाता है कि जीवन का चरम लक्ष्य क्या है, और वह कैसे प्राप्त होता है?

अवैदिक परम्पराओं ने इस शाखा का अन्तर्भाव धर्म में किया है। किन्तु वैदिक परम्पराओं में धर्म का मुख्य लक्ष्य सामाजिक जीवन रहा है, और आत्म-साधना दर्शन का अंग।

वैशेषिक दर्शन के प्रथम सूत्र में धर्म की व्याख्या की गई है। वहाँ बताया गया है कि जिससे 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस्' दोनों की प्राप्ति हो, उसे धर्म कहते हैं। अभ्युदय का अर्थ है लौकिक उन्नति। किन्तु मीमांसा को छोड़कर अन्य किसी दर्शन ने लौकिक उन्नति को जीवन का लक्ष्य नहीं माना। सभी दर्शनों ने निःश्रेयस् अर्थात् मोक्ष पर ज़ोर दिया है। मोक्ष एक ऐसी अवस्था है, जहाँ सभी दुःखों का सदा के लिए अन्त हो जाता है। यह व्याख्या सर्वसम्मत है। किन्तु वहाँ आत्मा किस रूप में रहता है, इस विषय में काफ़ी मतभेद है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार वहाँ ज्ञान, सुख, इच्छा

जीवन का लक्ष्य

आदि ऐसा कोई गुण नहीं रहता, जो चेतना को जड़ से पृथक् करता हो। केवल अस्तित्व रहता है। सांख्य दर्शन अस्तित्व के साथ चेतना को भी मानता है। किन्तु उसमें किसी विषय की अनुभूति नहीं होती। वेदान्त चेतना के साथ आनन्द को भी मानता है। किन्तु वह आनन्द दु:ख का अभावमात्र है। विधिरूप में उसकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से देखा जाय, तो भारतीय दर्शनों का लक्ष्य मुख्य रूप से दु:खों से छुटकारा है, आनन्द की प्राप्ति नहीं।

अद्वैत वेदान्त तथा शून्यवादी (माध्यमिक) एवं ज्ञानवादी (योगाचार) बौद्ध यह मानते हैं कि मुक्त अवस्था में जीवात्मा का अस्तित्व नहीं रहता। वह ब्रह्म या किसी महातत्त्व में विलीन हो जाता है। किन्तु अन्य दर्शन उसका पृथक् अस्तित्व मानते हैं। उनकी दृष्टि में वैयक्तिक अस्तित्व की समाप्ति जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता।

न्याय-दर्शन

न्याय का अर्थ है वे सिद्धान्त, जिनके आधार पर विवादास्पद प्रश्नों का निर्णय किया जाता है। प्राचीन समय में इसके अनेक रूप रहे हैं, जैसे, शास्त्रों की आज्ञा, परम्परा या रिवाज, प्रतिष्ठित व्यक्ति का आदेश इत्यादि। मीमांसा-दर्शन, स्मृति-साहित्य तथा अनेक दार्शनिक परम्पराओं में उन्हें प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु महर्षि गौतम ने सत्य का निर्णय करने के लिए तर्क पर अधिक ज़ोर दिया। तभी से न्याय को तर्क-विद्या मान लिया गया, और उसका उत्तरोत्तर विकास होता गया। इसको **आन्वीक्षिकी** भी कहा जाता है। इसका अर्थ है देखी या जानी हुई बात का पुन: देखना या परीक्षण करना। गौतम का दूसरा नाम अक्षपाद था, इसलिए इसे **अक्षपाद-दर्शन** भी कहा जाता है। अन्य दर्शनों के समान न्याय भी मोक्ष को अपना चरम लक्ष्य मानता है। यहाँ बताया गया है कि तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष-लाभ होता है, और उसके उपाय के रूप में प्रमाण-विद्या अर्थात् वस्तु को ठीक-ठीक जानने के उपायों का प्रतिपादन किया गया है। न्याय-दर्शन ने विश्व-व्यवस्था के लिए प्राय: वैशेषिक-दर्शन को अपना आधार माना है, इसीलिए न्याय-वैशेषिक का युगल या जोड़ा कहा जाता है।

न्याय-दर्शन का मूल ग्रन्थ गौतम कृत (ई० पू० २००) न्याय-सूत्र है। इसमें पाँच अध्याय हैं, और प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक।

[**नोट**—न्याय-दर्शन पर लिखे गये विविध ग्रन्थों की सूची परिशिष्ट 'ख' में देखो।]

गौतम के न्याय सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने पदार्थों को चार भागों में विभक्त किया है :

१. प्रमाता—जाननेवाला

२. प्रमेय—ज्ञान का विषय

३. प्रमाण—ज्ञान का साधन, और

४. प्रमिति—अर्थात् ज्ञान

न्याय-दर्शन में जिन विषयों की चर्चा है, उनको इन चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—१. प्रमाण-चर्चा, २. प्रमेय-चर्चा, ३. प्रमाणी-चर्चा और ४. ईश्वर-चर्चा। इसका विकास मुख्यतया बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ के फलस्वरूप हुआ।

गौतम ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ये १६ पदार्थ गिनाये हैं :

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय,

वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह-स्थान ।

वास्तव में देखा जाय तो ये सब प्रथम दो अर्थात् प्रमाण और प्रमेय के अंदर आ जाते हैं; शेप चौदह पदार्थों में से कुछ अनुमान के अंग हैं, और कुछ शास्त्रार्थ से सम्बन्ध रखते हैं ।

प्रमाण

प्रमाण का अर्थ है 'प्रमा' अर्थात् सच्चे ज्ञान का करण यानी सबसे उत्कृष्ट साधन । यहाँ नीचेलिखे प्रश्न उपस्थित होते हैं :

१. ज्ञान किसे कहते हैं ? २. उसमें सचाई का क्या अर्थ है ? ३. वह कैसे होता है अर्थात् उसके साधन कौन-कौन से हैं ? और, उनमें ४. सर्वोत्कृष्ट किसे कहा जायेगा ? नीचे इन प्रश्नों की क्रमशः चर्चा की जायगी :

ज्ञान का स्वरूप—न्याय-दर्शन में ज्ञान या बुद्धि आत्मा का गुण है । जैन-दर्शन तथा वेदान्त-दर्शन के अनुसार यह गुण स्वाभाविक है, अर्थात् प्रत्येक आत्मा अपने-आपमें सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी है । उसका यह गुण आवरण या अविद्या के कारण दबा रहता है, उसके हटते ही वह अपने-आप प्रकट हो जाता है । किन्तु न्याय-दर्शन ने इसे स्वाभाविक नहीं माना । सामग्री के एकत्र होने पर इसकी उत्पत्ति होती है, और फिर अपने-आप नष्ट हो जाता है । मुक्त अवस्था में सामग्री नहीं रहती, अतः ज्ञान नहीं होता । ज्ञान और विपय के सम्बन्ध को लेकर तीन मान्यताएँ हैं । ज्ञानाद्वैतवादी मानते हैं कि विपय या बाह्य जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । जैसे स्वप्न में हमारा ज्ञान ही हाथी, घोड़े आदि बाह्य जगत् का रूप ले लेता है, इसीतरह सर्वत्र हमारा ज्ञान ही ज्ञेय के रूप में प्रतीत होता है । दूसरी मान्यता सांख्य-दर्शन की है । उसका कथन है कि बाह्य वस्तुएँ विद्यमान तो हैं, पर हम उन्हें साक्षात् नहीं जानते । वे हमारी बुद्धि में प्रतिविम्बित होती हैं, और बुद्धि प्रतिविम्ब को ग्रहण करती है । ज्ञान की निर्मलता प्रतिविम्ब की निर्मलता पर आधार रखती है, और वह दर्पण अर्थात् बुद्धि की निर्मलता पर । इसे 'प्रतिविम्ब-वाद' कहते हैं । इसीसे मिलती-जुलती मान्यता सौत्रान्तिक बौद्धों की है । तीसरी मान्यता 'प्रकाशवाद' है । इसका कथन है कि जिस प्रकार दीपक घट-पट आदि पदार्थों को ज्यों-का-त्यों प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान भी बाह्य वस्तुओं को आलोकित करता है । न उनकी वह रचना करता है और न उनमें कुछ मिलाता है । न्याय-दर्शन भी 'प्रकाशवाद' का समर्थक है ।

अब हमें यह जानना है कि सच्चा ज्ञान किसे कहते हैं । न्याय-दर्शन के अनुसार सच्चे ज्ञान का अर्थ है 'तद्वति तद्प्रकारक ज्ञान' । उदाहरण के रूप में, घट में घटत्व रहता है । यदि हम उसे घटत्व विशिष्ट के रूप में जानते हैं, तो यह ज्ञान सच्चा है । इसके विपरीत, जब हम रस्सी को साँप समझते हैं, तो वहाँ, सर्पत्व न होने पर भी, सर्पत्व विशिष्ट का ज्ञान होता है । वह 'तद्वति तद्प्रकारक' नहीं

है, इसलिए मिथ्या है। पीलिया रोगवाले को शंख पीला न होने पर भी पीला दिखाई देता है, अतः भ्रम है। सच्चे ज्ञान के लिए इन तीन बातों का होना आवश्यक है : (१) उसमें संदेह नहीं होना चाहिए, (२) भ्रम नहीं होना चाहिए, और (३) वह अनुभवरूप होना चाहिए, अर्थात् ज्ञान और विषय का साक्षात् सम्पर्क होना चाहिए।

मिथ्या ज्ञान के भेद

अप्रमा या मिथ्या ज्ञान चार प्रकार का है :

१. **संशय**—अनिश्चयात्मक ज्ञान

२. **विपर्यय**—विपरीत ज्ञान, जैसे अँधेरे में रस्सी को साँप समझ लेना

३. **स्मृति**—पहले कभी जानी हुई वस्तु का स्मरण करना

४. **तर्क**—ऊहापोहात्मक ज्ञान, जैसे जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ आग भी होती है।

पिछले दो ज्ञान झूठे नहीं हैं, पर उनमें किसी नई वस्तु का अनुभव नहीं होता। विषय का ज्ञान के साथ सम्बन्ध भी नहीं होता, इसलिए उन्हें 'प्रमा' में नहीं गिना जाता।

प्रमा के भेद

प्रमा यानी सच्चे ज्ञान के चार भेद हैं :

(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, और (४) शब्द

प्रत्यक्ष का अर्थ है इन्द्रियों द्वारा होनेवाला साक्षात् ज्ञान। इसकी परिभाषा कई प्रकार से की जाती है। गौतम ने इसका यह लक्षण किया है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ के परस्पर-सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, जिसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, तथा जो भ्रम से रहित और निश्चयात्मक है, उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। कालान्तर में यह अनुभव किया गया कि सभी 'प्रत्यक्ष' इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न नहीं होते। उदाहरण के रूप में, ईश्वर का प्रत्यक्ष नित्य है, वह कभी उत्पन्न नहीं होता। इसीप्रकार हमें जो सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष होता है, उसमें इन्द्रियों के सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती। इन तथ्यों को सामने रखकर दूसरी व्याख्या की गई कि जो ज्ञान दूसरे ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। अनुमान आदि अन्य ज्ञानों में दूसरे ज्ञान की आवश्यकता रहती है। आग का अनुमान करने के लिए धुएँ का प्रत्यक्ष आवश्यक है। इसी प्रकार उपमान में स्मृति, और शब्द-ज्ञान में शब्दों का श्रवणेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष अनिवार्य है। प्रत्यक्ष ही ऐसा ज्ञान है, जिसे उत्पन्न होने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। इस परिभाषा में ईश्वर का ज्ञान तथा आत्म-संवेदन अर्थात् सुख-दुःख आदि अनुभूतियाँ सम्मिलित

प्रत्यक्ष

हो जाती हैं। किन्तु यह प्रत्यक्ष के स्वरूप को विधि-रूप में उपस्थित नहीं करता। तीसरी परिभाषा की गई कि साक्षात् ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष ही ऐसा ज्ञान है, जहाँ हम वस्तु का साक्षात् अनुभव करते हैं। अन्य ज्ञानों में दूसरे ज्ञान का व्यवधान हो जाता है।

प्रत्यक्ष के भेद

साधारणतया प्रत्यक्ष के दो भेद किये जाते हैं, लौकिक और अलौकिक। लौकिक का अर्थ है साधारण लोगों का प्रत्यक्ष। इसके दो भेद हैं, बाह्य अर्थात् इन्द्रियों से होनेवाला प्रत्यक्ष, तथा आभ्यन्तर अर्थात् मानस प्रत्यक्ष। अलौकिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं, ईश्वर का प्रत्यक्ष और योगियों का प्रत्यक्ष।

सन्निकर्ष

ज्ञान के लिए ज्ञाता और ज्ञेय का परस्पर-सम्बन्ध आवश्यक है। इसीको 'सन्निकर्ष' कहते हैं। यह कई प्रकार का है। बाह्य अर्थात् इन्द्रियों से होनेवाले प्रत्यक्ष में इन वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध होता है—आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय का घट, पट आदि ज्ञेय पदार्थ के साथ। आभ्यन्तर प्रत्यक्ष में यह सम्बन्ध केवल मन और आत्मा का होता है। ईश्वर प्रत्यक्ष नित्य है। वहाँ यह सम्बन्ध ही नित्य है और शाश्वत है। मन या इन्द्रिय के रूप में किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती। योगी के प्रत्यक्ष में यह सम्बन्ध योग से उत्पन्न शक्ति के द्वारा होता है।

बाह्य प्रत्यक्ष में ६ प्रकार का सम्बन्ध होता है।

(१) **संयोग**—घट, पट आदि द्रव्यों के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और पदार्थ का संयोग-सम्बन्ध होता है।

(२) **संयुक्त-समवाय**—द्रव्य में रहनेवाले गुण, क्रिया तथा जाति का प्रत्यक्ष संयुक्त-समवाय सम्बन्ध से होता है। इन्द्रिय का संयोग द्रव्य के साथ होता है, और उसमें गुण आदि समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं।

(३) **संयुक्त-समवेत-समवाय**—गुण तथा कर्म में रहनेवाली जाति का प्रत्यक्ष इस सम्बन्ध से होता है। द्रव्य का इन्द्रिय के साथ संयोग होता है। उसमें गुण एवं क्रिया समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं, और उनमें जाति समवाय-सम्बन्ध से रहती है।

(४) **समवाय**—शब्द का प्रत्यक्ष समवाय-सम्बन्ध से होता है। न्याय-दर्शन के अनुसार शब्द आकाश का गुण है, और श्रोत्रेन्द्रिय आकाशरूप है। अतः शब्द का उसके साथ समवाय-सम्बन्ध है।

(५) **समवेत-समवाय**—शब्द में रहनेवाली जाति का प्रत्यक्ष इस सम्बन्ध से होता है।

(६) **विशेषणता**—अभाव का प्रत्यक्ष विशेषणता-सम्बन्ध से होता है। उदाहरण के रूप में, जब हम यह जानते हैं कि मेज पर क़लम नहीं है, तो चक्षु-

इन्द्रिय का सम्बन्ध मेज़ के साथ होता है। और 'क़लम का अभाव' मेज़ का विशेषण होने के कारण जान लिया जाता है।

इन्द्रियों का स्वरूप

न्याय-दर्शन यह मानता है कि जिस द्रव्य का जो विशेष गुण है, उसे ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय उसी द्रव्य से बनी हुई है।

श्रोत्रेन्द्रिय शब्द को ग्रहण करती है, और शब्द आकाश का विशेष गुण है, अतः श्रोत्रेन्द्रिय आकाशरूप है।

चक्षुइन्द्रिय रूप को ग्रहण करती है, जो अग्नि का विशेष गुण है, अतः चक्षु इन्द्रिय आग्नेय या तेजस् है।

घ्राणेन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करती है, जो पृथिवी का विशेष गुण है, अतः घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है।

जिह्वा या रसनेन्द्रिय रस को ग्रहण करती है, जो जल का विशेष गुण है, अतः रसनेन्द्रिय जलीय है।

स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श को ग्रहण करती है, जो वायु का विशेष गुण है, अतः स्पर्शेन्द्रिय वायव्य है।

मन के द्वारा सभी पदार्थों का ग्रहण होता है। वह नित्य है और अणु-परिमाण अर्थात् छोटे-से-छोटा है। सारे शरीर में घूमता रहता है, और जिस इन्द्रिय से ज्ञान करना होता है, वहाँ पहुँच जाता है।

न्याय-दर्शन हमारे ज्ञान का विश्लेषण दो भागों में करता है, पहला 'उद्देश्य' है, और दूसरा 'विधेय'। साधारणतया हम जब कोई बात कहते हैं तो एक भाग

प्रत्यक्ष का स्वरूप

लक्ष्य होता है अर्थात् जिसके विषय में बात कही जाती है, और दूसरा भाग लक्षण, अर्थात् वह बात होती है। इन्हींको क्रमशः 'उद्देश्य' और 'विधेय' कहा जाता है। उदाहरण के रूप में, 'यह घड़ा है,' इस ज्ञान में 'यह' उद्देश्य है और 'घड़ा' विधेय। उद्देश्य को 'विशेष्य' या 'सामान्य' भी कहा जाता है और विधेय को 'विशेषण' या 'प्रकार'। प्रत्येक ज्ञान विशेष्य और प्रकार को लिये रहता है, इसीलिए उसे विशिष्ट ज्ञान कहा जाता है। वस्तु के स्वरूप का निर्धारण प्रकार या विशेषण के आधार पर होता है। हम आकार विशेषवाले पशु को गाय इसलिए कहते हैं, क्योंकि उसमें गोत्व नाम का धर्म या प्रकार रहता है। अपने-आपमें वह न गाय, और न उससे भिन्न है। सारा निश्चय उसी विशेष धर्म के आधार पर होता है। इसी प्रकार घट अपने-आप में न घट है, और न अघट। घटत्व के कारण ही उसे घट कहा जाता है।

इस दृष्टि से न्याय-दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष चार क्षणों या अवस्थाओं में पूरा होता है। प्रथम क्षण में इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होता है; द्वितीय क्षण में घट और घटत्व का, परस्पर विशेषण-विशेष भाव के बिना, ज्ञान होता है। इसको

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहा जाता है। तृतीय क्षण में 'घटत्व' वाला 'घट' इसप्रकार का विशिष्ट ज्ञान होता है। इसको सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। चौथे क्षण में हानोपादान बुद्धि होती है, अर्थात् यह भान होता है कि ज्ञात वस्तु को स्वीकार करना चाहिए या छोड़ना चाहिए।

चतुर्थ अवस्था प्रत्यक्ष का फल है, तृतीय अवस्था को ज्ञान मानने पर प्रथम तथा द्वितीय अवस्थाओं को प्रमाण अर्थात् ज्ञान का साधन कहा जायगा, और द्वितीय अवस्था को प्रत्यक्ष मानने पर प्रथम अवस्था अर्थात् सन्निकर्ष।

अनुमान

अनुमान में वस्तु का सीधा ज्ञान नहीं होता। हम एक वस्तु को देखते हैं और यह जानते हैं कि वह दूसरी वस्तु के विना नहीं हो सकती, इस सम्बन्ध के आधार पर दूसरी वस्तु के अस्तित्व का अनुमान कर लेते हैं। उदाहरण के रूप में, जब हम धुएँ को देखते हैं और यह जानते हैं कि धुआँ आग के विना नहीं होता, तो आग के अस्तित्व का ज्ञान कर लेते हैं। इसीको 'अनुमान' कहा जाता है। 'अनु' का अर्थ है पीछे होनेवाला और 'मान' का अर्थ है ज्ञान।

दो भेद

अनुमान के दो भेद हैं, स्वार्थ और परार्थ। स्वार्थ-अनुमान का अर्थ है अपने लिए किया गया अनुमान, और परार्थ-अनुमान का अर्थ है दूसरे के लिए किया जानेवाला अनुमान। जब हम किसी वस्तु को स्वयं जानना चाहते हैं, तो स्वार्थ-अनुमान होता है। जब दूसरे को बताना या सिद्ध करना चाहते हैं, तो परार्थ-अनुमान का प्रयोग किया जाता है। वास्तव में देखा जाये तो स्वार्थ-अनुमान ही ज्ञानरूप है। परार्थ-अनुमान वचनरूप होता है, और उसका प्रयोग प्रायः शास्त्रार्थ में किया जाता है।

अनुमान के तीन घटक

१. हेतु—जो चिह्न या वस्तु दूसरी वस्तु के बिना नहीं हो सकती। फलस्वरूप उसे देखकर दूसरी वस्तु का अस्तित्व जाना जा सकता है। उदाहरण के रूप में, धुआँ अग्नि के बिना नहीं होता। अतः अग्नि का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए धुआँ 'हेतु' है।

२. साध्य—हेतु के द्वारा जिस वस्तु को सिद्ध किया जाता है, उसे 'साध्य' कहते हैं। ऊपर के उदाहरण में अग्नि साध्य है।

३. व्याप्ति—साध्य और साधन के परस्पर-सम्बन्ध को 'व्याप्ति' कहते हैं। यह सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। धुएँ और अग्नि का सम्बन्ध 'कार्य-कारण-भाव' है। धुआँ अग्नि का कार्य है, और अग्नि धुएँ का कारण। कार्य, कारण के विना नहीं होता। अतः धुएँ को देखकर अग्नि का अस्तित्व जाना जा सकता है। दूसरा सम्बन्ध स्वभाव या 'व्याप्य-व्यापक-भाव' है। आम वृक्ष की एक जाति है, इसलिए आम 'व्याप्य' है और वृक्ष 'व्यापक'। इनका यह सम्बन्ध स्वाभाविक है। अतः आम को देखकर वृक्ष के होने का अनुमान किया जा सकता

है। अनुमान में सबसे पहले हेतु का ज्ञान होता है। इसके बाद व्याप्ति का स्मरण होता है और उस आधार पर साध्य का निश्चय। परार्थ-अनुमान में क्रम बदल जाता है, वहाँ सबसे पहले यह बताने की आवश्यकता होती है कि साध्य क्या है। साध्य जहाँ सिद्ध किया जाता है, उसे 'पक्ष' कहते हैं। हम अग्नि को पर्वत में सिद्ध करना चाहते हैं, अतः पर्वत पक्ष है। पक्ष के बाद साध्य बताया जाता है, उसके बाद हेतु, तथा उसके पश्चात् उदाहरण के साथ व्याप्ति-पक्ष में साध्य के अस्तित्व का कथन 'प्रतिज्ञा' कहा जाता है। इस प्रकार परार्थ-अनुमान की नीचेलिखी प्रणाली बन गई है :

प्रतिज्ञा—पर्वत में आग है

हेतु—क्योंकि धुआँ है

उदाहरण—जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है, जैसे रसोई-घर। इसके विपरीत, जहाँ आग नहीं होती, वहाँ धुआँ भी नहीं होता, जैसे तालाब। इन उदाहरणों में पहली 'अन्वय-व्याप्ति' है। वहाँ हेतु के अस्तित्व के साथ साध्य का अस्तित्व बताया गया है। दूसरी 'व्यतिरेक-व्याप्ति' है। वहाँ साध्य के अभाव में हेतु का अभाव बताया गया है।

कहीं-कहीं परार्थ-अनुमान के दो अवयव और माने गये हैं। वे हैं—उपनय और निगमन। इनमें उपसंहार करते हुए क्रमशः हेतु और प्रतिज्ञा को दोहराया जाता है। उदाहरण के लिए उपनय—इस पर्वत में भी धुआँ है। निगमन—अतः अग्नि भी है।

पाश्चात्य तर्क-शास्त्र में भी परार्थ-अनुमान के तीन अंग माने जाते हैं, पर वहाँ प्रारम्भ व्याप्ति में होता है।

अनुमान का मुख्य आधार हेतु और साध्य का परस्पर-सम्बन्ध है। जिस हेतु में वह दूषित है वह साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता। उसे हेत्वाभास कहा जाता है, अर्थात् वह नकली हेतु है। हेत्वाभास के पाँच भेद हैं :

हेत्वाभास

१. **सव्यभिचार**—अनुमान के लिए यह आवश्यक है कि जहाँ-जहाँ हेतु हो, वहाँ साध्य अवश्य हो, और इसके लिए निश्चित आधार होना चाहिए। यदि हेतु साध्य के बिना भी सम्भव हो, तो उसे 'सव्यभिचार' कहा जाता है। अग्नि को सिद्ध करने के लिए धुएँ को हेतु बनाया जा सकता है। किन्तु यदि धुएँ का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए अग्नि को हेतु बनाया जाय, तो ठीक न होगा। तपे हुए लोहे में आग होती है, किन्तु धुआँ नहीं होता। ऐसे हेतु को 'सोपाधि' भी कहा जाता है। जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि का होना स्वाभाविक है। किन्तु जहाँ अग्नि है वहाँ धुआँ तभी होगा जब ईंधन गीला हो। इस प्रकार अग्नि द्वारा धुएँ का अस्तित्व तभी सिद्ध हो सकता है, जब ईंधन गीला होने की शर्त भी पूरी हो।

इस प्रकार की शर्त को 'उपाधि' कहते हैं। तब साध्य अपने अस्तित्व की सिद्धि के लिए हेतु के अलावा दूसरी किसी शर्त की अपेक्षा रखे, तो उसे 'सोपाधिक' कहा जाता है, और ऐसे सम्बन्ध को 'सोपाधिक-सम्बन्ध'। इसके लिए एक दूसरा उदाहरण दिया जाता है। किसी स्त्री के बच्चों को देखकर हम अनुमान करते हैं कि इसकी गर्भस्थ सन्तान काली होगी, क्योंकि वह उसकी सन्तान है। जो-जो उसकी संतान होती है, वह काली होती है, जैसे अन्य सन्तान। यह हेतु भी सोपाधिक है, क्योंकि सन्तान का कालापन माता के अतिरिक्त अन्य तथ्यों पर निर्भर है। उसी माता की एक सन्तान काली हो सकती है, और दूसरी गोरी। सव्यभिचार को 'अनैकान्तिक' भी कहते हैं।

२. **विरुद्ध**—जब हेतु साध्य के विपरीत जाता हो, तो उसे 'विरुद्ध' हेत्वाभास कहते हैं। हम अनुमान करते हैं, शब्द नित्य है, क्योंकि जन्म है। यहाँ जन्मरूप हेतु नित्यता के विरुद्ध अनित्यता को सिद्ध करता है, क्योंकि जो जन्म होता है वह अनित्य होता है, नित्य नहीं।

३. **सत्प्रतिपक्ष**—प्रतिपक्ष का अर्थ है विरोधी या शत्रु। हम एक हेतु के द्वारा जिस साध्य को सिद्ध करना चाहते हैं, यदि दूसरा हेतु उसके विपरीत सिद्ध करता हो, तो उसे 'सत्प्रतिपक्ष' कहा जायेगा। उदाहरण—शब्द नित्य है, क्योंकि कानों से सुना जाता है। यहाँ नित्यता साध्य है। इसका खण्डन करनेवाला दूसरा अनुमान है—शब्द अनित्य है, क्योंकि जन्म है। विरुद्ध हेत्वाभास में वही हेतु साध्य के विपरीत जाता है, और यहाँ नये हेतु का प्रयोग किया जाता है। सत्प्रतिपक्ष में दोनों हेतु समान बलवाले होते हैं, और एक दूसरे को निर्बल बना देते हैं। परिणामस्वरूप, कोईभी अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर पाता।

४. **असिद्ध**—हेतु ऐसा होना चाहिए, जिसे वादी तथा प्रतिवादी दोनों स्वीकार करते हों। इसके विपरीत, यदि हेतु का अस्तित्व भी सन्देह में हो या अस्वीकृत हो, तो उसे 'असिद्ध' हेत्वाभास कहते हैं। यदि हम किसी बौद्ध के सामने यह अनुमान करते हैं कि ईश्वर जगत् का कर्त्ता है, क्योंकि सर्वशक्तिमान है। इसके उत्तर में बौद्ध कह सकता है कि, हम ईश्वर को सर्वशक्तिमान भी नहीं मानते। अतः उस आधार पर जगत्-कर्तृत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसे 'साध्यसम' भी कहा जाता है। यहाँ हेतु भी साध्य के समान असिद्ध होता है।

५. **बाधित**—जब हेतु किसी ऐसे साध्य को सिद्ध करता है, जो अन्य प्रबल प्रमाण द्वारा खण्डित हो जाय, तो उसे 'बाधित' कहते हैं। उदाहरण के लिए, आग ठण्डी होती है, क्योंकि वह एक द्रव्य है, जैसे पानी। यहाँ आग का ठण्डा होना प्रत्यक्ष द्वारा बाधित है।

उपमान का अर्थ है, उपमा या सादृश्य से होनेवाला ज्ञान। बालक एक

पशु को देखता है। उसकी माता कहती है कि, यह गाय है। बालक अपने मन में संस्कार जमा लेता है कि इस प्रकार के पशु को गाय कहते हैं। कालान्तर में जब वह फिर उसी आकृति को देखता है, तो समझ जाता है कि यह गाय है। इसी ज्ञान को 'उपमान' कहते हैं। इसके अनेक रूप हैं। बहुत बार ऐसाभी होता है कि वस्तु का प्रत्यक्ष न होने पर भी हम उसका वर्णन सुनकर मन में आकार की कल्पना कर लेते हैं। कालान्तर में, उस आकार को प्रत्यक्ष देखकर जान जाते हैं कि यह अमुक वस्तु है। न्याय-दर्शन में इसका उदाहरण गवय अर्थात नील गाय के रूप में दिया जाता है। नगर में रहनेवाला युवक नहीं जानता कि नील गाय कैसी होती है। अनुभवी वृद्ध ने उसका वर्णन करते हुए बताया कि वह गाय-सरीखी होती है। युवक वन में पहुंचता है, और गाय-सरीखे पशु को देखकर समझ जाता है कि यह गवय या नील गाय है।

उपमान

चौथा प्रमाण 'शब्द' या 'आगम' है। हमें बहुत-सा ज्ञान माता, पिता, अध्यापक, विश्वसनीय व्यक्ति तथा पुस्तकों से प्राप्त होता है। यह सच्चा तभी होता है, जब कहनेवाला आप्त यानी विश्वसनीय हो। इसके दो भेद हैं—माता, पिता, गुरुजन आदि लौकिक आप्त हैं। उनके शब्द लौकिक प्रमाण हैं। ईश्वर अलौकिक आप्त है। उनके शब्द वेद हैं और वह अलौकिक प्रमाण है।

शब्द

वाक्य का अर्थ है पूरे अर्थ को प्रकट करनेवाला शब्दों का समूह। केवल शब्दों के समूह को वाक्य नहीं कहते। हम 'लोटा, कपड़ा, घोड़ा, पानी' आदि अनेक शब्दों को इकट्ठा कर सकते हैं, पर इतनेमात्र से वाक्य नहीं बनता। इसके लिए अर्थ का पूर्ण होना आवश्यक है। वह क्रियापद लगाने पर ही होता है। एक वाक्य में कई शब्द होते हैं, और शब्द में एक या अनेक अक्षर। यहां एक प्रश्न उठता है कि शब्द का अर्थ के साथ क्या सम्बन्ध है? ऐसी कौन-सी शक्ति है, जिसके द्वारा घड़ा, पानी आदि शब्द अपने-अपने विभिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं? इसे 'अभिधा' शक्ति कहा जाता है। न्याय-दर्शन में इसका नियामक ईश्वर की इच्छा है। ईश्वर ने ही शब्दों को रचा और उनके अर्थ स्थिर कर दिये।

वाक्य

वाक्य की रचना के लिए ये चार बातें आवश्यक है :

१. **आकांक्षा**—उसमें जितने शब्द हों, वे एक दूसरे की आकांक्षा पूरी करने-वाले होने चाहिएँ। उदाहरण के रूप में, जब हम 'घोड़ा' कहते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि 'क्या', यानी उसके विषय में हम क्या कहना चाहते हैं। इसी प्रकार जब हम कहते हैं 'भागता है', तो यह प्रश्न उठता है कि 'कौन'? इन प्रश्नों का उत्तर दिये बिना आकांक्षा बनी रहती है। 'घोड़ा भागता है' इस पूरे वाक्य में

'घोड़ा' और 'भागता है' शब्द परस्पर आकांक्षा पूरी करते हैं।

२. योग्यता—वाक्य में प्रयुक्त शब्दों में ऐसी योग्यता होनी चाहिए कि वे एक दूसरे की आकांक्षा पूरी कर सकें। उदाहरणार्थ, यदि हम कहते हैं 'वह आग से खेत को सींचता है' तो यह ठीक न होगा। आग में सींचने की योग्यता नहीं होती।

३. सन्निधि—इसका अर्थ है शब्दों का एक दूसरे के समीप रहना। यदि हम 'घोड़ा' कहकर एक घण्टे के बाद 'भागता है' कहते हैं, तो वाक्य नहीं बनता। इसी प्रकार संज्ञा और क्रियापद के बीच असम्बद्ध शब्द डाल देने पर भी वाक्य नहीं बनता।

४. तात्पर्य—वाक्य का प्रयोग करते समय वक्ता का कुछ अभिप्राय होता है। वह कहीं पर शब्दों द्वारा प्रकट हो जाता है, और कहीं प्रसंग द्वारा। एकही वाक्य के भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं। हम कहते हैं कि सूर्य छिप गया। जब यह बात हल चलाते हुए किसान से कही जाती है, तो उसका तात्पर्य होता है, हल चलाना बन्द करके घर चलो। जब किसी कर्मकाण्डी ब्राह्मण से कही जाती है तो इसका तात्पर्य होता है, सन्ध्या करो। जब गृहिणी से कही जाती है, तो इसका तात्पर्य हो जाता है, दिया जलाओ।

प्रमेय

प्रमाण के पश्चात् 'प्रमेय' का स्थान है। गौतम ने इसके नीचे लिखे भेद बताये हैं:

१. आत्मा, २. शरीर, ३. इन्द्रियाँ, ४. विषय, ५. ज्ञान, ६. मन, ७. प्रवृत्ति ८. दोष, ९. प्रेत्यभाव अर्थात् मृत्यु, १०. फल, ११. दुःख, और १२. अपवर्ग अर्थात् मोक्ष। यह गणना निःश्रेयस् या मोक्ष को लक्ष्य में रखकर की गई है। यह विश्व-व्यवस्था का पूरा परिचय नहीं देती। इन पदार्थों का स्वरूप वैशेषिक-दर्शन में बताया जायगा। यहाँ इतना ही जानना पर्याप्त है, कि इनमें से चार अर्थात् आत्मा शरीर, इन्द्रिय और मन हमारे व्यक्तित्व के घटक हैं। ज्ञान का निरूपण किया जा चुका है। विषय का अर्थ है 'ज्ञेय पदार्थ'। हम मन और इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय पदार्थों को जानते हैं और प्रवृत्ति अर्थात् भले-बुरे कर्म करते हैं। उससे राग, द्वेष आदि दोष उत्पन्न होते हैं। उनसे शुभ-अशुभ फल प्राप्त होता है। मृत्यु और दुःख उसी-के फल हैं। उनसे सदा के लिए छूट जाना अपवर्ग अर्थात् मोक्ष है।

वैशेषिक-दर्शन के साथ सम्बन्ध होने पर न्याय-दर्शन ने भी प्रमेय के रूप में इन सात पदार्थों को अपना लिया : द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव।

कणाद ने ईश्वर का उल्लेख नहीं किया। गौतम तथा वात्स्यायन ने कई बार किया है। उत्तरकाल में जब बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ हुए, तो इस प्रश्न को

ईश्वर

अधिक-से-अधिक महत्त्व मिलता गया। उदयन ने ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए विस्तृत चर्चा की है।

धार्मिक परम्परा के रूप में न्याय-दर्शन का सम्बन्ध शैव मत के साथ कहा जाता है, जहाँ ईश्वर को जगत् का कर्त्ता, रक्षक तथा संहारक माना है।

अद्वैत-वेदान्त ने ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण भी माना है। वहाँ यह बताया गया है कि जैसे मकड़ी अपनेही पेट से तन्तु निकालकर जाला बुनती है, उसी तरह ब्रह्म अपनीही माया से विश्व की रचना करता है। सामग्री के लिए भी वह बाहर का सहारा नहीं लेता। किन्तु न्याय-दर्शन ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानता है। जैसे, कुम्हार बाहर से मिट्टी लाकर घड़ा बनाता है, मिट्टी को पैदा नहीं करता, इसी तरह ईश्वर परमाणुओं से जगत् की रचना करता है, परमाणुओं को नहीं बनाता है। वे अनादि हैं। ईश्वर की इच्छा से परमाणुओं में हलचल होती है, और वे आपस में जुड़ने लगते हैं। वैशेषिक दर्शन में इस हलचल का कारण प्राणियों का 'दृष्ट' माना गया है। भौतिक जगत् इन्हींके जोड़ का परिणाम है। इसी प्रकार प्रलय आने पर ईश्वर की इच्छा से परमाणु बिखर जाते हैं, और उनसे बने हुए सारे पदार्थ नष्ट हो जाते हैं।

ईश्वर का दूसरा कार्य जीवों के 'अदृष्ट' अर्थात् भाग्य पर नियन्त्रण है। हम जैसा काम करते हैं, ईश्वर उसके अनुसार वैसा फल देता है।

न्याय-दर्शन के अनुसार ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और नित्य है। उसके चार विशेष गुण हैं :

१. बुद्धि अर्थात ज्ञान, २. सुख, ३. इच्छा, और ४. प्रयत्न

ईश्वर में रहनेवाले गुण भी नित्य हैं। इसका अर्थ है कि ईश्वर वह शाश्वत सत्ता है, जिसके द्वारा विश्व का संचालन होता है उसपर अन्य किसीका नियन्त्रण नहीं है। वह उच्छृंखल भी नहीं है। वह स्वयं अपने नियमों में बँधा हुआ है।

जीवन का लक्ष्य

अन्य दर्शनों के समान न्याय-दर्शन भी मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। इसका अर्थ है आत्मा का शरीर, इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध से सदा के लिए छूट जाना। आत्मा में ज्ञान का क्या स्थान है, इस सम्बन्ध में दो प्रकार की मान्यताएँ हैं। सांख्य, वेदान्त तथा जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, और वह मुक्त अवस्था में भी रहता है। इसके विपरीत, उसकी न्यूनता या अभाव बाहरी प्रभाव के कारण होता है। दूसरी ओर न्याय और वैशेषिक दर्शन मानते हैं कि ज्ञान का अस्तित्व सदा नहीं रहता। उसकी उत्पत्ति, आत्मा का मन के साथ संयोग होने पर, होती है। मोक्ष में यह संयोग नहीं रहता। इसलिए ज्ञान भी नहीं होता। इसी प्रकार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि गुण भी नहीं रहते। इसे यों भी कहा जा सकता है कि मुक्त आत्मा में ऐसी कोई विशेषता नहीं रहती, जो उसको जड़ से भेद कर सके।

इस प्रकार सोलह पदार्थों के वास्तविक ज्ञान से मिथ्याज्ञान दूर हो

जाता है। उसके दूर होने पर राग, द्वेष आदि दोष नष्ट हो जाते हैं। राग, द्वेष के हट जाने पर प्रवृत्ति नहीं होती। जब प्रवृत्ति नहीं रहती, तो अदृष्ट का संचय नहीं होता। परिणामतः नया जन्म नहीं होता। जन्म का अर्थ है नये शरीर के साथ सम्बन्ध। सुख, दुःख का भोग शरीर के द्वारा ही होता है। जब वह नहीं रहता, तो दुःख भी नहीं होता। दुःख का न होना ही मोक्ष है।

मोक्ष-प्राप्ति का क्रम

वैशेषिक-दर्शन

नाम

विशेष का अर्थ है एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद। सांख्य-दर्शन विश्व के मूल में दो तत्त्व मानता है, और अद्वैत वेदान्त एक तत्त्व। वैशेषिक-दर्शन अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन करता है, और उनमें परस्पर-भेद मानता है। उसकी दृष्टि में पृथिवी, जल, अग्नि आदि द्रव्यों में परस्पर मौलिक भेद है। इसीका दूसरा नाम है 'विशेष'। विशेष को मुख्यता देने के कारण इस परम्परा का नाम वैशेषिक-दर्शन पड़ गया। प्रवर्त्तक के नाम पर इसे काणाद-दर्शन और औलूक्य-दर्शन भी कहा जाता है।

प्रवर्त्तक

वैशेषिक-दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि कणाद माने जाते हैं। इनका दूसरा नाम उलूक भी था। कणाद का समय ई० पू० ३०० माना जाता है। किन्तु वैशेषिक-दर्शन के सिद्धान्तों का उल्लेख प्राचीन जैन तथा बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। मालूम होता है कि कणाद ने उन सिद्धान्तों को सबसे पहले व्यवस्थित रूप दिया।

इस दर्शन का मूल ग्रन्थ कणाद का रचा 'वैशेषिक सूत्र' है।

[**नोट**—वैशेषिक-दर्शन पर लिखे गये विविध ग्रन्थों की सूची परिशिष्ट 'ख' में देखो।]

विश्व-व्यवस्था

वेदान्त-दर्शन जगत् की रचना के लिए मकड़ी का उदाहरण देता है। मकड़ी अपने पेट से तन्तु निकालकर जाला बुनती है। जाले की सामग्री प्राप्त करने के लिए वह किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहती। वैशेषिक-दर्शन भी विश्व को ईश्वर की रचना मानता है। किन्तु वह कुम्हार या जुलाहे की उपमा देता है। कुम्हार मिट्टी को उत्पन्न नहीं करता, वह केवल उसे नया आकार देता है। इसी आकार को घड़ा कहा जाता है। जुलाहा सूत का उत्पादक नहीं होता। वह केवल तन्तुओं को जोड़कर नया रूप देता है। इसीप्रकार पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के परमाणु नित्य हैं। ईश्वर न तो उन्हें उत्पन्न करता है और न उनका नाश। वह केवल उन्हें भिन्न-भिन्न रूपों में जोड़ देता है। उसीसे पृथिवी, जल आदि महाभूत उत्पन्न होते हैं। दार्शनिक परिभाषा में इसे 'आरम्भवाद' कहा जाता है, अर्थात् ईश्वर जगत् का, आरम्भ करता है, उसे उत्पन्न नहीं करता। दूसरे शब्दों में, वह 'निमित्त' कारण है, 'उपादान' कारण नहीं। वह सामग्री को उत्पन्न नहीं करता, केवल उसे जोड़ता है।

जगत् के मूल में छह तत्त्व हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और

समवाय। कालान्तर में इनके साथ 'अभाव' नाम का सातवाँ पदार्थ जोड़ दिया गया। इनमें से प्रथम तीन अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म अर्थ हैं, अर्थात् उनकी वास्तविक सत्ता है। शेष चार केवल मानसिक, कल्पनाएँ हैं, जो बाह्य जगत् की व्याख्या करती हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य एक बाह्य वस्तु है। उसका रूप, रंग और चलना-फिरना भी वास्तविक है। किन्तु मनुष्यत्व कोई बाह्य वस्तु नहीं है। वह एक कल्पना है, जो मनुष्य का पशु से भेद करती है। इसी विभाजन के लिए कहा गया कि प्रथम तीन में सत्ता समवाय-सम्बन्ध से रहती है, और शेष चार तत्त्वों में नहीं रहती।

जगत् का स्वरूप

द्रव्य, गुण और क्रिया का आधार है। वही विभिन्न कार्यों के रूप में परिणत होता है। उसके नौ भेद हैं। इनमें से पहले पाँच भौतिक जगत् से सम्बन्ध रखते हैं। छठा काल है। सातवाँ है दिशा। शेष दो, अर्थात् आत्मा और मन चेतन जगत् के घटक हैं। प्रथम चार अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि और वायु नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के हैं। परमाणु के रूप में नित्य हैं, और अवयवी अर्थात् बनी हुई वस्तु के रूप में अनित्य। पृथिवी का गन्ध, पानी का रस, अग्नि का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का शब्द विशेष गुण हैं। काल द्रव्य-परिवर्तन का कारण है, और दिशा दूर, समीप आदि व्यवहार का। आकाश, काल, दिशा और आत्मा व्यापक हैं। मन अणुपरिमाणवाला है। शेष चार द्रव्यों के परमाणु-अणुपरिमाणवाले हैं, और अवयवी अर्थात् परमाणुओं से बने हुए पदार्थ मध्यम परिमाणवाले। एक बात ध्यान देनेयोग्य है। वैशेषिक-दर्शन के अनुसार आकाश एक महाभूत है, जो शब्द को उत्पन्न करता है। वह स्थान या शून्यरूप नहीं है। उसकी तुलना आधुनिक विज्ञान के 'ईथर' के साथ की जा सकती है। दूसरा द्रव्य दिशा है। इसका सम्बन्ध स्थान के साथ है। सांख्य तथा वेदान्त-दर्शन काल और दिशा का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते।

द्रव्यों का स्वरूप एवं विभाजन

आत्मा दो प्रकार का है—जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा में नौ गुण हैं, जो जड़ पदार्थों से उसका भेद प्रकट करते हैं। वे हैं—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। किन्तु ये गुण स्वाभाविक नहीं हैं। मुक्त अवस्था में इनमें से कोई नहीं रहता। सांसारिक अवस्था में 'अदृष्ट' अर्थात् धर्म और अधर्म के कारण आत्मा और मन का संयोग होता है। उसीसे अन्य गुणों की उत्पत्ति होती है। इच्छा, द्वेष और प्रयत्न पुनः धर्म और अधर्म को उत्पन्न करते, और मानसिक व्यापारों को जन्म देते हैं। इस प्रकार अनादि प्रवाह चला आ रहा है। प्रलय-काल में भी अदृष्ट बना रहता है, जो सृष्टि-काल आने पर मानसिक क्रियाएँ प्रारम्भ कर देता है। जीवात्मा ·क हैं, और सर्वव्यापी हैं। प्रत्येक आत्मा के व्यापक होने पर भी उसकी हल-

आत्मा

चल शरीर में होती है। उसके विना जीवात्मा कुछ नहीं कर सकता। यही एक आत्मा का दूसरे आत्मा से भेद प्रकट करता है, अर्थात् व्यापकता की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा के सर्वत्र होने पर भी प्रत्येक शरीर का एकही स्वामी है ! हमारा शरीर पांचभूतों से वना हुआ है, किन्तु सभी शरीर पांचभौतिक नहीं होते। वरुण लोक के शरीर जलीय होते हैं, अग्निलोक के आग्नेय और वायुलोक के वायव्य।

इन्द्रियाँ

शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। जो इन्द्रिय जिस गुण को ग्रहण करती है, वह उसी विशेष गुणवाले द्रव्य की बनी हुई है। घ्राणेन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करती है। गन्ध पृथिवी का विशेष गुण है। अतः घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है। रसनेन्द्रिय रस को ग्रहण करती है, जो जल का विशेष गुण है। अतः रसनेन्द्रिय जलीय है। चक्षुइन्द्रिय रूप को ग्रहण करती है, जो अग्नि का विशेष गुण है। अतः चक्षुइन्द्रिय तैजस् है। त्वक् या स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श को ग्रहण करती है, जो वायु का विशेष गुण है। अतः स्पर्शेन्द्रिय वायु की बनी हुई है। श्रोत्रेन्द्रिय शब्द को ग्रहण करती है, जो आकाश का विशेष गुण है। अतः श्रोत्रेन्द्रिय आकाशरूप है। कर्ण-विवर के अन्दर का आकाश ही श्रोत्रेन्द्रिय है। स्पर्शेन्द्रिय सारे शरीर में रहती है, अर्थात् स्पर्श की अनुभूति सारे शरीर द्वारा की जा सकती है। शेष इन्द्रियाँ अपने-अपने स्थान में सीमित हैं। चक्षु और स्पर्श-इन्द्रियाँ अपने-अपने गुण के साथ द्रव्य को भी ग्रहण करती हैं। शेष इन्द्रियाँ केवल गुणों को ग्रहण करती हैं। जब चक्षु इन्द्रिय द्वारा किसी बाह्य वस्तु को ग्रहण किया जाता है तो उसकी किरणें निकलकर पदार्थ तक पहुँचती हैं और उसका ज्ञान कराती हैं। शेष इन्द्रियाँ अपने-अपने स्थान को नहीं छोड़तीं।

मन

मन स्वतंत्र द्रव्य है, किन्तु यह जीवात्मा का मुख्य तत्त्व है। इसके विना वह कोई कार्य नहीं कर सकता। बुद्धि आदि समस्त गुणों की उत्पत्ति मन के सम्बन्ध से ही होती है। इन्द्रियों को प्रेरित करना और वस्तु के साथ सम्पर्क स्थापित होने पर उस प्रभाव को आत्मा तक ले जाना मन का ही काम है। यदि मन साथ नहीं है, तो इन्द्रियाँ, विषय के साथ सम्बन्ध होने पर भी, ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकती। नींद में स्पर्शेन्द्रियों का सम्बन्ध बिस्तर के साथ बना रहता है। कमरे में सुगन्ध फैली रहती है। संगीत की ध्वनि होती रहती है। फिरभी उनका अनुभव नहीं होता। इसका कारण है, उस समय मन का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध टूट जाता है। इसी तरह अनेक विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर भी सबकी अनुभूति एकसाथ नहीं होती। इसका कारण है, मन का सबके साथ 'युगपद्' सम्बन्ध न होना। वह अणु-परिमाण अर्थात् परमाणु जितना है, और सारे शरीर में घूमता रहता है। जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होता है वही अपने विषय का अनुभव कराती है, दूसरी नहीं। मन भी नित्य द्रव्य है। जबतक मोक्ष नहीं होता, उसका आत्मा के साथ

सम्बन्ध बना रहता है। जब किसी बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, तो आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध होता है, मन का इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय का वस्तु के साथ। सुख, दुःख आदि आन्तरिक अनुभूतियों में केवल आत्मा और मन का सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध को 'सन्निकर्ष' कहा जाता है, जिसका निरूपण न्याय-दर्शन में किया गया है।

आत्मा नामक द्रव्य का दूसरा रूप ईश्वर है। वह विश्व का निमित्त कारण है। प्रलय-काल के बाद उसकी इच्छा से परमाणुओं में हलचल होती है,

ईश्वर

और उनके मेल से पृथिवी आदि चार महाभूतों की रचना होती है। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा सर्व-व्यापी है। उसकी इच्छा, ज्ञान तथा प्रयत्न नित्य हैं और जीवों के अदृष्ट के अनुसार कार्य करते रहते हैं। इसका अर्थ है कि विश्व में एक प्रकार की व्यवस्था है, न्याय है और परमात्मा उसका संचालक है। किन्तु वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से कुछ नहीं करता।

वैशेषिक-दर्शन का दूसरा तत्त्व 'गुण' है। यह द्रव्य में रहता है। एक गुण में दूसरा गुण नहीं रहता। कुछ गुण सामान्य हैं, अर्थात् सभी द्रव्यों में रहते हैं,

चौबीस गुण

और कुछ विभिन्न द्रव्यों की विशेषता प्रकट करते हैं। उन्हें विशेष गुण कहा जाता है। गुण २४ हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। पहले पाँच गुण पाँच महाभूतों के विशेष गुण हैं। संख्या वह गुण है, जिसके कारण वस्तुओं की एक, दो, तीन आदि गिनती की जाती है। वास्तव में देखा जाय तो 'एक' ही ऐसी संख्या है, जो प्रत्येक वस्तु में पाई जाती है और गुण कही जा सकती है। दो, तीन आदि संख्याएँ किसी वस्तु का गुण नहीं हैं। उनका व्यवहार केवल अपेक्षा-बुद्धि से होता है, अर्थात् जब एक संख्यावाली अनेक वस्तुएँ इकट्ठी हो जाती हैं, तब उनमें दो, तीन आदि का व्यवहार होने लगता है। पर यह 'एक' संख्या के आधार पर ही होता है। परिमाण का अर्थ है 'नाप'। यह तीन प्रकार का है—(१) अणु-परिमाण अर्थात् सबसे छोटा परमाणु जो मन में रहता है। (२) महत् परिमाण, जो परमाणुओं से बनी हुई छोटी-बड़ी वस्तुओं में रहता है। इसे मध्यम परिमाण भी कहा जाता है। (३) परम महत् परिमाण आकाश, काल आदि व्यापक द्रव्यों में रहनेवाला परिमाण।

पृथक्त्व—पृथक्त्व उस गुण का नाम है, जो एक वस्तु की दूसरी वस्तु से भिन्नता प्रकट करता है। उदाहरण के लिए, एक गाय दूसरी गाय से पृथक् है। यह गुण वैयक्तिक भेद को प्रकट करता है। गुणों से इसका सम्बन्ध नहीं है।

संयोग—संयोग का अर्थ है स्वतन्त्र सत्तावाले दो द्रव्यों का परस्पर-

सम्बन्ध, जैसे मेज़ और पुस्तक का परस्पर-सम्बन्ध। जहाँ एक वस्तु कारण है और दूसरी कार्य, वहाँ यह सम्बन्ध नहीं होता। क्योंकि कार्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। वह कारण में ही रहता है। वस्त्र तन्तु के विना नहीं रह सकता। इसी प्रकार घड़ा मिट्टी के विना नहीं रह सकता। अतः यहाँ संयोग-सम्बन्ध नहीं है।

विभाग—विभाग का अर्थ है संयुक्त वस्तुओं का एक दूसरी से अलग होना।

परत्व—परत्व का अर्थ है देश या काल-कृत दूरी, और **अपरत्व** का अर्थ है सामीप्य। प्राचीन वस्तु नई उत्पन्न वस्तु की तुलना में पर है। इसी प्रकार चार मील पर पड़ी हुई वस्तु दो मील पर पड़ी हुई वस्तु से पर है। परत्व का उल्टा यानी सामीप्य है अपरत्व।

गुरुत्व—गुरुत्व का अर्थ है भारीपन, जिससे वस्तु नीचे गिरती है।

द्रवत्व—द्रवत्व का अर्थ है पिघलना।

स्नेह—स्नेह का अर्थ है गीलापन। ये दोनों जल के विशेष गुण हैं।

बुद्धि—बुद्धि का अर्थ है ज्ञान, जो आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होता है। इसका विस्तार न्याय-दर्शन में किया गया।

सुख, दुःख, इच्छा और द्वेष—इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट है।

प्रयत्न—प्रयत्न का अर्थ है हलचल। इसके तीन भेद हैं:

(१) **प्रवृत्ति**—अर्थात् इच्छापूर्वक किसीमें प्रवृत्त होना।

(२) **निवृत्ति**—अर्थात् इच्छापूर्वक हटना।

(३) **जीवन-योनि**—अर्थात् जीवन-रक्षा के लिए विना इच्छा के होनेवाले व्यापार, जैसे श्वास, प्रश्वास, रक्त-संचालन आदि।

धर्म और अधर्म—इनका अर्थ है पुण्य और पाप, जो सुख और दुःख के कारण हैं। दोनों को 'अदृष्ट' भी कहा जाता है।

संस्कार—यह तीन प्रकार का है:

(१) **वेग**—जब हम किसी वस्तु को फेंकते है, या पहिया चलाते है तो धक्का देते हैं। उसमें वेग नाम का संस्कार आ जाता है, जो धक्का खत्म होने पर भी उन्हें चलाता रहता है।

(२) **भावना**—वह संस्कार, जो हमारे पिछले अनुभवों को संचित रखता है, जिससे वे अवसर मिलते ही जाग उठते हैं।

(३) **स्थिति-स्थापक**—वह संस्कार, जिसके कारण वस्तु फिर से अपनी पूर्व स्थिति में चली जाती है। रबड़ में यह संस्कार होता है, जिससे खींचना बन्द होते ही वह अपनी पूर्व स्थिति में लौट आती है।

भावना नाम का संस्कार केवल आत्मा में होता है। शेष दो पृथिवी आदि

चार महाभूतों में पाये जाते हैं।

कर्म—तीसरा तत्त्व कर्म है। इसका अर्थ है हलचल या क्रिया। यह केवल मूर्त अर्थात् अणु तथा मध्यम परिमाणवाले द्रव्यों में होता है, परम महत् परिमाणवाले अर्थात् व्यापक द्रव्यों में नहीं होता। स्थूल रूप में इसके पाँच भेद हैं :

(१) उत्क्षेपण—ऊपर उठना
(२) अवक्षेपण—नीचे गिरना
(३) आकुञ्चन—सिकुड़ना
(४) प्रसारण—फैलना
(५) गमन—चलना

वास्तव में देखा जाय तो ये गमन या गति के ही विभिन्न प्रकार हैं। गति व हलचल के अन्य प्रकार भी इन्हींमें शामिल कर लिये जाते हैं।

सामान्य—चौथा तत्त्व सामान्य है। इसे 'जाति' भी कहा जाता है। इसका अर्थ है वह धर्म, जो वस्तुओं का श्रेणी-विभाजन करता है। उदाहरण के लिए, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न है। फिरभी सबको एक श्रेणी में रखकर 'मनुष्य' कहा जाता है। एकता की इस कड़ी को जोड़नेवाला धर्म मनुष्यत्व है। वह एक ओर सब मनुष्यों को एकता के सूत्र में बाँध देता है, और दूसरी ओर पशु एवं अन्य जगत् से उन्हें पृथक् भी करता है। इसके तीन भेद हैं :

(१) **पर-सामान्य**—वह धर्म, जो सबको सम्मिलित कर लेता है। किसी-का पृथक्करण नहीं करता, जैसे सत्ता। कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसमें सत्ता न हो। इसलिए सत्ता 'पर-सामान्य' है।

(२) **अपर-सामान्य**—जो धर्म अनेक वस्तुओं में रहनेपर भी क्षेत्र की दृष्टि से इतना सीमित हो कि उसका उपविभाजन न किया जा सके। उदाहरण के लिए, जीवत्व से छोटी मनुष्यत्व जाति है। मनुष्यत्व से छोटी ब्राह्मणत्व। इस प्रकार विभाग करने पर जो जाति सबसे छोटी हो, उसे 'अपर-सामान्य' कहा जाता है।

(३) **परापर-सामान्य**—बीच की सब जातियों को 'परापर-सामान्य' कहा जाता है, जो किसीकी तुलना में छोटी है और किसीकी तुलना में बड़ी।

'द्रव्य' तथा 'गुण' नित्य एवं अनित्य दोनों प्रकार के होते हैं। कर्म केवल अनित्य होता है, और सामान्य नित्य होते हैं।

विशेष—पाँचवाँ पदार्थ 'विशेष' है। यह सामान्य से उल्टा है। सामान्य द्रव्य, गुण तथा कर्म तीनों में रहता है। किन्तु विशेष केवल नित्य द्रव्यों में। वैशेषिक-दर्शन के अनुसार एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद अवयव-भेद के कारण होता है। घट और पट परस्पर-भिन्न है, क्योंकि घट के अवयव और पट के अवयव परस्पर

भिन्न हैं। अवयवों में भेद प्रतिअवयव में भेद के कारण होता है। इस प्रकार हम परमाणु पर पहुँच जाते हैं। वहाँ भी यह प्रश्न होता है कि एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न क्यों हैं? इसी प्रकार आकाश, आत्मा आदि नित्य तथा निरवयव द्रव्यों के विषय में प्रश्न होता है। इसका उत्तर है विशेष। प्रत्येक में विशेष नाम का एक पदार्थ होता है, जो एक नित्य द्रव्य को दूसरे नित्य द्रव्य से भिन्न करता है। परमाणु के समान विशेष भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। उसका पता केवल अनुमान से लगता है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि एक विशेष को दूसरे विशेष से भिन्न करनेवाला तत्त्व कौन-सा है। इसका उत्तर है विशेष स्वयं एक दूसरे से भिन्न हैं। उनमें परस्पर भेद करनेवाला दूसरा तत्त्व नहीं होता। सामान्य के समान विशेष भी नित्य है।

समवाय—छठा पदार्थ 'समवाय' है। वैशेपिक-दर्शन में दो प्रकार के सम्बन्ध माने जाते हैं, संयोग और समवाय। संयोग-सम्बन्ध अनित्य है, अर्थात् उसके हट जाने पर भी वस्तुओं का अस्तित्व नष्ट नहीं होता। पुस्तक और मेज के परस्पर अलग हो जाने पर भी दोनों का अस्तित्व बना रहता है। किन्तु समवाय-सम्बन्ध नित्य है। वहाँ सम्बन्ध टूटने का अर्थ है वस्तु के अस्तित्व का नाश। उदाहरण के रूप में, पट तन्तुओं में समवाय-सम्बन्ध से रहता है। उसका तन्तुओं को छोड़कर अस्तित्व सम्भव नहीं। यह ऐसी वस्तु का सम्बन्ध है, जो अयुत सिद्ध है अर्थात् जिसका अस्तित्व अपने आधार से पृथक् नहीं होता। अवयवी बिना अवयवों के नहीं रह सकता। इसी प्रकार गुण, कर्म, सामान्य तथा विशेष अपने-अपने आश्रय के बिना नहीं रह सकते। इन सबका अपने आश्रय के साथ जो सम्बन्ध है, वह समवाय है।

अभाव—सातवाँ पदार्थ 'अभाव' है। कणाद ने मूल पदार्थों की गणना में इसका उल्लेख नहीं किया। इस आधार पर कुछ विद्वान मानते हैं कि वैशेपिक-दर्शन मूल में छह पदार्थ मानता है, किन्तु वैशेपिक सूत्रों में अन्यत्र इसका उल्लेख है। टीकाकारों ने भी विस्तृत चर्चा की है।

रात में आकाश की ओर देखने पर सूर्य दिखाई नहीं देता। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम कुछ नहीं देखते, किन्तु सूर्य का अभाव देखते हैं। 'कुछ नहीं देखने का' अर्थ है आँखें बन्द रखना। किन्तु जब आँखें खोलकर देखने का प्रयत्न करने पर भी एक वस्तु नहीं दिखाई देती, तो इसका अर्थ है कि हम उसका अभाव देखते हैं। जो वस्तु जिस इन्द्रिय से जानी जाती है, उसका अभाव भी उसी इन्द्रिय से जाना जाता है। अभाव के दो भेद हैं, 'संसर्गाभाव' और 'अन्योन्याभाव'। संसर्गाभाव का अर्थ है एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अभाव। इसके तीन भेद हैं :

(१) **प्रागभाव**—प्राक् का अर्थ है पूर्वावस्था। कार्य के उत्पन्न होने से पहले उसका कारण में जो अभाव रहता है उसे 'प्रागभाव' कहते हैं। जैसे घड़ा

उत्पन्न होने से पहले उसका मिट्टी में अभाव अथवा वस्त्र बनने से पहले उसका तन्तुओं में अभाव।

(२) प्रध्वंसाभाव—प्रध्वंस का अर्थ है नाश। वस्तु का नाश हो जाने पर जो शेष बच जाता है, उसमें नष्ट वस्तु का अभाव 'प्रध्वंसाभाव' कहा जाता है। जैसे ठीकरों में घड़े का अभाव या चीथड़ों में वस्त्र का अभाव।

(३) अत्यन्ताभाव—एक वस्तु का दूसरी वस्तु में कभी न रहना 'अत्यन्ताभाव' है, जैसे हवा में रूप का अभाव।

अन्योन्याभाव तादात्म्य अर्थात् दो वस्तुओं में एकता का निषेध करता है। इसको भेद भी कहा जाता है। जैसे घट और पट में परस्पर अन्योन्याभाव है। घट पट नहीं है, और पट घट नहीं है।

सृष्टि और प्रलय

भारत के प्रायः सभी दर्शन सृष्टि को एक नैतिक व्यवस्था मानते हैं, जिसका उद्देश्य है प्राणियों को अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख देना। जो प्राणी कर्म या प्रवृत्ति को छोड़कर आत्मलीन हो जाते हैं, वे सुख-दुःख के चक्र से छूट जाते हैं। उन्हें 'मुक्त' कहा जाता है। वे संसार में नहीं आते। इसके विपरीत, जो प्राणी इस प्रपञ्च में फँसे हुए हैं, वे सुख-दुःख भोगते रहते हैं। बाह्य जगत् इसी भोग का साधनमात्र है। इस व्यवस्था का संचालन करने के लिए किसीने शासक के रूप में एक तत्त्व स्वीकार किया, जिसे महेश्वर, परमात्मा आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है; दूसरों ने यह माना कि यह व्यवस्था अपने-आप चलती है। उसका कोई बाह्य नियामक नहीं है। वैशेषिक-दर्शन प्रथम कोटि में आता है। यह मानता है कि प्रलय-काल में प्रथम चार महाभूतों का परमाणु बिखर जाता है। शेष पाँच द्रव्य नित्य हैं। वे ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। मन विद्यमान होने पर भी अपनी क्रिया बन्द कर देता है। परिणामतः आत्मा में ज्ञान, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न नहीं होते। केवल अदृष्ट अर्थात् धर्म और अधर्म बचते हैं। जब प्रलय-काल समाप्त हो जाता है, तो परमात्मा उसी अदृष्ट से प्रेरित होकर सृष्टि की इच्छा करता है। परिणाम-स्वरूप परमाणुओं में हलचल होती है और दो परमाणु मिलने पर द्व्यणुक बन जाता है। तीन द्व्यणुकों का त्रसरेणु बनता है। चार त्रसरेणुओं का चतुरणुक। इसीप्रकार बढ़ते-बढ़ते महाभूत बन जाते हैं, और प्राणी अपने-अपने अदृष्ट के अनुसार सुख-दुःख भोगने लगते हैं। इसीको 'आरम्भवाद' कहा जाता है। इसी-प्रकार प्रलय-काल आने पर परमाणुओं का परस्पर सम्बन्ध छूट जाता है। फल-स्वरूप, द्व्यणुक नष्ट हो जाते हैं और क्रमशः महाभूत बिखर जाते हैं।

'अदृष्ट' वैशेषिक-दर्शन का महत्वपूर्ण तत्त्व है। जो वस्तु जिस व्यक्ति के काम में आती है, उसकी उत्पत्ति में उस व्यक्ति का अदृष्ट काम करता है। उदाहरणार्थ, यदि हम अमरीका की बनी वस्तु को काम में ला रहे हैं; तो उसकी

उत्पत्ति में हमारा अदृष्ट भी कारण है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वैशेषिक-दर्शन के अनुसार जहाँ कार्य उत्पन्न होता है, वहाँ कारण का रहना आवश्यक है। पर जब हम भारत में रहते हैं, तो हमारा अदृष्ट अमरीका में कैसे रह सकता है? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए वैशेषिक ने आत्मा को व्यापक माना है। अदृष्ट एक गुण है और गुण, गुणी के बिना, नहीं रह सकता। इसलिए जहाँ अदृष्ट है वहाँ आत्मा भी है। यही अदृष्ट सामूहिक रूप लेकर प्रलय का कारण बनता है, और वही फिर उत्पत्ति का कारण बन जाता है।

आरम्भवाद—कारण से कार्य की उत्पत्ति के विषय में दार्शनिकों की विविध मान्यताएँ हैं। सांख्य-दर्शन 'परिणामवादी' है, और वेदान्त 'विवर्तवादी'। इनकी व्याख्या यथास्थान की जायगी। वैशेषिक-दर्शन 'आरम्भवादी' है। उसका कथन है कि वस्तुएँ परमाणुओं के संघात या समूह से बनती हैं। उनकी जैसी रचना होती है, वैसीही वस्तु बन जाती है। उनके बिखरने और नये प्रकार से संगठित होने पर नई वस्तु सामने आ जाती है। इसीको 'परिस्पन्द' कहा जाता है।

वैशेषिक-दर्शन की तर्क तथा आचार-शास्त्र के विषय में जो मान्यताएँ है, उनका निरूपण न्याय-दर्शन में किया गया है।

सांख्य-दर्शन

सांख्य-दर्शन शब्द का आशय है 'सम्यक् ज्ञान' से। यह दर्शन मोक्ष-प्राप्ति के लिए जड़ और चेतन अर्थात् प्रकृति और पुरुष के भेद-ज्ञान पर जोर देता है। योग-दर्शन इसका सहयोगी है, जो उस विवेक-ज्ञान के लिए आत्म-शुद्धि और मन की एकाग्रता का मार्ग प्रस्तुत करता है। सांख्य का बल तत्त्व-ज्ञान पर है, और योग का क्रिया या साधना पर। गीता आदि ग्रन्थों में दोनों को एक दूसरे का पूरक माना गया है। गीता में तो यहाँ तक कहा है कि सांख्य और योग को अज्ञानी लोग ही पृथक् मानते हैं, असल में वे एक ही हैं। सांख्य शब्द की व्युत्पत्ति संख्या से भी की जाती है। इसका अर्थ है गणना। सांख्य-दर्शन ने सबसे पहले पच्चीस तत्त्व गिनाकर विश्व के स्वरूप का प्रतिपादन किया।

नाम

सांख्य-दर्शन भारत का सबसे प्राचीन और व्यापक दर्शन माना जाता है। उपनिषदों में इसके बीज मिलते हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि ने अपनी रचनाओं की आधार-भूमि के रूप में इसीको अपनाया है। स्मृति तथा पौराणिक साहित्य इसीको आधार मानकर चलते हैं। वेदान्त-दर्शन इसीका विकास कहा जा सकता है।

प्राचीनता और प्रवर्त्तक

सांख्य-दर्शन के प्रर्वतक महर्षि कपिल माने जाते हैं। वेदों में उनके उलेल्ख आदिविद्वान् तथा महाज्ञानी के रूप में आया है। भगवद्गीता में उन्हें सिद्धों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। किन्तु उनके काल के बारे में ऐतिहासिक आधार पर कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

सांख्य-प्रवचन सूत्र या सांख्य-सूत्र नामक ग्रन्थ इस दर्शन पर प्रचलित है, जो कपिल-कृत जाना जाता है। इसपर विज्ञान भिक्षु का सांख्य-प्रवचन भाष्य है।

[नोट— सांख्य-दर्शन के विविध ग्रन्थों की सूची परिशिष्ट 'ख' में देखो।]

वैशेषिक-दर्शन विश्व के मूल में अनेक तत्त्वों को मानता है, किन्तु सांख्य-दर्शन केवल दो ही मूल तत्त्वों का प्रतिपादन करता है, एक जड़ और दूसरा चेतन। इनके दूसरे नाम हैं प्रकृति और पुरुष।

विश्व-व्यवस्था

अन्य दर्शनों में जो स्थान आत्मा का है, वही सांख्य-दर्शन में पुरुष का है। यहभी इसे अनेक तथा व्यापक मानता है। वैशेषिक-दर्शन में आत्मा अपने-आप में चेतन नहीं है। वहाँ ज्ञान, सुख, इच्छा आदि गुणों की उत्पत्ति मन के संयोग से होती है। किन्तु सांख्य-दर्शन में पुरुष शुद्ध चेतन-स्वरूप है। चेतना उसका स्वभाव है, या यों कहना

पुरुष

चाहिए कि चेतना का ही दूसरा नाम पुरुष है। यहाँ चेतना गुण नहीं है। वैशेषिक-दर्शन में बुद्धि या ज्ञान विषय की प्रतीति का नाम है। वहाँ शुद्ध या निर्विषयक प्रतीति को नहीं माना गया। किन्तु सांख्य का पुरुष चेतना है। उसमें किसी विषय का भाव नहीं होता। वह शुद्ध प्रकाश है। उसका किसी वस्तु के साथ सम्पर्क नहीं। सांख्य-दर्शन में विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली जानना, चाहना, सुख-दुःख का अनुभव करना आदि क्रियाएँ प्रकृति की हैं, पुरुष की नहीं। वेदान्त-दर्शन में आत्मा को सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप माना गया है। किन्तु सांख्य-दर्शन आनन्द को नहीं मानता। वहाँ 'सत्' और 'चित्' ये दो ही हैं। वैशेषिक-दर्शन चित् को भी नहीं मानता। वहाँ आत्मा अपने आपमें केवल सद्रूप है।

सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष दोनों नित्य हैं। किन्तु प्रकृति 'परिणामी' नित्य है, अर्थात् परिवर्तन होनेपर भी उसका अस्तित्व बना रहता है। पुरुष 'कूटस्थ' नित्य है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। वैशेषिक-दर्शन में आत्मा भले-बुरे कार्यों का कर्त्ता है, और उनके अनुसार फल भी भोगता है। परन्तु सांख्य का पुरुष केवल भोक्ता है, कर्त्ता नहीं। यहाँ करने का सारा उत्तरदायित्व प्रकृति पर है। सांख्य का पुरुष रथ में बैठे हुए उस मालिक के समान है, जो स्वयं कुछ नहीं करता। रथ को हाँकना, खींचना आदि सारे कार्य दूसरों के द्वारा किये जाते हैं। किन्तु करनेवाले फल नहीं भोगते। फल मालिक को मिलता है। सांख्य-दर्शन में प्रकृति और पुरुष के मेल की उपमा 'अन्ध-पंगु-न्याय' से दी जाती है। प्रकृति अन्धी है। क्रिया वह कर सकती है, पर देख नहीं सकती। दूसरी ओर पुरुष पंगु है, वह देखता है, पर चल नहीं सकता। जब अन्धा पंगु को अपने कन्धों पर बिठा लेता है तब देखना और चलना दोनों काम होने लगते हैं। इसी प्रकार प्रकृति पुरुष के संसर्ग से काम करती है।

प्रकृति

दूसरा मूल तत्त्व प्रकृति है। यह अपने-आप में जड़ है, परन्तु पुरुष का संसर्ग होते ही सृष्टि के रूप में परिणत होने लगती है। प्रकृति के घटक तीन तत्त्व हैं, सत्व, रजस् और तमस्। इन्हें गुण कहा जाता है। किन्तु यहाँ गुण का अर्थ द्रव्य में रहनेवाली विशेषता नहीं है। प्रकृति एक है, और व्यापक है। सत्व का स्वभाव प्रकाश है, रजस् का क्रिया और तमस् का स्थिति। यह तीनों गुण हरेक वस्तु में पाये जाते हैं, और एक दूसरे के प्रतिबन्धक हैं। तमोगुण प्रकाश और क्रिया का प्रतिबन्धक है। इसी प्रकार सत्व क्रिया और स्थिति का प्रतिबन्धक है। रजोगुण प्रकाश और स्थिति का। जैसे विद्युत् में धन और ऋण नाम की दो शक्तियाँ हैं, और वे मिलकर प्रकाश उत्पन्न करती हैं, सांख्य-दर्शन में भी एक गुण दूसरे गुण से प्रतिक्रिया उत्पन्न करके नई शक्ति को जन्म देता है। जिन वस्तुओं को अचेतन कहा जाता है, उनमें तमस् की प्रधानता रहती है; कर्मेन्द्रियों तथा गतिशील पदार्थों में रजस् की, और

ज्ञानेन्द्रियों में सत्व की। जबतक तीनों गुण समान अवस्था में रहते हैं, कोई कार्य नहीं होता। एक की शक्ति दूसरे को कुण्ठित किये रहती है। उसी अवस्था का नाम 'प्रकृति' है। गुणों में विषमता आते ही सृष्टि प्रारम्भ हो जाती है। उसका प्रारम्भ सत्व गुण की प्रधानता से होता है और महाभूतों के रूप में अन्त तमोगुण की प्रधानता से।

प्रकृति और पुरुष का संयोग होते ही गुणों में विषमता आने लगती है। उससे सर्वप्रथम 'महत्' तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इसीका दूसरा नाम बुद्धि है।

सृष्टि-क्रम

इसमें सत्व की प्रधानता रहती है। यह चेतना की प्रथम अभिव्यक्ति है। इससे अहंकार की उत्पत्ति होती है, जो रजोगुण का प्रथम उन्मेष है। अहंकार का अर्थ है 'मैं' की अनुभूति, जहाँ व्यक्ति अपनी शक्ति का अनुभव कर उसे अभिव्यक्त करना चाहता है। अहंकार से ये १६ पदार्थ उत्पन्न होते हैं :

(क) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और त्वचा
(ख) पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, पाणि (हाथ), पाद, पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय)
(ग) पाँच तन्मात्राएँ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश
(घ) मन

ज्ञानेन्द्रियों में सत्व की प्रधानता होती है; कर्मेन्द्रियों में रजस् की और तन्मात्राओं में तमस् की। मन में तीनों गुण रहते हैं। वे क्रमशः ज्ञान, इच्छा और मोह की सृष्टि करते हैं। हम पृथिवी, जल आदि जिन महाभूतों को काम में लाते हैं, वे शुद्ध नहीं होते। उनमें पाँचों भूतों के तत्त्व मिले हुए होते हैं। इस मिलावट से पहले प्रत्येक भूत की शुद्ध अवस्था को 'तन्मात्रा' कहते हैं। संस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति है—'तदेव तन्मात्रम्' अर्थात् जहाँ वही है, दूसरे का मिश्रण नहीं है। इन्हींको 'अपञ्चीकृत' भूत भी कहा जाता है।

तन्मात्राओं के मिश्रण से पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। पृथिवी महाभूत में आधा भाग पृथिवी तन्मात्रा का है, और आधा भाग अन्य तन्मात्राओं के आठवें भाग से बना है। पृथिवी महाभूत में आधा भाग पृथिवी का है, आठवाँ जल का, आठवाँ अग्नि का, आठवाँ वायु का और आठवाँ आकाश का। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सांख्य-दर्शन आकाश को नित्य नहीं मानता। अन्य महाभूतों के समान उसेभी वह 'उत्पत्तिशील' मानता है।

इस प्रकार सांख्य-दर्शन में पच्चीस तत्त्व माने जाते हैं :

प्रकृति, महत्, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, मन, पाँच महाभूत और पुरुष। कार्य-कारण-भाव की दृष्टि से इनका विभाजन इस प्रकार किया जाता है :

१. **मूल प्रकृति**—यह अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करती है, पर स्वयं किसीसे उत्पन्न नहीं होती। इसीलिए इसको मूलप्रकृति अर्थात् मूलकारण और 'अविकृति अकार्य' कहा जाता है।

२. **प्रकृति-विकृति**—महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ। ये कारण और कार्य दोनों हैं। स्वयं दूसरे से उत्पन्न होते हैं; साथ ही, अन्य तत्त्वों के उत्पादक भी हैं।

३. **विकृति**—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और मन, ये केवल दूसरे से उत्पन्न होते हैं, किसी अन्य तत्त्व को जन्म नहीं देते।

४. **न प्रकृति, न विकृति**—पुरुष, जो न किसी तत्त्व से उत्पन्न होता है, और न किसी तत्त्व को जन्म देता है।

वैशेषिक-दर्शन 'आरम्भवाद' को मानता है, अर्थात् परमाणु मिलकर कार्य-द्रव्य का प्रारम्भ करते हैं। किन्तु सांख्य-दर्शन ऐसा नहीं मानता। यहाँ

परिणामवाद

प्रकृति एक शिला-खण्ड के समान है, जिसमें से मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। असल में देखा जाय, तो मूर्ति शिला में पहले से ही मौजूद है। मूर्तिकार केवल उसे प्रकट कर देता है। इसीप्रकार प्रकृति में सारा जगत् छिपा हुआ है, और वह समय-समय पर प्रकट होता रहता है। इसी को 'सत्कार्यवाद' कहा जाता है, अर्थात् उत्पत्ति से पहले भी कार्य अपने कारण में रहता है। कारण का कार्यरूप में परिणत होना सांख्य-दर्शन में 'परिणाम' कहा जाता है। वैशेषिक-दर्शन में यह एक नई वस्तु है कि उत्पन्न होने से पहले उसका तन्तुओं में अस्तित्व नहीं होता। अतः 'असत्' की उत्पत्ति होती है। किन्तु सांख्य-दर्शन उत्पत्ति से पहले भी कार्य की सत्ता मानता है। यहाँ उत्पत्ति का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है, नया अस्तित्व नहीं।

सांख्य-दर्शन भी, वैशेषिक-दर्शन के समान, सृष्टि और प्रलय को मानता है। प्रकृति से महाभूतोंतक सृष्टि का जो क्रम बताया गया है, उसीके उल्टे क्रम

सांख्य-दर्शन और ईश्वर

से प्रलय होता है। महाभूत तन्मात्राओं में विलीन हो जाते हैं। तन्मात्राएँ ज्ञानेन्द्रियों में, कर्मेन्द्रियाँ और मन अहंकार में। अहंकार बुद्धि में, और बुद्धि प्रकृति में। सृष्टि और प्रलय का यह क्रम स्वाभाविक रूप से चलता रहता है। ईश्वर या कोई बाह्य शक्ति उसपर नियन्त्रण नहीं करती। सांख्य-प्रवचन में कहा गया है 'ईश्वरासिद्धेः' अर्थात् ईश्वर की सत्ता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती। योगदर्शन में भी मन को एकाग्र करने के लिए ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, कर्ता के रूप में नहीं। इसी आधार पर योग को 'सेश्वर सांख्य' भी कहा जाता है।

प्रमाण-व्यवस्था—सांख्य-दर्शन में तीन प्रमाण माने गये हैं—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, और ३. आगम। अन्य सब प्रमाण इन्हींके अन्तर्गत आ जाते हैं।

(१) **प्रत्यक्ष**—'सांख्य-कारिका' में प्रत्यक्ष को 'दृष्ट' कहा गया है। उसकी व्याख्या है—"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्", अर्थात् जिस ज्ञान में प्रत्येक विषय 'अध्यवसाय' होता हो, उसे दृष्ट कहते हैं। अध्यवसाय का अर्थ है वस्तु का बुद्धि में प्रतिबिम्बित होना। सांख्य-दर्शन के अनुसार हम जिस वस्तु को जानना चाहते हैं उसका इन्द्रियों के द्वारा बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ता है। बुद्धि दर्पण के समान एक निर्मल पदार्थ है। उसमें एक ओर से वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है, और दूसरी ओर से पुरुष का। इसीका नाम 'अध्यवसाय' है। जैसे अन्धकार में रखा हुआ दर्पण किसी वस्तु को प्रतिबिम्बित नहीं कर सकता, इसीतरह अकेली बुद्धि भी, जड़ होने के कारण, प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं कर सकती। उसे प्रकाश देकर प्रतिबिम्ब-ग्रहण के योग्य बनाना पुरुष का काम है।

इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में दो मान्यताएँ हैं। वाचस्पति मिश्र का मत है कि विषयों को जानना बुद्धि का काम है। वही एक ओर वस्तु का, और दूसरी ओर पुरुष का प्रतिबिम्ब ग्रहण करके जानने का काम करती है। विज्ञानभिक्षु का मत है कि 'जानना' पुरुष का काम है। बुद्धि वस्तु का प्रतिबिम्ब ग्रहण करके पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है, और वह जानता है।

वैशेषिक-दर्शन के अनुसार इन्द्रियों द्वारा विषय के साथ मन और आत्मा का सम्बन्ध जुड़ जाता है। विषय ज्यों-का-त्यों ज्ञात होता है, किन्तु सांख्य-दर्शन में हम विषय को अपने-आपमें नहीं जानते। केवल उसके प्रतिबिम्ब को ग्रहण करते हैं। जैसे, दर्पण के रंगीन या विषम होने पर प्रतिबिम्ब विकृत हो जाता है, उसीतरह बुद्धि के रागद्वेष आदि के कारण मलिन होने पर प्रतिबिम्ब में अन्तर आ जाता है। हमारे ज्ञान का आधार केवल प्रतिबिम्ब है। हम यह नहीं जानते कि वस्तु अपने-आपमें कैसी है? एकही वस्तु एक को सुन्दर दिखाई देती है, और दूसरे को असुन्दर। इसका कारण बुद्धिगत राग-द्वेष है।

(२) **अनुमान**—अनुमान दो प्रकार का है। वीत और अवीत।

'वीत' का अर्थ है किसी वस्तु के विधान द्वारा अन्य वस्तु का विधान या निषेध करना। इसके दो भेद हैं—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट।

पूर्ववत्—जिन वस्तुओं का कार्यकारण-भाव पहले से ज्ञात है, उनमें कार्य को देखकर कारण का अनुमान करना 'पूर्ववत्' है। हम यह जानते हैं कि धुआँ आग से उत्पन्न होता है। रसोईघर और अन्य स्थानों पर इस नियम को देख चुके हैं। उसी आधार पर पर्वत से धुआँ निकलता देखकर यह अनुमान करते हैं कि वहाँ आग है। यह पूर्ववत् अनुमान है।

सामान्यतोदृष्ट—जहाँ किसी सामान्य नियम के आधार पर अज्ञात वस्तु का अस्तित्व या प्रभाव सिद्ध किया जाय, उसे 'सामान्यतोदृष्ट' कहते हैं। जैसे, इन्द्रियाँ दिखाई नहीं देती हैं। परन्तु रूप, रस आदि का ज्ञान होता है, जो एक

कार्य है। कोईभी कार्य कारण के बिना नहीं होता। इस नियम के आधार पर हम ज्ञानरूप कार्य के कारण का अस्तित्व सिद्ध करते हैं, और इन्द्रियों का अस्तित्व अपने-आप सिद्ध हो जाता है।

'अवीत' का अर्थ है एक वस्तु के निषेध द्वारा दूसरी वस्तु की विधि या निषेध। इसको 'शेषवत्' भी कहा जाता है। जैसे, शब्द का गुण सिद्ध करने में यह तर्क दिया जाता है कि द्रव्य या अन्य कोई तत्त्व नहीं हो सकता। परिणामस्वरूप गुण ही शेष बचता है, और शब्द को उसी कक्षा में रखा जा सकता है।

न्याय-दर्शन के समान सांख्य भी अनुमान के पाँच अवयव मानता है।

(३) आगम—तीसरा प्रमाण आगम या आप्त वचन है। इसका निरूपण 'न्याय-दर्शन' में किया जा चुका है।

जीवन का लक्ष्य

सांख्य-दर्शन का प्रारम्भ इस तरह होता है कि प्रत्येक प्राणी तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित है, और उनसे वह छुटकारा चाहता है। धन-सम्पत्ति आदि लौकिक साधनों से क्षणिक तृप्ति मिलने पर भी सदा के लिए छुटकारा नहीं मिलता। क्षणिक तृप्ति भी किसी-को मिलती है, और किसीको नहीं मिलती। उनसे छुटकारा पाने का एकमात्र साधन तत्त्वज्ञान है। ये तीन दुःख हैं :

१. आध्यात्मिक : रोग या मानसिक चिन्ता आदि से उत्पन्न होनेवाले दुःख
२. आधिभौतिक : सांप, बिच्छू, शेर आदि दूसरे प्राणियों तथा कांटा आदि दूसरी वस्तुओं से होनेवाले दुःख
३. आधिदैविक : अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दैवी उपद्रव के कारण होने-वाले दुःख

इन दुःखों का सदा के लिए छूट जाना ही मोक्ष है। असल में देखा जाय तो पुरुष नित्यमुक्त है। परन्तु प्रकृति के साथ मेल होने के कारण वह अपनेको बन्धन में पड़ा समझता है। जिस दिन उसे यह भान हो जाता है कि 'मैं भिन्न हूँ और प्रकृति भिन्न है,' उसी दिन मुक्ति हो जाती है। इस अवस्था को 'कैवल्य' कहा जाता है। इसका अर्थ है अकेलापन, अर्थात् पुरुष जब प्रकृति का सम्बन्ध छोड़कर अकेला रह जाता है। यह अवस्था 'विवेक-ख्याति' द्वारा प्राप्त होती है। 'विवेक' का अर्थ है भेद, और 'ख्याति' का अर्थ है ज्ञान। शास्त्रों के अध्ययन और आत्मचिन्तन से यह अनुभव होने लगता है कि पुरुष भिन्न है और प्रकृति भिन्न। यही अनुभव स्पष्ट होता चला जाता है और एक दिन 'कैवल्य' के रूप में परिणत हो जाता है। वहां भेद की अनुभूति नहीं रहती। विवेक-ख्याति साधन है, और कैवल्य साध्य। सांख्य-दर्शन मोक्ष में सुख का अस्तित्व नहीं मानता। उसका कथन है कि सुख और दुःख दोनों प्रकृति की देन हैं, और नश्वर हैं। नित्य सुख की कल्पना आत्मवञ्चनमात्र है। उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं है। सांख्य-दर्शन में

मोक्ष की तुलना गहरी नींद तथा समाधि के साथ की जाती है। इन अवस्थाओं में भी मन कोई काम नहीं करता। किन्तु यहाँ संस्कार बने रहते हैं, और मन का व्यापार पुनः प्रारम्भ हो जाता है। मोक्ष में संस्कार भी नहीं रहते। इसलिए मन या प्रकृति के कार्य सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं। सुषुप्ति तथा समाधि में मन का निरोध होता है, और मोक्ष में सदा के लिए नाश।

मुक्ति के दो भेद हैं—जीवन-मुक्ति और विदेह-मुक्ति। जीवन-मुक्ति में कैवल्य होने पर भी पुराने संस्कार बने रहते हैं, और शारीरिक क्रियाएँ चलती रहती हैं। पर नये संस्कार उत्पन्न नहीं होते। जब पुराने संस्कार अपना काम पूरा कर लेते हैं, तो शरीर समाप्त हो जाता है, और 'विदेह-मुक्ति' प्राप्त हो जाती है। उस समय केवल शुद्ध आत्मा या पुरुष शेष रहता है।

विवेक-ख्याति दो प्रकार की है—तीव्र और मन्द। तीव्र विवेक-ख्याति होने पर संस्कार भी समाप्त हो जाते हैं, और तत्काल विदेह-मुक्ति हो जाती है। मन्द विवेक-ख्याति होने पर पूर्व के संस्कार अपना काम करते रहते हैं।

हमारा व्यक्तित्व और उसकी चार अवस्थाएँ—सांख्य-दर्शन के अनुसार हमारे व्यक्तित्व में नीचेलिखे चार तत्त्व मिले हुए हैं, और वे उत्तरोत्तर अधिक सूक्ष्म और स्थायी हैं :

(१) **स्थूल शरीर**—जो शरीर बाहर चलता-फिरता दिखाई देता है, वह स्थूल शरीर है। यह पाँच महाभूतों से बना है। जन्म, यौवन, बुढ़ापा, रोग, परिवर्तन और मृत्यु इसी शरीर में होते हैं। मृत्यु होने पर यह जीव के साथ नहीं जाता।

(२) **सूक्ष्म शरीर**—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थात् जानने की शक्तियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ अर्थात् कर्म करने की शक्तियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, मन और अहंकार, इन तत्त्वों से सूक्ष्म शरीर बनता है। इसीमें अच्छे-बुरे संस्कारों का संचय होता है, जो विविध जन्मों में फल देते रहते हैं। यह शरीर विविध योनियों में जाकर नये-नये स्थूल शरीरों को ग्रहण करता रहता है। उसीको जन्म कहा जाता है।

(३) **कारण शरीर**—प्रकृति और पुरुष का प्रथम सम्बन्ध 'कारण शरीर' है। इसीका दूसरा नाम 'महत्' है। यहाँ सर्वप्रथम अस्मिता का अनुभव होता है। जबतक मोक्ष नहीं होता, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर बने रहते हैं। जागृत-अवस्था में तीनों शरीर काम करते हैं।। स्वप्न-अवस्था में स्थूल शरीर की क्रिया बन्द हो जाती है, और सूक्ष्म शरीर काम करता है। जब योगी समाधि लगाकर दूरस्थ विषयों का ध्यान करते हैं, तो सूक्ष्म शरीर ही वहाँ पहुँचता है। योगियों द्वारा परकाय-प्रवेश तथा अदृश्य होकर घूमने की जो बातें सुनाई देती हैं, वे सब सूक्ष्म शरीर द्वारा होती हैं। सुषुप्त अवस्था में सूक्ष्म शरीर की क्रिया भी बन्द हो जाती है। वहाँ केवल कारण शरीर अपना काम करता है। असम्प्रज्ञात समाधि में भी अर्थात् जहाँ मन अपना चिन्तन बन्द कर देता है, सूक्ष्म शरीर का कार्य बन्द हो

जाता है, और केवल कारण-शरीर की क्रिया होती है। मोक्ष-अवस्था में कारण-शरीर भी समाप्त हो जाता है, और केवल पुरुष शेष रहता है। यह हमारे व्यक्तित्व का चौथा तत्त्व है। बन्ध और मोक्ष का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर के साथ है। उसीमें पुण्य और पाप के संस्कार रहते हैं, जिनके कारण वह अनेक जन्म लेता रहता है। 'विवेक-ख्याति' भी इसीका कार्य है।

व्यक्तित्व की दुर्बलताएँ

सांख्य-दर्शन में २८ अशक्तियाँ बताई गई हैं, जिन्हें हम व्यक्तित्व की दुर्बलताएँ कह सकते हैं। उनमें से प्रथम ११—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन का अपने कार्य करने में असमर्थ होना।

अशक्ति का दूसरा रूप है 'तुष्टि'। व्यक्ति जब साधना करता है, तो उसे ज्ञान, सुख आदि के विषय में अनेक अतीन्द्रिय अनुभव होने लगते हैं। ये अनुभव अपने-आपमें दोष नहीं हैं। पर यदि साधक उन्हींमें सन्तोष मानकर बैठ जाय और आगे बढ़ना बन्द करदे, तो वे दोष हो जाते हैं।

तुष्टि के दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तुष्टि का अर्थ है शब्द, रूप आदि विषयों से निवृत्ति। यह निवृत्ति यदि आत्म-साधना के लिए है, तो गुण है, पर किसी उच्चलक्ष्य के बिना ही केवल आलस्य या तमोगुण के कारण बाह्य ज्ञान से उपरत हो जाना दोष है। पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय हैं। इसी आधार पर तुष्टियाँ भी पाँच हैं। आभ्यन्तर तुष्टि का अर्थ है आत्मसाधना के प्रयत्न पर बात को छोड़ देना। इसके चार भेद हैं :

प्रकृति-तुष्टि—बन्ध और मोक्ष दोनों प्रकृति के कार्य हैं, और वह अपने कार्य स्वयं करती रहती है। अतः मोक्ष भी स्वयं प्राप्त हो जायगा। इस धारणा से मोक्ष के लिए प्रयत्न न करना 'प्रकृति-तुष्टि' है।

उपादान-तुष्टि—शास्त्रों में लिखा है कि सन्यास ग्रहण करने पर स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त हो जाते हैं। इस विश्वास को लेकर सन्यासी के गेरुए कपड़े पहन लेना और तप आदि न करना 'उपादान-तुष्टि' है।

काल-तुष्टि—समय आने पर कार्य अपने-आप सिद्ध हो जायगा, यह समझकर प्रयत्न न करना 'काल-तुष्टि' है।

भाग्य-तुष्टि—प्रयत्न छोड़कर भाग्य के भरोसे बैठे रहना।

सिद्धि का अर्थ सफलताएँ है। इसका प्राप्त न होना भी व्यक्तित्व की दुर्बलता है। सिद्धि के आठ भेद हैं :

१. ऊह—पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण ज्ञान प्राप्त होना,

२. शब्द—गुरु के उपदेश से ज्ञान प्राप्त होना,

३. अध्ययन—शास्त्रों के पठन-पाठन से ज्ञान प्राप्त होना,

४. सुहृत्प्राप्ति—किसी हितैषी का मिलना और उसकी कृपा के रूप में

५. दान—तपस्वी अथवा योगी को दान देना और उससे ज्ञान प्राप्त होना, उसकी कृपा के रूप में ज्ञान प्राप्त करना,

६, ७ और ८. आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों का नाश।

इन सिद्धियों का प्राप्त न होना तीसरे प्रकार की 'अशक्ति' है।

सांख्य-दर्शन निवृत्ति-मार्गी है। यहाँ धर्म का अर्थ है 'भलाई' और अधर्म का अर्थ है 'बुराई'। धर्म से सुख प्राप्त होते हैं, और अधर्म से दुःख। मोक्ष के लिए दोनों से ऊपर उठने की आवश्यकता है। शुभ और अशुभ सारी ही प्रवृत्तियों को रोककर एकमात्र ज्ञान-साधना ही मोक्ष का उपाय है। मिथ्याज्ञान बन्ध का कारण है, सम्यग्ज्ञान मोक्ष का। सत्व अर्थात् हृदय-शुद्धि से वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य से 'प्रकृति-लय' नाम की अवस्था प्राप्त होती है, जिसका अर्थ है पुरुष का मूल प्रकृति में लीन होना। बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध समाप्त होने पर भी इस अवस्था में अज्ञान बना रहता है। मोक्ष तभी प्राप्त होता है, जब प्रकृति से भी सम्बन्ध टूट जाता है। इसीको 'विवेक-ख्याति' कहते हैं। उस समय साधक अपनेको बुद्धि व अहंकार से भी पृथक् अनुभव करने लगता है। विवेक-ख्याति प्राप्त करने के लिए साधना के रूप में सांख्य-दर्शन भी योगाभ्यास को आवश्यक मानता है, और उसके लिए यम, नियम आदि अष्टांग योग को प्रस्तुत करता है।

योग-दर्शन

'योग' यह शब्द संस्कृत की दो धातुओं से बना है। पहली धातु है 'युजिर् योगे'। इसका अर्थ है जोड़ना। आयुर्वेद तथा जैनधर्म में यही अर्थ किया गया है। दूसरी धातु 'युज् समाधौ' है। समाधि का अर्थ महर्षि पतञ्जलि ने 'चित्त-वृत्तियों का रोकना' किया है। जहाँतक साधना का प्रश्न है, दोनों अर्थों में विशेष भेद नहीं है। मन को परमात्मा या ईश्वर के चिन्तन में लगाना अथवा बाह्य विषयों से हटाना योग है। इन्हींको पतञ्जलि ने क्रमशः 'सम्प्रज्ञात' समाधि तथा 'असम्प्रज्ञात' समाधि कहा है।

योग-दर्शन का मुख्य विषय साधना है। इस रूप में भारत ही नहीं, विश्व के सभी धार्मिक सम्प्रदायों ने इसे अपनाया है। जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि प्रत्येक परम्परा में इसका विकास हुआ है। किन्तु षड्-दर्शन में इसकी गणना पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग-पद्धति के रूप में हुई है। जिस प्रकार न्याय-दर्शन ने, तर्कविद्या होने पर भी, विश्व-व्यवस्था के रूप में वैशेषिक-दर्शन को अपना आधार बनाया, उसी प्रकार योग-दर्शन ने सांख्य द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था को अपना आधार माना। इसीलिए न्याय-वैशेषिक के समान सांख्य-योग का भी जोड़ा माना जाता है। भेद इतना ही है कि सांख्य-दर्शन ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता, किन्तु योग-दर्शन उसके अस्तित्व को स्वीकार करता है। इसीलिए इसे 'सेश्वर-सांख्य' भी कहा जाता है। भगवद्गीता में सांख्य और योग को एक ही बताया गया है, और उन्हें परस्पर भिन्न समझनेवालों की निन्दा की है। वहाँ सांख्य का अर्थ ज्ञान, और योग का अर्थ साधना है, और दोनों को एक दूसरे का पूरक माना गया है।

षड्-दर्शनों के अन्तर्गत योग-दर्शन का प्रथम ग्रन्थ पतञ्जलि — (ई०पू० २००) कृत **योगसूत्र** है। इसमें चार पाद, और कुल मिलाकर १८६ सूत्र हैं। इन पर व्यास (४०० ई०) का भाष्य है, जिसे **'योगभाष्य'** भी कहा जाता है। यह टीका योगदर्शन को समझने के लिए अत्यन्त प्रामाणिक मानी जाती है।

[नोट—योग-दर्शन पर लिखे गये अन्य साहित्य की सूची परिशिष्ट 'ख' में देखो]।

योग-दर्शन का प्रतिपादित विषय

योग-दर्शन ने तत्त्व-व्यवस्था के लिए सांख्य-दर्शन को ही अपना आधार माना है। साथ ही, ईश्वर का अस्तित्व भी स्वीकार किया है, किन्तु उसका प्रतिपादन ध्यान के लक्ष्य के रूप में किया है, जगत्-कर्ता के रूप में नहीं। साधक उस लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहता है, अतः उसपर मन को एकाग्र करना योगसिद्धि का अंग माना गया है। ज्ञान का स्वरूप और प्रमाण-व्यवस्था के लिए भी योग-दर्शन ने प्रायः

सांख्य को ही अपनाया है। यहाँ भी मोक्ष जीवन का चरम लक्ष्य है। उपाय के रूप में यहाँ विवेक-ख्याति अर्थात् प्रकृति और पुरुष के परस्पर-भेद-ज्ञान का प्रतिपादन है। उस अवस्था को पाने के लिए मन को एकाग्र करने की आवश्यकता है। योग-दर्शन का यही मुख्य विषय है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी आवश्यकता है।

योग-दर्शन के प्रथम समाधि-पाद में समाधि अर्थात् योग का स्वरूप और उसकी विविध अवस्थाओं का वर्णन है। दूसरे साधन-पाद में अष्टांग के रूप में योग के साधनों का निरूपण है। तीसरे विभूति-पाद में योग से प्राप्त होनेवाली सिद्धियों का वर्णन है। चौथे कैवल्य-पाद में योग के अन्तिम लक्ष्य विवेक-ख्याति और कैवल्य का स्वरूप बताया गया है।

समाधि का स्वरूप

हम सुन्दर रूप देखना चाहते हैं, स्वादिष्ट खाना चाहते हैं, मीठे शब्द सुनना चाहते हैं, कोमल पदार्थ का स्पर्श करना चाहते हैं, इस प्रकार हमारा मन बाह्य विषयों की ओर दौड़ता रहता है। इस अवस्था को 'क्षिप्त' कहा गया है।

दूसरी अवस्था 'मूढ़' है, जहाँ मन अज्ञान-अवस्था में पड़ा रहता है।

तीसरी अवस्था 'विक्षिप्त' है, जहाँ मन कभी बाह्य विषयों की ओर दौड़ता है, तो कभी आत्मा की ओर।

चौथी अवस्था 'एकाग्र' है, जहाँ वह ईश्वर, आत्मा या अन्य किसी विषय पर स्थिर हो जाता है।

पाँचवीं 'निरुद्ध' अवस्था है, जहाँ किसीभी प्रकार का विचार चित्त में नहीं रहता।

योग-दर्शन में इन अवस्थाओं को पाँच 'चित्त-भूमियों' के रूप में बताया गया है। प्रथम तीन भूमियाँ योग में नहीं आतीं। अन्तिम दो को क्रमशः 'सम्प्रज्ञात' समाधि और 'असम्प्रज्ञात' समाधि कहा गया है।

समाधि की भूमिकाएँ

समाधि की ऊँची-से-ऊँची भूमिका पर पहुँचने के लिए साधक को धीरे-धीरे अभ्यास करना होता है। प्रारम्भ में वह स्थूल विषयों पर मन को एकाग्र करता है, और धीरे-धीरे सूक्ष्मता की ओर बढ़ता हुआ 'विषय-रहित' अवस्था पर पहुँच जाता है।

ध्यान के तीन विषय हैं: (क) ग्राह्य अर्थात् बाह्य विषय, (ख) 'ग्रहण' अर्थात् इन्द्रियाँ, और (ग) 'ग्रहीता' अर्थात् पुरुष या आत्मा। इनपर मन की एकाग्रता को क्रमशः 'ग्राह्य समापत्ति', 'ग्रहण समापत्ति' तथा 'ग्रहीत्री समापत्ति' कहते हैं। ग्राह्य और ग्रहण के स्थूल और सूक्ष्म के रूप में पुनः दो भेद हो जाते हैं। एकाग्रता भी दो प्रकार की है, शब्द तथा अर्थ आदि का भेद लिये हुए तथा उसके बिना, इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि के नीचेलिखे भेद हो जाते हैं:

१. सवितर्क (ग्राह्य समापत्ति)—सूर्य, चन्द्र, मूर्ति, चित्र आदि किसी

स्थूल विषय का ध्यान करना। उनके नाम, रूप, गुण आदि का चिन्तन करना। इस अवस्था में साधक को 'कल्पिक' कहा जाता है।

२. निर्वितर्क (ग्राह्य समापत्ति)—उपर्युक्त विषयों का नाम, रूप आदि के बिना ध्यान करना। यहाँ साधक निरन्तर एकही बात का ध्यान करता रहता है; उनके नाम, रूप या दूसरे पहलुओं पर नहीं जाता। इस अवस्था को 'मधु-भूमि' कहा जाता है। यहाँ साधक भूत तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' का अभ्यास करता है।

३. सविचार (ग्राह्य समापत्ति)—ऐसे सूक्ष्म विषयों का ध्यान करना, जो इन्द्रियों के विषय नहीं हैं। उनके नाम, रूप, गुण आदि का चिन्तन करना। इस अवस्था में साधक को 'प्रज्ञा ज्योति' कहा जाता है। वह भूत तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर स्वार्थ-संयम द्वारा 'विशोका भूमि' का अभ्यास करता है।

४. निर्विचार (ग्राह्य-ग्रहण समापत्ति)—सूक्ष्म विषय तथा इन्द्रियों पर शब्द, अर्थ आदि का सम्बन्ध जोड़े बिना ध्यान करना। यहाँ साधक को 'अतिक्रान्त भावनीय' कहा जाता है, अर्थात् उसके लिए विचार की कोई वस्तु नहीं रहती।

५. आनन्दानुगत (ग्रहण-समापत्ति) पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा मन पर ध्यान जमाना। इसमें भोक्ता के रूप में आनन्द का अनुभव होता है।

६. अस्मितानुगत (ग्रहीत्री समापत्ति) बुद्धि, निर्गुण पुरुष या आत्मा पर ध्यान करना। इसमें आनन्द की अनुभूति भी नहीं होती। केवल 'अस्मिता' अर्थात् 'मैं हूँ' की अनुभूति बाक़ी रह जाती है।

निर्विचार समाधि के अभ्यास से बुद्धि उत्तरोत्तर निर्मल होती जाती है, और साधक को सत्य का साक्षात् होने लगता है। इस अवस्था को 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहते हैं। इसका उदय होने पर संसार के प्रति आसक्ति और तत्सम्बन्धी विचार अपने-आप रुक जाते हैं। इसीको 'पर-वैराग्य' कहते हैं। इस अवस्था में मन के सारे विकल्प बन्द हो जाते हैं, केवल संस्कार बाक़ी रहते हैं। इस अवस्था का नाम 'असम्प्रज्ञात' समाधि है। इसीसे विवेक-ख्याति का उदय होता है, अर्थात् पुरुष अपनेको प्रकृति से भिन्न मानने लगता है।

निर्बीज समाधि के दो भेद—निर्बीज समाधि के दो प्रकार हैं :

१. भवप्रत्यय और २. अभ्यासप्रत्यय

'भवप्रत्यय' का अर्थ है जन्म के साथ ही प्राप्त होनेवाली समाधि। जो लोग पूर्वजन्म में विदेह अवस्था पर पहुँच चुके हैं, अर्थात् शरीर के प्रति आसक्ति छोड़ चुके हैं, अथवा जो प्रकृति में लीन हो चुके हैं किन्तु कैवल्य प्राप्त करने के पहले ही मृत्यु हो गई है, उन्हें पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण नये जन्म के साथ ही समाधि प्राप्त हो जाती है। इसे 'भवप्रत्यय' कहा जाता है।

अन्य साधक नीचेलिखे पाँच साधनों द्वारा समाधि प्राप्त करते हैं :

१. श्रद्धा—मन में उत्साह और लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठा।

२. वीर्य—मन, इन्द्रियों तथा शरीर का पुरुषार्थ अर्थात् अभ्यास में लगे रहना।

३. स्मृति—श्रद्धा और वीर्य के कारण उत्पन्न होनेवाले संस्कार, जो साधना के लिए अधिकाधिक प्रेरणा देते रहते हैं।

४. समाधि—मन की एकाग्रता। यह ज्यों-ज्यों बढ़ती है, साधक आगे बढ़ता चला जाता है।

५. प्रज्ञा—सत्य का ज्ञान। यह साधक को आत्मा का साक्षात्कार करने की प्रेरणा देता है। साधक में वैराग्य की मात्रा जितनी उत्कट होती है, समाधि उतनीही शीघ्र प्राप्त होती है। इसीके तारतम्य के आधार पर इसके मृदु, मध्य और अधिमात्र के रूप में अनेक भेद किये जाते हैं।

समाधि में विघ्न—समाधि के ९ विघ्न हैं, जिन्हें 'चित्त-विक्षेप' कहा जाता है :

१. व्याधि—मन, इन्द्रियों या शरीर में रोग।

२. स्त्यान—चित्त की अकर्मण्यता अर्थात् इच्छा होने पर भी उत्साह की कमी।

३. संशय— मैं योगसाधन कर सकूँगा या नहीं, करने पर भी सफलता मिलेगी या नहीं, इस प्रकार संदेहशील होना।

४. प्रमाद—साधना में लापरवाही करना, पूरा मनोयोग न देना।

५. आलस्य—शरीर या मन भारी होने के कारण अभ्यास न करना।

६. अविरति—विषय-भोगों में तृष्णा का बना रहना।

७. भ्रान्तिदर्शन—मिथ्या ज्ञान।

८. अलब्ध-भूमिकत्व—रुकावट के कारण समाधि की भूमिकाओं का प्राप्त न होना और अभ्यास छूट जाना।

९. अनवस्थितत्व—भूमिका प्राप्त होने पर भी उसमें चित्त का न ठहरना और ध्येय का साक्षात्कार होने से पहले ही समाधि का छूट जाना।

इन अन्तरायों यानी विघ्नों के उपस्थित होने पर साधक विचलित हो जाता है, जिससे मानसिक और शारीरिक उपद्रव होने लगते हैं, जो इस प्रकार हैं :

१. दु:ख—मन में खेद।

२. दौर्मनस्य—निराशा के कारण मन में बुरे विचार आना।

३. अंगमेजयत्व—हाथ, पैर आदि अंगों का फूल जाना।

४. श्वास—बिना इच्छा के बाहर की वायु का नासिका द्वारा अन्दर आना।

५. प्रश्वास—बिना इच्छा के भीतर की वायु का नासिका-छिद्रों द्वारा बाहर निकलना।

चार भावनाएँ—इन विक्षेपों को दूर करने के लिए किसी ऐसे तत्त्व में मन लगाना बताया गया है, जो अच्छा लगता हो। मन को द्वेष, घृणा आदि से बचाने और प्रसन्न रखने के लिए नीचे लिखी चार भावनाओं का अभ्यास करना कहा गया है :

१. **मैत्री**—मित्रता की भावना करना। इससे ईर्ष्या व राग-मल दूर होता है। साधारण तौर पर मनुष्य स्वजन को सुखी देखकर प्रसन्न होता है और पराये को सुखी देखकर ईर्ष्या होने लगती है। प्रत्येक सुखी को देखकर उसे स्वजन या मित्र समझने से यह भावना बदल जाती है।

२. **करुणा**—दुखी को देखकर उसके प्रति करुणा लाना, और उसके दुःख दूर करने का यत्न करना। इससे घृणा या द्वेष-मल दूर होता है।

३. **मुदिता**—धर्मात्मा या सदाचारी व्यक्तियों को देखकर प्रसन्न होना। इससे असूया-मल की निवृत्ति होती है। असूया का अर्थ है दूसरे में दोष निकालने की मनोवृत्ति।

४. **उपेक्षा**—पापी या दुराचारी के प्रति उपेक्षा-भाव रखना। इससे द्वेष-मल की निवृत्ति होती है, अर्थात् जब दूसरा व्यक्ति हमारे साथ दुर्व्यवहार करे तो बदले में उससे द्वेष न करके उपेक्षा या तटस्थ-वृत्ति अपनाना।

पाँच वृत्तियाँ—योग का अर्थ है मन की चंचलता या हलचल का रुक जाना। इसी हलचल को वृत्तियाँ कहा गया है। वे पाँच हैं :

१. **प्रमाण**—सच्चा ज्ञान, जो वस्तु जैसी है, उसे वैसा ही समझना।

२. **विपर्यय**—भ्रम या मिथ्या ज्ञान, जैसे रेल में यात्रा करते समय वृक्षों का दौड़ते हुए दिखाई देना या अँधेरे में रस्सी को साँप समझना।

३. **विकल्प**—कल्पनात्मक ज्ञान। जहाँ वस्तु न होने पर भी शाब्दिक प्रतीति होती है, जैसे आकाश-कुसुम या मनुष्य के सींग।

४. **निद्रा**—शून्य का ज्ञान।

५. **स्मृति**—पहले कभी देखी या जानी वस्तु का स्मरण।

पतञ्जलि ने मन की हलचल को रोकने के कई उपाय बताये हैं। साधक अपनी रुचि के अनुसार उनमें से किसी भी उपाय को अपना सकता है। सबसे पहला उपाय है अभ्यास और वैराग्य। भगवद्गीता ने भी इनका प्रतिपादन किया गया है।

निरोध के उपाय

१. **अभ्यास**—मन को एक वस्तु में स्थिर करने के लिए प्रयत्न करते रहना। प्रयत्न को दृढ़ और शक्तिशाली बनाने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं, (क) लम्बे समय तक प्रयत्न करते रहना, (ख) नैरन्तर्य—अभ्यास को लगातार करते रहना, बीच में विक्षेप न आने देना, (ग) सत्कार—अभ्यास के प्रति आदरबुद्धि रखना, जिससे उत्साह दिन-पर-दिन बढ़ता रहे। उपेक्षा, लापरवाही या आलस्य न आने देना।

२. **वैराग्य**—इस लोक तथा परलोक के सुखों से विरक्त होकर मन का अपने आपमें लीन रहना। आत्मा का साक्षात्कार होने पर जब साधक बाहरी विषयों से स्वतः विरक्त हो जाता है, इसके लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती, तो उसे 'पर-वैराग्य' कहते हैं। अभ्यास और वैराग्य ऐसे उपाय हैं, जिनका अन्य उपायों के साथ रहना आवश्यक है।

३. निरोध का तीसरा उपाय **ईश्वर-प्रणिधान** है। इसका अर्थ है ईश्वर का नाम अर्थ-भावना के साथ जपना और उसके स्वरूप का विचार करना। ईश्वर एक ऐसी सत्ता है जो अविद्या आदि सारे दोषों, भले-बुरे कर्मों और उनके फल एवं संस्कारों से सर्वथा मुक्त है, जो सर्वज्ञ है, अर्थात् उसमें ज्ञान की पराकाष्ठा है। उसका ध्यान करने से शुद्ध आत्म-स्वरूप का ज्ञान होता है, और समाधि में आनेवाले विघ्न दूर हो जाते हैं। पतञ्जलि ने ईश्वर का जप करने के लिए प्रणव अर्थात् ओंकार का सुझाव दिया है।

४. निरोध का चौथा उपाय **प्राणायाम** है। इसके अनेक भेद हैं। पतञ्जलि ने बाह्य प्राणायाम का सुझाव दिया है। इसका अर्थ है साँस को बाहर निकालकर रोकना। इसके ३ भेद हैं, रेचक, पूरक और कुंभक।

५. मन में रूप, रस, गन्ध आदि किसी विषय का चिन्तन करने से भी एकाग्रता आती है। इसके लिए भिन्न-भिन्न स्थानों का निरूपण किया गया है। उदाहरण के रूप में, गन्ध का ध्यान नासिका के अग्रभाग पर किया जाता है, और रस का ध्यान जिह्वा के अग्रभाग पर।

६. **आज्ञाचक्र**—भौंहों के मध्यभाग में ध्यान करने पर एक प्रकाश दिखाई देता है। इसीको 'ज्योतिष्मती' प्रवृत्ति कहते हैं। इसी प्रकार अन्य चक्रों पर भी ध्यान किया जाता है, और विविध प्रकार के प्रकाश दिखाई देते हैं। यह सब मन को एकाग्र करने में सहायक हैं। शुद्ध सात्विक होने के कारण इन्हें विशोका कहा जाता है।

७. मन में वीतराग अवस्था का ध्यान करने से भी एकाग्रता आती है। इसके दो अर्थ हैं। पहला अर्थ है जिस महापुरुष ने राग, द्वेष को जीत लिया है, उसके शुद्ध हृदय का चिन्तन और मनन करना। दूसरा अर्थ है, अपने चित्त में वीतरागता का अभ्यास करना।

८. स्वप्न तथा निद्रा में होनेवाले अनुभवों का ध्यान करने से भी मन एकाग्र होता है। मन को विक्षिप्त या चञ्चल करना रजोगुण का काम है। स्वप्न और निद्रा में भी वह तमोगुण के कारण दबा रहता है। जाग्रत अवस्था में अभ्यास से रजोगुण को दबाया जाता है, और सत्व को प्रकट किया जाता है। इस प्रकार यहाँ भी स्वप्न या निद्रा के समान अनुभूतियाँ होने लगती हैं।

९. हमें जो बात या वस्तु अच्छी लगती है, उसपर ध्यान करने से भी

मन एकाग्र होता है। अभ्यास-प्रारम्भ के लिए यही अच्छा है कि मन जिधर जाता हो, उसीपर स्थिर करने का प्रयत्न किया जाय। धीरे-धीरे नियन्त्रण होने पर उसे अन्य वस्तुओं पर भी लगाया जा सकता है। जब योगी परमाणु से लेकर आकाश पर्यन्त छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक वस्तु पर मन एकाग्र करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है, तो उस अवस्था को 'वशीकार' कहते हैं।

पाँच क्लेश–आत्मा को मलिन और निर्बल बनानेवाले पाँच क्लेश हैं :

१. **अविद्या**–अर्थात् अज्ञान। अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्मा को आत्मा समझना। अविद्या ही संसार का मूल कारण है। इसीसे अन्य क्लेशों की उत्पत्ति होती है।

२. **अस्मिता**–पुरुष और बुद्धि में परस्पर एकत्व की भावना। पुरुष शुद्ध चेतनस्वरूप है। प्रकृति के साथ मेल होने पर महत् या बुद्धि नामक तत्त्व उत्पन्न होता है। यहीं से सृष्टि प्रारम्भ होती है।

३. **राग**–सुख के प्रति आसक्ति

४. **द्वेष**–दुःख के प्रति घृणा

५. **अभिनिवेश**–वे अनादि संस्कार, जिनके कारण हरेक मनुष्य जीने की इच्छा करता है, और मरने से घबराता है। उसे अपने अस्तित्व की चिन्ता बनी रहती है।

क्लेशों का नाश करने के दो उपाय हैं। पहला उपाय है 'प्रतिप्रसव' अर्थात् विपरीत चिन्तन। जिस वस्तु के प्रति राग हो, उसमें दोषों का चिन्तन और जिसके प्रति द्वेष हो, उसके गुणों का चिन्तन। दूसरा उपाय है ईश्वर या अन्य विषयों का ध्यान।

क्लेशों के कारण मनुष्य भले-बुरे काम करता है। उनसे संस्कारों का संचय होता है, जिन्हें वर्तमान या भावी जन्मों में भोगना होता है। यह भोग कहीं सुखद होता है और कहीं दुःखद। सुखद भोग भी नश्वर और परिणाम में दुःखदायी होता है, इसलिए ज्ञानी सभीसे दूर रहना चाहता है।

अष्टांग योग–पतञ्जलि ने आत्म-साधना के लिए अष्टांग योग का प्रतिपादन किया है। इसमें प्रारम्भिक नैतिकता से लेकर समाधितक सभी भूमिकाएँ आ जाती हैं :

१, **यम**–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये आचार-शुद्धि के मूल आधार हैं। पतञ्जलि ने इन्हें सार्वभौम कहा है, अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति में इनका पालन आवश्यक है। ये देश, काल, परिस्थिति और व्यक्ति की मर्यादा से परे हैं। पतञ्जलि का यह भी कथन है, कि जो अहिंसा को जीवन में उतार लेता है, उसके समीप अन्य प्राणी भी परस्पर वैर-भाव भूल जाते हैं। जो सत्य को जीवन में उतार लेता है, उसे वचन-सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उसके मुँह से

निकली कोई वात निष्फल नहीं होती। अस्तेय को जीवन में उतार लेने पर संसार की सारी सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। ब्रह्मचर्य को उतारने पर शक्ति प्राप्त होती है। अपरिग्रह से पूर्वजन्म की स्मृति होने लगती है।

२. **नियम**–ये पाँच हैं :

(क) शौच–मन, वाणी, और शरीर की शुद्धि

(ख) संतोष–लोभ न करना। अनायास प्राप्त वस्तु से तृप्त रहना

(ग) तप–अनशन आदि

(घ) स्वाध्याय–शास्त्र-चिन्तन या आत्म-रमण

(ङ) ईश्वर–प्रणिधान।

अन्तिम तीन को 'क्रियायोग' भी कहते हैं।

३. **आसन**–पद्मासन, सिद्धासन आदि।

४. **प्राणायाम**–रेचक, पूरक, कुम्भक आदि। इससे आवरण का क्षय होता है और मन धारणा के योग्य वनता है।

५. **प्रत्याहार**–इन्द्रियों का वाहरी विषयों से हटकर अन्तर्मुखी वनना, इस अभ्यास से इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं।

६. **धारणा**–चित्त को किसी एक विषय पर स्थिर करना

७. **ध्यान**–मन को उसी विषय पर लगाये रखना

८. **समाधि**–अपने-आपको भूलकर विषय में लीन हो जाना

धारणा, ध्यान और समाधि का एक ही विषय पर अभ्यास 'संयम' कहा जाता है। इसके सिद्ध होने पर 'प्रज्ञालोक' अर्थात् वौद्धिक प्रकाश प्राप्त होता है। उस को चित्त की विविध भूमि में स्थिर किया जाता है, अर्थात् स्थूल भूमिकाओं में स्थिर करते हुए उत्तरोत्तर सूक्ष्म भूमिकाओं की ओर वढ़ा जाता है। प्रथम पाँच अंगों की तुलना में अन्तिम तीन अन्तरंग हैं, और 'निर्वीज' समाधि की तुलना में ये भी वहिरंग हैं।

ऊपर समाधि की विविध भूमिकाओं का वर्णन किया गया। उनमें मुख्य वात चित्त की वृत्तियों यानी हलचल को रोकने की है। किन्तु वाह्यरूप में हलचल रुकने पर भी उसके संस्कार वने रहते हैं, और निमित्त मिलते ही वृत्तियाँ फिर से जाग जाती हैं। पर जब साधक दीर्घ कालतक निरन्तर अभ्यास करता रहता है, तो संस्कार भी वदलने लगते हैं। इसीको 'चित्त-परिणाम' कहते हैं।

चित्त के परिणाम

१. **निरोध-परिणाम**–जब पर-वैराग्य के कारण व्युत्थान के संस्कार दव जाते हैं, निरोध के संस्कार ऊपर आ जाते हैं, और निरोध-अवस्था चित्त का स्वभाव वन जाती है, तो उसे 'निरोध-परिणाम' कहते हैं। चित्त त्रिगुणात्मक है। जव सत्वगुण का उदय होता है, तो एकाग्रता आती है। जब रजोगुण का, तव

चञ्चलता। तमोगुण की प्रबलता होनेपर अज्ञान या मूढ़ता घेर लेती है। समाधि के अभ्यास से रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं और सत्व प्रकट होने लगता है। रजोगुण के दबने से चित्त का व्युत्थान अर्थात् भटकना बन्द हो जाता है, और सत्व का उदय होने पर एकाग्रता चित्त का स्वभाव बन जाती है। इसीको व्युत्थान-संस्कार का दबना और निरोध-संस्कार का प्रकट होना कहा जाता है। क्षिप्त, मूढ़, और विक्षिप्त के रूप में चित्त की पहली तीन भूमिकाओं के संस्कार दब जाते हैं, और अंतिम दो यानी एकाग्रता और निरोध के संस्कार प्रबल हो जाते हैं। एकाग्रता चित्त का स्वभाव बन जाती है। वह अपने-आप निरन्तर बनी रहती है, उसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसीको निरोध-परिणाम कहते हैं। इस परिणाम से चित्त का प्रवाह प्रशांत अर्थात् मंद हो जाता है।

२. **समाधि-परिणाम**--जब चित्त का अनेक विषयों की ओर भटकने का संस्कार दब जाता है, और किसी एकही विषय में स्थिर रहने का संस्कार प्रबल हो जाता है, तो उसे 'समाधि-परिणाम' कहते है। यह परिणाम विक्षिप्त भूमि के दबने और एकाग्र भूमि के निरन्तर अभ्यास से प्राप्त होता है।

३. **एकाग्रता-परिणाम**--विक्षिप्त अवस्थाओं में चित्त कभी किसी ओर जाता है, तो कभी किसी ओर। समाधि-अवस्था में उसका भटकना बंद हो जाता है, और एक-सा प्रवाह चलने लगता है। किन्तु वहां भी वृत्तियां बदलती रहती है। विषय एक होने पर भी एक वृत्ति के शांत होने और दूसरी के उठने को 'एकाग्रता-परिणाम' कहते है।

पतञ्जलि का कथन है कि विविध वस्तुओं और धर्मों में संयम करने पर अनेक प्रकार के अतीन्द्रिय ज्ञान तथा विभूतियां उत्पन्न होती है। लौकिक दृष्टि से उन्हें सिद्धि कहा जाता है, किन्तु समाधि का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है। इस दृष्टि से वे विघ्नरूप हैं।

दर्पण के पूरे स्वच्छ होने पर प्रतिविम्ब में भी पूरी निर्मलता आ जाती है। उस समय पुरुष के अतिरिक्त और किसी वस्तु का भान नहीं होता, सत्व और पुरुष में एक-सी निर्मलता आ जाती है। इसीका नाम 'कैवल्य' है।

पूर्व मीमांसा

मीमांसा शब्द का अर्थ है 'विचार'। यज्ञ करते समय जो उलझनें आती थीं, उन्हें सुलझाने के लिए विद्वानों ने जो सिद्धान्त उपस्थित किये, वेही मीमांसा-दर्शन के रूप में विकसित हुए। इनका मुख्य सम्बन्ध कर्मकाण्ड तथा वेद की व्याख्या से है। विषय की दृष्टि से वैदिक साहित्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम भाग यज्ञ-यागादि कर्म-काण्ड का प्रतिपादक है, दूसरा आत्मा तथा विश्व के स्वरूप को बताता है। प्रथम भाग पर जो विचार हुआ, उसे पूर्व मीमांसा कहा जाता है, और उत्तरभाग को वेदान्त या उत्तर मीमांसा। विषय की दृष्टि से पहले को 'कर्म-मीमांसा' और दूसरे को 'ब्रह्म-मीमांसा' कहा जाता है।

पूर्व मीमांसा का विकास दो रूपों में हुआ है। पहला रूप वेद की व्याख्या के सिद्धान्त हैं। भारतीय न्यायालयों में क़ानून की व्याख्या के लिए अवभी उन सिद्धान्तों को अपनाया जाता है। दूसरा रूप वे मान्यताएँ हैं, जो यज्ञ-संस्था की दार्शनिक भूमि को उपस्थित करती हैं। उदाहरण के लिए, बहुत-से यज्ञ ऐसे हैं, जिनका फल दूसरे जन्म में मिलता है। इसके लिए आत्मा या किसी ऐसी शक्ति को मानना आवश्यक है, जो दूसरे जन्म में फल देती है। यज्ञ वेद की आज्ञानुसार किये जाते थे। इसके लिए वेद को अक्षरशः प्रमाण मानना आवश्यक था। इसी प्रकार विश्व को वास्तविक, तथा प्रत्येक कर्म में फल देने की शक्ति मानना भी आवश्यक था।

आठवी शताब्दी में मीमांसा-दर्शन दो परम्पराओं में विभक्त हो गया। पहली परम्परा कुमारिल भट्ट की है, जिसे भाट्ट मत कहा जाता है। दूसरी प्रभाकर की है। उसे 'गुरु मत' भी कहा जाता है। तीसरी परम्परा के रूप में मुरारि मिश्र का उल्लेख मिलता है, पर उनका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

पूर्व मीमांसा का आदि ग्रन्थ जैमिनि (ई० पू० ४००) के सूत्र हैं, जो १२ अध्यायों में विभक्त हैं। उनपर बोधायन, उपवर्ष, भवदास और सुन्दर पाण्ड्य ने टीकाएँ लिखीं।

[नोट—पूर्व मीमांसा पर रचित ग्रन्थों की सूची परिशिष्ट 'ख' में देखो।]

ज्ञान का स्वरूप

मीमांसा-दर्शन में ज्ञान एक प्रकार की क्रिया है। इन्द्रिय का पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने पर आत्मा में जो चेतना या भान उत्पन्न होता है उसीको ज्ञान कहते हैं। इसकी दो अवस्थाएँ हैं, निर्विकल्प और सविकल्प। निर्विकल्प अवस्था में केवल यह भान होता है कि 'कुछ है'। इसे आलोचना मात्र कहते हैं। सविकल्प ज्ञान में वस्तु के साथ नाम, जाति तथा अन्य विशेषताएँ जुड़ जाती हैं।

मीमांसा-दर्शन के अनुसार वस्तु जैसी होती है, वैसी दिखाई देती है। ज्ञाता अपनी ओर से कल्पना नहीं करता है।

प्रमाण और उनकी संख्या

प्रभाकर ने पाँच प्रमाण माने हैं—१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान, ४ शब्द, और ५ अर्थापत्ति। भट्ट ने अभाव (अनुपलब्धि) को भी अतिरिक्त प्रमाण माना है। प्रत्यक्ष का विवेचन आ चुका है। अनुमान का स्वरूप न्याय-दर्शन के समान है। शेष चार प्रमाण नीचेलिखे अनुसार हैं :

उपमान

मीमांसा-दर्शन में उपमान का स्वरूप न्याय-दर्शन से भिन्न है। हम किसी वस्तु को देख या जान चुके हैं। कालान्तर में उसीके समान दूसरी वस्तु को देखते हैं, और मन-ही-मन सोचते हैं कि प्रत्यक्ष में दिखाई देने-वाली वस्तु पहले देखी हुई वस्तु के समान है। उदाहरण के लिए, हमने अपने घर पर गाय को देखा। कालान्तर में बाहर जाकर उसीके समान दूसरी आकृति देखी। उसे देखकर मन-ही-मन जान जाते हैं कि घरवाली आकृति वर्तमान आकृति के समान है। सादृश्य का यह अन्तिम ज्ञान 'उपमान' कहा जाता है।

शब्द

मीमांसा-दर्शन का मूल आधार वेद है। वेद को प्रमाण सिद्ध करने के लिए शब्द-प्रामाण्यवाद का विकास हुआ। न्याय-दर्शन प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान को प्रबल मानता है। मीमांसा-दर्शन इन दोनों की अपेक्षा वेद को। इसके लिए उसने क्षेत्र-मर्यादा कर दी है। प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय लौकिक बातें हैं। धर्म या लोकोत्तर बातें उनसे परे हैं। वहाँ वेद की आज्ञा ही एकमात्र प्रमाण है।

शब्द को प्रमाण सिद्ध करने के लिए मीमांसा-दर्शन निषेधात्मक युक्ति प्रस्तुत करता है। उसका कथन है कि वक्तव्य तभी मिथ्या होता है, जब उसका कहनेवाला विश्वसनीय न हो। जहाँ कहनेवाला विश्वसनीय है, या जो वाक्य अनादि है अर्थात् जिसका कोई कहनेवाला ही नहीं है, उसे प्रमाण मानना चाहिए। इस प्रकार शब्द प्रमाण के दो भेद हो जाते हैं, पहला पौरुषेय अर्थात् विश्वसनीय या आप्त पुरुष द्वारा कहा गया, और दूसरा अपौरुषेय अर्थात् अनादि वाणी। दूसरी कोटि में वेद आते हैं।

वाक्य दो प्रकार के होते हैं—सिद्धार्थक अर्थात् वस्तु-स्थिति को प्रकट करनेवाले तथा क्रियार्थक अर्थात् विधि या निषेध के रूप में किसी क्रिया को प्रकट करनेवाले। मीमांसा-दर्शन उपयोगितावादी है। उसका कथन है कि प्रत्येक वाक्य का सम्बन्ध किसी क्रिया के साथ होना चाहिए, अर्थात् करने या न करने के रूप में कोई आज्ञा होनी चाहिए। इन्हींको विधि और निषेध कहा जाता है। इसके विप-रीत, जो वाक्य केवल वस्तु-स्थिति का प्रतिपादन करते हैं, जिनका सम्बन्ध क्रिया

के साथ नहीं होता, वे निरर्थक हैं। वेद में ऐसे बहुत-से वक्तव्य हैं, जो सिद्ध वस्तु का वर्णन करते हैं। मीमांसा-दर्शन उन्हेंभी क्रिया के साथ जोड़ता है। यदि वह वर्णन प्रशंसात्मक है, तो प्रवृत्ति का द्योतक है और यदि निन्दात्मक, तो निवृत्ति का। इसके विपरीत, शंकराचार्य का मत है कि वेद में ब्रह्म व आत्मा-जैसी सिद्ध वस्तुओं का प्रतिपादन भी किया गया है।

प्राचीन मीमांसा-दर्शन ईश्वर का अस्तित्व नहीं मानता। जो दर्शन उसकी सत्ता स्वीकार करते हैं, वे वेदों को ईश्वर की रचना मानते हैं, और इसी बात को उनके प्रामाण्य के आधार के रूप में प्रस्तुत करते हैं। किन्तु मीमांसा-दर्शन परम्परा को महत्त्व देता है। उसका कथन है कि जो बात चिरन्तन काल से चली आ रही है, वह मिथ्या नहीं हो सकती। इतने दिनोंतक टिके रहना उसकी सच्चाई का सबसे बड़ा प्रमाण है।

कुमारिल भट्ट ने वेद के अतिरिक्त आप्त वाक्य को भी प्रमाण माना है। परन्तु दोनों के सामर्थ्य में काफी अन्तर है। वेद अपने-आप में प्रमाण हैं। वे जिस विषय का प्रतिपादन करते हैं वह मानव-बुद्धि से परे है। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान को उसके प्रामाण्य के विषय में सन्देह या ऊहापोह करने का अधिकार नहीं है। इसके विपरीत, आप्त का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान पर आधारित होता है। उसके द्वारा कही हुई बात की परीक्षा की जा सकती है। वेद का प्रामाण्य निरपेक्ष है। आप्त-वाक्य का सापेक्ष। प्रभाकर ने आप्त-वाक्य को शब्द-प्रमाण में सम्मिलित नहीं किया। उसने वैशेषिक-दर्शन की तरह यह बताया है कि आप्त-वाक्य के प्रामाण्य का निर्णय प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा होता है। इसलिए उसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना जा सकता।

मीमांसा-दर्शन ने वेद की व्याख्या करने के लिए अनेक सिद्धान्तों और पद्धतियों का विकास किया। उनकी व्याख्या का विज्ञान के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्म, क़ानून, साहित्य, व्याकरण आदि सभी क्षेत्रों में उन्हें अपनाया गया। दूसरे शब्दों में, वह शास्त्रीय व्याख्या के सर्वमान्य सिद्धान्त बन गये। अंग्रेजी शासन ने भी उन्हें अपनाया। न्याय की वर्तमान व्याख्या उन्हींके आधार पर की जाती है। उदाहरणार्थ, हम छह नियमों को प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें 'तात्पर्य-लिंग' कहा जाता है :

तात्पर्य-निर्णय के छह आधार

१. **उपक्रम और उपसंहार**—किसी ग्रन्थ या निबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य क्या है? इस बात को जानने के लिए सबसे पहले हमें उसका उपक्रम अर्थात् प्रारम्भ और उपसंहार अर्थात् अन्त देखना चाहिए। उससे ग्रन्थ-कर्त्ता का आशय जाना जा सकता है।

२. **अभ्यास**—दूसरी बात यह देखनी चाहिए कि किस तथ्य को बार-बार

दोहराया गया है।

३. अपूर्वता—प्रत्येक अध्याय में कुछ बातें पिछली चली आती हैं, और कुछ नई कही जाती हैं। अध्याय का तात्पर्य नई बातें होती हैं, पुरानी नहीं।

४. फल—अन्तिम उद्देश्य

५. अर्थवाद—बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं, जो बढ़ा-चढ़ाकर कही जाती हैं। उन्हें अक्षरशः सत्य न मानकर यही समझना चाहिए कि उनका तात्पर्य प्रशंसा या निन्दा है।

६. उपपत्ति—युक्तिपूर्वक समर्थन

पाँचवाँ प्रमाण अर्थापत्ति है। हम बहुत-सी घटनाओं को देखते हैं, और यह मानते हैं कि वे दूसरी घटनाओं के बिना नहीं हो सकतीं। प्रत्यक्ष घटना अपने-आप अप्रत्यक्ष घटना के अस्तित्व को सिद्ध करती है। इसीको 'अर्थापत्ति' कहते हैं। इसका शब्दार्थ है अर्थ यानी अवश्यम्भावी कारण के रूप में किसी घटना या वस्तु की आपत्ति अर्थात् अस्तित्व सिद्ध होना। उदाहरण—देवदत्त दिन को नहीं खाता, फिरभी हृष्ट-पुष्ट है। भोजन के बिना किसीका पुष्ट रहना सम्भव नहीं है। उपवास और पुष्टता परस्पर-विरोध है। इसलिए दिन का उपवास और पुष्टता दोनों तत्त्व मिलकर रात्रि-भोजन को सिद्ध करते हैं। रात्रि-भोजन उसका स्वाभाविक निष्कर्ष है।

अर्थापत्ति

अन्य दर्शनों ने इसे अनुमान में लिया है, किन्तु मीमांसकों का कथन है कि यहाँ कार्य-कारण-भाव या स्वभाव के रूप में अविनाभाव-सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। रात्रि-भोजन और पुष्टता में कोई सम्बन्ध नहीं है, और उसके बिना व्याप्ति नहीं बन सकती, अतः अर्थापत्ति को अनुमान में सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

अर्थापत्ति के दो भेद हैं—दृष्ट और श्रुत।

१. दृष्ट—जहाँ प्रत्यक्ष वस्तु या घटना को देखकर किसी अन्य घटना या वस्तु का प्रतिपादन किया जाय। इसका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। हम देवदत्त के पुष्ट शरीर और दिन में निराहार रहने को देखकर रात्रि-भोजन का अनुमान करते हैं।

२. श्रुत—जहाँ एक बात को सुनकर अन्य घटना का अस्तित्व जाना जाय। वेद की व्याख्या में इसी अर्थापत्ति को अपनाया जाता है।

मेज़ को खाली देखकर हमें यह ज्ञान होता है कि उसपर पुस्तक नहीं है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि पुस्तक के अभाव का ज्ञान कैसे हुआ? न्याय-दर्शन ने इसे प्रत्यक्ष माना है। उसका कथन है कि चक्षु का सम्बन्ध मेज़ के साथ होता है, और खालीपन या पुस्तक का अभाव उसका विशेषण है, इस प्रकार विशेषणता के सम्बन्ध से अभाव का ज्ञान हो जाता है। अन्य दर्शनों ने इसे अनुमान माना है। उनका कथन है कि मेज़ को

अनुपलब्धि

खाली देखकर हम पुस्तक के अभाव का अनुमान करते हैं। किन्तु कुमारिल भट्ट का कथन है कि यह ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान में सम्मिलित नहीं हो सकता। विशेषणता के सम्बन्ध का कोई अर्थ नहीं है। वह कोरी कल्पना है। इसी प्रकार पुस्तक के अभाव के साथ किसी प्रकार की व्याप्ति भी संभव नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न होता है। क्या नहीं दिखाई देने मात्र से किसी वस्तु का अभाव कहा जा सकता है? अँधेरे में मेज़ नहीं दिखाई नहीं देती। पर इतनेभर से उसका अभाव नहीं हो जाता। परमाणु, आकाश, काल आदि बहुत-से पदार्थ आँखों से परे हैं। उन्हें अभावरूप नहीं माना जा सकता है। इसके लिए अनुपलब्धि के साथ 'योग्य' पद लगाया जाता है, अर्थात् प्रत्यक्ष के योग्य होने पर भी जिस वस्तु का प्रत्यक्ष न हो, उसका वहाँ अभाव समझ लेना चाहिए। इसीलिए इसे 'योग्यानुपलब्धि' कहा जाता है।

प्रभाकर ने अभाव या अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना।

हमारा कोई ज्ञान सच्चा होता है, और कोई मिथ्या। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान की सच्चाई का आधार क्या है, और उसका पता कैसे लगाया जाय।

प्रामाण्यवाद

इस प्रश्न को तार्किक परिभाषा में यों रखा जाता है कि प्रामाण्य की उत्पत्ति 'स्वतः' होती है या 'परतः'। स्वतः उत्पत्ति का अर्थ है जिन कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है, उन्हींसे प्रामाण्य का निश्चय होना। इसका अर्थ है कि प्रत्येक ज्ञान अपने-आप में प्रमाण होता है। 'परतः' उत्पत्ति का अर्थ है ज्ञान का अपनी सच्चाई सिद्ध करने के लिए किसी पराये तत्व पर निर्भर रहना। उत्पत्ति के समान ज्ञप्ति के सम्बन्ध में भी दो पक्ष हैं। 'ज्ञप्ति' का अर्थ है, यह अनुभूति कि मेरा ज्ञान सच्चा है। इसके सम्बन्ध में भी 'स्वतः' और 'परतः' दोनों पक्ष हैं। उनका अभिप्राय है कि जिन कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है, क्या उसकी सच्चाई का पता भी उन्हीं कारणों से लग जाता है, अथवा इसके लिए दूसरे कारणों की अपेक्षा होती है?

दार्शनिकों में इस प्रश्न को लेकर काफ़ी मत-भेद हैं। न्याय-दर्शन 'परतः प्रामाण्यवादी' है। उसका कहना है कि कोई ज्ञान सच्चाई के साथ उत्पन्न नहीं होता। इसका पता, अन्य अनुभवों के साथ तुलना करने पर, होता है। यदि प्रथम ज्ञान का द्वितीय ज्ञान के साथ मेल है, तो यह प्रमाण है। यदि उनमें परस्पर-विसंवाद है, तो अप्रमाण। मीमांसा-दर्शन का कथन है कि इस प्रकार किसीभी ज्ञान की सच्चाई का निर्णय नहीं हो सकता। यदि पहले ज्ञान की सच्चाई दूसरे ज्ञान पर निर्भर है, तो दूसरे की तीसरे पर निर्भर होगी और तीसरे की चौथे पर। इस तरह कहीं भी अंत नहीं होगा। अतः यही मानना उचित है कि प्रत्येक ज्ञान अपने-आपमें प्रमाण होता है। हम अपने प्रत्येक ज्ञान को उत्पन्न होते ही सच्चा मानते हैं और उसके अनुसार काम करने लगते हैं। रुकावट तभी आती है, जब कोई विरोधी

तथ्य संदेह या भ्रम पैदा कर देता है। मीमांसा-दर्शन की इस मान्यता का लक्ष्य मुख्यरूप से वेद को स्वतः प्रमाण सिद्ध करना है।

भ्रम या ख्याति

हमारे सभी ज्ञान एक-से नहीं होते। जब हम रस्सी को रस्सी के रूप में देखते हैं, तो उसे सच्चा ज्ञान कहा जाता है। इसके विपरीत, जब उसे साँप के रूप में देखते हैं, तो उस ज्ञान को मिथ्या कहा जाता है। मीमांसा-दर्शन सभी ज्ञानों को सच्चा मानता है। उसके सामने यह जटिल प्रश्न है कि रस्सी में प्रतीत होनेवाले साँप की व्याख्या कैसे की जायगी। इस चर्चा को दार्शनिक परिभाषा में 'ख्यातिवाद' कहा जाता है। यहाँ दर्शनों ने अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार भ्रम की व्याख्या की है।

मीमांसा-दर्शन में इस विषय को लेकर दो मान्यताएँ हैं। प्रभाकर 'अख्यातिवादी' है, और कुमारिल भट्ट 'विपरीत ख्यातिवादी'। प्रभाकर का कथन है कि रस्सी में होनेवाले 'यह साँप है' इस भान में वस्तुतः दो ज्ञान रहते हैं। पहला ज्ञान है 'यह' और दूसरा 'साँप'। 'यह' का ज्ञान प्रत्यक्ष है, जिसका पूरा रूप होता है 'यह रस्सी है'। दूसरा अंश अर्थात् 'साँप' स्मृति है, उसका पूरा रूप है 'वह' अर्थात् पहले देखा हुआ साँप। पहले ज्ञान में विशेष्य अंश अर्थात् रस्सी की प्रतीति नहीं होती, और दूसरे ज्ञान में उद्देश्य अर्थात् 'वह' की। इस तरह दोनों ज्ञानों में परस्पर भेद करनेवाले तत्वों का भान नहीं होता। इसीका नाम 'विवेकाख्याति' या भेद का ज्ञान है। प्रभाकर के मतानुसार विधि-रूप में वहाँ कोई एक ज्ञान नहीं होता, जिसे मिथ्या कहा जाय।

इस मान्यता पर यह आक्षेप है कि जबतक सामनेवाली वस्तु को हम विधि-रूप में नहीं जानते, तबतक उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। रस्सी को साँप समझकर हम दूर हट जाते हैं, साँप को मारने या भगाने की चेष्टा करते हैं। केवल साँप की स्मृति से ऐसा नहीं हो सकता।

कुमारिल भट्ट का कथन है कि 'यह' और 'साँप' दोनों अपने-अपने स्थान पर सत्य हैं। दोनों का ज्ञान भी सत्य है। किन्तु उनमें जो सम्बन्ध जोड़ा जाता है, वह मिथ्या है। कुमारिल इस सिद्धान्त को 'विपरीत ख्याति' कहते हैं।

त्रिपुटी ज्ञान

प्रत्येक ज्ञान में इन तीन बातों का होना आवश्यक है—विषय, ज्ञान और ज्ञाता। यहाँ एक प्रश्न है कि क्या विषय के साथ ज्ञान और ज्ञाता की भी प्रतीति होती है? विषय को जानते समय क्या ज्ञाता को अपना तथा अपने ज्ञान का भान भी होता है? प्रभाकर का कहना है कि प्रत्येक ज्ञान में तीनों बातें रहती हैं। 'यह घट है' इस ज्ञान का पूरा रूप है, मैं घट को जानता हूँ, अर्थात् 'मैं' और 'जानना' रूप क्रिया इन दोनों की प्रतीति होती है।

कुमारिल भट्ट का कहना है कि विषय-ज्ञान के साथ ज्ञाता और ज्ञान का

जानना आवश्यक नहीं है। ज्ञाता अपने को स्व-संवेदन द्वारा जानता है। ज्ञान को अनुमान द्वारा विषय के प्रकट होने पर हम यह अनुमान करते हैं कि उसका ज्ञान हुआ है। प्रभाकर की मान्यता जैन-दर्शन के साथ मिलती है, और कुमारिल भट्ट की न्याय-दर्शन के साथ।

मीमांसा-दर्शन यथार्थवादी है। उसका कथन है कि वाह्य जगत् जैसा दिखाई देता है वैसाही है। जो वस्तुएँ दिखाई नहीं देतीं, उनका ज्ञान अन्य प्रमाणों द्वारा होता है, और उनसे होनेवाली प्रतीति भी उतनी ही सत्य है। आत्मा, स्वर्ग, नरक तथा देवताओं का अस्तित्व वेद के द्वारा जाना जाता है। उसी आधार पर उन्हें बलि दी जाती है, और शुभकर्म किये जाते हैं।

विश्व का स्वरूप

जड़ और चेतन दोनों अनादि और नित्य हैं। इन्हींके मेल से सारी सृष्टि होती है। सृष्टि का संचालन और नियन्त्रण कर्म के द्वारा होता है। मीमांसा-दर्शन किसी अतीन्द्रिय चेतन-शक्ति को नियामक के रूप में नहीं मानता।

वाह्य जगत् के घटक तीन तत्व हैं:

१. **शरीर**—भोगायतन। जहाँ आत्मा सुख-दुःख का भोग करता है

२. **इन्द्रियाँ**—भोग-साधन

३. **विषय**—भोग्य

वैशेषिक के समान कतिपय मीमांसक भी परमाणुओं का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, किन्तु उनमें हलचल उत्पन्न करने के लिए ईश्वर को आवश्यक नहीं समझते। उनका कहना है कि सबका नियन्त्रण कर्मों के द्वारा होता है। विश्व का न कभी प्रारम्भ हुआ और न कभी अन्त होगा। इस सम्बन्ध में मीमांसा-दर्शन की मान्यताएँ जैन-दर्शन से मिलती हैं।

न्याय-दर्शन कार्य-कारण-भाव के सम्बन्ध को स्वाभाविक मानता है। उसकी दृष्टि में जलाना अग्नि का स्वभाव है। किन्तु मीमांसा-दर्शन प्रत्येक कारण में **शक्ति** नाम के एक नये पदार्थ को स्वीकार करता है। आग में जलाने की शक्ति है, इसलिए वह जलाती है। यदि वह शक्ति कुण्ठित हो जाय तो आग जलाना छोड़दे। आंखों में देखने की शक्ति है। अँधेरे में वह कुण्ठित हो जाती है, इसलिए वस्तुएँ नहीं दिखाई देती। सांप के विष में प्राण लेने की शक्ति होती है, पर औषधि आदि के द्वारा कुण्ठित हो जाने पर विष का प्रभाव नहीं होता। इस विषय को लेकर नैयायिकों और मीमांसकों में शास्त्रार्थ चलता रहता है।

शक्ति

तर्क-शास्त्र के अनुसार कारण का कार्य से पहले रहना आवश्यक है। इस

नियम को लक्ष्य में रखकर मीमांसक से पूछा जाता है, कि यज्ञ स्वर्ग का कारण माना जाता है, किन्तु वह इस जन्म में किया जाता है, और स्वर्ग दूसरे जन्म में प्राप्त होता है। ऐसी कौन-सी कड़ी है, जो वर्तमान जीवन में किये गये यज्ञ का दूर भविष्य में प्राप्त होनेवाले स्वर्ग के साथ सम्बन्ध जोड़ती है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए मीमांसकों ने 'अपूर्व' की कल्पना की है। उनका कथन है कि यज्ञ आत्मा में अपूर्व नाम की शक्ति उत्पन्न कर देता है, जो दूसरे जन्मतक बनी रहती है। वही स्वर्ग-सुख का भोग करती है। अन्य दर्शनों ने इसके स्थान पर पुण्य-पाप या 'अदृष्ट' को माना है। न्याय-दर्शन में अदृष्ट आत्मा का गुण है, जो बनता-बिगड़ता रहता है। वही सुख-दुःख के भोग का नियामक है।

अपूर्व

मीमांसा-दर्शन में भी आत्मा वैशेषिक-दर्शन के समान है। यहाँभी वह अनादि, अनन्त तथा विभु है। ज्ञान और चेतना उसका स्वभाव नहीं है। किन्तु वह अन्य कारणों से उत्पन्न होता है। सुषुप्ति तथा मोक्ष-अवस्था में वे कारण नहीं रहते, अतः वहाँ ज्ञानभी नहीं रहता।

आत्मा

भले और बुरे का क्या आधार होना चाहिए, आचार-शास्त्र की यह गम्भीर समस्या है। किसीने इसका निर्णय भावी सुख-दुःखके आधारपर किया है, किसीने नैतिकता के आधार पर और किसीने ईश्वर या किसी विशेष ग्रन्थ की आज्ञा के आधार पर। संक्षेप में हम इन विचारों को दो धाराओं में विभक्त कर सकते हैं। पहली धारा में यह अधिकार मनुष्य का है। उसने इसके लिए परस्पर समानता, भावी सुख-दुःख, बहुमत का लाभ, सर्वोदय आदि कसौटियों को प्रस्तुत किया है। दूसरी धारा उसे मनुष्य की समझ से बाहर मानती है। उसका कथन है कि भले-बुरे या कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय किसी अतीन्द्रिय शक्ति या ग्रन्थ विशेष के हाथ में है। मीमांसा-दर्शन वेद या ग्रन्थ विशेष को सर्वोपरि मानता है। उसका कहना है कि वेद में जिन कार्यों का विधान है, उन्हें करना धर्म है; जिनका निषेध किया गया है, उन्हें करना अधर्म या पाप है। जिनका विधि या निषेध कुछ नहीं है उनके करने में न धर्म है, न अधर्म।

आचार

तीन प्रकार के कर्म—मीमांसा-दर्शन में तीन प्रकार के कर्म बताये गये हैं:

१. **नित्य नैमित्तिक**—ऐसे कर्म, जिन्हें नित्य नियम के रूप में किसी विशेष निमित्त से किया जाता है। संध्या-वंदन नित्य कर्म है। ग्रहण के अवसर पर स्नान करना नैमित्तिक कर्म है। इन कर्मों के करने से कोई विध्यात्मक लाभ नहीं होता, किन्तु न करने पर पाप लगता है। इन्हें पाप-निवृत्ति के लिए किया जाता है।

२. काम्य—जो कर्म किसी कामना की पूर्ति के लिए किये जाते हैं, जैसे, राजसूय-यज्ञ। ऐसे कर्म भले और बुरे दोनों प्रकार के होते हैं और उन्हींके आधार पर कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निर्णय किया जाता है।

३. निषिद्ध—जिन कर्मों के करने का निषेध है, जैसे, सुरापान, ब्रह्म-हत्या इत्यादि। इनके करने पर पाप होता है।

ऋग्वेद के समय जब सबसे पहले देवता की कल्पना की गई, तो उसे हमारे भविष्य का नियामक माना गया। साथही, किसी-किसी देवता को शरीर-धारी व्यक्तित्व के रूप में भी स्वीकार किया गया। उस समय का मानव देवता के सामने हाथ जोड़कर स्तुति करता है और उसकी कृपा प्राप्त करना चाहता है। कृपा-प्रदान करना या न करना देवता की इच्छा पर निर्भर है। किन्तु यजुर्वेद में देवता एक शक्तिमात्र रह गये। उनपर नियन्त्रण कर्म का हो गया, अर्थात् यदि कर्म विधिपूर्वक किया जाता है, तो देवता को फल देना पड़ेगा। यहाँ कर्म प्रधान हो गया, और देवता गौण। यों भी कहा जा सकता है कि देवता कर्म के ही अंग बन गये। यज्ञ में देवता को लक्ष्य करके आहुतियाँ दी जाती हैं। यही एकमात्र उनके अस्तित्व का प्रयोजन रह गया।

देवता का स्वरूप

मीमांसा-दर्शन ने अपने प्रारम्भ में स्वर्ग को ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य-माना। स्वर्ग का अर्थ है, वह स्थान जहाँ दुःख नहीं है। किन्तु वह अवस्था शाश्वत नहीं होती। पुण्य-क्षीण होने पर पुनः मर्त्य-लोक में आना पड़ता है।

मोक्ष

उत्तरकालीन विकास में मीमांसा-दर्शन ने भी मोक्ष को परम पुरुषार्थ मान लिया, और उसका स्वरूप वैशेषिक-दर्शन के समान बताया। काम्य कर्मों से सांसारिक इच्छाएँ पूरी होती हैं, और निषिद्ध कर्म के फलस्वरूप दुःख भोगना पड़ता है। इन दो प्रकार के कर्मों को छोड़कर जो कामना-रहित होकर नित्य नैमित्तिक कार्यों का दीर्घकाल तक अनुष्ठान करता रहता है, उसके पाप, पुण्य समाप्त हो जाते हैं। फिर वह नया जन्म नहीं लेता। इसीका नाम मोक्ष है। उस अवस्था में इन्द्रिय और मन न होने के कारण ज्ञान भी नहीं होता।

यहाँ एक बात ध्यान देनेयोग्य है। भारतीय दर्शनों में दुःख से छुटकारे को जितना महत्त्व दिया गया है, उतना सुख-प्राप्ति को नहीं। मोक्ष की उपादेयता इसीमें है कि वहाँ कोई दुःख नहीं होता।

वेदान्त-दर्शन

वेदान्त शब्द का अर्थ है, वेद का अन्तिम भाग। पूर्व मीमांसा द्वारा प्रतिपादित कर्म-काण्ड को प्रथम भाग माना जाता है, और वेदान्त को द्वितीय भाग। इसे उत्तर मीमांसा या ब्रह्म-मीमांसा भी कहा जाता है।

दूसरा अर्थ है, वेद का वह भाग, जिसका अध्ययन अन्त में किया जाता है। प्रथम भाग मन्त्रों का है, जिसका अध्ययन अन्त में किया जाता है। प्रथम भाग मन्त्रों का है, जिसका अध्ययन सबसे पहले किया जाता है। उसके बाद ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन किया जाता है, जिनमें यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है। इसका मुख्य सम्बन्ध गृहस्थाश्रम से है। अन्तिम अवस्था में, जब मनुष्य घर-बार छोड़कर एकान्त में रहने लगता है और आत्मा, मोक्ष आदि की ओर झुकता है, तब उपनिषदों का अध्ययन किया जाता है। इनमें से कुछ को 'आरण्यक' कहा जाता है। इसका अर्थ है अरण्य अर्थात् वन में पढ़ा जानेवाला साहित्य।

वेदान्त का तीसरा अर्थ है वेदों का सार। उपनिषदों को 'पराविद्या' कहा जाता है और दूसरी विद्याओं को 'अपरा'। ब्रह्मविद्या की तुलना में दूसरी सब विद्याएँ हीन मानी गई हैं।

प्रस्थानत्रय—वेदान्त की सारी परम्पराएँ जिन तीन ग्रन्थों को मूल आधार मानती हैं, उन्हें 'प्रस्थानत्रय' कहा जाता है। वे हैं उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता।

प्राय: सभी आचार्यों ने ११ उपनिषदों पर भाष्य लिखे हैं, और वे ही प्रमाण माने जाते हैं।

दूसरा प्रस्थान ब्रह्मसूत्र है। इनपर भी सभी आचार्यों ने भाष्य लिखे हैं। इनमें अनेक प्राचीन आचार्यों का भी उल्लेख आया है। इससे पता चलता है कि वेदान्त की परम्परा उपनिषदों के काल से निरन्तर चलती आ रही है।

तीसरा प्रस्थान भगवद्गीता है। प्रारम्भ में यह भागवत सम्प्रदाय का ग्रन्थ रहा होगा, पर धीरे-धीरे सर्वमान्य हो गया। सभी आचार्यों ने इसकी भी व्याख्या अपने-अपने मत के अनुसार की है।

छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप 'एकमेवाद्वितीयम्' बताया गया है। इसमें तीन पद हैं, एकं, एव और अद्वितीयम्। इन्हींकी व्याख्या को लेकर वेदान्त में

विभिन्न सम्प्रदाय

अनेक सम्प्रदाय खड़े होगये। शंकराचार्य का कथन है कि ये तीन शब्द तीन प्रकार के भेद का निराकरण करते हैं। 'एकं' शब्द सजातीय भेद का निराकरण करता है, अर्थात् ब्रह्म एकही है, दो नहीं। 'एव' विजातीय भेद का निराकरण करता है, अर्थात् ब्रह्म से भिन्न

भी किसी पदार्थ की वास्तविक सत्ता नहीं है। 'अद्वितीय' पद स्वगत भेद का निराकरण करता है, अर्थात् ब्रह्म के हिस्से नहीं हो सकते। उसके अवयव नहीं हैं। इस सिद्धान्त का नाम 'अद्वैतवाद' है। रामानुजाचार्य ने दो प्रकार का अभेद माना है, स्वगत भेद का निराकरण नहीं किया। उनका मत है कि ब्रह्म एक है, उससे भिन्न भी कोई सत्ता नहीं है। पर वह अपने-आपमें 'निरवयव' नहीं है। जीव और माया उसके अंश हैं, और वे भी सत्य हैं। उनसे 'विशिष्ट' ईश्वर का प्रतिपादक होने के कारण इस मत को 'विशिष्टाद्वैत' कहा जाता है। माध्वाचार्य ने विजातीय भेद का निराकरण नहीं किया। उनके मतानुसार ईश्वर के समान जीव की भी पृथक् सत्ता है। दो तत्त्वों का प्रतिपादक होने के कारण इस मत को 'द्वैत' या 'भेद-वाद' कहा जाता है। वल्लभाचार्य का कथन है कि ईश्वर अपने शुद्ध रूप में एक है, किन्तु माया का मेल होने पर वह अनेक रूप ले लेता है। इस मत को 'शुद्धाद्वैत' कहा जाता है। निम्बार्काचार्य का सिद्धान्त द्वैताद्वैत है। चैतन्यदेव ने भेदाभेद की इस चर्चा को मानव-बुद्धि से परे बताया। इस मत को 'अचिन्त्य भेदाभेद' कहा जाता है। अनेक सम्प्रदाय होने पर भी जनसाधारण में वेदान्त के नाम से 'अद्वैत' को ही लिया जाता है।

निमित्त और उपादान कारण की एकता—जीव, ईश्वर और माया के सम्बन्ध को लेकर विभिन्न मान्यताएँ होने पर भी कुछ बातें ऐसी हैं, जिन्हें सभी स्वीकार करते हैं। वेही बातें वेदान्त को दूसरे दर्शनों से पृथक् करती हैं। दूसरे सब दर्शनों ने जगत् के मूल में दो कारण माने हैं, एक जड़, दूसरा चेतन। जड़ को किसीने 'परमाणु' के रूप में माना, किसीने 'प्रकृति' के रूप में और किसीने 'पुद्गल' के रूप में। चेतन के भी ईश्वर, जीव, पुरुष आदि अनेक रूप बताये गये हैं। इनमें से 'जड़' तो विश्व का उपादान कारण है और 'चेतन' निमित्त कारण। वेदान्त इस प्रकार का विभाजन नहीं करता। वह एकही तत्त्व को दोनों रूपों में लेता है। इसके लिए मकड़ी की उपमा दी जाती है। मकड़ी अपना जाला बुनने के लिए किसी बाहरी तत्त्व पर निर्भर नहीं रहती; अपने ही पेट से तन्तु निकालकर वह जाला बुनती है।

वेदान्त के सर्वमान्य सिद्धान्त

उपनिषदों का आधार—अन्य दर्शनों ने खण्डन-मण्डन का मुख्य आधार तर्क को रखा है। वेदान्त-दर्शन ने उसका अपलाप नहीं किया, पर अन्तिम आधार उपनिषदों को रखा है। प्रत्येक भाष्य का अधिक भाग उपनिषदों की चर्चा और उनके आधार पर अपनी मान्यता का समर्थन करता है।

ईश्वर का विभुत्व—ऋग्वेद में आया है कि ईश्वर पृथिवी और आकाश को व्याप्त करके उनसे ऊपर निकला हुआ है। उसका एक पैर सारा विश्व है, और तीन पैर बाहर हैं। वेदान्त के सभी मत ईश्वर के इस रूप को स्वीकार करते हैं।

सभी मानते हैं कि ईश्वर विश्व के कण-कण में समाया हुआ है। विश्व छोटा है, और ईश्वर महान्।

ईश्वर के दो रूप—वेदान्त-दर्शन में ईश्वर के दो रूप बताये गये हैं। पहला रूप ब्रह्म है, जो विश्व का मूलतत्त्व है। दूसरा रूप ईश्वर है, जहाँ वह जगन्नियन्ता का काम करता है। अन्य दर्शनों में यह विभाजन नहीं मिलता।

वेदान्त का इतिहास तीन युगों में विभक्त है। पहला युग उपनिषद् या 'प्रातिभ' ज्ञान का है। वन में तपस्या करते हुए ऋषि-मुनियों को जो अनुभव हुआ, उसे उन्होंने सीधी-सादी भाषा में प्रकट कर दिया। वह हृदय की वाणी है, जिसमें आश्चर्य और कल्पना का सुन्दर मेल है। उसमें कवि का हृदय बोलता है, तार्किक का नहीं। इस युग को हम दर्शन या साक्षात्कार का युग कह सकते हैं। दूसरा युग बादरायण के ब्रह्मसूत्र द्वारा प्रस्तुत होता है। उसमें प्रचलित समस्त मान्यताओं का संग्रह है। दृष्टि उसकी समन्वयात्मक है। इस युग में मुख्य लक्ष्य सत्य की खोज रहा है, खण्डन-मण्डन नहीं। तीसरा युग शंकराचार्य से प्रारम्भ होता है। इसमें मुख्य मनोवृत्ति दूसरों के मतों के खण्डन और अपने मत के मण्डन की हो गई। तत्त्व-जिज्ञासा का स्थान तर्क की सूक्ष्म युक्तियों ने ले लिया। इस युग में तीनों प्रस्थानों पर अनेक टीकाएँ तथा प्रटीकाएँ रची गई। खण्डन-मण्डन के रूप में स्वतन्त्र ग्रन्थ भी बहुत बड़ी संख्या में लिखे गये।

तीन युग

अद्वैतसम्बन्धी मान्यताओं के प्राचीन होनेपर भी स्वतन्त्र दर्शन के रूप में इसका प्रारम्भ शंकराचार्य या उनके दादागुरु गौडपादाचार्य से होता है। लगभग ७८० ईसवी में गौडपादाचार्य ने माण्डूक्य उपनिषद् पर 'कारिका' लिखी और अद्वैतवाद को पुनर्जीवन दिया। उनके शिष्य गोविन्दपादाचार्य शंकराचार्य के गुरु थे। शंकराचार्य ने माण्डूक्य कारिका एवं अपने परमगुरु गौड़पादाचार्य से प्रेरणा प्राप्तकर ब्रह्मसूत्र पर अद्वैतपरक भाष्य लिखा। इसे शारीरक भाष्य कहते हैं। यही अद्वैतवेदान्त का मूल ग्रन्थ माना जाता है। इसमें चार अध्याय हैं, और प्रत्येक अध्याय के चार पाद। प्रथम अध्याय के प्रथम चार सूत्रों में शंकराचार्य ने अपने मन्तव्य प्रकट किये हैं। द्वितीय अध्याय के प्रथम एवं द्वितीय पाद में तर्क द्वारा अन्य मतों का खण्डन किया है। शेष सारे भाष्य में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उपनिषदों का प्रतिपाद्य अद्वैतब्रह्म ही है। आत्म-साक्षात्कार के लिए शंकराचार्य युक्ति की अपेक्षा उपनिषदों के रूप में ऋषियों के प्रातिभ ज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं। उनका कथन है कि तर्क सत्य पर नहीं पहुँच सकता। वह तो हमारी जमी हुई धारणाओं का केवल समर्थन मात्र करता है। एक तार्किक जिस बात को आज सिद्ध करता है, कल दूसरा उसका खण्डन कर देता है। तीसरे दिन तीसरा तार्किक नई बात खड़ी कर देता है। ऐसी स्थिति में साधक का काम तर्क के

सहारे नहीं चल सकता। इसलिए तत्त्वज्ञान के लिए उन महापुरुषों के अनुभव का सहारा लेना चाहिए, जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर रखा है। इसीलिए शंकराचार्य का उपनिषदों के पर्यालोचन पर अधिक आग्रह है।

शंकराचार्य ने एक ओर युक्ति का सहारा लिया, दूसरी ओर वेदों को सर्वोच्च स्थान दिया। उन्हें बुद्धिवादी एवं श्रद्धावादी दोनों वर्गों का समर्थन मिला। परिणाम यह हुआ कि श्रद्धाहीन बुद्धि पर बल देनेवाले बौद्ध, एवं केवल श्रद्धा पर खड़े होनेवाले 'मीमांसक' फीके पड़ गये। शंकराचार्य ने भारत के मस्तिष्क और हृदय दोनों पर प्रभुत्व जमा लिया। उनके भाष्य पर विशाल साहित्य रचा गया। अनेक प्रकरण-ग्रन्थ भी बने। वह सारा साहित्य भारत के उर्वर मस्तिष्क का प्रतीक है।

[**नोट**—अद्वैत वेदान्त पर लिखे गये साहित्य की सूची परिशिष्ट 'ख' में देखो—सं०]

ज्ञान-मीमांसा

अध्यासवाद—'अध्यासवाद' वेदान्त का सर्वस्व है। शंकराचार्य ने ब्रह्म-सूत्र-भाष्य के प्रारम्भ में इसकी व्याख्या की है। वे कहते हैं कि आत्मा और अनात्मा, प्रकाश और अन्धकार यद्यपि परस्पर-विरोधी हैं, फिरभी दुनिया का सारा व्यवहार दोनों को मिलाकर चलता है। हम पिछले संस्कारों के कारण एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर आरोप करते हैं। आकाश का कोई रंग नहीं होता, फिरभी उसे नीला कहा जाता है। चन्द्रमा बहुत बड़ा होता है, फिरभी तश्तरी-जितना दिखाई देता है। आत्मा बहरी, गूंगी या लंगड़ी नहीं होती, फिरभी कहा जाता है, मैं बहरा, गूंगा या लँगड़ा हूं। इतना ही नहीं, इस प्रकार के भ्रमपूर्ण व्यवहारों के आधार पर ही दुनिया अपना काम चलाती है। इसीको 'अध्यासवाद' कहा जाता है। इसका शब्दार्थ है, एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप। वेदान्त का कथन है कि इस वस्तु, अर्थात् ब्रह्म में अवस्तु, यानी जगत् का आरोप होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि तथाकथित प्रमाण इसी भ्रम पर अवलम्बित हैं। शंकराचार्य ने उनकी चर्चा को महत्व नहीं दिया।

सत्ता के तीन स्तर—साधारण तौर पर हम आँखों से जिस बात को देखते हैं, उसपर विश्वास कर लेते हैं। दुनिया का सारा काम इसी आधार पर चलता है। पर काम चलाना एक बात है, और सत्य दूसरी बात है। आँखों से होनेवाले ज्ञान को प्रत्येक परिस्थिति में सत्य नहीं माना जा सकता। अँधेरे में रस्सी साँप दिखाई देती है। एकही पहाड़ भिन्न-भिन्न स्थानों से देखने पर भिन्न-भिन्न आकार का दिखाई देता है। समीप से देखने पर हरा दिखाई देता है, और दूर से नीला। इन तथ्यों को देखकर शंकराचार्य ने सत्ता या अस्तित्व के ये तीन स्तर बताये हैं:

प्रातिभासिक सत्ता—प्रतिभास का अर्थ है प्रतीति या ज्ञान। स्वप्न में हाथी, घोड़े आदि अनेक दृश्य दिखाई देते हैं। उनकी सत्ता तभीतक है, जबतक

तक स्वप्न चलता रहता है, उसके समाप्त होतेही वे लुप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार रस्सी में सांप या सीप में चांदी का ज्ञान है।

व्यावहारिक सत्ता—स्वप्न में हम जिन पदार्थों को देखते हैं, वे स्वप्न पूरा होतेही समाप्त हो जाते हैं। किन्तु जागृत अवस्था में जिन पदार्थों को देखते हैं, वे प्रतीति के साथ समाप्त नहीं होते। आज की रखी हुई वस्तुएँ दूसरे दिन ज्यों-की-त्यों दिखाई देती हैं। संसार का व्यवहार इसी आधार पर चलता है। इसे व्यावहारिक सत्ता कहते हैं।

पारमार्थिक सत्ता—प्रातिभासिक की तुलना में, स्थायी प्रतीत होनेपर भी, बाहरी जगत् में प्रतीत होनेवाले पदार्थ नित्य नहीं हैं। वे उत्पन्न होते हैं और कुछ समय ठहरकर नष्ट हो जाते हैं। उनकी तुलना में एक ऐसी सत्ता है, जो कभी नष्ट नहीं होती। उसीको ब्रह्म कहा जाता है। वेदान्त का कहना है कि यही एक सत्ता वास्तविक है; अन्य सत्ताएँ अवास्तविक या मिथ्या हैं। इसके लिए नीचेलिखी युक्ति दी जाती है:

हमारे ज्ञान में दो अंश मिले रहते हैं। पहला अंश 'उद्देश्य' कहा जाता है, और दूसरा 'विधेय' प्रकार या विकल्प। 'यह घट है', इस ज्ञान में 'यह' उद्देश्य है और 'घट' विधेय। उद्देश्य सर्वत्र एक-सा रहता है, जबकि विधेय बदलते रहते हैं। 'घट' के ज्ञान में 'घट' विधेय है, और 'पट' के ज्ञान में 'पट'। लोगों में परस्पर विवाद और सच्चे-झूठे का झगड़ा विधेय को लेकर होता है। इसका कारण यह है कि उसमें जाननेवाला अपने जमे हुए संस्कार और पूर्वग्रह मिला देता है। एकही आदमी एक को शत्रु दिखाई देता है, और दूसरे को मित्र। इसका अर्थ है कि वे अपने मन में जमे हुए शत्रुता और मित्रता के भावों को उस व्यक्ति के साथ जोड़ देते हैं। पीलिया रोगवाले को शंख पीला दिखाई देता है। वास्तव में, पीलापन आँखों में रहता है। पर उसे शंख के साथ जोड़ दिया जाता है। पहाड़ में भिन्न-भिन्न रंग दूरी के कारण दिखाई देते है। इन सब उदाहरणों से पता चलता है कि उद्देश्य वास्तविक होता है, और विधेय जाननेवाले की अपनी कल्पना।

ऊपर यह बताया गया है कि विधेय के रूप में प्रतीत होनेवाले सारे पदार्थ कल्पनामात्र हैं। किन्तु कल्पना बिना आधार के नहीं होती। अँधेरे में भय के कारण साँप की कल्पना होती है। पर उसके लिए रस्सी का होना आवश्यक है। इसी तरह यदि विश्व कल्पनामात्र है, तो उसका आधार अवश्य होना चाहिए। वह आधार ब्रह्म है। विश्व एक चित्र के समान है, और ब्रह्म उस दीवार या पट के समान, जिसपर चित्र अंकित होता है। ब्रह्म का अपने-आपमें न कोई रूप है, न आकार। वह मानव-बुद्धि और कल्पना से परे है। उपनिषदोंने उसका वर्णन 'यह नहीं है', 'यह नहीं है' कहकर किया है।

उसे जानने के लिए अनेक प्रकार के दृष्टान्त और दूसरे उपाय काम में

लाये जाते हैं। पहला उपाय ऊपर बताया गया विश्लेषण है। प्रत्येक ज्ञान में इन पाँच बातों का भान होता है:

१. अस्तित्व अर्थात् है या नहीं है
२. आभास अर्थात् प्रतीति
३. आत्म-संतोष या सुख की अनुभूति
४. नाम अर्थात् वस्तु का किसी शब्द के साथ सम्बन्ध
५. रूप या आकार।

इनमें से पहले तीन सभी ज्ञानों में एक-से रहते हैं, और अन्तिम दो बदलते रहते हैं। प्रथम तीन ब्रह्मरूप हैं, और अन्तिम दो माया या कल्पना। प्रथम तीन के आधार पर ब्रह्म को सत्, चित्, आनन्द कहा जाता है।

बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद है। मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से पूछा, 'आत्मा या ब्रह्म को जानने का क्या उपाय है ?' उत्तर में ऋषि ने बताया कि, 'हमें धन,सन्तान, पत्नी आदि वस्तुएँ प्यारी लगती हैं, किन्तु क्या वे अपने-आप-में प्यारी हैं ?' बीमारी या संकट आने पर हम धन को पानी की तरह बहाने लगते हैं। पुत्र तथा पत्नी के प्रतिकूल होने पर उन्हें छोड़ देते हैं। हाथ, पैर आदि किसी अंग के विषाक्त होने पर उसे कटवाने के लिए तैयार हो जाते हैं। वह कौन-सा तत्त्व है, जिसे बचाने के लिए ऐसा करते हैं। वह तत्त्व आत्मा या ब्रह्म है।

रस्सी और साँप के उदाहरण में प्रतीत होनेवाले साँप का कारण रस्सी और उसका अज्ञान है। रस्सी न होती, तो साँप न दिखाई देता। साथही रस्सी का रस्सी के रूप में यदि भान हो जाता, तबभी साँप की प्रतीति नहीं होती। इस आधार पर वेदान्त में दो प्रकार के कार्य बताये गये हैं। जब कारण वास्तविक है, और कार्य कल्पित, तो उसे 'विवर्त्त' कहते हैं। प्रतीयमान विश्व ब्रह्म का विवर्त है। जब कारण और कार्य दोनों की सत्ता एक-सी हो, तो कार्य को 'परिणाम' कहा जाता है। वह अज्ञान अपने-आपमें भी सत्य नहीं है। अतः विश्व उसका परिणाम है।

विवर्त्तवाद

साधारण तौर पर यह माना जाता है कि शंकराचार्य बाह्य जगत् का अस्तित्व नहीं मानते, पर यह बात सही नहीं है। वे जगत् के लिए मिथ्या या अनिर्वचनीय शब्द का प्रयोग करते हैं। इसमें और अभाव में बहुत बड़ा अन्तर है। शंकराचार्य का कथन है कि एक ओर सत्य है, जो कभी नहीं बदलता। वह देश तथा काल की सीमा से परे है। प्रत्येक ज्ञान में उसकी अनुभूति होती है। दूसरी सीमा पर 'आकाश-कुसुम' है, जो अभावरूप है। इन दोनों के बीच एक ऐसी श्रेणी है, जो न नित्य या व्यापक है, और न अभावरूप है। उदाहरण के लिए घट ब्रह्म के समान नित्य या सर्वव्यापी नहीं है, अतः वह 'सत्' नहीं है। दूसरी ओर, वह अभावरूप भी नहीं है, क्योंकि

अनिर्वचनीयवाद

दिखाई देता है। 'आकाश-कुसुम' कभी दिखाई नहीं देता। जगत् के सारे पदार्थ तीसरी कोटि में आते हैं। ये न तो शाश्वत हैं, और न अभावरूप। उन्हें न सत् कह सकते हैं और न असत्। इन शब्दों से उनका निर्वचन नहीं हो सकता, इसीलिए वे अनिर्वचनीय कहे गये हैं।

इसी अज्ञान को माया, अविद्या आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है। यह दो प्रकार की है, 'मूलाविद्या' और 'तूलाविद्या'। जिस अविद्या के कारण सारे जगत् की सृष्टि होती है उसे 'मूलाविद्या' कहते हैं। साधारण जीवों की अविद्या 'तूलाविद्या' कही जाती है। कहीं-कहीं मूलाविद्या को माया शब्द से, और तूलाविद्या को अविद्या शब्द से प्रकट किया गया है। मुख्य अन्तर यही है कि माया सृष्टि का कारण होने पर भी स्रष्टा को भ्रम में नहीं डालती। उसकी उपमा जादूगरी से दी जाती है। जादूगर जादू करता है, और लोगों के सामने तरह-तरह के दृश्य उपस्थित कर देता है, किन्तु वह स्वयं भ्रम में नहीं पड़ता।

अविद्या, ईश्वर और जीव

इस प्रकार की अविद्या से युक्त ब्रह्म को 'ईश्वर' कहा जाता है। वह जगत् की रचना करता है, किन्तु अज्ञान से अभिभूत नहीं होता। उसके लिए अज्ञान एक साधन है, जिसके द्वारा वह विश्व की रचना करता है। वह उसपर हावी नहीं होता। इसीलिए परमेश्वर को सर्वज्ञ तथा मायी कहा गया है। ब्रह्म को जब तूला-विद्या घेरती है, तो उसे जीव कहा जाता है। वहाँ अविद्या दोनों काम करती है। एक ओर तो जीव को अपने स्वरूप का भान नहीं होने देती, और दूसरी ओर मिथ्या कल्पनाओं के लिए प्रेरित करती है।

अविद्या के जो भेद बताये गये हैं, उनमें मुख्य अंतर विवक्षा का है, स्वरूप का नहीं। हम एकही वस्तु को सामूहिक रूप से प्रकट कर सकते हैं और वैयक्तिक रूप से भी। इन्हें क्रमशः 'समष्टि' और 'व्यष्टि' कहा जाता है। वृक्षों के विशाल झुरमुट को वन भी कहा जा सकता है, और बहुसंख्यक वृक्ष भी। सैनिकों के संग-ठन को सेना कहा जा सकता है, और बहुसंख्यक सैनिक भी। जब हम अलग-अलग सैनिकों को लेते हैं, तो प्रत्येक की सीमित शक्ति सामने आती है। वही संगठित रूप में विशाल शक्ति बन जाती है। इसी प्रकार संकुचित होने पर अविद्या ज्ञान, शक्ति तथा सुख को सीमित कर देती है। उससे घिरा हुआ चैतन्य 'जीव या 'प्राज्ञ' कहा जाता है, और उसमें भी ये बातें होने लगती हैं। इसके विपरीत, व्यापक अविद्या या मायावाला चैतन्य ईश्वर है। उसका ज्ञान, शक्ति और सुख सीमित नहीं होते। अविद्या की दो शक्तियाँ हैं :

१. आवरण-शक्ति

२. विक्षेप-शक्ति

'आवरण-शक्ति' सत्य का ज्ञान नहीं होने देती। विक्षेप-शक्ति का कार्य है

नई-नई रचनाएँ। आवरण-शक्ति का प्रभाव केवल जीव पर होता है। साधारणतया हम कहते हैं कि बादल ने सूर्य को ढक लिया। किन्तु वास्तव में वह सूर्य को नहीं ढकता, हमारी दृष्टि को ढकता है, जिससे हम सूर्य को नहीं देख पाते। इसी प्रकार अविद्या जीव को ढक देती है। परिणाम यह होता है कि वह अपने असली रूप को नहीं देख पाता।

'विक्षेप-शक्ति' ईश्वर और जीव दोनों में काम करती है। ईश्वर की विक्षेप-शक्ति सारे संसार की रचना करती है, और जीव की विक्षेप-शक्ति स्वप्न तथा भ्रम उत्पन्न करती है। चैतन्य को मुख्यता देने पर ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है, और माया को मुख्यता देने पर उपादान कारण।

जीव से संबंधित अविद्या का दूसरा नाम अन्तःकरण है। जीव को अन्तः-करण से घिरा हुआ चैतन्य कहा जाता है। जब हम बाह्य पदार्थों को देखते हैं तब सबसे पहले पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है।

ज्ञान की प्रक्रिया

अन्तःकरण इन्द्रिय के द्वारा बाहर निकलकर ज्ञेय वस्तु का आकार ले लेता है। इसे 'वृत्ति' कहा जाता है। इसके द्वारा पदार्थ पर पड़ा हुआ अज्ञान का आवरण हट जाता है, और वहाँ रहा हुआ चैतन्य अपने-आप चमकने लगता है। इस प्रकार विषय-चैतन्य, वृत्ति-चैतन्य और अन्तःकरण या परमातृ-चैतन्य, तीनों में सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। दूसरी ओर वही अन्तःकरण घट, पट आदि वस्तुओं की कल्पना करता है। इसीका नाम प्रत्यक्ष है। इसमें वास्तविक भान चैतन्य का होता है, और उसपर विभिन्न पदार्थों की कल्पना या आरोप किया जाता है।

अन्य प्रमाणों की संख्या तथा स्वरूप के बारे में वेदान्त ने स्थूलरूप से कुमारिल-भट्ट का अनुसरण किया है। वह इस चर्चा को विशेष महत्व नहीं देता।

छह अनादि

एकमात्र ब्रह्म को सत्य मानने पर भी प्रतीयमान विश्व की व्याख्या करने के लिए वेदान्त ने छह बातें अनादि मानी हैं :

१. ब्रह्म—अर्थात् शुद्ध चैतन्य
२. ईश्वर—अर्थात् माया से युक्त चैतन्य
३. जीव—सुख-दुःख आदि का भोग करनेवाला तूलाविद्या से युक्त चैतन्य
४. जीव और ईश्वर का परस्पर-भेद
५. अविद्या
६. अविद्या और चैतन्य का परस्पर-सम्बन्ध।

अविद्या से पांच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न होता है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी। इन्हें सूक्ष्म या शुद्धभूत कहा जाता है। सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है। इसके

सत्रह अवयव हैं—पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पाँच वायु, बुद्धि और मन। ज्ञानेन्द्रियां आकाशादि के सात्विक अंश से बनती हैं। आकाश से श्रोत्र, वायु से स्पर्शन, अग्नि से चक्षु, जल से रसना और पृथिवी से घ्राणेन्द्रिय का निर्माण होता है। बुद्धि और मन में सभी तत्त्वों का संमिश्रण रहता है। आकाशादि के रजोंश से क्रमशः पाँच कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। वे हैं—वाणी, हाथ, पैर, गुदा और जननेन्द्रिय। भूतों के रजोंश से सम्मिलित रूप में पांच वायु उत्पन्न होते हैं, वे हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान।

सूक्ष्म भूतों के पञ्चीकरण से स्थूल शरीर तथा स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं। पंचीकरण का अर्थ है परस्पर संम्मिश्रण। प्रत्येक स्थूल भूत में आधा अंश उसका अपना रहता है, और शेष आधा भाग अन्य चार भूतों के अष्टमांशों का मिलकर बनता है। इन्हीं स्थूल भूतों से समस्त विश्व की रचना होती है।

साधारणतौर पर दर्शनकार विश्व का स्वरूप बताते समय जाग्रत अवस्था के अनुभवों की व्याख्या करते हैं। किन्तु शंकराचार्य का कथन है कि हमारा अनुभव यहींतक सीमित नहीं है। जागरण के अलावा दो अवस्थाएँ और हैं, जिनमें भिन्न प्रकार के अनुभव होते हैं। वे हैं स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत अवस्था में जो पदार्थ दिखाई देते हैं, वे अपने भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होते हैं और ज्ञान का विषय बनते हैं। किन्तु स्वप्न-अवस्था में दिखाई देनेवाले पदार्थ अनुभव से भिन्न नहीं होते। वहाँ एकही सत्ता ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का आकार ले लेती है। उस समय हाथी, घोड़े आदि जो दिखाई देते हैं, उनकी कल्पना हमारा मन करता है, जो जाग्रत अवस्था के संस्कारों को लिये रहता है। तीसरी अवस्था सुषुप्ति है। वहाँ मन भी काम नहीं करता, फिरभी यह नहीं कहा जा सकता कि कुछ नहीं रहता। बाह्य पदार्थों का अनुभव न होने पर भी वहाँ कोई 'नींद के सुख' का अनुभव करता है। वही जागने पर कहता है, 'मैं सुख से सोया'। साथही, पिछले दिन के अनुभवों के अनुसार अपना काम शुरू कर देता है। इससे पता चलता है कि उस समय संस्कार भी बने रहते हैं, पर वे उद्‌बुद्ध नहीं होते। चौथी अवस्था शुद्ध चैतन्य है, जहाँ संस्कार भी नहीं होते। उस अवस्था में पहुँचने पर पुनः लौटना नहीं होता। साधारण लोगों को जो नींद आती है, उसका कारण तमोगुण है। किन्तु योगियों की नींद ब्रह्म में लीन हो जाने पर होती है। इसीको 'तुरीयावस्था' कहते हैं।

वेदान्त में इन अवस्थाओं को लेकर विश्व का स्वरूप बताया गया है। तुरीयावस्था शुद्ध ब्रह्मरूप है। सृष्टि उत्पन्न होने से पहले और प्रलयकाल में जब परमात्मा, माया से युक्त होनेपर भी, किसी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करता, तो उसे सुषुप्ति कहते हैं। उस समय माया से युक्त परमात्मा 'ईश्वर' कहा जाता है, और उसके मायारूप शरीर को कारण शरीर। वह अवस्था समस्त सूक्ष्म तथा स्थूल प्रपञ्च का लय-स्थान मानी जाती है। इसीको 'आनंदमय कोश' कहा जाता

है, उस समय केवल आनन्द की अनुभूति होती है, कर्तृत्व, इच्छा या क्रिया की नहीं।

स्वप्न-अवस्था में बाह्य प्रपञ्च का अस्तित्व न होनेपर भी, आन्तरिक जगत् में ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया सभी कार्य होने लगते हैं। इसका मुख्य कारण मन में जमी हुई वासनाएँ होती हैं। वासनाओं या संस्कारों के इस व्यक्तित्व को सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। इसके घटक तीन कोश हैं:—

१. **विज्ञानमय कोश**—इसके घटक हैं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और बुद्धि यानी चित्त की विचारात्मक अवस्था। इस कोशवाले चैतन्य को 'सूत्रात्मा' कहा जाता है।

२. **मनोमय कोश**—इच्छा, द्वेष, संकल्प, विकल्प आदि मनोविकार उत्पन्न न करनेवाला। इससे युक्त चैतन्य को 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है।

३. **प्राणमय कोश**—पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राण। इससे युक्त चैतन्य को 'प्राण' कहा जाता है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, बुद्धि, मन, और पाँच प्राण मिलकर सूक्ष्म शरीर बनता है। यह स्थूल प्रपञ्च का लय-स्थान है।

जाग्रत अवस्था में इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों को देखती हैं और स्थूल जगत् का अनुभव होता है। इस अवस्था को अन्नमय कोश कहते हैं, और उनसे युक्त चैतन्य को विराट्।

माया या अविद्या के समष्टि और व्यष्टि दो रूप बताये गये हैं। चैतन्य की ईश्वर, सूत्रात्मा आदि अवस्थाएँ समष्टि की अपेक्षा से हैं। उन्हींको जब व्यष्टि-रूप में लिया जाता है, तो उनका सम्बन्ध विभिन्न प्राणियों के साथ हो जाता है। उनकी भी उसी प्रकार पाँच अवस्थाएँ हैं।

साधन-चतुष्टय—साधना के लिए वेदान्त में सबसे पहले अधिकारी का निरूपण किया जाता है। जिस व्यक्ति के मन में सांसारिक आकांक्षाएँ बनी हुई हैं,

साधना

जिसका चित्त शान्त नहीं है, जो इन्द्रियों के विषयों में आसक्त है, वह वेदान्त का अधिकारी नहीं है। उनके लिए कर्म और उपासना-मार्ग का विधान है। वेदान्त-विद्या के लिए ये चार बातें आवश्यक मानी गई हैं:

१. **शमादि**—(क) शम यानी चित्त का शान्त होना, (ख) दम यानी इन्द्रियों पर दमन, (ग) उपरति यानी सांसारिक सुखों से विरक्ति। (घ) तितिक्षा यानी सहनशीलता, सुख में फूल न जाना, और दुःख में व्याकुल न होना, (ङ) समाधि अर्थात् मन की एकाग्रता, और (च) श्रद्धा यानी उपनिषदों में प्रतिपादित तत्त्वों पर दृढ़ विश्वास;

२. **नित्यानित्य वस्तु-विवेक**—संसार में कौन-सी वस्तु स्थायी है, और कौन-सी नश्वर है, इसकी समझ;

३. **इहामुत्रार्थ भोग-विराग**—ऐहिक और पारलौकिक सुखों से विरक्ति;

४. मुमुक्षत्व—मोक्ष प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा।

इन गुणोंवाला साधक गुरु की खोज करता है और उसके प्राप्त हो जाने पर श्रद्धापूर्वक उपदेश प्राप्त करता है।

शंकराचार्य ने आश्रम-व्यवस्था को नहीं माना। उपनिषदों में दोनों प्रकार के वाक्य आये हैं। एक जगह कहा गया है कि ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम ग्रहण करना चाहिए, उसके पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम, तब संन्यास लेना चाहिए। फिर यह भी कहा गया है कि जिस दिन वैराग्य हो जाय, उसी दिन संन्यास ले लेना चाहिए, चाहे गृहस्थ, वानप्रस्थ या ब्रह्मचर्य कोई भी आश्रम हो। शंकराचार्य का कहना है कि पहला क्रम साधारण लोगों के लिए है, तीव्र वैराग्यवालों के लिए इस प्रकार की व्यवस्था नहीं है।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन—साधना-क्रम के रूप में वेदान्त में ये तीन बातें बताई गई हैं :

१. **श्रवण** अर्थात् शास्त्र तथा गुरु के उपदेश को अच्छी तरह सुनना और समझना।

२. **मनन**—सुनी हुई बात पर युक्तिपूर्वक विचार करना। शंकराचार्य कहते हैं कि जहाँ शास्त्र और युक्ति में परस्परविरोध मालूम पड़े, वहाँ शास्त्र की बात ही माननी चाहिए। बुद्धि की सीमा को समझकर उसपर बार-बार विचार करना चाहिए। किन्तु समझ में न आने पर अश्रद्धा नहीं करनी चाहिए।

३. **निदिध्यासन**—बात के समझ में आ जाने पर उसका बार-बार चिन्तन करना चाहिए, जिससे जमे हुए विरोधी संस्कार समाप्त हो जायें और नई अनुभूति स्पष्ट होती जाय। ऊहापोह करने पर किसी बात की बुराई तो ज्ञात हो जाती है, फिर भी पुराने संस्कारों के कारण उसे हम नहीं छोड़ पाते। निदिध्यासन द्वारा धीरे-धीरे विरोधी संस्कार दूर हो जाते हैं।

उपनिषदों में कुछ ऐसे वाक्य हैं, जो ब्रह्म का स्वरूप या जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते हैं। उन्हें 'महावाक्य' कहा जाता है। वेदान्त-साधना में उन्हींके श्रवण, मनन और निदिध्यासन पर बल दिया गया है। वे महावाक्य ये हैं :

महावाक्य

१. 'एकमेवाद्वितीयम्' इसका अर्थ बताया जा चुका है।

२. 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में गुरु शिष्य को कह रहा है कि 'तू' अर्थात् जीव 'वह' अर्थात् ब्रह्म है। इसमें जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है।

३. 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सब-कुछ ब्रह्म ही है, उसे छोड़कर दूसरा कुछ नहीं है।

४. 'अहंब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ।

इन वाक्यों का निरन्तर चिन्तन करने पर भेद-बुद्धि दूर हो जाती है और सर्वत्र ब्रह्म-ही-ब्रह्म दिखाई देने लगता है। ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही अविद्या नष्ट हो जाती है, और जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है।

महाकाश और घड़े से घिरा हुआ आकाश वास्तव में एकही है। किन्तु जबतक घड़ा मौजूद है, उनमें परस्पर भेद मालूम पड़ता है। इसी प्रकार अविद्या के कारण जीव अपनेको ब्रह्म से भिन्न समझता है। घड़ा फूटते ही घिरा हुआ आकाश महाकाश में मिल जाता है। इसी प्रकार अविद्या से घिरा हुआ जीव, अविद्या दूर होते ही, ब्रह्म में लीन हो जाता है। घिरे के इस रूप को 'अवच्छेदवाद' कहा जाता है। दूसरा 'प्रतिविम्ववाद' है। सूर्य की पानी में परछाई पड़ती है, और दसों सूर्य दिखाई देते हैं। इसी तरह भिन्न-भिन्न अविद्याओं में परछाई पड़ने के कारण अनेक जीव दिखाई देते हैं। वर्तन फूटते ही परछाई सूर्य मे मिल जाती है। इसी प्रकार अविद्या दूर होते ही जीव ईश्वर में मिल जाता है। वास्तव में देखा जाय, तो परछाई या जीव का अस्तित्व अलग नहीं होता। केवल ऐमी प्रतीति होती है। ज्ञान होते ही मिथ्या प्रतीति दूर हो जाती है, और भिन्न अस्तित्व का भ्रम दूर हो जाता है। इसीका नाम 'ब्रह्म-लय' है। यही वेदान्त की मुक्ति है।

साक्षात्कार के संबंध में वेदान्त का कथन है कि वेदान्त-चिन्तन द्वारा पहले ब्रह्माकारवृत्ति होती है, साधक अपने ज्ञान में जीव और ब्रह्म की एकता का अनुभव करता है। यह वृत्तिभी अविद्या का कार्य है, किन्तु वह अविद्या को नष्ट कर डालता है। उसके नाश हो जाने पर वृत्ति भी नहीं रहती, अनुभव करनेवाला तथा अनुभव का विषय प्रतीत नहीं होते, घेरा समाप्त होने के कारण केवल ब्रह्म रह जाता है। यही 'ब्रह्म-लय' है, जो वेदान्त-साधना का अंतिम लक्ष्य है।

विशिष्टाद्वैतवाद

प्रवर्तक—वेदान्त-दर्शन की इस परम्परा के प्रवर्तक आचार्य रामानुज माने जाते हैं। उनका जन्म संवत् १०७३ में, मद्रास नगर से १४ कोस नैऋत्यकोण में पेरुम्बुदुर ग्राम में हुआ था। इसे महाभूतपुरी भी कहते हैं।

तात्पर्य

विशिष्टाद्वैतवाद ईश्वर, जीव और माया तीनों को सत्य मानता है। इसके मत में जीव और माया ईश्वर के ही अंश या उपाधि हैं। यहाँ अद्वैत का अर्थ इतना ही है कि ईश्वर एक है। जीव और माया अनेक होनेपर भी उसीमें समाये हुए हैं। शंकराचार्य ने सजातीय, विजातीय और स्वगत इन तीनों भेदों का निराकरण किया है, किन्तु रामानुजाचार्य स्वगत भेद का निराकरण नहीं करते। विशिष्टाद्वैत का शब्दार्थ है "जीव और माया से विशिष्ट ईश्वर की अद्वितीयता"।

उद्गम और विकास—वेदान्त की अन्य परम्पराओं के समान विशिष्टाद्वैत भी उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता को 'प्रस्थानत्रय' मानता है। इन्हींको वह प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करता है। किन्तु उनकी व्याख्या वह अपनी मान्यताओं के अनुसार करता है।

महाभारत का नारायणीय पर्व तथा पांचरात्र आगम में भी विशिष्टाद्वैतवाद का समर्थन मिलता है। रामानुज ने पूर्वाचार्यों के रूप में रंक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दी, भारुचि, बोधायन और नाथमुनि का उल्लेख किया है। ब्रह्मसूत्र पर बोधायन की वृत्ति नहीं मिलती है। नाथमुनि (१००० ई०) ने 'न्यायतत्त्व' और 'योगरहस्य' नामक ग्रन्थ रचे थे। वे अन्तिम आल्वार के शिष्य थे। यामुनाचार्य रामानुज के गुरु थे। उन्होंने 'आगम प्रामाण्य' 'सिद्धित्रय', 'महापुरुषसिद्धित्रय' तथा 'गीतार्थ-संग्रह' की रचना की।

रामानुजाचार्य ने नीचेलिखे ग्रन्थों की रचना की :

ब्रह्मसूत्र पर 'श्रीभाष्य', भगवद्गीता पर टीका, 'वेदान्तदीप', 'वेदान्तसार', 'वेदार्थसंग्रह', 'गद्यत्रय' और 'भगवदाराधन कर्म'। सुदर्शन ने श्रीभाष्य पर 'श्रुतप्रकाशिका' नामक लघुटीका रची। लोकाचार्य का 'तत्त्वत्रय' विशिष्टाद्वैत पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वेदान्तदेशिक (१३०० ई०) ने 'न्याय-परिशुद्धि' की रचना की, जो ज्ञानमीमांसा और तर्कशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। श्रीनिवासाचार्य (१७०० ई०) की 'यतीन्द्रमतदीपिका' बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्रीभाष्यवार्तिक श्रीभाष्य का छन्दोबद्ध संक्षेप है।

ईश्वर, जीव और जगत् के परस्पर-सम्बन्ध की चर्चा करते हुए आचार्य

तत्त्व-मीमांसा

रामानुज ने दो प्रकार के सम्बन्धों का उल्लेख किया है। पहला सम्बन्ध उन वस्तुओं में पाया जाता है, जो स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं, अर्थात् एक दूसरे से अलग होने पर भी बनी रहती हैं। उन्हें पृथक्-सिद्ध कहा जाता है। उदाहरण के रूप में, लाठी और पुरुष का परस्पर-संबंध ऐसा नहीं है कि वे एक दूसरे के बिना न टिक सकें। लाठी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है, और पुरुष अपना। उनका अस्तित्व एक दूसरे पर आधारित नहीं है। न्याय-दर्शन में इसे 'संयोग-संबंध' कहा जाता है।

संबंध का दूसरा प्रकार वह है, जहाँ एक का अस्तित्व दूसरे पर आधार रखता है। जैसे फूल और उसका रंग। रंग वस्तु के बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार घट और उसके अवयवों का संबंध है। अवयवी सदा अवयवों में रहता है। उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता।

विशिष्टाद्वैतवाद में जीव और जगत् का ईश्वर के साथ संबंध दूसरे प्रकार का माना गया है। ईश्वर या ब्रह्म आत्मा है। जीव तथा जगत् उसका शरीर है। शरीर का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। वह आत्मा के लिए होता है। उसे तभी शरीर कहा जाता है, जब वह आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है। इसी प्रकार जीव और जगत् का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वे ईश्वर के लिए हैं। उसकी वे भोग-सामग्री हैं। ईश्वर उनके द्वारा अपनी इच्छा पूर्ण करता है। तीनों तत्त्व सत्य हैं, और परस्पर-भिन्न हैं। फिरभी अस्तित्त्व की दृष्टि से समकक्ष नहीं हैं। रामानुज के अनुसार उपनिषदों में प्रतिपादित अद्वैत का इतना ही अर्थ है कि तीनों तत्त्व वास्तविक होने पर भी पृथक् नहीं होते। अतः विशिष्टाद्वैत का अर्थ है, जीव और जगत् से विशिष्ट ईश्वर की एकता या अद्वितीयता।

यह सिद्धान्त ईश्वर तथा जगत् के परस्पर-संबंध तक सीमित नहीं है। वह प्रत्येक वस्तु में दिखाई देता है। नीले कमल में दो तत्त्व मिले हुए हैं, नीलापन और कमल-तत्त्व। वे दोनों परस्पर-भिन्न हैं। पर उनसे विशिष्ट कमल एक है। गुण अनेक होनेपर भी उनसे विशिष्ट गुणी एकही रहता है। इसी प्रकार यौवन और बुढ़ापा ये अवस्थाएँ परस्पर-भिन्न हैं। फिरभी उनसे विशिष्ट देवदत्त एक ही है। अवस्थाओं का भेद अवस्थावान् में भेद का कारण नहीं होता।

आचार्य रामानुज ने दो ही तत्त्व माने हैं—द्रव्य और अद्रव्य, अर्थात् गुण। न्याय-दर्शन ने कर्म को अलग पदार्थ माना है। रामानुज ने उसे संयोग और विभाग के रूप में गुणों में ही सम्मिलित कर लिया। उनकी दृष्टि में सामान्य नाम का कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। वह व्यक्तियों या विशेषों का समूहमात्र है, जो सदृश होते हुए भी एक दूसरे से पृथक् हैं। ऐसा कोई एक तत्त्व नहीं, जो सबमें अनुस्यूत हो। उन्होंने विशेष, समवाय तथा अभाव को भी स्वतंत्र पदार्थ नहीं माना। प्रभाकर के समान वे भी अभाव को भावान्तर अर्थात् दूसरी वस्तु का अस्तित्व

मानते हैं।

(अ) द्रव्य—द्रव्य का अर्थ है वह वस्तु, जो उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिणत होती है। वेदान्तदेशिक ने इसकी उपमा अश्वत्थ अर्थात् पीपल के पत्ते के साथ दी है। वह अनेक अवस्थाओं में बदलता रहता है, फिरभी एक है।

प्रकृति, जीव, ईश्वर और धर्मभूत ज्ञान ये द्रव्य के भेद हैं।

प्रकृति—प्रकृति का स्वरूप प्रायः सांख्य-दर्शन के समान है। भेद इतना ही है कि यहाँ वह ईश्वर से पृथक् स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। यहाँ सत्व, रजस् और तमस् प्रकृति के गुण हैं, घटक नहीं। प्रकृति का वर्णन ईश्वर के शरीर या वस्त्रों के रूप में किया जाता है। सारा जगत् ईश्वर से अधिष्ठित प्रकृति का परिणाम है। प्रकृति और उसके कार्यों में 'अपृथक् सिद्धि' नाम का संबंध है। जैसे वस्त्र तन्तुओं के विना, और घड़ा मिट्टी के विना नहीं रह सकता, उसी प्रकार प्रकृति के कार्य प्रकृति के विना नहीं रहते।

सत्कार्यवाद—आचार्य रामानुज ने भी 'सत्कार्यवाद' को स्वीकार किया है। किन्तु उसकी व्याख्या सांख्य-दर्शन के समान नहीं की। सांख्य-दर्शन में इसका अर्थ है कार्य के प्रकट होने से पहले उसका अस्तित्व। मूर्ति का अस्तित्व पत्थर में पहले से होता है। मूर्तिकार केवल आवरण को हटा देता है। इसी प्रकार सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रतीयमान सारा जगत् प्रकृति में छिपा रहता है। उत्पत्ति का अर्थ 'अस्तित्व में आना' नहीं, किन्तु 'प्रकट होना' है। परन्तु रामानुज के मत में 'सत्कार्यवाद' का अर्थ यह नहीं है। यहाँ सत् का अर्थ है प्रकृति, जो पहले से विद्यमान है। उसका कार्य के रूप में परिणत होना ही 'सत्कार्यवाद' है। यहाँ कार्य की अपृथक् सत्ता नहीं मानी गई। वह नवीन उत्पन्न होता है। सत्कार्यवाद का इतना ही अर्थ है कि उसका कारण पहले से विद्यमान रहता है। वही कार्यरूप में परिणत होता है। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं होती। ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि यहाँ कार्य-कारण-भाव द्रव्य और उसकी अवस्थाओं में नहीं माना गया। परन्तु पूर्वावस्था को उत्तरावस्था का कारण माना गया है। जैसे घड़े का कारण मिट्टी नहीं है, किन्तु मिट्टी की पिण्डावस्था है, जो घटावस्था के रूप में परिणत होती है। मिट्टी दोनों अवस्थाओं में अनुस्यूत है।

जीव—जीव, ईश्वर से भिन्न होने पर भी, स्वतंत्र नहीं है। उसे ईश्वर का अंश कहा जाता है। प्रकृति के समान वह भी अनादि और अनन्त है। ईश्वर के साथ सह-अस्तित्व होने पर भी वह तद्रूप नहीं है। उसे ईश्वर का शरीर माना जाता है। इसका इतना ही अर्थ है कि ईश्वर उसमें बसा हुआ है। उसके द्वारा अपना कार्य करता है। उसे अंदर से प्रेरित करता रहता है।

जीव अणु-परिमाण है। किन्तु 'धर्मभूतज्ञान' के कारण दूर की वस्तुओं

को जान सकता है। वह चेतन है। स्वप्रकाश है। नित्य है। केवल उसके धर्मभूतज्ञान में परिवर्तन होता है। जीव अनेक हैं। वेदों में जहाँ कहीं उनकी एकता का उल्लेख है, उसका तात्पर्य यही है कि वे एकसमान हैं, एकही जाति के हैं। सुख तथा आनन्द उनका स्वरूप है। किन्तु कर्मबंध के कारण विविध योनियों में वे भ्रमण करते हैं, और दुःख भोगते हैं।

जीव तीन प्रकार के हैं :

१. **नित्यमुक्त**—जो जीव कभी बंधन में नहीं पड़े।

२. **मुक्त**—जो जीव संसार के कष्टों को भोगकर मोक्ष-मार्ग की ओर झुके और साधना द्वारा बंधन से छूट गये।

३. **बद्ध**—जो अभीतक जन्म-मरण के चक्र में फँसे हुए हैं।

ईश्वर—ईश्वर प्रकृति और जीव दोनों में समाया हुआ है, और उनका संचालन करता है। इन दोनों को ईश्वर का शरीर माना जाता है। इसका इतना ही अर्थ है कि वही उनका पालक और नियामक है। उनका एकमात्र उद्देश्य ईश्वर की इच्छाओं को पूरा करना है। आचार्य रामानुज का कथन है कि ईश्वर का अस्तित्व स्वयं अपने लिए है। इसके विपरीत, जीव और प्रकृति ईश्वर के लिए हैं, स्वयं अपने लिए नहीं। यही बात जीव और उसके शरीर के विषय में कही जा सकती है। शरीर जीव के लिए होता है, और जीव स्वयं अपने लिए। जैसे हमारा व्यक्तित्व शरीर और आत्मा दोनों को ही मिलाकर बनता है, उसी तरह ईश्वर का व्यक्तित्व प्रकृति और जीवों को मिलाकर पूर्ण होता है। शरीर और आत्मा का संबंध ऐसे व्यक्तित्व को प्रकट करता है, जहाँ सारे यंत्र का संचालन किसी एकही लक्ष्य को पूरा करने के लिए होता है। इसे 'अपृथक्सिद्ध' कहा जाता है, अर्थात् एक का अस्तित्व दूसरे के बिना अधूरा है। इससे उलटा स्वतंत्र सत्ता रखनेवाली जड़ या चेतन वस्तुओं का संबंध पृथक् सिद्ध होता है। वे मिलते हैं और बिछुड़ जाते हैं। उससे उनके अस्तित्व को क्षति नहीं पहुँचती।

ईश्वर चेतन और स्वप्रकाश है। सारी वस्तुओं को वह 'धर्मभूतज्ञान' के द्वारा जानता है। दोषों से वह सर्वथा मुक्त है और गुणसंपन्न है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी है। कृपालु है। उसीकी कृपा होने पर जीव को मुक्तिलाभ होता है।

न्याय-दर्शन ईश्वर को जगत् का निमित्त मानता है। उसकी उपमा वह कुम्हार से देता है। कुम्हार मिट्टी को उत्पन्न नहीं करता, केवल उसे घड़े के रूप में ढाल देता है। इसी प्रकार ईश्वर पृथिवी आदि के परमाणुओं से जगत् की रचना करता है, परमाणुओं को बनाता नहीं है। वे अनादि हैं। किन्तु विशिष्टाद्वैत ईश्वर को निमित्त तथा उपादान दोनों मानता है। वह जगत् की रचना करता है। उसके लिए सामग्री भी स्वयं प्रस्तुत करता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो उससे भिन्न हो। जड़

और चेतन सारा जगत् उसीके व्यक्तित्व में समाया हुआ है। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के समान यहाँ ईश्वर ही एकमात्र विश्व का कारण है। उसके शरीररूप प्रकृति और जीव जब अव्यक्त अवस्था में रहते हैं, तब उन्हें कारण कहा जाता है। व्यक्त होने पर वे ही कार्य कहे जाते हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि दुःख, अज्ञान आदि दोष भी ईश्वर में रहते हैं। उनका अधिष्ठान जीव है, जो ईश्वर से भिन्न है।

धर्मभूतज्ञान—इसका अर्थ है बुद्धि, जो ईश्वर और जीव का धर्म या स्वभाव है। इसकी गणना द्रव्यों में की जाती है, क्योंकि यह विविध अवस्थाओं में परिणत होता है। यह स्व-प्रकाश है। साथही पदार्थों को प्रकाशित करता है। इसका यह कार्य ईश्वर तथा जीव के लिए होता है, अपने लिए नहीं। यह जड़ और चेतन के बीच संबंध जोड़ता है। जड़ पदार्थों में दूसरे को प्रकाशित करने की योग्यता नहीं होती, अतः बुद्धि उनसे भिन्न है। साथ ही, ईश्वर और जीव से भी बुद्धि भिन्न है, क्योंकि उसकी प्रकाश-क्रिया उनके लिए है, अपने लिए नहीं। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न उसीकी विविध अवस्थाएँ हैं। अन्य दर्शनों के समान यहाँ उन्हें अनुभव का विषय न मानकर स्वयं अनुभवरूप माना जाता है। ईश्वर सर्वज्ञ है। उसकी बुद्धि व्यापक है। मुक्तात्माओं की बुद्धि भी व्यापक होती है। किन्तु संसारी जीवों की संकुचित। उसमें क्षेत्र की दृष्टि से तारतम्य रहता है। उसे अपना कार्य करने के लिए इन्द्रिय आदि बाहरी साधनों की भी अपेक्षा होती है। उसके पूर्ण विकास का अर्थ है मुक्ति।

अद्रव्य अर्थात् गुण—इनकी संख्या दस है—शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, सत्व, रज, तम, संयोग तथा शक्ति। शक्ति का स्वरूप यहाँ भी मीमांसा-दर्शन के समान है। प्रत्येक पदार्थ में किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है। आचार्य रामानुज ने अन्य गुणों को स्वीकार नहीं किया। न्याय-दर्शन ने आत्मा में सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि गुणों का पृथक् अस्तित्व माना है। किन्तु यहाँ वे धर्मभूतज्ञान की ही विविध अवस्थाएँ हैं। न्याय-दर्शन में उन्हें ज्ञान का विषय माना गया है, पर यहाँ वे स्वयं ज्ञानरूप हैं।

ज्ञानमीमांसा—न्याय-दर्शन के अनुसार ज्ञान की चार अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था में इन्द्रिय और पदार्थ का संबंध होता है। दूसरी में निर्विकल्पक ज्ञान, तीसरी में सविकल्पक या विशिष्ट ज्ञान, और चौथी में हानोपादानबुद्धि। रामानुज ने निर्विकल्पक अवस्था को स्वीकार नहीं किया। उनका कहना है कि सभी ज्ञान सविकल्पक या विशिष्ट होते हैं। ज्ञान का अर्थ ही 'विशेष का आभास' है। इसी प्रकार उन्होंने निर्गुण ब्रह्म को भी स्वीकार नहीं किया। उनका कथन है कि प्रत्येक वस्तु में अपनी-अपनी विशेषता होती है। उसके बिना वस्तु की कल्पना ही नहीं की जा सकती। उपनिषदों में 'नेति-नेति' शब्दों द्वारा ब्रह्म का जो प्रतिपादन किया गया है, उसका भी इतना ही अर्थ है कि ब्रह्म समस्त दोषों से परे है। उसका यह अर्थ

नहीं कि ब्रह्म में कोई गुण ही नहीं है। जैसे जब हम कहते हैं कि घर में कुछ नहीं है, तो इसका इतना ही अर्थ होता है कि हमारे मतलब की कोई चीज़ नहीं है; उसका यह अर्थ नहीं होता कि घर में कोई चीज़ ही नहीं है।

अख्यातिवाद—आचार्य रामानुज के मत से कोई ज्ञान मिथ्या नहीं होता। इस विषय में उनकी मान्यता प्रभाकर से मिलती-जुलती है। जब हम लाठी पर आग लगाकर उसे तेजी से घुमाते हैं, तो आग का गोल घेरा दिखाई देता है। रामानुज का कथन है कि वहाँ गोल घेरा नहीं दिखाई देता, शीघ्रता के कारण बीच का व्यवधान दीखना बन्द हो जाता है। इसी बात को प्रभाकर ने 'अख्याति' शब्द द्वारा प्रकट किया है। रामानुज भी उससे सहमत हैं। रस्सी में साँप, सीप में चाँदी आदि प्रतीतियों तथा स्वप्नों की व्याख्या भी इसी प्रकार की जाती है।

रामानुजाचार्य ने तीन प्रमाण माने हैं: प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। शब्द का अर्थ है वेद। शंकराचार्य ने वेद का केवल ज्ञानकाण्ड अर्थात् उपनिषदों को प्रमाण माना है। उनकी दृष्टि में कर्मकाण्ड परमार्थ का प्रतिपादक नहीं है। रामानुजाचार्य दोनों काण्डों को समान महत्त्व देते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञानकाण्ड ईश्वर के स्वरूप को प्रकट करता है, और कर्मकाण्ड उसकी पूजा-पद्धति को। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। शंकराचार्य के अनुसार कर्मकाण्ड चित्तशुद्धि में उपकारक है, जो ब्रह्मजिज्ञासा की ओर ले जाती है। वह निम्नकोटि के अधिकारी के लिए है। आवश्यक चित्तशुद्धि हो जाने पर जब जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है, तब कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं रहती। उस समय कर्म-संन्यास आवश्यक है। रामानुजाचार्य जीवन के अंतिम समयतक ज्ञान और कर्म दोनों का प्रतिपादन करते हैं।

प्रमाणमीमांसा

आचार्य रामानुज ने अपने सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए पुराणों का भी आश्रय लिया है। शंकराचार्य ने उतना नहीं लिया। रामानुज ने आगम साहित्य को भी प्रमाण माना है। शंकर ने उन्हें स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना। उनकी दृष्टि में वे तभी प्रमाण हैं, जब वेदों का समर्थन करते हैं; विपरीत होने पर उनका प्रामाण्य गौण हो जाता है।

रामानुज के मत में प्रत्येक शब्द ईश्वर का वाचक है, और प्रत्येक पदार्थ में उसकी झलक है। एक ही शब्द से जो प्रतीति ज्ञानी को होती है, वह साधारण व्यक्ति को नहीं होती। ज्ञानी के लिए उपनिषदों का प्रत्येक शब्द ईश्वर का बोधक है, प्रत्येक पदार्थ उसके साक्षात्कार की खिड़की है।

'तत्त्वमसि' की व्याख्या के रूप में आचार्य रामानुज का कथन है कि 'तत्' शब्द का अर्थ प्रकृति के रूप में ईश्वर का शरीर है, और 'त्वम्' शब्द का अर्थ जीव के रूप में ईश्वर का शरीर। सारा वाक्य उस सत्ता को प्रकट करता है, जो दोनों की आत्मा है।

साधना—विशिष्टाद्वैत में साधना का लक्ष्य है वैकुण्ठ की प्राप्ति, जहाँ नारायण अपने देदीप्यमान रूप में विराजमान हैं। भक्त वहाँ पहुँचकर पूर्णसुख और स्वातंत्र्य प्राप्त कर लेता है।

इसके दो मार्ग हैं—प्रपत्ति और भक्ति। प्रपत्ति का मार्ग सभी के लिए खुला है। उसका मूल स्रोत वैष्णव-साहित्य है। भक्ति का मार्ग उच्च वर्णों तक सीमित है। उसका स्रोत उपनिषद् है। प्रपत्ति का अर्थ है 'आत्मसमर्पण' या शरणागति, तथा नारायण की कृपा एवं शक्ति में दृढ़ विश्वास। रामानुजाचार्य ने प्रपत्ति को ज्ञान का ही एक प्रकार बताया है। उनका कथन है कि यह सिद्धान्त उपनिषदों के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि वहाँ भी ज्ञान को ही मुख्य कारण बताया गया है। भक्ति की तीन श्रेणियाँ हैं :

१ कर्मयोग, २ ज्ञानयोग, और ३ भक्तियोग।

कर्मयोग—कर्म का अर्थ यहाँ भी वही है, जो गीता में बताया गया है। अर्थात् फल की कामना के बिना अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन। लक्ष्य के रूप में दो बातें बताई जाती हैं। भक्तिवादी परम्पराएँ पहली बात पर ज़ोर देती हैं। उनका कहना है कि कर्म का लक्ष्य परमेश्वर को प्रसन्न करना है। भक्त को चाहिए कि समस्त कर्म परमेश्वर के चरणों में अर्पित करदे। ज्ञानवादी परम्पराएँ उसका लक्ष्य चित्तशुद्धि मानती हैं। आचार्य रामानुज पहली परम्परा के समर्थक हैं, किन्तु दूसरी परम्परा की सर्वथा उपेक्षा नहीं करते।

ज्ञानयोग—यहाँ इसकी व्याख्या भिन्न है। इसका अर्थ है साधक द्वारा एक ओर अपने स्वरूप एवं ईश्वर के साथ उसके संबंध का ज्ञान, और दूसरी ओर प्रकृति का। इसमें सबसे पहले जड़ या प्रकृति से भिन्न शुद्ध आत्मतत्त्व का ध्यान किया जाता है, फिर ईश्वर के साथ उसके संबंध का। अद्वैत के समान यहाँ आत्म-साक्षात्कार अंतिम लक्ष्य नहीं है, किन्तु वह ईश्वर के साक्षात्कार का प्रथम सोपान है।

भक्तियोग—भक्तियोग का अर्थ है ईश्वर का सतत चिंतन। भक्ति का अर्थ यहाँ अंधश्रद्धा नहीं है। इसका अर्थ है लक्ष्य पर मन को एकाग्र करना, जो अपने-आपमें फल है। उपनिषदों में इसका वर्णन उपासना के रूप में आया है। यहाँ अन्य दर्शनों के समान ध्यान द्वारा ब्रह्म या किसी अन्य तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु 'ध्रुवानुस्मृति' प्राप्त होती है। लक्ष्य का स्मरण, बिना ही प्रयत्न के, सतत चलता रहता है। यह स्मरण साधारण स्मृति से भिन्न है। यहाँ लक्ष्य की झलक अत्यन्त स्पष्ट होती है, और उसके साथ उत्कट प्रेम मिला रहता है। इसकी तुलना प्रत्यक्ष या साक्षात् ज्ञान से की जाती है। यह अनुभूति इसी जीवन में प्राप्त की जा सकती है। परन्तु मोक्ष या अंतिम लक्ष्य का परमलाभ शरीरपात के पश्चात् ही होता है। उस समय जीवात्मा को परमेश्वर का प्रत्यक्ष

हो जाता है, जो उसीका स्वरूप है। तब धर्मभूतज्ञान सर्वव्यापी हो जाता है। इन्द्रियों की तब आवश्यकता नहीं रहती। अद्वैत के समान यहाँ उस ज्ञान को शाश्वत नहीं माना गया। वह एक प्रकार का अनुभव है। शंकर के समान रामानुज ने जीवन-मुक्ति को स्वीकार नहीं किया।

मोक्ष-लाभ के लिए किया जानेवाला प्रयत्न तभी सफल होता है, जब साधक अपने आपको पूर्णतया परमेश्वर के चरणों में अर्पित कर देता है। जबतक वह अपनी इच्छा को सर्वथा अर्पित नहीं करता और परमात्मा की कृपा प्राप्त नहीं होती, तबतक मोक्ष की कोई आशा नहीं। इसीको 'प्रपत्ति' कहा जाता है। बताने की आवश्यकता नहीं कि इस परम्परा पर प्राचीन वैष्णवधर्म का बहुत प्रभाव है। बिना भक्ति के केवल प्रपत्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु प्रपत्ति के बिना केवल भक्तिद्वारा नहीं।

संन्यास—शंकराचार्य ने मोक्ष के लिए संन्यास को आवश्यक माना है। परन्तु आचार्य रामानुज उसे वैसा आवश्यक नहीं समझते। उनका कथन है, कि चित्त-शुद्धि और परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए अंततक कर्त्तव्य कर्म करते रहना चाहिए। यहाँ धर्म का अर्थ ईश्वर का अनुग्रह है, शुभ कर्म या उनके द्वारा प्राप्त होनेवाला पुण्य नहीं। अधर्म उसके विपरीत है। आचार्य रामानुज के मत में गृहस्थ मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसीलिए उन्होंने अंततक कर्म करने पर जोर दिया है। उपनिषदों में जहाँ कर्म-संन्यास की बात आई है, उसका इतना ही तात्पर्य है कि संन्यास से मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र होती है, पर उसका वह अनिवार्य साधन नहीं है।

द्वैतवाद

प्रवर्त्तक—द्वैतवाद के प्रवर्तक मध्वाचार्य थे (११९९ से १२७८ ई०), जिन्हें पूर्णप्रज्ञ भी कहते हैं। उन्होंने इन पांच भेदों का प्रतिपादन किया है :

१. ईश्वर का जीव से,

२. ईश्वर का प्रकृति से,

३. जीव का प्रकृति से,

४. एक जीव का दूसरे जीव से, तथा

५. एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से।

मध्वाचार्य ने जगत् की वास्तविक सत्ता स्वीकार की है। द्वैतवाद का अर्थ है जड़ और चेतन के भेद को सत्य माननेवाला सिद्धान्त। मध्वाचार्य ने भी आचार्य रामानुज के समान ईश्वर को व्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है। यहाँ उसका प्रतिपादन विष्णु के रूप में है, जिसकी मान्यता वैदिक समय से चली आ रही है।

साहित्य—वेदान्त की अन्य शाखाओं के समान द्वैतवाद भी उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता को 'प्रस्थान' के रूप में स्वीकार करता है। मध्वाचार्य ने इन तीनों पर भाष्य लिखकर अपने मत का समर्थन किया है। ब्रह्मसूत्र भाष्य पर 'अणुव्याख्यान' नाम की टीका भी रची है। उनका दूसरा ग्रंथ है 'भागवततात्पर्य-टीका'। उनके पश्चात् अन्य द्वैतवादी आचार्यों ने अनेक ग्रंथ रचे, जिनमें से ये नाम उल्लेखनीय हैं :

त्रिविक्रमपण्डिताचार्य की **तत्त्वप्रदीपिका**

पद्मनाभतीर्थ की **सत्तर्कदीपावली**

जयतीर्थ की **तत्त्वप्रकाशिका और प्रमाण-पद्धति**

शलारिशेषाचार्य की **प्रमाणचंद्रिका**।

तत्त्वमीमांसा—मध्वाचार्य ने ये दस पदार्थ माने हैं : द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव।

इन पदार्थों की चर्चा से पहले एक बात जाननी आवश्यक है। मध्वाचार्य ने दो प्रकार के संबंधों का प्रतिपादन किया है। पहला तादात्म्य या अभेद-संबंध है। यह उन वस्तुओं में रहता है, जो कभी अलग नहीं होती हैं, जहाँ एक के नाश से दूसरी का भी नाश हो जाता है। मिट्टी तथा उसके वज़न का उदाहरण लिया जा सकता है। दूसरे संबंध का नाम भेदाभेद है। यह उन वस्तुओं में होता है, जहाँ एक के नष्ट होनेपर भी दूसरी का नाश नहीं होता। जैसे रंग बदलते

रहते हैं, फिर भी वस्तु नष्ट नहीं होती।

द्रव्य—इनकी संख्या बीस है : ईश्वर, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, सत्त्व, रजस्, तमस्, अहंकार, बुद्धि, मन, इंद्रियाँ, तन्मात्राएँ, महाभूत, अविद्या, ध्वनि, अंधकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब।

अव्याकृत आकाश महाभूत आकाश से भिन्न है। वह शून्यरूप है। सृष्टि और प्रलय से परे है। काल के समान नित्य है। अन्य समस्त वस्तुओं का आधार है। सभी वस्तुओं की उत्पत्ति का कारण है।

प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। ईश्वर प्रकृति से सत्त्व, रज और तम उत्पन्न करता है। उनसे महत् की उत्पत्ति होती है। उससे अहंकार की। उससे बुद्धि, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ तथा पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं।

द्रव्य सभी कार्यों का समवायी कारण है। प्रकृति में परिवर्तन होता रहता है, किन्तु ईश्वर और जीव में नहीं होता। अविद्या जीवों के ज्ञान और आनन्द को ढँके रहती है।

प्रत्येक आत्मा में पृथक्-पृथक् अविद्या होती है, और उसे बंधन में डाले रहती है। ऐसी कोई समष्टि अविद्या नहीं है, जो समस्त आत्माओं का आवरण हो।

नित्य वस्तु में रहनेवाला 'सामान्य' नित्य होता है और अनित्य वस्तुओं में रहनेवाला अनित्य। यह तभीतक रहता है, जबतक वस्तु विद्यमान है।

मध्वाचार्य ने 'समवाय-संबंध' को स्वीकार नहीं किया। उनका कहना है कि उसे स्वीकार कर लेने पर 'अनवस्था' दोष आ जाता है। जब यह कहा जायेगा कि गुण और कर्म द्रव्य में समवाय-संबध हो सकते हैं, तो यह प्रश्न उठता है, कि समवाय किस संबंध से रहता है? उसके लिए दूसरे संबध की कल्पना करनी होगी, और दूसरे के लिए तीसरे की। इस दोष से बचने के लिए उन्होंने 'विशिष्ट' नामक पदार्थ स्वीकार किया है। यह गुण और कर्म को द्रव्य के साथ जोड़ता है। अवयव और अवयवी में भी समवाय-संबध नहीं माना। उसके स्थान पर 'अंशी' नामक पदार्थ को स्वीकार किया है, जो अवयवी को अवयवों के साथ बाँधता है।

शक्ति अलग पदार्थ है। उसके चार रूप हैं—ईश्वर की अगम्य शक्ति, कारण शक्ति, आगंतुक शक्ति और शब्द-शक्ति।

अभाव के भी चार भेद किये हैं : प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यंताभाव।

इन सबका विवेचन अन्य दर्शनों में आ चुका है। यहां उन्हीं तत्त्वों का निरूपण किया जायगा, जो द्वैतसिद्धान्त की विशेषता को प्रकट करते हैं।

ईश्वर—अन्य भक्तिवादी परम्पराओं के समान द्वैतमत भी ईश्वर के रूप में किसी सार्वभौम सत्ता को स्वीकार करता है। रामानुजाचार्य ने उसे जगत् का निमित्त तथा उपादान दोनों रूपों में स्वीकार किया है। किन्तु मध्वाचार्य के मत

में वह केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण प्रकृति है। आचार्य रामानुज ने प्रकृति को ईश्वर का शरीर मानकर एकही सत्ता को दोनों रूपों में प्रकट किया है, किन्तु मध्वाचार्य उनमें अभेद मानने को तैयार नहीं हैं। न्याय-दर्शन भी ईश्वर को निमित्त कारण मानता है। मध्वाचार्य भी प्रायः वैसाही मानते हैं। भेद इतनाही है कि न्याय-दर्शन ईश्वर का अस्तित्व अनुमान के द्वारा सिद्ध करता है। आचार्य मध्व का कथन है कि उसे केवल शास्त्र अर्थात् वेद के द्वारा जाना जा सकता है। प्रत्यक्ष और अनुमान की वहां पहुँच नहीं है। दूसरा भेद यह है कि न्याय-दर्शन जगत् के उपादान या समवायिकरण के रूप में पृथिवी आदि नौ द्रव्यों को स्वीकार करता है, जो प्रारंभ से ही परस्पर-भिन्न हैं। इतनाही नहीं, पृथिवी आदि चार महाभूतों के परमाणु भी परस्पर-भिन्न हैं। मध्वाचार्य ने उन सबके स्थान पर प्रकृति के रूप में एकही तत्त्व को माना है। इस दृष्टि से वह सांख्य के समान है। शंकराचार्य ने ईश्वर को सृष्टि, स्थिति और प्रलय तीनों का कारण माना है। उन्होंने जगत् की सत्ता को ईश्वर की सत्ता से भिन्न नहीं माना। किन्तु मध्वाचार्य कहते हैं कि दोनों की सत्ताएँ परस्पर-भिन्न हैं। फिरभी जगत् स्वतंत्र नहीं है। ईश्वर उसे अपनी इच्छानुसार रचता है और नष्ट कर डालता है। यह उसकी लीला है। वह स्वतंत्र है, और जगत् परतंत्र। ईश्वर का अस्तित्व स्वयं अपने लिए है, और जगत् का उसके लिए। यहाँ भी विशिष्टाद्वैत के समान ईश्वर सर्वगुण-सम्पन्न माना गया है। वह अपरिमेय है। अद्वैत वेदान्त में इसका अर्थ है मन और वाणी से परे। निर्गुण होने के कारण मन और वाणी वहाँतक नहीं पहुँचते। इसके विपरीत, यहाँ ईश्वर को सगुण माना गया है। वह मन और वाणी से परे नहीं है। 'अपरिमेय' का इतना ही अर्थ है कि उसे पूर्णरूप में जानना संभव नहीं है। उसका आभास होता है, प्रत्यक्ष नहीं होता। ईश्वर प्रकृति से सत्त्व, रज और तम की सृष्टि करता है। वह ज्ञानरूप और आनंदस्वरूप है। अनंत शक्ति और अनंत करुणा उसके गुण हैं। वह जगत् का स्रष्टा और संहारक ही नहीं, नियामक भी है। मध्वाचार्य ने अपने ग्रंथों में इस बात पर ज़ोर दिया है कि जीव, प्रकृति, काल आदि सारे तत्त्व ईश्वर की कृपा पर अवलंबित हैं। उसके बिना किसीका अस्तित्व नहीं रह सकता। इस दृष्टि से उन्होंने समस्त जगत् को दो श्रेणियों में विभक्त किया है: स्वतंत्र और अस्वतंत्र। ईश्वर स्वतंत्र है। उसकी सत्ता अपने लिए है। उसपर किसीका नियंत्रण नहीं है। दूसरी ओर, जगत् की सत्ता ईश्वर के लिए है। वह उसका नियामक है। ईश्वर अपने आपमें पूर्ण है। जगत् की प्रत्येक हलचल में उसका संकेत मिलता है। ईश्वर अपनी इच्छानुसार अवतार लेता है। आचार्य रामानुज के समान मध्वाचार्य का भी कथन है कि समस्त शब्दों का वाक्य एकमात्र ईश्वर है।

जीवात्मा—इनकी संख्या अनंत है। प्रत्येक जीव दूसरे से भिन्न है। एक ज्ञान दूसरे से पृथक् है। प्रत्येक अपने-आप में अपूर्ण है। अज्ञान और दुःखों से घिरा हुआ है।

करण या मन का गुण है, आत्मा का नहीं। इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान के साथ आत्मा का कोई संबंध नहीं है। आत्मा कर्त्ता है, और मन है करण। कर्त्ता कार्य को उत्पन्न करने के लिए करण का उपयोग करता है। उससे प्राप्त फल को अपना मानता है। विशिष्टाद्वैत के समान यहाँ भी प्रत्येक ज्ञान सविकल्पक या विशिष्ट होता है। आचार्य मध्व की दृष्टि में कोई भी ज्ञान निर्विकल्पक नहीं है। पहले बताया जा चुका है कि मध्व यथार्थवादी हैं। उनकी दृष्टि में कोई ज्ञान ऐसा नहीं होता, जिसका संबंध बाह्य पदार्थ से न हो। अस्तित्व का अर्थ है काल और देश के साथ संबंध। जिस पदार्थ का देश और काल के साथ संबंध होता है, वह वास्तविक है, फिर वह कितनाही सीमित हो।

अद्वैत के समान यहाँ पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ता में कोई भेद नहीं माना गया। प्रतीति के दो ही प्रकार हैं—सम्यक् और मिथ्या। इसके अनुसार पदार्थों का विभाजन भी दो ही कोटियों में किया जाता है। अद्वैत ने ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या बताया है। आचार्य मध्व ने उस बात को दूसरे रूप में उपस्थित किया है। उनका कहना है कि ईश्वर स्वतंत्र है, और जगत् परतंत्र या ईश्वराश्रित।

'प्रमा' का अर्थ है यथार्थज्ञान, अर्थात् वस्तु के अनुसार प्रतीति। यहाँ माना गया है कि वस्तु जैसी है; ज्ञान भी वैसाही होता है; उसमें ज्ञाता की ओर से सम्मिश्रण नहीं होता। स्वप्न और स्मृति को भी सत्य माना गया है। स्वप्न में प्रतीत होनेवाले पदार्थ अपने-आपमें मिथ्या नहीं होते हैं। केवल उनकी बाह्य प्रतीति मिथ्या होती है। स्वप्न में प्रतीत होनेवाला हाथी अपने-आपमें सत्य है, किन्तु उसका सड़क के साथ संबंध मिथ्या है, और यह प्रतीति भ्रम है। मध्व का कथन है कि जागने पर हम हाथी का अपलाप नहीं करते, किन्तु सड़क के साथ उसके संबंध का अपलाप करते हैं। इसलिए वही मिथ्या है। इसी प्रकार वस्तु का जिस देश और जिस काल के साथ संबंध है, यदि उसीकी स्मृति होती है, तो वह सत्य है। पर यदि उसका संबंध स्मृतिकालीन देश और काल के साथ है, तो वह मिथ्या है। तात्पर्य यह है कि यदि हम अतीत वस्तु के साथ वर्तमान काल का और दूर की वस्तु के साथ समीप की वस्तु का संबंध जोड़ते हैं, तो वह मिथ्या हो जाती है।

असत् ख्याति—न्याय-दर्शन ने 'अन्यथा ख्याति' का प्रतिपादन किया है। वह मानता है कि सीप में प्रतीत होनेवाली चाँदी अपने-आपमें मिथ्या नहीं है। दूकान पर उसकी सत्ता वास्तविक है। किन्तु वही जब सीप में प्रतीत होती है, तो उस ज्ञान को भ्रम कहा जाता है। यह भ्रम चाँदी में नहीं, किन्तु स्थान में होता है। जो चाँदी दूकान पर रखी है, वही सामने प्रतीत होने लगती है। इसे 'अन्यथा ख्याति' कहा जाता है। किन्तु आचार्य मध्व का कहना है कि सामने प्रतीत होनेवाली चाँदी का कहीं वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। वह असत् होती है। भ्रम का अर्थ

है असत्, अर्थात् अविद्यमान वस्तु की प्रतीति। इसीको 'असत् ख्याति' कहा जाता है। आचार्य मध्व का कहना है कि सत् के समान असत् वस्तुओं की भी प्रतीति होती है। हम आकाश-कुसुम की चर्चा करते हैं। बिना प्रतीति के चर्चा नहीं हो सकती। अद्वैतवाद यह मानता है कि विषय के असत्य होने पर प्रतीति भी असत्य होगी। किन्तु मध्वाचार्य इससे सहमत नहीं है। यहाँ असत् की प्रतीति भी सत्य है। मिथ्या केवल विषय होता है, प्रतीति नहीं।

रामानुजाचार्य के समान मध्वाचार्य ने भी तीन प्रमाण स्वीकार किये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। यहाँ प्रमाण का अर्थ ज्ञान का कारण और ज्ञान दोनों हैं।

प्रमाणमीमांसा

पहले अर्थ में प्रमाण ज्ञान द्वारा पदार्थों को उपस्थित करता है, और दूसरे अर्थ में साक्षात् को। इस दृष्टि से उन्होंने प्रमाण की दो अवस्थाएँ बताई हैं--केवल प्रमाण, और अनुप्रमाण। प्रमाण साधन है, और अनुप्रमाण स्वयं ज्ञानरूप। रामानुजाचार्य की तरह मध्वाचार्य ने भी पुराणों और आगमों को शब्दप्रमाण के रूप में स्वीकार किया है।

इन्द्रियाँ सात हैं। यहाँ मन और साक्षी को भी इनमें सम्मिलित किया गया है। साक्षी की इन्द्रियों में गणना आचार्य मध्व की विशेषता है। पहले बताया जा चुका है कि ईश्वर और जीव चेतनस्वरूप हैं। इसी चेतना या ज्ञान-शक्ति को यहाँ साक्षी कहा गया है। अद्वैत वेदान्त में भी साक्षी ही मन एवं इन्द्रियों द्वारा बाह्य वस्तुओं को जानता है। उसे सुख-दुःख आदि की आंतरिक अनुभूति साक्षात् होती है। चेतन होने के कारण वह इन्द्रियों की सहायता के बिना भी जान सकता है। जैन-दर्शन में भी आत्मा में सामर्थ्य मानी गई है।

साक्षी के द्वारा होनेवाला समस्त ज्ञान सत्य होता है। उसे सुख, दुःख, काल, दोष, देश, आत्मा आदि की साक्षात् प्रतीति होती है और बाह्य वस्तुओं की भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा आचार्य मध्व के अनुसार आत्मा अपने आपको जानता है। वह स्वय अपना ही विषय है। शंकराचार्य ऐसा नही मानते। उनकी दृष्टि मे विषय और विषयी का परस्पर-विरोध है। अन्य दर्शनों ने सुख-दुःख आदि की प्रतीति आत्मा और मन के परस्पर-संबध द्वारा मानी है। मध्वाचार्य ने मन की आवश्यकता नहीं समझी। यहां उसका क्षेत्र स्मृति तक सीमित है।

अद्वैतवाद के समान यहां भी अनादि अविद्या संसार का कारण है। किन्तु यहां वह मिथ्या नही है, और प्रत्येक जीव मे वह भिन्न है। तीन द्रव्यों मे इसकी

साधना

भी गणना है। इसके दो कार्य है। जबतक वह रहती है, जीव न तो ईश्वर को जान पाता है, न अपने-आपको। मोक्ष का अर्थ है इन दोनों प्रभावों से छुटकारा। आत्मा का ज्ञान शास्त्रों के द्वारा होता है, परन्तु वह साक्षात् नही होता। साक्षात् ज्ञान ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है।

मोक्ष के लिए आत्मज्ञान की अपेक्षा ईश्वर का ज्ञान अधिक उपकारक है। ईश्वर का साक्षात् ज्ञान उसके निरंतर चिंतन तथा ध्यान द्वारा होता है। साधना का लक्ष्य है आनन्द की प्राप्ति। पर वह आनन्द सभीमें एक-सा नहीं होता। आचार्य मध्व के मतानुसार मोक्ष में भी जीवों में योग्यता-भेद बना रहता है, और तदनुसार सुख प्राप्त होता है। ईश्वर के ज्ञान और आनन्द अपरिच्छिन्न होते हैं। मुक्त जीवों के परिच्छिन्न। फिरभी उनकी जो मात्रा मुक्त अवस्था में प्राप्त होती है, वह संसार में नहीं हो सकती। ज्ञान और आनन्द का यह तारतम्य बताने के लिए बर्तनों की उपमा दी जाती है। एक बर्तन बड़ा होता है, दूसरा छोटा। दोनों में एक-सा पानी नहीं आता। छोटे बर्तनो में भी एक भरा हो सकता है और दूसरा खाली। ईश्वर भरे बर्तन के समान है। मुक्त जीव भरे हुए छोटे बर्तनों के समान। संसारी जीव खाली बर्तनों के समान।

मोक्ष-लाभ के लिए ईश्वर का ज्ञान अत्यावश्यक है। उसे प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग भक्ति है। उसकी प्राप्ति ईश्वर के गौरव और अनुग्रह का सम्यक् ज्ञान होने पर होती है। भक्ति से ईश्वर का अनुग्रह या प्रसाद प्राप्त होता है। यह प्रसाद ही मोक्ष का परमकारण है। अन्य बातें केवल सहायक हैं। सर्वसाधारण में द्वैतवाद के प्रचार का मुख्य कारण यही भक्तिवाद है, जो हृदय को प्रभावित करता है। वह प्रेम इतना तीव्र और उत्कट होता है कि अन्य सभी आकर्षण उसके सामने तुच्छ दिखाई देते हैं। उसके पीछे साधक बाह्य स्वार्थों को ही नहीं, अपने आपको भी भूल जाता है। दूसरे सभी लक्ष्य और महत्वाकांक्षाएं गौण हो जाती हैं। ईश्वर की महानता और मंगलमयता का साक्षात्कार गीता में कहे निष्काम कर्मयोग, शास्त्र-श्रवण, मनन और ध्यान द्वारा होता है। रामानुजाचार्य की तरह मध्वाचार्य ने भी जीवन्मुक्ति को स्वीकार नहीं किया। उनका भी कथन है कि मृत्युपर्यन्त वर्णाश्रम-धर्मों का पालन करते रहना चाहिए।

द्वैताद्वैतवाद

निम्बार्काचार्य का सिद्धान्त है कि जीव और जगत् ईश्वर से भिन्न हैं, और अभिन्न भी। उन्होंने उनमें भेदाभेद का सम्बन्ध बताया है, अर्थात् एक दृष्टि से भेद है, और दूसरी दृष्टि से अभेद।

प्रवर्तक

द्वैताद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य निम्बार्क भाण्डारकर के मत से रामानुजाचार्य के बाद हुए हैं। उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में रामानुजाचार्य के मत का उल्लेख किया है। डॉ० भाण्डारकर ने संवत् १२१६ इनका आविर्भाव-काल माना है।

साहित्य

निम्बार्काचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर 'वेदान्त पारिजात सौरभ' नामक भाष्य लिखा है। संक्षिप्त होने पर भी वह स्पष्ट है। 'दशश्लोकी' में उन्होंने द्वैताद्वैत-सिद्धान्त का दिग्दर्शन कराया है। श्रीनिवास ने 'सौरभ' पर 'वेदान्त-कौस्तुभ' नामक टीका लिखी है। केशव काश्मीरी ने 'वेदान्त कौस्तुभ प्रभा' नामक संक्षिप्त व्याख्या की है। पुरुषोत्तम की दशश्लोकी पर 'वेदान्तरत्न मंजूषा' नाम की टीका है।

जगत् और ब्रह्म का स्वरूप—निम्बार्काचार्य ने भी जगत् को ब्रह्म का परिणाम माना है, अर्थात् ब्रह्म स्वयं जगत् के रूप में परिणत होता है।

यहाँ ब्रह्म का प्रतिपादन पुरुषोत्तम के रूप में किया गया है। उसमें अनंत गुण और अनन्त शक्तियाँ हैं। वह सर्वज्ञ और सर्वव्यापी है। अपने-आपमें वह पूर्ण है। सभी विकारों और अपूर्णताओं से परे है। वह जड़ एवं चेतन सारे जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार करता है। सर्वथा स्वतन्त्र है। अनन्त जीवोंका अपनी स्वतंत्र इच्छानुसार संचालन करता है। उन्हें शुभ-अशुभ कर्मों का फल देता है। उसमें अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तइच्छा और अनन्तशक्ति है। वह भूमा है, अर्थात् विराट् महान् स्वाश्रित है। परमसुखी और शाश्वत है। अक्षर है। अतीत, वर्तमान और भावी कार्यों का अधिष्ठान है। जगत् का आधार है। जगत् को वह स्थिरता और सामंजस्य प्रदान करता है। जगत् के रूप में अभिव्यक्त होना उसका स्वभाव है। सारे जगत् में वह समाया हुआ और उससे ऊपर भी है। वही परम पुरुषार्थ है। उसीमें जीवात्माओं का विलय होता है। ईश्वर का सम्बन्ही उनका सुख है। उसे जानने का एकमात्र साधन वेद है।

ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है, और उपादान कारण भी है। जैसे दूध दही के रूप में परिणत होता है, वैसेही वह, बिना किसी अन्य सहायता के, अपनी असाधारण शक्ति से जगत् के रूप में परिणत होता है। फिरभी वह अपने स्वरूप में

स्थिर रहता है। स्वकीय रूप में अव्याकृत है, और परकीय रूप में परिवर्तनशील।

एक प्रश्न है। परमात्मा जब निरवयव है, तो जगत् के रूप में परिणत होने पर उसका निजी अस्तित्व कैसे क़ायम रह सकता है? इसके उत्तर में उपनिषदों के वाक्य दोहराये जाते हैं। वहाँ बताया गया है कि परमात्मा एक होने पर भी अनेक-रूप धारण करता है। मकड़ी अपने पेट से तन्तु निकालकर जाला बुनती है, और उस रूप में परिणत होने पर भी उसका अस्तित्व समाप्त नहीं होता। इसी प्रकार जगत् के रूप में परिणत होने पर भी परमात्मा का अपना स्वयं का अस्तित्व बना रहता है। उसमें विकार नहीं आता। परमात्मा की उत्पादक शक्ति ही जगत् का कारण है। वह वास्तविक है। वास्तव में देखा जाय तो वह परमात्मा की इच्छा का ही दूसरा नाम है। शंकराचार्य की माया की तरह यहाँ वह अनिर्वचनीय नहीं है। जगत् ब्रह्म का परिणाम है, अतः वह भी वास्तविक है। शंकराचार्य के समान यहाँ पर कोई मिथ्या प्रतीति नहीं है।

निम्बार्काचार्य के मत में कार्य कारण का ही परिणाम है। उत्पन्न होने से पहले वह कारण में रहता है। यदि ऐसा नहीं है, तो अग्नि से धान्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती? जैसे फैला हुआ कपड़ा तह किये हुए कपड़े का ही विस्तार है, वैसेही कार्य कारण का ही विस्तार है। कारण के रूप में वह छिपा रहता है, और कार्य के रूप में प्रकट हो जाता है। उत्पत्ति से पहले जगत् ब्रह्म में छिपा रहता है। वही उत्पत्ति के पश्चात् प्रकट हो जाता है। कार्य और कारण परस्पर किसी प्रकार अभिन्न है, और किसी प्रकार भिन्न। ब्रह्म जगत् का अन्तर्यामी है। जैसे सूर्य अपनी किरणों से, और समुद्र अपनी तरंगों से किसी प्रकार भिन्न तथा किसी प्रकार अभिन्न होता है, उसी तरह ब्रह्म जगत् से किसी प्रकार भिन्न है और किसी प्रकार अभिन्न। साकार तथा निराकार, जड़ तथा चेतन समस्त जगत् ब्रह्म में रहता है। साँप का अपने कुंडलित रूप से जो सम्बन्ध है, वही ब्रह्म का सम्बन्ध जगत् से है। ब्रह्म में स्वाभाविक रूप से कोई परिवर्तन नहीं होता। वह केवल चित्-शक्ति और अचित्-शक्ति के द्वारा परिवर्तन लाता है। यह सिद्धान्त वल्लभाचार्य के 'अविकृत परिणामवाद' से मिलता है। जीव, जगत् और कर्तृत्व तीनों परमात्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं। किन्तु अपने आपमें वह तीनों से ऊपर है। जगत् के परि-वर्तनों का उसके वास्तविक रूप पर कोई प्रभाव नहीं होता।

यह अनादि और नित्य है। जन्म और मृत्यु का अर्थ है, इसका शरीर के साथ सम्बन्ध और वियोग। ज्ञान इसका स्वाभाविक गुण है। इसीलिए इसे ज्ञाता

जीव

कहा जाता है। आत्मा धर्मी है, और ज्ञान उसका धर्म। दोनों में भेदाभेद है। आत्मा द्रव्य है और ज्ञान गुण। आत्मा सुख-दुःख का भोक्ता है, जो उसीके पाप और पुण्य का फल है। वह कर्त्ता है। भले और बुरे कार्य करने की शक्ति रखता है। फिरभी उसपर ब्रह्म का नियन्त्रण है।

उसके अनन्त आनन्द को वह प्राप्त करना चाहता है। अणु-परिमाण होनेपर भी सारे शरीर से सुख-दुःख का अनुभव वह कर सकता है। उसका स्थान हृदय है। जैसे दीपक एक स्थान में होनेपर भी सारे कमरे को प्रकाशित करता है, वैसेही वह भी सारे शरीर को संवेदनशील बना देता है। वह ब्रह्म का अंश है। उससे भिन्न है और अभिन्न भी।

ब्रह्म और जीवात्मा में बहुत भेद है। जीव अपने कार्यों के अनुसार सुख और दुःख भोगता है। ब्रह्म नहीं भोगता। ब्रह्म उपास्य है। जीवात्मा उपासक। जीवात्मा आनन्द-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। ब्रह्म आनन्द प्रदान करता है। ब्रह्म अन्तर्यामी है। जीव इसके द्वारा नियन्त्रित होता है। इस प्रकार भेद होने पर भी वे सर्वथा पृथक् नहीं हैं। जीव ब्रह्म का अंश है। दोनों का तादात्म्य है। ज्ञान और आनन्द जीव का स्वभाव है। किन्तु उसपर अविद्या का आवरण छा जाता है, जो परमात्मा की कृपा से दूर होता है। मुक्तात्मा, परमात्मा के समान हो जाता है। उसके पुण्य और पाप समाप्त हो जाते हैं, फिरभी उसका पृथक् अस्तित्व बना रहता है।

ब्रह्म जीव की जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चारों अवस्थाओं पर नियन्त्रण करता है। फिरभी उसके पुण्य-पाप से वह लिप्त नहीं होता। जीव की इच्छा पर ब्रह्म का प्रभुत्व हो जाता है। वह पिछले कर्मों के अनुसार उसका संचालन करती है। उसके बन्धन और मुक्ति का कारण भी परमेश्वरीय इच्छा है। उसके भले-बुरे कर्मों के साथ सम्पर्क होनेपर भी अपने-आपमें वह सदा शुद्ध रहता है। सबका अन्तर्यामी होनेपर भी वह किसी सीमा में नहीं बँधता।

निम्बार्क और भास्कर

आचार्य भास्कर के समान निम्बार्काचार्य भी जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं। वे ब्रह्म और जीवात्माओं में भेदाभेद के समर्थक हैं। किन्तु भास्कर उनमें वास्तविक अभेद मानते हैं। वहां भेद का कारण उपाधि है। निम्बार्काचार्य ने द्वैत तथा अद्वैत दोनों का खण्डन किया है। भेद तथा अभेद का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का समन्वय करने में द्वैताद्वैत या भेदाभेद का समर्थन किया है। जगत् और जीव भी वास्तविक हैं। किन्तु परमात्मा से भिन्न हैं, साथही, वे उसपर आश्रित हैं, अतः उससे अभिन्न हैं। 'तत्त्वमसि' का भी यही अर्थ है। 'त्वम्' अर्थात् जीव, 'तत्' अर्थात् ब्रह्म से भिन्न है और अभिन्न भी। वास्तविक स्वरूप की दृष्टि से उनमें अभेद है। परन्तु एक अंश है, दूसरा अंशी। एक नियन्त्रित है, दूसरा नियामक। एक उपासक है, दूसरा उपास्य। इस दृष्टि से भेद है।

रामानुजाचार्य ने ब्रह्म में 'स्वगत' भेद स्वीकार किया है। उनके मत में

जगत् और जीव ब्रह्म के विशेषण या प्रकार हैं। वे ब्रह्म में समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। ब्रह्म आत्मा है, और वे उसका शरीर। उनमें 'अपृथक्-सिद्ध' का सम्बन्ध है। उन्होंने भेद की अपेक्षा तादात्म्य या अभेद पर अधिक बल दिया है। किन्तु निम्बार्काचार्य भेद तथा अभेद दोनों पर समान बल देते हैं। रामानुजाचार्य जीव और जगत् को जहाँ ब्रह्म का विशेषण मानते हैं, वहाँ उनकी पृथक् सत्ता नहीं। किन्तु आचार्य निम्बार्क ने उनकी वास्तविक सत्ता स्वीकार की है। अन्तर्यामी के रूप में ब्रह्म उनमें समाया हुआ है। परन्तु अपने आपमें उनसे परे है। जीव और जगत् के परिवर्तन उसे प्रभावित नहीं करते। अपने-आपमें वह कूटस्थ है।

निम्बार्काचार्य और रामानुजाचार्य

भेदाभेदवाद

भेदाभेद का अर्थ है जीव और जगत् ब्रह्म से एक अपेक्षा से भिन्न हैं, और दूसरी अपेक्षा से अभिन्न। एकता और अनेकता दोनों ही वास्तविक हैं।

प्रवर्तक और साहित्य

इसके प्रवर्तक भास्कराचार्य हैं। यह नवीं शताब्दी में हुए थे। इन्होंने 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखा है। वेदान्त की अद्वैत-विरोधी परम्पराओं में आचार्य भास्कर का सबसे पहला स्थान माना जाता है। कहा जाता है कि बाद के आचार्यों में इन्हींके विचार विकसित हुए हैं। फिरभी अपने आपमें इस परम्परा का अधिक विकास नहीं हुआ। उत्तरवर्ती आचार्यों ने उसका उल्लेख किया है, पर उसपर अधिक साहित्य नहीं मिलता।

विश्व-व्यवस्था

भास्कराचार्य के मतानुसार ब्रह्म निर्गुण या शुद्ध चित्स्वरूप नहीं है। वह सगुण है, साकार है। वही जगत् का निमित और उपादान कारण है। उसीका एक अंश जगत् के रूप में परिणत होता है। बाह्य जगत् मिथ्या या प्रतीतिमात्र नहीं है। अन्त में देखा जाय, तो सारा जगत् चित्स्वरूप है। ब्रह्म या परमसत्य एक, तथा अनेक दोनों है। अपने शुद्ध रूप में वह एक, तथा असीम है। वही उपाधि के कारण अनेक और सीमित हो जाता है। कारण के रूप में एक है, और कार्य के रूप में अनेक। कारण और कार्य दोनों की वास्तविक सत्ता है। कार्य कारण का ही परिणाम है। उनसे वह भिन्न है, और अभिन्न भी। वह कारण की 'मिथ्या प्रतीति' नहीं है। ब्रह्म 'निरंश' होनेपर भी जगत् के रूप में परिणत होता है। साथही, अपने-आपमें वह कूटस्थ रहता है। सारे जगत् में व्याप्त है, और उससे बाहर भी है। वही भोग्य बन जाता है, और वही भोक्ता। फिरभी अपने स्वरूप में स्थिर रहता है। एकान्त भेद तथा अभेद दोनों से परे है। जिस तरह तरंग समुद्र का परिणाम है, वह उससे भिन्न है, और अभिन्न भी। इसी तरह जीव और जगत् ब्रह्म का परिणाम है। वे उनसे भिन्न हैं और अभिन्न भी। शक्ति और शक्तिमान में भी परस्पर भेदाभेद है। परमसत्य में एकता और अनेकता दोनों वास्तविक है। ब्रह्म अपने-आपमें निरवयव तथा निष्प्रपंच है। जगत् उसीका प्रपंच है। वह अनन्त, शुद्ध, सत् और चित्स्वरूप है। उसका वर्णन इन गुणों के साथ किया जाता है, फिरभी उसमें भेद नहीं आता।

अविद्या, काम और कर्मरूप उपाधि के कारण ब्रह्म सीमित हो जाता है। इसीको जीव कहा जाता है। उपाधि भी वास्तविक है। निराकार ब्रह्म शरीर

प्राण, मन, बुद्धि और अहंकार के कारण साकार हो जाता है। उसीको जीव या परिच्छिन्न आत्मा कहा जाता है। वह बुद्धि और शरीर का संघात है। उसका कारण है अविद्या, काम और कर्म।

कर्म के बिना अकेले ज्ञान से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। आचार्य भास्कर ने जीवन्मुक्ति को स्वीकार नहीं किया। जबतक शरीर रहता है, मोक्ष प्राप्त नहीं होता। मुक्त अवस्था में जीव का ब्रह्म में विलय हो जाता है। इस अवस्था को 'एकीभाव' कहा जाता है।

साधना

इसका अर्थ है जीव का ब्रह्म के साथ एक हो जाना। प्रत्येक जीव अपने वास्तविक रूप में ब्रह्म ही है। भेद का कारण उपाधि है। इसके दूर होते ही ब्रह्म के साथ एकीभाव हो जाता है। जैसे किरणें सूर्य से निकलकर फिर उसीमें समा जाती हैं, वैसे ही जीव ब्रह्म से निकलकर उसीमें लय हो जाता है। वह कर्त्ता, भोक्ता और ज्ञाता है। अपनी इच्छानुसार कार्य करता है, और उनके लिए उत्तरदायी है। फिरभी उसकी स्वतन्त्रता ईश्वर के अधीन है। वह अणु-परिमाण है और हृदय में निवास करता है। उपाधि के नष्ट होने पर वह असीम और अनन्त हो जाता है। आचार्य भास्कर ने शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन किया है। उनका कहना है कि जो अविद्या बाह्य जगत् को उत्पन्न करती है, उसे अनिर्वचनीय नहीं कहा जा सकता। बन्धन का कारण होने से उसे सत्‌रूप मानना होगा। ब्रह्म के समान वह भी सत्य है। यदि उसे अनादि माना जाय, तो नित्य भी मानना होगा। इसका अर्थ है मोक्ष का अभाव। यदि भेद की प्रतीति मिथ्या है, तो अभेद की प्रतीति भी मिथ्या माननी होगी। स्वप्न के समान बाह्य जगत् की प्रतीति को मिथ्या कहना ठीक नहीं है। स्वप्न भी अपने-आपमें सत्य है, 'शश-शृंग' के समान असत्य नहीं।

शुद्धाद्वैतवाद

जीव, जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध में इस वैष्णव सम्प्रदाय का मत विशिष्टा-द्वैतवाद और द्वैत दोनों मतों से भिन्न है। यह मानता है कि मायारहित शुद्ध जीव और ब्रह्म एक ही हैं, दो नहीं। शुद्धाद्वैत ब्रह्म, जीव और जगत् तीनों का वास्तविक अस्तित्व स्वीकार करता है। जीव अनेक हैं, और जगत् भी विविधता को लिये हुए है, परन्तु ब्रह्म अपने शुद्ध स्वरूप में एक है। इसी आधार पर इसे शुद्धाद्वैत कहा जाता है। इस मार्ग के अनुयायी परमेश्वर के अनुग्रह को 'पुष्टि' भी कहते हैं, जिससे यह 'पुष्टिमार्ग' भी कहलाता है।

प्रवर्तक और साहित्य—शुद्धाद्वैत के प्रवर्तक वल्लभाचार्य (जन्म-संवत् १५३६) हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर 'अणुभाष्य' और भागवत पर 'सुबोधिनी' टीका तथा अन्य ग्रन्थों की रचना की।

इस परम्परा के मुख्य ग्रन्थ हैं :

पुरुषोत्तम की 'अणुभाष्य' पर 'प्रकाश' नाम की टीका, तथा 'प्रस्थान रत्नाकर'

गिरिधर का 'शुद्धाद्वैत मार्तण्ड'

बालकृष्ण भट्ट का 'प्रमेयरत्नार्णव'

विश्व-व्यवस्था

वल्लभाचार्य के मतानुसार ब्रह्म सगुण, साकार है। जगत् और जीव सभी सत्य हैं। उन्होंने माया को स्वीकार नहीं किया। ब्रह्म, जीव और जगत् में किसी प्रकार का अभेद स्थापित नहीं किया। ब्रह्म की स्वतन्त्रता को इतना अधिक महत्त्व दिया है, कि उसके पीछे जीव की स्वतन्त्रता को समाप्त कर दिया है। ब्रह्म को सर्वशक्तिमान और जगत् की सारी हलचल का एकमात्र कारण बताया है। इसी आधार पर इस सिद्धान्त को 'सर्वेश्वरवाद' भी कहा जाता है। ईश्वरीय गुणों का आविर्भाव और तिरोभाव इस सिद्धान्त की अपनी विशेषता है। आनन्द-अंश को छिपाकर वही जीवात्मा हो जाता है, और चित्-अंश को छिपाकर जड़ जगत्। यहां जीव और जगत् में ईश्वरीय गुणों का उत्तरोत्तर तिरोभाव पाया जाता है।

ब्रह्म

अद्वैत के समान शुद्धाद्वैत भी एकमात्र ब्रह्म को विश्व का 'निमित्त' तथा 'उपादान' कारण मानता है। किन्तु यहां वह निर्गुण नहीं है। उससे उत्पन्न जगत् भी मिथ्या नहीं है। श्रुतियों में उसका निर्गुण के रूप में जो प्रतिपादन है, वल्लभाचार्य की दृष्टि में उसका इतना ही अर्थ है कि वह प्रकृति के गुणों से परे है। वह सगुण है और सविशेष भी।

वह साकार, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ तथा सबका कारण है। वह सच्चिदानन्द-रूप है। उसमें जगत् की सारी वस्तुओं को उत्पन्न करने, और उनपर नियन्त्रण रखने की शक्ति है।

वह विश्व का 'समवायि' कारण है, और निमित्त कारण भी। जगत् उससे भिन्न नहीं है। प्रकृति और जीवात्माओं का वह साक्षात् स्वामी है। प्रकृति उसकी शक्ति है। जीवात्मा उसका अंश है। ब्रह्म और ईश्वर एकही है। अद्वैत-वेदान्त के समान माया ईश्वर की उपाधि नहीं, किन्तु शक्ति है, उसीका कार्य है। वह ज्ञाता ही नहीं, कर्त्ता और भोक्ता भी है।

अशरीर होते हुए भी वह भक्तों के उद्धार के लिए शरीर धारण करता रहता है। यह उसकी लीला है। वह पुरुषोत्तम है। अपने गुणों का स्वेच्छा से आविर्भाव तथा तिरोभाव करता रहता है। जीवात्माओं में अपनी शक्ति एवं आनन्द को छिपा लेता है। प्रकृति अर्थात् जड़ वस्तुओं में ज्ञान को भी, अपने सुख को छिपाकर ईश्वर ही जीव हो जाता है, और आनन्द और ज्ञान को छिपाकर वही जगत् के रूप में परिणत हो जाता है। स्वरूप में आ जाने पर ज्ञान, आनन्द और सत्ता तीनों की पूरी अभिव्यक्ति हो जाती है। जड़ जगत् में केवल सत्ता की अभिव्यक्ति होती है; जीवों में सत्ता और ज्ञान की। जीव की आत्मा में सत्ता, ज्ञान और आनन्द तीनों ही अपूर्ण हैं। परमात्मा में उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। इसी आधार पर वस्तु की चार श्रेणियाँ मानी गई हैं, जो ईश्वरीय गुणों के उत्तरोत्तर विकास को प्रकट करती हैं। इन्हीं गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव के कारण प्रकृति, जीव और परमात्मा में परस्पर भेद है। प्रकृति और जीव ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी ऊपर के गुणों के तिरोभाव के कारण भिन्न प्रतीत होते हैं। जब परमात्मा अपने स्वरूप का आंशिक तिरोभाव करता है, तो एक ओर जगत् की रचना होने लगती है और दूसरी ओर जीवों की अभिव्यक्ति। आविर्भाव की अवस्था में वही जगत् तथा जीवों को अपने-आपमें समेटने लगता है।

वस्तु की उत्पत्ति या उसके कार्यरूप में परिणत होने का अर्थ है उसका अप्रत्यक्ष अवस्था से प्रत्यक्ष अवस्था में आना। ईश्वरीय गुणों की अभिव्यक्ति किसी-में न्यून होती है, और किसीमें अधिक।

परमात्मा एक है। पर वह अनेक होना चाहता है। फलस्वरूप जीव और प्रकृति के रूप में वह विविध वस्तुओं को रचने लगता है। यह उसकी लीला है। उसपर किसी प्रकार का बाहरी नियन्त्रण नहीं है। स्वतन्त्र इच्छा है उसकी। अपने आनन्द और ज्ञान को छिपाकर वही जगत् का रूप ले लेता है, किन्तु इसके लिए उसे अपने-आपमें कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं होती। सृष्टि का अर्थ है परमेश्वर के गुणों का तिरोभाव और प्रलय का अर्थ है उसका आविर्भाव। सृष्टि का अर्थ है 'आवरण' और प्रलय का अर्थ है 'अनावरण'। जैसे साँप अपने-आप

अभिन्न है। उसीका सत्-अंश है। इसी प्रकार जीव चित्-अंश है, और आत्मा या अन्तर्यामी आनन्द-अंश।

मध्वाचार्य ने ब्रह्म और जगत् में भेद माना है। निम्बार्काचार्य ने भेदाभेद। रामानुजाचार्य के मत में जीव ब्रह्म के अंश हैं और उससे पृथक् हैं। अंश दो प्रकार के होते हैं, 'स्व अंश' और 'भिन्न अंश'। अंश या तो अंशी का अवयव होता है, या उसीके जैसा अवयवी। जीव दूसरे अर्थ में उसके अंश हैं। उनमें ईश्वरत्व नहीं होता। निम्बार्काचार्य का मत है कि ईश्वर और जीव में ज्ञान के कारण सादृश्य है। वल्लभाचार्य के मत से दोनों में अभेद है। जीव उसके स्वअंश हैं। अंश और अंशी में अभेद या तादात्म्य है।

स्वभाव के रूप में तो जगत् ईश्वर से अभिन्न है, और कार्य के रूप में भिन्न। प्रलय होने पर वह कारण के रूप में ब्रह्म में रहता है।

शुद्धाद्वैत में भी जीव अणुप्रमाण तथा नित्य है। प्रत्येक जीवात्मा में भिन्न-भिन्न साक्षी चैतन्य या अन्तर्यामी है। वे ईश्वर का आनन्द-अंश हैं। जीव उसके चित्-अंश हैं और शरीर सत्-अंश। जीव ईश्वर की इच्छानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के सुख-दुःख भोगते हैं। इसका कारण उनका अदृष्ट या शुभाशुभ कर्म नहीं है। न्याय-दर्शन में ईश्वर अदृष्ट के अनुसार फल देता है। किन्तु यहाँ वह स्वतन्त्र है। जीव को सुख-दुःख देना और विविध योनियों में उत्पन्न करना उसकी लीला है। इस पर अन्य कोई नियन्त्रण नहीं है। जीव पराधीन है। उसकी प्रत्येक हलचल ईश्वर के अधीन है।

शुद्धाद्वैत में नैतिकता का आधार वेद की आज्ञा है। वहाँ जिन बातों का विधान है उनका पालन धर्म है, और जिनका निषेध है उनका अनुसरण अधर्म। यहाँ एक प्रश्न होता है। जब जीव स्वतन्त्र नहीं, तब वह पुण्य-पाप का भागी कैसे हो सकता है? शुद्धाद्वैत यह उत्तर देता है कि वेद ईश्वर की आज्ञा है, और वही नैतिकता का आधार है। जीव की स्वतन्त्रता है ईश्वर की ही स्वतन्त्रता या उसकी लीला का एक भाग। वह अपनी लीला के रूप में जीवों को भले-बुरे कार्यों की प्रेरणा देता है। वल्लभाचार्य जीव की स्वतन्त्रता के लिए ईश्वर का स्वतन्त्र कर्त्तव्य और सर्वाधिपत्य छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। नैतिकता एवं धर्म-अधर्म की व्याख्या के लिए उन्होंने ईश्वरीय स्वतन्त्रता का ही एक अंश जीव में स्वीकार किया है।

जीव और ब्रह्म वस्तुतः तो एक हैं, किन्तु अविद्या के कारण जीव अपने को भिन्न समझता है। यही संसार का कारण है। अविद्या का कारण है भेद की मिथ्या प्रतीति। शंकराचार्य के समान वल्लभाचार्य ने भी अविद्या का अधिष्ठान संसारी अर्थात् बद्धात्मा को माना है। मोक्ष का कारण है विश्व और जीव का ब्रह्म के साथ अभेद ज्ञान। अविद्या का नाश ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा होता है। मुक्तात्मा प्रकृति के प्रभाव से मुक्त हो जाता है और अपने शुद्ध स्वरूप को पा लेता है। वहाँ

उसे ब्रह्म का सामीप्य प्राप्त हो जाता है। अद्वैत के समान जीव का पृथक् अस्तित्व समाप्त नहीं होता। ब्रह्म में वह विलय नहीं होता। ब्रह्म अपनी असीम करुणा द्वारा अपने आश्रित जीव को अपना सामीप्य दे देता है, और इस तरह उसे जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा भी। कृपालु परमात्मा अपने भक्त को परमानंद प्रदान करता है।

प्रमाण का अर्थ है अज्ञात वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान। उसके तीन भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द अर्थात् वेद। वेद सर्वोच्च प्रमाण है। उसकी तुलना में अनुमान गौण हैं। प्रत्यक्ष का अर्थ है इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से होनेवाला साक्षात् ज्ञान। यहाँ भी 'निर्विकल्प' प्रत्यक्ष को नहीं माना गया। प्रत्येक प्रत्यक्ष में 'उद्देश्य' और 'विधेय' दोनों होते हैं।

प्रमाण-मीमांसा

प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं, पहला 'विशिष्ट बुद्धि' और दूसरा 'समूहअवलम्बन'। विशिष्ट बुद्धि में वस्तु के विशेषण, विशेष्य और उनके सम्बन्ध का पृथक्-पृथक् भान होता है। समूहअवलम्बन में इन सबका समुच्चयात्मक भान। वल्लभाचार्य ने उपमान को अलग प्रमाण नहीं माना। उसको प्रत्यक्ष के अन्तर्गत लिया है।

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार आत्मा के तीन प्रकार हैं: शुद्ध, संसारी और मुक्त। प्रत्येक जीव में सुख तथा छह ईश्वरीय गुण छिपे हुए हैं। शुद्ध जीव में अविद्या नहीं होती। बन्धन का कारण अविद्या के साथ का सम्बन्ध है। वह अनादि है। बद्धात्मा, ईश्वर की कृपा से, पाँच प्रकार की विद्या प्राप्त करता है—वैराग्य, विवेक, योग, तप और भक्ति। इनके द्वारा वह मोक्ष-लाभ करता है। मुक्तात्मा को परमात्मा का सामीप्य पाने पर भी, उसकी जगन्नियन्तृत्व शक्ति प्राप्त नहीं होती। वे जीवन्मुक्त और मुक्त दोनों प्रकार के होते हैं।

कुछ जीव दैवी प्रकृतिवाले होते हैं, और कुछ आसुरी प्रकृतिवाले। कुछ तो मर्यादा-भक्ति का मार्ग अपनाते हैं और कुछ पुष्टि-भक्ति का। मर्यादा भक्तिवाले कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों का अभ्यास करते हैं। वे अक्षर ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। 'पुष्टि-भक्ति' वाले परमात्मा के प्रति शुद्ध प्रेम का अभ्यास करते हैं। उनमें परमात्मा के सामीप्य को छोड़कर दूसरी कोई इच्छा नहीं होती। वे पुरुषोत्तम को उसीकी कृपा द्वारा प्राप्त करते हैं।

साधना

चार्वाक-दर्शन

'चार्वाक' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है। पहली व्युत्पत्ति है 'चारु वाक्'। इसका अर्थ है मीठा बोलनेवाला। अन्य सभी दर्शनों ने भौतिक सुखों की निन्दा की है। यही एक ऐसा दर्शन है, जो भौतिक सुखों को उपादेय बताता है। दूसरी व्युत्पत्ति 'चर्व' धातु से की जाती है, जिसका अर्थ है चबाना। चार्वाक-दर्शन का संदेश है कि 'खाओ पीओ और मौज उड़ाओ।' इस दर्शन का दूसरा नाम 'लोकायत' है। इसका अर्थ है लोक यानी सांसारिक जीवन को महत्त्व देनेवाला। प्रवर्तक के नाम से इसे 'बार्हस्पत्य दर्शन' भी कहा जाता है। भारतीय दर्शनों में यही एक ऐसा है, जो आत्मा और परलोक को नहीं मानता। पाणिनि की व्युत्पत्ति के अनुसार इसे ही 'नास्तिक दर्शन' कहा जायगा।

प्रवर्तक और साहित्य

चार्वाक-दर्शन के प्रवर्तक बृहस्पति माने जाते हैं। उनकी ऐतिहासिकता और काल के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। बृहस्पति का रचा कोई ग्रंथ भी उपलब्ध नहीं है। अन्य दर्शनों ने उनके नाम से कुछ कारिकाएँ उद्धृत की हैं। किन्तु उनकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। दर्शन के रूप में इस परम्परा का परिचय 'सर्व-दर्शन-संग्रह', 'षड्दर्शनसमुच्चय' तथा उसकी गुणरत्नकृत टीका में मिलता है। जैन, बौद्ध, न्याय आदि दर्शनों ने भी पूर्वपक्ष के रूप में इसका उल्लेख किया है। महाभारत के शान्तिपर्व में भौतिकवाद की कई परम्पराओं का उल्लेख मिलता है। कोई परम्परा तो जगत् के मूल में चार महाभूतों को मानती है, और कोई पाँच को। कोई उनमें काल, नियति आदि तत्वों को मिलाकर इस संख्या को ७ या ८ तक ले जाती है। कौटल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में भी इसका उल्लेख किया है। मालूम होता है कि उस समय की राजनीति कदाचित् इसी दर्शन को लक्ष्य में रखकर चलती थी।

प्रमाण-मीमांसा

चार्वाक-दर्शन केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है। अनुमान के संबंध में उसका कहना है कि उसके पीछे केवल संभावना होती है, कोई शाश्वत सिद्धान्त नहीं होता। हम कुछ स्थानों में धुएँ को अग्नि से उत्पन्न होता देखकर यह नियम बना लेते हैं कि धुआँ आग के बिना नहीं होता। इसी नियम के आधार पर धुआँ देखकर हम आग का अनुमान करते हैं। पर ऐसे नियमों का आधार कोई शाश्वत सत्य नहीं होता। इस बात का कोई बाधक प्रमाण नहीं है कि धुआँ तो हो, पर आग न हो। इसी प्रकार व्याप्य-व्यापक-भाव का सिद्धान्त भी उसे स्वीकार नहीं है। चार्वाक-दर्शन आगम या शब्द-प्रमाण को भी नहीं मानता। वेदों का तो उसने मज़ाक उड़ाया है। उसका कथन

जैन-दर्शन

'जैन' शब्द का अर्थ है 'जिन' का अनुयायी। और 'जिन' शब्द का अर्थ है, जिसने राग-द्वेष को जीत लिया है। उसे 'अर्हत्' अर्थात् पूजनीय भी कहा जाता है इसी आधार पर जैनधर्म का दूसरा नाम 'आर्हद्धर्म' है। जैनसाधु परिग्रह या संपत्ति नही रखते। उनके पास ऐसी कोई वस्तु नहीं होती, जिसे गांठ में बाँधकर रखा जाय। इसलिए वे निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं, और उनका धर्म निर्ग्रन्थ-धर्म।

ईस्वीपूर्व छठी शताब्दी में भारतीय संस्कृति की दो मुख्य धाराएँ थीं। एक ओर यज्ञ तथा भौतिक सुखों पर बल देनेवाली 'ब्राह्मण-परम्परा', और दूसरी ओर निवृत्ति तथा मोक्ष पर बल देनेवाली 'श्रमण-परम्परा'। जैनधर्म श्रमण-परम्परा की एक शाखा है।

जैनधर्म न विकासवादी है, और न ह्रासवादी। जगत्कर्त्ता के रूप में वह किसी इन्द्रियातीत सत्ता को भी नहीं मानता। विश्व परिवर्तनशील है। उसकी उपमा चक्र से दी जाती है, जिसमें उन्नति और अवनति, उत्थान और पतन का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस क्रम को बारह आरों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक में ६ आरे हैं। उत्थान को 'उत्सर्पिणी' काल और पतन को 'अवसर्पिणी' काल कहा जाता है। प्रत्येक काल के मध्य में धर्म की स्थापना होती है।

यह काल अवसर्पिणी का है। इसमें सभी बातें हीयमान हैं। इसके मध्य में अर्थात् तृतीय आरे के अन्त में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुए। वेही जैनधर्म की वर्तमान परम्परा के संस्थापक माने जाते हैं। उनका वर्णन भागवत पुराण तथा वैदिक साहित्य में भी आया है। मालूम होता है कि वे सर्वमान्य महापुरुष रहे होंगे। उनके समय के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ नहीं कहा जा सकता।

ऋषभदेव के पश्चात् २३ तीर्थंकर हुए। बाईसवें नेमिनाथ श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। छांदोग्य उपनिषद् में उनका उल्लेख घोर आंगिरस के रूप में आया है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ईस्वीपूर्व ८५० में हुए। वे वाराणसी के राजकुमार थे। अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ईस्वीपूर्व ६०० में हुए। वर्तमान जैनधर्म उन्हींकी देन है।

महावीर के पश्चात् एक हज़ार वर्ष का समय 'आगम-युग' कहा जाता है। उस समय श्रद्धाप्रधान आगम ग्रंथों की रचना हुई। दार्शनिक दृष्टि से उनका इतना ही महत्त्व है कि यत्र-तत्र विभिन्न मान्यताएँ मिलती हैं, परन्तु प्रतिपादन-शैली दार्श-निक नहीं है।

दर्शनयुग का प्रारम्भ ईसा की ५ वीं शताब्दी में हुआ। महावीर के कुछ

समय बाद जैनधर्म में श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदाय हो गये। दोनों ने ही दार्शनिक साहित्य का विकास किया।

जहाँतक जैन मान्यताओं का प्रश्न है, उनका संग्रह करनेवाला प्रथम सूत्र ग्रंथ 'तत्त्वार्थ सूत्र' है। इसे मोक्षशास्त्र भी कहा जाता है। यह उमास्वाति या उमास्वामि (तृतीय शताब्दी) की रचना है। इनपर उनका सोपज्ञ (स्वोपज्ञ) भाष्य है। 'स्वार्थ सिद्धि', 'राजवार्तिक', 'श्रुतसागर', 'आत्म ख्याति' आदि उसपर प्रसिद्ध टीकाएँ हैं।

कुंदकुंद (प्रथम शताब्दी ई०) ने 'प्रवचन सार', 'समयसार', 'नियमसार', 'अष्टपाहुड़' आदि अनेक ग्रंथों की रचना की। उनमें खण्डन-मण्डन न होने पर भी आत्मा, ज्ञान आदि विषयों का सूक्ष्म विवेचन है। दिगम्बर-परम्परा में उन्हें आगम माना जाता है। दार्शनिक दृष्टि से भी उनका महत्त्व कम नहीं है।

दर्शनयुग का प्रारम्भ ५ वीं शताब्दी में माना जाता है। इसी समय सिद्धसेन दिवाकर और समंतभद्र, मल्लवादी और पात्रकेशरी नामक आचार्य हुए। सिद्धसेन श्वेताम्बर थे, और समंतभद्र दिगम्बर। दोनों ने जैनदर्शन के प्राणतत्त्व 'अनेकांतवाद' की स्थापना की। भगवान् महावीर ने नयवाद का प्रतिपादन किया था। सिद्धसेन ने उसे आधार बनाकर 'सन्मतितर्क' की रचना की, जो अनेकांतवाद पर प्रथम ग्रंथ माना जाता है। उनकी दूसरी रचना 'न्यायावतार' जैन तर्क शास्त्र का प्रथम ग्रंथ है। सिद्धसेन ने द्वात्रिंशिकाएँ भी रचीं। उनमें से २२ उपलब्ध हैं। इनमें स्तोत्र के रूप में दार्शनिक चर्चा की गई है। समंतभद्र की दर्शनशास्त्र से संबंध रखनेवाली ३ रचनाएँ हैं।

'आप्त-मीमांसा' में उन्होंने यह चर्चा की है कि आप्त अर्थात् विश्वास एवं पूजा के योग्य महापुरुष वही हो सकता है, जो राग-द्वेष से परे हो, और जिसकी वाणी में पूर्वापर विरोध न हो। साथही, नित्यानित्य, भेदाभेद, सामान्य-विशेष, गुण और गुणी का परस्पर-संबंध आदि विषयों को लेकर प्रचलित एकांत दृष्टियों का खंडन और अनेकान्त का प्रतिपादन किया है। इसपर अकलंक की 'अष्टशती' और विद्यानन्द की 'अष्टसाहस्री' नामक टीकाएँ हैं। इनका जैन दार्शनिक साहित्य में मूर्धन्य स्थान है। समंतभद्र के अन्य ग्रंथ 'युक्त्यनुशासन' और 'स्वयंभूस्तोत्र' हैं। सभीमें उनकी प्रौढ़ तार्किकता का परिचय मिलता है। मल्लीवादी ने 'नयचक्र' तथा 'वादन्याय' की रचना की। उनका कथन है कि विभिन्न मत चक्र में आरों के समान हैं, सभी एक दूसरे का खंडन करते रहते है, किन्तु निष्कर्ष पर कोई नहीं पहुँचता। संपूर्ण सत्य चक्र के समान है, और समस्त मत उसके घटक है। अपने आप में अर्थात् निरपेक्ष होने पर वे मिथ्या हैं, और सापेक्ष होने पर सत्य के अंग बन जाते हैं। क्षमाश्रमण (७वीं शताब्दी) ने 'नयचक्र' पर बृहत् टीका लिखी। पात्रकेसरी या पात्रस्वामी ने 'त्रिलक्षण कदर्थन' नामक ग्रंथ रचा। इसमें बौद्धों द्वारा प्रतिपादित

हेतु के स्वरूप का खण्डन है।

[नोट—जैन-दर्शन के उल्लेखनीय ग्रंथों की सूची परिशिष्ट (ख) में दी गयी है —सं०]

वेदान्त में आत्मा को चित् और आनन्दस्वरूप माना गया है। इसी प्रकार जैन-दर्शन में उसे अनन्त चतुष्टयरूप माना गया है। वे हैं अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य। प्रथम दो ज्ञान या चेतना के ही दो रूप हैं। प्रत्येक आत्मा अपने-आपमें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है। उसके ये गुण बाह्य आवरण के कारण छिपे हुए हैं।

ज्ञानमीमांसा

जैन-दर्शन के अनुसार ज्ञान प्रकाश के समान है। वह अपने-आपमें विद्यमान वस्तु को प्रकाशित करता है। नई रचना या अपनी ओर से उसमें कोई सम्मिश्रण नहीं करता। यहाँ एक प्रश्न उठता है। किसी व्यक्ति को देखकर हमें यह प्रत्यक्ष होता है कि वह हमारा शत्रु है तो क्या शत्रुत्व उस व्यक्ति में रहता है? यदि ऐसा है तो वह दूसरों को भी शत्रु के रूप में क्यों नहीं दिखाई देता? जैन-दर्शन का उत्तर है कि व्यक्ति या वस्तु में प्रतीत होनेवाले सभी धर्म सापेक्ष होते हैं। एकही वस्तु एक व्यक्ति को छोटी दिखाई देती है, और दूसरे को बड़ी। दोनों की अपनी-अपनी अपेक्षाएँ होती हैं और उस दृष्टि से दोनों सच्चे हैं। इसी प्रकार वही व्यक्ति एक को शत्रु दिखाई देता है और दूसरे को मित्र। दोनों का यह ज्ञान अपनी-अपनी अपेक्षा लिये हुए है। यदि मित्रता का दर्शन करनेवाला व्यक्ति शत्रुता का दर्शन करनेवाले की अपेक्षा को रखकर विचार करे, तो उसे भी शत्रुता का ही दर्शन होगा। एक ही स्त्री एक व्यक्ति की दृष्टि में माता है, दूसरे की दृष्टि में बहिन, तीसरे की दृष्टि में पत्नी और चौथे की दृष्टि में पुत्री। इनमें से कोई भी दृष्टि मिथ्या नहीं है। मिथ्यापन तभी आयगा, जब अपेक्षा बदल जाय। सभी ज्ञान आंशिक सत्य को लिये रहते हैं। यदि उन्हें आंशिक सत्य के रूप में स्वीकार किया जाय, तो सभी सच्चे हैं। वे ही जब पूर्ण सत्य मान लिये जाते हैं और दूसरी दृष्टि या अपेक्षा का निराकरण करने लगते हैं, तो मिथ्या हो जाते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार पूर्ण सत्य का साक्षात्कार सर्वज्ञ को ही हो सकता है, और उसीका ज्ञान पूर्ण सत्य कहा जा सकता है।

ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान के भेद

ज्ञान के ५ भेद हैं:

(१) **मति**—इंद्रिय और मन से होनेवाला ज्ञान;

(२) **श्रुत**—शास्त्रों से होनेवाला ज्ञान;

(३) **अवधि**—दूरवर्त्ती तथा व्यवधानवाले पदार्थों का ज्ञान, जो विशिष्ट योगियों को होता है। इसके द्वारा योगी केवल रूपवाले पदार्थों को ही देख सकता है।

(४) **मनःपर्यय**—दूसरे के मनोभावों का प्रत्यक्ष;
(५) **केवलज्ञान**—सर्वज्ञों का ज्ञान, जिसके द्वारा वे विश्व के समस्त पदार्थों को एकसाथ जानते हैं।

प्राचीन परम्परा में इनमें से प्रथम दो को परोक्ष माना गया, और अंतिम तीन को प्रत्यक्ष। कालान्तर में अन्य दर्शनों के समान इन्द्रिय से होनेवाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष में सम्मिलित कर लिया गया। अकलंक ने इस बात को लक्ष्य में रखकर प्रत्यक्ष के दो भेद कर दिये, व्यावहारिक और पारमार्थिक। इन्द्रिय और मन से होनेवाले प्रत्यक्ष को पहली कोटि में ले लिया, और अवधि आदि तीन ज्ञानों को दूसरी कोटि में।

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा कमरे में बैठे हुए व्यक्ति के समान है, और मन तथा इन्द्रियाँ खिड़की के समान। उनका काम इतना ही है कि थोड़ी देर के लिए ज्ञाता और ज्ञेय के बीच पड़े हुए आवरण या पर्दे को हटादें। जानने का काम आत्मा स्वयं करता है। इसी दृष्टि को सामने रखकर प्राचीन आगमों में प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद नहीं किया गया। सबसे पहले यह भेद उपास्वामि ने किया। उसका आधार था कि जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन या शब्द आदि की सहायता होती है, वह परोक्ष है, और जहाँ उस सहायता की आवश्यकता नहीं है, वह प्रत्यक्ष है। अन्य दर्शनों के साथ संपर्क होनेपर इन्द्रिय-ज्ञान को भी साधारण व्यवहार की दृष्टि से प्रत्यक्ष मान लिया गया।

जब हम किसी वस्तु को देखते हैं, तो एकदम अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँचते। पहले सामान्य ज्ञान होता है, फिर धीरे-धीरे विशेषता की ओर बढ़ते हैं।

प्रत्यक्ष का क्रम

जब किसी दूर की वस्तु को देखते हैं, तो यह क्रम स्पष्ट मालूम होता है, किन्तु परिचित तथा निकट की वस्तु का ज्ञान शीघ्र हो जाता है। स्पष्ट मालूम न पड़ने पर भी वहाँ इस क्रम का अभाव नहीं होता। जैन-दर्शन में इस क्रम की पाँच अवस्थाएँ बताई गई हैं :

(१) **दर्शन**—सामान्य ज्ञान, जहाँ केवल इतना ही भान होता है कि कुछ है।
(२) **अवग्रह**—इंद्रिय के द्वारा वस्तु का ग्रहण। इसकी भी दो अवस्थाएँ हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यंजनावग्रह का अर्थ है इंद्रिय और पदार्थ का परस्पर-सम्बन्ध। यह केवल चार इन्द्रियों में होता है। मन और चक्षु-इन्द्रिय से होनेवाले ज्ञान में नहीं होता। दूसरा अर्थावग्रह है—इसका अर्थ है वस्तु का प्रतिभास।
(३) **ईहा**—विशेष जानने की इच्छा।
(४) **अवाय**—विशेष का निश्चय।
(५) **धारणा**—ज्ञान का संस्कार के रूप में परिणत होना, जिससे कालान्तर में स्मरण हो सके।

इन अवस्थाओं में प्रथम दर्शन निराकार होने के कारण ज्ञान-कोटि में नहीं आता। शेष चार मतिज्ञान की अवस्थाएँ हैं।

परोक्ष के भेद

'परोक्ष' का निरूपण मुख्य रूप से तर्क-युग की देन है। इसके ५ भेद हैं :

(१) **स्मृति**—पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण। न्याय-दर्शन इसे प्रमाण-कोटि में नहीं रखता।

(२) **प्रत्यभिज्ञान**—इसका शब्दार्थ है पहिचान। पूर्वानुभूत वस्तु को पुनः देखने पर यह ज्ञान होता है कि यह वही है। इसे 'एकत्व प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। कभी तत्सदृश दूसरी वस्तु को देखकर यह ज्ञान होता है कि यह उसके सदृश है। भिन्न वस्तु को देखकर यह ज्ञान होता है कि यह उससे भिन्न है। इस प्रकार पूर्वानुभूत और प्रत्यक्ष तुलना करनेवाले सभी ज्ञान प्रत्यभिज्ञान हैं। वैदिक दर्शनों में इसका प्रतिपादन उपमान के रूप में किया गया है।

(३) **तर्क**—धुआँ अग्नि का कार्य है, और अग्नि धुएँ का कारण। कार्य कारण के विना नहीं होता। इसी प्रकार जहाँ आम होगा, वहाँ वृक्ष अवश्य होगा, क्योंकि आम वृक्ष की अवांतर जाति, अर्थात् व्याप्य है। इस प्रकार कार्य-कारण-भाव, व्याप्य-व्यापक-भाव आदि सम्बन्धों के आधार पर यह निश्चय करना कि एक वस्तु दूसरी वस्तु के होने पर ही हो सकती है, उसके विना नहीं हो सकती, तर्क है। इसे 'व्याप्ति-ज्ञान' भी कहा जाता है।

(४) **अनुमान**—तर्क के आधार पर स्थान विशेष में एक वस्तु को देखकर दूसरी वस्तु का अस्तित्व या अभाव सिद्ध करना अनुमान है। इसका निरूपण न्याय-दर्शन में किया गया है। यहाँ इतना बता देना पर्याप्त है कि जैन-दर्शन हेतु और साध्य के परस्पर-सम्बन्ध के लिए इतना ही आवश्यक मानता है कि साध्य के विना हेतु नहीं रहना चाहिए। बौद्धों के समान उसे वह कार्य तथा स्वभाव तक सीमित नहीं करता। उदाहरण के रूप में, जैन-दर्शन का कथन है कि जिस प्रकार कार्य से कारण का अनुमान किया जा सकता है, उसी प्रकार कारण से कार्य का भी अनुमान किया जा सकता है। हम आग को देखकर यह अनुमान कर सकते हैं कि वहाँ उष्णता होगी। इतना ही नहीं, आज रविवार है तो यह अनुमान किया जा सकता है कि दूसरे दिन सोमवार होगा। क्योंकि सोमवार रविवार का उत्तरचर है। इस प्रकार हेतु के पूर्वचर, सहचर आदि अनेक रूप हो सकते हैं।

(५) **आगम**—आप्त अर्थात् विश्वसनीय पुरुष के वचन को 'आगम' कहा जाता है। इसके दो भेद हैं, लौकिक और अलौकिक। माता-पिता, गुरुजन आदि लौकिक आप्त हैं। इस सम्बन्ध में दर्शनकारों का मतभेद नहीं है। किन्तु,

अलौकिक आप्त के विषय में काफ़ी मतभेद है।.मीमांसा-दर्शन का कहना है कि शब्द में दोष तभी आता है, जब उसके वक्ता में कोई दोष हो। वेद अनादि है, उनका कोई वक्ता नहीं है, अतः वे दोषरहित हैं। न्याय तथा वेदान्त का कथन है कि वक्ता में दो गुण होने चाहिए। वह निर्दोष हो और साथही अपने विषय का पूर्ण ज्ञाता हो। उनके मत में वेद ईश्वर के रचे हुए हैं। उसमें कोई दोष नहीं है। साथ ही, उसका ज्ञान परिपूर्ण है। जैन-दर्शन ईश्वर को नहीं मानता। उसकी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति साधना के द्वारा आत्मा का पूर्ण विकास कर सकता है। उस अवस्था में वह वीतराग और सर्वज्ञ हो जाता है। आगम उसकी वाणी है, अतः प्रमाण है।

जैन-परम्परा मानती है कि सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी तीर्थंकर उपदेश देते हैं। ग्रंथ के रूप में उनकी रचना गणधर अर्थात् मुख्य शिष्यों द्वारा की जाती है। उनके पश्चात् ज्ञान-सम्पन्न अन्य मुनियों द्वारा रचे गये ग्रंथ भी आगमों में सम्मिलित कर लिये गये। श्वेताम्बर-मतानुसार यह क्रम भगवान् महावीर के बाद १००० वर्ष अर्थात् चौथी ईस्वी तक चलता रहा। वे अपने आगमों को बारह अंगों, बारह उपांगों, छह मूलों, छह छेदों तथा दस प्रकीर्णकों में विभक्त करते हैं। इनमें से दृष्टिवाद का लोप हो गया। शेष ४५ आगम विद्यमान हैं।

दिगम्बरों का मत है कि अंग-उपांगादि सभी आगम लुप्त हो गये। वे 'षट्खंडागम' और 'कषायप्राभृत' को मूल आगम के रूप में मानते हैं। ये ग्रंथ महावीर स्वामी के ४०० वर्ष पश्चात् रचे गये। इनके अतिरिक्त कुन्दकुन्द, उमास्वामि, नेमिचन्द सिद्धान्त-चक्रवर्ती आदि आचार्यों की रचनाओं को भी आगमों के समान प्रमाण माना जाता है।

जैन-दर्शन में ज्ञान के जो भेद किये गये हैं, उन्हींको प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है, और यह बताया गया है कि ज्ञान वस्तु के समान अपने-आपको भी ग्रहण करता है। अर्थात् एक ज्ञान को,जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होगी।

सात नय

हम अपने विचारों को प्रकट करते समय निजी मान्यताओं को सामने रखते हैं। एकही स्त्री को एक माता कहता है, दूसरा बहिन, तीसरा पुत्री और चौथा पत्नी। इसी प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में भी एकही व्यक्ति को भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट किया जाता है। एकही व्यक्ति परिवार की गणना करते समय राम या कृष्ण के रूप में कहा जाता है। जातियों की गणना के समय ब्राह्मण या क्षत्रिय; व्यवसाय की गणना के समय अध्यापक या व्यापारी। इस प्रकार अभिव्यक्ति की अनेक दृष्टियाँ हैं। उन सबको 'नय' कहा जाता है। जैन-दर्शन में उनका स्थूल विभाजन ७ नयों के रूप में किया गया है। इनमें मुख्य दृष्टि विस्तार से संक्षेप की ओर है, अर्थात् एकही शब्द किन

प्रकार विस्तृत अर्थ का प्रतिपादक होने पर भी उत्तरोत्तर संकुचित होता चला जाता है।

नैगम—इसकी व्युत्पत्ति की जाती नैक गमो नैगमः, अर्थात् जहाँ अनेक प्रकार की दृष्टियाँ हों। यह नय वास्तविकता के साथ उपचार को भी ग्रहण कर लेता है। जैसे, हम तांगेवाले को तांगा कहकर पुकारने लगते हैं। क्रोधी को आग या वीर पुरुष को शेर कहने लगते हैं। इस उपचार का आधार कहीं गुण होता है, कहीं सादृश्य और कहीं किसी प्रकार का सम्बन्ध। जैसे तांगे और तांगे के मालिक में स्वामिभाव-सम्बन्ध है। इस नय का क्षेत्र सबसे अधिक विस्तृत है।

संग्रहनय—इसका अर्थ है सामान्यग्राही दृष्टि, अर्थात् अधिक-से-अधिक वस्तुओं को शामिल करने की भावना। इसके दो भेद हैं, परसंग्रह और अपर-संग्रह। परसंग्रह में सभी पदार्थ आ जाते हैं। इसके द्योतक हैं सत्, ज्ञेय आदि शब्द। अपरसंग्रह का क्षेत्र अपेक्षाकृत कम या अधिक होता है। जैसे, मनुष्य का क्षेत्र ब्राह्मणत्व की अपेक्षा विस्तृत है, और जीवत्व की अपेक्षा संकुचित।

व्यवहार नय—साधारण व्यवहार के लिए किया जानेवाला भेद इस नय को प्रकट करता है। जैसे, मनुष्य का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियों में विभाजन करना। संग्रह में दृष्टि अभेद की ओर जाती है, और यहाँ भेद की ओर।

ऋजुसूत्र—ऋजु यानी वर्तमान अवस्था को लेकर चलनेवाला नय। ऋजु-सूत्र की दृष्टि में जिस व्यक्ति का मुख्य व्यवसाय अध्यापन है, उसे अध्यापक कहा जा सकता है। जिस समय वह सो रहा है, या भोजन कर रहा है, उस समय भी अध्यापक है।

शब्द नय—ऋजु सूत्र केवल वर्तमान काल पर दृष्टि रखता है। शब्द नय लिंग, कारक, संख्या आदि का भेद होने पर भी वस्तु में परस्पर भेद मानता है। उदाहरण के लिए, नगर और पुरी शब्द को लिया जा सकता है। शब्द नय की दृष्टि से दोनों में परस्पर-भेद है।

समभिरूढ़ नय—यह नय पदार्थ-शब्दों को स्वीकार नहीं करता। जहाँ एकही अर्थ को प्रकट करनेवाले कई शब्द हैं, उनमें भी यह परस्पर-भेद मानता है।

एवंभूत नय—इस नय की दृष्टि क्रिया पर रहती है। व्यक्ति विशेष को अध्यापक तभी कहा जायगा, जब वह अध्यापन कर रहा है, सोते या भोजन करते समय नहीं। हमारा साधारण व्यवहार ऋजु सूत्र नय को लेकर चलता है। ७ में से प्रथम ३ अर्थ-नय माने जाते हैं, और अन्तिम ४ शब्द-नय।

नयों का विभाजन 'द्रव्यार्थिक' और 'पर्यायार्थिक' के रूप में भी किया जाता है। द्रव्यार्थिक में मुख्य दृष्टि अभेद की ओर रहती है, और पर्यायार्थिक में भेद की ओर। प्रथम ४ नय द्रव्यार्थिक माने जाते हैं, और अन्तिम ३ पर्यायार्थिक।

चार निक्षेप—'निक्षेप' शब्द का अर्थ है रखना या विभाजन करना। शब्द

का अर्थ करते समय विभाजन की चार दृष्टियाँ हैं, और हमें यह सोचकर चलना पड़ता है कि प्रस्तुत प्रसंग में किस दृष्टि को लिया जा रहा है :

(१) **नाम-निक्षेप**—हम किसी व्यक्ति का नाम राजा रख लेते हैं। भिखारी होने पर भी वह राजा कहा जाता है, और इस कथन को असत्य नहीं माना जाता। नाम 'नाम-निक्षेप' अर्थात् नाम की दृष्टि से शब्द का प्रयोग है।

(२) **स्थापना-निक्षेप**—हम मन्दिर में रखी हुई मूर्ति को भगवान् कहते हैं। शतरंज के मोहरों को हाथी, घोड़े कहते हैं। यह सब स्थापना-निक्षेप है, अर्थात् वहाँ उन्हें उस रूप में मान लिया जाता है। नाम-निक्षेप में केवल उस नाम से पुकारा जाता है, वैसा व्यवहार नहीं किया जाता। स्थापना-निक्षेप में पुकारने के साथ व्यवहार भी होता है। प्रतीकवाद स्थापना-निक्षेप का ही एक रूप है।

(३) **द्रव्य-निक्षेप**—भावी या भूत पर्याय की दृष्टि से किसी वस्तु को उस नाम से पुकारना। जैसे युवराज को राजा कहना, या भूतपूर्व अधिकारी को उस पद के नाम से पुकारना।

(४) **भाव-निक्षेप**—गुण या वर्तमान अवस्था के आधार पर वस्तु को उस नाम से पुकारना। जैसे, सिंहासन पर बैठे हुए व्यक्ति को राजा कहना, या पदाधिकारी को उसके कार्य-काल में उस नाम से पुकारना।

स्याद्वाद या सप्तभंगी

जैन-दर्शन का दूसरा नाम 'स्याद्वाद' है। 'स्यात्' का अर्थ है कथंचित् या अपेक्षाकृत। जैन-दर्शन वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करते समय भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं को सामने रखता है। एकही वस्तु एक अपेक्षा से सत् है, और दूसरी अपेक्षा से असत्। एक अपेक्षा से उपादेय है, और दूसरी अपेक्षा से हेय। इसी अपेक्षा को लेकर नीचे लिखे ७ भंग किये जाते हैं, जिन्हें 'सप्तभंगी न्याय' कहा गया है :

(१) **स्यादस्ति**—प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य (व्यक्तित्व), क्षेत्र, काल और भाव (अवस्था-विशेष) की अपेक्षा से सत् है;

(२) **स्यान्नास्ति**—परद्रव्य, क्षेत्र आदि की अपेक्षा से असत् है;

(३) **स्यादस्तिनास्ति**—दोनों अपेक्षाओं को एकसाथ क्रमशः रखने पर सत् है और असत्;

(४) **स्यादवक्तव्य**—दोनों अपेक्षाओं को एकसाथ रखने पर भी कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बोलना क्रम से होता है। यदि दोनों को एकसाथ बोलना चाहें तो अवक्तव्य हो जायगा।

(५) **स्यादस्ति अवक्तव्य**

(६) **स्यान्नास्ति अवक्तव्य**

(७) **स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य**

अस्ति-नास्ति के समान नित्यानित्य, भेदाभेद, सामान्य-विशेष आदि

अपेक्षाओं को लेकर भी 'सप्त भंगी' की जाती है।

तत्त्वमीमांसा

जैन-दर्शन विश्व को ६ द्रव्यों या ७ तत्त्वों के रूप में विभक्त करता है। प्रथम विभाजन ज्ञेय जगत् को उपस्थित करता है, और द्वितीय में मुख्य दृष्टि आचार या आत्मविकास की है। ७ तत्त्वों में प्रथम २ अर्थात् जीव और अजीव द्रव्यरूप हैं, और शेष ५ जीव की आध्यात्मिक अवस्थाओं से सम्बन्ध रखते हैं। उनका निरूपण आचार-मीमांसा में किया जायगा। यहां ६ द्रव्यों के रूप में जीव और अजीव तत्त्व का प्रतिपादन किया जायगा।

द्रव्य

द्रव्य का लक्षण है वह पदार्थ, जिसमें गुण और पर्याय (अवस्थाएँ) विद्यमान हों। जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य में अनेक गुण होते हैं, और वह प्रतिक्षण बदलता रहता है। बौद्ध-दर्शन केवल गुण और पर्याय अर्थात् अवस्थाओं को मानता है। उनके आधार के रूप में वह किसी पृथक् सत्ता को नहीं मानता। दूसरी ओर, अद्वैत वेदान्त आधार-भूत सत्ता को वास्तविक मानता है, और उसमें दिखाई देनेवाले गुण एवं अवस्थाओं को कल्पित। जैन-दर्शन दोनों को वास्तविक मानता है। ६ द्रव्य ये हैं: (१) जीवास्तिकाय (२) पुद्गलास्तिकाय (३) धर्मास्तिकाय (४) अधर्मास्तिकाय (५) आकाशास्तिकाय, और (६) काल।

'अस्तिकाय' शब्द का अर्थ है परमाणु, प्रदेश या अवयवों का एकसाथ रहना। जीव, पुद्गलादि में वे एकसाथ रहते हैं। किन्तु काल के अंश एकसाथ नहीं रह सकते। वहाँ एक के नष्ट होने पर ही दूसरा अस्तित्व में आता है। इसलिए उसे अस्तिकाय नहीं कहा गया।

(१) **जीवास्तिकाय**—जीव का अर्थ है चेतना या आत्मा। जैन-दर्शन में इसका स्वरूप 'अनन्त चतुष्टय' अर्थात् अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख और अनन्त-वीर्य के रूप में किया जाता है। साथही, वह अस्पर्श है, उसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं है। हरेक शरीर में अलग-अलग आत्मा है, और वह जिस शरीर में प्रवेश करता है उतना ही बड़ा आकार ले लेता है। चींटी के शरीर में चींटी-जितना आत्मा है और हाथी के शरीर में हाथी-जितना। इस प्रकार उसमें संकोच और विस्तार होते रहते हैं। प्रत्येक जीव अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है, वह कार्य करने में स्वतन्त्र है और उसीके अनुसार फल भोगता है। कार्य और फल भोग का स्वाभाविक नियम है। उसपर किसी अतीन्द्रिय शक्ति का नियन्त्रण नहीं है। उदाहरण के लिए, यदि कोई आँखों पर पट्टी बाँधकर कुएँ की ओर बढ़ेगा, तो उसमें गिर जायगा। उसे गिरानेवाली कोई उच्च सत्ता नहीं है। वह स्वयं अपने-आपको गिराता है। साथही, यह भी निश्चित है कि कार्य करने पर फल अवश्य भोगना होगा। यह कार्य-कारण का स्वाभाविक नियम है। भूख न लगने

पर यदि हम भोजन करते हैं, तो अजीर्ण हो जाता है, पेट दुखने लगता है। इस अजीर्ण और उदरशूल के लिए किसी बाह्य सत्ता को नियामक मानने की आवश्यकता नहीं है; उसके लिए हम स्वयं उत्तरदायी हैं।

सांख्य और वेदान्त-दर्शन में भी पुरुष अथवा ब्रह्म को चित्स्वरूप माना गया है। पर वहाँ चेतना का अर्थ शुद्ध चैतन्य है, उसमें विषय का भान नहीं रहता। यह भान प्रकृति या माया के कारण होता है। मुक्त अवस्था में नहीं रहता। किन्तु जैन-दर्शन में ज्ञान और दर्शन, यानी निराकार और साकार दोनों प्रकार की चेतना जीव का स्वाभाविक गुण है। इसीको उपयोग कहते हैं, जो जीव का लक्षण माना गया है। बाह्य जगत् को सामान्य तथा विशेष दोनों रूपों में जानना जीव का स्वभाव है, और वह मुक्त अवस्था में भी बना रहता है। इसी तथ्य के कारण इन परम्पराओं में 'कैवल्य' शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न हो गया है। सांख्य-दर्शन में कैवल्य का अर्थ है प्रकृति के सम्पर्क से रहित शुद्ध चेतना। जैन-दर्शन में उसका अर्थ है सर्वज्ञता अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर समस्त जगत् की अनुभूति।

(२) **पुद्गलास्तिकाय**—सांख्य-दर्शन में जो स्थान प्रकृति का है, वही जैन-दर्शन में पुद्गल का है। जीव के संसार में भ्रमण और सुख-दुःख-भोग का सारा कार्य पुद्गल द्वारा होता है। किन्तु सांख्य-दर्शन के समान यहाँ इसका विकास बुद्धि के रूप में नहीं होता। जैन-दर्शन के अनुसार वह चेतना का गुण है, और उसीके समान अनादि और अनन्त है। न्याय-दर्शन में पृथिवी आदि चार भूतों के परमाणु भी भिन्न-भिन्न प्रकार के माने गये हैं। जल के परमाणुओं में गंध नहीं होती। अग्नि के परमाणुओं में गंध और रस नहीं होते। वायु के परमाणुओं में केवल स्पर्श ही होता है। किन्तु जैन-दर्शन पृथिवी आदि के परमाणुओं में मौलिक भेद नहीं मानता। सभीमें रूप, रस, गंध और स्पर्श चारों गुण रहते हैं।

पुद्गल के दो रूप हैं, परमाणु और अवयवी। दृश्यमान सारा जगत् पुद्गल परमाणुओं का संघटन या विशेष रचना है। न्याय-दर्शन के अनुसार परमाणु में रहनेवाले रूप, रस आदि गुण नित्य हैं, उनमें परिवर्तन नहीं होता। स्थूल वस्तु में जब परिवर्तन होता है, तो केवल परमाणु बदल जाते हैं, उनके गुण नहीं बदलते। घड़ा पकने पर जब मिट्टी अपना रंग छोड़कर नया रंग लेती है, तो मिट्टी रंगवाले परमाणु बिखर जाते हैं, और उसका स्थान लाल रंग के परमाणु ले लेते हैं। पर जैन-दर्शन ऐसा नहीं मानता। वहाँ परमाणु नहीं रहते हैं, पर उनके रूप, रस आदि गुण बदल जाते हैं।

आठ वर्गणाएँ—जैन-दर्शन में पुद्गल का विभाजन आठ वर्गणाओं के रूप में किया गया है। वर्गणा का अर्थ है भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्ग या श्रेणियाँ। यह विभाजन उनके द्वारा बननेवाले स्थूल पदार्थों के आधार पर किया गया है।

(१) औदारिक वर्गणा—स्थूल शरीर के रूप में परिणत होनेवाले परमाणु। जैन-दर्शन के अनुसार पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतियों में भी जीवन हैं। इनके रूप में प्रतीत होनेवाले स्थूल पदार्थ उन जीवों के शरीर हैं। यह शरीर कहीं सजीव दिखाई देता है, और कहीं निर्जीव। इसे औदारिक शरीर माना जाता है। इसी प्रकार पशु-पक्षियों और मनुष्यों का शरीर भी औदारिक है।

(२) वैक्रियिक वर्गणा—देवता तथा नारकीय जीवों के शरीर के रूप में परिणत होनेवाले परमाणु। योगी अपनी योग-शक्ति के द्वारा जिस शरीर की रचना करते हैं, वह भी इन परमाणुओं से बनता है।

(३) आहारक वर्गणा—विचारों का संक्रमण करनेवाले शरीर के रूप में परिणत होनेवाले परमाणु।

(४) भाषा वर्गणा—वाणी के रूप में परिणत होनेवाले परमाणु।

(५) मनो वर्गणा—मनोभावों के रूप में परिणत होनेवाले परमाणु।

(६) श्वासोच्छ्‌वास वर्गणा—प्राणवायु के रूप में परिणत होनेवाले परमाणु।

(७) तैजस् वर्गणा—तैजस् या सूक्ष्म शरीर के रूप में परिणत होनेवाले पुद्‌गल परमाणु।

(८) कार्माण वर्गणा—कार्माण या लिंग-शरीर के रूप में परिणत होनेवाले परमाणु। कार्माण शरीर का अर्थ है आत्मा के साथ लगे हुए कर्म पुद्‌गल। ये ही जीव को विविध योनियों में ले जाकर स्थूल शरीर के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं, और सुख-दुःख का भोग कराते हैं। सांख्य-दर्शन में जो स्थान लिंग-शरीर का है, वही जैन-दर्शन में कार्माण शरीर का है और वहाँ जो सूक्ष्म शरीर का है यहाँ वही तैजस् शरीर का। मरने पर जीव स्थूल शरीर को छोड़ देता है; तैजस् और कार्माण उसके साथ जाते हैं।

(३-४) **धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय**—धर्म द्रव्य, जीव तथा पुद्‌गल की गति में सहायक है और अधर्म है स्थिति में। वर्तमान विज्ञान विद्युत शक्ति के दो रूप मानता है। धन (पॉजिटिव) और ऋण (नेगेटिव)। धर्म और अधर्म वही कार्य करते हैं।

(५-६) **आकाशास्तिकाय और काल**—आकाश जीव और पुद्‌गल को स्थान प्रदान करता है और काल उनमें परिवर्तन लाता है। कुछ आचार्यों का मत है कि परिवर्तन जीव और पुद्‌गल का स्वभाव है, अतः उसके लिए अलग द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है।

आचार-मीमांसा—ऊपर बताया गया है कि जैन-धर्म में ७ तत्त्व माने गये हैं। उनमें से प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव विश्व के स्वरूप को बताते हैं। शेष ५ तत्त्वों का सम्बन्ध आचार अर्थात् आध्यात्मिक विकास के साथ है।

जैन-धर्म भी मोक्ष को जीवन का चरमलक्ष्य मानता है। इसका अर्थ है आत्मा के स्वरूप का पूर्णविकास। प्रत्येक जीव अपने-आपमें अनंत चतुष्टयरूप है। अनंत-ज्ञान, अनंत-दर्शन, अनंत-सुख और अनंत-वीर्य उसका स्वभाव है। किन्तु यह स्वभाव बाहरी प्रभाव के कारण दबा हुआ है। इस प्रभाव को 'कर्म' कहते हैं। कर्मों का बन्धन जिन कारणों से होता है उन्हें 'आस्रव' कहते हैं। इस बन्ध का रुक जाना 'संवर' है, और संचित कर्मों का नाश 'निर्जरा' है। जैन आचार इन्हीं ५ तत्त्वों पर विकसित हुआ है। अब हम इनका विवेचन करेंगे :

आस्रव—कर्मबन्ध के कारणों को 'आस्रव' कहते हैं। इसके ५ भेद हैं :

(१) **मिथ्यात्व**—विपरीत श्रद्धा। तात्त्विक दृष्टि से इसका अर्थ है सत्य को छोड़कर असत्य को पकड़े रहना। इसी प्रकार कुदेव, कुगुरु या कुधर्म को मानना भी मिथ्यात्व है।

(२) **अविरति**—पाप-कर्मों से निवृत्त न होना।
पापाचरण न करने पर भी जबतक साधक उनसे अलग रहने की प्रतिज्ञा नहीं करता, जबतक मन डाँवाडोल है, तबतक वह साधक 'अविरत' कहा जाता है।

(३) **प्रमाद**—आलस्य या अकर्मण्यता, जो जीवन में अनुशासन नहीं रहने देती। अंगीकार किये हुए व्रत में किसी प्रकार की भूल-चूक होना भी प्रमाद है।

(४) **कषाय**—क्रोध, मान, माया और लोभ।

(५) **योग**—मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियाँ।

आस्रव का शब्दार्थ है पानी के आने का मार्ग। आत्मा अपने-आपमें शुद्ध है। ऊपर के इन ५ कारणों से कर्म परमाणुओं का बंध होता है, और वह मलिन हो जाता है। कर्म एक प्रकार का जड़ पदार्थ है, जो आत्मा के साथ मिलकर उसे मलिन कर देता है।

बंध—बंध का अर्थ है कर्मों का आत्मा के साथ चिपकना, और शुभाशुभ फल देने की शक्ति प्राप्त करना। इसके चार भेद हैं :

(१) **प्रकृतिबंध**—आत्मा के साथ जो कर्म पुद्गल बँधते हैं, वे आठ प्रकार के हैं। उनमें से चार आत्मा के अनंत चतुष्टय को आच्छादित करते हैं। बाकी योनि-विशेष में जन्म, शारीरिक संगठन, वायु आदि का निर्माण करते हैं। प्रथम प्रकार के कर्म आत्म-गुणों का घात करने के कारण घाति कहे जाते हैं, और बाकी चार अघाति। घाति कर्म नीचे लिखे अनुसार हैं :

(अ) **ज्ञानावरणीय**—आत्मा के ज्ञान को ढँकनेवाला।

(आ) **दर्शनावरणीय**—दर्शन को ढँकनेवाला।

(इ) **मोहनीय**—आत्मा को विपरीत दशा में ले जानेवाला। वेदांत और योग-दर्शन में 'अविद्या' का तथा बौद्धदर्शन में 'तृष्णा' का जो

स्थान है, वही जैन-दर्शन में 'मोहनीय कर्म' का है।

(ई) अंतराय—आत्मशक्ति को कुंठित करनेवाला।

अघाति कर्म निम्नप्रकार हैं :

(क) वेदनीय—शारीरिक सुख-दुःख उत्पन्न करनेवाला।

(ख) नाम कर्म—उच्च-नीच गतियों में ले जाने, शरीर-रचना करने एवं अन्य अनुकूल व प्रतिकूल सामग्री उपस्थित करनेवाला।

(ग) आयुष्य—विभिन्न गतियों में अल्प या दीर्घ जीवन प्रदान करने-वाला।

(घ) गोत्र—उच्च या नीच कुल में उत्पन्न करनेवाला।

(२) प्रदेशबंध—प्रत्येक कर्म के प्रदेश अर्थात् परमाणु।

(३) स्थितिबंध—प्रत्येक कर्म को आत्मा के साथ रहने और फल देने की काल-मर्यादा।

(४) अनुभागबंध—कम और अधिक फल देने की शक्ति।

आध्यात्मिक विकास के साथ मुख्य सम्बन्ध मोहनीय कर्म का है। इसके दो भेद हैं : (१) दर्शन मोहनीय, और (२) चारित्र्य मोहनीय।

दर्शन मोहनीय का अर्थ है मिथ्यात्व या दृष्टि का विपरीत होना।

चारित्र्य मोहनीय का अर्थ है क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दुर्बलताएँ, जो हमारे चारित्र्य को नहीं पनपने देतीं।

उत्कटता की दृष्टि से इसकी चार श्रेणियाँ हैं, जिन्हें लाँघते हुए साधक विकास की उत्तरोत्तर उच्च अवस्थाओं को पहुँचाता है। प्रथम श्रेणी अनन्तानुबन्धी है। जिसके मिथ्यात्व मोहनीय है वह श्रद्धा व चारित्र्य दोनों दृष्टियों से गिरा हुआ है और आध्यात्मिक विकास का अधिकारी नहीं है। दूसरी कोटि अप्रत्याख्यान की है। इसके उदयवाला सम्यग्दृष्टि तो हो सकता है, किन्तु आंशिक या पूर्ण किसीभी रूप में व्रत ग्रहण नहीं कर सकता। तीसरी कोटि प्रत्याख्यानावरण है। इसका उदय होने पर पूर्ण या महाव्रतों का पालन नहीं हो सकता। चौथी कोटि संज्वलन है। इसके उदयवाला महाव्रत तो अंगीकार कर सकता है, किन्तु सूक्ष्म दोष लगते रहते हैं। इसका नाश होने पर कैवल्य या आत्मा की शुद्ध अवस्था साधक को प्राप्त हो जाती है।

संवर—इसका अर्थ है आस्रव अर्थात् कर्मबन्ध के कारणों को रोकना। मिथ्यात्व को रोकना यानी सुदेव, सुगुरु और सुधर्म में विश्वास करना सम्यग्दर्शन है। **'तत्त्वार्थ सूत्र'** में इसे 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' के रूप में बताया गया है। इसका अर्थ है जैन-दर्शन द्वारा प्रतिपादित ७ तत्त्वों और ६ द्रव्यों में विश्वास। अविरतिरूप आस्रव को रोकने की दो कोटियाँ हैं। प्रथम कोटि श्रावक की है। वह अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का आंशिक रूप में पालन करता है। इसे 'देश-विरति' भी कहा

जाता है। दूसरी कोटि 'सर्वविरति' या मुनि की है। वह महाव्रतों का पूर्णतया पालन करता है। इनके पालन के लिए समिति, गुप्ति, परीषह, अनुप्रेक्षाएँ आदि अनेक बातों का प्रतिपादन किया गया है। आस्रव के अंतिम तीन द्वारों का निरोध इन्हींमें आ जाता है।

निर्जरा—'निर्जरा' शब्द का अर्थ है संचित कर्मों का नाश। इसके लिए १२ प्रकार के तप बताये गये हैं। उनमें से ६ बाह्य हैं, और ६ आभ्यंतर। बाह्य तप का सम्बन्ध मुख्य रूप से शारीरिक अनुशासन से है, और आभ्यंतर तप का मनोनिग्रह से।

मोक्ष—इसका निरूपण पहले किया जा चुका है।

१४ गुणस्थान—जैन-धर्म में आध्यात्मिक उत्थान की भूमिकाओं को १४ गुणस्थानों में विभक्त किया गया है। पहला यानी मिथ्यात्व गुण-स्थान अविकसित अवस्था को प्रकट करता है। दूसरे से लेकर बारहवें तक विकास की विविध अवस्थाओं को, तेरहवाँ और चौदहवाँ पूर्णतया विकसित अवस्था को। विकास या उच्चतर भूमिकाओं को प्राप्त करने के दो मार्ग हैं: उपशम श्रेणि यानी विकारों को दबाते हुए आगे बढ़ना। वहाँ दोष संस्कार के रूप में मौजूद रहते हैं, और अवसर पाकर उभर आते हैं। इससे साधक नीचे गिर जाता है। दूसरा मार्ग क्षपक श्रेणि है। इसमें साधक विकारों का नाश करता हुआ आगे बढ़ता है। उसके पतन की संभावना नहीं रहती।

दूसरा गुणस्थान पतन-काल में प्राप्त होता है। यह मिथ्यात्व प्राप्त करने से पहले की अवस्था है। उस समय संस्कार के रूप में सम्यग्दर्शन का क्षीण प्रभाव बना रहता है। तीसरा गुणस्थान डावाँडोल मनवाले मिश्रदृष्टि जीव का है। वहाँ कभी सम्यक्त्व की ओर झुकाव होता है और कभी मिथ्यात्व की ओर। योग-दर्शन के अनुसार पहले गुणस्थान को 'क्षिप्त' और 'मूढ भूमिका' कहा जा सकता है, तथा तीसरे गुणस्थान को 'विक्षिप्त भूमिका'। चौथा गुणस्थान सम्यग्दृष्टि जीव का है, जो श्रद्धा ठीक होने पर भी व्रतों को अंगीकार नहीं कर पाता। पाँचवाँ देश-विरति श्रावक या गृहस्थ का है। उसके जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय होता है। छठे से लेकर दसवें तक पांच गुणस्थान निवृत्तिप्रधान मुनि की भूमिकाओं को प्रकट करते हैं, जो कषायों को क्षीण करता हुआ उत्तरोत्तर ऊपर चढ़ता जाता है। दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म अत्यन्त क्षीण हो जाता है। ग्यारहवाँ उपशान्त मोहनीय है। वहाँ मोहनीय पूर्णतया दब जाता है, किन्तु दूसरे ही क्षण वह फिर उभर आता है, और साधक नीचे गिरने लगता है। बारहवाँ गुणस्थान क्षीण मोह-नीय है, जो मोहनीय कर्म के पूर्ण क्षय हो जाने पर प्राप्त होता है। इसके बाद साधक ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अंतराय कर्म का भी क्षय कर डालता है, और तेरहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। उस समय वह वीतराग और सर्वज्ञ कहा जाता

है। कषायों का सर्वथा नाश होने पर भी योग अर्थात् मन, वचन और काम क
हलचल बनी रहती है। चौदहवें गुणस्थान में वह भी रुक जाती है। ५ ह्रस्व अक्षर
के उच्चारण में जितना समय लगता है, साधक उतनी ही देर जीवित रहता है
और शरीर का परित्याग कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

महावीर-वाणी

[भगवान् महावीर की वाणी जैन-धर्म के आगमादि ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ बिखरी हुई मिलती है। जैन सिद्धान्तों के विद्वान् शोधक बेचरदास दोशी ने उन अनेक गाथाओं में से २५ विषयों को लेकर एक अच्छा संग्रह किया है, जो 'महावीर-वाणी' नाम से प्रकाशित हुई है।

आचार्य विनोबा ने यह ठीक ही कहा है कि, "बुद्ध का प्रकाश दुनिया में व्यापक होकर फैल गया, और महावीर का प्रकाश भारत के हृदय की गहराई में पैठ गया। बुद्ध ने जहाँ 'मध्यम-मार्ग' सिखाया, तहाँ महावीर ने 'मध्यस्थ दृष्टि' दी। बुद्ध बोध-प्रधान थे, महावीर वीर्यवान् तपस्वी थे।"

'महावीर-वाणी' में से हम कुछ सुन्दर गाथाओं को, उनके भावार्थ के साथ, नीचे दे रहे हैं'—सं०]

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥

[दश० अ० १, गा० १

धर्म सर्वोत्तम मंगल है—
अर्थात् अहिंसा, संयम और तप।
इस धर्म में जिस मनुष्य का मन लगा हुआ है, उसे देव भी नमन करते हैं।

अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू ॥२॥

[उत्तरा० अ० २१, गा० १२

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत हैं,
इनको ग्रहण कर धर्म का आचरण करना चाहिए,
जिसका उपदेश जिन ने दिया है।

पाणे य नाइवाएज्जा, अदिन्नं पि य नायए।
साइयं न मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥३॥

[सू० श्रु० १ अ० ८, गा० १९

किसीभी प्राणी की हिंसा न करना, चाहे वह छोटा हो चाहे बड़ा,
विना दी हुई वस्तु को न लेना,

विश्वासघाती असत्य का न बोलना—
यह अपने-आपको जीत लेनेवाले सज्जनों का धर्म है।

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई॥
एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई॥४॥

[उत्तरा अ० ५, गा० १४ व १५

जैसे कोई मूर्ख गाड़ीवाला जान-मानकर अच्छे मार्ग को छोड़ ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर गाड़ी चलाता, और उसकी धुरी टूट जाने पर शोक करता है, वैसेही मूर्ख मनुष्य धर्म को छोड़, अधर्म को ग्रहण कर, मृत्यु का ग्रास बन जाता है,
और जीवन की धुरी टूट जाने पर शोक करता है।

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥५॥

[दश० अ० ८, गा० ३६

धर्म का आचरण तबतक क्यों न कर लिया जाय,
जबतक कि बुढ़ापा पीड़ा नहीं देता, रोग नहीं बढ़ते,
और इन्द्रियाँ अशक्त नहीं हो जाती हैं;
बाद में कुछ भी होने-जाने का नहीं।

सयं तिवायए पाणे, अदुवऽन्नेहिं घायए।
हणन्तं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो॥६॥

[सूत्र० श्रु० १, अ० १, उ० १ गा० ३

जो स्वयं जीव-हिंसा करता है,
और दूसरों से हिंसा कराता है,
और हिंसकों का समर्थन करता है,
वह अपने लिए वैर को ही बढ़ाता है।

एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसासमयं चेव एयावन्तं वियाणिया॥७॥

[सूत्र० श्रु० १, अ० ११, गा० १०

ज्ञानी होने का सार यही है कि वह किसीभी जीव की हिंसा न करे,
अहिंसा-सिद्धान्त का इतना ही ज्ञान यथार्थ है।
यही अहिंसा का विज्ञान है।

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥८॥

[दश० अ० ६, गा० १२

अपने स्वार्थ के लिए या दूसरों के लिए,
क्रोध से अथवा भय से असत्य वचन न तो स्वयं बोलना चाहिए, और न दूसरों से बुलवाना चाहिए,
जिससे कि औरों को पीड़ा पहुँचे ।

वितहं पि तहामुत्ति, जं गिरं भासए नरो ।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुसं वए ॥६॥

[दश० अ० ७, गा० ५

जो भूल से भी असल में असत्य, पर ऊपर से सत्य जान पड़नेवाली भाषा बोलता है,
वह भी अपने पाप से अलिप्त नहीं रहता ।
फिर उसके पाप का तो कहना ही क्या,
जो जान-मानकर असत्य बोलता है ?

दन्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ॥१०॥

[उत्तरा० अ० १६, गा० २७

विना दी हुई दाँत कुरेदने की सींक भी नहीं लेनी चाहिए ।

जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे,
समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो,
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥११॥

[उत्तरा० अ० ३२, गा० ११

जैसे बहुत अधिक ईंधनवाले वन में पवन से प्रेरणा पाकर दावाग्नि शान्त नहीं होती,
वैसेही मात्रा से अधिक भोजन करनेवाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि भी शान्त नहीं होती ।
किसीको भी अधिक भोजन हितकारी नहीं हो सकता ।

देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति तं ॥१२॥

[उत्तरा० अ० १६, गा० १६

जो मनुष्य कठिन ब्रह्मचर्य का पालन करता है,
उसे ये सभी नमन करते हैं देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ।

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीलि त्ति वुच्चइ ।
अहस्सिरे सयादन्ते, न य मम्ममुदाहरे ॥१३॥
नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीलि त्ति वुच्चइ ॥१४॥

[उत्तरा० अ० ११, गा० ४-५

मनुष्य शिक्षाशील इन आठ कारणों से कहा जाता है—
जो हर समय हँसता नहीं है,
जो निरन्तर इन्द्रियों का निग्रह करता है,
मर्मभेदी वचन जो नहीं बोलता,
जो सुशील है, जो दुराचारी नहीं,
जो रसलोलुप नहीं, सत्य में जो निरत है,
जिसे क्रोध नहीं आता, और जो सदा शान्त रहता है ।

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य ।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥१५॥

[दश० अ० ६ उ० २, गा० २२

शिक्षा-लाभ वही ले सकता है, जिसने ये दो बातें समझ ली हैं,—
अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है, और विनीत को सम्पत्ति ।

असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।
एवं विजाणाहि जणे पमत्ते,
कं नु विहिंसा अजया गहिन्ति ॥१६॥

[उत्तरा० अ० ४, गा० १

जीवन असंस्कृत है—एक बार टूट जाने पर फिर जुड़ता नहीं,
इसलिए एक क्षण भी प्रमाद न करो ।
प्रमाद, हिंसा और असंयम में अनमोल यौवन बिता देने के बाद,
जब बुढ़ापा आयेगा, तब कौन रक्षा करेगा ? किसकी शरण लोगे ?

तिण्णोसि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१७॥

[उत्तरा० अ० १०, गा० ३३-३४

अरे, तू महान् संसार-सागर को तैर चुका है,
अब किनारे आकर क्यों अटक रहा है ?
जितनी भी हो सके जल्दी कर उस पार पहुंचने की ।
गौतम ! एक क्षण भी प्रमाद न कर ।

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥१८॥

[उत्तरा० अ० ३२, गा० ३२-३४

शोकरहित असल में वही है, जिसे रूप से विराग हो गया है।
संसार में रहते हुए भी दुःख के प्रवाह से वह अलिप्त रहता है,
जैसे जल से कमल का पत्ता ।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥१९॥

[दश० अ० ८, गा० ३८

प्रीति का नाश क्रोध करता है,
विनय का नाश करता है मान,
मित्रता का नाश कपट करता है
और लोभ से सारे ही सद्गुण नष्ट हो जाते हैं।

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥२०॥

[दश० अ० ८, गा० ३९

क्रोध को शान्ति से मारना चाहिए,
अभिमान को नम्रता से जीतना चाहिए,
सरलता से कपट को जीत लेना चाहिए,
और संतोष से लोभ को वश में करना चाहिए।

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥२१॥

[उत्तरा० अ० ८, गा० १६-१२

ज्यों-ज्यों लाभ होता है, लोभ भी त्यों-त्यों बढ़ता जाता है,
पहले केवल दो माशे सुवर्ण की आवश्यकता थी,
पीछे करोड़ों से भी वह पूरी न हो सकी ।

सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ॥२०॥

चाँदी और सोने के कैलाश-समान अनगिनती पर्वत भी पास में हों,
तोभी लोभी मनुष्य को वे तृप्त नहीं कर सकते;

तृष्णा आकाश के समान अनन्त है।

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥२१॥

[उत्तरा० अ० १३, गा० ३१

काल तेज़ी से दौड़ता चला जा रहा है,
एक-एक रात बीतती जा रही है।
विषय-भोग सदा ठहरनेवाले नहीं,
विलास के साधन न रहने पर भोग मनुष्य को उसी तरह छोड़ देते हैं,
जैसे फलहीन वृक्ष को पक्षी।

वेया अहीया न भवन्ति ताणं,
भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं,
को नाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥२१॥

[उत्तरा० अ० १४, गा० १२

पढ़े हुए वेद बचा नहीं सकते,
भोजन कराये हुए ब्राह्मण अँधेरे से अँधेरे में ही ले जाते हैं,
जन्म दिये हुए पुत्र भी रक्षा नहीं कर सकते,
तब कौन समझदार इनपर भरोसा रखेगा?

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥२२॥

[उत्तरा० अ० १३, गा० २३

पापी के दुःख को न तो जाति-बिरादरी के लोग बँटा सकते हैं,
न उसके मित्र, न पुत्र और न भाई-बन्धु ही।
जब सिर पर दुःख आ पड़ता है, तब अकेला ही वह उसे भोगता है।
कर्म अपने कर्त्ता के ही पीछे लगते हैं, दूसरे किसीके पीछे नहीं।

जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए।
तस्स वि संजमो सेयो अदिन्तस्स वि किंचण ॥२३॥

[उत्तरा० अ० ९, गा० ४०

जो हर महीने लाखों गो-दान करता है, उससे कुछ भी न देनेवाला
वह मनुष्य कहीं श्रेष्ठ है, जिसका आचरण संयमयुक्त है।

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा,
विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।
सज्झायगन्तनिसेवणा य,
सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य ॥२४॥

निःश्रेयस् का मार्ग है यह,
सद्‌गुरु तथा अनुभवी वृद्धों की सेवा करना और मूर्खों की संगति से दूर रहना,
एकचित्त से अच्छे शास्त्रों का अध्ययन तथा अभ्यास करना,
और चिन्तन द्वारा उनकी गहराई तक पहुँचना,
एवं अन्तर में धृतिरूपी अचल शान्ति का लाभ लेना ।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥२५॥

[उत्तरा० अ० २०, गा० ३७

अपने दुःखों और सुखों का कर्त्ता और भोक्ता यह आत्मा ही है—
सुमार्ग पर चलनेवाला आत्मा अपना मित्र है,
और कुमार्ग पर ले जानेवाला आत्मा अपना शत्रु है ।

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥२६॥

[उत्तरा० अ० १, गा० १५

दमन अपने-आपका ही करना चाहिए,
यह निश्चय ही कठिन है;
अपने-आपका दमन करनेवाला इस लोक में तथा परलोक में भी सुख पाता है ।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥२७॥

[उत्तरा० अ० ९, गा० ३४

जो दुर्जय युद्ध में लाखों योद्धाओं को जीतता है,
यदि अपने आपको वह जीतले,
तो यह उसकी सर्वोत्तम विजय होगी ।

अवण्णवायं च परंमुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं ।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥२८॥

[दश० अ० ३० गा० ९

पूज्य कौन है ?
जो पीठ-पीछे किसीकी निन्दा नहीं करता;
जो सामने भी ऐसी बातें नहीं बकता, जिनसे कि कलह बढ़े,
और जो ऐसी भाषा नहीं बोलता, जिससे कि दूसरों को पीड़ा पहुँचे।

तहेव डहरं च महल्लगं वा,
इत्थी पुमं पव्वइयं गिहिं वा।
नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा,
थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥२६॥ [दश० अ० उ० गा० ७

पूज्य कौन है ?
जो किसीका भी अपमान या तिरस्कार नहीं करता,
चाहे वह बालक हो, वृद्ध हो, स्त्री या पुरुष हो, साधु हो या गृहस्थ।

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण न तावसो ॥३०॥

कोई श्रमण नहीं हो जाता मात्र सिर मुंड़ा लेने से,
केवल ओ३म् का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता,
न वन में रहने से कोई मुनि हो जाता है,
कुशा के बने वस्त्र पहन लेने से ही कोई तपस्वी नहीं हो जाता है।

समयाए समणो होइ, बंभचरेण बंभणो।
नाणेण मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥३१॥

श्रमण होता है समता की भावना से,
और ब्राह्मण होता है ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करने से।
मुनि होता है ज्ञान प्राप्त करने से,
और तपस्वी वह, जिसने तप की साधना की है।

खामेमि सव्वे जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ ॥३२॥
[पंचप्रति० वंदित्तु सू० गा० ४६

सभी जीवों से क्षमा माँगता हूँ मैं, और वे सभी मुझे क्षमा करदें,
सभीके साथ मेरी मैत्री है, वैर मेरा किसीसे भी नहीं।

जं जं मणेण बद्धं जं जं वायाए भासिअं पावं।
जं जं काएण कयं मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥३३॥
[पंचप्रति० संथा० अंतिम गाथा

मन से जो पाप मैंने किये हैं, और वाणी से भी जो किये हैं,
और काया से भी मुझसे जो पाप हुए हैं,
वे सारे ही मिथ्या हो जायें।

बौद्ध-दर्शन

जैन अपने उपास्य को 'जिन' कहते हैं। जिन का अर्थ यह है कि जिसने राग-द्वेष आदि मन की दुर्बलताओं को जीत लिया है। इसके विपरीत, बौद्ध अपने उपास्य को 'बुद्ध' कहते हैं, जिसका अर्थ है ज्ञानी, जिसे दुनिया की असलीयत का पता लग गया। इन शब्दों से दोनों परम्पराओं के लक्ष्य-भेद का पता चल जाता है। जैन-धर्म जहाँ मोह अर्थात् राग, द्वेष आदि को जीतने पर ज़ोर देता है, तहाँ बौद्ध-धर्म, प्रज्ञा अर्थात् यथार्थ ज्ञान पर। जैन-साधना में ज्ञान का विशेष महत्त्व नहीं है और बौद्ध-साधना में क्रिया का।

भगवान् बुद्ध महावीर के समकालीन थे। सिंहली परम्परा के अनुसार बुद्ध का जन्म ई० पू० ६२४ में हुआ, और निर्वाण ई० पू० ५४४ में। दोनों का विहार-क्षेत्र भी प्राय: एकही था। राजगृह और वैशाली दोनों के ही प्रमुख केन्द्र थे। अनुयायियों मे परस्पर छींटाकशी भी चलती रहती थी। किन्तु ऐसे निर्देश नहीं मिलते, जहाँ स्वयं महावीर ने बुद्ध के विरुद्ध या स्वयं बुद्ध ने महावीर के विरुद्ध कुछ कहा हो।

बौद्धों का आगम-साहित्य—बौद्ध-धर्म का प्राचीन साहित्य त्रिपिटक अर्थात् तीन पिटारों में विभक्त है। वे हैं—१ सुत्तपिटक, २ विनयपिटक, और ३ अभिधम्म-पिटक।

सुत्तपिटक में बुद्ध के मूल उपदेश हैं; विनयपिटक में भिक्षुओं की चर्या तथा अभिधम्मपिटक में दार्शनिक सिद्धान्त, जिसका विकास बाद में हुआ। अत: हीनयानी बौद्ध इसे प्रमाण नहीं मानते।

अभिधम्मपिटक में नीचेलिखे ग्रन्थ हैं :

(१) **धम्मसंगणि**—धर्म अर्थात् रूप, रस, गंध आदि प्रतीयमान गुणों का वर्गीकरण और व्याख्या।

(२) **विभंग**—उन्हींका विस्तार।

(३) **धातुकथा**—धातु अर्थात् विश्व के मूल तत्वों की व्याख्या।

(४) **पुग्गलपञ्जत्ति**—पुद्गल अर्थात् आत्मा या व्यक्तित्व की व्याख्या। इसमें गुणों के आधार पर मनुष्यों का वर्गीकरण भी है।

(५) **कथावत्थु**—मत-मतान्तरों का खंडन-मंडन।

(६) **यमक**—कथा-वस्तु में छूटे हुए विषयों की चर्चा।

(७) **पट्ठान या महत्त्वकरण**—२४ प्रकार के कार्य-कारण-भाव तथा निवारण का स्वरूप।

पिटकेतर ग्रन्थ

मिलिन्द पञ्हो (मिलिन्द प्रश्न) यूनान के सम्राट् मिनियण्डेर और बौद्ध आचा
नागसेन के प्रश्नोत्तर, जो स्यालकोट (पंजाब) में हुए थे।

विसुद्धिमग्गो (विशुद्धि मार्ग)—यह बौद्ध साधना और आचार का महत्त्व
पूर्ण ग्रंथ है। इसकी रचना आचार्य बुद्धघोष (४०० ईस्वी) ने की थी।

अभिधम्मत्थसंगहो (अभिधर्मार्थ संग्रह)—यह अभिधर्म पिटक का संक्षेप है
यह रचना अनिरुद्ध आचार्य (१०००-१२००) ने की थी।

दार्शनिक चर्चा की उपेक्षा—बुद्ध का मुख्य बल जीवन को सुधारने प
था। तृष्णा, मोह आदि जिन कारणों से मनुष्य दुःखी होता है, उनका विश्लेषण औ

बुद्ध के उपदेश

उनसे ऊपर उठने का उपाय बताना ही उनका लक्ष्य था
जब कोई व्यक्ति उनसे आत्मा, परलोक, विश्व का मू
कारण आदि दार्शनिक बातों के विषय में पूछता, तो वे इस चर्चा को व्यर्थ कहक
टाल देते थे। उनका कहना था कि जिस व्यक्ति की छाती में तीर घुसा हुआ
और रक्त बह रहा है, उसका पहला काम तीर को बाहर निकालना है। 'तीर' क
बनानेवाला कौन है, उसे किसने फेंका, वह किस चीज़ का बना हुआ है इत्यादि प्रश्
की चर्चा में यदि वह पड़ता है, तो मूर्ख है।

बुद्ध ने दस बातों को 'अव्याकृत' बताया है, अर्थात् इनके विषय में को
निश्चित बात नहीं कही जा सकती, इनकी चर्चा को व्यर्थ बताया है।

(१) क्या विश्व अनादि है ?
(२) क्या विश्व सादि है ?
(३) क्या वह अनन्त है ?
(४) क्या वह सान्त है ?
(५) क्या शरीर और आत्मा एक हैं ?
(६) क्या वे परस्पर-भिन्न हैं ?
(७) क्या बुद्ध मृत्यु के पश्चात् रहते हैं ?
(८) क्या वे नहीं रहते ?
(९) क्या वे रहते हैं, और नहीं भी रहते ?
(१०) क्या वे न रहते हैं, और न नहीं रहते ?

'संयुत्त निकाय' में इन प्रश्नों को 'अव्याकृत' कहा गया है, अर्थात् इन
संबंध में निर्णय संभव नहीं है। फिरभी बौद्ध दार्शनिकों ने इन बातों को लेक
पर्याप्त चर्चा की है।

चार आर्य-सत्य—बुद्ध का मुख्य लक्ष्य दुःख-निवृत्ति है। उन्होंने इस प्रश्
को चार भागों में विभक्त किया है। इन्हींको चार आर्य-सत्य कहा जाता है :

(१) दुःख—जीवन दुःखों से भरा है। जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, प्रिय-वियोग, अप्रिय की प्राप्ति आदि सभी दुःख हैं।

(२) **दुःख-समुदय**—दुःख किसी कारण से उत्पन्न होते हैं।

(३) **दुःख-निरोध**—उनका अन्त हो सकता है।

(४) **दुःख-निरोध-मार्ग**—उनके अन्त का उपाय है।

जीवन में प्रगति के लिए इन चारों बातों को मानना आवश्यक है। जो व्यक्ति दुःख का अस्तित्व ही नहीं मानता, वह उनका अन्त करने के लिए प्रयत्न क्यों करेगा ? इसी प्रकार यदि दुःख, बिनाही कारण के, उत्पन्न हो जाते हैं, तो उनका अन्त होना असम्भव है। साधना के लिए यह विश्वास भी आवश्यक है कि दुःखों का अन्त हो सकता है, और उसका उपाय है।

द्वादश आयतन—दुःख का कारण बताने के लिए बौद्ध धर्म में एक चक्र का प्रतिपादन किया गया है, जिसमें बारह आरे अर्थात् बातें हैं। एक बात से दूसरी बात उत्पन्न होती है और चक्र चलता रहता है।

(१) जरा-मरण आदि दुःख तभी होते हैं, जब (२) जाति अर्थात् जन्म होता है, जाति तब होती है, जब (३) भव अर्थात् उसे ग्रहण करने की इच्छा हो। यह इच्छा (४) उपादान अर्थात् आसक्ति के कारण होती है। उपादान का कारण है (५) तृष्णा अर्थात् बाह्य विषयों की लालसा। तृष्णा वेदना (६) अर्थात् अनुकूल या प्रतिकूल की अनुभूति से उत्पन्न होती है। वेदना स्पर्श (७) अर्थात् इन्द्रिय और विषयों के परस्पर-सम्बन्ध से उत्पन्न होती है। स्पर्श का कारण है षडायतन (८) अर्थात् इन्द्रियाँ। षडायतन का आधार नाम-रूप (९) अर्थात् शरीर और चेतना का गर्भ के रूप में प्रथम सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध विज्ञान (१०) अर्थात् मूल अनुभूति के कारण होता है। विज्ञान का कारण पूर्वजन्म के संस्कार (११) हैं और संस्कारों का कारण अविद्या (१२) है।

वह क्रम सर्वत्र एक-सा नहीं है, बुद्ध ने अपने उपदेशों में बारबार इनका उल्लेख किया है। इनको निदान (संसार का कारण) और भव-चक्र शब्द से भी प्रकट किया है। श्रद्धालु बौद्ध बारह मणियों की माला रखते हैं, और उसे घुमाते रहते हैं। वह इसी चक्र का प्रतीक है।

वर्तमान जीवन अतीत जीवन का कार्य है, और भावी जीवन का कारण। वर्तमान व्याख्या के लिए यह बताना आवश्यक है कि यह भले या बुरे अस्तित्व में कैसे आया और इसका भविष्य क्या है। इस दृष्टि से द्वादश आयतन को तीन भागों में विभक्त किया जाता है, कुछ बातों ने वर्तमान जीवन को उत्पन्न किया, कुछ वर्तमान से सम्बन्ध रखती हैं और कुछ उसके भावी प्रभाव को प्रकट करती हैं।

वे इस प्रकार हैं :

(क) अतीत जीवन

(१) अविद्या—अज्ञान; तथ्य को अतथ्य जानना

(२) संस्कार—पूर्वजन्म के कर्म और अनुभव से उत्पन्न सूक्ष्म वासनामय वस्तु

(ख) वर्तमान जीवन

(३) विज्ञान—चैतन्य

(४) नाम-रूप—गर्भ का शरीर और मस्तिष्क

(५) षडायतन—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन

(६) स्पर्श—इन्द्रियों का विषय के साथ संपर्क

(७) वेदना—इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न अनुभव

(८) तृष्णा—तीव्र इच्छा या काम

(९) उपादान—आसक्ति

(१०) भव—जन्म-ग्रहण करने की इच्छा

(ग) भावी जीवन

(११) जाति—पुनर्जन्म

(१२) जरा-मरण—बुढ़ापा, मृत्यु आदि दुःख

दुःख-समुदय—दूसरा आर्य-सत्य है

वर्तमान प्राणी-विज्ञान मानता है कि जीवन एक आकस्मिक घटना है। प्रकृति के हलचल के कारण पानी, हवा, पृथिवी, अग्नि, आदि कुछ पदार्थ इकट्ठे हो गये और लीलन-फूलन वनस्पतियों, तथा कीड़े-मकोड़ों से लेकर मनुष्य तक प्राणियों की उत्पत्ति होती चली गई। किन्तु भारतीय दर्शनों की यह मान्यता है कि जीवन के मूल में जो एक अभिलाषा काम करती है, उसीको तृष्णा, मोह, अहंकार आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है। द्वादशायतन में तृष्णा के इस विकास का वैज्ञानिक प्रतिपादन मिलता है।

दुःख-निरोध—तीसरा आर्य-सत्य दुःख-निरोध है। जब हमने यह जान लिया कि दुःख का कोई कारण है, तो उसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि कारण के न रहने पर कार्य भी नहीं होगा। अतः दुःख का अन्त किया जा सकता है।

निर्वाण—दुःख का सदा के लिए मिट जाना ही निर्वाण है। इसका शब्दार्थ है बुझ जाना। दुःख या जीवन दीपक की ज्वाला के समान है। जबतक तेल और बत्ती रहते हैं, वह जलती रहती है, और उनके समाप्त होने पर अपने-आप बुझ जाती है। इसी प्रकार तृष्णा आदि कारण न रहने पर जीवन या संसार अपने-आप समाप्त हो जाता है। दुःख-निरोध या निर्वाण एक प्रकार की मानसिक स्थिति है, और उसे इसी जन्म में प्राप्त किया जा सकता है।

दुःख-निरोध-मार्ग—चौथा आर्य-सत्य दुःख-निरोध का मार्ग है। इसके लिए बौद्ध-धर्म में आठ बातें बताई गई हैं। इन्हें अष्टांगिक मार्ग कहा जाता है—

(१) **सम्यग् दृष्टि**—चार आर्य-सत्यों का ज्ञान
(२) **सम्यक्संकल्प**—दृढ़ निश्चय
(३) **सम्यग्वाक्**—सत्य बोलना, मिथ्या का परित्याग
(४) **सम्यक्कर्मान्त**—सम्यक् चारित्र्य
(५) **सम्यक्आजीव**—शुद्ध आजीविका
(६) **सम्यग्व्यायाम**—सही पुरुषार्थ या उद्यम
(७) **सम्यक्स्मृति**—लोभ आदि चित्त-संताप से अलग रहना
(८) **सम्यक्समाधि**—चित्त की एकाग्रता

बौद्ध-दर्शन में आचार को तीन भागों में विभक्त किया गया है—शील, समाधि और प्रज्ञा। शील का अर्थ है व्यवहार-शुद्धि। अहिंसा आदि शील में आते हैं। समाधि का अर्थ है मन की एकाग्रता, और प्रज्ञा का अर्थ है सत्य का साक्षात्कार।

चार मूल सिद्धान्त—बौद्ध-दर्शन के चार मूल सिद्धान्त हैं, जिनका प्रतिपादन बुद्ध ने स्वयं किया था, और उनका उल्लेख बार-बार आया है। इन्हींके आधार पर उत्तरकालीन विकास हुआ है।

(१) **प्रतीत्यसमुत्पाद**—बुद्ध ने कहा है कि जो व्यक्ति प्रतीत्यसमुत्पाद को समझता है, वह धर्म को समझता है; जो इसे नहीं जानता, वह धर्म को नहीं जानता। अन्य भारतीय दर्शनों में प्रतीत्यसमुत्पाद के स्थान पर कार्य-कारण-भाव है। वहाँ यह माना गया है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु का कारण होती है। मिट्टी घड़े का कारण है, और आग धुएँ का। उन दर्शनों में वस्तु या द्रव्य को मुख्यता दी गई है, और प्रतीत होनेवाले रूप, रस आदि उसके गुण माने गये हैं। किन्तु बौद्ध-दर्शन द्रव्य को नहीं मानता। उसकी दृष्टि में प्रतीत होनेवाला जगत् धर्ममात्र है अर्थात् रूप, रस आदि तो हैं, किन्तु उनका आधार कोई द्रव्य नहीं है। इसी सिद्धान्त के फलस्वरूप कार्य-कारण-भाव का रूप भी बदल गया। यहाँ कोई ऐसा कारण या द्रव्य नहीं है, जो विविध अवस्थाओं में अनुस्यूत हो और उन्हें उत्पन्न करता हो। यहाँ तो केवल अवस्थाएँ हैं और वे एक के पश्चात् दूसरी आती रहती हैं। वर्तमान अवस्था अतीत अवस्था का सहारा लेकर अस्तित्व में आई और नई व्यवस्था का सहारा बनकर लुप्त हो गई। इसीका नाम 'प्रतीत्यसमुत्पाद' है। इस शृंखला का न कहीं आदि है, और न अन्त। बिना पूर्व अवस्था के नई अवस्था अस्तित्व में नहीं आती, अतः कहीं आदि नहीं है। वर्तमान अवस्थाओं के पश्चात् नई अवस्था का आना भी अनिवार्य है, अतः कहीं अन्त नहीं होता। द्वादशायतन प्रतीत्यसमुत्पाद का ही विस्तार है।

(२) **कर्मवाद**—कर्मवाद प्रतीत्यसमुत्पाद का ही पूरक है। इसका अर्थ

है हम जो कुछ भोगते हैं, वह हमारे ही कर्म का स्वाभाविक फल है। कोई बाह्य सत्ता उसपर नियंत्रण नहीं करती।

दुःखों का अन्त करने के लिए बुद्ध ने कहा है कि 'अपने उद्धारक स्वयं बनो, जबतक दुःख के कारणों का नाश नहीं होता, कोई तुम्हारा उद्धार नहीं कर सकता।' बौद्ध-धर्म की हीनयान शाखा इस सिद्धान्त पर दृढ़ रही, किन्तु महायान ने बाह्य प्रभाव के कारण बुद्ध को उद्धारक मान लिया।

(३) नश्वरता अथवा क्षणभंगवाद—तीसरा सिद्धान्त है 'नश्वरता'। बुद्ध की मान्यता थी कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। कोई वस्तु स्थायी नहीं रहती, प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है और इसके पीछे कोई शाश्वत सत्ता नहीं है। इसी बात को लेकर 'क्षण-भंगवाद' का विकास हुआ, और यह माना जाने लगा कि परिवर्तन एक शाश्वत सिद्धान्त है, प्रत्येक वस्तु निरन्तर बदल रही है। अन्य दर्शनों ने वस्तु के तीन क्षण माने हैं :

(अ) उत्पत्ति-क्षण, (इ) स्थिति-क्षण, और (उ) नाश-क्षण। यास्क ने इसी आधार पर छह भाव-विकारों का प्रतिपादन किया है। किन्तु बौद्ध-धर्म की दृष्टि में दो ही क्षण हैं, उत्पत्ति और नाश। वह स्थिति-क्षण को नहीं मानता।

(४) अनात्मवाद—अन्य दर्शनों ने हमारे शरीर में आत्मा नाम का शाश्वत तत्त्व स्वीकार किया है, जो जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त एक शरीर में बना रहता है और उसके पश्चात् दूसरा शरीर ग्रहण कर लेता है। किन्तु बौद्ध-दर्शन इस प्रकार के किसी शाश्वत तत्त्व को नहीं मानता। उसका कथन है कि हमारा व्यक्तित्व कुछ मानसिक धाराओं का प्रवाहमात्र है, कभी ज्ञान होता है, कभी इच्छा होती है, कभी सुख-दुःख की अनुभूति होती है। यह प्रवाह तबतक चलता रहता है, जबतक निर्वाण नहीं होता। इसीका नाम 'अनात्मवाद' है।

बुद्ध-निर्वाण के कुछ काल के पश्चात् बौद्धों में दो वर्ग हो गये। एक ओर महासांघिक थे, और दूसरी ओर स्थविर। महासांघिक मुख्यतया पूर्व के रहनेवाले थे, और स्थविर पश्चिम के। महासांघिक बुद्ध के मूल उपदेशों के अतिरिक्त व्याख्याओं को भी प्रमाण मानते थे, किन्तु स्थविर केवल मूल उपदेश अर्थात् सूत्रों को। धीरे-धीरे महासांघिकों में भक्तिवाद का प्रभाव बढ़ा, और बुद्ध को ईश्वर के समान वे किसी शाश्वत शक्ति का अवतार मानने लगे। वैष्णवों के वैकुंठ के समान उन्होंने भी सुखावती व्यूह की कल्पना की। बुद्ध के वैयक्तिक जीवन में भी अनेक प्रकार के चमत्कारों का मिश्रण हो गया। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व मानवीय भूमिका से उठकर अतिमानव की भूमिका पर पहुँच गया। वे आदर्श के स्थान पर वैष्णव अवतारों के समान रक्षक और त्राता बन गये। दूसरी ओर, 'स्थविरवाद' प्राचीन आदर्शों पर स्थिर रहा। इन्हीं दो परम्पराओं ने भविष्य में जाकर महायान और हीनयान का

हीनयान और महायान

रूप ले लिया। महायान में बुद्ध-निर्वाण की योग्यता प्राप्त कर लेने पर भी उसे स्वीकार नहीं करते। उनके मन में महाकरुणा का उदय होता है। वे सोचते हैं कि जबतक संसार के जीव कष्ट भोग रहे हैं, तबतक मैं अकेला निर्वाण कैसे स्वीकार करूँ? वे दूसरों के दुःख को अपना दुःख मान लेते हैं, और उसे दूर करने के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं। इसीको 'बोधिसत्व' कहा जाता है। दूसरी ओर, हीनयान में भिक्षु अपने उद्धार के लिए प्रयत्न करता है, और योग्य साधना के पश्चात् निर्वाण प्राप्त कर लेता है। यह मार्ग छोटा था, इसलिए हीनयान कहा गया और बोधिसत्व को महायान। हीनयान में बोधि प्राप्त करने के दो मार्ग हैं—श्रवकयान अर्थात् दूसरे से उपदेश सुनकर ज्ञान प्राप्त करना, और अर्हत्यान अर्थात् निजी साधना द्वारा ज्ञान प्राप्त करना। इस प्रकार हीनयान और महायान में प्रथम भेद यह है कि हीनयानी अपनेही निर्वाण के लिए प्रयत्नशील होता है, और महायानी दूसरों के निर्वाण के लिए।

हीनयान में साधना की ६ भूमियाँ हैं, जिनमें क्लेश अर्थात् चित्त की मलिनताओं को दूर किया जाता है। इन्हींको 'क्लेशावरण' कहते हैं। महायान में १० भूमियाँ मानी गई हैं। अंतिम ४ भूमियों का चित्तशुद्धि के साथ कोई संबंध नहीं है। उनमें उन गुणों तथा शक्तियों का विकास किया जाता है, जिसकी प्रचारक को आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण के रूप में, सर्वज्ञता, जिससे वह सभी के प्रश्नों का उत्तर दे सके। उपद्रव-सहिष्णुता, धारणा अतिशय इत्यादि। इन्हें प्राप्त करने के लिए क्लेशावरण के अतिरिक्त ज्ञेयावरण को भी दूर करना होता है।

दार्शनिक मान्यता के रूप में हीनयान ने पुद्गल नैरात्म्य का प्रतिपादन किया। यहाँ पुद्गल का अर्थ है धर्मी। हमें अपने ज्ञान में रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि धर्म प्रतीत होते हैं। बहुत-से दर्शनों ने इन धर्मों का आधारभूत कोई द्रव्य या धर्मी माना है। किन्तु बौद्धों का कथन है कि धर्मी या द्रव्य नाम का कोई पदार्थ नहीं है। संसार में केवल धर्मों का ही अस्तित्व है। इस सिद्धान्त को पुद्गल नैरात्म्य या धर्ममात्रता कहते हैं। महायान एक क़दम आगे बढ़ गया। उसने कहा कि धर्म भी वास्तविक नहीं हैं, केवल उनकी प्रतीति होती है। इस प्रकार उसने पुद्गल नैरात्म्य के साथ धर्म नैरात्म्य का भी प्रतिपादन किया।

बोधिचर्या का प्रारम्भ बोधि-चित्त से होता है। इसका अर्थ है मन में दूसरे प्राणियों के उद्धार का निश्चय। यह निश्चय होने पर बोधिसत्व सम्यक् संबोधि के लिए पुनः साधना प्रारम्भ कर देता है। सम्यक् संबोधि का अर्थ है पूर्ण बुद्धत्व की प्राप्ति, जो अंतिम ४ भूमियाँ प्राप्त कर लेने पर होती है।

बोधिचर्या

बोधिचित्त का उत्पाद करने के लिए सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान है। लोकोत्तर पूजा के ७ अंग इस प्रकार हैं—वंदना, पूजना, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, बोधिचित्तोत्पाद और पारिणामना।

महायान की मुख्य दो शाखाएँ हैं—(१) माध्यमिक—इसके प्रवर्त्तक नागार्जुन (२०० ईस्वी) माने जाते हैं, और (२) योगाचार—इसके प्रवर्त्तक मैत्रेय हैं। आगे चलकर इसमें मंत्रयान और वज्रयान का विकास हुआ। परिणाम-स्वरूप विशाल तन्त्र-साहित्य अस्तित्व में आया।

ऊपर कहा गया है कि भगवान् बुद्ध दार्शनिक चर्चा में नहीं पड़े, परिणाम-स्वरूप बौद्ध-परम्परा कुछ दिनोंतक साधना-प्रधान रही। किन्तु, अन्य दर्शनों के साथ सम्पर्क होने पर बौद्ध विद्वानों में भी यही जिज्ञासा हुई कि बुद्ध की विश्व के सम्बन्ध में क्या मान्यता थी। उनके वचनों की विविध व्याख्याएँ की गईं और भारत तथा विदेशों में अनेक सम्प्रदाय खड़े हो गये। कोई विशेष प्रकार की साधना-पद्धति को लेकर खड़ा हुआ, और कोई दार्शनिक मान्यताओं को। यदि छोटे-छोटे मतभेदों को छोड़ दिया जाय, तबभी उनकी संख्या तीस से अधिक है।

दार्शनिक शाखाएँ

भारतीय दार्शनिक चर्चा में मुख्यतया चार मान्यताओं का उल्लेख आता है। उनमें परस्पर-भेद के मुख्यरूप से दो आधार हैं—(१) विश्व का स्वरूप, और (२) उसे जानने का उपाय। स्वरूप के विषय में प्रथम मान्यता यह है कि जड़ और चेतन अर्थात् ज्ञेय और ज्ञाता कोई वास्तविक नहीं हैं। इसे 'शून्यवाद' कहा गया। इसके प्रवर्त्तक नागार्जुन थे। मध्यम मार्ग पर बल देने के कारण इसे माध्यमिक भी कहा जाता है। दूसरी मान्यता योगाचार की है। उसका कथन है कि ज्ञान या प्रतीति तो सत्य है, किन्तु ज्ञेय का कोई अस्तित्व नहीं है। ज्ञान ही ज्ञेय के रूप में प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक मैत्रेयनाथ थे। इसे 'विज्ञप्तिमात्रता' तथा 'ज्ञानाद्वैत' भी कहा जाता है। तीसरी शाखा ज्ञान और ज्ञेय दोनों को सत्य मानती है, किन्तु उसका कथन है कि बाह्य जगत् को प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जाना जा सकता। वह केवल अनुमान का विषय है। इस शाखा का नाम 'सौत्रान्तिक' है। चौथी मान्यता है कि ज्ञान और ज्ञेय दोनों का प्रत्यक्ष हो सकता है। इस मत को 'वैभाषिक' कहा जाता है। अब हम इन चारों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

माध्यमिक या शून्यवाद—इसके संस्थापक नागार्जुन (२०० ई०) माने जाते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक कवि अश्वघोष भी इसीके समर्थक थे।

साहित्य—शून्यवाद का मूल ग्रन्थ 'प्रज्ञापारमिता' (पंचविंशतिसाहस्रिका) है। इसमें पच्चीस प्रसार की शून्यताओं का निरूपण है। नागार्जुन ने 'मूल माध्यमिक कारिका', इसपर 'अकुतोभया' नामक टीका, 'विग्रहव्यावर्त्तिनी', 'सुहृल्लेख' आदि ग्रन्थ लिखे। आर्यदेव (२००ई०) ने 'चतुःशतक', 'चित्तविशुद्धि-प्रकरण' तथा 'हस्तबालप्रकरण' की रचना की। बुद्धिपालित (७०० ई०) ने माध्यमिक कारिका पर टीका लिखी। भाव विवेक (७०० ई०) ने माध्यमिक कारिका-व्याख्या 'हस्तरत्न' तथा 'मध्यमार्थ संग्रह' रचे। चन्द्रकीर्ति (७०० ई०) ने

माध्यमिक कारिका पर 'प्रसन्नपदा' नामक टीका लिखी। उनके अन्य ग्रन्थ हैं 'माध्यमिकावतार' तथा 'चतुःशतक टीका'। शान्तिदेव (७०० ई०) ने शिक्षा-समुच्चय और 'बोधिचर्यावतार' की रचना की।

साधारणतया माना जाता है कि शून्यवाद शून्य अर्थात् अभाव का प्रतिपादक है। यह बात ठीक नहीं है। वह जिस प्रकार भाव या अस्तित्व का खण्डन करता है, उसी प्रकार अभाव या नास्तित्व का भी खण्डन करता है। उसकी दृष्टि में जगत् के मूल तत्त्व को भाव या अभाव किसीभी शब्द से प्रकट नहीं किया जा सकता। नागार्जुन ने अपनी माध्यमिक कारिका में इसके चार विकल्प किये हैं। विश्व भाव का सद्रूप नहीं है, क्योंकि इसका अर्थ होता है अपने-आपमें स्वतन्त्र सत्ता। किन्तु कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो बिना दूसरे की अपेक्षा के सत्य हो। विश्व को साधारणतया तीन भागों में विभक्त किया जाता है—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। तीनोंका अस्तित्व परस्पर-सापेक्ष है। ज्ञेय के विना ज्ञाता का कुछ अर्थ नहीं है, और इनके बिना ज्ञान शब्दमात्र है। इसी प्रकार ज्ञाता और ज्ञान के विना ज्ञेय का कुछ अर्थ नहीं है। मध्व ने अपने 'सर्वदर्शन-संग्रह' में एक अन्य उदाहरण दिया है। हम माता, पिता, पुत्र आदि शब्दों का व्यवहार करते हैं, किन्तु पुत्र के बिना माता और पिता की व्याख्या नहीं हो सकती। इसी प्रकार माता-पिता के विना पुत्र की। अतः विश्व में प्रतीत होनेवाले सभी पदार्थ अपने-आपमें कुछ नहीं हैं, अर्थात् कोई वस्तु निरपेक्ष सत्य नहीं है। इसी प्रकार वह आकाश-कुसुम के समान असत् भी नहीं है, क्योंकि दिखाई देते हैं, उन्हें 'सदसत्' भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि परस्पर-विरोधी होने के कारण दोनों एकसाथ नहीं रह सकते, और अनिर्वचनीय भी नहीं हैं। शून्यवादी अपने तत्व को इन चारों कोटियों से परे मानते हैं।

इस सिद्धान्त का दूसरा नाम 'वैनाशिक' या 'सर्ववैनाशिक' है। ऊपर बताया गया है कि वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक ज्ञान एवं ज्ञेय दोनों को सत्य मानते हैं, इसलिए वह 'सर्वास्तिवादी' कहे जाते हैं। योगाचार ज्ञान को सत्य मानता है, और ज्ञेय को मिथ्या। इस सिद्धान्त को 'विज्ञप्तिमात्रता' कहा जाता है। माध्यमिक ज्ञान तथा ज्ञेय दोनों को मिथ्या अर्थात् सापेक्ष मानता है। सम्भवतः इसीलिए यह नाम पड़ गया।

सापेक्षवाद का यह सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद का ही विकास है। अन्य बौद्धों ने उसे केवल कार्य-कारण-भाव के क्षेत्र में स्वीकार किया था, किन्तु शून्यवाद विश्व का अस्तित्व ही इस आधार पर मानता है। जैन-दर्शन भी स्याद्वाद या सापेक्षतावाद का समर्थक है। वहाँ भी प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है। किन्तु उसने इसे विधिरूप में प्रकट किया, और सभी अपेक्षाओं को सत्य मान लिया। शून्यवाद ने उन्हें मिथ्या कहकर निषेध पर बल दिया, और वस्तु को अपने-आपमें शून्य बताया। जैन-दर्शन सत् और असत् में परस्पर विरोध नहीं मानता। अपेक्षावाद के आधार

पर दोनों की एकसाथ सत्ता का समर्थन करता है। अद्वैत वेदान्त ब्रह्म को सत् और बाह्य जगत् को अनिर्वचनीय मानता है। इसी आधार पर प्रतिपक्षी शंकराचार्य को अर्द्ध वैनाशिक कहते हैं। अनिर्वचनीय की व्याख्या करते हुए वेदान्त ने सत् की परिभाषा नित्य या त्रिकालाबाध्य के रूप में की है, और असत् की आकाशकुसुम के रूप में, जो कभी प्रतीत नहीं होता। अनिर्वचनीय वह है जो नित्य नहीं है, अर्थात् नश्वर है, साथ ही, प्रतीत होता है, किन्तु शून्य की व्याख्या सापेक्षता के आधार पर की जाती है, नश्वरता के आधार पर नहीं। इसका तीसरा नाम 'माध्यमिक' है। इसका अर्थ है मध्यम मार्ग पर चलनेवाला। भगवान् बुद्ध ने जीवन के लिए मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया था। कठोर तपस्या और विलासिता दोनों को बुरा बताया था। शून्यवाद ने उसे दार्शनिक रूप दे दिया। उसने कहा कि सत् और असत्, ज्ञान और ज्ञेय, द्रव्य और गुण, अवयव और अवयवी, कारण और कार्य, काल-आकाश, सभी मिश्रित तथा अमिश्रित धर्म एवं परिणाम, गति और स्थिति, स्वभाव और परभाव, जीवात्मा और परमात्मा, संसार और निर्वाण सभी सापेक्ष हैं। किसीभी पक्ष को अन्तिम नहीं कहा जा सकता, सत्य दोनोंके बीच है। इसीका नाम मध्यम मार्ग है।

शून्यवाद को 'निस्स्वभाववाद' भी कहा जाता है। स्वभाव का अर्थ है अपने-आपमें होना। किन्तु शून्यवाद का कथन है कि वस्तु का अपने-आपमें कोई रूप नहीं होता। जो कुछ है, वह परापेक्ष है।

वेदान्त के समान शून्यवाद भी सत्य के दो स्तर मानता है। सापेक्ष सत्य को 'संवृत्ति' सत्य कहा जाता है, अर्थात् वास्तविक सच्चाई न होने पर भी साधारण व्यवहार के लिए उसे सत्य मान लिया जाता है। दूसरा परमार्थ सत्य है। वह ज्ञान, ज्ञेय आदि व्यवहार से परे है। उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। उसका साक्षात्कार तभी होता है, जब साधक संवृत्ति सत्य से ऊपर उठकर निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

सत्य के दो स्तर

निर्वाण—निर्वाण शब्द का अर्थ है 'बुझ जाना'। हमें एक के पश्चात् दूसरा अनुभव होता रहता है। यह धारा निरन्तर चलती रहती है। इसीका नाम संसार है। बौद्ध-दर्शन में इसकी उपमा दीपशिखा से दी गई है। निर्वाण का अर्थ है, उस शिखा का बुझ जाना, जहाँ समस्त संकल्प और विकल्प समाप्त हो जाते हैं। सुख या दुःख, अनुकूल या प्रतिकूल, ज्ञाता या ज्ञेय, मैं या तू, किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती, उस अवस्था का निरूपण विधिरूप में नहीं हो सकता। नागार्जुन ने इसके लिए कहा है—निर्वाण न ज्ञेय है, न प्राप्य, न नाश्य, न अभिभाव्य और न उत्पाद्य। निर्वाण को जिस व्यक्ति ने प्राप्त कर लिया है, उसका वर्णन भी शब्दों से परे है। उसे 'तथागत' कहा जाता है। जब बुद्ध से किसीने तथागत के स्वरूप के विषय में पूछा, तो उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया, मौन ही उसका वर्णन है।

पहले बताया गया है कि बुद्ध अनेक बातों के विषय में मौन रहे। माध्यमिक उस मौन की व्याख्या इस रूप में करते हैं कि परमार्थ सत्य को शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। वह केवल अनुभवगम्य है।

अद्वैत वेदान्त के साथ तुलना—माध्यमिक और अद्वैत वेदान्त में मूल दृष्टि एक-सी है। दोनों ने सत्य के दो स्तर, बाह्य जगत् का मिथ्या या असत् होना, परमार्थ सत्य की निषेधात्मक व्याख्या तथा उसमें विलय को ही मोक्ष या निर्वाण स्वीकार किया है। अन्तर इतना ही है कि शंकराचार्य ने साधना के रूप में उपनिषदों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन पर बल दिया है। दूसरी ओर, माध्यमिकों ने निस्स्वभावता अथवा शून्यता के चिन्तन पर। वेदान्त विविध उपायों द्वारा हमारा लक्ष्य ब्रह्म की ओर खींचता है। इसके विपरीत, शून्य-साधना विश्व की शून्यता पर बल देती है। ब्रह्म का प्रतिपादन विधि-रूप में किया जाता है, और शून्य का निषेध-रूप में। दोनों का पर्यवसान एकही है।

बौद्ध-दर्शन का दूसरा सम्प्रदाय योगाचार है। इसका विकास मुख्यतया साधना-पद्धति के रूप में हुआ। इसने योग अर्थात् मन को एकाग्र करने के लिए अनेक प्रकार की पद्धतियों का आविष्कार किया। इसका दूसरा नाम 'ज्ञानाद्वैत' या 'विज्ञप्तिमात्रता' है। यह बाह्य जगत् का अस्तित्व नहीं मानता; केवल ज्ञान को सत्य मानता है।

योगाचार या ज्ञानाद्वैत

साहित्य—योगाचार के प्रवर्त्तक मैत्रेयनाथ (४०० ई०) माने जाते हैं। उन्होंने इसे साधना-पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया। असंग (४५० ई०) ने 'योगाचार भूमिशास्त्र' की रचना की, जो इस सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ माना जाता है। असंग के भाई वसुबन्धु ने 'अभिधर्मकोष' की रचना की। दिङ्नाग (५०० ई०) ने अपने 'प्रमाण समुच्चय' आदि ग्रन्थों में इसे तर्क का आधार दिया। धर्मकीर्ति (७०० ई०) ने 'प्रमाणवार्त्तिक', 'न्यायबिन्दु' तथा 'हेतुबिन्दु' आदि ग्रन्थों की रचना की।

ज्ञानाद्वैत—योगाचार का मुख्य सिद्धान्त है ज्ञानाद्वैत। इसका अर्थ है विश्व में एकमात्र ज्ञान की सत्ता। वही ज्ञान और ज्ञेय दोनों रूपों में प्रतीत होता है। स्वप्न में हाथी, घोड़े आदि पदार्थ दिखाई देते हैं, किन्तु उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। हमारी कल्पना या ज्ञान ही वह आकार ले लेती है। धर्मकीर्ति का कथन है कि नील वर्ण और उसका ज्ञान सदा एक साथ प्रतीत होते हैं, अतः दोनों एक हैं। ज्ञान से पृथक् वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है।

अपने मत का समर्थन करने के लिए योगाचार नीचे लिखी युक्तियाँ प्रस्तुत करता है :

यदि बाह्य वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया जाय, तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उनका प्रत्यक्ष कैसे होगा ? घट, पटादि पदार्थ परमाणुओं का

समूहमात्र हैं और परमाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यह कहना भी ठीक नहीं कि अलग-अलग प्रत्यक्ष न होने पर भी जब बहुत-से परमाणु मिलकर 'अवयवी' का रूप ले लेते हैं, तब उनका प्रत्यक्ष हो सकता है। हम अपनी आँखों से अवयवी को भी पूरी तरह नहीं देख पाते, उसका कुछही अंश दिखाई देता है, शेष अंश छिपा रहता है। इसके विपरीत, यदि उन्हें ज्ञानरूप माना जाय, तो वहाँ अवयव और अवयवी का प्रश्न खड़ा नहीं होता।

नैयायिक आदि दर्शन विषय को ज्ञान का कारण मानते हैं, और इस आधार पर उसका अस्तित्व सिद्ध करना चाहते हैं। किन्तु विषय ज्ञान का कारण नहीं हो सकता। प्रथम क्षण में इन्द्रिय का विषय के साथ सम्बन्ध माना जाता है, और द्वितीय क्षण में ज्ञान की उत्पत्ति। किन्तु क्षणिक होने के कारण जिस वस्तु के साथ सम्बन्ध हुआ वह द्वितीय क्षण में नहीं रहती। ज्ञान किसी अन्य वस्तु का होता है, जो पूर्ववर्त्ती क्षण में असत् होती है, और ज्ञान का कारण नहीं बन सकती।

आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान—वर्तमान मनोविज्ञान में मन की दो अवस्थाएँ मानी गई हैं—चेतन मन और अचेतन मन। अनुभूतियाँ चेतन मन हैं, और उनके पीछे जमे हुए संस्कार अचेतन मन। एक व्यक्ति को देखकर प्रसन्नता होती है, और दूसरे को देखकर क्रोध आने लगता है। इसका कारण मित्रता और शत्रुता के सोये हुए संस्कार हैं, जो व्यक्ति को देखकर जाग उठते हैं। इन्हीं संस्कारों को 'आलय-विज्ञान' कहा गया है। यह एक समुद्र के समान है और प्रवृत्ति-विज्ञान उससे उठनेवाली तरंगों के समान। प्रत्येक तरंग उससे उठकर उसीमें लीन हो जाती है, और एक नया संस्कार छोड़ जाती है।

योगाचार-साधना में ध्यान पर बहुत बल दिया गया है। इसका अर्थ है ज्ञान की बाह्य धारा को समाप्त करके 'आलय-विज्ञान' में लीन होना।

सौत्रान्तिक—सूत्रान्त का अर्थ है बुद्ध के मूल उपदेश। केवल उन्हें प्रमाण माननेवाले सौत्रान्तिक कहे गये। ये लोग बाह्य पदार्थों की वास्तविक सत्ता मानते हैं, इसलिए 'सर्वास्तिवादी' कहे जाते हैं।

ज्ञान का स्वरूप—ज्ञान के विषय में सौत्रान्तिक सांख्य-दर्शन से मिलता-जुलता है। उसका कथन है कि बाह्य पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व होने पर भी हमें उनका ज्ञान साक्षात् या प्रत्यक्ष द्वारा नहीं होता। इन्द्रियों का विषय के साथ सम्पर्क होने पर हमारी बुद्धि विषयाकार हो जाती है, और वह स्वयंसंवेदी होने के कारण विषय को भी जान जाती है। प्रथम क्षण में इन्द्रिय का सम्पर्क होता है, द्वितीय क्षण में बुद्धि विषय का आकार लेती है और तृतीय क्षण में ज्ञान होता है।

बाह्य वस्तु को जानने के लिए चार बातें आवश्यक हैं :

१. विषय

२. उसका इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध

३. बुद्धि, और
४. प्रकाश आदि सहायक तत्त्व

विषय बुद्धि को साकार बना देता है, अर्थात् उसमें अपना आकार उत्पन्न कर देता है। इसको 'तदुत्पत्ति' कहते हैं। अतः हमारा ज्ञान तदुत्पत्ति और तदाकारता से होता है, वह विषय से उत्पन्न होता है और विषय का आकार ले लेता है। इसके लिए विषय का होना आवश्यक है। इस प्रकार हम विषय को प्रत्यक्ष नहीं जानते, किन्तु उसका अनुमान करते हैं। इसी आधार पर इस सिद्धान्त को 'बाह्यानुमेयवाद' कहा जाता है।

वैभाषिक का अर्थ है, 'विभाषा' को माननेवाले। अभिधर्मपिटक पर 'महाविभाषा' या 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थान' नामक टीका है। उसे प्रमाण मानने के कारण ये लोग वैभाषिक कहे जाते हैं। सौत्रान्तिक के समान ये भी सर्वास्तिवादी हैं। इनका कथन है कि बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष भी हो सकता है। इसलिए इस सिद्धान्त को 'बाह्य-प्रत्यक्षवाद' भी कहा जाता है।

वैभाषिक

वैभाषिक की मुख्य युक्ति यह है कि अनुमान के लिए व्याप्ति का निश्चय होना आवश्यक है, और यह निश्चय तभी होता है, जब हम दो पदार्थों को एक-साथ देखते हैं। धूम और अग्नि को एकसाथ देखे बिना धूम से अग्नि का अनुमान नहीं हो सकता है। अतः बाह्य वस्तुओं का अनुमान करने के लिए उनका कहीं-न-कहीं प्रत्यक्ष होना आवश्यक है।

प्रमाण-व्यवस्था—बौद्ध-दर्शन में दो प्रमाण माने गये हैं, प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष निर्विकल्प होता है, और वह सदा अभ्रान्त होता है, अर्थात् उसमें किसी प्रकार का भ्रम या मिथ्यात्व नहीं होता। भ्रम तब होता है, जब ज्ञान के साथ कल्पना या शब्द को जोड़ा जाता है, और वह मिथ्या होती है। वस्तु का वर्गीकरण करना, उसके साथ कोई नाम, जाति या अन्य तत्त्व का सम्बन्ध करना अनुमान का काम है। अतः धर्मकीर्ति की दृष्टि में सभी प्रत्यक्ष सत्य होते हैं, और सभी अनुमान मिथ्या या कल्पनामात्र।

यह कल्पना साधारणया दो श्रेणियों में विभक्त की जाती है—प्रथम श्रेणी उस कल्पना की है, जिसे लोक-व्यवहार में सत्य माना जाता है। इसीका नाम संवृत्ति सत्य है। दूसरी कल्पना उन प्रतीतियों में होती है, जिन्हें लौकिक दृष्टि से भी मिथ्या माना जाता है। इसी आधार पर सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान का भेद किया जाता है।

बुद्ध-वाणी

भगवान् बुद्ध ने समय-समय पर अनेक स्थानों पर अनेक स्थविरों तथा दूसरों को जो उपदेश दिये थे वे धम्मपद में मिलते हैं। धम्मपद का स्थान बौद्ध-जगत् में बहुत ऊँचा माना गया है। पालि भाषा इसकी बहुत सरल और मधुर है। एक-एक गाथा ऊँची प्रेरणा देती है।

धम्मपद त्रिपिटक के सुत्तपिटक के खुद्दक निकाय के १५ ग्रन्थों में से एक है। इसमें कुल ४२३ गाथाएँ अर्थात् श्लोक हैं, जो २६ वर्गों या विषयों में विभक्त हैं। नीचे हम कतिपय उद्बोधक गाथाएँ, भावार्थ के साथ, दे रहे हैं—

अकोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति वेरं तेसं न सम्मति ॥१॥ [यमक व०

मुझे उसने डाँटा-दपटा, मुझे उसने मारा-पीटा, मुझे उसने जीत लिया, और मेरा उसने छीन लिया,
मन में जो ऐसी-ऐसी बातें लाते रहते हैं,
उनका वैर शान्त होने का नहीं।

अकोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये तं न उपनय्हन्ति वेरं तेसूपसम्मति ॥२॥ [यमक व०

मुझे उसने डाँटा-फटकारा, मुझे उसने मारा-पीटा, मुझे उसने जीत लिया, और मेरा उसने छीन लिया,
ऐसी-ऐसी बातें जो मन में नहीं लाते हैं,
उनका वैर शान्त हो जाता है।

न हि वेरेन वेरानि सम्मंतीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥३॥ [यमक व०

इस संसार में वैर कभी वैर से शान्त नहीं होता है,
वैर तो अवैर अर्थात् मैत्री से ही शान्त होते हैं —
यही सनातन नियम है।

असारे सारमतिनो सारे चासारदस्सिनो।
ते सारं नाधिगच्छन्ति मिच्छासंकप्पगोचरा ॥४॥ [यमक व०

मिथ्या संकल्प में पड़े हुए जो लोग असार को तो सार समझते हैं, और सार को असार,
उनको सार तत्त्व प्राप्त होने का नहीं।

यथागारं दुच्छन्नं वुट्ठी समतिविज्झति ।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति ॥५॥ [यमक व०

बुरी तरह छाये हुए घर में जैसे वर्षा का पानी प्रवेश कर जाता है,
वैसेही उस चित्त में राग पैठ जाता है, जिसने ध्यान का अभ्यास नहीं किया ।

यथागारं सुच्छन्नं वुट्ठी न समतिविज्झति ।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्झति ॥६॥ [यमक व०

जैसे भली भाँति छाये हुए घर में वर्षा का पानी प्रवेश नहीं कर सकता,
वैसेही उस चित्त में राग नहीं पैठ सकता, जिसने ध्यान का भली भाँति अभ्यास किया है ।

इध सोचति पेच्च सोचति
पापकारी उभयत्थ सोचति ।
सो सोचति सो विहञ्जति
दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो ॥७॥ [यमक व०

इस लोक में शोक करता है, और परलोक में भी,
पाप करनेवाला दोनों लोकों में शोक करता है;
शोक करता है और चिन्ता में डूबा रहता है
अपने मलिन कर्मों को देख-देखकर ।

इध मोदति पेच्च मोदति
कतपुञ्ञो यत्थ उभ मोदति ।
सो मोदति सो पमोदति
दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो ॥८॥ [यमक व०

इस लोक में प्रसन्न रहता है, और परलोक में भी,
पुण्य करनेवाला दोनों लोकों में प्रसन्न रहता है;
वह प्रसन्न रहता है, आनन्द मनाता है
अपने विशुद्ध कर्मों को देख-देखकर ।

उट्ठानेनप्पमादेन सञ्ञमेन दमेन च ।
दीपं कयिराथ मेधावी यं ओघो नाभिकीरति ॥९॥
[अप्पमाद व०

उद्योग, अप्रमाद, संयम और इन्द्रिय-दमन इनके द्वारा
बुद्धिमान मनुष्य को अपने लिए एक ऐसा द्वीप बना लेना चाहिए,
जिसे बाढ़ डुबा नहीं सके ।

सुदुद्दसं सुनिपुणं यत्थकामनिपातिनं ।
चित्तं रक्खेय्य मेधावी, चित्तं गुत्तं सुखावहं ॥१०॥ [चित्त व०

बुद्धिमान् मनुष्य को अपने चित्त पर चौकसी रखनी चाहिए,
चित्त का समझना आसान नहीं; वह बड़ा ही चालाक है, चाहे जहाँ चला जाता है।
अतः अच्छी तरह रक्षित चित्त ही सुख देता है।

अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो ।
पुञ्ञपापपहीणस्स नत्थि जागरतो भयं ॥११॥ [चित्त व०

राग जिसके चित्त में नहीं रह गया, और द्वेष जिसके चित्त से हट गया,
ऐसे पाप-पुण्य-रहित जाग्रत पुरुष को कोई भय नहीं।

न परेसं विलोमानि न परेसं कताकतं ।
अत्तनो'व अवेक्खेय्य कतानि अकतानि च ॥१२॥ [पुप्फ व०

दूसरों के दोषों की, और उनके किये तथा न किये की आलोचना नहीं करनी चाहिए।
चिन्तन सदा इसी बात का किया जाय कि स्वयं हमने क्या किया और क्या नहीं किया है।

चन्दनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी ।
एतेसं गन्धजातानं सीलगन्धो अनुत्तरो ॥१३॥ [पुप्फ व०

चन्दन और तगर (एक सुगन्धित वृक्ष), कमल और जूही इन सबकी सुगन्ध की अपेक्षा
शील की सुगन्ध कहीं उत्तम है।

यावजीवम्पि चे बालो पण्डितं पयिरुपासति ।
न सो धम्मं विजानाति दब्बी सूपरसं यथा ॥१४॥ [बाल व०

जीवनभर मूर्ख यदि बुद्धिमान् के साथ रहे, तोभी उसे धर्म का ज्ञान होनेवाला नहीं,
जैसे कलछी दाल-साग के रस का स्वाद नहीं जान सकती।

तञ्च कम्मं कतं साधु यं कत्वा नानुतप्पति ।
यस्स पतीतो सुमनो विपाकं पटिसेवति ॥१५॥ [बाल व०

उसी काम का करना अच्छा है, जिसे करने पर पछताना न पड़े,
और जिसका फल प्रसन्नतापूर्वक सुलभ हो।

सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति ।
एवं निन्दापसंसासु न समिंजन्ति पण्डिता ॥१६॥
[पण्डित व०

पर्वत जैसे वायु से कंपित नहीं होता, वैसेही निन्दा और स्तुति से पण्डित विचलित नहीं हुआ करते।

अप्पका ते मनुस्सेसु ये जना पारगामिनो ।
अथायं इतरा पजा तीरमेवानुधावति ।।१७।। [पण्डित व०
ऐसे बहुत थोड़े लोग हैं, जो असल में उस पार जाना चाहते हों;
अधिकांश तो ऐसेही हैं, जो किनारे-किनारे ही दौड़ते रहते हैं ।

यो सहस्सं सहस्सेन संगामे मानुसे जिने ।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे संगामजुत्तमो ।।१८।। [सहस्स व०
युद्ध में सहस्रों को जीतनेवाले की अपेक्षा वह कहीं बड़ा युद्धविजयी है,
जो एक अपने-आपको जीत लेता है ।

यो च वस्ससतं जीवे कुसीतो हीनवीरियो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो विरियमारभतो दल्हं ।।१९।। [सहस्स व०
आलसी और अनुद्योगी के सौ वर्ष जीने से तो,
ऐसा एक दिन का जीना कहीं उत्तम है, जो दृढ़ उद्योग से युक्त हो ।

अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्तं निवारये ।
दन्धं हि करोतो पुञ्ञं पापस्मिं रमते मनो ।।२०।। [पाप व०
सत्कर्म करने में शीघ्रता की जाय, और पाप से चित्त को हटा लिया जाय;
पुण्य-कार्य करने में जो ढिलाई करता है, उसका मन पाप (–पंक) में सन जाता है ।

सब्बे तसन्ति दंडस्स सब्बेसं जीवितं पियं ।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ।।२१।। [दण्ड व०
दण्ड से सभी डरते हैं, जीवन सभीको प्यारा है;
अपनी ही तरह दूसरों को जानकर न तो मारना चाहिए, और न मरवाना चाहिए ।

न नग्गचरिया न जटा न पंका
नानासका थण्डिलसायिका वा ।
रजोवजल्लं उक्कुटिकप्पधानं
सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकंखं ।।२२।। [दण्ड व०
उस मनुष्य की शुद्धि न तो नग्न रहने से होती है, न जटा बढ़ाने से,
शरीर पर पंक लपेटने से भी नहीं, और न उपवास करने से;
न कड़ी ज़मीन पर सोने से, मिट्टी मलने से भी नहीं, उकड़ूँ बैठने से भी नहीं
कि जिसकी आकांक्षाएँ समाप्त नहीं हो गई ।

उदकं हि नयन्ति नेत्तिका
उसुकारा नमयन्ति तेजनं ।
दारुं नमयन्ति तच्छका
अत्तानं दमयन्ति सुब्बता ।।२३।। [दण्ड व०

पानी को नहरवाले आगे ले जाते हैं,
वाण बनानेवाले वाण को, और लकड़ी को बढ़ई ठीक करते हैं;
इसी तरह भली भांति व्रत पालनेवाले अपने-आपका दमन करते हैं।

अत्तानं एव पठमं पटिरूपे निवेसये।
अथञ्ञमनुसासेय्य न किलिस्सेय्य पण्डितो ॥२४॥ [अत्त व०

सबसे पहले अपने-आपको ही सही रास्ते पर ले जाना चाहिए,
दूसरों को बाद में उपदेश देना चाहिए;
ऐसा करने से बुद्धिमान् पुरुष को क्लेश नहीं होता है।

अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तनाव'व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ॥२५॥
[अत्त व०

अपना स्वामी मनुष्य आपही है; दूसरा कौन उसका स्वामी होगा?
जिसने अपने आपको ठीक तरह से क़ाबू में कर लिया, वही दुर्लभ स्वामित्व पाता है।

सुकरानि असाधूनि अत्तनो अहितानि च।
यं वे हितं च साधुं च तं वे परमदुक्करं ॥२६॥
[अत्त व०

बहुत आसान है बुरे कामों का करना, जिनसे अपनाही अहित होता है;
अत्यन्त कठिन तो ऐसे काम का करना है, जो हितकारी और अच्छा है।

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
स-चित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं ॥२७॥ [बुद्ध व०

एकभी पाप का न करना, पुण्य कर्मों का संचय करना,
और अपने चित्त को विशुद्ध रखना, यह है बुद्धों का शासन अर्थात् शिक्षा।

सुसुखं वत! जीवाम वेरिनेसु अवेरिनो।
वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो ॥२८॥ [सुख व०

अहा! क्याही सुख का जीवन बिता रहे हैं हम,
अवैरी हो वैरियों के प्रति भी!
वैरियों के बीच अवैरी होकर विहार कर रहे हैं।

सुसुखं वत! जीवाम आतुरेसु अनातुरा।
आतुरेसु मनुस्सेसु विहराम अनातुरा ॥२९॥ [सुख व०

अहा! क्या ही सुख का जीवन बिता रहे हैं हम,
भयातुरों को अभय देकर!
निर्भय होकर भयभीतों के बीच हम विहार कर रहे हैं।

सुसुखं वत ! जीवाम उस्सुकेसु अनुस्सुका ।
उस्सुकेसु मनुस्सेसु विहराम अनुस्सुका: ।।३०।। [सुख व०

अहा ! क्या ही सुख का जीवन बिता रहे हैं हम,
आसक्त मनुष्यों में अनासक्त हो !
उनके बीच आसक्ति को छोड़कर हम विहार कर रहे हैं ।

जयं वेरं पसवति दुक्खं सेति पराजितो ।
उपसन्तो सुखं सेति हित्वा जयपराजयं ।।३१।। [सुख व०

विजय से शत्रुता पैदा होती है, और पराजित डूबा रहता है दुःख में;
जो सर्वथा शान्त है, वही जय और पराजय को छोड़ सुखपूर्वक सोता है ।

आरोग्यपरमा लाभा सन्तुट्ठी परमं धनं ।
विस्सासपरमा ञाती निब्बाणं परमं सुखं ।।३२।। [सुख व०

आरोग्य सबसे बड़ा लाभ है, और सन्तोष सबसे बड़ा धन,
विश्वास सबसे बड़ा बन्धु है, और निर्वाण है परमसुख ।

तण्हाय जायते सोको तण्हाय जायते भयं ।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ?३३।। [पिय व०

तृष्णा से शोक पैदा होता है, और तृष्णा से ही भय;
जो तृष्णा से मुक्त हो गया, उसे कोई शोक नहीं, फिर भय कहाँ से होगा ?

यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं'व धारये ।
तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो ।।३४।।[कोध व०

सच्चा सारथी तो मैं उसीको कहूँगा, जो चढ़ते हुए क्रोध को
भटके हुए रथ की तरह क़ाबू में कर लेता है—
दूसरे तो केवल लगाम थामनेवाले होते हैं ।

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने ।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिनं ।।३५।।
[कोध व०

क्रोध को अक्रोध से जीतना चाहिए, और बुराई को भलाई से,
दान से कंजूस को जीत लेना चाहिए, और झूठ बोलनेवाले को सत्य से ।

नत्थि रागसमो अग्गि नत्थि दोससमो गहो ।
नत्थि मोहसमं जालं नत्थि तण्हासमा नदी ।।३६।। [मल व०

राग-सरीखी कोई आग नहीं, और द्वेष के समान कोई अनिष्टकारी ग्रह नहीं,
मोह-जैसा कोई जाल नहीं, और तृष्णा-जैसी कोई नदी नहीं ।

सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं अत्तनो पन दुद्दसं ।
परेसं हि सो वज्जानि ओपुणाति यथाभुसं ।
अत्तनो पन छादेति कलिं'व कितवा सठो ।।३७।। [मल व०

दूसरे का दोप देखना आसान है; अपना दोप देखना कठिन है।
दूसरों के ही दोषों को भूसे की तरह उड़ा रहा है वह !
अपने दोषों को वैसेही ढाँक लेता है वह, जैसे दुष्ट जुआरी अपना पासा।

न तेन पण्डितो होति यावता बहु भासति।
खेमी अवेरी अभयो पण्डितो'ति पवुच्चति ॥३८॥ [धम्मट्ठ व०

बहुत बोलने से कोई पण्डित नहीं हो जाता,
पण्डित तो वहीं कहा जाता है, जो क्षेमवान्, अवैरी और निर्भय है।

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियो'ति पवुच्चति ॥३९॥ [धम्मट्ठ व०

प्राणियों की हिंसा करने से कोई आर्य नहीं होता,
आर्य उसेही कहना चाहिए, जो किसीभी प्राणी की हिंसा नहीं करता।

परदुक्खूपदानेन यो अत्तनो सुखमिच्छति।
वेरसंसग्गसंसट्ठो वेरा सो न पमुंचति ॥४०॥
[पकिण्णक व०

दूसरों को दुःख देकर जो स्वयं सुख पाने की इच्छा रखता है,
वह वैर से भरा हुआ मनुष्य वैर से छूट नहीं सकता।

अकतं दुक्कतं सेय्यो पच्छा तपति दुक्कतं।
कतंच सुकतं सेय्यो यं कत्वा नानुतप्पति ॥४१॥ [निरय व०

उत्तम है एकभी पाप का न करना, क्योंकि बुरा काम करनेवाला बाद में पछताता है।
उत्तम है सत्कर्म का करना, जिसे करके पछताना नहीं पड़ता।

न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥४२॥
[ब्राह्मण व०

ब्राह्मण न तो कोई जटा बढ़ाने से होता है न अमुक गोत्र से और न जन्म से ही;
वही पवित्र है और वही ब्राह्मण, जो सत्यवान् और धर्मप्रिय है।

वारि पोक्खरपत्ते'व आरग्गेरिव सासपो।
यो न लिप्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४३॥
[ब्राह्मण व०

ब्राह्मण मैं उसे कहता हूँ, जो विषय-भोगों में लिप्त नहीं होता;
जैसे कमल का पत्ता जल से; और जैसे आरे की नोक पर सरसों नहीं ठहरती।

कश्मीर का त्रिक या प्रत्यभिज्ञा-दर्शन

सरस्वती की वन्दना करते समय कहा जाता है **'नमस्ते शारदे देवि कश्मीरपुरवासिनी'** । इसका अर्थ है कि कश्मीर प्रदेश किसी समय सरस्वती की क्रीड़ा-भूमि रहा है । काव्यशास्त्र, साहित्य तथा कामशास्त्र के लिए ही नहीं, अध्यात्म और दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भी कश्मीर की मौलिक देन है । कश्मीर का उद्गम कश्यप ऋषि से माना जाता है, जो देव और असुर दोनों के पिता थे । कश्मीर लक्ष्मी का भी निवास रहा है, जैसा कि उसकी राजधानी 'श्रीनगर' के नाम से प्रतीत होता है ।

साधारणतौर पर लक्ष्मी और सरस्वती में, भोग और मोक्ष में, परस्पर विरोध माना जाता है । किन्तु कश्मीर ने उस परम्परा को जन्म दिया, जहाँ दोनों का मेल हो गया और एकही साधना से दोनों की प्राप्ति सम्भव मानी जाने लगी । कहा गया है—

श्रीसुन्दरीसेवन तत्पराणाम्
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ।

कश्मीर की श्रीविद्या तन्त्र-साधना में प्रमुख स्थान रखती है । वहाँ लक्ष्मी और सरस्वती का विरोध समाप्त हो गया है ।

कश्मीर का सबसे प्राचीन शैव धर्म रहा है । कश्मीर के लोग अर्धनारीश्वर के उपासक थे । इसका अर्थ है, ऐसे देवता जिनका आधा अंग शिव का है और आधा पार्वती का । शिव ज्ञान का प्रतीक है, और पार्वती शक्ति का । इस प्रकार कश्मीर प्रारंभ से ही ज्ञान और शक्ति के सम्मिलित रूप का पुजारी रहा है । कहा जाता है, आर्यो के आने से पहले शैव-परम्परा सारे भारत में थी । मोहन-जोदारो तथा हरप्पा की खुदाई में जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनसे भी यही सिद्ध होता है । शैव-परम्परा का मुख्य साहित्य आगम तथा पुराण हैं । ये दोनों नाम भी इसी तथ्य को प्रकट करते हैं । 'आगम' का अर्थ है वह विद्या, जो चिरन्तन काल से चली आ रही है, और 'पुराण' शब्द का भी यही अर्थ है । यह ठीक है कि आगम और पुराणों के नाम से प्राप्त वर्तमान साहित्य, भाषा तथा रचना की दृष्टि से, बहुत पुराना नहीं है, फिरभी उसमें जिन परम्पराओं का प्रतिपादन है, वे वेदों से पहले की हैं । मालूम होता है कि आर्यो के आने से पहले भी वे परम्पराएँ प्रचलित थीं । वैदिक प्रभाव के कारण कुछ काल के लिए वे दब गईं, और संघर्ष समाप्त होने पर सर्वसाधारण के विश्वास के रूप में पुन: पनप गईं । इतना ही नहीं, वे वैदिक परम्परा पर छा गईं । इस समय हिन्दू धर्म के नाम से वैदिक परम्परा का

जो रूप हमारे सामने है, उसमें वैदिक तत्त्व बहुत थोड़े हैं। आज इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवताओं के स्थान पर विष्णु, शिव, दुर्गा, लक्ष्मी आदि पौराणिक देवताओं की पूजा होती है। सारे तीर्थ उन्हीं देवताओं के साथ बँधे हुए हैं। वैदिक यज्ञों के स्थान पर भक्तियोग तथा तान्त्रिक साधना का आधिपत्य है।

क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से देखा जाय तो शिव-पूजा अब भी भारत का राष्ट्रीय धर्म है। उत्तर में अमरनाथ से लेकर दक्षिण में रामेश्वरम् तक, तथा पश्चिम में सोमनाथ से लेकर पूर्व में वैद्यनाथधाम तथा गंगासागर तक शिव-पूजा प्रचलित है। शंकराचार्य ने इसी आधार पर भारत की सांस्कृतिक एकता को प्रत्यक्ष देखा और चारों कोनों में अपने पीठ स्थापित किये।

हिमालय शिव का श्वसुर माना जाता है और वही उनकी तपोभूमि भी रहा है। विवाह के पश्चात् भी वे हिमालय पर ही रहे। इसका अर्थ है हिमालय में, विशेष रूप से कश्मीर में सर्वप्रथम ज्ञान-साधना हुई। क्रमश: शक्ति ने ज्ञान का संवरण किया। दोनों ने मिलकर शक्ति के देवता सेनानी कार्तिकेय तथा समृद्धि के देवता गणेश को जन्म दिया।

बौद्ध धर्म का, अपने प्रारम्भ-काल में, वैदिक परम्परा के साथ संघर्ष चलता रहा। अशोक (ई० पू० २५०) के साम्राज्य में उसने वैदिक परम्परा को अभिभूत कर लिया। कनिष्क (ई० १२०) तक यही स्थिति बनी रही। गुप्त-साम्राज्य (ई० ४००) में वैदिक परम्परा का प्रभाव फिर बढ़ गया। उसके बाद दार्शनिक क्षेत्र में दोनों का संघर्ष चलता रहा, किन्तु साधना के क्षेत्र में सहयोग हो गया, और उससे वज्रयान तथा तन्त्र-साधना का जन्म हुआ। कहा जाता है कि वशिष्ठ ऋषि तन्त्र-साधना का अभ्यास करने के लिए तिब्बत गये थे। इसका अर्थ है कि वैदिक साधक भी योग सीखने के लिए तिब्बत जाया करते थे, और भारत तथा तिब्बत में आदान-प्रदान होता रहता था।

कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में कश्मीर के राजाओं का वर्णन किया है। वे शैव होने पर भी बौद्ध-परम्परा के प्रति श्रद्धा रखते थे। शैव मन्दिरों के साथ बौद्ध-स्तूपों का भी निर्माण कराते थे।

कश्मीर में बौद्ध-धर्म का प्रवेश अशोक के समय में हुआ। उसकी नीति इतनी अधिक उदार और प्रेमपूर्ण थी कि नई विचारधारा के विरुद्ध किसीके मन में क्षोभ नहीं हुआ, बल्कि उससे विचारों के आदान-प्रदान और समन्वय का मार्ग खुल गया। किन्तु कनिष्क ने उग्र नीति अपनाई। उसने सारा कश्मीर बौद्ध-संघ को भेंट कर दिया। इसकी विपरीत प्रतिक्रिया हुई। ब्राह्मणों में असंतोष फैल गया और संघर्ष प्रारम्भ हुआ। अन्त में बौद्ध-धर्म की पराजय हुई। इस संघर्ष के मुख्य नेता थे चन्द्रदेव। इस संघर्ष का वर्णन 'नीलमत पुराण' में एक रूपक द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रंथ शैव-परम्परा का आगम है। इसमें बताया गया है कि किस

प्रकार नीलनाग ने एक विशेष प्रकार के यज्ञ द्वारा कश्मीर का पिशाचों से उद्धार किया !

इसके पश्चात् छह शताब्दियों तक कश्मीर की धार्मिक परम्परा के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं मिलती । ऐसा लगता है कि बौद्ध-संघ का निष्कासन होने पर भी बुद्ध और बौद्ध-दर्शन का निर्वासन नहीं हो सका । वे कश्मीर के जीवन में ओतप्रोत हो चुके थे । बुद्ध को देवताओं में स्थान मिल गया, और बौद्ध-दर्शन को तन्त्र-साधना में । वे दोनों हिन्दू-परम्परा के अंग बन गये । जहाँ एकने बाह्य क्रिया-काण्ड और जीवन-पद्धति को प्रभावित किया, वहाँ दूसरे ने दर्शन अर्थात् जीवन के प्रति दृष्टिकोण को । अद्वैत और द्वैत, ज्ञान और क्रिया, शिव और शक्ति दोनों का समन्वय हो गया । यही समन्वय कश्मीर की मुख्य देन है । शैव-परम्परा का प्रसार दक्षिण भारत में भी हुआ । किन्तु वहाँ मुख्य रूप से द्वैत का प्रतिपादन हुआ है ।

कश्मीर की शैव-परम्परा का मुख्य आधार तन्त्र-साहित्य है । उसमें भी सिद्धयोगीश्वरी, मालिनी तथा स्वच्छन्द तन्त्रों का स्थान प्रमुख है । रुद्रयामल आदि प्राचीन साहित्य का भी काफा आश्रय लिया गया है । इन ग्रन्थों की रचना के विषय में अनेक पौराणिक कहानियाँ प्रचलित हैं । विषय की दृष्टि से इनमें मुख्यतया साधना का प्रतिपादन है । दार्शनिक तथा अन्य विचार फुटकर रूप में यत्र-तत्र मिलते हैं । मालिनी तन्त्र अत्यन्त प्राचीन है । इसीका दूसरा नाम 'श्रीपूर्व-शास्त्र' है ।

इस साहित्य की रचना के सम्बन्ध में सर्वप्रथम ऐतिहासिक नाम वसुगुप्त का है, जिनका समय नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है । कहा जाता है कि उन्हें शिवसूत्रों की उपलब्धि हुई थी । ये सूत्र ही शैव-परम्परा के प्रस्थान हैं । इन पर अनेक टीकाएँ हैं । क्षेमराज तथा भट्ट भास्कर की टीकाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं । दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'स्पन्दकारिका' है । इसमें शैव सिद्धान्तों का संक्षिप्त प्रतिपादन है । इसके रचयिता भी वसुगुप्त हैं । इसपर भट्ट कल्लट की 'स्पन्द सर्वस्व' नामक टीका है । यह कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५५ ई०-८८३ ई०) के समकालीन थे । राजतरंगिणी में कल्हण ने उनका उल्लेख महान् सिद्ध के रूप में किया है ।

सोमानन्द के पुत्र उत्पलदेव एक प्रसिद्ध विद्वान् थे । उन्होंने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका' नामक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ रचा, साथही उसपर वृत्ति भी लिखी । इसी ग्रन्थ के आधार पर शैव परम्परा का नाम 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन पड़ गया ।

उत्पलदेव के पश्चात् लक्ष्मणगुप्त हुए, जो उनके पुत्र थे और शिष्य भी । उनकी रचना 'शारदातिलक' तन्त्रशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है । लक्ष्मणगुप्त की ऐसी कोई रचना नहीं मिलती, जिसका शैव-परम्परा के साथ साक्षात् सम्बन्ध हो । किन्तु वे अभिनवगुप्त के गुरु थे । अभिनवगुप्त का शैव-परम्परा में वही स्थान है,

जो अद्वैत वेदान्त में शंकराचार्य का । उनका जन्म ६५०-६६० ई० के बीच हुआ था । दर्शनशास्त्र में ही नहीं, काव्यशास्त्र में भी उनका मूर्धन्य स्थान है । उन्हें भैरव का अवतार माना जाता है । उनके जीवन के विषय में अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ प्रचलित हैं । उन्होंने ५० से अधिक ग्रन्थों की रचना की । प्रसिद्ध ग्रन्थ तन्त्रालोक है, जिसमें ६४ आगमों के दार्शनिक एवं साधना सम्बन्धी विषयों का विवेचन है । इसका मुख्य आधार 'मालिनीविजय तन्त्र' है ।

अभिनवगुप्त ने भगवद्गीता और योगवाशिष्ठ पर भी टीकाएँ लिखी हैं । तन्त्रों के अतिरिक्त उन्होंने भरत-कृत नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नाम की टीकाएँ लिखी हैं, जिनका काव्यशास्त्र में मूर्धन्य स्थान है । अभिनवगुप्त के पश्चात् क्षेमराज आदि अनेक आचार्य हुए, किन्तु वह परम्परा उत्तरोत्तर क्षीण होती गई और तन्त्रों का अध्ययन-अध्यापन लुप्त-सा हो गया ।

कश्मीरी शैव-परम्परा के **'त्रिक' प्रत्यभिज्ञा, चमत्कार, संघट्ट, स्पन्द, आभासवाद, स्वातन्त्र्यवाद, सापेक्षतावाद**-आदि अनेक नाम हैं । प्रत्येक नाम उसके विभिन्न पहलुओं को प्रकट करता है । त्रिक का अर्थ है 'तीन वस्तुओं का समूह' । शैव दर्शन ने विश्व को तीन तत्त्वों में विभक्त किया है—पशुपति अर्थात् परमेश्वर, पशु अर्थात् जीव और पाश अर्थात् वह बन्धन जिसमें जीव बँधा हुआ है, और परिणाम-स्वरूप परमात्मा से बिछुड़ गया है । अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को वास्तविक तथा जीव एवं माया को मिथ्या माना गया है, किन्तु शैव दर्शन में तीनों वास्तविक हैं । जीव, जब पाश अर्थात् बन्धन से मुक्त हो जाता है तब उसे ईश्वर के साथ अपने अभेद का साक्षात्कार होने लगता है । स्वरूप की इस उपलब्धि का नाम ही **प्रत्यभिज्ञा** है । प्रत्यभिज्ञा दर्शन का अर्थ है वह विचार-पद्धति जहाँ जीव द्वारा अपने स्वरूप की पहचान बताई गई है । अद्वैत वेदान्त में जीव जब अपने स्वरूप अर्थात् ब्रह्म को पहचान लेता है, तब उसी में लीन हो जाता है । उसका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता । किन्तु शैव-परम्परा में वह बना रहता है, और समय-समय पर स्वरूपभूत ईश्वर के साथ अभेद का आनन्द लेता रहता है । इस अस्थायी साक्षात्कार को **चमत्कार** शब्द द्वारा प्रकट किया गया है । अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म निष्क्रिय है । जीव भी उसमें लीन होने पर निष्क्रिय हो जाता है । किन्तु शैव दर्शन में जीव सदा सक्रिय बना रहता है । ईश्वर और जीव के इस सम्बन्ध को **संघट्ट** कहते हैं । इसीका दूसरा नाम **'स्पन्द'** है । ऐसी स्थिति में ईश्वर और जीव को **'यामल'** या **'मिथुन'** कहा गया है, और उनकी हलचल को **'स्पन्द'** । यह सिद्धान्त वर्तमान विज्ञान से बहुत-कुछ मिलता है, जहाँ विद्युत् (Energy) की धन (Positive) और ऋण (Negative) नामक दो शक्तियों के परस्पर प्रभाव द्वारा विश्व का संचालन माना गया है । एक ही परमतत्त्व के दो पहलू हैं । जब प्रकाश या ज्ञान को मुख्यता दी जाती है, तो उसे

शिव कहा जाता है, और जब क्रिया, स्पन्दन या विमर्श को, तब उसे ही शक्ति कहा जाता है। दोनों मिलकर एकही तत्त्व है, जिसे विभिन्न शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। उसका एक नाम **अनुत्तर** है। इस शब्द का प्रयोग अधिकतर बौद्ध-साहित्य में हुआ है। इसका अर्थ है सबसे बड़ा, जिससे उत्तर अर्थात् उत्कृष्ट और कोई नहीं है। दूसरा नाम **चिति** या **चैतन्य** है। शक्ति का प्रधान गुण स्वातन्त्र्य है। इस मान्यता का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है कि इसी आधार पर शैव दर्शन को **स्वातन्त्र्यवाद** भी कहा जाता है। इस नाम में विश्व की रचना का सिद्धान्त प्रकट किया गया है। इसकी तुलना बौद्ध-दर्शन के विज्ञानवाद तथा शून्यवाद, अद्वैत वेदान्त के मायावाद या विवर्तवाद, सांख्य-दर्शन के परिणामवाद तथा न्यायदर्शन के परमाणुवाद के साथ की जा सकती है। शैव दर्शन का कथन है कि संसार उस परमतत्त्व की माया-शक्ति की स्वतन्त्र क्रीड़ा है। उसे किसी कार्य-कारण भाव के नियम में नहीं बाँधा जा सकता। इसके अनुसार विश्व सत्य है, और प्रतीतिमात्र भी, एक है और अनेक भी, चेतन है और जड़ भी। समस्त विरोध शक्ति के स्वातन्त्र्य में छिपे हुए हैं। वहाँ तर्क के लिए स्थान नहीं है।

स्वातन्त्र्य या शक्ति के अपने-आपमें तीन रूप हैं—ज्ञान, इच्छा और क्रिया। इस आधार पर भी शैव दर्शन को 'त्रिक' कहा जाता है। अभिनवगुप्त ने इस सम्मिश्रण का उल्लेख करते हुए कहा है कि यदि आगम-परम्परा से द्वैत को निकाल दिया जाये, यदि अद्वैत वेदान्त माया को शक्ति के रूप में मान ले, अथवा बौद्ध-दर्शन के आलय विज्ञान तथा प्रवृत्ति विज्ञान को क्रमशः परमशिव और ईश्वर के रूप में मान लिया जाये तो वे त्रिक दर्शन में परिणत हो जायेंगे।

पशुपति, पशु तथा पाश के रूप में जिन तीन तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है, उनका साक्षात्कार ही 'त्रिक-साधना' का लक्ष्य है। साधारणतया विश्व ग्राह्य और ग्राहक के रूप में विभक्त है। जाग्रत अवस्था में यह भेद स्पष्ट प्रतीत होता है, किन्तु योगी अपनी साधना द्वारा उस स्थिति पर पहुँच जाते हैं, जहाँ ग्राह्य और ग्राहक में भेद नहीं रहता, जहाँ सब-कुछ एकही तत्त्व में विलीन हो जाता है। इस साक्षात्कार के लिए साधक को स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है। गुरु केवल मार्ग दिखा सकता है। साक्षात्कार करना साधक का अपना कार्य है। इसके लिए तन्त्र-साधना में 'दर्पणप्रतिबिम्बन्याय' का आश्रय लिया गया है। यदि कोई अपनी आँखें देखना चाहे, तो एकही उपाय है कि उसके सामने दर्पण कर दिया जाये। उसमें प्रतिबिम्ब देखकर अपने आप आँखों का भान होता है, उन्हें दिखाया नहीं जाता। इसी प्रकार गुरु केवल मार्ग-दर्शन करता है, शिष्य उस मार्ग पर चलकर साक्षात्कार के चरम लक्ष्य पर अपने आप पहुँचता है। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त में 'रज्जु-सर्प' का दृष्टान्त प्रचलित है, उसी प्रकार त्रिक दर्शन में 'दर्पण-प्रतिबिम्ब' का दृष्टान्त है।

शैव दर्शन सांख्य के २५ तत्त्वों को मानता है। सबके मूल में प्रकृति

और पुरुष दो तत्त्व हैं। प्रकृति से महत्, बुद्धि और अहंकार की सृष्टि होती है। इन्हें अन्तःकरण कहा गया है। उनसे पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां तथा पांच तन्मात्राएँ अर्थात् सूक्ष्मभूत उत्पन्न होते हैं और तन्मात्राओं से पाँच महाभूत। ये २३ तत्त्व जड़ हैं। ये प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और प्रकृति में ही लीन हो जाते हैं। पुरुष शुद्ध चेतनरूप है। वह न किसीसे उत्पन्न होता है, और न किसी अन्य तत्त्व को उत्पन्न करता है। सांख्य-साधना का लक्ष्य है प्रकृति और पुरुष में भेद-ज्ञान, जिसे 'विवेक-ख्याति' या 'कैवल्य' शब्द द्वारा प्रकट किया गया है। त्रिक दर्शन में सांख्य दर्शन के विरुद्ध दो आपत्तियां उठाई गई हैं। पहली है, पुरुषों की अनेकता, जिसे त्रिक साहित्य में 'चिदणु' शब्द से प्रकट किया गया है। सांख्य के पास कर्तृत्व शक्तिहीन पुरुष की अनेकता सिद्ध करने के लिए या चेतनाओं की अनेकता सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि प्रकृति स्वतन्त्र है, तो वह पुरुष के भोगार्थ क्यों प्रवृत्त होती है और फिर स्वयं ही मोक्ष के लिए प्रयत्नशील रहती है? ऐसी स्थिति में यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक बार मुक्त होने पर वह पुनः उस ओर प्रवृत्त नहीं होगी।

सांख्य दर्शन जिन समस्याओं को छोड़ देता है उनका समाधान वेदान्त तथा त्रिक दर्शन में किया गया है। अद्वैत वेदान्त का कथन है कि ब्रह्म सत्य है, और प्रतीयमान जगत् मिथ्या है। यहाँ मिथ्या का अर्थ अभावरूप नहीं है। इसका अर्थ है, जिसे सत्य या असत्य कुछ नहीं कहा जा सकता। यह माया-रूप है। ब्रह्म का विवर्त है। दर्शन शास्त्र में दो प्रकार के कार्य बताये गये हैं—परिणाम और विवर्त। जहाँ कार्य की सत्ता कारण के समान हो, अर्थात् दोनों सत्य हों वहाँ कार्य को 'परिणाम' कहा जाता है, जैसे घड़ा मिट्टी का परिणाम है। किन्तु जहाँ कारण वास्तविक हो और कार्य अवास्तविक, उसे 'विवर्त' कहा जाता है। जैसे रस्सी में प्रतीत होनेवाला साँप। विवर्त का कारण है माया, अविद्या या अज्ञान। इसके दो रूप हैं—'आवरण' अर्थात् सत्य का प्रतिभास न होने देना, और 'विक्षेप' अर्थात् असत्य की कल्पना। सत्य का साक्षात्कार होते ही अज्ञान दूर हो जाता है, और रस्सी में प्रतीत होनेवाला साँप नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान होते-ही संसार समाप्त हो जाता है।

त्रिक सिद्धांत इससे भिन्न है। यहाँ कारण और कार्य का सम्बन्ध विवर्त अर्थात् सत्य और मिथ्या के रूप में नहीं है, किन्तु सापेक्षता का है। दर्पण में प्रतीत होनेवाला आभास मिथ्या नहीं है। किन्तु वह प्रतिबिम्बित होनेवाली वस्तु पर निर्भर है, उसके बिना नहीं हो सकता। अतः आभास का अस्तित्व स्वतन्त्र न होकर परापेक्ष है। शैव दर्शन के अनुसार प्रतीयमान जगत् परम शिव का आभास है अर्थात् उस परमतत्व का प्रतिबिम्ब है। जगत् के रूप में उसकी शक्ति का परिस्फुरण होता है। इसी आधार पर शैव दर्शन को **आभासवाद** कहा जाता है। त्रिक

दर्शन के अनुसार आभास भी उसी प्रकार वास्तविक है, जैसे किसी देवता की मूर्ति, जिसका महत्व या अस्तित्व देवता पर निर्भर है। जिस प्रकार प्रतिविम्व का अस्तित्व दर्पण पर आधारित है, उसी प्रकार जगत् का अस्तित्व माया पर, जो परमतत्त्व की स्वतन्त्र शक्ति है। शक्ति और उसका परिस्फुरणरूप जगत् उसी प्रकार वास्तविक है, जैसे कि स्वयं परमतत्त्व।

विवर्तवाद में ब्रह्मरूप चैतन्य ही वास्तविक है, और प्रतीयमान जगत् अवास्तविक। वहाँ ब्रह्म की वास्तविकता का आधार नित्यत्व है। त्रिक दर्शन इस आधार को नहीं मानता। उसके मतानुसार वास्तविकता का आधार स्वातन्त्र्य है। परिणामस्वरूप समस्त प्रतीतियाँ या आभास वास्तविक हैं। नित्यता को वास्तविकता का आधार मानने पर काल के अधीन होना पड़ता है। त्रिक दर्शन इस अधीनता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है।

आभास शब्द बौद्ध दर्शन से लिया गया है। सभी आभास क्षणिक होते हैं। एक ओर परमतत्त्व नित्य है, जो कि अद्वैत वेदान्त द्वारा स्वीकृत ब्रह्म के समान है; दूसरी ओर सभी आभास क्षणिक हैं। अद्वैत वेदान्त ने ब्रह्म को सत्य माना और आभासों को मिथ्या। दूसरी ओर, बौद्ध दर्शन ने आभासों को सत्य बताया, और नित्यता या एकता को मिथ्या। त्रिक दर्शन दोनों को सत्य मानता है। इस प्रकार वह परस्पर-विरोधी दो सिद्धान्तों का समन्वय करता है। यहाँ प्रतीतियों का क्षेत्र प्रत्येना से भिन्न नहीं है। वह उसीका स्वभाव है। स्वभाव का अर्थ है 'स्व' का भाव अर्थात् विविध रूपों में अपने आप प्रकट होना, इसीलिए इसको 'अध्यात्म' भी कहा गया है। अध्यात्म का अर्थ है आत्मा में होनेवाली परिणतियाँ। गीता में स्वभाव का अर्थ 'अध्यात्म' बताया गया है—**'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'**। त्रिक दर्शन मे माया को भी स्वीकार किया गया है। किन्तु वह केवल भेद-रेखा है। जव हम एकही तत्त्व को दो पहलुओं में वाँटना चाहते हैं, तो बीच में अपनी इच्छानुसार भेद-रेखा खींच देते हैं। परमशिव वह तत्त्व है, जहाँ प्रकृति और पुरुष, जड़[1] और चेतन मिले हुए हैं। उस मूल तत्त्व को उसके परिस्फुरणरूप जगत् से भिन्न बताने के लिए माया की कल्पना की गई। इसका कार्य है मोह, अविवेक, जड़ता या अज्ञान। उपनिषदों में आत्मा को आवृत करनेवाले इन पाँच कोशों का निरूपण किया गया है, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय। त्रिक दर्शन में भी माया के पाँच कार्य हैं—कला, विद्या, राग, नियति और काल। कला का अर्थ है शक्ति का सीमित होना। ईश्वर निष्कल है, अतः उसमें सर्व-कर्तृत्व है। इसके विपरीत, जीव कला

१. वर्तमान विज्ञान भी विश्व का मूल किसी ऐसे तत्त्व को मानता है, जहाँ जड़ और चेतन दोनों मिले हुए हैं। उसकी एक शाखा को जड़ कहा गया है और दूसरी को चेतन। (देखिए The Analysis of Mind by Russell.)।

से युक्त है। परिणामस्वरूप उसमें किंचित् कर्तृत्व आ गया है। शेष चार कंचुक कला के अवान्तर रूप हैं। विद्या को अशुद्ध विद्या भी कहा जाता है। यह शुद्ध विद्या का कंचुक या आवरण है। ईश्वर शुद्ध विद्या के कारण सर्वज्ञ है। जीव अशुद्ध विद्या के कारण अल्पज्ञ। हमारे दैनंदिन व्यवहार और प्रतीतियों का कारण यही अशुद्ध विद्या है। राग का अर्थ है वस्तु विशेष के प्रति आकर्षण। यह इच्छा-शक्ति का कंचुक है। इसके कारण जीव एक वस्तु को पसन्द करता है और दूसरी को नापसन्द। नियति कारण-शक्ति का कंचुक है। इसके कारण प्रत्येक वस्तु में सब कार्य करने का सामर्थ्य नहीं रहता। अग्नि केवल जला सकती है। तेल तिलों से ही निकलता है, रेत से नहीं। इस प्रकार कारण-शक्ति का नियन्त्रण नियतिरूप कंचुक का कार्य है। अन्तिम कंचुक काल है। इससे वस्तुओं की अवधि और क्रम का नियन्त्रण होता है। उपर्युक्त पाँच कंचुक मायारूप हैं। वे ही त्रिक दर्शन के पाँच तत्त्व हैं। छठा तत्त्व 'पुरुष' है, जो सांख्य दर्शन में २५ वाँ तत्त्व है। इस प्रकार कुल मिलाकर ३१ तत्त्व हुए। यह सभी अशुद्धाध्व अर्थात् मायाजनित प्रपंच के साथ सम्बन्ध रखते हैं। आत्मा इन तत्त्वों के साथ एकता होने पर प्रमाता, पशु या 'सकल' कहा जाता है, जिसका अर्थ है कला से युक्त। वह आत्मा अज्ञानरूप मल से आवृत रहता है। यह तीन प्रकार का है—आणव, कार्म और मायीय। आणव मल अन्य दो मलों का आधार है। इसके कारण सर्वव्यापी आत्मा अनन्त अणुओं के रूप में परिणत हो जाता है। वे सब जीव कहे जाते हैं। कार्म मल भले-बुरे कार्यों के अनुसार सुख, दुःख आदि की सृष्टि करता है। मायीय मल शारीरिक रचना आदि का कारण है। त्रिक दर्शन के अनुसार कैवल्य या साक्षात्कार हो जाने पर केवल मायीय मल से छुटकारा मिलता है, अर्थात् शरीर का बन्धन नहीं रहता। शेष दो मल पूर्ववत् बने रहते हैं। उनका निराकरण माया के सर्वथा निराकरण से ही होता है। माया का निराकरण होने पर जीव 'शुद्धाध्व' में प्रवेश कर जाता है, और पशु के स्थान पर 'पशुपति' बन जाता है। क्रमशः अपने स्वातन्त्र्य और शक्ति को प्राप्त कर लेता है। सर्वप्रथम 'शुद्धविद्या' को प्राप्त करता है, फिर ईश्वरत्व को, तदनन्तर सदा-शिव को, और फिर शक्ति तथा शिव-अवस्था को। इस प्रकार त्रिक दर्शन में कुल मिलाकर ३६ तत्त्व माने जाते हैं। सबसे ऊपर परमशिव है, जो तत्त्वातीत है। वह सामान्य और विशेष दोनों से परे है। इन तत्त्वों के विषय में यह समझ लेना चाहिए कि वे विभिन्न पदार्थ नहीं हैं, किन्तु एक ही प्रमाता या ग्राहक की विभिन्न भूमि-काएँ हैं। ग्राहक प्रमाता की भूमिकाओं के समान ही ग्राह्य की भूमिकाएँ भी मानी गई हैं। समस्त भूमिकाओं में प्रतीत होनेवाले ग्राह्य को ही शिव कहा गया है।

अब संक्षेप में उन भूमिकाओं का वर्णन किया जायेगा।

१. शिव—सामान्य चैतन्य, जो समस्त भूमिकाओं में अनुस्यूत, शुद्ध तथा असीम है। समस्त विशेष या भेद उसमें निगूढ़ हैं। यह सर्वोच्च भूमिका है।

२. **शक्ति**—शिव का 'अहम्' के रूप में परिस्फुरण। इसकी मुख्य विशेषता है अहं-भासन अर्थात् स्वरूप-प्रदर्शन । शक्ति अपने आपको दो भागों में विभक्त कर लेती है —१. अहम् (मैं) और २. इदम् (यह)। यह दोनों भाग पूर्णतया एक दूसरे से अलग नहीं होते । 'अहम्' में 'इदम्' मिला रहता है और 'इदम्' में 'अहम्' । फिरभी प्रत्येक की प्रधानता के कारण नीचेलिखे तीन तत्त्वों की सृष्टि होती है:—

३. **सदाशिव**—इसमें 'अहम्' प्रधान रहता है और 'इदम्' गौण ।

४. **ईश्वर**—इसमें 'इदम्' प्रधान रहता है, और 'अहम्' गौण ।

५. **शुद्ध विद्या**—इसमें दोनों समतुल होते हैं ।

शुद्ध विद्या के ग्राहक या प्रमाता मन्त्र कहे जाते हैं । ईश्वर के प्रमाता मन्त्रेश्वर तथा सदाशिव के मन्त्र महेश्वर ।

आत्मा के इस विभाजन में आपाततः परस्परविरोध प्रतीत होता है, किन्तु यही इस परम्परा की विशेषता है । इतना ही नहीं, दो प्रकार के प्रमाता और हैं—सकल अर्थात् माया प्रमाता और निष्कल अर्थात् मन्त्र जो माया के कार्य या कलारूप नहीं हैं, अतएव 'अकल' कहे जाते हैं । इनके दो भेद हैं—'विज्ञानाकल और 'प्रलयाकल' । प्रलयाकल में अज्ञान का मूल बना रहता है, और उसकी पुनरावृत्ति होती रहती है । जिस प्रकार सोये हुए व्यक्ति में जाग्रत चेतना न होने पर भी उसका मूल बना रहता है, और निद्रा समाप्त होते ही पुनरावृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार प्रलयाकल में भी अज्ञान का मूलोच्छेद नहीं होता । विज्ञानाकल में अज्ञान का मूलोच्छेद हो जाता है और पुनरावृत्ति की सम्भावना नहीं रहती ।

इस प्रकार आत्मा की सात अवस्थाएँ हो जाती हैं, जो विचित्र-सी प्रतीत होती हैं । किन्तु उपनिषदों तथा अन्य शास्त्रों का पर्यालोचन करने पर स्पष्टीकरण हो जाता है । वास्तव में यह एकही आत्मा के विभिन्न रूप हैं, और उसपर पड़नेवाले विभिन्न प्रभावों को प्रकट करते हैं । उपनिषदों में दो पक्षियों का उदाहरण देकर जीव और ईश्वर अथवा भोक्तृ चैतन्य और साक्षी चैतन्य का स्वरूप बताया है । एकही वृक्ष पर सुन्दर पंखोंवाले दो पक्षी बैठे हैं । एक फलों को चख रहा है; दूसरा तटस्थ होकर देख रहा है । पहला जीव या भोक्तृ चैतन्य है, और दूसरा ईश्वर या साक्षी चैतन्य । वास्तव में देखा जाय तो वे दो नहीं हैं, किन्तु एकही आत्मा की दो अवस्थाएँ हैं । भगवद्गीता में भी दो आत्माओं का प्रतिपादन है—अन्तरात्मा और बहिरात्मा । दोनों परस्पर मित्र हो सकते हैं और शत्रु भी । मनुष्य को चाहिए कि अन्तरात्मा के द्वारा बहिरात्मा का उद्धार करे । यही विभाजन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के रूप में किया गया है । जीव क्षेत्र है, जहाँ अनेक प्रकार के अनुभव होते रहते हैं और संस्कारों के बीज समय पाकर फल देते रहते हैं । परमात्मा क्षेत्रज्ञ है । वह सब कुछ जानता है, किन्तु भोगता कुछ नहीं । यह विभाजन त्रिक दर्शन

में स्वीकृत शुद्धाध्व के प्रमाता पुरुषोत्तम तथा माया या अशुद्धाध्व के प्रमाता पुरुष के समान है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों में आत्मा की चार अवस्थाएँ आई हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। इन अवस्थाओं के साथ सम्बन्धित आत्मा को क्रमशः वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और शुद्ध चैतन्य कहा गया है। अन्तिम अर्थात् शुद्ध चैतन्य शेष तीनों का आधार है।

भौतिक विज्ञान में परस्पर-भिन्न अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन है। किन्तु उनके परस्पर प्रभाव एवं सम्बन्ध के लिए कोई सिद्धान्त नहीं मिलता। आत्मा के भेदों की उपर्युक्त व्यवस्था भिन्न प्रकार की है। यहाँ एक ही तत्त्व भिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग रूप से प्रकट होता है। यह साधना के लिए महत्त्वपूर्ण है। साधक नीचे की अवस्थाओं को पार करता हुआ ऊपर चला जाता है। त्रिक दर्शन में प्रतिपादित सात अवस्थाओं को भी इसी दृष्टि से समझना चाहिए। कल्पित होने पर भी उनका, साधना की दृष्टि से, अत्यन्त महत्त्व है।

आधुनिक मनोविज्ञान तथा भौतिक विज्ञान भी चेतन मन की विविध अवस्थाओं का प्रतिपादन करते हैं। बाह्य वस्तुओं का ज्ञान एवं अनुभव करनेवाला चेतन मन या बहिरात्मा ही सब कुछ नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अन्तरात्मा या अचेतन मन के संकेतों का अनुभव करता रहता है। इस अचेतन मन में भी अनेक तत्त्व मिले हुए हैं। सन्तयान ने इन संकेतों को अन्तर्ध्वनि या अन्तरादेश कहा है। इन अन्तर्ध्वनियों में परस्पर संघर्ष चलते रहते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक (William james) ने चार आत्माओं का प्रतिपादन किया है १. भूतात्मा (Physical-self) या अन्नमय कोश का अभिमानी, २. सामाजिक आत्मा (Social self) ३. ज्ञानात्मा (Conciousness) और ४. शुद्ध अस्मिता (Pure Ego)। इन चारों के पुनः अनेक भेद हैं। हमारा जितने व्यक्तियों से परिचय है और उनके मन में हमारे विषय में जितनी धारणाएँ हैं, उतने ही सामाजिक आत्मा के रूप हैं। इन धारणाओं का जो वर्गीकरण होगा, उसी आधार पर सामाजिक आत्मा के भी प्रकार निश्चित किये जायेंगे। इन धारणाओं के आधार पर व्यक्तियों को अनेक श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। कुछ उसे अच्छा समझते हैं, और कुछ बुरा, कुछ बुद्धिमान और कुछ मूर्ख। वह उन सबकी धारणाओं को महत्त्व देता है। परिणामस्वरूप उसके उतने ही सामाजिक आत्मा हैं। आधुनिक काल के प्रसिद्ध वैज्ञानिक Eric fromin का कथन है कि बुराई का सबसे बड़ा कारण अन्तरात्मा या शुद्ध चेतन का बहिर् आत्मा से प्रभावित होकर अपने स्वरूप को भूल जाना है। मनोविश्लेषण ने इस तथ्य को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। उसकी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति में अचेतन मन अत्यन्त शक्तिशाली होता है। यह अनेक प्रकार के संस्कारों का पुंज है, और प्रत्येक संस्कार अपना प्रभाव प्रकट करता रहता है। इन संस्कारों के परस्पर विरोधी होने पर उनमें द्वन्द्व चलता रहता है। परिणामस्वरूप व्यक्तित्व

छिन्न-भिन्न हो जाता है। दूसरा चेतन मन या वहिर् मन है, जहाँ अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ तथा प्रतीतियाँ होती रहती हैं। वे सब विभिन्न केन्द्रों से संलग्न हैं। इन केन्द्रों को आभास चेतन (Shadowselves) कहा जा सकता है। जुंग ने इनका नाम Anima अनिमा (प्राण) तथा Persona (अहंकार) रखा है। फ्रॉयड ने भी इनको इड (इदम्) तथा इगो (अहं) शब्दों द्वारा प्रकट किया है। चिकित्सा मनोविज्ञान ने विकीर्ण (Oplit) तथा विविधलक्षी (multiple) व्यक्तित्व का पता लगाया है। यहाँ एकही व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में परस्पर विरोधी व्यवहार करता है। सामाजिक या सामूहिक मन के और भी अनेक रूप हैं, जो भाषा, प्रान्त, जाति, धर्म, व्यवसाय आदि के रूप में प्रकट होते रहते हैं। सारांश यह कि हमारा प्रत्येक व्यवहार आत्मा की अवस्था विशेष को प्रकट करता है। जब हम परिवार में बैठकर स्त्री, सन्तान आदि की बातें करते हैं, तब पारिवारिक आत्मा बोलती है। जब विश्व की समस्याओं पर विचार करते है, तो दार्शनिक आत्मा काम करती है। जब मंच पर खड़े होकर भाषण देते हैं, तो वही आत्मा नेता बन जाती है। इसी प्रकार कभी हम किसी जाति के, कभी धार्मिक संगठन के, और कभी राष्ट्रीय संगठन के सदस्य के रूप में बोलते हैं। इन आत्माओं का परस्पर-संघर्ष भी होता रहता है।

संक्षेप में, त्रिक दर्शन को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है। यहाँ परम तत्त्व निष्क्रिय या निर्गुण नहीं है, बल्कि समस्त शक्ति एवं क्रियाओं का आधार है, स्वयं महेश्वर है, जिसका मुख्य गुण शक्ति है, जो समस्त ज्ञान का केन्द्र है, और जिसे 'प्रकाश' या 'चिति' कहा जाता है। विश्व का आविर्भाव और उसमें होनेवाले समस्त कार्य चिति के द्वारा सम्पादित होते हैं। यही चिति का स्वातन्त्र्य है। दूसरी ओर शक्ति आत्मा की अभिव्यक्ति है। उसे पूर्ण अहंता और सीमित अभिव्यक्तियों को अहंकार कहा गया है। आत्मा का मुख्य कार्य विमर्श अर्थात् ज्ञान है, जो चेतन आत्मा को जड़ अर्थात् विषय से पृथक् करता है। इस प्रकार परमतत्त्व में प्रकाश और विमर्श दोनों मिले हुए हैं, जबकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म केवल प्रकाशरूप है। चिति अपनी स्वतन्त्र इच्छा द्वारा समस्त विश्व को उत्पन्न करती है। वह सारे विश्व का आधार है और उपादान कारण भी। वही एक ओर ग्राहक और दूसरी ओर ग्राह्य है। ग्राहकों की सात श्रेणियाँ बताई जा चुकी हैं। वास्तव में देखा जाय, तो दो ही भेद हैं--माया प्रमाता और शुद्धाध्व प्रमाता। माया प्रमाता में माया और पाँच कंचुकों के कारण ग्राहक और ग्राह्य का भेद स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। साथ ही वे सभी सीमित हैं। इसके विपरीत, शुद्धाध्व में कोई सीमा नहीं है। माया कोई भिन्न तत्त्व नहीं है। वह चिति (शक्ति) के ही स्वातन्त्र्य का एक रूप है। उसके द्वारा चिति अपने आपको सीमित या संकुचित करना चाहती है। माया की दशा में चिति स्वयं संकुचित हो जाती है, और उसे चित्त कहा जाता है। चिति क्रमशः

संकुचित होती हुई चित्त तक पहुँचती है । साधना का लक्ष्य है चित्त या संकुचित अवस्था से ऊपर उठते हुए पुनः चिति अवस्था को प्राप्त करना और यह जान लेना कि माया या संकोच चिति की स्वतन्त्र इच्छा है, और उसका इच्छानुसार ग्रहण या परित्याग किया जा सकता है। उस समय 'पशु-भाव' मिट जाता है और पति-भाव प्राप्त हो जाता है । यह प्राप्ति किसी नई अवस्था का उत्पन्न होना नहीं है, किन्तु वह पशु-भाव के साथ भी विद्यमान है । आत्मा उसे भूल गया है। उसे पहचान लेना ही प्राप्त कर लेना है । इस पहचान को 'प्रत्यभिज्ञा कहते हैं । इस साधना-मार्ग में महत्अपूर्ण क्षण वह है, जब साधक माया की परिधि को पार करके शुद्ध विद्या में प्रवेश करता है । उस समय वह स्थूल और सूक्ष्म शरीर के साथ अभेद-बुद्धि छोड़कर मन्त्र के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। यह मन्त्र ही ग्राहक बन जाता है, अथवा यों कहना चाहिए कि वही ग्राह्य और ग्राहक दोनों रूप ले लेता है। त्रिक दर्शन की इसी बात को हृदयंगम करना आवश्यक माना गया है। शेप बातें अपने आप समझ में आ जायेंगी।

शुद्धाध्व का निर्देश ऊपर आ चुका है । उसका मुख्य तत्त्व विमर्श है, जो अन्तर्जगत् से सम्बन्ध रखता है। विमर्श को वाक् से पृथक् नहीं किया जा सकता। ऊपर शक्ति का निर्देश पूर्णअहन्ता के रूप में किया जा चुका है। यह नाम उसके स्वातन्त्र्य की अपेक्षा से है । कार्य की दृष्टि से उसीका नाम विमर्श है । इसीको अभिव्यक्ति की दृष्टि से परावाक् कहते हैं। यहाँ वाक् का अर्थ ध्वनि या शब्द नहीं है। इसका अर्थ है अनादि शक्ति, जो जगत् का मूल कारण है। शब्द उस शक्ति के प्रतीकमात्र हैं । प्रतीयमान जगत् ग्राहक और ग्राह्य अथवा नाम और रूप इन दो भागों में विभक्त है। ग्राहक या नाम को 'विमर्श' कहा जाता है, और ग्राह्य या रूप को 'प्रकाश'। वास्तव में, ये दोनों एकही तत्त्व के दो पहलू हैं, उनमें परस्पर-भेद नहीं है । रूप या ग्राह्य के बिना ग्राहक या नाम का कोई अर्थ नहीं रहता। इसी प्रकार, ग्राहक या नाम के बिना ग्राह्य या रूप असत्कल्प है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के मंगलाचरण में शिव और शक्ति के परस्पर-सम्बन्ध की उपमा वाणी और अर्थ से दी है ।

परावाक् का मुख्य कार्य शब्द अर्थात् अभिव्यक्ति है । यह शब्द ध्वन्यात्मक नहीं होता, किन्तु आत्म-चेतना या अहंभाव के रूप में होता है। अपने शुद्धरूप में यह समस्त शब्दों से परे है, और माया-रूप में समस्त शब्दों का अधिष्ठान। कारण के रूप में वाक् और मूलतत्त्व एकही हैं। माया की अवस्था में वेही परस्पर भिन्न हो जाते हैं। वाक् की चार अवस्थाएँ हैं—सबसे पहली परा है, दूसरी पश्यन्ती है। इसका अर्थ है अभिव्यक्ति के लिए उन्मुख होना । यह उस बीज के समान है, जिसमें से अंकुर फूटनेवाला है। इस अवस्था में वाच्य और वाचक परस्परभिन्न नहीं होते। तीसरी अवस्था को मध्यमा कहा जाता है। यह अवस्था वर्णात्मक ध्वनि

से पहले होती है। इसमें शब्द और अर्थ या वाच्य और वाचक का भेद प्रतीत होने लगता है। फिरभी वे पृथक् नहीं होते, अपने मूल तत्त्व में ही निवृत्त अवस्था में रहते हैं। अन्तिम अवस्था को वैखरी कहा जाता है, जहाँ शब्द वर्णात्मक ध्वनि में प्रकट हो जाते हैं, और भाषा अभिव्यक्त हो जाती है।

वाणी का यह सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में उसके चार रूप बताये गये हैं, और कहा गया है कि हमें अन्तिम रूप ही ज्ञात होता है, शेष तीन गुहा में छिपे रहते हैं;

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणाये मनीषिनः।
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

एक अन्य सूक्त में वाणी ने अपनी प्रशंसा करते हुए अपने आपको समस्त वेदों, देवताओं तथा मन्त्रों का मूल कारण बताया है। इस सूक्त में शब्दब्रह्म का प्रतिपादन मिलता है, जिसे अनेक दर्शनोंने स्वीकार किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त जगत् की उत्पत्ति शब्द से हुई है। व्याकरण दर्शन में इसीकी चर्चा 'स्फोटवाद' के रूप में मिलती है, जिसका भर्तृहरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाक्पदीय' में विस्तृत विवेचन किया है।

वैखरी वाक् के तीन रूप हैं—वर्ण, पद और वाक्य। पद और वाक्यों की रचना से पहले वर्णो का अस्तित्व आवश्यक है। संस्कृत की वर्णमाला 'अ' से प्रारम्भ होकर 'ह' पर समाप्त होती है। इसके द्वारा समस्त भावों को प्रकट किया जा सकता है। इसीका मन्त्र के रूप में संक्षिप्त प्रतीक 'अहं' है जो 'अ' से लेकर 'ह' तक वर्ण-माला में गुम्फित शब्दब्रह्म को प्रकट करता है। प्रत्येक वर्ण मातृका अर्थात् चेतना-शक्ति है, जो वक्ता की चित्त-शक्ति का ही एक रूप है। वक्ता को इन ध्वनियों का उत्पादक नहीं माना जाता, वे तो शाश्वत हैं। वक्ता उन्हें केवल प्रकट करता है। इसीको उच्चारण कहते हैं। कई जगह 'क्ष' को अन्तिम अक्षर माना गया है। इसी आधार पर वर्णमाला को अक्षमाला भी कहते हैं। अक्षर शब्द का अर्थ प्रत्येक वर्ण भी है, और वर्णमाला भी। उपनिषदों में अक्षर का अर्थ ब्रह्म है, जो समस्त जगत् का मूल कारण है। तन्त्रों तथा मन्त्रों में उसीको 'मातृका' शब्द से प्रकट किया गया है। उसीका नाम पश्यन्ती वाक् है। तन्त्रों में विभिन्न ध्वनियों के ध्यान और उनसे प्राप्त होनेवाले फलों का विस्तृत विवेचन है। उदाहरण के रूप में, ओ३म् के ध्यान को लिया जा सकता है। इसके घटक अ, उ और म् तीनों वर्ण बीजाक्षर माने जाते हैं। उपनिषद्, शाक्त, तन्त्र, त्रिक, पुराण, आगम तथा दूसरी सारी साधना-पद्धतियों में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

त्रिक साधना में वर्णमाला को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। प्रत्येक वर्ण को बीजाक्षर और मन्त्रों का अधिष्ठान माना गया है। मन्त्र, मन्त्रेश्वर तथा मन्त्र-महेश्वर के रूप में तीन प्रकार के मन्त्ररूप ग्राहकों का भी अधिष्ठान वर्ण ही है।

इस प्रकार शुद्ध विद्या, ईश्वर और सदाशिव मन्त्रवीर्य या शक्ति की विभिन्न अवस्थाएं हैं, और पूर्णअहन्ता मन्त्रवीर्य की उत्कृष्ट सीमा। मन्त्रवीर्य प्राप्त होने पर ही शिव और शक्ति का साक्षात्कार होता है, जो मन्त्र-साधना का मुख्य प्रकार है। साधक अपनी अवस्था के अनुसार उसे चुनता है। सबसे नीचे आणवोपाय अधम कोटि के साधक के लिए है। इसमें समस्त बाह्य क्रियाकाण्ड का विधान है। उसके ऊपर शाक्तोपाय है, जहां ध्यान या मानसिक चिन्तन किया जाता है। उसीको मन्त्र-साधना कहते हैं। तीसरा सर्वोत्कृष्ट शाम्भवोपाय है। यह केवल भाव पर निर्भर है, जो आत्मा या अन्तर्चेतना की अभिव्यक्ति से प्राप्त होता है। इसके लिए शारीरिक अथवा मानसिक किसी बाह्य अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। सबसे ऊपर अनुपाय है। यहां किसीभी प्रकार का प्रयत्न शेष नहीं रहता। इसीको 'प्रत्यभिज्ञा' या शिव का साक्षात्कार कहा जाता है। त्रिक साधना में संक्षेप से विस्तार की ओर न जाकर विस्तार से संक्षेप की ओर जाने का विधान है। 'वैखरी' से 'मध्यमा' में पहुँचते हैं, जहां शब्द-प्रयोग बन्द हो जाता है, और केवल विचार या चिन्तन शेष रहता है। 'पश्यन्ती' अवस्था में पहुँचने पर विकल्पात्मक चिन्तन भी नहीं रहता, और 'अहंभाव' के रूप में अभिव्यक्ति की अस्फुट इच्छा-मात्र रह जाती है। 'परा' अवस्था में वह भी नहीं रहती। वह सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। इसीलिए उसे 'अनुत्तर' कहा जाता है।

यह बताया जा चुका है कि त्रिक सिद्धान्त में अनेक दर्शनों के स्वस्थ तत्त्व सम्मिलित हैं। उपनिषदों के समान इसमें भी अद्वैत का प्रतिपादन है, किन्तु द्वैत को मिथ्या नहीं माना गया। वेदों में विश्व के मूल तत्त्व को शक्तिमान, तथा उसकी शक्ति को माया बताया गया है, जिसकी अभिव्यक्ति मन्त्र के द्वारा होती है। त्रिक दर्शन में भी यही बात है। अद्वैत वेदान्त में मूल तत्त्व को सत्य तथा उसकी शक्ति एवं बाह्य जगत् को मिथ्या माना गया है। त्रिक दर्शन दोनों को सत्य मानता है। साथ ही, मूल तत्त्व की उत्कृष्टता को अक्षुण्ण रखता है। इस प्रकार यहाँ सभीके लिए उपयुक्त क्षेत्र है। सत्य के साक्षात्कार में प्रवृत्त उच्चकोटि के दार्शनिक तथा सामाजिक जीवन में लगे हुए गृहस्थ सभीके सामने अपना-अपना लक्ष्य है। विश्व को मिथ्या मान लेने पर साधारण जीवन के प्रति जो उपेक्षा-बुद्धि आ जाती है और जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन विशृंखलित हो जाता है वह बात त्रिक में नहीं है।

शांकर वेदान्त में संन्यास पर बल है। साथ ही, युक्ति एवं वैयक्तिक अनुभव को छोड़कर उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धान्तों को स्वीकार करने के लिए कहा गया है। त्रिक दर्शन सामाजिक जीवन के परित्याग पर बल नहीं देता। श्रुति अथवा वेद की आज्ञा के स्थान पर अनुभव एवं युक्ति का आश्रय लेता है। वह साधक को अपनेही अनुभव पर आगे बढ़ने का आदेश देता है। यहाँ गुरु का स्थान

भी नगण्य-सा है। साधक ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, परमेश्वर की कृपा के साथ मार्ग स्पष्ट होता चला जाता है।

त्रिक साधना में ध्यान के साथ-साथ कर्मानुष्ठान को भी रखा है। शिव के साथ शक्ति का जो स्वरूप बताया गया है, उस आधार पर भक्ति का भी पर्याप्त विकास हुआ है। इस प्रकार बुद्धि, हृदय और शरीर अर्थात् ज्ञान, भावना और क्रिया तीनों का समुचित स्थान है। तीनों सापेक्ष और एक दूसरे के पूरक हैं। शक्ति के साथ शिव का सतत मेल है। परिणामस्वरूप शक्ति स्वतन्त्र होनेपर भी उच्छृंखल नहीं होती। अद्वैत वेदान्त में मुक्ति का अर्थ है जीव का ब्रह्म में लीन होना। बौद्ध दर्शन का निर्वाण भी ऐसाही है। इसका अर्थ है बुझ जाना। दोनों दर्शनों में जीव का कोई अस्तित्व नहीं रहता। किन्तु त्रिक दर्शन में जीव या पशु, जो पाश में बँधा हुआ है, वह स्वतन्त्र हो जाता है। पशु न रहकर पशुपति बन जाता है। यहाँ विश्व जीव की कल्पना नहीं है, किन्तु ईश्वर का आभास है। प्रत्येक लौकिक तथा लोकोत्तर अनुभव में ईश्वर का सायुज्य बना हुआ है। अतः त्रिक दर्शन को केवल 'विज्ञानवाद' भी नहीं कहा जा सकता।

त्रिक साधना का कुण्डलिनी तथा अन्य योग-पद्धतियों के साथ भी पूरा सामंजस्य है। वाक् शक्ति ही कुण्डलिनी है। इस प्रकार दर्शन एवं साधना दोनों दृष्टियों से त्रिक परम्परा में जीवन-विकास के लिए पूरी गुंजाइश है। इसमें जीवन के किसी पक्ष की उपेक्षा नहीं की गई। भोग और मोक्ष, संसार और निर्वाण, शिव और शक्ति, ग्राह्य और ग्राहक सभीको एकसाथ रखा गया है। एक शब्द में इसे जीवन का समग्र दर्शन कहा जा सकता है।

शाक्त-दर्शन

वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है, 'भगवन् ! मुझे असत् से सत् की ओर, धकार से प्रकाश की ओर, और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाओ' (असतो ा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय) । असत् अर्थात् दुर्ब-ता। अंधकार अर्थात् अज्ञान, और मृत्यु अर्थात् दुःख । प्रार्थी दुर्बलता, अज्ञान ौर दुःखों से ऊपर उठकर शक्ति, ज्ञान और सुख प्राप्त करना चाहता है। इसी ाधार पर उपासना के भी तीन भेद हो गये हैं—शाक्त, शैव और वैष्णव। गवद्गीता में इन्हींको क्रमशः कर्म, ज्ञान और भक्तिमार्ग के रूप में उपस्थित कया गया। मध्यकाल में शक्ति का प्रतीक सिंहवाहिनी दुर्गा को मान लिया या, और शाक्त-साधना को इसीकी उपासनातक सीमित कर दिया गया। ास्तव में, देखा जाय तो यह सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म के सत् अंश की उपासना है। न्य दो अंश हैं चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द अर्थात् सुख।

शाक्त-साधना में साधकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है, जिन्हें भाव' कहा जाता है। वे हैं—(१) ब्रह्मभाव, (२) वीरभाव, और (३) पशुभाव।

साधकों की श्रेणियाँ

ब्रह्मभाव में सत्वगुण की प्रधानता होती है। वह ज्ञान और वैराग्य के पथ पर चलता है। वीर में रजोगुण की। ाह प्रवृत्ति-प्रधान और महत्त्वाकांक्षी होता है। पशु में अज्ञान और आलस्य की धानता होती है। उसमें न सत्य को जानने की इच्छा होती है और न कोई खास ाकांक्षा ही। इन भावों के परस्पर सम्मिश्रण से और भी अनेक भाव हो गये हैं, जिनका नोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत महत्व है। उदाहरण के रूप में, जिस व्यक्ति में रजो-ुण के साथ सत्व का सम्मिश्रण होता है, वह कल्याणकारी प्रवृत्तियों में रुचि लेता ै। वह समाज-सेवक तथा लोकप्रिय होता है। वही तमोगुण का सम्मिश्रण होने पर माज-विरोधी प्रवृत्तियाँ करने लगता है। ऐसा व्यक्ति डाकू, हत्यारा आदि के ूप से समाज-विरोधी बन जाता है। **भावचूडामणि तंत्र** में इन श्रेणियों का विस्तार में निरूपण किया गया है। साथही, यह भी बताया गया है कि किस स्वभाव-ाले साधक को कौन-सी साधना-पद्धति अपनानी चाहिए।

कुलार्णव तंत्र में सात आचार बताये गये हैं—वैदिक, वैष्णव, शैव, दक्षिण,

सात आचार या भूमिकाएँ

वाम, सिद्धांत और कौल। साधक इनका क्रमशः पालन करता हुआ सातवें आचार पर पहुँचता है। पहली भूमिका में शरीर और मन की शुद्धि का अभ्यास किया जाता है। ूसरी भूमिका भक्ति की है। तीसरी ज्ञान की। दक्षिण नामक चौथी में पिछली

तीन भूमिकाओं के संस्कार घनीभूत हो जाते हैं। पाँचवीं भूमिका वाम अर्थात् त्याग की है। साधारणतौर पर इसकी व्याख्या वामा अर्थात् स्त्री के साथ सम्बन्ध के रूप में की जाती है, किन्तु यह ठीक नहीं है। यहाँ वामा नहीं, किन्तु 'वाम' शब्द है, जिसका अर्थ है उलटा। दक्षिणाचार प्रवृत्ति-प्रधान है, और यह उससे उलटा अर्थात् निवृत्ति-प्रधान होने के कारण वामाचार कहा जाता है। इस साधना में स्त्री का सहयोग रहता है, किन्तु वह ब्रह्मचर्य की साधना के लिए है, इन्द्रिय-तृप्ति के लिए नहीं। सभी तान्त्रिक साधनाओं में स्त्री को पूज्य माना गया है। वह विश्व-व्यापिनी परमशक्ति का अवतार है। अपराध करने पर भी उनका अपमान अनुचित बताया गया है।

छठी भूमिका सिद्धान्त है। यहाँ साधक भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति के गुणावगुण का विचार करके अन्तिम निर्णय पर पहुँच जाता है और सातवीं कौल नामक भूमिका में प्रवेश करता है। यहाँ पहुँचने पर कुल अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है।

तंत्र-साधना में सबसे ऊँची भूमिका 'कुल' है। इसे पूर्वोक्त छह आचारों के पश्चात् प्राप्त किया जाता है। तभी साधक को 'कौलिक' कहा जाता है। उसे साधना के अन्य प्रकारों का भी ज्ञान होना चाहिए। जिस व्यक्ति का मन शिव, विष्णु, दुर्गा, सूर्य, गणेश आदि देवताओं के मंत्रों से शुद्ध हो चुका है, उसीको कुल-ज्ञान प्राप्त होता है।

पहली तीन भूमिकाओं अर्थात् वेद, वैष्णव और शैव का संबंध पशुभाव से है। दक्षिणाचार और वामाचार का सम्बन्ध वीर-भाव से है, और अन्तिम दो का दिव्यभाव से। पाँच भूमिकाओं तक गुरु का मार्ग-दर्शन आवश्यक माना गया है; अन्तिम दो में उसकी आवश्यकता नहीं रहती। वहाँ साधक को पूरी स्वतन्त्रता मिल जाती है।

योगवाशिष्ठ में भी साधना की सात भूमियाँ बताई गई हैं। वहाँ इन्हें ज्ञान-भूमियाँ कहा गया है। इसके विपरीत, तन्त्रों में इन्हें आचार-भूमियाँ कहा गया है। उनका कथन है कि ज्ञान द्वारा इन भूमिकाओं को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। साधक कठोर साधना और दीर्घकाल के चिन्तन के बाद भक्ति-मार्ग को अपनाकर आगे बढ़ता है। इसके विपरीत, तन्त्र-साधना में प्रारम्भ से ही भक्ति या श्रद्धा को महत्व दिया गया है।

शाक्त-साधना में गुरु का बहुत अधिक महत्त्व है। गुरु का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि वह जन्म तथा संस्कारों से शुद्ध, वशेन्द्रिय, शास्त्रज्ञ, परोपकारी, शांतचित्त, कृपालु, सिद्धयोगी तथा आकर्षण का केन्द्र होना चाहिए।

गुरु-दीक्षा

साधक के मन में यह विश्वास रहना चाहिए कि गुरु मानवातीत दैवी

शक्ति है। साधक वास्तविक गुरु ईश्वर को समझे, और आचार्य को वह स्रोत, जिसके द्वारा ईश्वर शिक्षा देता है। आचार्य अर्थात् मानव गुरु पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व होता है, जो दीक्षा के साथ समाप्त नहीं होता। उसका कर्त्तव्य है प्रत्येक क्षेत्र में शिष्य के कल्याण का ध्यान रखना और उसका मार्ग-दर्शन करना। वह आत्मा का चिकित्सक माना जाता है। स्वस्थ आत्मा स्वस्थ शरीर में ही निवास करती है। इसलिए वह शिष्य के शारीरिक स्वास्थ्य का भी ध्यान रखता है। गुरु अपने उत्तरदायित्व को समझकर दीक्षा देने में जल्दी नहीं करता। यह भी कहा गया है कि शिष्य को ऐसा गुरु नहीं बनाना चाहिए, जिसकी ओर उसका झुकाव न हो।

दीक्षा के प्रकार

शिष्य की योग्यता और संस्कारों के अनुसार दीक्षा भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। साधारण अधिकारी के लिए 'क्रिया-दीक्षा' है। इसमें बहुत-से संस्कार सम्मिलित हैं। उच्च अधिकारी की दीक्षा को 'वेद-दीक्षा' कहा जाता है, जो ज्ञान-प्राप्ति का शीघ्रतम और निश्चित उपाय है। यह दीक्षा मिलने पर साधक को तत्काल गुरु, मन्त्र और देवता के साथ अपने अभेद का भान होने लगता है। वह शिव-स्वरूप हो जाता है। अन्य दीक्षाओं में साधक अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उसे क्रम-क्रम से प्राप्त करते हैं।

पूजा

परमतत्त्व सर्वसाधारण की पहुँच से बाहर है। निराकार होने के कारण साधारण व्यक्ति उसकी उपासना या पूजा नहीं कर सकते। अतः अभ्यास के लिए आकार की कल्पना की जाती है। ब्राह्मण का देवता अग्नि है, जहाँ वह हवन करता है। योगी का देवता हृदय में रहता है, जहाँ वह उसका ध्यान करता है। साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति उसकी कल्पना प्रतिमा में करता है। आत्मज्ञानी उसे सर्वत्र देखता है।

ऊपर तन्त्र-साधना के पाँच रूप बताये गये हैं। उनमें से चार पूजा से संबंध रखते हैं। अन्तिम रूप में साधक और साध्य पूज्य और पूजक एक हो जाते हैं। उसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता।

दीक्षा के द्वारा एक ओर आध्यात्मिक रहस्यों का ज्ञान कराया जाता है, और दूसरी ओर साधक को पतन से बचाया जाता है। उदाहरण के रूप में, गुरु शिष्य को 'ओम्' का स्वरूप बताता है कि उसके तीन अक्षर अ, उ और म् क्रमशः सत्व, रजस् और तमस् को प्रकट करते हैं, वे क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और शिव के गुण हैं। इन तीन देवताओं की तीन शक्तियाँ हैं—ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री। ओम् 'हंसः' का सूक्ष्म रूप है, जिसे अजपा मन्त्र भी कहा जाता है। इसकी ध्वनि अपने-आप निरंतर होती रहती है। हंस जगत्-स्रष्टा ब्रह्मा का वाहन है। वही जीवन का आधार प्राण-वायु है। 'हम्' का उच्चारण करते समय श्वास लिया और 'सः' का उच्चारण करते समय छोड़ा जाता है। जंगम तथा स्थावर सभी प्राणी साँस लेते हैं। वही ब्रह्मा की सवारी है, जो विश्व के मूल तत्व का सर्जक रूप है। साधारण व्यक्ति के लिए हंस एक पक्षी है।

प्रणव अर्थात् 'ओम्' में पूर्वोक्त तीन अक्षरों के अतिरिक्त बिन्दु, नाद, शक्ति और शांत भी है। इसका ज्ञान हो जाने पर साधक शान्तातीत को जानने का प्रयत्न करता है। यही बात प्रत्येक मन्त्र के लिए है।

किसीका मत है कि विश्व को सदाशिव ने रचा; दूसरे सदाशिव के स्थान पर विष्णु या अन्य देवताओं को रखते हैं। कुछ का मत है कि विश्व का कोई रचनेवाला नहीं है; दूसरों के मतानुसार अनेक रचयिता हैं। कोई विश्व को अनादि मानता है। अन्य मतानुसार उसकी रचना शक्ति या विराट् ने की है। तन्त्रों में ब्रह्म या शिव के दो रूप बताये गये हैं—सगुण और निर्गुण। निर्गुण प्रकृति या शक्ति से पृथक् है, और सगुण उसके साथ सम्बद्ध। सगुण से शक्ति का आविर्भाव होता है, उससे नाद का और नाद से बिन्दु का। इस सिद्धान्त को दूसरे रूप में भी उपस्थित किया जाता है। प्रलय होने-पर सारा विश्व पराशक्ति में लीन हो जाता है। शक्ति का चित् के साथ सबध होने पर उसमें जगत् उत्पन्न करने की इच्छा होती है, जिसे 'विचिकीर्षा' कहा जाता है। परिणामस्वरूप बिन्दु की उत्पत्ति होती है। अंडाकार बिन्दु अपने-आप फट जाता है और उससे नाद और बीज प्रकट होते हैं। यह बिन्दु शिव या ज्ञान के संस्कार लिये रहती है। बीज का अर्थ है शक्ति। नाद क्षोभ्य और क्षोभक के रूप में दोनों का परस्पर-सम्बन्ध है। बिन्दु का विस्फोट होने पर 'अपचीकृत' शब्द उत्पन्न होता है। इसको 'शब्दब्रह्म' कहा जाता है, जो समस्त विश्व में व्याप्त चैतन्य है। उसीसे वर्णमाला के सारे अक्षर, शब्द तथा विचारोत्तेजक ध्वनियाँ निकली हैं। प्रत्येक ध्वनि सार्थक होती है। शब्द और अर्थ का परस्पर नित्य सम्बन्ध है।

सृष्टि की रचना

शब्द से आधिदैविक जगत् की उत्पत्ति होती है; स्पर्श से वायु की; रूप से अग्नि की; रस से जल की; तथा गन्ध से पृथ्वी की। सूक्ष्म में स्थूल की उत्पत्ति होती है और विनाश का समय आनेपर स्थूल सूक्ष्म में लीन हो जाता है। साधक प्रतिमा आदि किसी स्थूल वस्तु से प्रारम्भ करता है, और धीरे-धीरे शब्दातीत और रूपातीत अवस्था पर पहुँच जाता है। मूर्ति गुरु द्वारा दिये गये मन्त्र का साकार रूप होती है। शिष्य उसीको ब्रह्म मानता है। प्रत्येक साधक का देवता ब्रह्म का साकार रूप होता है, और उसकी उत्पत्ति मन्त्र से होती है। तन्त्रों का कथन है कि इष्टदेवता की पूजा से सुख एवं संतोष की वृद्धि होती है। इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। साथ ही, आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। इष्टदेवता की पूजा द्वारा साधक उसीकी समान भूमिका पर पहुँच जाता है।

पंचमकार को लेकर शाक्त-साधना पर बहुत आक्षेप हुए हैं। वे हैं—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन। साधना की विविध श्रेणियों के लिए इनका अर्थ भिन्न-भिन्न है। इनके उपयोग का उद्देश्य है—जीवन की भली-बुरी प्रत्येक प्रवृत्ति तथा प्रत्येक वस्तु को पूजा का

पंच मकार

अंग बनाना। तन्त्र-साधना का लक्ष्य है कि मानव अपने अच्छे या बुरे प्रत्येक कार्य को देवता के चरणों में अर्पित करदे, दुनिया जिन बातों को बुरा समझती है, उनका भी सेवन पूजा के रूप में करे। इससे भावना उत्तरोत्तर शुद्ध होती जाती है। शंकराचार्य ने अपने देवी-स्तोत्र में इस प्रकार उपसंहार किया है—'परमेश्वरी! मेरे मन की प्रत्येक हलचल तुम्हारी स्मृति है, प्रत्येक शब्द तुम्हारी स्तुति है, और प्रत्येक क्रिया तुम्हारी वन्दना है।' पंचमकार का उपयोग इसी प्रकार की मानसिक स्थिति बनाने के लिए किया जाता है।

कुलार्णव तन्त्र में बताया गया है कि मदिरा वह अमृत है, जो कुंडलिनी का शिव के साथ मेल होने पर प्रवाहित होता है। उसे पीनेवाला ही अमृतपायी है, दूसरे केवल शराबी हैं।

मांस-भक्षण का अर्थ है ज्ञानरूपी खड्ग के द्वारा पाप और पुण्यरूपी पशुओं को मारकर अपने-अपने मन को शिव में लीन करना।

मत्स्य-भक्षण का अर्थ है इन्द्रियाँ वश में करके आत्मलीन होना। दूसरे केवल हत्यारे हैं।

साधक अपने मनोभावों को प्रकट करने के लिए हाथों से विशेष प्रकार की चेष्टाएँ करता है। इन्हींको मुद्राएँ कहा जाता है। उदाहरण के रूप में, दोनों हाथों को जोड़ना नम्रता का प्रदर्शन है। यह प्रणाम मुद्रा है। अञ्जलि के रूप में हाथों को रखना स्वागत और उपहार को प्रकट करता है। दोनों हाथ कंधोंतक उठाना स्वागत-मुद्रा है। एक हाथ छातीतक उठाना अभय मुद्रा है। साधक जिन मनोभावों को लेकर देवता का स्वागत करना चाहता है, उन्हींके अनुरूप वह मुद्रा रचता है।

मैथुन शब्द मिथुन से बना है। इसका अर्थ है युगल या जोड़ा। संसार में कोई वस्तु दो तत्त्वों के मिलन के बिना नहीं उत्पन्न होती। चेतना या ज्ञान के लिए भी यह मिलन आवश्यक है। मिथुन उस सत्ता का प्रतीक है, जो प्रतीयमान समस्त प्रपंच का अधिष्ठान है। वह साधारण ज्ञान का विषय नहीं है। जीवनमुक्त ही उसका साक्षात्कार कर सकते हैं। देवता के प्रति इस तत्त्व के उपहार का अर्थ है समस्त भेद-व्यवहार का परित्याग, जिससे अधिष्ठानभूत एकता प्रत्यक्ष हो सके। पंचम मकार मैथुन का यही वास्तविक अर्थ है।

वाणी या शब्द की चार अवस्थाएँ हैं। तीन अवस्थाएँ छिपी हुई हैं। वहाँ शब्द की अभिव्यक्ति नहीं होती। पहली अवस्था को 'परा' कहा जाता है। इसका स्थान मूलाधार चक्र है, जो सुषुम्ना नाड़ी के मूल में है। 'परा' अवस्था में शब्द अव्यक्त रहता है, उसकी उपमा निस्तरंग समुद्र से दी जाती है। दूसरी अवस्था 'पश्यन्ती' है। यहाँ शब्द विचार का रूप ले लेता है और प्रकट होने के लिए आगे बढ़ता है। 'पश्यन्ती' का शब्दार्थ

वाणी की चार अवस्थाएँ

है देखनेवाली। तीसरी अवस्था 'मध्यमा' है। यहाँ शब्द हृदय-स्थित अनाहत चक्र में पहुँच जाता है। अनाहत का शब्दार्थ है वह ध्वनि, जो किसी आघात से उत्पन्न नहीं होती। हम जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं, वे वायु का कंठ, तालू आदि स्थानों के साथ आघात होने पर उत्पन्न होते हैं। उनके विपरीत, अनाहत शब्द सतत चलता रहता है, उसके लिए आघात की आवश्यकता नहीं होती। राधा-स्वामी सम्प्रदाय में मुख्यतया इसीका ध्यान किया जाता है। वहाँ उसे अनहद कहते हैं। चौथी अवस्था 'वैखरी' है, जहाँ शब्द कानों से सुनाई देने लगता है। पद्मपादाचार्य ने 'परा' से भी पहले तीन अवस्थाएँ और बताई हैं। वे हैं शून्या, संवित और सूक्ष्मा (प्रपंचसार-टीका अध्याय २, श्लोक ४३)। पहली अवस्था स्पन्द अर्थात् हलचल के रूप में होती है। दूसरी अवस्था में शब्द-रचना की ओर झुकाव होता है, और तीसरी में रचना होने लगती है। तन्त्र-साधना में शब्द के स्वरूप का ज्ञान बहुत महत्व रखता है।

छह चक्र और छह अध्वा—शाक्त-साधना के लिए छह चक्रों का ज्ञान आवश्यक है, वे जो इस प्रकार हैं :—

१. **मूलाधार**—इसका स्थान जननेन्द्रिय और गुदा के बीच है, यह पृथ्वी महाभूत का अधिष्ठान है।
२. **स्वाधिष्ठान**—यह जननेन्द्रिय के ऊपर है, और जल महाभूत का अधिष्ठान है।
३. **मणिपूर**—यह नाभि के पास है, और अग्नि महाभूत का अधिष्ठान है।
४. **अनाहत**—यह हृदय में है, और वायु महाभूत का अधिष्ठान है।
५. **विशुद्धि**—यह कंठ में है, और आकाश महाभूत का अधिष्ठान है।
६. **आज्ञा**—यह भौहों के बीच में है, तथा दिव्य दृष्टि का केन्द्र माना जाता है।

आज्ञा-चक्र के ऊपर भी कुछ केन्द्र बताये जाते हैं। चक्रों की संख्या के विषय में कई मत हैं। कोई इनकी संख्या १६ मानते हैं, और कोई उससे भी अधिक। हमारा शरीर जिन पाँच महाभूतों से बना है, षट्-चक्र-भेद से उनकी शुद्धि हो जाती है। यह आवश्यक माना गया है कि चक्रभेद का अभ्यास गुरु के समीप रहकर ही करना चाहिए, तनिक-सी भूल का परिणाम भयंकर हो सकता है। चक्र-भेद के द्वारा छह अध्वा अर्थात् परमशिव का साक्षात् करानेवाले मार्गों की प्राप्ति होती है। वे हैं —कला, तत्त्व, भुवन, वर्ण, पद और मन्त्र। कलाएँ पाँच हैं—निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता। तत्त्वों की संख्या शैवमतानुसार ३६ है, और वैष्णवमत में ३२। सांख्य-दर्शन में २४ तत्त्व हैं। प्रकृति के तत्त्व दस हैं और त्रिपुरा के सात। भुवन पाँच हैं—स्वर्ग, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, पाताल, और नरक। वायवीय-संहिता में सबसे नीचे के भुवन को मूलाधार बताया गया है, और सबसे ऊँचे को उन्मनी। भुवन का अर्थ साधक की मानसिक अवस्थाएँ हैं। वर्ण का अर्थ है अनु-

स्वार-युक्त अक्षर। पद का अर्थ है अक्षरों का समूह, जो अर्थ विशेष को प्रकट करता है। मन्त्र-तत्त्व में सभी मन्त्र अपने-अपने रहस्य के साथ आते हैं। दीक्षा के समय शिष्य को बताया जाता है कि प्रत्येक अक्षर, प्रत्येक पद, प्रत्येक मन्त्र तथा प्रत्येक अनुभूति में उसीका ध्यान करना चाहिए। वह हमारे भीतर-बाहर सर्वत्र है, हमारा अस्तित्व उसीपर टिका हुआ है, फिरभी अविद्या या आवरण के कारण हम उसे नहीं देख पाते।

मातृका

शाक्त-साधना में वर्णमाला का बहुत महत्व है। उसे 'मातृका' कहा जाता है। वह प्रत्येक शब्द तथा मन्त्र को उत्पन्न करती है। मन्त्र से देवता उत्पन्न होता है। प्रपंचसार के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में शंकराचार्य ने कहा है—'भगवती शारदा तुम्हारी बुद्धि को शुद्ध करे।' परमेश्वरी का शरीर सात वर्णों से बना है, जो संस्कृत वर्णमाला के अक्षरों का वर्गीकरण है। वह नित्य है। वह सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का कारण है।

शिव और शक्ति

तन्त्रों का मत है कि शिव शक्ति के बिना शव के समान है अर्थात् ज्ञान, क्रिया के बिना पंगु होता है, और शिव के बिना शक्ति उच्छृंखल हो जाती है। साथ-ही, यहभी कहा गया है कि शिव और शक्ति में तादात्म्य है। वे एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं। साधारणतया शिव को पुरुष और शक्ति को स्त्री माना जाता है। वास्तव में, वे स्त्री, पुरुष या नपुंसक कुछ भी नहीं हैं। जो साधक उस परमसत्य की उपासना ज्ञान या शिव के रूप में करता है, वह शैव कहा जाता है, और जो उसकी उपासना शक्ति के रूप में करता है, वह शाक्त। जगन्नियन्ता के रूप में शिव बैल की सवारी करते हैं। यहाँ बैल या वृषभ धर्म का प्रतीक है। उसके चार पैर हैं—सत्य, शौच, दया और दान। शिव और शक्ति के परस्पर अभिन्न होने के कारण एक की पूजा से दूसरे की पूजा अपने-आप हो जाती है। वैष्णवों का मत है कि ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए उसके विभुत्व या व्यापक रूप का ध्यान करना चहिए, जो विष्णु के रूप में मिलता है। शैव साधना से वैष्णव साधना भिन्न प्रकार की है। शक्ति की पूजा सरस्वती के रूप में भी की जाती है, जो वाणी की अधिष्ठात्री है। शक्तियों में उसका सर्वप्रथम स्थान है, उसीसे समस्त मन्त्रों की सृष्टि हुई है। विभिन्न मन्त्रों के साथ उसके भिन्न-भिन्न रूप हैं, जैसे, श्री, लक्ष्मी, भुवनेश्वरी, दुर्गा, काली इत्यादि।

शाक्त साधना में गृहस्थ भी ऊँचे-से-ऊँचा लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। शास्त्रों के द्वारा शब्दब्रह्म का बाह्य ज्ञान हो सकता है, किंतु उसका साक्षात्कार साधना द्वारा ही सम्भव है। इसके लिए साधक को अपने-अपने तन्त्र की दीक्षा लेकर तदनुसार अभ्यास करने की आवश्यकता बताई गई है। अन्त में साधक यह

अनुभव करता है कि जगत् के उत्पादक ब्रह्मा, रक्षक विष्णु और संहारक शिव भी नश्वर हैं, सभी का परमतत्त्व में विलय हो जाता है। जिस प्रकार अमृत का रसास्वाद हो जाने पर अन्य रसों की अपेक्षा नहीं रहती, उसी प्रकार परमसत्य का ज्ञान हो जाने पर शास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती।

अध्याय–१०

दक्षिण भारत में भक्ति-मार्ग

[श्री र० शौरिराजन]

भक्ति को भारतीय दार्शनिक और सांस्कृतिक परम्परा की अनूठी उपलब्धि माना गया है। भक्ति की धारा वैदिक काल से लेकर कई सुन्दर तत्त्वों को स्वीकार कर बराबर बढ़ती ही रही है। भक्ति है आस्था, तथा अनुराग को विकास देनेवाली चित्तवृत्ति। किन्तु उसका दुरुपयोग बुरे परिणामों का कारण भी प्राय: बना है।

भक्ति कहाँ उपजी, किधर पनपी और कैसे बढ़ी है—यह एक शोध का विषय है। काल. स्थिति तथा सुयोग की दृष्टि से हम सभी एक-न-एक समय भारतीय भक्ति-परम्परा के सवर्धक रहे हैं। भक्ति करना मानवमात्र का स्वभाव है, आत्मतोष है।

भक्ति-मार्ग या भक्ति-योग का विकास भारत के सभी भागों में हुआ। उत्तरापथ में भक्ति-योग की योजनाएँ बनीं, पर वे सफल हुई दक्षिणापथ में। सम्प्रदायों का प्रवर्तन दक्षिण के आचार्यों ने किया, तो उसका संवर्धन उत्तर में अधिक हुआ। वर्ण-व्यवस्था भले ही उत्तर में प्रारम्भ हुई हो, किन्तु उसका परिष्कार, सुधार और संगठन दक्षिण में हुआ है। वेदों की उत्पत्ति उत्तर में हुई; किन्तु उनका सस्वर. स्पष्ट पाठ करनेवाले घनपाठियों की संख्या दक्षिण में आजभी अधिक है। संस्कृत उत्तरापथ की भाषा बताई जाती है, किन्तु उसका विकास दाक्षिणात्य विद्वानों ने भी बहुत किया है। जबकि आर्य-संस्कृति के कई चिह्न उत्तर में मिटने लगे, तब उसका गौरवशाली विकास दक्षिण में होने लगा।

इस प्रकार उत्तर और दक्षिण एक-दूसरे के पूरक, पोषक और समर्थक रहे हैं। भारत की बड़ी-बड़ी विभूतियों ने इस 'समन्वय-सेतु' को सुदृढ़ बनाने का भरपूर प्रयत्न किया है। उत्तर के हिमालय पर, गंगा-यमुना पर, काशी-प्रयाग, वृन्दावन आदि पावन धामों पर, श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण और काव्य ग्रन्थों पर दक्षिण वैसा ही गर्व और गौरव प्रकट करता है, जैसाकि उत्तर, दक्षिण के सेतु रामेश्वरम्, मदुरै, कांची आदि पुनीत स्थलों पर, शंकर, रामानुज आदि आचार्यों पर और उनके द्वारा चलाये दर्शनों पर। इस भारत और भारतीय प्रजा की समग्र परिकल्पना ही भारतीय परम्परा और सामासिक धर्म-संस्कृति की संजीविनी है।

भक्ति-मार्ग के सार्वजनीन विस्तार का दक्षिण को विशेष गौरव प्राप्त था, जिसे उत्तर के उदार विद्वानों ने प्रकट किया है, जैसे :—

कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ।
क्वचित् क्वचित् महाराष्ट्रे द्रविडेषु च भूरिशः ।।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी ।
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी ।।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा भुवनेश्वर ।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः ।।[1]

पद्मपुराण और श्रीमद्भागवत दोनों में यह बात समान रूप से बताई गई है—

उत्पन्ना द्राविडे चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता ।
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ।।

—भक्ति स्वयं कहती है, मैं द्राविड देश (तमिलनाडु में) उत्पन्न हुई, कर्णाटक (तथा आन्ध्र) में पनपी, महाराष्ट्र में थोड़ी स्थिरता पा सकी; फिर वहाँ से मैं फैलते-फैलते गुजरात में लुप्तप्राय हो गई।

भक्ति-मार्ग की दो प्रमुख धाराएँ अत्यधिक प्रसिद्ध हुई हैं—शिव-भक्ति-धारा और विष्णु-भक्ति-धारा। इन दोनों के अन्तर्गत अनेक देवी-देवताओं की उपासना की परम्पराएँ प्रचलित हैं। भक्ति-मार्ग का वर्तमान सार्वजनीन विस्तार ई० छठी शती के कुछ पहले होने लगा था। इसका सुसंगठित सामूहिक आन्दोलन दक्षिण में ही आरम्भ हुआ। भक्ति को परम प्रतिष्ठा दक्षिण के शैव तथा वैष्णव आचार्यों ने दी। जाति, भाषा, प्रदेश आदि सभी भेदों को भुलाकर 'भक्त-कोटि' (भक्तों की श्रेणी) तैयार करने का पूरा श्रेय दक्षिण को प्राप्त है।

शिव-भक्ति-धारा

शिव आर्य देवता हैं, या अनार्य देवता—यह विवाद का विषय है। आज आर्य-अनार्य का विभाजन अत्यन्त दुष्कर है। ऐसी आर्यता कहीं भी देखने को नहीं मिलेगी, जिसमें अनार्यता का समाहार न हुआ हो। ऐसा ही अनार्यता के बारे में भी है। जैसे अनार्य-तत्त्वों को स्वीकार कर आर्यता विकसित हुई; वैसेही आर्य-तत्त्वों को आत्मसात् कर अनार्यता भी नया ही स्वरूप पा चुकी है। अतः भारतीय प्रमुख भक्ति-धारा के रूप में शिव-भक्ति-धारा को स्वीकारना सुसंगत होगा।

ऋग्वेद में रुद्र को अंतरिक्ष-देवता या मध्यम श्रेणी का देवता माना जाता है। अथर्ववेद में रुद्र को 'व्रात्य' से लेकर 'महादेव', 'ईशान', 'ईश', 'महेश' आदि उपाधियाँ दी गई हैं। इसीका विकास बाद के स्मृति-ग्रन्थों तथा पुराणों में देखा जाता है।

यजुर्वेद में रुद्र के पशुपति, भिषक्, शिव, शिवतर, शंकर, गिरिशंत, गिरित्र, गिरिश, गिरिचर, क्षेत्रपति, वणिक् आदि नाम दिये गये हैं। इनके अलावा रुद्र को स्तेनानां पतिः (चोरों का मुखिया), स्तायूनां पतिः (ठगों का नायक) तस्कराणां

---

१. श्रीमद्भागवतम्, ११, ५, ३८-४०

पतिः (चोर-पति), वनानां पतिः (जंगल का अधिपति) आदि उपाधियाँ भी दी गई हैं।[1]

शैव मत का सबसे प्राचीन और प्रमुख रूप लिंग-पूजा माना गया है। यद्यपि ऋग्वेद में इसका उल्लेख नहीं है, तथापि मोहेनजोदड़ो तथा सिन्धुघाटी की खुदाइयों में लिंग-पूजा के मूर्त आधार मिले हैं। बाद में लिंग-पूजा को वैदिक मान्यता भी प्राप्त हो गई।

जननेन्द्रियों का प्राचीन सभ्य संसार में बहुत प्रचार था। आदिम मानव के मस्तिष्क पर समस्त पार्थिव जीवन की आधारभूत प्रजनन-क्रिया का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। लिंगोपासना का प्रमुख केन्द्र था पश्चिम एशिया। मिश्र, जापान, ग्रीक, मेसोपटोमिया आदि में भी लिंग या मिथुन चिह्नों की उपासना बहुत पहले विद्यमान थी। इसका जनसाधारण में खूब प्रचार था।[2]

सिंधुघाटी के लोग लिंगोपासक थे। उनका तथा वैदिकों का संमिश्रण ऋक्-वेद काल में हो चुका था। आर्यों ने सिन्धुघाटी के देवताओं को भी अपने देवताओं में मिला लिया। यह भी हो सकता है कि आर्येतर लोगों ने अपनी देवाराधना के साथ आर्यों की देवाराधना को भी मिला लिया हो। जब समाज में आर्येतरों का जोर बढ़ा, तब वे अपने इष्टदेवताओं को आर्य देवता के समान ही प्रशस्त करने लगे। जैसा भी हो, यह समन्वय की बात है, जिसमें लेना भी हुआ, और देना भी। इसी प्रकार स्त्री देवता अम्बिका का समावेश भी आर्येतर लोगों से आर्यों में हुआ। यही आगे चलकर शिव-पार्वती, शिव-शक्ति, अर्ध-नारीश्वर आदि रूपभेदों में विकसित हुआ।[3]

वेदोत्तर-काल में, उपनिषद् ग्रंथों में, रुद्र की उपासना का प्रचार नये धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों के आधार पर होने लगा। व्रात्य देवता रुद्र आर्य-देवता मंगलकारी शिवस्वरूप बन गया। इसी समय शैवमत और शिव-भक्ति का विस्तार होने लगा। भक्तिवाद तत्कालीन प्रचलित लोक-धर्मों को समेटकर फैलने लगा। वैदिक-युग में विनायक और रुद्र एकही देवता माने गये; बाद में वे अलग कर दिये गये। रुद्र-पत्नी अम्बिका भी अलग प्रतिष्ठा पाने लगी और दुर्गा, महादेवी, शक्ति आदि नामों से पूजी जाने लगी। दक्षिण में जो मुरुकन् (स्कन्द) की पूजा प्रशस्त थी, वह भी शैव धर्म का अंग बन गई। इस प्रकार कई देवी-देवताओं को शिव-

---

१. आधार : यजुर्वेद (तैत्तरीय—वाजसनेयी संहिताएँ) त्र्यम्बक होम और शतरुद्रीय स्तोत्र

२. Sex Worship (ले० C. Howard)

३. आधार : Mohenjodaro and the Indus Civilisation (ले० J. Sir Marshall)

गण या शिव-परिजन बना दिया गया। यह समन्वयकारी भक्ति-आन्दोलन था। इस समीकरण की अनूठी साधना में भारतभर के आर्य तथा आर्येतर सभी पंडित जुट गये।[1]

वाल्मीकि रामायण के समय में रुद्र का स्वरूप सौम्य था। शिव अर्थात् मंगलकारी के रूप में वह रुद्र लोक-प्रिय हो गया। वाल्मीकि ने शिव के लिए महा-देव, महेश्वर, शंकर, त्र्यम्बक, रुद्र आदि पर्यायवाची नामों का भी प्रयोग किया है। वाल्मीकि ने एक स्थल पर शिव को जगत् की सृष्टि और संहार करनेवाला, सबका आधार एवं गुरु कहा है। यद्यपि रामायण के मूल, प्रक्षिप्त तथा संवर्धित रूपों की रचना कई शतियों तक हुई है, फिरभी शिव की लोक-प्रियता का साक्ष्य इस आदिकाव्य में पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

महाभारत में तो शिव-पार्वती की पूजा-आराधना, शैव सम्प्रदाय तथा शिव-भक्ति का और अधिक विस्तार होने के प्रमाण मिलते हैं।

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी के प्रारम्भ में माहेश्वर सूत्रों को ('अ, इ, उण् ··') उद्धृत कर यह सिद्ध किया है कि भाषा तथा वर्ण-विकास के मूल प्रवर्तक महेश्वर हैं।

ईसा पूर्व चौथी शती से शिव-भक्ति-धारा का प्रचार राजाश्रय के सहारे होने लगा था। इसके प्रमाण उस काल के सिक्के, शिवलिंग, भित्तिचित्र आदि भारतभर में पाये जाते हैं। पंचवटी के उत्तर में जो अगस्त्याश्रम था, वहाँ अगस्त्य द्वारा स्थापित ब्रह्म-स्थान, अग्नि-स्थान, विष्णु-स्थान, महेन्द्र-स्थान आदि देव-स्थानों में भग-स्थान और कार्तिकेय-स्थान का भी उल्लेख है।[2] यह भग-स्थान शिव-लिंग का पूजा-स्थल होना चाहिए। दक्षिण के गुड्डीमल्लम नामक स्थान में ई० पू० दूसरी शती का शिवलिंग मिला है। इसके पूर्व ही लिंग-पूजा तथा रुद्र देवता की उपासना दक्षिण में प्रचलित थी।[3]

तोलकाप्पियम् में मायोन् (कृष्ण या विष्णु), चेयोन् (अरुणवर्ण के देवता स्कन्द), वेन्तन् (राजा या इंद्र), वरुणन् (वरुण) और कोट्रवै (दुर्गा या अम्बिका) का वन्य, पर्वतीय, कृषिप्रधान, समुद्रतट तथा वंजर प्रदेशों के अधिदेवताओं के रूप में उल्लेख हुआ है।[4] तोलकाप्पियर के ज़माने में (ईसा पूर्व छठी शती) देवमूर्ति (पटिमै प्रतिमा) की पूजा-आराधना होती थी; उत्सव-पर्व मनाये जाते थे। वीर-

---

१. आधार : The Saiva School of Hinduism (ले० शिवपाद सुन्दरम् पिल्लै)

२. वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड १२। १७-२०

३. Hindu Iconography (ले०—टी० ए० गणपतिराव), भाग–२

४. तोल्० ६५१

गति पाये हुए प्रसिद्ध योद्धाओं की स्मृति में शिलाएँ गाड़कर उनकी पूजा लोग करते थे। 'पूजा' शब्द ही तमिल के पू+चेय् (फूल द्वारा की जानेवाली अर्चना) इस प्रयोग से बना है। किन्तु तोलकाप्पियम ग्रन्थ में नागपूजा या लिंगपूजा का कोई उल्लेख नहीं है। संभवतः उनके समय में लिंगपूजा तमिलनाडु में प्रचलित नहीं हुई हो। उस ग्रन्थ के आधार पर इतना तो माना जा सकता है, कि उस काल के पूर्व ही समाज में मूर्तिपूजा शुरू हो गई थी।[1] तमिल की संघकालीन कृतियों में 'शिव' का नाम नहीं पाया जाता है। रुद्र के रूप-वर्णन तथा पर्याय के शब्द ही मिलते हैं। त्रिनेत्रधारी, जटाधारी, तपस्वी, आदिदेव, ब्राह्मणश्रेष्ठ, चन्द्रशेखर, गंगाधर, मेघधर, वेदविद्, विषकंठ, खप्परधारी, व्याघ्रचर्मधारी, लोकरक्षक, ऋषभ-वाहन, संहारमूर्ति, त्रिपुरसंहारी, भस्मधारी आदि विशेषण शिव के सम्बन्ध में मिलते हैं। किन्तु इनमें शिव के पर्याय में 'इरैवन्, इरैयवन्' (सर्वान्तर्यामी या सर्वव्यापी) शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं।

ई० दूसरी शती के जैन तथा बौद्ध महाकाव्य शिलप्पतिकारम एवं मणिमेखलै में रुद्र, विष्णु या नारायण, बलदेव, स्कन्द, काली आदि देवताओं के मंदिर तथा वहाँ की पूजा आदि का वर्णन आता है। किन्तु इन ग्रन्थों में भी 'शिव' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। शिव के वर्णन में 'अरुण जटाधारी अंतरिक्ष देवता' का प्रयोग हुआ है।[2] इन काव्यों में शिव-पूजा तथा शिवालयों में होनेवाले त्योहारों की भी चर्चा है। मणिमेखलै में केवल 'शैववादी' (शैव सम्प्रदाय का प्रचारक) का निर्देश हुआ है। अतः शैव सम्प्रदाय के फैलने के बाद ही, शिव मूर्ति तथा शिव-पार्वती की परिकल्पना साकार हुई। शिव और पार्वती को मानवरूपी सौम्य प्रतिमाओं में प्रतिष्ठापित करने का श्रेय सर्वप्रथम दक्षिण को, विशेष करके आन्ध्र और तमिल प्रदेश को है। आजभी दक्षिण के शिवालयों में मूल स्थान (गर्भगृह) की पूजा-मूर्ति शिवलिंग तथा परिक्रमा (जुलूस) की उत्सव-मूर्ति मनुष्याकार सौम्य प्रतिमा (कांसे की मूर्ति) हम देखते हैं। इस उत्सव-मूर्ति के दक्षिणेश्वर, दक्षिणामूर्ति, सुन्दरेश्वर आदि कई नाम-भेद हैं। तमिल में "तेन्नाट्टुटैय शिवने पोट्रि !—दक्षिणापथ के अधिदेव ! तुम्हारी जय हो !" यह कहकर शिव का स्तवन किया जाता है।[3]

संघकाल में सारे तमिल प्रदेश में मुरुकन् (स्कन्ददेव) की पूजा प्रचलित थी। इसके बाद का स्थान विष्णु का था। शक्ति-पूजा का प्रारम्भिक रूप वन्य शिकारी जातियों में प्रचलित था। यह बंजर या मरुभूमि की देवता मानी जाती थी। तमिल में इसके कोट्रवै, कवुरि (गौरी), चमरि (समरी), शूली, नीली,

---

१. तोल्० १०३४ और उसकी व्याख्या
२. शिलप्पतिकारम्, २६। ६४–६५ और ६८–६९
३. आधार : शैव समय वळर्चि (तमिल), ले० डॉ० मा० इराशमाणिक्कनार

विष्णु की बहन, माथे पर आँखवाली, विषपायिनी देवी, पिशाचगणों से घिरी हुई देवी, कोट्रि आदि पर्यायनाम प्रचलित थे।[1]

बाद में रुद्र, शिव, स्कन्द, अम्बिका, विघ्नेश्वर आदि देवता शैव सम्प्रदाय के पोषक बन गये। इन देवताओं के भक्त और पूजक, जो शुरू में अलग-अलग बँटे हुए थे, ई० तीसरी शती में शैवमत के समन्वयसूत्र में बँध गये और एकही सम्प्रदायवाले माने जाने लगे। शैव एवं वैष्णव मतों का सामूहिक तथा साम्प्रदायिक संगठन गुप्त-साम्राज्य-काल में (ई० तीसरी शती) आरंभ हुआ, और दोनों मत भारतभर में लोकप्रिय होने लगे।

दक्षिणापथ के शैव सम्प्रदाय का प्रारम्भ भी इसी काल से माना जाता है। ई० तीसरी शती से छठी शती के मध्यभाग तक पांडिय तथा चोल देशों में कलभ्र नामक सातवाहनवंशीय जाति के लोगों का आधिपत्य रहा। तमिल साहित्य, संस्कृति तथा शैव-वैष्णव सम्प्रदायों का यह क्षीण अन्धकार-युग था। इस युग में जैनों और बौद्धों का बोलबाला था। जैन मत में, राजाश्रय पाने से, धार्मिक असहिष्णुता कुछ अधिक थी। शिव तथा विष्णु-मंदिरों की पूजा क्षीण होती गई। तमिल भाषा की भी अवज्ञा हुई। संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि का प्रचार होने लगा। ई० पूर्व प्रारम्भिक शतियों में बौद्ध और जैन दक्षिण में आये। उनका प्रभाव बढ़ता गया। उनके सदाचार, समभावना, लोक-सेवा, भूत-दया तथा प्रादेशिक भाषा-साहित्य की सेवा आदि ने दक्षिण के लोगों को मुग्ध कर दिया। इसीलिए वे दोनों मत बहुत जल्दी वहाँ फैले और जड़ पकड़ने लगे। किन्तु कलभ्रों के अप्रिय और क्रूर शासन के कारण जनता का मन उचट गया। उनके समर्थक जैनों के प्रति भी लोग उदासीन हो गये। बौद्धों का प्रभाव सबसे पहले जैनों द्वारा ही क्षीण किया गया। बची-खुची क़सर बाद में शैव और वैष्णव विद्वानों और राजाओं ने निकाली।

ई० ३४० में विष्णुगोप नामक पल्लव राजा ने कांची पर अपना शासन स्थापित किया। पल्लव राज्य का उदय इसी काल में होने लगा। किन्तु उसके वंशजों से राज्य का पालन या विस्तार न हो सका। ई० ५७५-६०० के सिंहविष्णु नामक पराक्रमी पल्लव राजा ने कलभ्रों को पूर्णतया पराजित कर तमिल देश में पल्लव-साम्राज्य स्थापित किया। पांडिय राजा कटुंकोन ने कलभ्रों को हटाकर अपना राज्य पुनः स्थापित कर लिया। उधर पश्चिमी चालुक्य विक्रमादित्य, विजयादित्य आदि नरेशों ने भी कलभ्रों पर चढ़ाई की और उनको हरा दिया। इस प्रकार चारों ओर के आक्रमणों से कलभ्रों का दृढ़ शासन, जो तीन शतियों तक चला, लुप्त हो गया। ई० छठी शती के प्रारम्भ में पूर्ववत् पांडिय, चोल तथा पल्लव राजाओं के

---

१. तिरुमुरुकाट्रुप्पटै तथा शिलप्पतिकारम् (तमिल)

गति पाये हुए प्रसिद्ध योद्धाओं की स्मृति में शिलाएँ गाड़कर उनकी पूजा लोग करते थे। 'पूजा' शब्द ही तमिल के पू+चेय् (फूल द्वारा की जानेवाली अर्चना) इस प्रयोग से बना है। किन्तु तोलकाप्पियम ग्रन्थ में नागपूजा या लिंगपूजा का कोई उल्लेख नहीं है। संभवतः उनके समय में लिंगपूजा तमिलनाडु में प्रचलित नहीं हुई हो। उस ग्रन्थ के आधार पर इतना तो माना जा सकता है, कि उस काल के पूर्व ही समाज में मूर्तिपूजा शुरू हो गई थी।[1] तमिल की संघकालीन कृतियों में 'शिव' का नाम नहीं पाया जाता है। रुद्र के रूप-वर्णन तथा पर्याय के शब्द ही मिलते हैं। त्रिनेत्रधारी, जटाधारी, तपस्वी, आदिदेव, ब्राह्मणश्रेष्ठ, चन्द्रशेखर, गंगाधर, मेघधर, वेदविद्, विषकंठ, खप्परधारी, व्याघ्रचर्मधारी, लोकरक्षक, ऋषभ-वाहन, संहारमूर्ति, त्रिपुरसंहारी, भस्मधारी आदि विशेषण शिव के सम्बन्ध में मिलते हैं। किन्तु इनमें शिव के पर्याय में 'इरैवन्, इरैयवन्' (सर्वान्तर्यामी या सर्वव्यापी) शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं।

ई० दूसरी शती के जैन तथा बौद्ध महाकाव्य शिलप्पतिकारम एवं मणिमेखलै में रुद्र, विष्णु या नारायण, बलदेव, स्कन्द, काली आदि देवताओं के मंदिर तथा वहाँ की पूजा आदि का वर्णन आता है। किन्तु इन ग्रन्थों में भी 'शिव' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। शिव के वर्णन में 'अरुण जटाधारी अंतरिक्ष देवता' का प्रयोग हुआ है।[2] इन काव्यों में शिव-पूजा तथा शिवालयों में होनेवाले त्योहारों की भी चर्चा है। मणिमेखलै में केवल 'शैववादी' (शैव सम्प्रदाय का प्रचारक) का निर्देश हुआ है। अतः शैव सम्प्रदाय के फैलने के बाद ही, शिव मूर्ति तथा शिव-पार्वती की परिकल्पना साकार हुई। शिव और पार्वती को मानवरूपी सौम्य प्रतिमाओं में प्रतिष्ठापित करने का श्रेय सर्वप्रथम दक्षिण को, विशेष करके आन्ध्र और तमिल प्रदेश को है। आजभी दक्षिण के शिवालयों में मूल स्थान (गर्भगृह) की पूजा-मूर्ति शिवलिंग तथा परिक्रमा (जुलूस) की उत्सव-मूर्ति मनुष्याकार सौम्य प्रतिमा (कांसे की मूर्ति) हम देखते हैं। इस उत्सव-मूर्ति के दक्षिणेश्वर, दक्षिणामूर्ति, सुन्दरेश्वर आदि कई नाम-भेद हैं। तमिल में "तेन्नाडुटैय शिवने पोट्रि !—दक्षिणापथ के अधिदेव ! तुम्हारी जय हो !" यह कहकर शिव का स्तवन किया जाता है।[3]

संघकाल में सारे तमिल प्रदेश में मुरुकन् (स्कन्ददेव) की पूजा प्रचलित थी। इसके बाद का स्थान विष्णु का था। शक्ति-पूजा का प्रारम्भिक रूप वन्य शिकारी जातियों में प्रचलित था। यह बंजर या मरुभूमि की देवता मानी जाती थी। तमिल में इसके कोट्रवै, कवुरि (गौरी), चमरि (समरी), शूली, नीली,

---

१. तोल्० १०३४ और उसकी व्याख्या

२. शिलप्पतिकारम्, २६। ६४–६५ और ६८–६६

३. आधार : शैव समय वळर्चि (तमिल), ले० डॉ० मा० इराशमाणिक्कनार

विष्णु की बहन, माथे पर आँखवाली, विषपायिनी देवी, पिशाचगणों से घिरी हुई देवी, कोट्रि आदि पर्यायनाम प्रचलित थे।[1]

बाद में रुद्र, शिव, स्कन्द, अम्बिका, विघ्नेश्वर आदि देवता शैव सम्प्रदाय के पोषक बन गये। इन देवताओं के भक्त और पूजक, जो शुरू में अलग-अलग बँटे हुए थे, ई० तीसरी शती में शैवमत के समन्वयसूत्र में बँध गये और एकही सम्प्रदायवाले माने जाने लगे। शैव एवं वैष्णव मतों का सामूहिक तथा साम्प्रदायिक संगठन गुप्त-साम्राज्य-काल में (ई० तीसरी शती) आरंभ हुआ, और दोनों मत भारतभर में लोकप्रिय होने लगे।

दक्षिणापथ के शैव सम्प्रदाय का प्रारम्भ भी इसी काल से माना जाता है। ई० तीसरी शती से छठी शती के मध्यभाग तक पांडिय तथा चोल देशों में कलभ्र नामक सातवाहनवंशीय जाति के लोगों का आधिपत्य रहा। तमिल साहित्य, संस्कृति तथा शैव-वैष्णव सम्प्रदायों का यह क्षीण अन्धकार-युग था। इस युग में जैनों और बौद्धों का बोलबाला था। जैन मत में, राजाश्रय पाने से, धार्मिक असहिष्णुता कुछ अधिक थी। शिव तथा विष्णु-मंदिरों की पूजा क्षीण होती गई। तमिल भाषा की भी अवज्ञा हुई। संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि का प्रचार होने लगा। ई० पूर्व प्रारम्भिक शतियों में बौद्ध और जैन दक्षिण में आये। उनका प्रभाव बढ़ता गया। उनके सदाचार, समभावना, लोक-सेवा, भूत-दया तथा प्रादेशिक भाषा-साहित्य की सेवा आदि ने दक्षिण के लोगों को मुग्ध कर दिया। इसीलिए वे दोनों मत बहुत जल्दी वहाँ फैले और जड़ पकड़ने लगे। किन्तु कलभ्रों के अप्रिय और क्रूर शासन के कारण जनता का मन उचट गया। उनके समर्थक जैनों के प्रति भी लोग उदासीन हो गये। बौद्धों का प्रभाव सबसे पहले जैनों द्वारा ही क्षीण किया गया। बची-खुची क़सर बाद में शैव और वैष्णव विद्वानों और राजाओं ने निकाली।

ई० ३४० में विष्णुगोप नामक पल्लव राजा ने कांची पर अपना शासन स्थापित किया। पल्लव राज्य का उदय इसी काल में होने लगा। किन्तु उसके वंशजों से राज्य का पालन या विस्तार न हो सका। ई० ५७५-६०० के सिंहविष्णु नामक पराक्रमी पल्लव राजा ने कलभ्रों को पूर्णतया पराजित कर तमिल देश में पल्लव-साम्राज्य स्थापित किया। पांडिय राजा कटुंकोन ने कलभ्रों को हटाकर अपना राज्य पुनः स्थापित कर लिया। उधर पश्चिमी चालुक्य विक्रमादित्य, विजयादित्य आदि नरेशों ने भी कलभ्रों पर चढ़ाई की और उनको हरा दिया। इस प्रकार चारों ओर के आक्रमणों से कलभ्रों का दृढ़ शासन, जो तीन शतियों तक चला, लुप्त हो गया। ई० छठी शती के प्रारम्भ में पूर्ववत् पांडिय, चोल तथा पल्लव राजाओं के

---

१. तिरुमुरुकाट्रुप्पटै तथा शिलप्पतिकारम् (तमिल)

संरक्षण में, शैव और वैष्णव सम्प्रदाय नये आयाम और आयोजन पाकर खूब पनपने लगे। देवालयों के निर्माण तथा देवी-देवताओं की पूजा-विधियों में कई परिष्कार हुए।

शैव मत के अभिभावकों में चोल, पांडिय व पल्लव राजा और उनकी रानियाँ प्रमुख थीं। इसी प्रकार वैष्णव मत का भी कई राजाओं ने संवर्धन किया। शुरू में (ई० पाँचवीं से दसवीं शती तक) सभी राजा शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों को समान रूप से मानते थे; उनके विकास में योग देते थे। बाद को दोनों मतों में अन्तःकलह पैदा हो गया, जो विधर्मी मुसलमानों के आक्रमण और आतंक के कारण दूर हुआ।

शिवलिंग-क्षेत्रों की स्थापना पहले-पहल आन्ध्र में अधिक हुई। वहाँ से तमिलनाडु में प्रसार हुआ। यह ईस्वी दूसरी शती की बात है। किन्तु जैन-बौद्ध-प्रभाव के कारण पूजा-विधियों में शिथिलता रही। उनका प्रभाव हट जाने पर फिर शैवमत का उत्थान हुआ।

तमिलनाडु में प्राप्य प्रथम शैव-सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, 'तिरुमन्तिरम्'। इसके रचयिता तिरुमूलर् उत्तर से आये एक शैव योगी ब्राह्मण थे। यह ई० छठी शती के थे। शैवागमों के यह अभिज्ञ थे। इनका मत 'शुद्ध शैव दर्शन' था। यही तमिलनाडु में फैला। तिरुमन्तिरम् के नौ भाग हैं। प्रत्येक भाग का नाम 'तन्त्रम्' है। इन तन्त्रों में सदाचार, शैव ब्राह्मणों के धर्म, राजधर्म, शिव-भक्ति की महिमा, शिव की वीर-गाथाएँ, शिव-शक्ति-लीलाएँ, योग-विधियाँ (यम, नियम आदि), मंत्रोपासना, तांत्रिक चक्र, सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य आदि दैवी दशाएँ, अन्य धर्मों का खण्डन, शैवमतों के अंतर्गत उपधर्मों का समाहार, ज्ञान-योग, गुरु-महिमा, विभूति (भस्म) की महिमा, लिंग-भेद (अण्ड, पिण्ड, सदाशिव, आत्म-ज्ञान और शिव-नाम की लिंग-मूर्तियाँ), शैव-सिद्धान्त का विवेचन, पशु-पति-पाशरूपी तत्त्व की व्याख्या, पंचाक्षर (नमःशिवाय) की महिमा, शिव-ताण्डव, सद्ज्ञान का आविष्कार, नित्यानन्द की अनुभूति—इन सब बातों का वर्णन है।

तिरुमूलर ने अपने समय के पाशुपत, महाव्रत, कापालिक, वाम, भैरव आदि मतों का भी वर्णन किया है। ये सब शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत माने जाते हैं।[1]

तिरुमूलर के काल में वीरशैव परम्परा भी लोकप्रिय थी। वीर शैव के व्रतियों या मुनियों को वीरमाहेश्वर कहते थे। वे वीरम् तथा वातुलम् नामक दो आगमों के अनुगामी थे। वीरशैवमत की आचार-पद्धति को 'षट्स्थल विवेचनम्' कहते थे। ये ही बाद को 'लिंगायत' नाम से प्रसिद्ध हुए। ये शिव को छोड़कर और किसीभी देवता को मानते ही न थे। आचार-विचार में ये विशुद्ध रहते थे। इस

---

१. आधार : शैव समय वळर्चि (तमिल ग्रन्थ)—डॉ० मा० इराश माणिक्कनार

मत के संस्थापक पाँच मुनिवर थे। वे मठाधीश थे। उनके मठ केदार, श्रीशैल
वेलेहल्लर (मैसूर), उज्जैन और वाराणसी में स्थापित हुए थे। वीरशैव वेद व
नहीं मानते। उनमें जाति-भेद नहीं है। उनके समाज में विधवा-विवाह को मान्यत
प्राप्त थी। मधु-मांस को छूते भी नहीं थे। मृत व्यक्तियों को गाड़ने की प्रथा उन
थी। शिवलिंग को कंठ और सिर पर धारण करते थे। वे गायत्री से बढ़क
पंचाक्षरी को महत्त्व देते थे। वे देवालयों में धूम-धाम से उत्सव-पर्व मनाने के विरु
थे। उसे वे आडम्बर कहते और शिवतत्त्व-बोध और आत्मज्ञान की प्राप्ति में उ
बाधक मानते थे।[1]

लिंगायतों का अड्डा केवल कर्नाटक रहा। उन्हींके घोर विरोध से वहाँ क
दृढ़ जैन-प्रभाव हट सका। इसी मौके पर वहाँ वैष्णव-भक्ति-मार्ग भी फैल गया
आगे चलकर लिंगायतों की प्रवृत्ति ब्राह्मण-द्वेष की सीमा तक बढ़ गई। संघर्ष ए
छोर से छूटा, तो दूसरे छोर पर छिड़ा।

लिंगायतों का सुवर्ण-काल ई० बारहवीं शती का मध्यकाल था। उस
नया जागरण, अपूर्व संगठन और समाज-सुधार लानेवाले कर्णधार वसवेश्वर य
वसवण्णा थे। वे स्वयं राज-परिवार के थे। प्रकाण्ड विद्वान् तथा स्वतन्त्र चिन्तव
थे। सामाजिक अन्धरूढ़ियों और अवांछनीय अन्तःछिद्रों का वे घोर विरोध करते
थे। जातीय कट्टरता का निराकरण करने में—विशेषकर अपने वीरशैव सम्प्रदाय
में—वे सफल हुए। उनके कई अनुयायी विद्वान्, कवि और नेता हुए। वे कन्न
भाषा को संस्कृत के निविड़ बन्धन से छुड़ाकर, देशी भाषा के स्वरूप को मान्यत
देते थे। जनसाधारण की भाषा का समादर इन्हीं वीरशैवों के द्वारा हुआ। उनके
पद्य और गद्य 'वचन साहित्य' के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये 'वचन' सरल, स्पष्ट
और अत्यन्त प्रभावकारी हैं। इस कारण से भी लिंगायत सम्प्रदाय जन साधारण
में बहुत प्रिय हो गया। इन वीरशैवों में कूटलसंगमदेव (वसवेश्वर), मल्लिकार्जुन
(महादेवियक्क), गुहेश्वर (अल्लमप्रभु), रामनाथ (देवरथसिंहैया) इत्यादि
प्रमुख थे।

वीरशैवों की ये सूक्तियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं: 'ईश्वर एक है, उसके नाम अनेक
हैं।', 'प्रेम के बिना धर्म नहीं।', 'अजी!' कहने से स्वर्ग और 'अरे!' कहने पर
नरक मिलता है।, 'चोरी, हत्या, झूठ बोलना, कोप करना, द्वेष करना, आत्म-
प्रशंसा, परनिन्दा आदि त्याज्य दूषित वृत्तियाँ हैं।', 'मन की शुद्धि ही काया की
शुद्धि है।' 'प्राण छोड़नेतक शिवलिंग-पूजा को नहीं छोड़ूँगा।', 'यह भौतिक पदार्थ
शिव की सम्पत्ति है; इसे उसीको समर्पित कर देना ही धर्म है।' इत्यादि।

---

१. आधार: 'Vaishnavism, Sivism and Minor Religious system in India' (ले०—आर० जी० भांडारकर)

लिंगायती गुरुओं को शिवचरण या भवि कहते हैं। यह सम्प्रदाय ई० बारहवीं शती से अठारहवीं शती तक प्रबल रहा। इस दौरान कई कन्नड़ कवि और कवयित्रियाँ हुईं। उन्होंने लोकप्रिय सरल देशी भाषा (द्राविड़ी) में कई वचन-ग्रन्थ (नीति-ग्रन्थ तथा धर्म-ग्रन्थ, जो वीरशैव मत के समर्थक हैं।) रचे। इस काल में दर्जनों कवयित्रियाँ हुईं, जो समाज-कल्याण तथा शिव-भक्ति की प्रचारिकाएँ थीं। इनमें बारहवीं शती की महादेवियक्का और सत्रहवीं सदी की होन्नम्मा ये दो विशेष प्रख्यात हुईं। दोनों आदर्श भक्तिनें और समाज-सेविकाएँ थीं। होन्नम्मा देवी ने 'हदीबदेय धर्म' (पातिव्रत धर्म) नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ रचा।

वीरशैव मत के कर्णधारों में बसवेश्वर के पूर्ववर्ती जेडरदासिमय्या, शंकर दासिमय्या, सकलेश, अल्लमप्रभु विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अल्लमप्रभु का व्यक्तित्व अति उज्ज्वल था। वे निर्भीक समाज-सुधारक थे। किन्तु बसवेश्वर ने ही वीरशैव सम्प्रदाय को सुसंगठित किया और अन्य प्रदेशों में भी उसे फैलाया। उन्होंने ही 'अनुभव-मंडप' नाम से शिव-भक्तों की मंडली स्थापित की। उनके प्रयास से कर्नाटक और आन्ध्र में कई मंडलियाँ स्थापित हुईं। इससे साम्प्रदायिक संगठन दृढ़तर होने लगा। वीरशैवों में 'जंगम' (शैव संत) लोगों के प्रति अधिक श्रद्धा है। 'जंगम-पूजा' विशेष तथा अनिवार्य विधि मानी जाती है।[1]

आन्ध्र के प्रसिद्ध कवि श्रीनाथ ने काशीखंड, हरविलास, शिवरात्रि-माहात्म्य आदि ग्रन्थ रचकर शैवमत के प्रचार में बड़ा योग दिया। इनके पूर्व ही बसवपुराण, वृषाधिप शतक आदि वीरशैव-ग्रन्थों की रचनाकर पालकुरुकि सोमनाथ कवि ने बड़ी प्रसिद्धि पाई।

तमिलनाडु में भी वीरशैव मत का थोड़ा-सा प्रचार इसी समय हुआ। प्रभुलिंगलीलै, शिवज्ञानबोधम्, शिवज्ञानसिद्धियार आदि शैव ग्रन्थ रचे गये। किन्तु तमिलनाडु में 'शुद्ध शैव मत' का ही अधिक प्रचार था। लिंगायत की तरह यह मत समाज-सुधारक, वेद-विमुख तथा ब्राह्मण-द्वेषी नहीं था। तमिलनाडु के शैव सम्प्रदाय ने अपनी लोक-प्रियता, उदारता तथा विशिष्ट परम्परा के कारण अत्यधिक आदर पाया।

तमिलनाडु में ई० तीसरी शती से शैव मत का प्रसार होने लगा। चेर, चोल, पांडिय राजा इस मत के पोषक थे। यद्यपि तमिल प्रदेश में ई० तीसरी शती से पाँचवीं शती तक कलभ्रों के शासन-काल में जैनों का बोलबाला था, शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों एवं देव-मंदिरों को यद्यपि राजाश्रय नहीं मिला था, फिरभी जन-समादर उनको प्राप्त था। उस समय तमिलनाडु भर में लगभग सत्तर शिव-मंदिर

१. आधार: 'कन्नड़ साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (ले०—एन० एस० दक्षिणामूर्ति)

थे। ऐयटिकळ्, कारैक्काल अम्मैयार्, नक्कीरर्, कपिलर, भरणर्, कल्लाटर्, कण्णप्पर् आदि शैव-भक्तों तथा प्रचारकों ने कई शिव-विषयक पद्य रचे। शैव-भक्तों में जातीय कट्टरता नहीं थी। किन्तु वर्ण-सांकर्य नहीं हुआ। शैव-संतों में सभी जातियों के लोग थे। उनको सहभोज मान्य था। शैव-मठों में शिव-भक्तों को भोजन दिया जाता था। इस अवधि में (ई० ३ से ५वीं शती तक) जैन लोग शैवों की अवज्ञा करते थे। आपसी वैमनस्य बढ़ता गया। शैवमत के अन्य वर्ग भी, जैसेकि लकुलीश, पाशुपत, कापालिक आदि तमिलनाडु में यत्र-तत्र रहते थे।

ई० छठी शती से ही शैव मत को तमिलनाडु में राजाश्रय मिला, जो तीन शतियों तक जैनों और बौद्धों को प्राप्त था। इस समय कांची में पल्लवों तथा मदुरै में पांडियों की राजधानी स्थिर हो चुकी थी। सिंहविष्णु पल्लव ने ई० ५७५–६०० ई० में कांची मंडल पर शासन किया। पल्लव-साम्राज्य का विस्तार इसी राजा के प्रयास से प्रारम्भ हुआ। इसका पुत्र महेन्द्रवर्मा प्रख्यात और प्रतापी पल्लव सम्राट् बना। यह पहले जैन था; बाद को शैव हो गया। शैवमत की बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखकर यह पल्लव राजा भी उस ओर झुकने लगा। यही जैनों और शैवों का संघर्ष-काल था। इस संघर्ष में वैष्णवों ने शैवों का पक्ष लिया। इस समय के सुविख्यात तथा प्रभावशाली दो शैव संत कवि हुए; अप्पर् (तिरुनावुक्करशर) और ज्ञानसम्बन्धर्। इनके मत-प्रचार से जनता में नयी जागृति आई। ज्ञानसम्बन्धर के प्रयत्न से पांडिय नरेश ने जैनों से पीठ फेरकर शैवों का पक्ष लिया। इससे पांडिय देश में शैवमत का उत्कर्ष होने लगा।

शैव संत कवियों तथा सेवकों को 'नायन्मार्' कहते हैं। इनकी संख्या ६३ है। ये ई० तीसरी शती से नौवीं शती तक के हैं। इनमें पाँच राजा थे, चार सामंत थे, चार सेनानायक थे, चौदह ब्राह्मण थे, छः वैश्य थे, तेरह कृषक थे और चार शिवाचार्य थे। इनके अलावा कुम्हार, शिकारी, ग्वाले, धोबी, मछुए आदि जातियों के लोग भी शैव संत 'नायन्मार्' थे। इन्होंने शिवस्तुति पर भक्तिभावपूर्ण पद्य रचे हैं। इन्होंने शिवालयों का निर्माण किया, लोगों में घूम-घूमकर शिव-भक्ति का प्रचार किया तथा अन्य कई धार्मिक सेवाएँ शैव मत के तत्वावधान में कीं। इनमें कविवर, सर्वमान्य शैव संत एवं शैवमार्ग-दर्शक होने का गौरव तिरुमूलर्, अप्पर्, ज्ञानसम्बन्धर्, सुन्दरर् और माणिक्कवाचकर् को प्राप्त है। अप्पर् और सम्बन्धर् समकालीन (ई० छठी-सातवीं शती के) थे। इनके भक्ति-पुंज पद्य 'पतिकम्', 'तिरुमुरै', 'तिरुवाचकम्' आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

ज्ञानसंबंधर् ब्राह्मण थे। प्रतिभाशाली विद्वान् होने से इन्होंने कई पंडितों को शास्त्रार्थ में परास्त कर शैवमत में दीक्षित किया। इनके दिग्विजय से तमिल-नाडु में शैवमत के प्रति लोक-समादर बहुत बढ़ गया। सुंदरर् ने सभी शैव तीर्थ-स्थलों की यात्रा की और पूर्ववर्ती तिरसठ नायन्मारों (शैव संतों) का वर्णन किया, जो

'तिरुतोण्डत्तोकै' नाम से प्रसिद्ध है। यह नौवीं शती के थे। माणिक्कवाचकर ने 'तिरुवाचकम्' नामक अद्भुत ग्रन्थ रचा। उसमें शैवमत का उत्कर्ष, धार्मिक विचार, आत्मानुभूति, शिव की महिमा आदि विषयों का प्रभावशाली शैली में वर्णन किया गया है।

इस काल में (ई० छठी से नवीं शती तक) समस्त तमिलनाडु में लगभग ३२५ शिवालयों का निर्माण हुआ। पल्लव-साम्राज्य का वैभव अब अस्त होने लगा और चोल साम्राज्य का उदय हुआ। यह ई० ९०० से १३०० तक चला। इस काल में शैव और वैष्णव दोनों का उत्कर्ष हुआ।

चोल साम्राज्य-काल में शैव सम्प्रदाय का संगठन सार्वदेशिक हो चुका था। कई चोल राजा शिव-भक्त थे। कोच्चेंकणान् नामक चोल राजा ने अकेले ही ७० शिवालय बनवाये। इस समय कर्नाटक में होयसल राजाओं का शासन तथा आन्ध्र में राष्ट्रकूट और काकतीय राजाओं का शासन था। इन नरेशों ने भी शैव-धर्म के संवर्धन में बड़ा योग दिया। पल्लवों के राज्य-काल में कांचीपुरम्, चोल राजाओं के काल में तिरुवारूर और चिदम्बरम् और पांडिय प्रदेश में मदुरै ये प्रसिद्ध शैव-केन्द्र थे। तमिलनाडु के छोटे-बड़े नगरों में भी शैवमठ थे।

शैव संत कवियों के पद्यों को 'शैवत्तिरुमुरै' कहते हैं। ये बारह खंडों में विभक्त हैं, जिनमें लगभग बारह हज़ार पद्य हैं। इनमें ग्यारह खंड पल्लव राजाओं के काल में रचे गये थे, तथा शेष अंश चोल राजाओं के समय में। इनके अलावा चोक्किळार का 'पेरियपुराणम्' शैव संत 'नायन्मारों' के इतिवृत्तों का काव्यमय प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह बारहवीं शती का है। इनका मूल ग्रन्थ नम्बि आंडार नम्बि नामक शैव संत कवि (ई० ग्यारहवीं शती) का तिरुत्तोण्डर तिरुवन्तादि है।

इस काल में सैकड़ों प्रबन्ध-काव्य, स्तोत्रग्रन्थ, शिव-गाथा, शिव-लीला आदि पर रचे गये। बाद के साम्प्रदायिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों में शिवज्ञानबोधम्, शिवप्रकाशम्, संकल्पनिराकरणम् आदि संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग होने लगा। ये सब शैव दर्शन के पारिभाषिक शब्द थे।

शैव सम्प्रदाय का चरमोत्कर्ष-काल तेरहवीं-चौदहवीं शती माना जाता है। इस समय वैष्णव-धर्म का दमन शैवों के द्वारा होने लगा। श्रीरामानुजाचार्य को इसी काल में चोल देश छोड़कर कर्नाटक में जाना पड़ा। बाद को जब वैष्णवों का उत्कर्ष शुरू हुआ, तो दोनों मतों में समझौता होने लगा।

शंकराचार्य ने ई० ७८८ में कालडी (केरल) में जन्म लिया। उनके अपूर्व प्रभाव तथा प्रयास से शैवमत को सैद्धान्तिक मान्यता तथा दार्शनिक उत्कर्ष प्राप्त हुआ। विद्वत् समाज में तथा ब्राह्मण जाति में स्मार्त सम्प्रदाय का प्रचार बढ़ा। इसका सर्वव्यापी तथा विस्तृत लोक-संस्कार तमिल प्रदेश के शैव भक्तों द्वारा हुआ। इन दोनों वर्गों के मिलन से शैवमत की आन्तरिक एवं बाह्य शक्तियाँ बढ़ने लगीं।

कला, साहित्य तथा संस्कृति के विकास में वैष्णवों की तरह शैवों ने भी प्रमुख भाग लिया।[1]

शिव-भक्ति-धारा का प्रवाह-पथ विष्णु-भक्ति-धारा का भी रहा है। प्रारंभ में शैवों और वैष्णवों में एकता थी। सभी देवताओं को एकही परमदेवता के विविध स्वरूप मानने की परिपाटी ऋग्वेद-काल से ही है। यह समन्वयकारी भावना वैष्णवों में अधिक थी। उपनिषदों तथा स्मृति-ग्रन्थों के काल में इस समभावना का अच्छा विकास हुआ। किन्तु पुराण-काल में जाति, देवता, सम्प्रदाय, दर्शन आदि को लेकर झगड़ा शुरू होने लगा। परंतु बीच-बीच में शंकर, रामानुज आदि आचार्यो तथा कंबर, तुलसी, पोतना, वेमना, पम्प आदि कवियों ने उस समन्वय-भावना को बनाये रखने का प्रयास किया।

विष्णु-भक्ति-धारा

सभी देवताओं को एकही परमेश्वर के रूप में स्वीकारने की वृत्ति ऋग्वेद में हमें मिलती है :

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निम्
यमं मातरिश्वानमाहुः॥

—(ऋक्० १, १६४, ४६)

—इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण गरुड़, काल देव और वायु सब एकही परमेश्वर के स्वरूप हैं। विज्ञ पंडित नाना प्रकारों से इनका वर्णन और स्तवन करते हैं।

इसी समभावना की सुंदर अभिव्यक्ति यजुर्वेद (२५।१२) में भी हुई है :

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमादिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—जिसकी महिमा हिमालय आदि पर्वत प्रकट करते हैं, जिसका यशो-गान समुद्र अपनी संगिनी नदियों के साथ कर रहा है, ये विशाल दिशाएँ जिसके बाहुओं के समान हैं, उस प्रभु को हम प्रणाम करते हैं।

इस प्रकार के समन्वयात्मक भाव वाद के भारतीय संत-साहित्य में पाये जाते हैं। तमिल के प्राचीन संघ-कवियों तथा अर्वाचीन शैव-वैष्णव संत कवियों ने भी समन्वय-भावना का समर्थन किया है।

ऋग्वेद-काल में विष्णु को दिव्य देवता के रूप में पूजते थे। बाद को विष्णु नारायण के रूप में सर्वेश्वर देवाधिदेव माने जाने लगे। वैष्णवाचार्यो ने यह दृढ़तर

---

१. आधार : शैव समयम् (शैव मत) (तमिल पुस्तक); चोल, पाण्ड्य तथा पल्लव इतिहास; शैव संत-साहित्य 'तिरुमुरै' आदि

धारणा बना ली कि 'विष्णु' शब्द वाच्य नारायण ही परब्रह्म, परमतत्त्व, परम-ज्योति एवं परमात्मा है।[1]

इस वैष्णव धारणा का व्यापक प्रचार तमिल्नाडु के वैष्णव संत आळ्-वारों और उनके समर्थक भक्त वैष्णव आचार्यों ने खूब किया है। यही 'श्रीवैष्णव सम्प्रदाय' के रूप में प्रशस्त हुआ। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय का विकसित रूप है प्रपत्ति-मार्ग। यह भक्ति-मार्ग सभी जातिवालों को विष्णु-भक्त के नाते एक ही परिवार के मानने की उदारता प्रकट करता है।

तमिल के तोलकाप्पियम तथा संघकालीन ग्रन्थों में विष्णु (तिरुमाल्) का स्तवन पाया जाता है। विष्णु की महिमा पर रचित 'परिपाटल्' नामक पद्य-संग्रह संघकृति है। इसमें विष्णु का गुणगान कई कवियों ने किया है। इस काल में वासुदेव सम्प्रदाय भारत के अन्य भागों की भाँति इधर भी फैला हुआ था।

वेदोत्तर-काल में 'सात्वतधर्म' को, जिसमें वासुदेव कृष्ण उपास्य देवता थे, जन-सम्मान प्राप्त था। बोधायन-धर्म सूत्र में विष्णु का निर्देश गोविन्द और दामोदर नामों से भी किया गया है। इस सात्वतधर्म का ईसा पूर्व छठी शती में प्रायः सारे भारत में प्रचार हुआ। उस समय के सभी आर्य, आर्येतर (यवन आदि) विष्णु-भक्ति के प्रसार में योग देते थे। गांधार-नरेश हेलियडोरस ने (यवन) अपनेको 'वासुदेव-भक्त' घोषित किया था। यही बाद को वासुदेव-सम्प्रदाय के रूप में ई० पूर्व तथा अपर प्रारम्भिक शतियों में समस्त भारत में प्रसिद्ध हुआ। इस सम्प्रदाय का प्रसिद्ध सूक्त है, "नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि, तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।"[2] वासुदेव सम्प्रदाय का विकसित रूप भागवत या एकान्तिक धर्म था।

बाद को सात्वत और भागवत-धर्म का विकसित रूप 'पांचरात्र-धर्म' के नाम से प्रचलित हुआ। ब्रह्म, मुक्ति, भोग, योग और प्रपंच—इन पाँच तत्त्वों का 'रात्र' (पथ-प्रदर्शक) होने से, इस सम्प्रदाय का नाम 'पांच-रात्र' पड़ा। इससे ही श्रीवैष्णव सम्प्रदाय का दार्शनिक विकास हुआ, जो दक्षिणापथ में लोकप्रिय था। इसके सम्बन्ध में डॉ० भांडारकर का मत है, "नवीन वैष्णव धर्म का संघटन चार धार्मिक विचार-धाराओं का परिणाम था। प्रथम धारा के मूल स्रोत वैदिक (दिव्य) देवता विष्णु थे; दूसरी के दार्शनिक देवता नारायण थे; तीसरी के ऐतिहासिक देवता वासुदेव थे, और चौथी के आभीर देवता बालगोपाल थे। इन चारों देवताओं की कथाओं ने एवं विचारधाराओं की परम्पराओं ने नवीन वैष्णवधर्म के निर्माण

---

१. नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम्।
नारायणः परं ज्योतिरात्मा नारायणः परः॥

२. तैत्तरीय आरण्यक, दसवाँ प्रपाठक

में अधिक योग दिया।"[1]

उत्तरापथ में वैष्णव-धर्म का स्वर्ण-युग गुप्तों का शासन-काल (ई० ३२० से ५०० तक) माना जाता है। इस समय तमिलनाडु में शैव और वैष्णव दोनों ही निस्तेज थे। बाद को दोनों सम्प्रदायों में नयी स्फूर्ति आई। ई० छठी शती से वैष्णवों का उत्कर्ष होने लगा। लगभग पूरे दक्षिण भारत में यही स्थिति रही।

ई० प्रथम शती में या ईसा पूर्व प्रथम शती में तमिल के आदि वैष्णव-संत पोय्कैयार, भूतत्तार, पेयार ये तीनों आळ्वार हुए। इनके भक्तिपुंज पद्यों को 'इयर्पा' कहते हैं। प्रत्येक आळ्वार ने सौ-सौ पद्य गाये थे। इन शतकों को 'तिरुवन्तादि' कहते हैं। इनमें नारायण को परमदेवता माना गया है। भक्ति का प्रभाव, मानव की तुच्छता और नारायण की अद्भुत कृपा आदि का वर्णन प्रत्येक शतक में किया गया है।

बाद के आळ्वारों के नाम हैं, तिरुमळिशैप्पिरान्, कुलशेखर पेरुमाळ्, पेरियाळ्वार (विष्णुचित्त), आण्डाल् (गोदा), तोण्डरडिप् पोटि (भक्तांघ्रिरेणु), तिरुप्पाणाळ्वार, तिरुमंकै आळ्वार, नम्माळ्वार और मधुर कवि आळ्वार। इन भक्त कवियों का काल ई० पाँचवीं शती से दसवीं शती तक माना जाता है। इनके गाये भक्तिपूर्ण गीतों की संख्या चार सहस्र है। इसीलिए इन गीतों को 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' (चार सहस्र दिव्य प्रबन्ध) कहते हैं। इन भक्तों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, अंत्यज तथा स्त्री सभी थे। शूद्र जाति के नम्माळ्वार को ही सर्वश्रेष्ठ आत्म-स्वरूप माना गया है। अन्य आळ्वार उस आत्मा के शरीर तथा अवयव माने जाते हैं। इन आळ्वारों ने समस्त दक्षिण में यात्रा कर अनेक विष्णु-मंदिर स्थापित कराये। प्रसिद्ध प्राचीन विष्णु-मन्दिरों में जाकर वहाँ स्तुति-गीत गाये। इस प्रकार आळ्वारों से संकीर्तित १०८ 'दिव्यदेश' सारे भारतभर में प्रसिद्ध हैं। उनमें उत्तर-भारत में बारह तीर्थस्थल तथा शेष दक्षिण में विद्यमान हैं।

पल्लव राजाओं में नंदिवर्म प्रथम (ई० ५३४) तथा सिंहविष्णु (ई० ५६०) वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध अभिभावक थे। इनके पूर्वज भी, जैसे विष्णुगोप (ई० ३४०) कुमार विष्णु प्रथम आदि विष्णु-भक्त नरेश थे। इन राजाओं ने कई विष्णु-मंदिर बनवाये। समाज में इन्होंने विष्णु-भक्ति तथा आराधना का प्रचार किया। बाद को चोल राजाओं के शासन-काल में वैष्णवों को जहाँ प्रोत्साहन मिला, वहाँ उनमें अधिक संकट भी आने लगा। यह संकट-काल ग्यारहवीं और बारहवीं शती का था। श्रीरामानुजाचार्य इसके भुक्तभोगी थे।

श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में आचार्य-परम्परा का विशेष महत्व है। ये आचार्य

---

१. Vaishnavism, Sivism and Minor Religious system in India

संस्कृत तथा तमिल के प्रकांड विद्वान् थे। आळ्वारों के भक्तिपूर्ण गीतों को 'द्राविड़-वेद' मानकर सभी वर्गों में उसे समादृत कराने का श्रेय इन्हीं श्रीवैष्णव-आचार्यों को है। इन्होंने ही श्रीवैष्णव भक्तों में जाति, कुल, स्तर आदि की संकीर्णता न बरतने की व्यवस्था की है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन्होंने जाति-सांकर्य कर दिया हो। ऐसा नहीं हुआ। समदर्शी भावना, बन्धुत्व तथा पारिवारिक संगठन ही इन आचार्यों का ध्येय था। इसको अद्भुत रीति से सम्पन्न करने का श्रेय श्रीरामानुजाचार्य को ही सबसे अधिक मिलता है।

श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के अधिकारी आचार्यों में सर्वप्रथम थे श्रीनाथ मुनि। यह ई० ८२४ में हुए। इन्होंने 'द्राविड़वेद' के नाम से 'नाल्लायिर दिव्य प्रबंधम्' का संकलन कराया। इसमें बारहों वैष्णव भक्त आळ्वारों के उद्‌गारपूर्ण गीत संग्रह किये गये हैं। श्रीनाथ मुनि ने संस्कृत वेद के समान द्राविड़ वेद का भी विष्णु-मंदिरों में 'पारायण' करने की व्यवस्था की। उन्होंने आचार्य-पीठ स्थापित किया। उसका केन्द्र श्रीरंगम् था। श्रीनाथ मुनि ने सभी विष्णु-मंदिरों के पर्व-त्योहार, उत्सव, पूजा-आराधना आदि में अनेक परिष्कार किये। इससे जनता में विष्णु-भक्ति की भावना विशेष रूप से बढ़ी। शिक्षित-अशिक्षित दोनों वर्ग 'वैष्णव' के नाते एक ही वर्ग के माने जाने लगे। श्रीनाथ मुनि ने श्रीपुरुष निर्णयम्, योगरहस्यम् तथा न्यासतत्वम् नामक ग्रन्थों को संस्कृत में रचा। उन्होंने भक्ति और प्रपत्ति के तत्त्वों को प्रधानता दी। श्रीवैष्णव भक्तजनों के लिए 'पंच-संस्कार' विधियाँ नियत कीं। ये हैं, ताप-संस्कार (शंख-चक्र के चिह्न भुजाओं में धारण करना), पुण्ड्र-संस्कार (तिलक लगाना), नाम-संस्कार (भगवान् का नाम-जप), मंत्र-संस्कार (नारायण-मंत्र का उपदेश), याग-संस्कार (अहिंसात्मक यजन की योग्यता पाना)। इन संस्कारों से युक्त वैष्णव को 'परमैकान्ती' कहते हैं।[1]

श्रीनाथमुनि के बाद श्रीवैष्णव आचार्य उय्यक्कोण्डार हुए। इनके बाद मणक्काल नम्बि और फिर आळवन्तार श्रीवैष्णवाचार्य हुए। इन्होंने अपने सम्प्रदाय को उन्नत बनाने के लिए कई ठोस कार्य किये। 'दिव्यप्रबंधम्' के प्रचार पर इन्होंने अधिक ध्यान दिया। आळवन्तार ने ही श्रीरामानुजाचार्य को दीक्षित कराने की व्यवस्था की। इनकी आकस्मिक मृत्यु के पश्चात् श्रीरामानुज आचार्य-पीठ पर

---

१. तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पंचमः।
अमी परमसंस्काराः पारमैकान्त्यहेतवः॥
—भारद्वाज संहिता, परिशिष्ट २।२

तापादि पंच संस्कारी मंत्ररत्नार्थ-तत्त्वविद्।
वैष्णवः स जगत्पूज्यो याति विष्णोः परम् पदम्॥
—वृद्ध हारीतस्मृति, ८।२६

अभिषिक्त हुए। यह समय ग्यारहवीं शती का प्रारम्भ था।

श्रीरामानुज ने सारे दक्षिण की यात्रा की। कई स्थानों पर वैष्णव मठ और मंदिर बनवाये। जनता में विष्णु-भक्ति का प्रचार किया। 'भागवत-गोष्ठी' नाम से सभी जातिवालों को वैष्णव के नाम से एकत्र किया। व्यास भगवान् के ब्रह्मसूत्रों का वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार संस्कृत में भाष्य लिखा। इसे 'श्रीभाष्यम्' कहते हैं। इसके अलावा सम्प्रदाय के कई श्रीवैष्णव-ग्रन्थ उन्होने संस्कृत में लिखे। श्रीरामानुज ने काश्मीर तक यात्रा की, और विष्णु-भक्ति-धारा को उत्तरापथ में भी प्रवाहित किया। उन्हींके प्रयास से कर्नाटक तथा आन्ध्र में श्रीवैष्णव सम्प्रदाय का लोक-प्रिय प्रसार हुआ। वे आदर्श आत्मगुणों से परिपूर्ण थे।

श्रीरामानुज के पश्चात् कई आचार्य आये। उन सबने श्रीरामानुज के मार्ग का ही अनुसरण किया।

भगवान् नारायण की आराधना के संबंध में वैष्णवों की यह मान्यता है—

रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिना।
हिंसादि रहितः कायः केशवाराधनं त्रयम्॥

—राग-द्वेष आदि से रहित हृदय, असत्य, कपट आदि से अदूषित वाणी, हिंसा, अनाचार आदि से रहित शरीर—यह तीनों ही केशव की आराधना के प्रमुख साधन हैं।

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः।
तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च॥
शमस्तु पंचमं पुष्पं ध्यानं ज्ञानं विशेषतः।
सत्यं चैवाष्टमं पुण्यमेतैस्तुष्यति केशवः॥

—अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, भूतदया, क्षमा (सहनशीलता), संयम, ध्यान, ज्ञान और सत्य—ये आठों भगवान् नारायण के पूजार्ह और प्रिय पुष्प हैं। वैष्णव-भक्तों के लिए इन्हीं उत्तम पुष्पों से भगवान् की आराधना करना परमधर्म है।

अध्याय–११

ब्राह्मसमाज

[श्री शरदेन्दु]

अठारहवीं शताब्दी के मध्य के बाद का युग हिन्दू-धर्म के लिए लगभग अन्धकार का युग कहा जा सकता है। पढ़े-लिखे लोगों के मन में यह भावना घर कर गई थी, कि जो कुछ पश्चिम से आया है, वही अच्छा और ग्रहण करने-लायक है। अपने प्रदेश के रीति-रिवाजों और आचार-विचारों को वे हीन समझने लगे थे। हिन्दू-समाज ने शायद पहली बार अपना विवेक खो दिया था। जो धर्म लगातार बाहरी आक्रमणों और विजयों के बाद भी नष्ट न हो सका, उसके अस्तित्व के लिए तब खतरा पैदा हो गया था।

ईसाई मिशनरी भी हिन्दू-धर्म पर आये दिन हमले कर रहे थे। वे न सिर्फ धार्मिक और सामाजिक आचार-विचारों की धज्जियाँ उड़ा रहे थे वरन् स्कूल और कालेज खोल-खोलकर शिक्षा के साथ-साथ ईसाई धर्म का भी पाठ पढ़ा रहे थे। हिन्दू-धर्म पर यह एक नये प्रकार का हमला था। साथ ही, हिन्दू-समाज में ऐसे कुछ दोष आ गये थे, जो पराजित जाति के अन्दर अक्सर पैदा हो जाते हैं। इनके कारणभी उसकी शक्ति क्षीण होती जा रही थी।

यह काल हिन्दू-धर्म का परीक्षा-काल था। इस काल में कई महान् समाज-सुधारकों, शिक्षकों और साधु-संतों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने हिन्दू-धर्म में घुस आये दोषों को दूर कर उसके सनातन सत्यों को फिर से प्रकट किया और यूरोप-अमरीका तक उसका संदेश पहुँचाया।

'नव जागरण' के इस युग में समाज-सुधार के जो आन्दोलन चले, उनमें ब्राह्मसमाज और आर्य-समाज मुख्य हैं।

ब्राह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय थे। यद्यपि उनकी दिलचस्पी राजनीति, प्रशासन, शिक्षा और दूसरे कई क्षेत्रों में थी, फिरभी वह एक महान् समाज-सुधारक के रूप में ही अधिक प्रख्यात हैं। सती-प्रथा समाप्त कराने में उनका नाम अमर रहेगा। बहुविवाह खत्म कराने और नारियों को सामाजिक अधिकार दिलाने के लिए भी उन्होंने आन्दोलन चलाये। मूर्ति-पूजा तथा पशु-बलि का भी विरोध किया। इसके पक्ष में मनु, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, नारद, विष्णु, बृहस्पति और व्यास-जैसे प्रकाण्ड धर्मशास्त्रियों के उन्होंने प्रमाण प्रस्तुत किये।

राजा राममोहन राय ने यह बात सर्वथा स्पष्ट कर दी कि वह देश की ऊँची परम्पराओं के विरोधी नहीं हैं, किन्तु देश की गिरावट के काल में समाज के अन्दर जो बुराइयाँ पैठ गई हैं, उन्हेंही वह दूर करना चाहते हैं।

धार्मिक सुधार के क्षेत्र में भी उनका यही रुख रहा। बार-बार उन्होंने घोषणा की कि "अपने पूर्वजों के धर्म से अलग होने का मेरा कोई इरादा नहीं है। मैं तो केवल उसकी मूल पवित्रता उसे फिर से प्रदान करना चाहता हूँ।" इसके लिए उन्होंने उपनिषदों को हिन्दू-धर्म का मूल सूत्र माना, और उनके आधार पर ब्राह्मसमाज की स्थापना की।

ब्राह्मसमाज में मूर्ति-पूजा, चित्र-पूजा या ऐसीही दूसरे प्रकार की पार्थिव पूजा के लिए कोई स्थान नहीं है। लेकिन राजा राममोहन राय ने जहाँ केवल निराकार ब्रह्म की उपासना पर ज़ोर दिया, वहाँ एक सच्चे हिन्दू की भाँति उन्होंने कहा कि ऐसी किसी वस्तु का निरादर नहीं किया जायगा, जो किसी व्यक्ति या समाज के लिए पूजनीय है, या भविष्य में जो पूजनीय होगी।

सामाजिक व पारिवारिक रीति-रिवाजों के बारे में राजा राममोहन राय ने शास्त्रों और स्मृतियों के अनुसार कर्म करने पर ज़ोर दिया है। आशय यह कि वह हिन्दू-धर्म में न तो कोई क्रांतिकारी परिवर्तन करना चाहते थे, और न हिन्दू-समाज को एकदम बदल डालना चाहते थे। केवल कुछ बुराइयों को ही वह दूर करना चाहते थे। ब्राह्मसमाज में उन्होंने साधना की जो पद्धति चलाई, वह भी नई नहीं है। वह वेदान्त पर आधार रखती है। उसमें गायत्री और उपनिषदों के कुछ मंत्रों की सहायता से परमेश्वर का ध्यान लगाया जाता है। इसके अनन्तर **महानिर्वाण-तंत्र** के एक स्तोत्र का पाठ किया जाता है।

राजा राममोहन राय की मृत्यु से ब्राह्मसमाज के इतिहास का पहला अध्याय समाप्त हो गया। दूसरे अध्याय का प्रारंभ महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व से होता है। देवेन्द्रनाथ प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर के, जो राजा राममोहन राय के एक घनिष्ठ मित्र थे, सबसे बड़े पुत्र थे। अपने कुछ मित्रों और संबंधियों के साथ मिलकर देवेन्द्रनाथ ने 'तत्त्वबोधिनी सभा' की स्थापना की थी। इसमें उपनिषदों के बारे में चर्चा और प्रार्थना होती थी। बाद में १८४२ में यह सभा ब्राह्म-समाज में मिला दी गई। देवेन्द्रनाथ ने उसमें नया जीवन डालने का प्रयत्न किया। समाज के सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए उन्होंने **तत्त्वबोधिनी** नामक बंगाली मासिक पत्रिका निकाली। ब्राह्मसमाजी प्रचारकों को प्रशिक्षण देने के लिए तत्त्व-बोधिनी पाठशाला भी खोली। उपनिषदों के कुछ अंश और **महानिर्वाण-तंत्र** के स्तोत्र के संशोधित रूप को लेकर उन्होंने समाज के लिए ब्रह्मोपासना निर्धारित की। अंत में, वेदों के अध्ययन के लिए उन्होंने चार विद्यार्थियों को काशी भेजा, जिससे कि वे उपनिषदों का सही अर्थ कर सकें। अबतक ब्राह्मसमाज का आधार

ये उपनिषद् ग्रंथ ही थे।

कुछ वर्ष बाद इन विद्यार्थियों के काशी से लौटने पर ब्राह्मसमाज में वेदों के ईश्वरीय वाणी होने पर काफ़ी चर्चाएँ हुई। अंत में मान्यता छोड़ दी गई। समाज ने यह माना कि वेद, उपनिषद् और दूसरे प्राचीन ग्रंथ अकाट्य नहीं हैं। सर्वोच्च सत्ता तो तर्क और अंतरात्मा ही है। प्राचीन ग्रंथों को उसी हदतक मानना चाहिए, जहाँतक वे अपनी आत्मा की आवाज़ से मेल खाते हों।

देवेन्द्रनाथ को उपनिषदों के 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्य स्वीकार नहीं थे। पहले तो उन्होंने सोचा कि यह सिद्धान्त केवल शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन में ही है। यदि चाहते तो वे उस दर्शन को छोड़कर उपनिषदों में अपना विश्वास बनाये रख सकते थे। लेकिन जब उपनिषदों में 'सोऽहमस्मि', 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य देखे, तो उनसे भी निराश हो गये। उन्होंने लिखा है, "ये उपनिषद् हमारी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। हमारे मन को संतोष नहीं दे सकते।"

महर्षि देवेन्द्रनाथ के ये शब्द शीघ्र ही ब्राह्मसमाज के धर्म के अंग बन गये। अबतक जिस वेद के आधार पर ब्राह्मसमाज टिका हुआ था, उसके खिसक जाने पर देवेन्द्रनाथ ने अन्तःप्रेरणा का एक नया सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इसके बावजूद वह इस बात के लिए उत्सुक थे कि अधिक-से-अधिक हिन्दू-शास्त्र-ग्रंथों को ब्राह्मसमाज का आधार बनाया जाय। इसके लिए उन्होंने उपनिषदों, स्मृतियों, महाभारत तथा अन्य आर्ष ग्रंथों में से अनेक अंशों को लेकर और कुछ अंशों को अपनी विचार-धारा के अनुसार ढालकर ब्राह्म-धर्म की रचना की, जो समाज में बहुत लोकप्रिय हुई। कहते हैं कि देवेन्द्रनाथ का ऐसा विश्वास था कि उन्होंने दैवी प्रेरणा से इस रचना को सम्पादित किया है।

ब्राह्मसमाज के दर्शन के लेखक पंडित सीतानाथ तत्त्वभूषण ने १८४३ में प्रकाशित अपनी आत्मकथा में लिखा है, "मेरा यह अभिप्राय है कि महर्षि के नेतृत्व में ब्राह्मसमाज द्वारा वेदान्त को तिलांजलि देना एक भारी भूल थी। इससे ब्राह्मसमाज को हानि पहुँची है। इससे ब्राह्मसमाजियों में हमारे प्राचीन धर्म-ग्रंथों के प्रति उपेक्षा पैदा हुई, और आध्यात्मिक गतिरोध आ गया। इससे पुराने और नये समाज में अनावश्यक खाई भी पैदा हुई, अनेक ब्राह्मसमाजी अपनेको अहिन्दू-तक कहने लगे।"

इस समय ब्राह्मसमाज की बैठकों में भाग लेनेवाले और देवेन्द्रनाथ से प्रेरणा ग्रहण करनेवाले अनेक नवयुवकों में केशवचन्द्र सेन भी थे। यह १८५७ में सिर्फ १९ बरस की उम्र में ब्राह्मसमाज में शामिल हुए। देवेन्द्रनाथ पर उनकी योग्यता और सचाई का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उन्हें अपना सहकर्मी बना लिया। केशवचन्द्र सेन के कहने पर देवेन्द्रनाथ ने समाज के सदस्यों के लिए 'अनुष्ठान-पद्धति' नाम की एक पुस्तिका प्रकाशित की। केशव बाबू को हिन्दुओं

के अनेक धार्मिक कृत्यों में मूर्ति-पूजा की गंध आती थी। इसके बाद जाति का प्रश्न उठाया गया। केशवचन्द्र के साथियों ने यह सुझाव दिया कि जाति का परित्याग करने के संकेत के रूप में समाज के सभी सवर्ण सदस्य अपना जनेऊ उतार-कर फेंकदें। देवेन्द्रनाथ ने इसे भी मान लिया, और अपना यज्ञोपवीत उतार दिया। लेकिन सुधारकों को इससे भी संतोष नहीं हुआ। इस बात पर ज़ोर दिया कि ब्राह्मसमाज के किसीभी पुरोहित को जनेऊ न पहनने दिया जाय। यह भी मान लिया देवेन्द्रनाथ ने। पुराने जनेऊधारी पुरोहितों को बरखास्त कर दो नये आदमी नियुक्त किये गये। समाज के रूढ़िवादी इसपर बिगड़ खड़े हुए। उन्होंने देवेन्द्रनाथ से इन सब बातों पर फिरसे विचार करने और नई व्यवस्था को रद्द करने के लिए कहा। उनके दबाव के आगे देवेन्द्रनाथ झुक गये। वह खुद भी इस बात से डर रहे थे कि केशवचन्द्र सेन समाज-सुधार के जोश में उन्हें बहुत दूरतक घसीट लाये हैं। वह नहीं चाहते थे कि सुधार में किसी तरह की ज़ोर-जबरदस्ती की जाय, या समाज के सदस्यों को अपनी जाति छोड़ देने के लिए मजबूर किया जाय। वह अन्तर्जातीय विवाह के भी पक्ष में नहीं थे। असल में देवेन्द्रनाथ केशव-बाबू के ईसाई-धर्म के प्रति रुझान को पसन्द नहीं करते थे। सब कुछ होते हुए भी क्योंकि वे एक रूढ़िवादी हिन्दू थे। वह चाहते थे कि हिन्दू-समाज में सुधार बहुत धीरे-धीरे और सावधानी से जारी किये जायें। केशवचन्द्र सेन ईसा मसीह के बहुत बड़े प्रशंसक थे, और हिन्दू-समाज को वह जड़-मूल से ही सुधारना चाहते थे।

१८६४ में केशवचन्द्र सेन और उनके साथियों ने पृथक् ब्राह्मसमाज के नाम से समाज की स्थापना की। आदि ब्राह्मसमाज पर यद्यपि देवेन्द्रनाथ का प्रभुत्व लगभग ४० वर्ष तक रहा, फिरभी समाज की बागडोर उनके संबंधियों और मित्रों के हाथ में चली गई। उन्होंने अनेक हिन्दू-रीति-रिवाजों को भी क़ायम रखा और समाज-सुधार का मामला सदस्यों की इच्छा पर छोड़ दिया। १८७२ में जब केशवचन्द्र ने ब्राह्मविवाह बिल पेश किया तो देवेन्द्रनाथ और उनके समाज ने उसका विरोध किया। उनके विचार से इससे ब्राह्मसमाजी मूल हिन्दू-समाज से अलग पड़ जाते। ब्राह्मसमाज के मतभेदों के बावजूद देवेन्द्रनाथ के चरित्र और आध्यात्मिकता के कारण सभी उनका आदर करते थे, और उन्हें महर्षि के रूप में मानते थे।

इधर केशवचन्द्र सेन और उनके अनुयायी १८६४ में आदि ब्राह्मसमाज से अलग होकर ईसाई धर्म की ओर झुक गये। कुछ तो यहाँतक समझते थे कि केशव-चन्द्र किसी दिन ईसाई हो जायेंगे। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। समाज का न तो कोई विधान था, न नियम और न कोई अध्यक्ष। श्री सेन ने घोषित किया कि, हमारे समाज को किसी मानव अध्यक्ष की आवश्यकता नहीं, स्वयं ईश्वर ही उसका अध्यक्ष है। प्रार्थना के लिए भी उन्होंने जो पाठ रचा, उसमें सभी धर्मों— हिन्दू, बौद्ध, यहूदी,

ईसाई, मुसलमान और चीनी धर्मों के ग्रंथों के अंश लिये गये। उन्होंने महाप्रभु चैतन्य की भक्ति-परम्परा और ढोल-मजीरों पर भजन-कीर्तन करने की पद्धति को भी अपना लिया।

केशवचन्द्र सेन ने अपने नव धर्म को लोकप्रिय और व्यापक बनाने के लिए सभी धर्मों को एक स्थान पर लाने का यत्न किया। उन्होंने अपने आपको नव धर्म का मसीहा बनाने की चेष्टा की। नव धर्म के प्रचार के लिए, जिसका नाम उन्होंने भारतीय ब्राह्मसमाज से बदलकर 'नव विधान' कर दिया, चुने हुए प्रचारक चारों ओर भेजने की योजना बनाई। संसार के सभी धर्मों को लेकर एक ऐसी चीज ढालने की कोशिश की, जो हिन्दू धर्म या ईसाई धर्म या इस्लाम धर्म से श्रेष्ठ हो।

यह उस अन्तःप्रेरणा के सिद्धान्त का परिणाम था, जिसे पहले देवेन्द्रनाथ ने सामने रखा, और बाद में केशवचन्द्र ने स्वयं जिसका विकास किया। इस सिद्धान्त के कारण केशवचन्द्र के वाक्य ही नियम बन गये। उन्होंने कहा कि, ईश्वर ने कई अवसरों पर अपनी शक्ति प्रकट की। बुद्ध, मुहम्मद, ईसा और चैतन्य को ईश्वर से विशेष आदेश प्राप्त हुए, और इसलिए उनकी शिक्षाओं का विशेष रूप से तर्कवाद, वैष्णवभावनावाद, ईसाई अतिप्रकृतिवाद तथा वेदांती रहस्यवाद का मिला-जुला रूप कहा जा सकता है। मगर वे इन सब धर्मों को मिलाकर कोई समन्वित रूप सामने नहीं रख सके।

केशवचन्द्र सेन ने अलग होकर साधारण ब्राह्मसमाज की स्थापना करने-वालों में आनन्दमोहन वसु और पंडित शिवनाथ शास्त्री मुख्य थे। उन्होंने श्री सेन के मिले-जुले रूप को तो ले लिया, पर वे उनकी धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध थे। उदाहरण के लिए, वे किसी धर्म में एक ही व्यक्ति की सत्ता का उसके विनाश का लक्षण मानते हैं। ईश्वर और मनुष्य के बीच किसी व्यक्ति को कड़ी समझना वे धर्म-विरुद्ध समझते हैं। ईश्वरीय प्रेरणा के दावे को तर्क, सत्य और नैतिकता के विरुद्ध और ईश्वर का अपमान मानते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि ब्राह्मसमाजी के दैनिक जीवन में ईश्वर के प्रति प्रेम रखना और ईश्वर की इच्छा के अनुसार चलना आवश्यक है। उनका कहना है कि, "जिस किसी भी ग्रंथ में सत्य हो, जिससे आत्मा का विकास हो अथवा चरित्र ऊँचा हो, वही ब्राह्मसमाजी के लिए धर्म-ग्रंथ है, और जो भी ऐसे सत्य को सिखाये वही शिक्षक और मार्ग-प्रदर्शक है।" इस प्रकार समाज धरती में गहरी जड़ोंवाला फूलों से लदा पौदा नहीं रह गया, किन्तु विभिन्न पौदों से फूल लेकर गूँथी गई एकमाला बन गया।

साधारण ब्राह्मसमाज ने समाज-सेवा के क्षेत्र में खासी प्रगति की और अपनी एकता बनाये रखी। दर्शन के क्षेत्र में भी पंडित सीतानाथ तत्त्वभूषण और नगेन्द्र-नाथ चटर्जी ने अपने प्रवचनों द्वारा बड़ा योगदान किया।

ब्राह्मसमाज के इस संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में उस समय

प्रचलित वैष्णव, शैव और शाक्त सम्प्रदायों से वह नीचेलिखे रूपों में भिन्न है :

१. वह किसी धर्म-ग्रंथ को अकाट्य नहीं मानता।

२. उसका अवतारों में विश्वास नहीं है।

३. उसमें बहु-सम्प्रदायवाद और मूर्ति-पूजा को निंदनीय माना गया है।

४. उसमें जाति-पांति के बंधनों को स्वीकार नहीं किया गया है।

५. उसमें कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धांतों पर विश्वास समाज के सदस्यों की मरज़ी पर छोड़ दिया गया है।

दरअसल ब्राह्मसमाज पुराने सम्प्रदायों से अपनी मान्यताओं के कारण भिन्न नहीं है। भिन्न है इस कारण कि वह उन मान्यताओं में विश्वास नही करता। भारत के धर्म-जगत् में तो ब्राह्मसमाज अपना प्रभाव नहीं जमा पाया, पर समाज-सुधार के क्षेत्र में जाति-व्यवस्था के दोषों को दूर करने और स्त्रियों को समानता का दर्जा दिलाने के लिए उसने बहुत-कुछ किया है।

ब्राह्मसमाज ने तीन प्रकार से हिन्दू-धर्म की उपयोगी सेवा की है। उसने समाज-सुधार को लोकप्रिय बनाया, बीच का मार्ग तैयार कर हिन्दुओं को ईसाई बनने से रोका, और रूढ़िवादी हिन्दुओं में अपना संगठन व अपने धर्म के पुनरुत्थान का प्रयत्न करने की प्रेरणा पैदा की।

प्रार्थना-समाज

केशवचन्द्र सेन ने १८६४ में बम्बई में जो भाषण दिये, उनसे प्रभावित होकर वहाँ के कुछ लोगों ने प्रार्थना-समाज की स्थापना की। यह समाज बंगाल के ब्राह्मसमाज की शाखा होते हुए भी उससे अलग रहा। उसने अपने ये चार उद्देश्य घोषित किये :

१. जाति-भेद का विरोध, २. विधवा-विवाह का प्रचलन, ३. स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन, और ४. बाल-विवाह का उन्मूलन।

ब्राह्मसमाज से प्रभावित होते हुए भी प्रार्थना-समाज ने अपने आपको मूल हिन्दू-समाज से अलग कर पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की। नव विधान की भी घोषणा नहीं की। दूसरी ओर, उसने भागवत और महाराष्ट्र की मत-परम्परा को आगे बढ़ाने का यत्न किया। समाज-सुधार पर ही खास ज़ोर दिया और अपनी धार्मिक अवस्थाओं को कुछ अस्पष्ट रहने दिया। प्रार्थना-समाज के सदस्यों के लिए न तो मूर्ति-पूजा को और न कई पुराने रीति-रिवाजों को छोड़ना, और न जाति-पाँति के बंधनों को तोड़ना आवश्यक था।

प्रार्थना-समाज ने जो यह उदार रुख अपनाया, उसका बड़ा कारण था। उसे महादेव गोविन्द रानडे का योग्य नेतृत्व मिला। यद्यपि रानडे मूलतः कोई धार्मिक विचारक नहीं थे, तथापि उनकी देश-भक्ति, समाज-सुधार के प्रति उनका

उत्साह और भारत के भविष्य में उनकी दृढ़ आस्था ये गुण उन्हें राजा राममोहन राय की पंक्ति में लाकर खड़ा कर देते हैं। रानडे का मत था कि, "जिन सामाजिक दोषों की शिकायत की जाती है, वे हमारे पतनशील अतीत की देन हैं, हमारे गौरवशाली अतीत की नहीं। ये दोष पौराणिक काल के हैं, वैदिक काल के नहीं। अतः अपना ध्यान निकट अतीत से हटाकर सुदूर अतीत पर लगाना चाहिए।"[1]

१. श्री डी० एस० शर्मा लिखित तथा भारतीय विद्याभवन, बंबई द्वारा प्रका-

अध्याय–१२

आर्यसमाज

[श्री विष्णु प्रभाकर]

जिन देशों ने दासता के बन्धन तोड़े, या किसी और रूप में क्रान्ति की है उन्होंने सबसे पहले सामाजिक शक्ति का संचय किया था। प्राचीन भारत में तथागत बुद्ध की सामाजिक क्रांति की नींव पर चद्रगुप्त और अशोक के साम्राज्य स्थापित हुए। मध्ययुग में गुरु नानक की सामाजिक विचारधारा, गुरु गोविन्दसिंह के समय में आकर, राजनैतिक शक्ति का कारण बनी। भारत की वर्तमान मुक्ति का आधार भी १९ वीं शताब्दी की सामाजिक क्रान्ति ही थी।

१३ वीं शताब्दी और उसके आसपास जितने सुधार-आन्दोलन यहाँ पैदा हुए, उनका कारण इस्लाम धर्म से अनुप्राणित मुस्लिम जाति से सम्पर्क होना था। इसी प्रकार १९ वीं शताब्दी में जितने सुधार-आन्दोलन उभरे, उनका तात्कालिक कारण यूरोपीयनों, विशेषकर अंग्रेज़ों का इस देश में आगमन था। मुगल-साम्राज्य नाममात्र को सन् १८५७ तक चलता रहा। लेकिन उसका वास्तविक अन्त सन् १७५७ में ही हो गया था। चौथी दशाब्दी में (१८३९) सिक्ख साम्राज्य के नेता महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु हो जाने पर अंग्रेज़ों का कोई प्रतिद्वन्द्वी भारत में नहीं रह गया था। मराठे पहले ही पराजित हो चुके थे। जैसा कि सदा होता है, इन विजेताओं के साथ इनकी सभ्यता और संस्कृति भी इस देश में आई। शुरू-शुरू में ईसाई-धर्म-प्रचारकों ने हिन्दू-धर्म पर खुले हमले किये। उस समय दोषों को चुन-चुनकर उनकी खिल्ली उड़ाना ही पादरियों का धर्म रह गया था। इसलिए इस काल में सुधार-आन्दोलनों के जन्म का एक कारण इस आक्रमण का प्रतिकार करना भी था। परन्तु केवल यही एक कारण नहीं था। आक्रमण के बावजूद, पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा ने भारतवासियों को अपनी ओर आकृष्ट किया। ब्रिटिश शासन और ईसाई प्रचारकों के सम्पर्क ने उनमें नई चेतना उसी प्रकार पैदा होने लगी, जिस प्रकार बन्द द्वार से सूर्य का प्रकाश अन्दर पहुँच ही जाता है। राजा राममोहन राय (१७७४-१८३३) ने सन् १८२८ में ब्राह्म समाज की स्थापना की, और सन् १८२९ में सती तथा बाल-हत्या-जैसी बर्बर प्रथाओं को राज्य के क़ानून द्वारा बन्द करवाने की चेष्टा की। आचार्य जावड़ेकर के शब्दों में, "हिन्दू-धर्म में सुधार किये जायें, एकेश्वर-धर्म का सर्वत्र

प्रचार करके यह बताया जाय कि सब धर्मों का अन्तरंग एकही है। और इस तरह संसार के धर्म-भेदों का अन्धकार दूर करनेवाले सार्वत्रिक विश्व-धर्म के सूर्य का प्रकाश सर्वत्र फैलाना उनकी बड़ी महत्वाकांक्षा थी।"[1] वे ईसाई-धर्म को हिन्दू-धर्म से किसी प्रकार अच्छा नहीं मानते थे। परन्तु यह स्वीकार करते थे कि ईसाइयों में बहुत-से अच्छे लोग हैं।

ब्राह्मसमाजी पश्चिमी शिक्षा से बहुत प्रभावित हुए और आगे चलकर ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन के समय में तो, वे वेदों के 'ब्रह्म' से बहुत दूर हट गये। ब्राह्म-समाज का प्रभाव बंगाल तकही सीमित रहा, किन्तु बम्बई और अहमदाबाद में इसीसे मिलते-जुलते एक और सुधार-आन्दोलन का आरम्भ हुआ। महाराष्ट्र में सुधार-आन्दोलन १९ वीं शताब्दी के आरम्भ से ही चल पड़े थे। इन्हींकी नींव पर सन् १८६७ में 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना हुई। लेकिन इसके नेता हिन्दू-धर्म के बड़े नेता थे और प्रार्थना-समाज को उसका एक सुधारक पन्थ मात्र मानते थे। यह समाज भी बहुत जोर नहीं पकड़ सका। क्योंकि सन् १८८० में तिलक और आगरकर ने आजीवन देश-सेवा करनेवालों का दल खड़ा करने की जो अपूर्व प्रथा डाली, उससे प्रार्थना-समाज की सुधार-मण्डली का तेज फीका पड़ने लगा। इस काल के दूसरे समाज-सुधार-आन्दोलनों में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का विधवा-विवाह आन्दोलन उल्लेखनीय है। रामकृष्ण परमहंस यद्यपि इस प्रकार के सुधारक नहीं थे, लेकिन उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण-आश्रमों की स्थापना करके लोकसेवा और राष्ट्रीयता को प्रमुखता दी। स्वामीजी का विचार था कि "धर्म को समाज पर जिस ढंग से लागू किया जाना चाहिए था, उस ढंग से वह लागू ही नहीं किया गया है। हिन्दू अपनी सारी धार्मिक योजनाओं को कार्य के रूप में परिणत करने में असफल भले ही रहा हो, किन्तु, यदि कभीभी कोई विश्व-धर्म जैसा धर्म उत्पन्न होनेवाला है, तो वह हिन्दुत्व के ही समान होगा जो देश और काल में कहींभी सीमित नहीं होगा, जो परमात्मा के समान ही अनन्त और निर्बंध होगा तथा जिसके सूर्य का प्रकाश कृष्ण और ईसा के अनुयायियों पर, सन्तों और अपराधियों पर एकसमान चमकेगा। वह धर्म न तो ब्राह्मण होगा, न बौद्ध, न ईसाई होगा, न मुसलमानी, वह तो इन सबके योग और सामंजस्य से उत्पन्न होगा।"[2]

२

स्वामी विवेकानन्द से पूर्व स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्यसमाज की

---

१. आधुनिक भारत—पृष्ठ ५२

२. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर—पृष्ठ ५०९

स्थापना कर चुके थे। यह आन्दोलन कई रूपों में अबतक के सभी आन्दोलनों से व्यापक था। गुजरात-काठियावाड़ के मोरवी राज्य में टंकारा नामक नगर के एक सम्पन्न परिवार में स्वामीजी ने संवत् १८८१ में जन्म लिया था। इनका नाम मूलजी था। इनके पिता कर्षणजी लालजी त्रिवाड़ी औदीच्य सामवेदी ब्राह्मण थे। मूलजी ने चौदह वर्ष की अवस्था तक सम्पूर्ण यजुर्वेद-संहिता कण्ठस्थ करके रुद्राष्टादशाध्यायी तथा व्याकरण का भी अध्ययन किया था। इनके पिता परम शैव थे। वे चाहते थे कि उनका पुत्र भी शिवभक्त बने। इसीलिए १३ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने मूलजी को शिवरात्रि का व्रत रखने की आज्ञा दी। यह व्रत बिना जल पिये रखा जाता है, और रात्रि में जागरण करके शिवार्चन करना पड़ता है।

बड़ी धूम-धाम से पूजा का आयोजन किया गया। लेकिन तीसरे पहर का पूजन समाप्त होते-होते सब लोग सोने लगे। अन्त में उनके पिता भी सो गये। लेकिन बालक मूलजी में उत्साह था। विश्वास था कि नींद आ जाने से व्रत का पूरा फल नहीं मिलेगा; इसलिए वह जागते रहे।

इसी समय उन्होंने देखा कि कुछ चूहे शिव की मूर्ति पर चढ़कर प्रसाद खा रहे हैं। बालक सहसा चौंक पड़ा। मन में शंकाएँ उभरने लगीं —यह कैसा शिव है, जो अपने ऊपर उछल-कूद मचानेवाले इन गन्दे छोटे जीवों को भी भगा नहीं सकता ? शिव तो नीलकण्ठ हैं, त्रिलोचन हैं, त्रिशूल उनके हाथ में है, जब ताण्डव करते हैं तो सारी सृष्टि का संहार हो जाता है।

यही सोचते-सोचते मूलजी ने अपने पिता को जगाया और अपने मन की शंका उनके सामने रखी। पिता शायद नींद में थे, या जैसा कि उस समय होना था, उन्होंने बच्चे की शंका को प्रोत्साहन नहीं दिया। डाँटकर बोले, 'यह शंकर की मूर्ति है, स्वयं शंकर नहीं।'

बस, यहीं से मूलजी के मन में एक संकल्प जागा —"मैं त्रिशूलधारी शिव के ही दर्शन करूँगा। मुझे शिव की यह मूर्ति नहीं चाहिए।" और उन्होंने उसी समय व्रत तोड़ डाला। कुछ दिन बाद काशी जाकर पढ़ने की इच्छा व्यक्त की। काशी तो वह नहीं जा सके, परन्तु पास ही एक पण्डित के पास निघण्टु, निरुक्त और मीमांसा आदि शास्त्र पढ़ने लगे।

इसी समय उनकी छोटी बहन का और फिर उनके चाचा का देहान्त हो गया। मूलजी के मन में चिन्तन और भी गहरा हो उठा। "यह मृत्यु क्या है ?" "मर कर आदमी कहाँ जाता है," "वह अमर कैसे हो सकता है ?" ये प्रश्न बार-बार उनके मन में उठने लगे। किसीने उनसे कहा कि योगाभ्यास से मनुष्य अमर हो जाता है। बस, सच्चे शिव की खोज के साथ-साथ उनके मन में योगाभ्यास की धुन भी जाग उठी। वैराग्य के प्रति उनकी ऐसी दृढ़ आस्था देखकर पिता ने उनका विवाह

कर देना चाहा। पर जिस समय विवाह के आमोद से घर गुंजरित हो रहा था, उसी समय चुपके से उन्होंने घर छोड़ दिया। उस समय वे २२ वर्ष के थे। संकल्प किया कि, 'अब घर लौटकर नहीं आऊंगा।'

यह संवत् १९०३ की बात है। संवत् १९१७ तक वह सच्चे शिव और योग की तलाश में घूमते रहे। एक बार उनके पिता ने उन्हें पकड़ भी लिया। लेकिन वे फिर बच निकले। उन्होंने वनों की खाक छानी, तीर्थों में घूमे, हिमालय के दुर्गम शिखरों पर चढ़े, बर्फानी नदियों को पार किया, फिर भी सच्चे शिव से भेंट नहीं हुई। हां, कुछ महात्माओं के प्रभाव से योग-विद्या का ज्ञान उन्हें अवश्य हो गया। मूलजी से वह ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य बन गये। फिर विधिपूर्वक संन्यास की दीक्षा लेकर दयानन्द सरस्वती बने।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जिस समय नर्मदा के उद्गम की खोज करते हुए दुर्गम वनों में घूम रहे थे, उसी समय उन्होंने दण्डीस्वामी विरजानन्द का नाम सुना। वहाँ से घूमते-घूमते वह मथुरा आये, और दण्डीस्वामी के शिष्य बन गये।

दण्डीस्वामी दयानन्द की प्रतिभा को पहचान गये। उन्होंने उन्हें समस्त विद्या देने में कोई कृपणता नहीं की। अष्टाध्यायी, महाभाष्य, वेदान्त सूत्र आदि ग्रन्थ उन्हें पढ़ाये। अपार श्रद्धा के साथ दयानन्द ने उन ग्रन्थों को पढ़ा, और विद्या की समाप्ति पर देश का भ्रमण करने की इच्छा प्रकट की। गुरु-दक्षिणा देने के लिए उनके पास कुछ नहीं था। कहीं से कुछ लौंग लेकर वह उनसे विदा माँगने आये। उस समय दण्डीस्वामी ने कहा, "दयानन्द, मुझे लौंग नहीं चाहिए, किन्तु जो गुरु-दक्षिणा चाहिए वह भी तुम्हीं दे सकते हो। मैं चाहता हूँ कि देश के अज्ञान को दूर करो, कुरीतियों का निवारण करो। जिन ग्रन्थों में परमात्मा एवं ऋषि-मुनियों की निन्दा है, उनको त्यागकर आर्ष ग्रन्थों का प्रचार करो। वैदिक ग्रन्थों के पठन-पाठन में लोगों को लगाओ। गंगा-यमुना के प्रभाव की भाँति लोकहित की भावना से क्रियाशील जीवन व्यतीत करो। यही मेरी गुरु-दक्षिणा है।"

३

गुरु से यह आदेश लेकर दयानन्द ने देश का भ्रमण आरम्भ किया। और इस भ्रमण का अन्त एक प्रकार से सन् १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना से हुआ। आर्यसमाज का मुख्य केन्द्र यों तो पंजाब माना जाता है, परन्तु इसका प्रभाव आज के उत्तरप्रदेश, राजस्थान, विहार, बंगाल आदि प्रान्तों पर भी पड़ा। स्वामी दयानन्द एक बात में दूसरे सुधारकों से भिन्न थे। दूसरे आन्दोलन किसी-न-किसी रूप में पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित थे। परन्तु स्वामी दयानन्द भारत की प्राचीन सभ्यता के प्रबल समर्थक थे। वह संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। अंग्रेज़ी से अनभिज्ञ थे तथा संन्यासी होने के कारण पश्चिम का उनपर कोई सीधा प्रभाव नहीं पड़ा था।

दण्डीस्वामी का आदेश पाकर उन्होंने तत्कालीन भारत में फैले पाखण्ड और अविद्या के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। इस समय हिन्दू-धर्म का रूप अत्यन्त विकृत हो गया था। वेदादि की शिक्षा से, जो सत्य शास्त्र थे, जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं रहा था। एक सत्य सनातन धर्म के स्थान पर सैकड़ों मत-मतान्तर चल रहे थे। एक परमेश्वर के स्थान पर सैकड़ों देवी-देवताओं की पूजा हो रही थी। वर्णों के जन्म पर आधारित हो जाने के कारण असंख्य जातियाँ जन्म ले चुकी थीं। शूद्रों और अछूतों का समाज में बहुत ही नीचा स्थान था। उनको पढ़ने-पढ़ानेतक का अधिकार नहीं था। अशिक्षा के साथ-साथ बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह आदि कुरीतियों के कारण नारी-जाति का जीवनभी नरक बन गया था। छूत-छात की कोई सीमा नहीं थी। हिन्दू-धर्म मानव मात्र से छूतछात, विद्वत्ता के दम्भ और ढोंग का धर्म रह गया था।

इसके विपरीत, इस्लाम और ईसाई धर्म नये थे। उनमें जीवन था, स्फूर्ति थी। इसी कारण वे इस जीर्ण-शीर्ण हिन्दू-धर्म पर आक्रमण कर रहे थे। ऐसी स्थिति थी, जब स्वामी दयानन्द देश-भ्रमण पर निकले। गुरु के आदेश का पालन करने के लिए उन्हें सुधार की चहुँमुखी लड़ाई लड़नी पड़ी। इसीलिए आर्यसमाज किसी दर्शन और सिद्धान्त पर इतना ज़ोर नहीं देता, जितना कि समाज-सुधार पर। मध्ययुग के सुधारक आचार्य अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद और शुद्धा-द्वैतवाद इत्यादि दार्शनिक वादों के समर्थन और विरोधी वादों के खण्डन में ही अधिकतर लगे रहे। कबीर और नानक ने मूर्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा, मृतक-श्राद्ध, तर्पण और जाति-भेद का खण्डन करके समाज में प्रचलित अन्ध विश्वासों को दूर करने का निश्चय ही अच्छा प्रयत्न किया था। परन्तु कई कारणों से उनका प्रभाव बहुत व्यापक नहीं हो सका। १९ वीं शताब्दी में ब्राह्मसमाज ने भी इन कुरीतियों, कुप्रथाओं और अन्ध विश्वासों पर प्रहार किया। परन्तु वह पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता से बहुत प्रभावित था। सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में स्वामीजी ने प्रार्थना-समाज और ब्राह्मसमाज के बारे में लिखा है, "जो कुछ ब्राह्मसमाज और प्रार्थना-समाजियों ने ईसाई मत में मिलने से थोड़ा-सा मनुष्यों को बचाया और कुछ-कुछ पाषाणादि मूर्ति-पूजा को हटाया, अन्य जाल-ग्रन्थों के फंदों से भी बचाया इत्यादि अच्छी बातें हैं। परन्तु इन लोगों की स्वदेश-भक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत-से लिये हैं। खान-पान, विवाह आदि के नियम भी बदल दिये हैं। अपने देश की प्रशंसा और पूर्वजों की बड़ाई करना तो दूर रहा, उसके बदले पेटभर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेज़ों की प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मादि ऋषियों का नाम भी नहीं लेते। प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि बिना अंग्रेज़ों के सृष्टि में आजपर्यन्त कोई विद्वान् नहीं हुआ। आर्यावर्ती लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं। वेदादिकों की प्रतिष्ठा तो दूर रही, परन्तु निन्दा करने

से भी पृथक् नहीं रहते। ब्राह्मसमाज के उद्देश्य की पुस्तकों में, साधुओं की संख्या में ईसा, मूसा, मुहम्मद, नानक और चैतन्य लिखे हैं। किसी ऋषि महर्षि का नाम भी नहीं लिखा।"

स्वयं ब्राह्मसमाज और प्रार्थना-समाज के नेता इस बात को अनुभव कर रहे थे, कि हम जो कुछ कर रहे हैं वह अधिकतर विदेश की नक़ल है। इसीलिए उनमें वह स्वाभिमान भी नहीं था, जो दयानन्द में प्रकट हुआ। दयानन्द ने कहा, कि रूढ़ियों और अन्य परम्पराओं में फँसकर हम अपना सर्वनाश कर रहे हैं। इन रूढ़ संस्कारों की गन्दी परतों को यदि एक बार तोड़कर देखेंगे तो सच्चा रूप दिखाई देगा। उन्होंने इन कुरीतियों पर घन की चोट की। सुधारक से अधिक वह एक क्रान्तिकारी के रूप में प्रकट हुए।

उन दिनों ईसाई और मुसलमान प्रतिदिन हिन्दू-धर्म पर आक्रमण करते और उसका उपहास उड़ाते थे। स्वामीजी ने अपने धर्म के साथ-साथ इन धर्मों का अध्ययन भी किया, और उनके दोष दिखाते हुए उनपर प्रहार किया। पर इस प्रहार में द्वेष नहीं था। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में लिखा है, "जो-जो सब मतों में सत्य बातें हैं, वे-वे सबमें अविरुद्ध होने से उनको स्वीकार करके जो-जो मत-मतान्तरों में मिथ्या बातें हैं, उन-उनका खण्डन किया है।" इसमें यह भी अभिप्राय रखा है कि, "जब मत-मतान्तरों की गुप्त व प्रकट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान्-अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रखा है, जिससे सबसे सबका विचार होकर परस्पर प्रेमी हो के एक सत्य मतस्थ होवें। यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न करके यथातथ्य प्रकाश करता हूँ, वैसेही, दूसरे देशस्थ व मतोन्नतिवालों के साथ भी वर्त्तता हूँ। जैसा स्वदेशवालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्तता हूँ, वैसा विदेशियों के साथ भी, तथा सब सज्जनों को भी वर्त्तना योग्य है।"

एक और स्थान पर वह कहते हैं, "मेरा उद्देश्य सबको आपस में मिलाना है, जैसे जुड़े हुए हाथ। मैं कौल से लेकर ब्राह्मणतक में राष्ट्रीयता की ज्योति जगाना चाहता हूँ। मेरा खण्डन हित-सुधार के लिए है।"

४

जो भी हो, उनके इस आन्दोलन के कारण पतनशील हिन्दू जाति में आत्मसम्मान पैदा हुआ। उसने अपनी प्राचीन परम्परा को सच्चे रूप में देखा। इन्हीं सब बातों का प्रचार करने के लिए स्वामीजी ने आर्यसमाज की स्थापना की। चैत्र सुदी पंचमी, संवत् १९३२, तदनुसार १० अप्रैल, १८७५ के दिन, गिरगाँव में, डॉ० मानिकचन्द की वाटिका में, नियमपूर्वक आर्यसमाज की स्थापना

हुई। इसके प्रथम सभापति श्री गिरिधारीलाल दयालदास कोठारी तथा मन्त्री श्रीकृष्णदास हुए, और २३ व्यक्ति प्रथम सदस्य बने।

उस समय आर्यसमाज के २८ नियम थे। ये नियम बड़े व्यापक थे। इनमें उद्देश्य, नियम, उपनियम, सभीका समावेश है। जैसे पहले ही नियम में कहा गया था कि 'आर्यसमाज का उद्देश्य सबका हित करना है।' उसका आठवाँ नियम भी बहुत महत्वपूर्ण था, 'समाज में सत्पुरुष, सदाचारी और परोपकारी सभासद लिये जायेंगे।'

आजकल प्रचलित दस नियम लाहौर में पीछे से निश्चित हुए। आर्यसमाज को समझने के लिए इन दस नियमों का समझना बहुत आवश्यक है :—

(१) सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

(२) ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसीकी उपासना करनी योग्य है।

(३) वेद सब सत्विद्याओं का ग्रन्थ है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्यो का परमधर्म है।

(४) सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

(५) सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार कर करने चाहिए।

(६) संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

(७) सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

(८) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

(९) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

(१०) सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

"स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश" में उन्होंने स्पष्ट कहा है, "मेरा कोई नवीन कल्पना व मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं। किन्तु जो सत्य है उसको मानना, मनवाना, और जो असत्य है, उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीप्ट है। यदि मैं पक्षपात करता, तो आर्यावर्त में प्रचलित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता। किन्तु जो-जो आर्यावर्त व अन्य देशों में अधर्मयुक्त चाल-चलन हैं, उनका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं, उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता; क्योंकि ऐसा करना मनुष्य-धर्म से बहि: है।"

इसीमें उन्होंने अपने मन्तव्यों पर प्रकाश डाला है। उनमें कुछ ये हैं :--

(१) प्रथम 'ईश्वर', कि जिसके ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है उसीको परमेश्वर मानता हूँ।

(२) चारों 'वेदों' (विद्या धर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता[1] मन्त्रभाग) को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता हूँ, वे स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य या प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं, और वेदों के चार ब्राह्मण, छह अंग, उपांग, चार उपवेद और ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं, उनको परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमें वेदविरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता हूँ।

(३) जो पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको 'धर्म' और जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, मिथ्याभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञाभंग वेदविरुद्ध है, उसको 'अधर्म' मानता हूँ।

(४) जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादिगुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है उसीको 'जीव' मानता हूँ।

(५) जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य, व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीव के व्याप्य-व्यापक, उपास्य-उपासक और पिता-पुत्र आदि सम्बन्धयुक्त मानता हूँ।

(६) 'अनादि' पदार्थ तीन हैं, एक ईश्वर, दूसरा जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण, इन्हींको नित्य भी कहते हैं, जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य हैं

(७) 'मुक्ति' अर्थात् सर्वदुःखों से छूटकर बन्धरहित, सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना।

(८) 'वर्णाश्रम' गुण-कर्मों की योग्यता से मानता हूँ।

---

१. ऋग्वेद की शाकल, यजुर्वेद की माध्यन्दिन, सामवेद की राणायणीय और अथर्ववेद की शौनक संहिता

(९) 'देव' विद्वानों को और अविद्वानों को 'असुर', पापियों को 'राक्षस', अनाचारियों को 'पिशाच' मानता हूँ।

(१०) उन्हीं विद्वानों, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना 'देवपूजा' कहाती है; इससे विपरीत अदेवपूजा, इनकी मूर्तियों को पूज्य और इतर पाषाणादि जड़ मूर्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूँ।

(११) 'मनुष्य' को सबसे यथायोग्य स्वात्मवत् सुख, दुःख, हानि, लाभ में वर्तना श्रेष्ठ, अन्यथा बर्त्तना बुरा समझता हूँ।

(१२) 'संस्कार' उसको कहते हैं कि जिससे शरीर, मन और आत्मा उत्तम होवें। यह निषेकादि श्मशानान्त सोलह प्रकार का है, इसको कर्त्तव्य समझता हूँ, और दाह के पश्चात् मृतक के लिए कुछ भी न करना चाहिए।

(१३) जैसे 'आर्य' श्रेष्ठ और 'दस्यु' दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं, वैसेही मैं भी मानता हूँ।

(१४) 'स्वर्ग' नाम सुखविशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।

(१५) 'नरक' जो दुःखविशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति होना है।

आर्यसमाज ने किसी नवीन दर्शन का प्रचलन नहीं किया, परन्तु उसने आधुनिक युग में वेदों का प्रचार सबसे अधिक किया। स्वामीजी वेद-विद्या के अनन्य भक्त और विद्वान् थे। वह चारों वेदों का अनुवाद करना चाहते थे, किंतु कर नहीं पाये। सबसे पहले प्रस्तावना के रूप में, 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' (संवत् १९३५) प्रकाशित हुई। उसके बाद ऋग्वेद पर भाष्य लिखना आरम्भ किया (संवत् १९३६)। सरल संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी अनुवाद भी करते जाते थे। लेकिन यह भाष्य वह पूरा नहीं कर सके। वह देवतावाद नहीं मानते थे। उन्होंने निरुक्तकारों के तीन देवों की पूजा, याज्ञकों के ३३ देवों की स्तुति और पाश्चात्यों की अग्नि आदि जड़ वस्तुओं की आराधना का खण्डन कर वेद में एकेश्वरवाद की स्थापना की। उन्होंने अग्नि आदि अनेक देव नामों का अर्थ परमात्मापरक किया है। उनका मत है कि वैदिक सूक्त विभिन्न नामों से एक ईश्वर के ही गीत गाते हैं।

अनेक विद्वान कहते हैं कि स्वामीजी की मान्यता का आधार विशुद्ध वेदान्त है। बहुत-से लोग उन्हें विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादक मानते हैं। आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, इन तीनों को वह स्वतन्त्र रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन उनके एकेश्वरवाद को पैग़म्बरी एकेश्वरवाद के विरोध में वैदिक एकेश्वरवाद कहा जाता है। अधिकतर विद्वान उन्हें मूलतः अद्वैत का उपासक स्वीकार करते हैं। मतभेद चाहे कितना भी हो, वह परम आस्तिक थे। यहाँ तक कि उन्होंने छहों दर्शनों को आस्तिक माना। वे वेदों में इतिहास नहीं मानते थे। उनका सबसे बड़ा दान वेदों का अर्थ करने की रीति में है। वह वैदिक शब्दों को यौगिक और योगरूढ़ मानते हैं, रूढ़

नहीं। उन्होंने महिधर, सायण और पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता को खण्डित करके निरुक्त-प्रणाली को स्वीकार किया। कहा कि वेद में केवल धर्म की ही बातें नहीं हैं, उसमें विज्ञान की भी सारी बातें प्रच्छन्न हैं। श्रीअरविन्द आदि आधुनिक विद्वानों ने भी उनका पूर्ण समर्थन किया है। श्रीअरविन्द ने लिखा है :

> "वेदों के भाष्य के विषय में मेरा पूर्ण विश्वास है कि अन्त में वेदों का चाहे कोई भाष्य प्रामाणिक माना जाय, परन्तु स्वामी दयानन्द की प्रतिष्ठा सबसे बढ़कर ही की जायगी, क्योंकि उन्होंने सत्य अर्थों की खोज निकाला अर्थात् धातु का अर्थ यौगिक शब्दों से निकालना उन्हींका काम था।"

श्रीअरविन्द को स्वामी दयानन्द से एक शिकायत भी रही। उन्होंने कहा, "वेदों में केवल धर्म ही नहीं, विज्ञान भी है। दयानन्द के इस विचार में चौंकने की कोई बात नहीं। मेरा विचार तो यह है कि वेदों में विज्ञान की ऐसी बातें भी हैं, जिनका पता आज के वैज्ञानिकों को नहीं चला है। इस दृष्टि से देखने पर तो पता चलता है कि दयानन्द ने वेदों में निहित विज्ञान के सम्बन्ध में अत्युक्ति नहीं, बल्कि अल्पोक्ति से काम लिया।"

स्वामीजी ने यजुर्वेद का भाष्य भी किया है (संवत् १९३४-१९३९)। इसकी शैली ऋग्वेद भाष्य के समान ही है। इसमें उन्होंने यज्ञ के अर्थ 'पूजा', 'स्तुति' आदि तो किये ही, 'संसार के पदार्थों से उपयोग लेना' भी किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने वेदों का अर्थ करने की एक ऐसी प्रणाली का आविष्कार किया, जो अधिक-से-अधिक सर्वसम्मत थी और आधुनिक विद्वानों की रुचि के भी अनुकूल थी। उन्होंने अपने वेद-भाष्य के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है, "मैं प्राचीन आर्य-रीति का अवलम्बन करके ही इस वेद-भाष्य की रचना में प्रवृत्त हुआ हूँ। यह भाष्य ऐतरेय और शतपथादि व्याख्या-ग्रन्थों के अनुकूल होगा। इसमें कोई अप्रामाणिक बात नहीं होगी।"

वेदों में उनकी इतनी अधिक आस्था थी कि कैसरी दरबार के अवसर पर उन्होंने सब धर्मों में एकता स्थापित करने के जो प्रयत्न किये, वे इसी कारण सफल नहीं हो सके कि दूसरे धर्मोंवाले वेदों को अपौरुषेय नहीं स्वीकार कर सकते थे, और स्वामीजी उन्हें छोड़ नहीं सकते थे। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने वेदों को विद्वानों की पंचायत से निकालकर सर्वसाधारण तक पहुँचाया।

५

दर्शन के क्षेत्र में आर्यसमाज का योगदान इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना सुधार के क्षेत्र में। उसने अन्धविश्वासों पर गहरी चोट की। मूर्ति-पूजा और श्राद्ध-पद्धति को वैदिक धर्म के प्रतिकूल माना। बताया कि निराकार ईश्वर की प्रतिमा

बनायी ही नहीं जा सकती; न वह मानवरूप धारण करके कभी अवतार लेता है। मृत्यु के बाद जीवात्मा पुनः जन्म लेता है, इसलिए श्राद्ध द्वारा उसे भोजन या जल पहुँचाने का प्रयत्न निरर्थक है। मन्दिरों में मूर्तियों पर अर्घ्य चढ़ाना ईश्वर की पूजा का उचित साधन नहीं है। उचित साधन है दैविक गुणों को अपने अन्तर में समाहित करना।

स्वामीजी ने समुद्र-यात्रा का समर्थन किया। कहा, "प्रथम आर्यावर्ती देशी लोग व्यापार, राज-कार्य और भ्रमण के लिए सब भूगोल में घूमते थे। और जो आजकल छूतछात और धर्म नष्ट होने की शंका है वह केवल मूर्खों के बहकाने और अज्ञान बढ़ने से है। धर्म हमारी आत्मा और कर्त्तव्य के साथ है। जब हम अच्छा काम करते हैं, तो हमको देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर जाने में कोई दोष नहीं लगता। दोष तो पाप करने में लगता है।"

आर्यसमाज ने स्त्रियों और शूद्रों के उत्थान के लिए सबसे अधिक काम किया। स्वामीजी के शब्दों में, "स्त्रियाँ आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करती थीं (जैसे सुलभा) और स्त्रियों के भी उपनयन और गुरुगृह में वास आदि संस्कार होते थे।" इसी वैदिक शिक्षा के आधार पर आर्यसमाज ने स्त्रियों के समान अधिकार का प्रतिपादन किया। उन्होंने 'स्त्रीशूद्रानाधीयताम्' का खण्डन करके 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" आदि श्रेष्ठ वाक्यों का मण्डन किया। नारियों को उन्होंने वेद पढ़ने का अधिकार दिया, और कन्या के विवाह की आयु कम-से-कम १६ वर्ष नियुक्त की।

आर्यसमाज के प्रभाव में आकर नारियाँ पहली बार घर की चार-दीवारी से बाहर निकलीं। बाल एवं वृद्ध-विवाह पर आर्यसमाज ने करारी चोट की। बाल-विवाह को रोकनेवाला 'शारदा एक्ट' आर्यसमाज की ही देन है। इससे भी नारियों का सम्मान बढ़ा। वस्तुतः आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द स्त्रियों को प्राचीनकालीन उन्नत पथ पर प्रतिष्ठित करने का उपदेश देने के लिए मसीहा बनकर आये। शुरू में वह विधवा-विवाह का प्रचार केवल शूद्रों तक ही मानते थे। उनकी दृष्टि में प्राचीन काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में 'नियोग प्रथा' प्रचलित थी। लेकिन बाद में उन्होंने कहा, "विधवा-विवाह से जो लोग विरोध करते हैं उनकी पुष्टि करके विधवा का खण्डन करने की मेरी इच्छा नहीं है। पर यह अवश्य कहूँगा कि ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनों बराबर है, क्योंकि वह न्यायकारी है। उसमें पक्षपात का लेश नहीं। जब पुरुषों को पुनर्विवाह करने की आज्ञा दी जाय तो स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जाय? प्राचीन आर्य लोग ज्ञानी, विचारशील और न्यायी होते थे। आजकल उनकी सन्तान अनार्य हो गयी है। पुरुष अपनी इच्छानुसार जितनी स्त्रियाँ चाहे कर सकता है। देश, काल, पात्र और शास्त्र का कोई बन्धन नहीं रहा है। क्या यह अन्याय नहीं है? क्या यह अधर्म नहीं है?"

स्वामीजी उच्च वर्णों के लिए नियोग की प्रथा को स्वीकार करते थे। परन्तु आर्यसमाज के लिए इसे स्वीकार करना सम्भव नहीं हुआ, और उसने विधवा-विवाह को ही मान्यता दी।

६

समाज के दूसरे अंग के लिए आर्यसमाज ने जो ऐतिहासिक कार्य किया वह तथाकथित शूद्रों का था। अतीत में भगवान् बुद्ध से लेकर अनेक सन्त-महात्मा इस कलंक को धोने की चेष्टा करते रहे हैं। लेकिन यह रोग इतना गहरा था कि वे प्रयत्न पूर्णतः सफल नहीं हो सके। उसका एक कारण भी था। १९ वीं शताब्दी से पूर्व जिन सन्त-महात्माओं ने इस क्षेत्र में काम किया, वे धर्म और समाज-व्यवस्था को एक मानकर चलते थे। वे धार्मिक अधिक, सुधारक कम थे। स्वामी दयानन्द पहले सुधारक थे, जिन्होंने इस ओर सक्रिय क़दम उठाया। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को जन्म से नहीं, कर्म से माना और सब वर्णों के लिए समानाधिकार का प्रतिपादन किया। कहा, "यदि परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रों को पढ़ाने के विषय में न होता, तो उनके शरीर में वाक् और श्रोत इन्द्रियाँ क्यों रचता ?... जहाँ कहीं निषेध किया है, उसका अभिप्राय यह है कि जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ नहीं आवे, वह निर्बुद्धि मूर्ख होने से शूद्र कहाता है।" उन्होंने यह भी कहा, "जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्न आदि पदार्थ सबके लिए बनाये हैं, वैसेही वेद भी सब मनुष्यों के लिए प्रकाशित किये हैं।" उन्होंने "यथेमामवाचनम् कल्याणी मा वदानि जनेभ्यः" आदि मन्त्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझाया। उन्होंने न केवल शूद्र को बल्कि अतिशूद्र को भी जनेऊ धारण करने का अधिकार दिया। दयानन्द के प्रमाणों के आधार पर ही सत्यव्रत सामश्रमी आदि विद्वानों ने शूद्रों को वेद पढ़ाने की व्यवस्था की। अपने जीवन के अन्तिम काल में तो वे वर्णव्यवस्था को भी मरण-अवस्था मानने लगे थे। उनका मत था, "प्राचीन काल में एक वेदोक्त धर्म होने के कारण खान-पान और विवाह आदि व्यवहार सारे भूगोल में परस्पर होते थे। जबसे ईसाई, मुसलमान आदि के मतमतान्तर चले, आपस में वैर-विरोध हुआ। उन्होंने मद्यपान, गोमांस आदि खाना-पीना शुरू किया, उसी समय भोजनादि में बखेड़ा हो गया।"

इन विचारों की पृष्ठ-भूमि में आर्यसमाज ने दलितोद्धार का काम किया। वह दलितोद्धार को शुद्धि के अन्तर्गत ही मानता रहा। वह उन्हें गायत्री का उपदेश पाने, यज्ञोपवीत पहिनने और होम करने का अधिकार देता है। उनके साथ सहभोज और किसी सीमातक विवाह करने में भी उसे कोई आपत्ति नहीं है। उसने अनेक दलित कही जानेवाली जातियों को शुद्ध करके अपने में मिला लिया। परिणाम इसका यह हुआ कि इन जातियों में आत्म-सम्मान की भावना जाग्रत हुई,

और वे अपने अधिकारों के प्रति सजग हो उठीं। मेघ जाति के लोग जहाँ पहले राजपूतों को 'गरीब निवाज' कहकर सम्बोधित करते थे, शुद्ध होने के बाद केवल 'नमस्ते' कहकर ही सम्बोधित करने लगे। कितने ही भंगी और चमार, पण्डित और ठाकुर बन गये। मेघ और शिल्पकार 'महाशय' कहलाने लगे। उनके बच्चे गुरुकुलों में समान अधिकार पर प्रविष्ट हुए, और स्नातक होकर उसी तरह समाज के अंग बने जिस तरह तथाकथित उच्च वर्णों के लोग।

७

देश-भक्ति और स्वाधीनता के प्रति स्वामीजी का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट था। जिस समय देश में सन् १८५७ का पहला स्वतन्त्रता-संग्राम चल रहा था, उस समय वह घूम-घूमकर क्रान्ति की उस सुलगती हुई ज्वाला को देख रहे थे। उसका प्रभाव उनकी रचनाओं में मिलता है। सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने लिखा है, "कोई कितना ही कहे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर-आग्रहरहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशी राज्य सुखदायक पूर्ण नहीं हो सकता।"

सन् १८८२ में उन्होंने ये शब्द लिखे थे। राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म सन् १८८५ में हुआ, और उस समय उसने जो अधिकार माँगे थे वे बहुत ही नगण्य थे। अपनी इस मान्यता का कारण बताते हुए उन्होंने बारबार लिखा :

"अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्परविरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है, सो भी विदेशियों के पदाक्रान्त हो रहा है। विदेशियों का आर्यावर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य-सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या-भाषण आदि कुलक्षण तथा वेद-विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं! जब भाई-भाई परस्पर लड़ते हैं, तो एक विदेशी पच बन बैठता है। पारस्परिक फूट से भूतकाल में पांडव-कौरव और यादवों का नाश हो गया। परन्तु अब-तक भी यह रोग पीछे लगा है। न जाने यह महाभयंकर राक्षस कब छूटेगा या आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःख-सागर में डुबा मारेगा। "

"स्वायम्भुव राजा से पाण्डव पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम राज्य रहा। तत्पश्चात् परस्पर के विरोध से लड़कर नष्ट हो गये। यह आर्यावर्त देश ऐसा है, जिसके सदृश्य भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं। इसीलिए इस भूमि का नाम स्वर्णभूमि है, क्योंकि यही स्वर्ण आदि रत्नों को उत्पन्न करती है।

> पारसमणि पत्थर सुना जाता है, परन्तु आर्यावर्त सच्चा पारसमणि है, जिसको छूने के साथ ही लोहरूपी दरिद्र विदेशी सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।"

यह स्थिति कैसे बदल सकती है इसका एक ही उपाय उन्होंने बताया, "जबतक एक मत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें तबतक उन्नति होना बड़ा कठिन है।"

आज किसान-राज्य और साम्यवाद की बड़ी चर्चा है। स्वामी दयानन्द ने उस समय 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा :

> "राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करनेवाले हैं। और राजा उनका रक्षक है।"

इन विचारों की पृष्ठभूमि में आर्यसमाज ने भारत की राजनीति में प्रवेश किया। स्वदेशी का पूर्ण समर्थन करते हुए उसने कांग्रेस के कार्य में सक्रिय सहयोग दिया। देश को स्वतन्त्र कराने के जितने भी आन्दोलन चले, किसी-न-किसी रूप में आर्यसमाज का उनपर प्रभाव रहा। हिंसा के मार्ग से भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए कृतसंकल्प अनेक क्रान्तिकारी आर्यसमाज के सदस्य थे। श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द, चौधरी रामभज दत्त, डॉ० सत्यपाल, रामप्रसाद बिस्मिल, मास्टर गेंदालाल, ये कुछ ऐसे नाम हैं जो भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जायेंगे।

अपने प्रारम्भिक जीवन में आर्यसमाज को कई बार राजद्रोही संस्था घोषित किया गया। आर्यसमाज की देश-भक्ति के पीछे यद्यपि हिन्दू-राष्ट्रवाद का स्वप्न रहा है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह आन्दोलन सामूहिक रूप से स्वराज्य और स्वदेशी के प्रति प्रेम पैदा करने में सफल हुआ। लोकमान्य तिलक और दादा भाई नौरोजी आदि राष्ट्रनेता स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की राष्ट्र-भक्ति से बहुत प्रभावित हुए थे। दादाभाई तो यहाँतक कहा करते थे कि मैंने 'स्वराज' शब्द स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश' से सीखा था।

८

देश के प्रति इतनी अधिक ममता होने के कारण यह स्वाभाविक था कि उन्हें राष्ट्र को एक करनेवाली किसी एक भाषा से प्रेम हो। मातृभाषा उनकी गुजराती थी, और वह संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। शुरू में वह सरल संस्कृत में ही बातचीत किया करते थे। स्वामी विरजानन्द से दीक्षा लेने के बाद सन् १८७२ में वह बंगाल पहुँचे। वहाँ उनकी भेंट ब्रह्मसमाज के नेता ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र से हुई। केशवचन्द्र ने उनसे कहा, "यदि आप अपनी बात अधिक-से-अधिक व्यक्तियों तक पहुँचाना चाहते हैं, तो आपको हिन्दी भाषा के माध्यम से बात करनी चाहिए।"

उस समय स्वामीजी की आयु ४८ वर्ष की थी। फिरभी केशव बाबू की यह सलाह उन्हें बहुत पसन्द आई। उन्होंने हिन्दी सीखी, और उसके बाद हिन्दी में ही बोलना और लिखना शुरू कर दिया। बाद में उन्होंने यहाँतक कहा, "दयानन्द के नेत्र वह दिन देखना चाहते हैं, जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटकतक नागरी अक्षरों का प्रचार होगा। मैंने आर्यावर्तभर में भाषा का ऐक्य सम्पादन करने के लिए ही अपने सकल ग्रन्थ आर्य-भाषा में लिखे और प्रकाशित किये हैं।"

पर उन्हें दूसरी भाषाओं से कोई द्वेष नहीं था। 'सत्यार्थप्रकाश' में उन्होंने स्पष्ट लिखा है, "जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का-लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करायें, अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी।"

हिन्दी को वह 'आर्यभाषा' कहते थे, क्योंकि वह मानते थे कि 'हिन्दू' शब्द अपमानजनक है। आर्यावर्त के रहनेवाले आर्य हैं, इसलिए उनकी भाषा भी आर्य-भाषा ही हो सकती है। लेकिन हिन्दी के साथ जो अनेक भावनाएँ जुड़ गई थीं, उनके कारण आर्य-समाज ने हिन्दी नाम को ही स्वीकार कर लिया। स्वामीजी ने अपने सभी ग्रन्थ हिन्दी में लिखे। जिस समय 'सत्यार्थप्रकाश' प्रकाशित हुआ, उस समय वह पचास वर्ष के थे, और हिन्दी सीखे हुए उन्हें केवल दो वर्ष ही हुए थे। उनकी भाषा पर संस्कृत और गुजराती का प्रभाव स्पष्ट है। 'सत्यार्थप्रकाश' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया है कि, संस्कृत बोलने तथा जन्म की भाषा गुजराती होने के कारण पहले उन्हें इस भाषा का ठीक-ठीक परिज्ञान नहीं था, जिससे भाषा अशुद्ध बन गई थी।

'सत्यार्थप्रकाश' के अतिरिक्त स्वामीजी ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेद-भाष्य, अष्टाध्यायी भाष्यम्, संस्कार-विधि, आर्याभिविनय, आर्योद्देश्यरत्नमाला, पंचमहायज्ञ विधि, वेदांगप्रकाश आदि ग्रन्थ भी हिन्दी में ही लिखे। उनका उद्देश्य प्रारम्भ में हिन्दी-प्रचार नहीं था। उन्होंने तो उसे अपने व्यापक उद्देश्य के माध्यम के रूप में स्वीकार किया था। दिन-रात तीव्र व्यंग्यमयी शैली में वाद-विवाद करते रहने के कारण उनकी भाषा-शैली अत्यन्त सरल और सशक्त हो गई थी। परम्परा से चले आये भक्तिरस के विकृत हो जाने के कारण उन दिनों देश मानसिक दासता में फँस गया था। अन्धविश्वास और अन्धभक्ति का प्राबल्य था। जीवन में बौद्धिक शिथिलता भर आई थी। जब स्वामीजी ने इस बौद्धिक पतन के विरुद्ध अपनी आवाज़ बुलन्द की, तब उनकी भाषा में शक्ति पैदा होना स्वाभाविक था। लेकिन जहाँ इस शक्ति ने मँजे हुए सशक्त गद्य का निर्माण किया, वहाँ कविता को हानि भी पहुँचाई। आर्यसमाज से प्रभावित पद्य की भाषा प्रारम्भ में प्रायः वैसी-ही कर्ण-कटु रही है।

उन्होंने आर्यसमाज का यह नियम बना दिया कि प्रत्येक आर्य तथा आर्य-

सभासद को आर्यभाषा तथा संस्कृत जानना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक आर्यसमाजी और आर्यसमाज से किसी भी रूप में सम्बन्ध रखनेवालों को आर्यभाषा सीखना आवश्यक हो गया। इसी कारण काशी के अनेक संस्कृतज्ञ पण्डितों ने भाषा को अपनाया और हिन्दी की लोकप्रियता बढ़ी। पंजाब उर्दू का गढ़ था। स्वामीजी के अनुयायियों ने हिन्दी सीखने से पहले उनके ग्रन्थों का उर्दू में अनुवाद किया। आर्यभाषा को ईरानी लिबास पहनना पड़ा। उर्दू-हिन्दी के इस मिलन से भाषा में एक प्रवाह पैदा हुआ। इस प्रकार स्वामीजी के कारण हिन्दी भाषा तथा साहित्य पर कई प्रकार के प्रभाव पड़े।

उनके बाद आर्यसमाज ने हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए बहुत-कुछ किया। शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ होनी चाहिए यह आवाज भी आर्यसमाज ने उठाई। सबसे पहले गुरुकुलों में इस सम्बन्ध में क्रियात्मक रूप में परीक्षण हुए। अनेक ऐतिहासिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक विषयों पर गुरुकुलों के स्नातकों ने मौलिक ग्रन्थ लिखे, पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया। और इस प्रकार बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के संस्थापकों के दिल से इस बात को दूर करने में सफल हो गये कि हिन्दी भाषा में उच्च विज्ञान की शिक्षा नहीं दी जा सकती। सबसे पहले स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल कांगड़ी में विज्ञान, रसायनशास्त्र, अर्थशास्त्र, कृषि-विज्ञान और भौतिक विज्ञान की शिक्षा हिन्दी के माध्यम द्वारा देने की कोशिश की। इस सम्बन्ध में कलकत्ता-विश्वविद्यालय-आयोग के प्रधान श्री सैडलर ने लिखा, "मातृभाषा द्वारा ऊँची शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।"

हिन्दी उन दिनों इतनी लोकप्रिय हुई कि अनेक विदेशी विद्वान हिन्दी पढ़ने के लिए ही गुरुकुल आये। देखते-देखते गुरुकुलों और कालेजों का जाल पूरे देश में फैल गया। आर्यकन्या-पाठशालाओं के द्वारा हिन्दी ने घरों में प्रवेश किया, और इस तरह हिन्दी अनायास ही देश की राष्ट्र-भाषा बन गई।

९

शिक्षा के क्षेत्र में भी आर्यसमाज का योगदान कई दृष्टियों से अत्यन्त मौलिक रहा है। स्वामीजी ने 'सत्यार्थप्रकाश' के तृतीय समुल्लास में शिक्षा के निम्नलिखित सिद्धान्त लिखे हैं :

> "...... आठ वर्ष के हों, तभी लड़कों को लड़कों की, और लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला में भेज देवें। जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें, किन्तु जो पूर्णविद्यायुक्त, धार्मिक हों वे ही पढ़ाने और शिक्षा देनेयोग्य हैं। द्विज अपने घर में लड़कों को यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्य-कुल अर्थात्

अपनी-अपनी पाठशाला में भेजदें। विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिए और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला, दो कोस, एक दूसरे से दूर होनी चाहिए, जो वहाँ अध्यापिका और अध्यापक पुरुष व भृत्य अनुचर हों, वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री, और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहें। स्त्रियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे। अर्थात् जबतक वे ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी रहें, तबतक स्त्री व पुरुष का दर्शन, स्पर्श, एकान्त सेवन, भाषण, विषयकथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें। और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें, जिनसे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त होकर आनन्द को नित्य बढ़ा सकें। पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम वा नगर रहे। सबको तुल्य वस्त्र, खानपान, आसन दिये जायें, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हों, चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिए। उनके माता-पिता अपने सन्तानों वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें, और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार एक दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रखें। जब भ्रमण करने को जावें, तब उनके साथ अध्यापक रहें, जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य, प्रमाद करें।"

स्वामीजी के अन्य ग्रन्थों में जहाँ कहीं शिक्षा का प्रकरण आया है, उसमें शिक्षासम्बन्धी इन्हीं सिद्धान्तों को दोहराया गया है। वे सिद्धान्त संक्षेप में निम्नलिखित हैं :

(१) लड़कों और लड़कियों के शिक्षणालय पृथक्-पृथक् हों। स्वामीजी ने इन शिक्षणालयों का आचार्यकुल और गुरुकुल इन दो नामों से निर्देश किया है।

(२) आठ वर्ष से अधिक आयु के बालक या बालिकाएँ गुरुकुलों में अवश्य भेज दिये जायें। ऐसा राजनियम होना चाहिए कि आठ वर्ष से अधिक आयु के बच्चों को घर में न रखा जा सके। उनका आचार्यकुल में जाना आवश्यक है।

(३) विवाहयोग्य आयु होनेतक (बालक २५ वर्ष की आयुतक और कन्या १६ वर्ष की आयुतक हों) विद्यार्थी आचार्यकुल में ही निवास करें। वे ब्रह्मचर्य का पालन करें। उससे पहले उनका वाग्दान अथवा विवाह न हो।

(४) गुरुकुलों में सबको एकसमान माना जाय, उनमें ऊँच-नीच या धनी-निर्धन की भेदभावना न हो। राजपुत्र हो या किसी साधारण शिल्पी की सन्तान हो, सबसे समान व्यवहार किया जाय।

(५) गुरु और शिष्य का पिता-पुत्र का-सा सम्बन्ध रहे। गुरु उन्हीं लोगों को बनाया जाय, जो शुद्ध आचरणवाले और विद्वान् हों।

(६) शिक्षणालय नगर से दूर एकान्त स्थान में हों। बालक और बालिकाओं के गुरुकुल भी एक दूसरे से दूरी पर होने चाहिएँ।

(७) शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में स्वामीजी ने विस्तार से अपने विचार लिखे हैं। उनका सारांश यह है कि वेद-वेदांगों की शिक्षा के साथ-साथ बालकों को अन्य सब प्रकार की उपयुक्त शिक्षा दी जानी चाहिए। राजविद्या, शिल्प, गणित, ज्योतिष, भूगोल, चिकित्सा आदि शास्त्रीय और व्यावहारिक विषयों के अतिरिक्त देश-देशान्तरों की भाषाओं का ज्ञान भी कराया जाय, स्वामीजी का ऐसा अभिप्राय था।

(८) विचारों की शुद्धता रखने के लिए स्वामीजी यह आवश्यक समझते थे कि उन ग्रन्थों का अध्यापन न कराया जाय, जिनमें शृंगार रस अथवा भ्रममूलक विचारों का प्रतिपादन हो।

वैदिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन और शिक्षा के प्रचार के लिए आर्यसमाज के एक दल ने गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली को अपनाया। इसके विपरीत, एक दल ऐसा भी था, जिसने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा को अधिक महत्त्व दिया। पहले दल के नेता स्वामी श्रद्धानन्द तथा दूसरे दल के नेता महात्मा हंसराज थे। महात्माजी ने वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल दयानन्द एंग्लो वैदिक स्कूल, लाहौर की स्थापना की। उसके बाद अनेक स्कूल और कालेज खुले। इन स्कूलों और कालेजों में स्वामीजी के शिक्षासम्बन्धी सभी विचारों पर तो आचरण नहीं हो सकता था, परन्तु वैदिक धर्म की शिक्षा उन्हें बराबर दी जाती रही और आजतक दी जाती है। आर्यसमाज द्वारा स्थापित गुरुकुलों में स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा स्थापित गुरुकुल कांगड़ी को बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। गुरुकुलों में प्राचीन वेदशास्त्रों को प्रमुखता दी जाती थी। परन्तु आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उपेक्षा भी नहीं की गई। बल्कि भौतिक, रसायन और गणित शास्त्र आदि की शिक्षा हिन्दी के माध्यम से दी गई। डी० ए० वी० कालेज के सम्बन्ध में यह घोषणा की गयी, "इसका उद्देश्य प्राचीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन को उत्साहित करना, और हिन्दू-साहित्य को उन्नत करना होगा।"

कन्या-गुरुकुल भी खोले गये। देहरादून का कन्या-गुरुकुल तथा जलन्धर का कन्या-महाविद्यालय एक समय में बहुत प्रसिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त आर्यसमाज के प्रायः सभी मन्दिरों के साथ पुत्री-पाठशालाओं की स्थापना भी की गई।

आर्यसमाज द्वारा संस्थापित शिक्षा-संस्थाओं के द्वारा जहाँ एक ओर देश में साक्षरता बढ़ी, वहाँ दूसरी ओर संस्कृत, हिन्दी और वैदिक शिक्षा का बहुत

प्रचार हुआ। इन संस्थाओं ने जनता में धार्मिक भावना भरने और अपनी प्राचीन भारतीय संस्कृति की रक्षा करने का आदर्श अपने सामने रखा। पुस्तकालयों की स्थापना का श्रेय भी आर्यसमाज को ही दिया जा सकता है। गुरुकुलों में आश्रम-पद्धति का पालन करते हुए उसने यह भी प्रयत्न किया कि यह प्राचीन पद्धति फिर से प्रचलित हो सके। उसने सोलह संस्कारों का भी प्रचार किया। अनेक कारणों से पूरी सफलता नहीं मिली। निरन्तर परिवर्तित होते इस वैज्ञानिक युग में मिल भी नहीं सकती थी। लेकिन फिरभी प्राचीन संस्कृति और धर्म के प्रति आस्था पैदा करने में उन्हें बहुत सफलता मिली।

१०

दूसरे अनेक सुधारों का श्रेय भी आर्यसमाज को मिल सकता है। जैसे वर्ण-व्यवस्था पर चोट करके उसने जाति के बन्धनों को कुछ ढीला किया। स्त्री-शिक्षा का प्रचार करते हुए पर्दा-प्रथा पर चोट की। अनाथ बच्चों के लिए अनाथ-आश्रम स्थापित किये। गऊ-रक्षा की माँग की। इस सम्बन्ध में स्वयं स्वामी दयानन्द ने 'गऊ-करुणानिधि' नामक एक पुस्तक लिखी थी। अनेक सभाएँ स्थापित की थीं। शासकों से भी वह मिले थे। क्योंकि वह मानते थे कि गऊ कृषिप्रधान भारत की निधि है। आर्यसमाज ने इस कार्य को और आगे बढ़ाया।

आर्यसमाज ने शुद्धि का भी क्रियात्मक समर्थन किया, यद्यपि इस आन्दोलन के कारण उसका विरोध भी हुआ। परन्तु उसका विश्वास था और है, कि जो लोग हमारी उपेक्षा और अपमान के कारण हमसे बिछुड़ गये हैं उन्हें फिरसे अपनाया जा सकता है। इतना ही नहीं, अहिन्दू भी हिन्दू-धर्म में प्रवेश पा सकते हैं। उस समय जिस धार्मिक संकीर्णता और छूतछात की प्रबलता थी इस आन्दोलन ने उसपर करारी चोट की। एक युग था कि जब यदि कोई हिन्दू पुरुष या स्त्री किसी भी प्रकार दूसरे धर्मवाले के सम्पर्क में आ जाता था, या साधारण प्रकार की धार्मिक या सामाजिक मर्यादाओं का अतिक्रमण करता था, तो फिर वह हिन्दू नहीं रह सकता था। इसी अप्राकृतिक स्थिति पर आर्यसमाज ने आक्रमण किया। बेशक, यह प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ, परन्तु इसने जिस मानसिक संकीर्णता और दासता पर चोट की वह कोई कम बात नहीं थी। स्वामीजी ईसाइयों और मुसल्मानों के शत्रु नहीं थे। पादरी स्काट और सर सैयद अहमद-जैसे व्यक्ति उनके परममित्र थे। इन धर्मों में उनके भक्तों की संख्या भी कम नहीं थी। बाद में वह सम्बन्ध इतने अच्छे नहीं रहे। परन्तु स्वामीजी के जीवन-काल में ऐसी स्थिति नहीं आई थी। लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना के लिए जब किसी हिन्दू ने स्थान नहीं दिया, तब एक मुस्लिम भद्रपुरुष के घर पर ही उसकी स्थापना की गई।

आर्यसमाज ने न केवल भारतवर्ष में, बल्कि विदेशों में भी आर्य-धर्म का प्रचार किया। यूरोप, एशिया, अफ्रीका जहाँ कहींभी भारतीय लोग रहते थे, वहाँ-वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हुई। आर्य-संस्कृति का प्रचार करते हुए उसने अनेक रूपों में मानव-सेवा का कार्य किया। सेवा के क्षेत्र में आर्यसमाज सदा और सब कहीं अग्रणी रहा है। भूकम्प हो या बाढ़ हो, दुर्भिक्ष हो या अतिवृष्टि या अनावृष्टि हो, कैसाभी संकट हो, उसने साहस के साथ आगे बढ़कर काम किया हैं, और देश की प्रत्येक प्रगति में अपना योग दिया है।

भारत के नव जागरण में आर्यसमाज का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी मान्यताओं और सिद्धान्तों ने एक बार तो हीनभाव-ग्रस्त हिन्दू-जाति को अपूर्व उत्साह से भर दिया। अन्धविश्वास और कुरीतियों के जाल से मुक्त होकर हिन्दू-जाति ने गतिमय प्रगति के मार्ग को अपनाया। पण्डित चमूपति के शब्दों में, "आर्यसमाज के जन्म के समय हिन्दू कोरा फुसफुसिया जीव था। उसके मेरुदण्ड की हड्डी थी ही नहीं। चाहे कोई उसे गाली दे, उसकी हँसी उड़ाये, उसके देवताओं की भर्त्सना करे या उस धर्म पर कीचड़ उछाले जिसे वह सदियों से मानता आ रहा है, फिरभी इन सारे अपमानों के सामने वह दाँत निपोड़कर रह जाता था। लोगों को यह उचित शंका हो सकती थी, कि यह आदमी भी है या नहीं, इसे आवेश भी चढ़ता है या नहीं, अथवा यह गुस्से में आकर प्रतिपक्षी की ओर घूर भी सकता है या नहीं। किन्तु, आर्यसमाज के उदय के बाद, अविचल उदासीनता की यह मनोवृत्ति विदा हो गई। हिन्दुओं का धर्म एक बार फिर जगमगा उठा है। आज का हिन्दू अपने धर्म की निन्दा सुनकर चुप नहीं रह सकता, ज़रूरत हुई तो धर्मरक्षार्थ वह अपने प्राण भी दे सकता है।[१]"

---

१. दि कल्चरल हेरिटेज़ ऑव् इंडिया—जिल्द-२

अध्याय–१३

नीति-शास्त्र

डॉ० रामकरण शर्मा

राजनीतिविज्ञान के क्षेत्र में पाश्चात्य वादों के नाम प्रायः सुनने को मिलते हैं, जैसे प्रजातंत्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि। भारतीय परम्परा में ऐसे वाद नहीं हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में राजनीति की सुव्यवस्थित चर्चा नहीं है। सच तो यह है कि जहाँ पश्चिम में देश, काल और व्यक्तिगत दार्शनिक विचारधाराओं या महत्वाकांक्षाओं के अनुरूप विभिन्न राजनीति-संबंधी वादों की रचना हुई, वहाँ भारतीय परम्परा में धर्म को केन्द्र-बिन्दु मानकर राजनीति या राजधर्म की विशद व्याख्याएँ हुई।

यों सम्पूर्ण वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य में नीति अथवा राजनीति-संबंधी विचार बिखरे पड़े हैं। परंतु राजनीति की विस्तृत, सुव्यवस्थित चर्चा कौटल्य के अर्थशास्त्र में मिलती है। अर्थ की व्याख्या आचार्य कौटल्य ने इस प्रकार की है कि 'अर्थ से आशय है मनुष्यों की वस्ती से, उनके प्रदेश से, जहां कि वे रहते हैं।' इसलिए अर्थ-शास्त्र वह शास्त्र है जिसमें राज्य की उपलब्धि और उसके पालन और संचालन के उपायों का वर्णन हो। आचार्य उशना के राजनीतिविषयक ग्रंथ को दण्ड-नीतिशास्त्र तथा आचार्य बृहस्पति के ग्रन्थ को अर्थ-शास्त्र इसीलिए कहने लगे थे।

महाभारत के शान्तिपर्व में राजनीति-शास्त्र का तफसीलवार इतिहास हम देखते हैं। राजनीति-शास्त्र की परम्परा के कुछ प्राचीन आचार्यों का भी उल्लेख उसमें पाया जाता है।

कई स्मृतियों में विशेष करके मनुस्मृति के ७वें और ८वें अध्याय में राज-नीति का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

राजा का निर्माण

महाभारत[1] के अनुसार एक ऐसा समय था, जब न तो कोई राजा था, न राज्य था, और न कोई दण्ड-विधान। धर्म (के भय) से ही स्वयं सभी लोग एक दूसरे की रक्षा या सहायता किया करते थे। पर धीरे-धीरे लोगों की स्वार्थपरता बढ़ती गई, धर्म के बन्धन ढीले पड़ने लगे और एक दूसरे को सताने लगे। अच्छे लोगों के लिए समाज में रहना भी कठिन हो गया। ऐसी हालत में देवताओं ने ब्रह्मा की सहायता मांगी।

---

१ महाभारत, शान्ति-पर्व ५९-१-१४५

ब्रह्मा ने सबसे पहले राजधर्म की अत्यन्त विस्तृत व्याख्या की। इसे क्रमशः स्वयं शिव ने तथा इन्द्र, बृहस्पति और शुक्र ने ग्रहण किया। शुक्राचार्य तक आते-आते राज-धर्म की यह व्याख्या अत्यन्त संक्षिप्त और सरल हो गई। इसके बाद देवताओं के अनुरोध पर भगवान् विष्णु ने अपने मानस पुत्र राजा विरजा की सृष्टि की। दुर्भाग्यवश विरजा की शासन में रुचि ही न थी, वैराग्य को ही इसने अपना धर्म समझा। इसके विपरीत, इसी वंश-परम्परा में राजा वेन की शासन में आवश्यकता से अधिक रुचि थी। लगा यह अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने और अनुचित ढंग से लोगों को सताने। महर्षियों ने विद्रोह किया और वेन की हत्या कर, विचार-मन्थन करके पृथु को राज्य पर आसीन किया। पृथु राजधर्म के प्रतीक थे। महर्षियों के आदेशनुसार पृथु ने प्रतिज्ञा की, "अपने-पराये का भेद भूलकर मैं सभीके साथ समान व्यवहार करूँगा, और जो भी कोई व्यक्ति धर्ममार्ग पर से विचलित होता पाया जायगा उसे अवश्य दण्ड दूंगा।" राजा पृथु के राजा बनते ही ऊबड़-खाबड़ जमीन भी चौरस हो गई। चारों ओर प्रसन्नता छा गई। न कभी दुर्भिक्ष होता, न कोई बीमार पड़ता और न कोई असमय बुढ़ापे या मृत्यु की चपेट में ही आता।

राजा की आवश्यकता बतलाते हुए, रामायण[२] में कहा गया है कि "यदि राजा न हो तो राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो जायगा, न समय पर वर्षा होगी; न कृषि का विकास होगा; न पुत्र पिता की बात मानेगा, न पत्नी पति की; न यज्ञ होंगे, न कोई उत्सव होगा; जैसे बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं, वैसे-ही लोग एक दूसरे को मार डालेंगे, सज्जन और असज्जन का भेद समाप्त हो जा-यगा और चारों ओर अन्धकार छा जायगा।"

मनुस्मृति[३] के अनुसार ऐसे समय में, जब सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी और सभी भयभीत होकर इधर-उधर भाग रहे थे, भगवान् ने लोक की रक्षा के लिए राजा का निर्माण किया। इन्द्र, यम, वायु, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर-इन सभी देवताओं के अंश लेकर राजा पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ। उसकी बराबरी करनेवाला कोई नहीं था। अपने दिव्य प्रभाव से वह सभीके आदर-सम्मान का पात्र बना। ब्रह्मा ने फिर उसके लिए ब्रह्मतेज से युक्त दण्डविधान की रचना की। तबसे दण्ड के भय से ही सभी अपने-अपने काम सही ढंग से करने लगे। यदि दण्ड न होता, तो जैसे लोग मछली पकाकर खा जाते हैं वैसेही समाज में जो बलवान् हैं वे दुर्बलों को चट कर जाते। अपने-आप पवित्र जीवन बितानेवाले लोग समाज में बहुत कम मिलते हैं; दण्ड के भय से ही लोग अच्छे कामों में लगते हैं।

राजा की शक्ति के स्रोत उसके कई व्यक्तिगत सद्गुण आवश्यक माने गये

२· रामायण २-६७-६-३६

३. मनुस्मृति ७०३-२८

हैं। "इन्द्रियों[४] को वश में रखता हुआ वह पराई स्त्री, पराया धन और हिंसात्
राजा कैसा होना चाहिए को सर्वथा त्याग दे। कुसमय सोना, चंचलता, झूठ
लना, अविनीत वृत्ति बनाये रखना, इस प्रकार के आ
रणों और इसी तरह के आचरणवाले लोगों की संगति को वह छोड़ दे। अधर्माच
और अनर्थकारी व्यवहार का भी परित्याग करदे।" राजा[५] अपने राष्ट्र में न
की रक्षा करे, शत्रुओं से भी कुटिलतापूर्ण व्यवहार न करे, विद्वानों के प्रति क्षमाः
हो। ऐसे राजा का यश, चाहे वह बिल्कुल निर्धन ही क्यों न हो, चारों ओर उ
तरह फैलता है, जैसे पानी में तेल की बूंद। वह प्रातःकाल उठते ही विद्वानों अ
वृद्धजनों की सेवा करे और उनसे विनम्रता की शिक्षा ग्रहण करे। साथ-स
वह वेदों का, दण्डनीति का, तर्कशास्त्र, ब्रह्मविद्या और व्यावहारिक शास्त्रों का
अध्ययन करे। वह हर तरह के व्यसनों का सर्वथा परित्याग करदे।[६] वह दान
हो, यज्ञों में, उपवास, तपस्या और प्रजापालन में उसकी अभिरुचि हो। वह वीर
बलवान् हो, सदा सत्यान्वेषी हो। वह सज्जनों की रक्षा करे, दुर्जनों का द
करे। वह दुर्द्धर्ष हो, जितेन्द्रिय हो और एकदर्शी हो। ऐसे गुणों से युक्त राजा म
मित्रों और सज्जनों के लिए वैसा ही उपकारी हो जाता है, जैसे सभी प्राणियों के लि
बादल या पक्षियों के लिए स्वादिष्ट फलों से लदा हुआ वृक्ष।[७] वह राष्ट्र की सम्प
का समान वितरण करने के बाद ही स्वयं अपने हिस्से का उपभोग करे, मन्
या अमात्यों का कभी तिरस्कार न करे, घमण्ड से चूर बलवान् शत्रुओं का वध क
दुर्बलों की रक्षा करे, दण्डविधान में अपने-पराये का भेद कभी न करे, गरी
अनाथों और वृद्धों के आँसू पोंछकर और उन्हें मुँहमांगा दान देकर यश क
राज्य बहुत बड़ा बोझ है, इसे वही राजा सँभाल सकता है, जो दण्ड-नीति
निपुण हो, विद्वान् हो, वीर हो और जो कभी अपने काम में किसी तरह का प्रम
न करता हो।[८] शास्त्र-मर्यादा का वह बराबर पालन करे। अनुकूल परिणाम होने
वह बहुत अधिक प्रसन्न न हो, और न प्रतिकूल परिणाम देखकर घबराये ही। वि
कभी न सोचे कि वह बलवान् है और सभी गुणों से युक्त है, इसलिए सभी उस
आदर करेंगे ही। सभी गुणों से युक्त होने पर भी पापी लोग उससे ईर्ष्या करेंगे
इसलिए उसे बराबर सावधान रहना चाहिए।

---

४. अर्थशास्त्र १-६
५. मनुस्मृति ७-३२-५३
६. महाभारत शान्तिपर्व ७५-२-३७
७. वही ६१-३०-५८
८. वही ६३-१-३६

सब[९] कुछ होने पर भी राजा अकेला राज्य-संचालन नहीं कर सकता। इसलिए राजा को चाहिए कि वह सात या आठ सचिवों की नियुक्ति करे और उनके परामर्श से ही सारे राज-काज को चलाये। इनमें से कुछ तो ऐसे हो सकते हैं, जो अपनी कुल-परम्परा से ही सचिव-पद के अधिकारी हैं। पर हर स्थिति में सचिवों को शास्त्रवेत्ता, वीर, योद्धा और कुलीन तो होना ही चाहिए। सचिव का ही दूसरा नाम अमात्य है।

अमात्य

कौटल्य ने अमात्यों की योग्यता और नियुक्ति के बारे में कई मत-मतान्तर प्रस्तुत किये हैं। आचार्य भारद्वाज के अनुसार सहपाठियों की नियुक्ति अमात्य-पद पर की जानी चाहिए, क्योंकि राजा उनकी कार्यक्षमता और व्यावहारिक पवित्रता से पहले से ही सुपरिचित रहता है। इस मत के पक्ष-विपक्ष में दूसरे कई आचार्यों के मत दिखलाये गये हैं। आचार्य कौटल्य का निर्णय यह है कि राजा को विद्या, बुद्धि, साहस, गुण, दोष, देश, काल और पात्र का विचार करके ही अमात्यों की नियुक्ति करनी चाहिए। यदि सहपाठी भी योग्य मिलें, तो उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। हाँ, नियुक्ति के बाद गुप्त उपायों से अमात्यों के चरित्र की परीक्षा अवश्य लेनी चाहिए। यह परीक्षा चार तरह से ली जा सकती है। एक तो ऐसा झूठा प्रचार कर दिया जाय कि अमुक पुरोहित राजाज्ञा न मानने के अपराध में पदच्युत कर दिया गया है। फिर वह पुरोहित कुछ अन्य गुप्तचरों की सहायता से हर अमात्य को यह कहलाये कि राजा बड़ा अधार्मिक है, इसलिए इसकी जगह किसी दूसरे को राजा बनाना चाहिए। हर अमात्य को यह भी कहलाये कि दूसरे सभी अमात्यों ने यह बात मान ली है। यदि अमात्य इसे न माने और राजा के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करे, तो समझना चाहिए कि अमात्य राजभक्त है। इस परीक्षा को अर्थशास्त्र में 'धर्मोपधा' कहा गया है। दूसरी परीक्षा का नाम 'अर्थोपधा' है। इसमें यह झूठा प्रचार किया जाता है कि राजाज्ञा को ठुकराने के अपराध में सेनापति को पदच्युत कर दिया गया है। फिर वह सेनापति गुप्तचरों की सहायता से हर अमात्य को धन का लोभ देकर यह कहलाये कि यह राजा सर्वथा अयोग्य है, इसका विनाश कर देना चाहिए। यदि अमात्य इसका विरोध करे, तो समझना चाहिए कि वह योग्य और राजभक्त है। तीसरी परीक्षा होती है 'कामोपधा'। संन्यासिनी का वेश धारण किये कोई गुप्तचरी हर अमात्य के पास जाकर यह कहे कि महारानी उससे प्रेम करती है और यदि वह महारानी से मिलेगा तो महारानी खुश होकर उसे पर्याप्त धन भी देगी। यदि अमात्य इसका विरोध करे, तो समझना चाहिए कि वह पवित्रात्मा है। चौथी परीक्षा का नाम है 'भयोपधा'। इस परीक्षा में अमात्य दूसरे अमात्यों को नौका-विहार के लिए

---

९. मनुस्मृति ७-५४

आमन्त्रित करता है। फिर राजा उन सभीको दण्डित करता है। तब दूसरा गुप्त-चर (अपमानित छात्र के वेश में) हर अपमानित अमात्य के पास जाकर राजा के विरुद्ध बातें करते हुए उसके वध का प्रस्ताव रखता है और यह भी सूचित करता है कि अन्य सभी अमात्यों ने यह प्रस्ताव मान लिया है। अगर अमात्य इसका विरोध करे, तो समझना चाहिए कि यह योग्य और राजभक्त है। इस तरह इन परी-क्षाओं में खरे उतरनेवाले अमात्यों को यथायोग्य पदों पर नियुक्त करना चाहिए। इन अमात्यों में जो सबसे अधिक योग्यता रखता हो, उसे कुछ अन्य परीक्षाओं के बाद मंत्री या प्रधान मंत्री के पद पर नियुक्त किया जाय।

पुरोहित

राजा[10] के लिए पुरोहित का होना भी अत्यावश्यक है। "जैसे आचार्य के पीछे शिष्य, पिता के पीछे पुत्र और स्वामी के पीछे भृत्य चलता है, वैसे ही राजा को पुरोहित का अनुगामी-होना चाहिए।"

"पुरोहित[11] (ब्रह्म) और राजा (क्षत्र) की मैत्री के सम्बन्ध में महाभारत में मुचुकुन्दोपाख्यान की उद्भावना की गई है। राजा मुचुकुन्द ने अपने बाहुबल से सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत लिया। उसके बाद कुबेर ने कुछ ऐसी अदृष्ट आसुरी शक्तियों की सृष्टि की, जिनके सामने मुचुकुन्द की सैन्य-शक्ति फीकी पड़ने लगी। तब मुचुकुन्द ने महर्षि वसिष्ठ की तपःशक्ति से कुबेर की आसुरी शक्तियों को पराम्त किया। इस तरह राज्य-संचालन के लिए तपस्वी विद्वानों के सहयोग की परम आवश्यकता है।"

गुप्तचर

साथ-साथ, योग्य विश्वासी गुप्तचरों की भी नियुक्ति आवश्यक है। विद्यार्थी,[12] संन्यासी, गरीब किसान, व्यापारी, सिद्धतपस्वी या शिष्यों की वेशभूषा में ये गुप्तचर न केवल मंत्रियों को स्वराष्ट्र या परराष्ट्र की स्थितियों से जानकारी कराते हैं, बल्कि प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल परिस्थितियों में बदल देना भी इनके कार्य का महत्वपूर्ण अंग होता है। कुछ गुप्तचर तो एकही स्थान पर रहकर अपना कार्य करते हैं और कुछ घूम-घूमकर। क्रमशः इन्हें 'संस्था' और संचार' कहा जाता है।

इन[13] गुप्तचरों को कभी-कभी आपस में दिखावटी वाद-विवाद करने की भी आवश्यकता पड़ती है। कोई कहता है, 'राजा अन्यायी है, उसको दण्ड देना है,' फिर दूसरा कहता है 'यह सब ग़लत है, राजा को तो भगवान् ने ही सभी की रक्षा

---

१०. अर्थशास्त्र १-७-६

११. महाभारत, शान्तिपर्व ७४-१-२२

१२. अर्थशास्त्र १-१०-११

१३. वही १-१२

के लिए बनाया है, यदि राजा न हो तो जैसे बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं वैसेही बलवान लोग दुर्बलों को नष्ट कर देते। इसलिए राजा का अपमान कभी भी नहीं करना चाहिए।' इस तरह के दिखावटी वाद-विवादों से एक ओर तो लोगों की मनोवृत्तियों की जानकारी हो जाती है, दूसरी ओर राजा के लिए प्रचार करने का अवसर मिल जाता है। गुप्तचरों का महत्व का कार्य यह भी है कि जैसे हो तैसे राज्य में कहीं किसी तरह का असंतोष न फैले; यह इसलिए कि विक्षुब्ध या असंतुष्ट व्यक्ति आसानी से शत्रुओं के पक्ष में चले जा सकते हैं।

दुर्ग

राजा[१४] को अपनी रक्षा के लिए किसी दुर्ग (क़िला) में अपना निवासस्थान बनाना चाहिए। यह दुर्ग या तो मरुभूमि में हो (धन्वदुर्ग) या कहीं जमीन पर ईंटों से बनी ऊँची दीवारों से सुरक्षित हो (महीदुर्ग), या चारों ओर अथाह जल से भरी खाइयों से घिरा हो (अब्दुर्ग) अथवा बड़े-बड़े घने वृक्षों से घिरा हो (वार्क्षदुर्ग) या चारोंओर से खुला होने पर भी सैन्यदल से सर्वथा सुरक्षित हो (नृदुर्ग), या चारों ओर पर्वतों से घिरा हो (गिरिदुर्ग)। इन सभी दुर्गों में गिरिदुर्ग को सबसे अधिक उपादेय माना गया है।

दुर्ग[१५] हर तरह के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हो। इसमें भोजन की प्रचुर सामग्री हो, पेय जल की व्यवस्था हो, जानवरों (घोड़ों आदि) के खाने की चीजें हों, आवश्यक यन्त्र भी हों। वाहनों की समुचित व्यवस्था हो। विद्वान् पुरोहित और शिल्पकार भी वहाँ अवश्य रहें। ऐसे दुर्ग के बीच में राजा अपना प्रासाद तैयार कराये। यह प्रासाद सभी ऋतुओं के अनुकूल हो, स्वच्छ हो वृक्षों से घिरा हो और वहाँ भी पेय जल की उचित व्यवस्था हो।

इस तरह के दुर्ग में निवास करनेवाले राजा को शत्रु नहीं परास्त कर सकते।

उच्चपदस्थ कर्मचारी

उच्च[१६] पदों पर आसीन कर्मचारियों पर कड़ी निगरानी रखना बहुत आवश्यक है। नियमानुसार इन कर्मचारियों को न तो आपस में बिलकुल मिला-जुला होना चाहिए, न द्वेषभाव ही बरतना चाहिए। यदि ये सर्वथा मिल जायें तो अधिक सम्भावना इस बात की है ये राजद्रव्य का अपहरण करेंगे। यदि ये आपस में द्वेष करने लगें, तो अपनी 'तू-तू मैं मैं' के चलते राज्य का कार्य ये सुचारु रूप से न चलने देंगे। इसलिए इन्हें राजा के आदेशानुसार पूरी ईमानदारी से सारे कार्य सँभालते रहने चाहिए। राजा को

---

१४. मनुस्मृति ७-७०-७१

१५. वही ७३-७६; तु० अर्थशास्त्र २-३-४

१६. अर्थशास्त्र २-९

चाहिए कि इनके बारे में सारी बातों की जानकारी अपने गुप्तचरों द्वारा प्राप्त करता रहे। इनकी आमदनी अगर कम है और खर्च ज्यादा, तो जाँच-पड़ताल कराने के बाद राजा को ऐसे कर्मचारियों को ग़बन के अपराध की कड़ी-से-कड़ी सजा देनी चाहिए। वांछनीय तो यह है कि प्रत्येक उच्चपदस्थ राजकर्मचारी अपने आय-व्यय का पूरा विवरण राजा के सामने बराबर प्रस्तुत करता रहे।

जो कर्मचारी ईमानदार हों, उनका सम्मान होना चाहिए, और उच्चतर पदों पर उनकी उन्नति करनी चाहिए। इसके विपरीत, लोभी, बेईमान कर्मचारियों को निम्नतर पदों पर नियुक्त करना चाहिए।

शासन-व्यवस्था

मनुस्मृति[17] के अनुसार शासन-व्यवस्था का आरंभ गाँवों से होता है। हरेक गाँव का एक मुखिया होता है। दस गाँवों के ऊपर उससे बड़ा मुखिया होता है। इसी तरह बीस, सौ और हज़ार गाँवों के ऊपर बड़े-बड़े अधिकारी होते हैं। गाँव का मुखिया अपने गाँव की समस्या से अपने दशेश (दस गाँवों के मुखिया) को अवगत कराता है। इसी क्रम से हज़ार गाँवों का मुखिया अपने क्षेत्र की सारी समस्याएँ संबंधित अमात्य के सामने प्रस्तुत करता है। नगरों की शासन-व्यवस्था के लिए उच्चतर और अधिक शक्तिशाली अधिकारियों की नियुक्ति का विधान है।

कहा गया है कि गाँवों और नगरों की सुरक्षा के लिए नियुक्त सभी कर्मचारियों के ऊपर गुप्तचरों की सहायता से कड़ी निगरानी रखनी चाहिए। प्रायः ये कर्मचारी जनता को धोखा देकर अपना उल्लू सीधा करने में निपुण होते हैं। जब कभी राजा को इनकी हरकतों का पता चले, तो वह ऐसे अधिकारियों का सर्वस्व राजकोष में जमा करा ले, और उन्हें अविलम्ब अपने राज्य से निकाल बाहर करदे।

जनपदों की वृद्धि

जनपदों[18] की वृद्धि कराना भी राजा का एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य माना गया है। इसके लिए या तो वह दूसरे देशों के लोगों को बुलावे या अपने ही राष्ट्र की आबादी बढ़ाने का प्रयत्न करे। वह आवश्यकतानुसार भूमिदान भी करे। यदि किसी किसान ने मेहनत करके कोई अच्छा खेत तैयार कर लिया है और उससे वह बहुत अच्छी उपज कर लेता है, तो राजा को चाहिए कि उस किसान से वह खेत कभी वापस न ले।

राजा का यह कर्त्तव्य होता है कि वह जनता के स्वास्थ्य और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने कोष से एक सीमित रकम बराबर देता रहे; साथ-साथ, अन्न, बीज, बैल, धन आदि देकर किसानों की विशेष रूप से सहायता

---

१७. मनुस्मृति ७-११५-१२३

१८. अर्थशास्त्र २-१

तथा उचित सिंचाई आदि की भी व्यवस्था करता रहे।

जैसे जलूका[१९] (जोंक), बछड़ा और भ्रमर खून, दूध व मधु क्रमशः अत्यल्प मात्रा में ग्रहण करते हैं, उसी तरह राजा को चाहिए कि वह प्रजा से अल्प-से-अल्प कर वसूल करे। पशुधन और सोने का पचासवां हिस्सा, अनाज का छठा, आठवां या बारहवां हिस्सा कर के रूप में लेना चाहिए।

कौटल्य-अर्थ-शास्त्र[२०] में शासन-व्यवस्था की सुगमता की दृष्टि से कई विभागों की स्थापना और उनके अध्यक्षों की नियुक्ति का विधान है। खनिज-विभाग, सुवर्ण-विभाग, कोष्ठागार, पण्य, वन, आयुधागार, शुल्क, सूतव्यवसाय, कृषि, सुरा, वधस्थान, जलपरिवहन, पशुशाला, अश्वशाला, गजशाला, मुद्रा इन विभागों की और इनके अध्यक्षों की विशेष रूप से चर्चा की गई है। इन अध्यक्षों की योग्यता, अधिकारों और उत्तरदायित्वों का बड़ा विस्तृत विवरण अर्थशास्त्र में मिलता है। किन्तु इन विभागों में शिक्षाविभाग का अभाव खलता-सा है। ऐसा लगता है कि प्राचीन भारत में शिक्षा राजकीय अधिकार-क्षेत्र में नहीं आती थी। इतना अवश्य था कि सुशिक्षित विद्वानों का राजाओं के यहाँ विशेष सम्मान होता था। मनुस्मृति[२१] में तो यहाँतक कहा गया है कि सड़क पर यदि एक ओर से राजा आ रहे हों और दूसरी ओर से कोई स्नातक, तो राजा का यह कर्त्तव्य होता है कि स्नातक के लिए रास्ता छोड़दे। राजा भूखों मरता रहे, फिरभी वह विद्वान् सदाचारी श्रोत्रिय से कभी कर ग्रहण न करे।

राजकीय शासन-व्यवस्था का मुख्य प्रयोजन है प्रजा-पालन। जिसके राज्य में प्रजा धनहीन हो, चोरों का आतंक हो और लोग सुखी न हों, वह राजा जीवित होने पर भी मरा हुआ-सा ही है। यदि उसकी व्यवस्था से सभी सुखी हैं, तो राजा सभी पुण्यों का भागी होता है।

न्याय-व्यवस्था का ही दूसरा नाम व्यवहार-निर्णय है। जब राष्ट्र में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को किसी तरह की क्षति पहुँचाता है या कहीं भी राष्ट्र में न्यायविरुद्ध कार्य होता है, तो उसके लिए उचित दण्ड-विधान करना राजा का कर्त्तव्य है।

व्यवहार-निर्णय

व्यवहार-निर्णय[२२] के लिए राजा स्वयं विनम्र वेशभूषा में तत्वज्ञ विद्वानों के साथ राजसभा में उपस्थित हो। यदि किसी कारणवश वह स्वयं उपस्थित न हो सके, तो सबसे योग्य विद्वान् को तीन अन्य सभसादों के साथ इस कार्य के लिए भेजे।

---

१९. मनुस्मृति ७-१२९-३२
२०. अर्थशास्त्र २-१२-३६
२१. मनु० २-१३९, ७-१३३
२२. मनुस्मृति ८-१-११६

व्यवहार-निर्णय के मुख्यत: नीचेलिखे १८ अंग माने गये है :—

ऋण लेना, धरोहर रखना, जिसकी सम्पत्ति नहीं है उसके द्वारा उस सम्पत्ति की विक्री, सुसंगठित होकर बनियों द्वारा उत्पात मचाया जाना, अपात्र द्वारा सम्पत्ति का ग्रहण, कर्मचारियों को वेतन न देना, किसी शर्त का उल्लंघन, खरीदकर या बेचकर बाद में उलट जाना, जिसने पशु पाल रखे हैं और जो उन पशुओं की देखभाल के लिए नियुक्त किया गया है, इन दोनों का विवाद, अगल-बगल के खेतों, गाँवों आदि की सीमा, गाली-गलौज और प्रहार करना, चोरी करना, बलात्कार करना, दाम्पत्य सम्बन्धी समस्या, परिवार की सम्पत्ति का बँटवारा, द्यूत-क्रीड़ा और पक्षियों, भेड़ों आदि के दंगल।

राजा या उसके द्वारा नियुक्त मंत्री सभा-भवन में जाकर धर्मासन पर आसीन हो, व्यवहार-निर्णय का कार्य आरम्भ करे। वह वादी तथा प्रतिवादी की भाव-भंगिमा का अध्ययन करे ताकि उसके मन की गहराई में पहुँचा जा सके। फिर उसके बाद दोनों पक्षों की बातें सुनकर साक्षियों के साक्ष्य को सामने रखते हुए व्यवहार-निर्णय करे।

व्यवहार-निर्णय में साक्षी कौन हो? सभी वर्णों के लोग, जिनके घरबार हैं, परिवार हैं साक्षी हो सकते हैं। इन्हें निर्लोभ और धर्मभीरु भी होना चाहिए।

साक्षी

राजा साक्षी नहीं हो सकता। ज्योतिषी, नाचने-गाने-वाला, श्रोत्रिय, ब्रह्मचारी और संन्यासी ये भी साक्षी नहीं हो सकते। नौकर, दुराचारी व्यक्ति, चोर, वृद्ध पुरुष, बालक और विकलांग (अन्धे आदि) भी साक्षी बनने की योग्यता नहीं रखते।

जिस व्यवहार-निर्णय का संबंध बलात्कार, चोरी, दाम्पत्य जीवन, गाली-गलौज या शारीरिक प्रहार से हो, वहां साक्षियों की गवाही लेने की आवश्यकता नहीं है। वहाँ राजा को वादी और प्रतिवादी की बातों, उनकी भाव-भंगिमा व उनकी वर्तमान स्थिति को देखते हुए ही व्यवहार-निर्णय करना चाहिए। जहाँ कहीं साक्षियों में मतभेद हो, वहाँ बहुमत या अधिक विश्वसनीयता के आधार पर निर्णय करना चाहिए।

साक्षी सत्य बोले, इसके लिए तरह-तरह की शपथों और धार्मिक उपाख्यानों का विधान है। पर जहां सत्य बोलने से किसी सदस्य के मारे जाने की संभावना हो, वहां असत्य-भाषण करना अपराध नहीं है।

व्यवहार-निर्णय में कई तरह की शपथों का भी विधान है। अभियुक्त के दोनों हाथों में पीपल के पत्ते रखकर ऊपर से धधकते हुए लोहे का गोला रख दे.

शपथ

यदि उसका हाथ न जले, तो वह निर्दोष माना जाए! इसी तरह उसे जल में डुबोया जाए, न डूबे तो निर्दोष! अपने बाल-बच्चों के सिर पर हाथ रखकर भी अभियुक्त शपथ ला सकता है।

अर्थशास्त्र[23] में भी व्यवहार-निर्णय के पांच साधन बतलाये गये हैं—(१) जिसका अपराध देख लिया गया हो, (२) जिसने अपने अपराध को स्वीकार कर लिया हो, (३) सरलता से जिरह, (४) आसानी से कारणों का पता लग जाना और (५) कसम दिलाना। यदि इन उपायों से भी काम न चलता हो, तो गुप्तचरों द्वारा मामले की जाँच-पड़ताल करने के बाद ही व्यवहार-निर्णय करना चाहिए।

व्यवहार-निर्णय के साधन

परराष्ट्रनीति—राजा[24] की परराष्ट्रनीति मुख्यतः निम्नलिखित चार सिद्धान्तों पर आधारित होती है :

(१) पड़ोसी राष्ट्र (भूमि-अनंतर) शत्रु होगा ही।

(२) उसके सहयोगी भी शत्रु ही होंगे।

(३) पड़ोसी राष्ट्र की भौगोलिक सीमा के ठीक बादवाला राष्ट्र मित्र होगा।

(४) इनके अतिरिक्त अन्य राष्ट्र तटस्थ होंगे।

इन्हें अनुकूल बनाने के लिए साम (सान्त्वना) दान, दण्ड और भेद की नीतियाँ अपनाने का विधान है। राजाओं के लिए सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय-इन छहों गुणों का अनुशीलन भी बहुत आवश्यक माना गया है।

यदि राजा अपने आपको शत्रु की अपेक्षा कमजोर समझे, तो उसे तुरन्त कुछ अनुकूल शर्तों पर 'सन्धि' कर लेनी चाहिए। यदि शत्रु की तुलना में वह अपने आपको बलवान् समझे तो 'विग्रह' (युद्ध) करने से कभी नहीं हिचकना चाहिए। यदि अपनी और शत्रु की स्थिति का तुलनात्मक ज्ञान न हो, तो कुछ समयतक प्रतीक्षा करनी चाहिए (आसन)। यदि राजा हर तरह से सम्पन्न हो, तो शत्रु पर शीघ्र ही आक्रमण कर देना चाहिए। (यान)। अपने को सर्वथा अशक्त पाकर राजा को किसी अधिक बलवान् राजा की शरण लेनी चाहिए (संश्रय)। परिस्थिति के अनुसार कभी-कभी कुछ तो सन्धि से, और कुछ विग्रह से शत्रु को रास्ते पर लाना चाहिए (द्वैधीभाव)।

महाभारत[25] में सरित-समुद्र-संवाद और बिडालमूषकोपाख्यान के माध्यम से परराष्ट्रनीति के उच्चतम आदर्शों की व्याख्या की गई है।

समुद्र ने पूछा गंगा से, 'तुम बड़े-बड़े वृक्षों को तो उखाड़ लाई हो, पर छोटे-छोटे दुबले-पतले बेंतों का क्या हुआ? उनको क्यों छोड़ दिया? क्या

---

२३. अर्थ० ३-१

२४. मनु० ७–१५८-६०, तु० अर्थ० ७-१-१५

२५. महाभारत, शान्तिपर्व ११३, १३८

उन्हें छोटा समझकर अपमान किया है ?' गंगा ने उत्तर दिया, 'ये बड़े-बड़े वृक्ष तो एक ही जगह, एक ही स्थिति में, पड़े रहते हैं, इन्हें उखाड़ फेंकना आसान है। पर वेंत कालदर्शी है। उसे यह ज्ञान है कि कब विनम्र होना चाहिए और कब सिर ऊपर उठाना चाहिए। वह जब देखता है कि नदी का दुर्द्धर्ष वेग बड़ी तेजी से आ रहा है, तब वह झुक जाता है, और वेग के हट जाने पर सिर ऊपर कर लेता है। तो फिर ऐसी स्थिति में बेंत को उखाड़ फेंकना मेरे वश की बात नहीं है।' इसी तरह जब शत्रु अधिक पराक्रमी हो, तो राजा को 'वैतसी वृत्ति' अपनानी चाहिए।

एक बिडाल जाल में फँसा पड़ा है। कुछ ही देर में शिकारी आनेवाला है, जो उसे मार डालेगा। इसी बीच एक चूहा आता है। वह अपने शत्रु बिडाल को जाल में फँसा देखकर फूला नहीं समाता। पर उसी समय वह देखता है कि एक नेवला उसका पीछा कर रहा है। नेवला से बचने के लिए वह पेड़ पर चढ़ जा सकता है। पर पेड़ भी खतरे से खाली नहीं है, वहाँ भी उसका दूसरा दुश्मन उल्लू घात लगाये बैठा है। अब बेचारा करे क्या ? नीचे नेवला, ऊपर उल्लू। तुरन्त ही उसके दिमाग़ में यह बात आती है कि दो दुर्द्धर्ष दुश्मनों से बचने के लिए क्यों न इस जानी दुश्मन बिडाल से कुछ शर्तों पर सन्धि करली जाय। चूहे की सूझ कामयाब होती है। चूहा भी बिडाल की गोद में शरण लेकर अपने आपको बचा लेता है, और फिर सन्धि की शर्त के अनुसार अपने दुश्मन बिडाल का जाल काटकर उसकी जान भी बचा लेता है।

इस तरह यदि राजा चारों ओर से शत्रुओं से घिर जाय, तो किसी आपद्-ग्रस्त शत्रु से कुछ शर्तों पर सन्धि करके उसे अपनी रक्षा करनी चाहिए।

राजा[२६] को सबसे पहले अन्य नीतियों से दूसरे राष्ट्रों को अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। युद्ध तो अन्तिम अस्त्र है। सच तो यह है कि दो युद्ध करनेवालों में यदि किसी की जीत होती भी है, तो वह अस्थायी होती है। इस लिए राजा को चाहिए कि पहले साम, दान और भेद की नीतियों से ही वह शत्रु को जीतने का प्रयास करे। इसमें सफलता न मिलने पर ही युद्ध की नीति का आश्रय लिया जाय।

अर्थशास्त्र में शत्रु को जीतने या नष्ट करने के कई तरीके बतलाये गये हैं; कभी तो राजा गुप्तचरों की सहायता से अपने आपको सर्वज्ञ प्रमाणित कराकर शत्रु को हतप्रभ करदे। कभी कुछ अन्य छल-कपट कराकर शत्रु का वध करादे। कभी अपने गुप्तचरों को काफ़ी अर्से तक शत्रु-राष्ट्र में रहने दे, ताकि शत्रु के अमात्यों से मिल-जुलकर वह उन्हींसे शत्रु का विनाश करा सकें। कभी शत्रु के दुर्ग को घेरकर अपने अधिकार में ले ले। आवश्यकता पड़ने पर वह विभिन्न

---

२६. मनु० ७-१६७-१६६

औषधों, उपचारों, मन्त्रों एवं तंत्रों का भी उपयोग शत्रु-वध के लिए करे।

शत्रु[२७] पर विजय प्राप्त करने के बाद राजा को चाहिए कि वह अपने सद्‌गुणों से विजित शत्रु के दोषों को छिपाले। जिन स्थानीय लोगों की सहायता से विजय पाई है, उन्हें पर्याप्त धन आदि देकर सन्तुष्ट रखे। विजित राष्ट्र के प्रजाजनों की वेश-भूषा, भाषा, संस्कृति आदि का न केवल उचित सम्मान करे, बल्कि स्वयं अपने आपको स्थानीय मर्यादाओं में ढालने का प्रयास करे। यदि वह विजित राष्ट्र पहले अपनाही था और अपने या अपने पूर्वजों के किसी दोष के कारण शत्रुओं के हाथ में चला गया था, तो वह अपनी या पूर्वजों की उन ग़लतियों को फिर कभी न दोहराये।

इस तरह भारतीय नीति-शास्त्र की परम्परा अत्यन्त विशाल और उर्वर है। संभव है, इसका तात्विक अनुशीलन करने पर भारतीय दृष्टि से आधुनिक समस्याओं के समाधान के लिए उचित मार्गदर्शन पाया जा सकता है। किसीभी पाश्चात्य राजनीतिक पद्धति का अन्धानुकरण आवश्यक नहीं।

---

२७. अर्थशास्त्र १३-५

चाणक्य-सूत्र

[आचार्य कौटल्य के नामसे जो ५७२ 'चाणक्य-सूत्र' उपलब्ध हैं, उनमें से नीचे हम केवल ६१ सूत्रों का अनुवाद दे रहे हैं। इन सूत्रों को श्रीवाचस्पति गैरोला द्वारा संपादित 'कौटल्य का अर्थशास्त्र' में से लिया गया है :—सं०]

सुख का मूल है धर्म (१) धर्म का मूल है अर्थ (२) अर्थ का मूल है राज्य (३) राज्य का मूल है इन्द्रियों पर विजय (४) इन्द्रिय-विजय का मूल है विनय (५) विनय का मूल है वृद्धजनों की सेवा (६) वृद्धों की सेवा का मूल है विज्ञान (७) अतः मनुष्य विज्ञानवान् बने (८)।

कार्य मंत्र की रक्षा करने से ही सफल होता है (२३) वह व्यक्ति कार्य का विनाश कर देता है, जो कि मंत्र खोल देता है (२४) राजा अपने शत्रु के दोषों को मंत्र के नेत्रों से देख लेता है (३०) किसी भी विषय का निश्चय तीन आदमियों की एकराय होने पर किया जा सकता है (३२) मंत्र का भेद खुल जाता है, जबकि वह छह कानों में चला जाता है (३४)।

जो प्राप्त नहीं उसे प्राप्त करना, जो प्राप्त है उसका संरक्षण करके संवर्धन और फिर उसका वितरण—राज्य के ये चार ही सर्वस्व हैं (४२) राजा वह, जो नीति-शास्त्र के अनुसार राज्य चलाता है। (४८) कार्य तेजस्विता से ही सफल होता है (५३) गरम लोहे से ठंडा लोहा नहीं जुड़ा करता (५४)

व्यसनों में फँसे राजा का कार्य कभी भी सिद्ध नहीं होता (६९)

कठोर दंड देने से राजा सारी प्रजा का दुश्मन बन जाता है (७६) लक्ष्मी अर्थ-संतोषी राजा का परित्याग कर देती है (७७) दण्ड-नीति का सहारा लेकर राजा सारी प्रजा का संरक्षण करता है (७९) दण्ड-शक्ति के न होने से मन्त्रिमण्डल छिन्न-भिन्न हो जाता है (८१) उत्कर्ष तथा विनाश दोनों अपने ही हाथ में है (८५) जो कार्य उपायपूर्वक नहीं किया जाता, वह किया-कराया भी नष्ट हो जाता है (९५) भाग्य भी पुरुषार्थ के पीछे-पीछे चलता है (९८)

कार्य-सिद्धि की इच्छा रखनेवाला मनुष्य भोला-भाला न बना रहे (१०६) माता के थनों पर बछड़ा भी दूध के लिए आघात करता है (१०७) दैव को ही सब कुछ माननेवाले का कार्य कभी सिद्ध नहीं होता (१०९) सीधे-सादे स्वभाव के राजा का तिरस्कार उसके आश्रित जन ही कर देते है (१४२) तेज स्वभाव-वाले राजा से सभी लोग व्याकुल रहते हैं (१४३) प्रजा ऐसे राजा का बहुत आदर नहीं करती, जो शासक होते हुए भी दुर्बल है (१४४)

तिरस्कार से प्राप्त वैभव को सज्जन ठुकरा देते है (१६०)

अवहेलना न की जाय (१६३) अपने विश्वास की रक्षा प्राणों का मूल्य देकर भी करनी चाहिए (१६५) जो व्यक्ति चुगली करता और चुगली सुनता है, उसका परित्याग उसकी स्त्री और पुत्र भी कर देते हैं (१६६)

मर्यादा से अधिक विश्वास कदापि न किया जाय (१७२) शत्रु के लिए किया गया अच्छा कार्य भी बुरा ही समझा जाता है (१७३)

पराक्रम ही राजा का मुख्य धन है (१८३) भाग्य भी निरुत्साही व्यक्ति का साथ नहीं देता (१८५)

शत्रु पर वहीं चोट करनी चाहिए, जहां कहीं भी उसकी दुर्बलता दिखाई-दे (१९४) अपने वश में आये हुए शत्रु का भी विश्वास नहीं करना चाहिए।

अच्छे व्यवहार से शत्रु को भी जीत सकते हैं (२०१)

दावानल चन्दन को भी भस्म कर देता है (२०६)

भूखे आदमियों के साथ वाद-विवाद न किया जाय (२३०)

लोहे से ही लोहा कट सकता है (२३२) बुद्धिहीन का मित्र कोई नहीं होता (२३३) प्राणियों पर धर्म द्वारा विजय पाई जा सकती है (२३८) अधर्मबुद्धि ही सर्वनाश को सूचित कर देती है (२४२)

किसीकी गुप्त बात को नहीं सुनना चाहिए (२४४)

अर्थहीन इन्द्र को भी दुनिया बड़ा नहीं मानती (२५६) दरिद्रता जीते हुए भी मृत्यु है (२५७)

दूध पिलाने पर सांप का विष ही बढ़ता है, अमृत नहीं बनता (२७५)

भूख से बढ़कर शत्रु नहीं (२७७) भूखे को कुछ भी अखाद्य नहीं (२७९)

अहंकार से बड़ा कोई दूसरा शत्रु नहीं (२८८) सभा में शत्रु की बुराई नहीं करनी चाहिए (२८९)

दूसरों के सद्‌गुणों से डाह नहीं करनी चाहिए (३०५) शत्रु के भी अच्छे गुणों को ले लेना चाहिए। (३०६)

दण्ड अपराध के अनुसार ही दिया जाय (३२८)

कार्य अपनी कुल-मर्यादा के अनुसार ही किया जाय (३३१)

बहुत अधिक साथ रहने से बुराई पैदा हो जाती है (३४९)

मूर्ख, मित्र, गुरु और स्वजनों के साथ बुद्धिमान् व्यक्ति को व्यर्थ विवाद नहीं करना चाहिए (३५२) बसना उसी देश में चाहिए, जहाँ कोई उपद्रव न हो (३६९)

वह परिवार स्वर्ग बन जाता है, जहाँ पुत्र गुणी होता है (३८१)

जनपद के हित के आगे ग्राम-हित को छोड़ देना चाहिए (३८३)

परिवार-हित का त्याग कर देना चाहिए ग्राम-हित के अर्थ (३८४)

तिल-जैसे उपकार को भी सज्जन पहाड़-जैसा मानते हैं (३९८)

वैभव वैसाही मिलता है, जैसी बुद्धि होती है (४०९)

तपस्वी सदा पूज्य है (४११)

सत्य से वड़ा कोई तप नहीं (४१७) संसार सत्य पर टिका हुआ है (४१९)

नीच आदमी कुकर्म कराकर करनेवाले को अपमानित करता है। (४३८)

कृतघ्न के लिए नरक के सिवाय दूसरी कोई गति नहीं (४३९)

वाणी ही विष है, और वाणी ही अमृत (४४१)

जो प्रिय वचन बोलता है, उसका कोई भी शत्रु नहीं (४४२)

जैसा कुल, वैसाही आचार (४६०)

नीम को आम नहीं बनाया जा सकता, उसका कितना ही सुधार क्यों न किया जाय (४६१)

रात्रि में वेकार न घूमा जाय (४६४) बिना काम दूसरे के घर में नहीं जाना चाहिए (४६७)

राजा दूर की चीज़ को भी देख लेता है गुप्तचरों की आँखों से (४७२) दरिद्र होकर जीवित रहने से तो मर जाना कहीं अच्छा (५०६)

आशा मनुष्य को निर्लज्ज बना देती है (५०७)

वैभव से अन्धा आदमी अपने पास की चीज़ को भी नहीं देखता, और न हित की बात सुनता है (५११)

विश्वासघात करनेवाले के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं (५२३)

बुद्धिहीन मनुष्य का कोई भी शत्रु नहीं (५३४)

संसारी बातों को जाननेवाला ही सर्वज्ञ कहा जाता है (५४२)

शास्त्र को जानता हुआ भी जो व्यक्ति लोक-व्यवहार नहीं जानता, वह मूर्ख ही है (५४३)

झूठी गवाही देनेवाले नरक में जाते है (५५१)

जो पाप छिपकर किये जाते है उनके साक्षी है पृथिवी, जल तेज वायु और आकाश (५५२)

प्रजा न्यायी राजा को माता के समान मानती है (५५९)

प्रजा-प्रिय राजा सांसारिक सुख और पारलौकिक स्वर्ग दोनों को प्राप्त करता है (५६०)

नीति-सूक्तियाँ

पंचतंत्र से—

यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवतु ।
वयांसि किं न कुर्वन्ति चंच्वास्वोदरपूरणम् ।।१।।

जिसके जीने से अनेक प्राणी जीते हैं, वही यहाँ जीवित कहा जाता है। यों तो क्या पक्षी भी अपना पेट चोंच से नहीं भर लेते ?

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।
जातस्तु गण्यते सोऽत्र यः स्फुरेच्च श्रियाधिकः ।।२।।

परिवर्तनशील इस संसार में कौन मरता नहीं और कौन जन्म नहीं लेता ? किन्तु वास्तव में जन्म उसीका सफल माना जाता है, जो अपने कुल की समृद्धि को बढ़ाता है ।

वचस्तत्र प्रयोक्तव्यं यत्रोक्तं लभते फलम् ।
स्थायी भवति चात्यन्तं रागः शुक्लपटे यथा ।।३।।

अपना वाणी का वहीं प्रयोग करना चाहिए, जहाँ उसका कुछ फल निकले; जैसे, सफेद कपड़े पर ही रंग खूब पक्का बैठता है ।

कनकभूषणसंग्रहणोचितो
यदि मणिस्त्रपुणि प्रतिबध्यते ।
न स विरौति न चापि स शोभते
भवति योजयितुर्वचनीयता ।।४।।

यदि सोने के गहनों में जड़नेलायक किसी रत्न को शीशे में जड़ दिया जाय, तो वह रत्न न तो रोता है, न शोभा ही देता है ।
बल्कि उसे जड़नेवाले की ही निन्दा होगी ।

यस्य न विपदि विषादः सम्पदि हर्षो रणे न भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ।।५।।

जिसे विपत्ति में विषाद नहीं, वैभव में हर्ष नहीं तथा युद्ध में कायरता नहीं, ऐसे त्रैलोक्य-तिलक विरले ही पुत्र को माता जन्म देती है ।

न तच्छस्त्रैर्न नागेन्द्रैर्न हयैर्न पदातिभिः ।
कार्यं संसिद्धिमभ्येति यथा बुद्ध्या प्रसाधितम् ।।६।।

जो काम बुद्धि से बनता है, वह हथियारों से, बड़े-बड़े हाथियों, घोड़ों और पैदल सेना से भी नहीं बनता ।

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी चेष्टा तुलायष्टेः खलस्य च ॥७॥

अहो ! तराजू की डाँड़ी और दुष्ट मनुष्य की चेष्टा एक-जैसीही होती है। थोड़े में ही वह ऊपर उठ जाती है, और थोड़े में ही नीचे चली जाती है ।

अत्तुं वांछति शाम्भवो गणपतेराखुं क्षुधार्तः फणी,
तं च क्रौंचरिपोः शिखी गिरिसुतासिंहोऽपि नागाशनम् ।
इत्थं यत्र परिग्रहस्य घटना शम्भोरपि स्याद्गृहे,
तत्रान्यस्य कथं न भावि जगतो यस्मात्स्वरूपं हि तत् ॥८॥

शिवजी का भूखा साँप गणेश के चूहे को खाना चाहता है,
कार्तिकेय का मोर उस साँप को निगल जाना चाहता है,
और उधर साँप को खा जानेवाले मोर को पार्वती का सिंह खाना चाहता है;
यदि शिवजी के घर में ही यह हालत है, तो फिर दूसरे के यहाँ का क्या पूछना ? संसार का स्वरूप ही ऐसा है ।

पूर्वे वयसि यः शान्तः स शान्त इति मे मतिः ।
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते ॥९॥

यौवन में ही जो शान्त होता है, वही मेरी राय में शान्त है ।
शरीर की शक्तियां क्षीण हो जाने पर कौन शान्त नहीं हो जाता ?

उद्योगिनं सततमत्र समेति लक्ष्मी–
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥१०॥

लक्ष्मी सदा उद्योग करनेवाले के ही पास आती है ।
भाग्य की रट तो केवल कापुरुष ही लगाते हैं ।
अतः भाग्य की बात को छोड़कर अपनी शक्ति के अनुसार पुरुषार्थ करो ।
यदि प्रयत्न करने पर भी कार्य सफल न हो, तो इसमें किसका दोष है ?

जातेति कन्या महतीह चिन्ता,
कस्मै प्रदेयेति महान्वितर्कः ।
दत्त्वा सुखं प्राप्स्यति वा न वेति
कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम् ॥११॥

इस संसार में कन्या के जन्म लेते ही चिन्ता होती है ।
उसे किसे दिया जाय, यह एक भारी समस्या खड़ी हो जाती है,

फिर विवाह कर देने पर उसे सुख मिलेगा या नहीं ?
अतः कन्या का पिता होना मानो कष्ट का ही दूसरा नाम है ।

प्रजानां पालनं शस्यं स्वर्गकोशस्य वर्धनम् ।
पीडनं धर्मनाशाय पापायाऽयशसे स्थितम् ॥१२॥

जैसे प्रजा का पालन करना ही राजा के लिए प्रशंसनीय काम है,
इससे उसे स्वर्ग मिलता है, और उसका खजाना बढ़ता है ।
इसी तरह प्रजा को पीड़ा देने से धन का नाश होता है, और वह राजा पाप और अपयश का भागी होता है ।

अजामिव प्रजां मोहाद्यो हन्यात्पृथिवीपतिः ।
यस्यैका जायते तृप्तिर्न द्वितीया कथंचन ॥१३॥

जो राजा अज्ञानवश प्रजा को बकरी की तरह मारता है,
उसकी तृप्ति एक ही बार होती है, दूसरी बार कभी नहीं ।

जातमात्रं न यः शत्रुं रोगं च प्रशमं नयेत् ।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥१४॥

शत्रु और रोग को जो व्यक्ति उनके पैदा होते ही दवा नहीं देता,
वह महाबलवान् होने पर भी उसी बढ़े हुए शत्रु, और उसी रोग के द्वारा मारा जाता है ।

आदौ न वा प्रणयिनां प्रणयो विधेयो
दत्तोऽथवा प्रतिदिनं परिपोषणीयः ।
उत्क्षिप्य यत्क्षिपति तत्प्रकरोति लज्जां
भूमौ स्थितस्य पतनाद्भयमेव नास्ति ॥१५॥

पहले तो कुछ चाहनेवालों से प्रीति नहीं करनी चाहिए;
यदि कर ली, तो सदा उसे बढ़ाना चाहिए;
किसीको ऊँचे चढ़ाकर फिर नीचे गिराना लज्जाजनक होता है ।
किन्तु धरती पर रहनेवालों को तो गिरने का डर ही नहीं ।

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥१६॥

उपकार करनेवालों के साथ जो सज्जनता का बर्ताव करता है, उसकी सज्जनता का क्या महत्व है ?
जो अपकारियों के प्रति भी सज्जनता बरतता है, अच्छे लोग उसेही सज्जन कहते हैं ।

स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा ।
सुतप्तमपि पानीयं पुनर्गच्छति शीतताम् ॥१७॥

उपदेश देने पर भी किसीका स्वभाव बदला नहीं जा सकता ।

गरम किया हुआ पानी भी फिर ठंडा हो जाता है।

सेवा श्ववृत्तिराख्याता यैस्तैर्मिथ्या प्रजल्पितम्।
स्वच्छन्दं चरति श्वोऽत्र सेवकः परशासनात् ॥१८॥

सेवावृत्ति को 'श्वानवृत्ति' कहा गया है, पर यह झूठ है;
क्योंकि कुत्ता तो स्वतन्त्र होकर घूमता-फिरता है, जबकि सेवक दूसरे [illegible]
आज्ञा से ही चलता है।

वरं वनं वरं भैक्षं वरं भारोपजीवनम्।
वरं व्याधिर्मनुष्याणां नाधिकारेण सम्पदः ॥१९॥

जंगल में रहना अच्छा है, भीख माँगना भी अच्छा है,
बोझा ढोकर जीविका चलाना भी ठीक है, और रोगी रहना भी,
किन्तु राज्याधिकार से धन इकट्ठा करना अच्छा नहीं।

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥२०॥

मित्रता और विवाह समान धन और समान कुलवालों में ही अच्छा [illegible]
है।
बलवानों और निर्बलों के बीच न मित्रता ठीक होती है, और न [illegible]

मृदुना सलिलेन खन्यमाना-
न्यवघृष्यन्ति गिरेरपि स्थलानि।
उपजापविदां च कर्णजापैः
किमु चेतांसि मृदूनि मानवानाम् ॥२१॥

कोमल जल की रगड़ खाकर पत्थर भी घिस जाते हैं तो [illegible]
करनेवालों द्वारा कान भरते रहने से कोमल चित्तवाले मनुष्यों का [illegible]
कहना ही क्या ?

यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मा-
त्स्वदेशरागेण हि याति नाशम्।
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ॥२२॥

जो मनुष्य सभी जगह जा सकता है वह अपने स्वदेश-प्रेम के [illegible]
क्यों नष्ट होगा ?
यह तो मेरे बाप का खोदाया कुआँ है, यह [illegible]
कायर ही पीते हैं।

स सुहृद् व्यसने यः स्यात् स पुत्रो यस्तु भक्तिमान्।
स भृत्यो यो विधेयज्ञः सा भार्या यत्र निर्वृतिः ॥२३॥

मित्र वही है जो विपत्ति में भी मित्र बना रहता है।

पुत्र वही है, जो आज्ञाकारी है;
सेवक वही है, जो अपने कर्त्तव्य को भली भाँति समझता है;
और वही पत्नी है, जो सब प्रकार से सुख देती है।

प्रजापीडनसंतापात्समुद्भूतो हुताशनः।
राज्ञः श्रियं कुलं प्राणान्नादग्ध्वा विनिवर्तते ॥२४॥

प्रजा को सताने के संताप से जो आग पैदा होती है, वह राज-लक्ष्मी, राज-कुल और राजा के प्राणों का नाश करके ही शान्त होती है।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥२५॥

कुल को बचाने के लिए एक व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए, और ग्राम की रक्षा के लिए एक कुल को,
जनपद के लिए ग्राम को छोड़ देना चाहिए, और अपने आपके लिए पृथिवी का भी परित्याग कर देना चाहिए।

सामादिदण्डपर्यन्तो नयः प्रोक्तः स्वयम्भुवा।
तेषां दण्डस्तु पापीयांस्तं पश्चाद्विनियोजयेत् ॥२६॥

ब्रह्मा ने साम से लेकर दण्डतक जो चार नीतियाँ बतलाई हैं,
उनमें दण्डनीति पापपूर्ण नीति है,
इसलिए उसका प्रयोग सबसे अंत में करना चाहिए।

साम्नैव यत्र सिद्धिर्न
तत्र दण्डो बुधेन विनियोज्यः।
पित्तं यदि शर्करया
शाम्यति कोऽर्थः पटोलेन ॥२७॥

जहाँ सामनीति से अर्थात् डरा-धमकाकर काम बनता हो, वहाँ बुद्धिमान् पुरुष को दण्ड का प्रयोग नहीं करना चाहिए।
यदि शक्कर देने से ही पित्त शान्त हो जाता है,
तो परवल देने की क्या आवश्यकता ?

घातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम्।
पातयितुमेव शक्तिर्नाखोरुद्धर्तुमन्नपिटम् ॥२८॥

नीच आदमी दूसरे का काम बिगाड़ना ही जानता है, बनाना नहीं।
चूहे में अनाज की पेटी गिराने की शक्ति तो है, उसे उठाने की नहीं।

देशान्तरेषु बहुविधभाषावेशादि येन न ज्ञातम्।
भ्रमता धरणीपीठे तस्य फलं जन्मनो व्यर्थम् ॥२९॥

जिसने देश-विदेश में घूमकर अनेक प्रकार की भाषाओं और पहरावों को नहीं जाना, उसका इस पृथिवी पर जन्म लेना व्यर्थ ही है।

विद्या वित्तं शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक् ।
यावद् व्रजति न भूमौ देशाद्देशान्तरं हृष्टः ॥३०॥

जबतक मनुष्य इस पृथिवी पर प्रसन्नतापूर्वक देश-देशान्तर में घूमता-फिरता नहीं, तबतक वह अच्छी तरह विद्या, धन या कला को प्राप्त नहीं कर सकता ।

मातृवत्परदाराणि परद्रव्याणि लोष्ठवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः ॥३१॥

धार्मिक लोग दूसरे की स्त्री को माता के समान, दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले के समान, और सभी प्राणियों को अपनेही समान देखते हैं ।

अत्यादरो भवेद्यत्र कार्यकारणवर्जितः ।
तत्र शंका प्रकर्तव्या परिणामेसुखावहा ॥३२॥

जहाँ पर बिना काम या बिना कारण के किसीका अत्यन्त आदर होता हो, वहाँ शंका करनी चाहिए ।
क्योंकि ऐसी शंका का परिणाम सुखदायक होता है ।

मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या निर्धनानां महाधनाः ।
व्रतिनः पापशीलानामसतीनां कुलस्त्रियः ॥३३॥

मूर्खलोग पंडितों से द्वेष करते हैं, निर्धन धनवानों से द्वेष करते हैं, पापी धर्मात्माओं से द्वेष करते हैं, तथा कुलटा स्त्रियाँ पतिव्रताओं से ।

●

पौलस्त्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातवान् ?
रामेणापि कथं न हेमहरिणस्यासम्भवो लक्षितः ?
अक्षैश्चापि युधिष्ठिरेण सहसा प्राप्तो ह्यनर्थः कथम् ?
प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते ॥३४॥

रावण क्या परनारी के हरण का दोष नहीं जानता था ?
राम को क्या स्वर्ण-मृग के न होने का पता नहीं था ?
युधिष्ठिर क्या जूआ खेलने से सहसा अनर्थ में नहीं पड़ गये ?
प्रायः विपत्ति पड़ने पर जो किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं, उनकी बुद्धि मन्द पड़ जाती है ।

सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।
उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा ॥३५॥

बड़े लोग सम्पत्ति और विपत्ति दोनों में एकसमान रहते हैं
जैसे उदय और अस्त में सूर्य लाल ही रहता है

सुहृदो भवने यस्य समागच्छन्ति नित्यशः ।
चित्ते च तस्य सौख्यस्य न किंचित्प्रतिमं सुखम् ॥३६॥

जिसके घर में मित्रों के नित्य आने से जो सुख मिलता है, उसकी तुलना नहीं की जा सकती।

कारणान्मित्रतां याति कारणादेति शत्रुताम्।
तस्मान्मित्रत्वमेवात्र योज्यं वैरं न धीमता ।।३७।।

किसी कारण से ही मित्रता होती है, और शत्रुता भी किसी कारण से ही।
इसलिए संसार में बुद्धिमान् को केवल मित्रता ही करनी चाहिए, शत्रुता नहीं।

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना
छायेव मैत्री खल-सज्जनानाम् ।।३८।।

आरम्भ में बड़ी तथा क्रम-क्रम से घटनेवाली, और पहले छोटी तथा क्रम-क्रम से बढ़नेवाली—
दिन में सवेरे और दोपहर की छाया की तरह दुर्जनों और सज्जनों की मित्रता होती है।

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ।।३९।।

देना और लेना, गुप्त बातें कहना और पूछना, खाना और खिलाना प्रीति के ये छह लक्षण हैं।

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ।।४०।।

समर्थों के लिए बहुत भारी बोझ क्या ?
व्यापारियों के लिए कौन-सा स्थान दूर है ?
विद्वानों के लिए विदेश क्या ?
और, मीठे वचन बोलनेवालों के लिए पराया कौन है ?

ईश्वरा भूरिदानेन यल्लभन्ते फलं किल।
दरिद्रस्तच्च काकिण्या प्राप्नुयादिति नः श्रुतिः ।।४१।।

धनवान बहुत सारा धन-दान देने से जो फल प्राप्त करता है, वही फल दरिद्र आदमी एक कौड़ी देकर प्राप्त कर लेता है, ऐसा हमने सुना है।

सकृदपि दृष्ट्वा पुरुषं विबुधा जानन्ति सारतां तस्य।
हस्ततुलयापि निपुणाः पलप्रमाणं विजानन्ति ।।४२।।

किसी मनुष्य को एकबार देखकर ही बुद्धिमान उसकी शक्ति को जान

लेते हैं। चतुर लोग हाथ में किसी चीज को लेते ही उसका वजन जान लेते हैं।

आपत्काले तु सम्प्राप्ते यन्मित्रं मित्रमेव तत्।
वृद्धिकाले तु सम्प्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद्भवेत्॥४३॥

विपत्ति आने पर भी जो मित्रता क़ायम रखता है वही सच्चा मित्र है। बढ़ती में तो दुर्जन भी मित्र बन जाता है।

उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥४४॥

काम उद्यम करने से ही सिद्ध होते हैं, सिर्फ सोचने से नहीं। मृग सोते हुए सिंह के मुँह में स्वयं ही नहीं घुस जाते।

उपार्जितानामर्थानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम्॥४५॥

जैसे तालाब के पानी को बाहर उलीचना ही उसकी रक्षा है, इसी तरह कमाये हुए धन का दान ही उसका रक्षण है।

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीयो गतिर्भवति॥४६॥

दान, भोग और नाश धन की ये तीन गतियां होती हैं। जो न तो दान देता है, और न उपभोग करता है, उसके धन की तीसरी ही गति है, अर्थात् नाश।

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥४७॥

राजन्! हमेशा चिकनी-चुपड़ी बातें करने वाले आदमी सुलभ हैं पर अप्रिय किन्तु हितकारी बातें कहनेवाले और सुननेवाले दोनों ही इस संसार में दुर्लभ हैं।

अप्रियाण्यपि पथ्यानि ये वदन्ति नृणामिह।
त एव सुहृदः प्रोक्ता अन्ये स्युर्नामधारकाः॥४८॥

जो अप्रिय होने पर भी हितकारी बातें कहते हैं, वे ही सच्चे

सिद्धं त्वा यदि वाऽसिद्धं चित्तोत्साहो निवेदयेत् ।
प्रथमं सर्वजन्तूनां तत्प्राज्ञो वेत्ति नेतरः ॥५०॥

अमुक काम सिद्ध होगा या नहीं, मन का यह उत्साह सभी प्राणियों को पहले से ही बता देता है।
पर इस बात को बुद्धिमान् व्यक्ति ही जानता है, दूसरा नहीं।

०

आगतं विग्रहं मत्वा सुसाम्ना प्रशमं नयेत् ।
विजयस्य ह्यनित्यत्वाद्रभसं च समुत्सृजेत् ॥५१॥

युद्ध सामने आया देखकर सामनीति से उसे शान्त कर देना चाहिए; विजय अनिश्चित होने से सहसा युद्ध में कूद पड़ना अच्छा नहीं।

यदपसरति मेषः कारणं तत्प्रहर्तुं
मृगपतिरपि कोपात्संकुचत्युत्पतिष्णुः ।
हृदयविहितवैरा गूढमन्त्रोपचाराः
किमपि विगणयन्तो बुद्धिमन्तः सहन्ते ॥५२॥

लड़ते समय मेढ़ा यदि पीछे को हटता है, तो टक्कर मारने के लिए ही वह ऐसा करता है।
सिंह अगर अपना शरीर सिकोड़ता है, तो वह अत्यन्त क्रोध से छलांग मारने के लिए ही।
इसी प्रकार अपने विचारों और आचरण को गुप्त रखकर तथा किसी बात की परवाह न करते हुए बुद्धिमान लोग सबकुछ सह लेते हैं।

संगतिः श्रेयसी पुंसां स्वपक्षे च विशेषतः ।
तुषैरपि परिभ्रष्टा न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ॥५३॥

संगति अच्छी ही होती है, पर अपने पक्ष की संगति कहीं बेहतर मानी गई है।
भूसी से भी अलग हो जाने पर धान नहीं उगता।

संक्षेपात्कथ्यते धर्मो जनाः ! किं विस्तरेण वः ?
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥५४॥

हे मनुष्यो ! तुमसे मैं धर्म का सार संक्षेप में कह देता हूँ, विस्तार करने से क्या लाभ ?
परोपकार से पुण्य होता है, और दूसरों को कष्ट पहुँचाने से पाप।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥५५॥

धर्म का निचोड़ तुम सुनो, और सुनकर उसे हृदय में रख लो।
जो वस्तु अपने लिए अनुकूल नहीं, उसका व्यवहार दूसरों के साथ

भी नहीं करना चाहिए।।

मानाद्वा यदि वा लोभात्क्रोधाद्वा यदि वा भयात्।
यो न्यायमन्यथा ब्रूते स याति नरकं नरः॥५६॥

जो मनुष्य अभिमान से, लोभ से, क्रोध से अथवा भय से झूठा न्याय करता है, वह नरक में जाता है।

●

यच्च वेदेषु शास्त्रेषु न दृष्टं न च संश्रुतम्।
तत्सर्वं वेत्ति लोकोऽयं यत्स्याद् ब्रह्माण्डमध्यगम्॥५७॥

वेदों और शास्त्रों में जो बात न तो देखी गई है और न सुनी गई है, किन्तु जो इस ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं भी हो उसे साधारण लोग अवश्य जानते हैं।

लुब्धस्य नश्यति यशः पिशुनस्य मैत्री
नष्टक्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य॥५८॥

लोभी का यश, खल की मित्रता, अनाचारी का कुल, धनलोलुप का धर्म, व्यसनियों का विद्याफल, कंजूस का सुख, और प्रमादी मंत्रीवाले राजा का राज्य नष्ट हो जाता है।

●

त्यागिनि शूरे विदुषि च संसर्गरुचिर्जनो गुणी भवति।
गुणवति धनं धनाच्छ्रीः श्रीमत्याज्ञा ततो राज्यम्॥५९॥

त्यागी, पराक्रमी और विद्वानों की संगति में रहने से मनुष्य गुणवान होता है। गुण से धन, धन से लक्ष्मी, लक्ष्मी से आज्ञा और इससे राज्य प्राप्त होता है।

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते शठे।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥६०॥

ब्रह्म-हत्या करनेवाले, शराब पीनेवाले, चोरी करनेवाले तथा व्रतभंग करनेवाले के लिए सज्जनों ने प्रायश्चित्त का उपाय कहा है। परन्तु कृतघ्न के लिए कोई भी प्रायश्चित्त नहीं है।

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत्।
हितं च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता॥६१॥

जो वस्तु निगली जा सके और निगले जाने पर पच जाए, और पचने के बाद जो हितकारक हो, उसी वस्तु को खाना चाहिए।

पतति कदाचिन्नभसः खाते पातालतोऽपि जलमेति ।
दैवमचिन्त्यं बलवद्बलवान्न तु पुरुषकारोऽपि ॥६२॥

जो जल कभी आकाश से गिरता है, वह पाताल से खोदने पर निकलता है ।
इसलिए भाग्य का भरोसा नहीं करना चाहिए; पुरुषार्थ ही बलवान् है ।

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥६३॥

'यह मेरा है और यह दूसरे का', ऐसा विचार छोटी तबीयतवाले करते हैं ।
उदारचरितवालों के लिए तो यह सारी पृथिवी ही उनका कुटुम्ब है ।

यदर्थं भ्रातरः पुत्रा अपि वांछन्ति ये निजाः ।
वधं राज्यकृतां राज्ञां तद्राज्यं दूरतस्त्यजेत् ॥६४॥

जिस राज्य के लिए अपने भाई और पुत्र तथा उसके अपने संबंधी भी राजा का वध करना चाहते हैं, ऐसे राज्य को दूर से ही त्याग देना चाहिए ।

यः सततं परिपृच्छति, श्रृणोति सन्धारयत्यनिशम् ।
तस्य दिवाकर किरणैर्नलिनीव विवर्धते बुद्धिः ॥६५॥

जो दूसरे से सदा पूछता है, सुनता है और बराबर उसको याद रखता है, उसकी बुद्धि ऐसे बढ़ती रहती है, जैसे सूर्य की किरणों से कमलिनी ।

भर्तृहरि-नीति-शतक से—

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्र भवनेष्वपि ॥१॥

जंगली पशुओं के साथ घोर पर्वतों पर भ्रमण करना कहीं अच्छा है,
किन्तु मूर्ख आदमी का सम्पर्क इन्द्र के भवनों में भी अच्छा नहीं ।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बंधुजनो विदेशगमने विद्या परंदैवतं,
विद्या राजसु पूजिता न हि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥२॥

मनुष्य का महान् सौन्दर्य विद्या ही है, और वहीं उसका छिपा हुआ धन है;
विद्या ही भोग, कीर्ति और सुख देनेवाली है;
वह गुरुओं की भी गुरु है;
विदेश में विद्या ही बन्धु-बान्धव है, और वही परमदेवता है;
राजाओं के बीच विद्या ही पूजी जाती है, न कि धन ।

अतः विद्याविहीन मनुष्य पशु ही है।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥३॥

नीच श्रेणी के लोग विघ्न आने के भय से किसी कार्य का आरंभ ही नहीं करते;
मध्यम श्रेणी के लोग आरंभ करके, विघ्न पड़ने पर, वहीं रुक जाते हैं, अर्थात् कार्य बन्द कर देते हैं;
किन्तु विघ्नों के बार-बार चोट करने पर भी कार्य आरंभ कर देने पर उत्तम कोटि के लोग उसे छोड़ते नहीं।

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्यया भूषितोऽपि सन्।
मणिनालंकृतः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥४॥

विद्या-विभूषित भी दुष्ट मनुष्य का परित्याग कर देना चाहिए।
मणि से अलंकृत सर्प क्या भयंकर नहीं होता है?

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥५॥

महात्माओं में स्वभाव से ही ये गुण होते हैं—
विपत्ति में धैर्य, उत्कर्ष में क्षमा, सभा में वाक्चातुर्य, युद्ध में पराक्रम, यश में अभिरुचि, वेद-शास्त्रों के अध्ययन का व्यसन।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै
र्नवाम्बुभिर्भूरिविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥६॥

जैसे, फलों के आ जाने से वृक्ष झुक जाते हैं
और नये जल से भर जाने पर मेघ झुकते भूमि की ओर,
वैसे ही समृद्धि से सत्पुरुष उद्धत नहीं होते।
परोपकारी का स्वभाव ही ऐसा होता है।

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥७॥

सत्पुरुष वे हैं, जो अपना स्वार्थ छोड़कर दूसरों के कार्य में संलग्न रहते हैं;
वे व्यक्ति सामान्य कोटि के हैं, जो अपने स्वार्थ से न टकरानेवाले दूसरों का कार्य करने को उद्यत रहते हैं;
और, वे मनुष्यरूपी राक्षस हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का अहित करते हैं;
किन्तु जो व्यक्ति बिना मतलब ही दूसरों के हित का हनन करते हैं, उन्हें क्या कहा जाय, यह हम नहीं जानते।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥८॥

धीर पुरुष न्याय के मार्ग से पैर पीछे नहीं हटाते,
भले ही नीति-निपुण लोग उनकी निन्दा करें या प्रशंसा;
भले ही लक्ष्मी उनके पास अटूट रूप में आये या चली जाये;
और, भले ही उनकी मृत्यु आज हो जाये अथवा युगान्तर में।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यं कृत्वा नावसीदति ॥९॥

मनुष्य के शरीर में पैठा हुआ आलस्य उसका बहुत बड़ा शत्रु है,
और उद्योग के जैसा दूसरा कोई बन्धु नहीं, जिसे अपना लेने से दुःख नहीं होता।

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम्।
क्रियते भास्करेणैव परिस्फुरिततेजसा ॥१०॥

अकेला सूर्य जैसे सर्वत्र प्रकाश फैला देता है,
वैसेही अकेला शूरवीर सारी पृथिवी को अपने पैरों के नीचे दबा लेता है।

तत्कालीन वैदिक मंत्रों से प्रमाणित होता है कि वैदिक आर्य कुशल थे मकानों और रथों की निर्माण-कला में। वे सोने के गहने भी बनाते और पहनते थे। वीणा आदि अनेक प्रकार के वाद्यों से भी सुपरिचित थे।

ब्राह्मण-काल

इस युग में ऋक्, साम और यजुष् इन तीनों भागों में वेद विभक्त किया गया।

वेदांगों की भी रचना प्रारम्भ हुई।

बहुत विस्तृत रूप में वैदिक कर्मकाण्ड पर ब्राह्मण-ग्रन्थ रचे गये, जिनमें प्रमुख ग्रंथ माने जाते हैं ऐतरेय, शतपथ, ताण्ड्य और तैत्तिरीय।

अथर्वण को वेद में सम्मिलित किया गया।

इस काल के प्रसिद्ध पुरुष थे ऐतरेय, शाण्डिल्य और पिप्पलाद।

इस काल में पंजाब से चलकर आर्य पूर्व की ओर बढ़े। गंगा और यमुना के मध्य का भू-भाग उनका केन्द्र बना।

इस काल में कुरु और पांचाल ये आर्यों के दो प्रमुख वर्ग थे।

इसी काल में आर्य-सभ्यता ने दक्षिण और बंगाल में प्रवेश किया।

चाँदी, सीसे और दूसरी धातुओं की जानकारी में वृद्धि हुई।

यज्ञवेदी के द्वारा विज्ञान तथा अनेक कलाओं का उद्भव और उत्कर्ष हुआ।

उपनिषद्-काल

इस काल में मुख्य-मुख्य उपनिषदों की रचना हुई, जिनपर हिन्दू-दर्शन आधारित हैं।

आदिकाव्य रामायण और महाभारत का भी यही रचना-काल है।

यास्क ने 'निरुक्त' तथा पाणिनि ने व्याकरण की 'अष्टाध्यायी' रची।

इस काल में प्रसिद्ध महापुरुष हुए जनक, याज्ञवल्क्य, सनत्कुमार, अगस्त्य, कपिल, वाल्मीकि, व्यास, पार्श्व, गोसाल, महावीर और बुद्ध।

जैनधर्म और बौद्धधर्म का भी आरम्भ-काल यही था।

सारा उत्तर भारत इस काल में आर्य हो गया, और दक्षिण भारत में भी आर्यीकरण आरम्भ हुआ।

सारे आर्यावर्त्त में अनेक छोटे-छोटे राज्य और गणतंत्र स्थापित हुए।

फारस, बेबिलोन, मिश्र और यूनान के साथ स्थल और जल-मार्गों द्वारा व्यापार होने लगा।

मगध साम्राज्य का उदय और अस्त इसी काल में हुआ।

वेदांग एवं कल्पसूत्र-काल

(५०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक)

सूत्र-साहित्य रचा गया, जिसके अन्तर्गत श्रौतसूत्र, शुल्वसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और कामसूत्र प्रमुख हैं।

कौटल्य का अर्थशास्त्र इसी काल में रचा गया।

पालि-साहित्य के त्रिपिटक अर्थात् विनयपिटक, सुत्तपिटक तथा अभिधम्मपिटक का संकलन हुआ।

भारत के विभिन्न भागों में अशोक के शिलालेख खोदे गये।

इस काल के प्रसिद्ध महापुरुष थे गौतम, आपस्तम्ब, आश्वलायन, भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त, कौटल्य और अशोक।

वेदांगों को क्रमबद्ध किया गया।

अशोक के राज्यकाल में बौद्ध भिक्षु धर्म-प्रचारार्थ भारत के सभी भागों तथा लंका, ब्रह्मदेश, सीरिया, और मिश्र देश में भेजे गये।

वैशाली और पाटलिपुत्र में बौद्धधर्म की प्रसिद्ध संगीतियाँ हुईं।

भद्रबाहु द्वारा दक्षिण भारत में जैनधर्म पहुँचा।

इसी काल में वैष्णव एवं शैव-सिद्धान्त का विकास हुआ।

इस काल की उन्नत स्थापत्य और शिल्पकला के प्राचीन नमूने [illegible] मिलते हैं। जैसे, तब के आन्ध्रों के चैत्य, [illegible] के सूर्य और इन्द्र की मूर्तियाँ, उदयगिरि (उड़ीसा) की प्राचीन जैन-गुफाएँ, [illegible]-स्तम्भ तथा भारहुत, साँची और बोधगया की कलाकृतियाँ।

मगध के शिशुनाग-वंश का अन्त इसी काल में हुआ, और उसके [illegible] नन्द-साम्राज्य की स्थापना।

सिकन्दर का आक्रमण और उसकी पराजय भी इसी काल में हुई।

चन्द्रगुप्त ने सुप्रसिद्ध मौर्य साम्राज्य स्थापित किया, और [illegible] सेल्यूकस को युद्ध में परास्त किया।

सम्राट् अशोक का शानदार राज्य-शासन इसी काल के इतिहास का [illegible] पृष्ठ है। दक्षिण भारत में आन्ध्र, चोल, पाण्ड्य, चेर आदि राज्य स्थापित हुए।

स्मृति एवं दर्शन-काल

[२०० ई० पू० से ३०० ई० तक]

मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, [illegible]स्मृति और [illegible] स्मृतियों की रचना इस काल में हुई।

विविध दर्शनों के सूत्र भी इसी काल में रचे गये।

पतंजलि ने महाभाष्य लिखा; रामायण और महाभारत का विस्तार किया गया; आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थ चरक-संहिता तथा सुश्रुत संहिता का निर्माण भी इसी काल में हुआ।

बौद्ध-साहित्य के कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ रचे गये, जैसे, ललितविस्तर, सद्धर्म-पुण्डरीक, नागसेनकृत मिलिन्दपन्हों, अश्वघोष का बुद्धचरित एवं सौन्दरनन्द तथा आर्यसूरि की जातकमाला।

जैन आगमों का भी यही रचना-काल है।

प्राकृत-साहित्य का प्रसिद्ध ग्रन्थ गुणाढ्य की बृहत्कथा का यही रचना-काल माना जाता है।

तमिल-साहित्य में इन प्रख्यात ग्रंथों का निर्माण हुआ—कुरल, मणि-मेखलाइ, शिलप्पदीकरम् और संगम के अन्तर्गत कई रचनाएँ।

इस काल में प्रसिद्ध पुरुष हुए—मनु, गौतम, जैमिनि, बादरायण, कनिष्क, अश्वघोष, नागार्जुन, सातकर्णी, खारवेल और तिरुवल्लुवर।

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् ब्राह्मण-धर्म का पुनर्जागरण हुआ।

छह दर्शन शास्त्रों के स्पष्ट रूप निश्चित किये गये।

रामायण और महाभारत की प्राचीन कथाओं को संवर्द्धित कर लोकप्रिय बनाया गया।

हीनयान कई दार्शनिक वादों में विभक्त हो गया।

बौद्ध-धर्म के महायान का आविर्भाव हुआ।

चीन, पूर्वी तुर्किस्तान और ईरान तक बौद्ध-धर्म फैल गया।

जैन-धर्म गुजरात में फैला।

जैन-धर्म के दोनों सम्प्रदाय दिगम्बर और श्वेताम्बर स्पष्टतः अलग-अलग हो गये।

कनिष्क का प्रख्यात साम्राज्य भारत के उत्तर-पश्चिम में स्थापित हुआ, जिसकी राजधानी पेशावर में स्थापित हुई।

सुंग तथा कण्व राजवंशों ने मगध में शासन किया। दक्षिण में सातवाहन साम्राज्य की स्थापना।

चेर, चोल और पाण्ड्य राज्यों की दक्षिण भारत में प्रभुता।

पल्लवराज्य का आरम्भ।

गान्धार तथा मथुरा की मूर्तियाँ एवं अमरावती और साँची की सुप्रसिद्ध कला-कृतियाँ इस काल ने विश्व को प्रदान कीं।

बोधगया के मन्दिर का निर्माण हुआ।

अजन्ता की नवीं और दसवीं गुफाओं में सुप्रसिद्ध चित्र अंकित किये गये।

तमिल प्रदेश में संगीत का उत्कर्ष हुआ।

पुराण तथा आगम-काल

[२०० ई० से ६५० ई० तक]

१८ महापुराणों का सम्पादन इस काल में हुआ।

भास, कालिदास, शूद्रक और हर्ष की सुप्रसिद्ध रचनाएं।

भारवि ने किरातार्जुनीय महाकाव्य रचा।

भामह और दण्डी की रचनाएँ इसी काल में हुईं।

सुबन्धु और बाण ने गद्य-काव्य लिखे।

आर्यभट्ट, वराहमिहिर तथा ब्रह्मगुप्त ने गणित और ज्योतिष शास्त्र पर प्रख्यात रचनाएँ की।

शिल्प तथा अन्य वैज्ञानिक विषयों पर ग्रन्थ रचे गये।

बौद्ध-साहित्य में इस काल की प्रसिद्ध कृतियाँ है—बुद्धघोष की टीकाएं

तथा शान्तिदेव और असंग-कृत महायान के कई ग्रन्थ।

जैन-साहित्य में आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाएँ।

तमिल-साहित्य में तेवरम् की रचना।

इस काल में प्रख्यात पुरुष हुए—समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) यशोधर्मन्, शशांक, पुलकेशिन्, हर्ष, नरसिंहवर्मन, कालिदास, बाण, भारवि, शांतिदेव, असंग, दिङ्नाग, बोधि-धर्म, बुद्धघोष, धर्मकीर्ति, अप्पर और सुन्दरार्।

हिन्दू-मन्दिरों का निर्माण, तथा दक्षिण में वैष्णव और शैव सम्प्रदायों का पुनरुत्थान इसी काल में हुआ।

तिरुचिरापल्ली तथा चिंगलपट ज़िले में स्थित पल्लवकालीन गुफाओं की शिल्पकला इसी काल का स्मरण दिलाती हैं।

दिल्ली में विशाल लोह-स्तम्भ का निर्माण।

गुप्तकाल की अत्यन्त कलात्मक स्वर्ण-मुद्राएँ निर्मित हुई, जिनपर संस्कृत-आलेख अंकित हैं।

चौथी और पाँचवीं शताब्दी में महान् गुप्त-साम्राज्य समृद्ध हुआ।

दक्षिण में वाकाटक तथा पूर्व में चालुक्य राजवंशों ने शासन किया।

दक्षिण भारत पर पल्लवों का प्रभुत्व स्थापित हुआ।

छठीं शताब्दी में मौखरि राजाओं ने और यशोधर्मन ने हूण-आक्रमणों को रोक दिया।

सातवीं शताब्दी के आरम्भ-काल में उत्तरभारत में दो शक्तिशाली राज्यों का उदय हुआ—सम्राट् हर्ष के अधीन थानेश्वर राज्य, तथा शशांक द्वारा शासित बंगाल।

नालन्दा-विश्वविद्यालय इसी काल में स्थापित हुआ।

उत्तरकालीन पुराणों आदि का काल

[६५० ई० से १००० ई० तक]

पाञ्चरात्र संहिताएँ, शैव आगम और तंत्र-ग्रंथों का प्रचलन हुआ।

शंकराचार्य ने भाष्यों की रचना की।

भागवतपुराण और देवी भागवत रचे गये।

भवभूति, राजशेखर आदि ने नाटक लिखे।

भट्टि और माघ ने महाकाव्य रचे।

आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त की रचनाएँ इसी काल में हुई।

तमिल-साहित्य के अन्तर्गत नालयीर, प्रबन्धम् तथा तिरुवचकम् लिखे गये। इस काल में प्रसिद्ध पुरुष हुए—यशोवर्मन, ललितादित्य, कुमारिल, प्रभाकर, गौडपाद, मण्डन मिश्र, शंकराचार्य, यामुन, उदयन, दीपंकर, माणिक्कवसनगर तथा नम्मलवार।

इस काल की प्रसिद्ध स्थापत्य तथा मूर्ति-कलाएँ उल्लेखनीय हैं :—

(१) राजमहल तथा भुवनेश्वर के मन्दिर।

(२) एलोरा और एलिफेण्टा के गुफा-मन्दिर।

(३) जावा में बोरोबुदुर का आश्चर्यजनक बौद्ध-मन्दिर।

(४) श्रवण बेलगोला की बृहत्काय जैन-मूर्ति।

(५) मैसूर में होयासाल की आकर्षक शिल्पकला।

इस काल में शंकराचार्य ने हिन्दूधर्म को सुव्यवस्थित किया।

परिशिष्ट : क

हिन्दूधर्म का पुनस्संगठन विभिन्न सम्प्रदायों में हुआ

शाक्तमत का उल्लेखनीय विकास हुआ।

काश्मीर में शैवसिद्धान्त का प्रचार हुआ।

दक्षिणभारत में भक्ति-सिद्धान्त का उत्थान और प्रसार हुआ।

नेपाल, बंगाल और असम में बौद्ध-धर्म का तंत्रयान समृद्ध हुआ।

८ वीं शताब्दी में ललितादित्य के अधीन काश्मीर राज्य का उत्कर्ष।

राजपूत-राज्यों का उदय।

उत्तर-पश्चिम भारत में गुजरात साम्राज्य, बंगाल में पालवंश का राज्य, तथा दक्षिण में राष्ट्रकूट राज्य का उत्कर्ष हुआ।

मध्यकाल

[१००० ई० से १७५० ई० तक]

भक्ति-सिद्धान्त-काल [१००० ई० से १४०० ई० तक]

रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य ने अपने-अपने सिद्धान्तों पर भाष्य रचे।

सायणाचार्य ने वेदों पर भाष्य लिखे।

अध्यात्म रामायण तथा जयदेव के गीतगोविन्द की रचना।

कल्हण तथा बिल्हण ने काव्य-रचनाएँ कीं।

विज्ञानेश्वर ने सुप्रसिद्ध 'मिताक्षरा' लिखी।

महान् जैन विद्वान् हेमचन्द्र की रचनाएँ।

तमिल भाषा में कम्ब रामायण तथा [illegible] रचनाएँ हैं।

इस काल में प्रसिद्ध पुरुष हुए—[illegible], रामानुजाचार्य, वाचस्पति मिश्र, हेमचन्द्र, मध्वाचार्य [illegible] देशिक।

इस काल में मुसलमानों का आक्रमण आरम्भ हुआ।

अफ़गान राज्य स्थापित हुआ; राजपूत शक्ति का ह्रास होने लगा; और दक्षिण में विजयनगर हिन्दू साम्राज्य का उत्थान हुआ।

उत्तरकालीन भक्ति सम्प्रदाय का काल

[१४०० ई० से १७५० ई० तक]

इस काल में उत्तर भारत की प्रादेशिक भाषाओं में नीचे लिखा साहित्य रचा गया :—

१. विद्यापति के गीत
२. मीराबाई के पद
३. तुकाराम के अभंग
४. कबीर-बीजक
५. दादूदयाल की बानी
६. नाभादास की भक्तमाल
७. सूरदास का सूरसागर
८. तुलसीदास का रामचरितमानस
९. सिक्खों का आदिग्रंथ

इस काल में तेलुगु तथा कन्नड भाषा में कई उत्कृष्ट ग्रंथ रचे गये।

इसी काल में प्रसिद्ध पुरुष हुए—रामानन्द, कबीर, चैतन्य, नानक, तुलसीदास, गुरुगोविन्दसिंह, शिवाजी, कृष्णदेवराय, अप्पय्य दीक्षित, पंडितराज जगन्नाथ, मधुसूदन सरस्वती और तयुमनावर।

दक्षिण भारत में मदुरई, रामेश्वरम्, श्रीरंगम् आदि मन्दिरों के विशाल गोपुरम् तथा स्तम्भ-मण्डपम् निर्मित हुए।

मुसलमान-शिल्पकला दिल्ली, जौनपुर, अहमदाबाद और बिजापुर के मक़बरों और मसजिदों में प्रकट हुई।

विश्व-विख्यात ताजमहल का निर्माण इसी काल में हुआ।

मुग़ल-चित्रकला तथा राजपूत-चित्रकलाएँ विकसित हुईं।

हिन्दू-धर्म में से विविध पंथ निकले।

जाति-पाँति की बुनियाद दृढ़ हो गई।

रामानन्द, वल्लभ और चैतन्य के भक्ति-सम्प्रदायों का उत्थान हुआ।

वर्तमान काल

[१७५० ई० से १९५० ई० तक]

इस काल में किसीभी प्रादेशिक भाषा में कोई प्रथम श्रेणी की ख्यात

साहित्यिक रचना नहीं हुई।

प्राचीन स्मृतियों के सार, स्थानीय रीति-रिवाजों के अनुसार, संकलित हुए, जैसे वैदिक सार्वभौम, कमलाकर, वैद्यनाथ दीक्षित और [illegible]।

बंगाल में बंकिमचन्द्र चटर्जी की रचनाएँ, दक्षिण भारत में रामलिंग स्वामी के भजन तथा तेलुगु भाषा में वीरेशलिंगम् की कृतियाँ।

संस्कृत में विश्व-कोश जैसा शब्दकल्पद्रुम, वाचस्पत्य तथा अभिधान राजेन्द्र ये कोश रचे गये।

करनसिंह द्वारा संपादित गुरु-शब्द-रत्नाकर, जिसमें सिक्खों के इतिहास, धर्म और संस्कृति का विशद वर्णन किया गया है।

तमिल कोश तेलुगु कोश। तमिल और तेलुगु भाषा के विश्व-कोश।

महामहोपाध्याय पंडित स्वामिनाथ अय्यर द्वारा संपादित प्राचीन अभिजात तमिल काव्यों के प्रकाशन।

हिन्दी, बंगला, गुजराती, तेलुगु और मलयालम भाषा एवं साहित्य के इतिहास।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा रचित विविध साहित्य।

प्रेमचन्द, नरसिंहराव, भोलानाथ, [illegible], भारती, [illegible], वल्लतोल तथा मस्ती वेंकटेश आयंगर की कृतियाँ [illegible], तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ में।

इसी काल में जदुनाथ सरकार, [illegible] सरदेसाई तथा नीलकण्ठ शास्त्री ने भारतीय [illegible] इतिहास-ग्रंथ लिखे।

इस काल में रामलिंग स्वामी, [illegible] चन्द विद्यासागर, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, दादाभाई नौरोजी, [illegible] नन्द, तिलक, गोखले, श्रीअरविन्द, महात्मा गांधी, [illegible] महर्षि, स० राधाकृष्णन् आदि हुए।

इस काल में सिंधुघाटी की [illegible]।

भरतनाट्य तथा अन्य भारतीय नृत्य-[illegible]।

बंगाल में अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और [illegible] का उद्भव।

रामानुजन्, [illegible] चन्द्रशेखर जैसे विश्व-विख्यात [illegible]।

इस काल के [illegible]।

[illegible] करने के विविध प्रयत्न।

[illegible] मिशन द्वारा हिन्दू-धर्म की मूल शिक्षाओं का प्रचार तथा [illegible] विविध कार्य।

महात्मा गांधी का सत्याग्रह-आन्दोलन।

श्रीअरविन्द द्वारा तात्विक योगमार्ग, तथा श्री रमण महर्षि द्वारा विशुद्ध द्वैत का विश्व को संदेश।

डा० राधाकृष्णन् तथा दासगुप्त-जैसे प्रकाण्ड विद्वानों ने हिन्दू-दर्शन पर सिद्ध ग्रंथ लिखे।[1]

---

१. श्री डी० एस० शर्मा-लिखित तथा भारतीय विद्याभवन, बंबई द्वारा प्रकाशित 'हिन्दूइज्म' के आधार पर

परिशिष्ट : ख

न्याय-दर्शन

न्याय-दर्शन का मूल-ग्रन्थ गौतमकृत (ई०पू०२००) न्याय-सूत्र है। इनमें पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय दो आह्निकों में विभक्त है। न्याय-सूत्र पर वात्स्यायन (५०० ई०) का न्याय-भाष्य है। भाष्य पर उद्योतकर (६०० ई०) का न्याय-वार्तिक, उस पर वाचस्पति मिश्र (१०००ई०) की न्याय-वार्तिक-तात्पर्य टीका तथा उसपर उदयन (१०५० ई०) की न्याय-वार्तिक-तात्पर्य टीका-परिशुद्धि है। इन टीका-परिटीकाओं का विकास मुख्यरूप से बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ के रूप में हुआ। नागार्जुन (२०० ई०) ने शून्यवाद का प्रतिपादन करते हुए न्याय-दर्शन का खण्डन किया। वात्स्यायन ने अपने भाष्य में उसकी आलोचना की। दिङ्नाग (४०० ई०) ने वात्स्यायन का खण्डन किया। उसकी आलोचना उद्योतकर (६०० ई०) ने की। उसका खण्डन धर्मकीर्ति (६०० ई०) ने किया। उसकी आलोचना वाचस्पति मिश्र (१००० ई०) और उदयन (१०५० ई०) ने की। उत्तरकाल में भी यह खण्डन-मण्डन चलता रहा। बिहार में एक ओर नालन्दा-विश्वविद्यालय बौद्धों का केन्द्र था, और दूसरी ओर दरभंगा ब्राह्मणों का। दोनों परम्पराओं के प्रौढ़ विद्वानों का यह विचार-विनिमय भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है।

११ वीं शताब्दी के बाद बहुत-से ग्रन्थ ऐसे भी लिखे गये जिनमें न्याय और वैशेषिक दर्शनों का मिला-जुला प्रतिपादन है। उनमें न्याय-दर्शन के चार प्रमाणों का प्रतिपादन है, और वैशेषिक दर्शन के सात पदार्थों का। इस प्रकार के ग्रन्थों में वरदराज-कृत तार्किकरक्षा, केशवमिश्र (१३०० ई०) कृत तर्कभाषा, अन्नंभट्ट (१७०० ई०) कृत तर्कसंग्रह तथा विश्वनाथ (१६०० ई०) कृत भाषा-परिच्छेद और सिद्धान्त मुक्तावली मुख्य हैं।

न्यायविषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में निम्नलिखित रचनाएँ उल्लेखनीय हैं—

जयन्तभट्ट (८०० ई०)—न्यायमञ्जरी और न्यायकलिका।

न्यायमञ्जरी न्यायसूत्र की अत्यन्त प्रौढ़ तथा विस्तृत व्याख्या है।

वरदराज (११५० ई०)—तार्किक रक्षा

जयसिंह सूरि—(१४०० ई०) न्याय तात्पर्य दीपिका।

देवसूरि—पदार्थ पाद पञ्जिका।

गंगेश के पुत्र वर्धमान (१२५० ई०) ने कई टीकाएँ लिखीं, उनमें मुख्य हैं न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश और न्यायनिबन्धप्रकाश।

रुचिदत्त मिश्र (१३०० ई०) ने न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश पर 'मकरन्द' तथा तत्वचिन्तामणि पर 'प्रकाश' नामक टीकाएँ लिखीं।

हरिदास भट्टाचार्य (१५०० ई०) न्याय कुसुमाञ्जलि पर संक्षिप्त विवृत्ति।

जयदेव मिश्र (१३०० ई०)—आलोक

मथुरानाथ तर्कवागीश (१६०० ई०)—रहस्य

रघुनाथ शिरोमणि (१६०० ई०)—दीधति। ये तीनों टीकाएँ तत्त्व-चिंतामणि पर हैं।

जगदीश तर्कालंकार (१७०० ई०)—जागदीशी।

गदाधर (१७०० ई०)—दीधति पर विवृत्ति, जिसे गादाधरी कहा जाता है।

बारहवीं शताब्दी में नव्य न्याय के प्रतिष्ठापक गंगेश हुए, जिन्होंने न्याय-दर्शन को एक नया मोड़ दिया। उनसे पहले चर्चा के विषय प्रमाण और प्रमेय दोनों रहे। प्रमाण-चर्चा में भी मुख्यता प्रमेय के ज्ञान को दी जाती थी। गंगेश ने अपनी चर्चा प्रमाण तक सीमित करदी। उनका चिन्तामणि नामक ग्रन्थ चार खण्डों में है, जिनमें क्रमशः प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाणों की चर्चा है। इसमें जितना जोर विविध लक्षणों की शब्द-योजना पर दिया गया है उतना अर्थ पर नहीं। गंगेश के पश्चात् उनके ग्रन्थ पर अनेक व्याख्याएँ रची गई। क्षेत्र उत्तरोत्तर संकुचित होता गया, और वह अनुमानतक सीमित रह गया। उसके भी पक्ष, हेतु, व्याप्ति आदि विविध अंगों को लेकर छोटे-छोटे स्वतन्त्र ग्रन्थ रचे जाने लगे। यह क्रम १९ वीं शताब्दी तक चलता रहा। उसका विकास मुख्य रूप से मिथिला तथा नवद्वीप (बंगाल) में हुआ। नव्य-न्याय के विकास में मुख्य दृष्टि प्रतिवादी को परास्त करने की रही है।

वैशेषिक-दर्शन

वैशेषिक-दर्शन पर विपुल साहित्य है। प्रारम्भ से लेकर पिछली शताब्दी तक उसपर नये-नये ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं। सबसे पहला ग्रन्थ कणाद का रचा वैशेषिक सूत्र है। इसपर शंकर मिश्र (१५०० ई०) का 'उपस्कार' तथा जयनारायण (१६०० ई०) की 'कणाद-सूत्र-विवृत्ति' नामक टीकाएँ हैं। प्रशस्तपाद (४०० ई०)

का 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' इस परम्परा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसे 'प्रशस्तपाद-भाष्य' भी कहा जाता है। किन्तु इसमें अनेक नये विषयों का प्रतिपादन होने के कारण इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ ही कहा जायेगा। टीका और उपटीकाओं के कारण इसका महत्व वैशेषिक सूत्र से भी अधिक है। दसवीं शताब्दी में इसपर व्योमशिवाचार्य ने 'व्योमवती', श्रीधर ने 'न्याय-कन्दली' और उदयन ने 'किरणावली' नामक टीकाएँ लिखीं। इनका दार्शनिक जगत् में बहुत अधिक सम्मान है। सोलहवीं शताब्दी में पद्मनाभ ने इसपर 'सेतु' तथा सत्रहवीं शताब्दी में जगदीश तर्कालंकार ने 'सूक्ति' नामक टीकाएँ लिखीं। स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में शंकर मिश्र का 'उपस्कार' और वल्लभ (१२०० ई०) की 'न्यायलीलावती' विशेष उल्लेखनीय है। बारहवीं शताब्दी के बाद न्याय और वैशेषिक ये दोनों परम्पराएँ परस्पर मिल गईं। 'प्रमेय' भाग वैशेषिक-दर्शन से लिया गया, और 'प्रमाण' भाग न्याय-दर्शन से। इस सम्मिलित रूप को लेकर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। उनमें लौगाक्षि भास्कर की 'तर्ककौमुदी', शिवादित्य की 'सप्तपदार्थी' और विश्वनाथ न्यायपंचानन का 'भाषापरिच्छेद' अधिक विख्यात हैं। भाषा-परिच्छेद पर विश्वनाथ की स्वरचित टीका 'न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली' है, जिसका पठन-पाठन में बहुत अधिक प्रचार है।

सांख्य-दर्शन

सांख्य-सूत्रों में बहुत से निर्देश [illegible] विज्ञान-भिक्षु ने ही उसे किसी प्राचीन परम्परा [illegible] जोड़ दिया। कपिल के शिष्य आसुरि और [illegible] पर विस्तृत ग्रन्थ लिखे थे, ऐसा पता मिलता है। [illegible] प्राप्त ग्रन्थों में ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' ([illegible] तम है। उसमें ७२ कारिकाएँ हैं। [illegible] है। कारिकाओं पर गौड़पाद का 'भाष्य' और [illegible] कौमुदी' नाम की टीका है। सांख्य-सूत्र पर विज्ञानभिक्षु [illegible] अत्यन्त महत्वपूर्ण है। [illegible] विज्ञानभिक्षु का दूसरा ग्रन्थ 'सांख्यसार' है।

टीका महत्वपूर्ण मानी जाती है। नागेश (१७०० ई०) ने सूत्रों पर 'छाया' नामक व्याख्या लिखी है, जहाँ वह विज्ञानभिक्षु का अनुसरण करता है। इन्हींपर नारायण-तीर्थ की 'योगसिद्धान्त चन्द्रिका' तथा 'गूढार्थ बोधिनी' और रामानन्द सरस्वती की 'योगमणिप्रभा' नामक टीकाएँ हैं। योग-दर्शन के मर्म को समझने के लिए 'व्यास-भाष्य,' 'तत्त्व-वैशारदी' और 'योग वार्तिक' का विशेष महत्व है।

पूर्वमीमांसा-दर्शन

शवर स्वामी (३०० ई०) ने जैमिनि सूत्र पर भाष्य लिखा, जो 'शावर भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। शवर ने बौद्ध आदि दर्शनों का खण्डन कर कर्म-मीमांसा को सबसे पहला दर्शन का रूप दिया। उसने बोधायन, उपवर्ष आदि प्राचीन आचार्यों की आलोचना भी की है। भर्तृ मित्र ने शवर की आलोचना कर 'वार्तिककार' बोधायन का समर्थन किया है। आठवीं शताब्दी में कुमारिल भट्ट ने विस्तृत तथा प्रौढ़ टीका लिखी। उसका संक्षेप 'श्लोक वार्तिक' के रूप में मिलता है। कुमारिल ने 'तन्त्रवार्तिक' और 'टुप्टीका' भी लिखी। 'श्लोकवार्तिक' में प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का विस्तार है। इसको 'तर्कपाद' कहा जाता है, जो मीमांसा के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादक है। इसपर सुचरित ने 'काशिका' टीका लिखी। पार्थ-सारथि मिश्र (९०० ई०) की 'न्यायरत्नाकर' नामक टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसने 'न्यायरत्न-माला' तथा 'तन्त्ररत्न' नामक ग्रन्थ भी रचे। उसकी जैमिनि सूत्रों पर 'शास्त्रदीपिका' नामक टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है।

मण्डन मिश्र ने (६८०-७५० ई०) प्रभाकर का खण्डन और कुमारिल का मण्डन किया है। वाचस्पति मिश्र (९०० ई०) ने 'विविधविवेक' पर 'न्यायकणिका' नामक टीका और 'तत्त्वविन्दु' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ रचा।

प्रभाकर (७०० ई०) ने शावर भाष्य पर 'वृहती' और 'लघ्वी' नामक दो टीकाएँ लिखीं। शालिकानाथ (८०० ई०) ने वृहती पर 'ऋजुविमला पञ्चिका' और 'लघ्वी' पर 'दीपशिखा' नामक टीकाएँ एवं 'प्रकरणपञ्चिका' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की। भवनाथ (९०० ई०) का 'नयविवेक' तीनों का संक्षेप है। रामानुजाचार्य (१६०० ई०) ने 'न्याय-रत्न' तथा 'तन्त्ररहस्य' नामक ग्रंथ रचे, जो प्रभाकर की मान्यताओं का संक्षेप है।

वेदान्त-दर्शन (अद्वैतवाद)

सर्वप्रथम शंकराचार्य के शिष्य आनन्दगिरि ने शांकर भाष्य पर 'न्याय-निर्णय' नाम की टीका लिखी। श्रीगोविन्द भगवत्पाद ने 'रत्नप्रभा' तथा वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) ने 'भामती' नामक टीकाएँ रचीं। अमलानन्द (१२४७-१२६० ई०) ने भामती पर 'कल्पतरु' नाम की टीका लिखी। कांची-निवासी रंगराजाध्वरीन्द्र

के पुत्र अप्पय्य दीक्षित (१५५० ई०) ने उस पर 'कल्पतरु-

शंकराचार्य के दूसरे शिष्य पद्मपाद, अपरनाम सन
पर 'पञ्चपादिका' नामक टीका रची। इस ग्रन्थ के अ
कि उन्होंने सारे भाष्य पर टीका रची होगी, किन्तु उपलब्ध
ही समाप्त हो जाती है। 'शंकरदिग्विजय' में एक विचित्र
शंकराचार्य के समय में मण्डन मिश्र नामक एक प्रसिद्ध मीम
चार्य के साथ शास्त्रार्थ हुआ। उसमें पराजित होकर वे शंक
बनने के बाद उनका नाम सुरेश्वराचार्य हो गया। उन्होंने
लिखना चाहा, उसके लिए शंकराचार्य ने अनुमति भी प्र
शिष्यों ने इस बात का विरोध किया। उनका कथन था कि
मीमांसक रहे हैं, अतः उन्हें वेदान्त पर टीका लिखने का अ
ने निराश होकर 'नैष्कर्म्यसिद्धि' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ लि
टीका लिखी; किन्तु वह उनके पितृव्य के घर में जला दी
एक बार देखा था और अपनी स्मृति के बल पर उसी
ने उसे लिख लिया। प्रकाशात्मन् (१२०० ई०) ने 'पञ्च
अखण्डानन्द ने 'तत्त्वदीपन', नृसिंहाश्रम मुनि (१५००
प्रकाशिका', अमलानन्द ने 'पंचपादिका दर्पण' और विद्यासा
रची। पंचपादिका विवरण ने सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त
ई०), ने पंचपादिका विवरण के प्रसिद्ध
संग्रह' रचा। उनका दूसरा नाम माधवाचार्य था।
तथा 'पंचदशी' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी रचे।

विषयों का स्पष्टीकरण किया है।

मधुसूदन सरस्वती की 'अद्वैतसिद्धि' वेदान्त के मूर्धन्य ग्रन्थों में है। इन्होंने धर्मराजाध्वरीन्द्र का अनुसरण किया। अद्वैतसिद्धि पर तीन टीकाएँ हैं —'गौड़-ब्रह्मानन्दी', 'विट्ठलेशोपाध्यायी', और 'सिद्धि-व्याख्या'। मधुसूदन का अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथ 'सिद्धांतबिन्दु है। इसपर भी कई टीकाएँ हैं। सदानन्द ने 'अद्वैत-सिद्धि सिद्धान्तसार' के रूप में इसका सारांश लिखा है। उन्होंने 'वेदान्तसार' 'वेदान्त' का प्रारम्भिक ग्रन्थ भी रचा है। इसपर 'सुबोधिनी' और 'विद्वन्मनो-रञ्जिनी' नामक दो टीकाएँ उपलब्ध हैं। आनन्दबोध भट्टाचार्य का 'न्याय-मकरन्द' अन्य विषयों के साथ अज्ञान का विस्तृत विवेचन करता है। प्रकाशानन्द की 'वेदान्त-सिद्धान्त मुक्तावली' में अज्ञान, अज्ञान एवं चित् का परस्पर सम्बन्ध, आदि विषयों पर सुन्दर विवेचन है। अप्पय्यदीक्षित का 'सिद्धान्तलेश संग्रह' वेदान्तसम्बन्धी मान्यताओं का कोश है। 'वेदान्त तत्त्व दीपिका' एवं 'सिद्धान्ततत्त्व' भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। नृसिंहाश्रम मुनि के 'भेदधिक्कार' में द्वैतवाद का खण्डन है। यह तर्कशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

जैन-दर्शन

अकलंक (८०० ई०) ने दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध आचार्यों का खण्डन करते हुए जैनदृष्टि से प्रमाण-व्यवस्था का प्रतिपादन किया। उनके मुख्य ग्रन्थ हैं: 'प्रमाणसंग्रह', 'न्याय विनिश्चय', 'सिद्धि विनिश्चय' आदि। इसी समय श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र सूरि हुए। उन्होंने विशालसंख्यक ग्रन्थों की रचना की। दर्शनशास्त्र से संबंध रखनेवाले ग्रन्थ हैं 'अनेकांत जय पताका' 'शास्त्रवार्त्ता समुच्चय', 'षड्दर्शन समुच्चय' तथा 'लोकतत्त्व निर्णय'। 'योगदृष्टि समुच्चय', योग-विन्दु' तथा 'योगविंशिका' योगविषयक ग्रन्थ हैं। 'धर्मसंग्रहणी' प्राकृत में है। हरि-भद्र ने दिङ्नाग के 'न्याय-प्रवेश' पर टीका लिखकर अपनी उदार दृष्टि का परि-चय दिया है। अकलंक के भाष्यकार विद्यानन्द हुए। अष्टसहस्री के अतिरिक्त उनके मुख्य ग्रन्थ हैं—'प्रमाणपरीक्षा', 'आप्तपरीक्षा', 'पत्रपरीक्षा', 'सत्यशासन-परीक्षा', युक्त्यनुशासन' तथा 'श्लोक वार्तिक'। इस समय अनंतकीर्ति ने 'लघु-सर्वज्ञ सिद्धि, 'बृहत्सर्वज्ञसिद्धि' तथा 'जीव-सिद्धि', एवं अनंतवीर्य ने 'सिद्धिविनिश्चय' टीका रची।

माणिक्य नंदी (१०वीं शताब्दी) का 'परीक्षामुख' जैन-तर्कशास्त्र का प्रथम सूत्र-ग्रन्थ है। अभयदेव (१०५४ ई०) की सन्मति तर्क पर 'वाद महार्णव' नामक विशाल टीका भी इसी समय की है। प्रभाचंद्र (१०३७ई० से ११२२ई०) ने परीक्षामुख पर 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' तथा लघीयस्त्रय पर 'न्यायकुमुदचन्द्र' नामक टीकाएँ रचीं। तथा वादिराज ने न्याय विनिश्चय पर 'न्याय विनिश्चय विवरण' और जिनेश्वर

(११ वीं शताब्दि) ने न्यायावतार पर 'प्रमाण लक्ष्य' नामक वार्तिक तथा उसपर टीका रची। अनंतवीर्य (१२ वीं शताब्दि) की परीक्षामुख पर 'प्रमेय-रत्नमाला' नामक संक्षिप्त टीका है। वादी देवसूरि (११४३-१२२६ ई०) ने 'प्रमाण-नयतत्वालोक, नामक सूत्र ग्रन्थ और उसपर 'स्याद्वादरत्नाकर' नामक विशाल टीका लिखी। कहा जाता है कि इसकी श्लोक-संख्या ८४००० थी, किन्तु संपूर्ण उपलब्ध नहीं है। वादी देव श्वेताम्बर थे। उनकी रचनाएँ परीक्षामुख और 'प्रमेय कमलमार्तण्ड, की प्रतिक्रिया हैं। उन्होंने स्त्री-मुक्ति और केवली के आहार को लेकर विस्तृत चर्चा की है। कहा जाता है इन विषयों को लेकर कुमुदचन्द और वादीदेवसूरि में शास्त्रार्थ हुआ था। प्रमाणनयतत्त्वालोक पर वादी देव के शिष्य रत्नप्रभ ने रत्नाकरावतारिका लिखी। इसी समय हेमचन्द्राचार्य (११४५ मे १२२९ ई०) हुए। उन्होंने स्वोपक्ष टीका के साथ 'प्रमाण-मीमांसा' नामक सूत्र-ग्रन्थ तथा दो द्वात्रिंशिकाएँ रचीं। उनकी 'अन्य योग व्यवच्छेदिका' नामक द्वात्रिंशिका पर मल्लिषेण (तेरहवीं शताब्दि) की 'स्याद्वादमंजरी' नामक टीका है। १२ वीं शताब्दी में ही शांत्याचार्य ने न्यायावतार पर स्वोपक्ष टीका के साथ न्यायवार्तिक की रचना की। गुणरत्न (१५ वीं शताब्दी) की षड्दर्शन समुच्चय पर टीका दार्शनिक साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भट्टारक धर्मभूषण (१५ वीं शताब्दि) की न्यायदीपका जैनन्याय का प्रारम्भिक ग्रन्थ है।

सत्रहवीं शताब्दी में यशोविजय नामक प्रतिभाशाली आचार्य हुए। उन्होंने जैन-दर्शन में नव्य न्याय का प्रवेश किया। उनके मुख्य ग्रन्थ हैं—अनेकांत व्यवस्था, जैनतर्कभाषा, ज्ञानविन्दु, नयप्रदीप, नयरहस्य और नयामृत तरंगिणी, सटीक नयोपदेश। इसमें और न्यायखंडखाद्य तथा न्यायालोक में नव्य न्याय शैली में नैयादिकादि दर्शनों का खंडन है। अष्टसहस्री पर विवरण तथा हरिभद्रकृत 'शास्त्र-वार्तासमुच्चय' पर 'स्याद्वादकल्पलता' नामक टीकाएँ हैं। भाषा-रहस्य, प्रमाण-रहस्य, वादरहस्य नामक ग्रन्थों में नव्यन्याय के ढंग पर जैनतत्त्वों का प्रतिपादन है। उन्होंने योग तथा अन्य विषयों पर भी ग्रन्थ रचे। इसी युग में विमलदासगणी ने 'सप्तभंगी तरंगिणी' नामक ग्रन्थ नव्यन्याय शैली पर रचा।

○

पुस्तक-रचना का उद्देश्य

अपने धर्म और अपनी संस्कृति के मूल तत्वों पर इतना अधिक साहित्य मिलता है कि यदि उस सबका मामूली-सा भी अध्ययन किया जाय तो उसके लिए सौ वर्ष की आयु भी कम होगी। वेदों का अध्ययन आज कितने लोग करते हैं !...

वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यों और उपनिषदों का सामान्य परिचय बहुत आवश्यक है। वैदिक एवं अवैदिक दर्शनों का भी साधारण ज्ञान उपयोगी है। रामायण और महाभारत तो हमारी संस्कृति के अखूट भंडार हैं। पुराणों, स्मृतियों, शुक्र-नीति, कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार और पंचतंत्र का भी सामान्य ज्ञान होना ही चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक इसी हेतु को सामने रख कर तैयार की गई है।

—वियोगी हरि